हिन्दी-काव्य में प्रतीकवाद का विकास

[१६००—१६४० ई०]

प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फ़िल्० उपाधि के लिए स्वीकृत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक

डॉ० रामकुमार वर्मा

लेखक

डॉ० वीरेन्द्र सिंह

एम्० ए०, डी० फ़िल्०

हिंदी विभाग

प्रयाग विश्वविद्यालय

हिन्दी परिषद् प्रकाशन

प्रयाग विश्वविद्यालय

प्रयाग

१६६४

प्रकाशक :
हिन्दी परिषद् प्रकाशन,
विश्वविद्यालय,
प्रयाग

मुद्रक :
आज़ाद प्रेस,
प्रयाग

दिवंगत माता-पिता की पुण्य

स्मृति में

जिनकी अव्यक्त प्रेरणा सदा

मेरे मानसिक एवं

बौद्धिक अभियानों

में

साथ

रही ।

विषय-सूची

भूमिका—लेखक डॉ० रामकुमार वर्मा ... ६—१०
प्राक्कथन ... ... ११—१३
संकेत-चिह्न १४

प्रथम खण्ड (धार्मिक, दार्शनिक एवं काव्यात्मक प्रतीकवादी दर्शन)

प्रथम अध्याय पृ० १—४५

(प्रतीक का उद्गम एवं विकास)

(क) प्रतीक का उद्गम पृ० १-११

उद्गम-सिद्धांत (१) जड़ात्मवादी सिद्धान्त (२) मनोवैज्ञानिक सिद्धांत—समन्वय—अग्नि प्रतीक एवं वृक्ष प्रतीक—निष्कर्ष

(ख) प्रतीक का विकास (१) पृ० ११-२५

(अनुष्ठानिक और पौराणिक)

अनुष्ठान की पृष्ठभूमि—बिम्ब और प्रतीक—अनुष्ठान और पवित्र संस्कारगत रीतियाँ—अंगमुद्रा की स्थिति—पुराण और प्रतीक—उपाख्यानों का प्रतीकार्थ—पौराणिक साहित्य और प्रतीक—भाषा और पुराण—लोक-साहित्य और प्रतीक—नायक का प्रतीकार्थ—विचार, अनुभूति तथा पुराणकाव्य

(ग) प्रतीक का विकास (२) पृ० २५-४५

(धार्मिक)

धार्मिक प्रतीकों का स्वरूप और क्षेत्र—विकास स्थितियाँ (१) मानवीकरण अथवा आरोप (२) पशुतत्त्व से नरतत्त्व तक (३) आदर्श अपरलोकों की धारणा और अन्य आदर्श प्रतीक—स्वर्ग वैकुंठादि, सप्तक कल्पना,

लिंग, शालिग्राम, क्रास और अर्धनारीश्वर (४) अन्तर्दृष्टि और प्रतीक-ब्रह्म ओ३म्, यज्ञ, वृक्ष, खं, पुरुष, त्रिमूर्ति—धार्मिक प्रतीकों का काव्यरूप

द्वितीय अध्याय पृ० ४६-६६

(प्रतीकवादी दर्शन के क्षेत्र और प्रकार)

प्रवेश पृ० ४६

(क) धार्मिक प्रतीकवादी दर्शन पृ० ४६-५२

धारणा और प्रतीक-सत्य और प्रतीक-साहित्यिक रूप

(ख) काव्यात्मक प्रतीकवादी दर्शन पृ० ५२-५६

काव्य के शब्दप्रतीक—प्रतीक और भाव—रसानुभूति (सौंदर्यानुभूति) और प्रतीक—तत्त्व और रूप

(ग) मनोवैज्ञानिक प्रतीकवादी दर्शन पृ० ५६-७०

प्रवेश तथा क्षेत्र—चेतना का स्वरूप तथा प्रतीक-सृजन (१) अचेतन प्रतीक—यौन, स्वप्न तथा काम प्रतीक (२) चेतन प्रतीक—काव्य और मनोवैज्ञानिक प्रतीक

(घ) भाषागत प्रतीकवादी दर्शन पृ० ७०-८७

(१) चित्रलिपि और प्रतीक पृ० ७०-७५

विचार और लिपि—आदितम चित्ररूप—चित्रलिपि और प्रतीक—चीनी प्रतीकों का स्वरूप—सिंधु घाटी के चित्र-प्रतीक

(२) पद, वर्ण और प्रतीक पृ० ७५-७७

चित्र-प्रतीक और ध्वनि, वर्ण और प्रतीक

(३) भाषा, शब्द और प्रतीक पृ० ७७-८१

भाषा और प्रतीक रूप—विकास स्थितियाँ (i) शब्दतंत्र (ii) अंगमुद्रा (iii) ध्वनि—शब्द से प्रतीक तक

(४) प्रतीकवादी दर्शन पृ० ८२-८७

भाषा और शब्द—ज्ञान और प्रतीक—अर्थविज्ञान और प्रतीक

(ङ) वैज्ञानिक प्रतीकवादी दर्शन पृ० ८७-६४

प्रवेश-तर्कशास्त्र और प्रतीक—भौतिक विज्ञान और प्रतीक—वैज्ञानिक धारणाएँ और प्रतीक—वैज्ञानिक प्रतीक और काव्य

(च) तात्त्विक प्रतीकवादी दर्शन पृ०६४–६६

दार्शनिक ज्ञान और प्रतीक—दार्शनिक अर्थ और प्रतीक–दार्शनिकवाद—और प्रतीक—दार्शनिक प्रतीकों का काव्य रूप

तृतीय अध्याय पृ० १००-१२०

(भारतीय काव्यशास्त्र और प्रतीक)

प्रवेश, पृ० १००

(क) रस और प्रतीक पृ० १०१-१०४

रस-शब्द और भाव-अनुभाव का प्रतीक रूप—साधारणीकरण और प्रतीक

(ख) ध्वनि और प्रतीक पृ० १०४-१०७

शब्द-शक्ति और प्रतीक-स्फोट-सिद्धान्त और प्रतीक

(ग) रीति-संप्रदाय और प्रतीक पृ० १०७-१०६

रीति और प्रतीक-शब्दगुण और अर्थगुण

(घ) वक्रोक्ति और प्रतीक पृ० १०६-११२

वक्रता और प्रतीक—अलंकार और वक्रोक्ति—अभिव्यंजनावाद और प्रतीक

(ङ) अलंकार और प्रतीक पृ० ११२-१२०

शब्द-प्रतीक और अलंकार—रूपक और प्रतीक-श्लेष और प्रतीक—यमक और प्रतीक—रूपकातिशयोक्ति और प्रतीक—कथारूपक और प्रतीक—अन्योक्ति और प्रतीक—मानवीकरण

द्वितीय खण्ड (भक्तिकाव्य)

चतुर्थ अध्याय पृ० १२१-१६६

(संतकाव्य में प्रतीक-योजना, पृष्ठभूमि)

प्रवेश—पृ० १२१-१२२

(क) भावात्मक रहस्यवादी प्रतीक-योजना पृ० १२२-१३८

मानवेतर प्रकृति के प्रतीक (प्रेम संबन्ध)

दाम्पत्य प्रतीक योजना (१) विश्वास और अन्तर्दृष्टि (२) एकात्मक भाव तथा आध्यात्मिक मिलन (३) आध्यात्मिक आनन्द या विवाह—वैवाहिक प्रतीक योजना—वेदान्त दर्शन के अद्वैतवादी प्रतीक

(ख) तात्त्विक एवं नीतिपरक प्रतीक-योजनाएँ पृ० १३८-१५१

ब्रह्म-अर्थ के बोधक प्रतीक—माया द्योतक प्रतीक योजना—संसार बोधक प्रतीक—नीतिपरक प्रतीक-योजना

(ग) साधनात्मक रहस्यवादी प्रतीक पृ० १५२-१८५

(योगपरक शब्द-प्रतीक)

(१) हठयोग (शब्द-योग) के शब्द-प्रतीकों का स्वरूप—त्रिकुटी, गगन, अमृत, उन्मनि अनाहद, निरंजन (२) सिद्धों के शब्द-प्रतीकों की परम्परा और उनका स्वरूप—सुरति और निरति, नाद और बिन्दु, खसम, शून्य, सहज, मुद्रा, वज्र—नवीन शब्द प्रतीक—लीला तत्त्व, नाम तत्त्व।

(घ) उल्टवासियों की प्रतीक-योजना……१८५-१६४

आधार एवं क्षेत्र—योगपरक उल्टवासियों में प्रतीक योजना—तात्त्विक उल्टवासियों में प्रतीक-योजना (क) मानवीय संबन्धों के प्रतीक (ख) मानवेतर प्राणियों और वस्तुओं की प्रतीक योजना—मानव शरीर तथा संसार से संबंधित प्रतीक योजना—उपदेशपरक उल्टवासियों में प्रतीक योजना

निष्कर्ष पृ० १६४-१६६

पंचम अध्याय पृ० १६७-२६४

(सूफ़ी प्रेम-काव्य में प्रतीक योजना)

(क) पृष्ठभूमि पृ० १६७-२१५

प्रतिबिंबवाद का रूप—संतों के योगपरक शब्द-प्रतीकों की परम्परा—इड़ा-पिंगला आदि, चक्र, दसव दुआंर आदि, अमृत, अनाहद, अलख, योगिनी, हस्तिनी आदि, वज्र, सहजसमाधि—शून्य

(ख) सूफ़ी-साधना की प्रतीक योजना पृ० २१५-२३१

परमतत्त्व की धारणा का स्वरूप तथा प्रतिबिंबवादी प्रतीक (तात्त्विक)—संख्यावाचक प्रतीक-योजना—प्रेमभाव के प्रतीक (साक़ी, शराब आदि)

(ग) प्रेम-प्रतीक और रूप-सौंदर्य की प्रतीक-योजनाएँ पृ० २३२-२४३

प्रेम-प्रतीक—दाम्पत्य प्रतीक-योजना (१) पूर्वराग तथा अन्तर्दृष्टि (२) प्रयत्न (३) मिलनावस्था (४) आनन्दानुभूति—रूप सौंदर्य के प्रतीक—पारस रूप, धनुष-बाण, चन्द्र, चकोर खंजनादि

(घ) प्रतीकात्मक समासोक्तियाँ एवं प्रासंगिक कथाएँ २४३-२५५

प्रतिबिंबवादी समासोक्तियाँ—तात्त्विक समासोक्तियाँ—प्रेमपरक समासोक्तियाँ—रूप-सौंदर्यपरक समासोक्तियाँ—प्रसंग कथाएँ और उनका प्रतीकार्थ (१) जीव कहानी का प्रतीकार्थ (२) मधुकर-मालती कथा (३) मानिक-हीरा कथा

(ङ) पात्रों का प्रतीकार्थ पृ० २५५-२६२
निष्कर्ष पृ० २६२-२६४

षष्ठ अध्याय—पृ० २६५-३२३
(*राम भक्ति-काव्य में प्रतीक-योजना*)

(क) पृष्ठभूमि पृ० २६५-२८०
अवतार भावना—लीला और रूप—संतों के शब्द-प्रतीकों की परम्परा—निरञ्जन, सहज, मुद्रा, वज्र, सुरति—अन्य गौण शब्द-प्रतीक।
(ख) रामकथा का प्रतीकार्थ पृ० २८०-३०५
विकासवादी आध्यात्मिक एवं मानसिक दृष्टिकोण—भौतिक एवं आकाशीय दृष्टिकोण—राम, सीता, दशरथ तथा जनक, हनुमान, राक्षसगण
(ग) तात्त्विक प्रतीक-योजना (ब्रह्म, माया, संसार आदि) पृ० ३०५-३१२
कार्य-ब्रह्म प्रतीक—माया, जीव, संसार आदि के द्योतक प्रतीक
(घ) प्रेम-भक्ति की प्रतीक-योजना पृ० ३१२-३१६
(ङ) रूप-सौंदर्य के प्रतीक—पृ० ३१६-३२१
विशेष तथा निष्कर्ष पृ० ३२१-३२३

सप्तम अध्याय—पृ० ३२४-४०७
(*कृष्ण-भक्तिकाव्य में प्रतीक-योजना*)

(क) पृष्ठभूमि पृ० ३२४-३६१
परम्परा के शब्दप्रतीक—सुरति, सहज, मुद्रा, वज्र, अनाहद, निरञ्जन, अमृत (हरिरस) गगनमंडल—राधाकृष्ण के प्रतीक रूप का विकास—कृष्ण का प्रतीकार्थ-विकास—स्थितियाँ (१) वैदिक साहित्य के तत्त्व (२) महाभारत तथा गीता के तत्त्व (३) आदिम जातियों के तत्त्व (४) पुराणों के तत्त्व (५) काव्य रूप—राधा का प्रतीकार्थ विकास (१) वैदिक साहित्य के तत्त्व (२) पांचरात्र में शक्ति-तत्त्व (३) पुराणों में राधा का स्वरूप (४) काव्य में राधा
(ख) कृष्ण-लीलाओं का प्रतीकार्थ पृ० ३६२-३८६
माखनचोरी—गोचारण—कालियदमन—दावानल पान—गोवर्द्धन धारण-लीला—चीरहरणलीला—रासलीला (१) आध्यात्मिक दृष्टिकोण (२) योगपरक दृष्टिकोण (३) वैज्ञानिक दृष्टिकोण—दानलीला—भ्रमरगीत
(ग) प्रेम-भक्ति की प्रतीक-योजना पृ० ३८६-३९५
गोपी-भाव—मानवेतर प्रकृति के प्रतीक—साधनागत प्रतीकात्मक प्रसंग

(घ) दृष्टिकूटों की प्रतीक-योजना पृ० ३६५-४०५
शाब्दी प्रतीक—आर्थी कूटों के प्रतीक
निष्कर्ष पृ० ४०५-४०७

तृतीय खण्ड (रीति-काव्य)

अष्टम अध्याय—पृ० ४०८-४८२

(रीतिकालीन काव्य में प्रतीक-योजना)

(क) पृष्ठभूमि पृ० ४०८-४२१
काम तथा रति—कवि परिपाटी के प्रतीक—अलंकार एवं प्रतीक—नायिकाभेद में प्रतीक रूप—राधाकृष्ण का स्वरूप
(ख) कवि-परिपाटी के प्रतीक पृ० ४२१-४४२
उद्गम स्रोत—वनस्पति संसार—प्राणी जगत्—वनस्पति संसार की प्रसिद्धियाँ—चम्पक, अशोक, मालती, मंदार, चन्दन, कमल और भौंरा—प्राणी जगत्—हंस, चक्रवाक, हारिल, चातक, चकोर—कुछ अन्य प्रसिद्धियाँ—कामदेव जुराफा, दीपक, मीन आदि।
(ग) अलंकारों में प्रतीक-योजना पृ० ४४२-४८१
श्लेषगत प्रतीक-योजना—यमक के प्रतीक—रूपकातिशयोक्ति में प्रतीक-योजना—अन्योक्तिगत प्रतीक-योजना (१) मानवेतर जड़ प्रकृति (२) मानवेतर चेतन प्रकृति—तात्त्विक अन्योक्तियाँ (१) काल, माया, जीव और संसार (२) ब्रह्मज्ञान आदि
निष्कर्ष पृ० ४८१-४८२

चतुर्थ खण्ड (भारतेंदु तथा द्विवेदी काव्य)

नवम अध्याय—पृ० ४८३-५१६

(भारतेन्दुकालीन-काव्य में प्रतीक-योजना)

(क) पृष्ठभूमि पृ० ४८३-४६२
परम्परा का आग्रह एवं उसका रूप—नवीन चेतना का रूप—
(ख) प्रेम-भाव के प्रतीक पृ० ४६२-५००
रहस्यवादी प्रेम-प्रतीक—परम्परा के प्रेम-प्रतीक
(ग) तात्त्विक तथा नीतिपरक प्रतीक-योजनाएँ पृ० ५००-५०७
(घ) सामाजिक तथा राष्ट्रीय प्रतीक पृ० ५०७-५१६

पौराणिक तथा ऐतिहासिक माध्यमों के प्रतीक—प्राकृतिक घटनाएँ तथा वस्तुएँ—त्योहार एवं पशु

(ङ) रूप-सौंदर्य के प्रतीक पृ० ५१६-५१८

निष्कर्ष पृ० ५१८-५१६

दशम अध्याय पृ० ५२०-५८५

(स्वच्छन्दवादी काव्य में प्रतीक-योजना)

(क) पृष्ठभूमि पृ० ५२०-५२८

परम्परा का रूप और प्रतीक—राम कृष्ण का रूप—नवीन चेतना का स्वरूप और प्रतीक

(ख) रहस्यवादी प्रतीक-योजना पृ० ५२८-५४१

प्रेमपरक रहस्यवादी प्रतीक—प्रकृतिगत रहस्यवादी प्रतीक—दाम्पत्य भाव के प्रतीक—तात्त्विक प्रतीक-योजनाएँ

(ग) प्रेम तथा विरह की प्रतीक-योजनाएँ ५४१-५५४

भौंरा कली—दीपक-पतङ्ग—चातक चकोर आदि—प्राकृतिक वस्तुएँ तथा घटनाएँ

(घ) रूप सौंदर्य के प्रतीक पृ० ५५४-५५७

(ङ) सामाजिक तथा राष्ट्रीय प्रतीक पृ० ५५७-५६८

पौराणिक तथा ऐतिहासिक प्रतीक—मानवेतर प्रकृति और प्रतीक-योजना

(१) प्राकृतिक घटनाएँ तथा जड़ प्रकृति (२) मानवेतर चेतन प्रकृति

(च) मानवीकरण पृ० ५६६-५७३

(छ) अन्योक्तियों में प्रतीक-योजना पृ० ५७३-५८४

मानवेतर जड़ प्रकृति—मानवेतर चेतन-प्रकृति—यांत्रिक प्रतीक

निष्कर्ष पृ० ५८४-५८५

पञ्चम खण्ड (छायावादी काव्य)

एकादश अध्याय—पृ० ५८६-६८२

(छायावादी काव्य में प्रतीक-योजना)

पृष्ठभूमि पृ० ५८६-५६४

परम्परा का रूप—नवीन चेतना का स्वरूप—सौंदर्य-भावना—प्रकृति-दर्शन—रोमांटिक अवसाद—मानवतावाद

(ख) रहस्यवादी प्रतीक-योजना पृ० ५६४-६०६
प्रेम-भाव के रहस्य-प्रतीक—प्रकृतिगत रहस्य-प्रतीक
(ग) तात्त्विक प्रतीक-योजना पृ० ६०६-६१७
(*ब्रह्म-माया-संसार-जीव-काल*)
ब्रह्मसृष्टि आदि—माया, संसार आदि के प्रतीक
(घ) प्रेम एवं विरह के प्रतीक : पृ० ६१७-६२४
मानवेतर प्रकृति के प्रतीक—विरह व्यञ्जक प्रतीक—अन्य प्रतीक
(ङ) रूप-सौंदर्य के प्रतीक पृ० ६२४-६३०
परम्परा के प्रतीक—नवीन प्रतीक योजना
(च) मानस-जगत् के प्रतीक पृ० ६३०-६४३
मनादि के व्यंजक प्रतीक—भावादि के व्यंजक प्रतीक—लहर, तरङ्ग, खगादि, अन्य प्रतीक—आत्मा, कल्पना, चेतना के प्रतीक
(छ) मानवीकरण पृ० ६४३-६६०
भाव आदि—सौंदर्य, चेतना, कल्पना के प्रतीकगत मानवीकरण—प्रकृति के मानवीकरण, प्रकृति-वस्तुओं के मानवीकरण
(ज) यथार्थ जगत् के प्रतीक (समाज, राष्ट्र, मानवता) पृ० ६६०-६७३
सामाजिक प्रतीक—देश तथा राष्ट्र-प्रतीक
(झ) जीवन-दर्शन और निष्कर्ष पृ० ६७३-६७८
उपसंहार पृ० ६७६-६८२

परिशिष्ट पृ० ६८३-७६०

(क) लोक-गीतों में प्रतीक-योजना पृ० ६८३-६६८
(ख) पाश्चात्य काव्य में प्रतीक की दृष्टि पृ० ६६८-७१५
(ग) श्री सुमित्रानंदन पंत से इण्टरव्यू पृ० ७१५-७१६
(घ) डॉ० रामकुमार वर्मा से इण्टरव्यू पृ० ७१६-७२३
(ङ) प्रतीक-सूची पृ० ७२३-७४६
(च) पुस्तक-सूची पृ० ७४७-७५८
१—हिन्दी की सहायक पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ, जर्नल
२—अंग्रेजी की सहायक पुस्तकें
(छ) प्रबन्ध में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की सूची (अंग्रेज़ी से हिन्दी)—
पृ० ७५८-७६०

भूमिका

अपने विश्वविद्यालय के हिन्दी परिषद् प्रकाशन की ओर से 'हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास (१६००-१६४०)' प्रकाशित करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता और संतोष का अनुभव हो रहा है। हिन्दी-परिषद् प्रकाशन सदैव से ऐसे ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए अग्रसर होता रहा है जिनसे हिन्दी साहित्य की सीमाओं का विस्तार हो और अनुसंधान द्वारा ऐसे नवीन तथ्यों की खोज हो जिनकी ओर समीक्षकों और विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट हो सके। मुझे यह कहने में संकोच नही है कि प्रस्तुत ग्रन्थ इस महत्त्वपूर्ण दिशा की ओर संकेत करता है।

इस ग्रन्थ के लेखक डॉ० वीरेन्द्र सिह हैं जो मेरे प्रिय छात्र रहे हैं। इन्होंने अपने अनुसधान में जिस समीक्षात्मक दृष्टि और मौलिक विवेचन का परिचय दिया है, वह मुझे संतोषकर हुआ है। मैने जिस संदर्भ में उन्हें संकेत दिया, उसी की ओर ये अविरत परिश्रम से अग्रसर हुए और उन्होने थोड़े समय में अधिक से अधिक कार्य करने की क्षमता प्रदर्शित की। विश्वविद्यालय ने भी उनके इस ग्रन्थ पर डी० फ़िल्० की उपाधि प्रदान की।

जहाँ तक ग्रन्थ के विषय का सम्बन्ध है, मेरे विचार से, लेखक ने प्रतीक का सीमित अर्थ नहीं लिया, प्रत्युत उसे एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में हृदयंगम करने का प्रयत्न किया है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इस प्रबन्ध में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति को अन्य ज्ञान-क्षेत्रों के प्रकाश मे काव्य की भावभूमि पर देखने का प्रयत्न किया गया है। यह अपने में एक नवीन दिशा-संकेत है। यह सत्य है कि प्रतीक-सृजन कला पक्ष को लेकर अग्रसर होता है और उस कला में समस्त चिंतन तथा भावना का सकेत एक 'व्यष्टि' में केन्द्रीभूत हो जाता है। रूपक की भाषा में कहें तो उस कला में समस्त रात्रि का संकेत एक तारकबिन्दु में अथवा समस्त उपवन का संकेत एक पुष्प में परिलक्षित होता है। लेखक ने अपने प्रबन्ध में प्रतीक के कलात्मक एवं दार्शनिक पक्षों

का समुचित समन्वय करने का जो यत्न किया है, वह भक्ति-काल तथा छायावादी काव्य के सुन्दरतम रूप का चित्र प्रस्तुत करता है। यही नहीं, प्रतीक-दर्शन का जो बहुमुखी विकास कृष्णकथा, रामकथा तथा सूफी प्रेम-कथाओं में लक्षित होता है, वह लेखक के विवेचन से एक नवीन तथ्यनिरूपण की ओर संकेत करता है, साथ ही साथ अनेक भ्रांतियों का निराकरण करने में भी सफल होता है।

लेखक के विवेचन में एक अन्य तथ्य यह भी लक्षित होता है कि उसने भारतीय प्रतीक-विद्या के अन्तराल में प्रवेश करने का प्रयत्न किया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसने पाश्चात्य धारणाओं की अवहेलना की है। यदि मैं यह कहूँ कि लेखक ने स्थान स्थान पर पाश्चात्य प्रतीक-धारणाओं को भारतीय प्रतीक-विद्या की विशाल भावभूमि के अन्तर्गत ही समाहित करने का प्रयत्न किया है, तो अत्युक्ति न होगी। उसकी सैद्धातिक रूपरेखा प्रथम तीन अध्यायों में तथा व्यावहारिक रूपरेखा अन्य अध्यायों में स्पष्टता के साथ प्रस्तुत की गई है। लेखक ने उपनिषदों के आधार पर अपनी प्रतीक-धारणा का जो स्वरूप स्पष्ट किया है, वह नितांत भारतीय चिंतन पर आधारित है। सम्पूर्ण प्रबन्ध में लेखक की अपनी दृष्टि प्रमुख है, यह दूसरी बात है कि उस दृष्टि पर अनेक पाश्चात्य तथा पौर्वात्य विचारकों का प्रभाव यदा कदा लक्षित हो। मैं ऐसा समझता हूँ कि यदि लेखक ने वेदों का स्वयं अध्ययन किया होता, तो कदाचित् वह प्रतीक-दर्शन को और भी व्यापक रूप दे सकता। मुझे आशा है लेखक अपने भविष्य के अध्ययन में इस दिशा की ओर विशेष प्रयत्नशील हो सकेगा। लेखक ने अपने विवेचन में वैज्ञानिक तर्क-विधि तथा विवेचन प्रणाली को अपनाते हुए उसके साहित्यिक सौन्दर्य को धूमिल नहीं होने दिया है, उसने उस सौन्दर्य को और भी व्यापक पृष्ठभूमि प्रदान की है। हिन्दी में प्रतीक पर यह कार्य, मेरे विचार से, पहला कार्य है जो एक वैज्ञानिक रीति से सम्पन्न हुआ है।

आशा है, शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में इस ग्रन्थ का उचित मूल्यांकन होगा।

प्रयाग विश्वविद्यालय
१४-१२-६४

—रामकुमार वर्मा
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

प्राक्कथन

जीवन के विशाल प्रांगण में अनेकानेक क्षेत्रों का समावेश एक सत्य है। विश्व एवं जीवन का 'सत्य' 'ज्ञान' के अनेक गतिशील आयामों से मुखरित होता है। इसी 'ज्ञान' को एक सुसम्बद्ध रूप में बाँधने का कार्य 'प्रतीक' ही करते हैं। मेरे सम्पूर्ण शोध-प्रबंध का मूल प्रेरणा-स्रोत प्रतीक की इसी भाव-भूमि को लेकर काव्य की रसानुभूति को सम्मुख रखता है। मैने भरसक यही प्रयत्न किया है कि काव्य के विशाल क्षेत्र में 'ज्ञान' एवं अनुभूति का प्रतीक-परक विश्लेषण एवं संश्लेषण करने में समर्थ हो सकूँ। इसी दृष्टि से मैने उपनिषदों, वेदों तथा पुराणों के प्रतीक-दर्शन का आख्यान करने का प्रयत्न किया है। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य (धार्मिक भी) का मूल प्रेरणा-स्रोत हमारा वैदिक वाङ्मय है जिसने हिन्दू चितन को एक गतिशीलता प्रदान की है। उपनिषद्-साहित्य के अध्ययन से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि हमारा 'प्रतीक-दर्शन' कितना विशाल एवं चिंतनप्रधान है जिसमें 'ज्ञान' की विशालता अनेक दिशाओं की ओर गतिशीत है, केवल उसके हृदयंगम की आवश्यकता है। उस 'सागर' से मैं केवल कुछ 'बूँदों' को ही ग्रहण कर पाया हूँ जिसके आधार पर मैंने इस प्रबंध की आधारशिला प्रस्तुत की है। सत्य में, पूज्य डॉ० रामकुमार वर्मा का एक हल्का सा संकेत मुझे इस ओर प्रेरित करने में समर्थ हुआ। इसके अतिरिक्त मैंने स्वयं अपने दृष्टिकोण का यदा-कदा आश्रय भी लिया है और मौलिकता को बनाये रखने के लिए पूरा प्रयत्न किया है। महर्षि अरविंद तथा अरबन के विचारों ने भी मेरी अनेक प्रतीकात्मक धारणाओं की भूमि प्रस्तुत की है जो संत, राम तथा कृष्ण काव्यों में मुखर हो सकी है।

इस प्रकार, हिन्दी काव्य के प्रतीक-दर्शन को मैंने केवल भावना तथा कल्पना के आयामों से ही देखने का प्रयत्न नहीं किया है, परन्तु उसे आध्यात्मिक मनोविज्ञान, विकासवाद तथा आधुनिक वैज्ञानिक दर्शन के प्रकाश में भी देखने का प्रयत्न किया है। रामकथा, कृष्ण-लीलाएँ तथा सूफी प्रेमाख्यानों को मानवीय 'ज्ञान' के विभिन्न स्तरों से पर्यवेक्षण करने पर उसके प्रति अनेक भ्रान्तियों का निवारण भी सम्भव हो सका है जो प्रबंध में पूर्ण विस्तार से विवेचित है। इस दृष्टिकोण का प्रसार मैंने छायावादी काल तक निभाने का प्रयत्न किया है। इस दिशा में मुझे श्री देवदत्त शास्त्री से सहायता

मिली है, जिनके प्रति मैं पूर्ण आभारी हूँ। 'कल्याण' की पुरानी फ़ाइलों तथा भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट के जर्नलों ने भी मेरे विवेचन की आधार-भूमियाँ निश्चित की है।

इस दृष्टिकोण के अतिरिक्त मैंने भाषागत प्रतीक-दर्शन का भी यथोचित समन्वय अपने विवेचन में प्रसंगानुसार किया है। इसका कारण यही है कि शब्द का अर्थ-वैविध्य भी उसे कभी-कभी प्रतीक की श्रेणी तक पहुँचा देता है, और अपरोक्ष रूप से प्रत्येक शब्द ही प्रतीक का रूप होता है। यमक, श्लेष, रूपकातिशयोक्ति तथा अनेक शब्द-प्रतीकों में शब्द का यही उन्नत रूप प्राप्त होता है। इस दृष्टिकोण का प्रसार इस प्रबंध में अनुस्यूत प्राप्त होगा। भाषागत प्रतीक-दर्शन के अध्ययन तथा अनेक भ्रान्तियों के निवारणार्थ मै डा० हरदेव बाहरी का भी आभारी हूँ जिन्होंने मुझे इस दिशा में विशेष सहायता प्रदान की है। प्रथम तीन अध्यायों के प्रतीकवादी दर्शन के विवेचन में मुझे डा० धर्मवीर भारती ने अनेक सुंदर पुस्तकों की ओर निर्देश किया था जिनके द्वारा मैं प्रतीक-दर्शन के विशाल क्षेत्र को हृदयंगम कर सका। अँग्रेज़ी तथा फ्रांसीसी प्रतीकवादी काव्य के अध्ययन में मुझे श्री ज्योतिस्वरूप सक्सेना से विशेष सहायता मिली, जिन्होंने पाश्चात्य साहित्य के अनेक आयामों का उद्‌घाटन किया। इन सब निर्देशों ने मुझे 'मार्ग' का अन्वेषी बनाया। पूज्य डॉ० रामकुमार वर्मा का यह कथन बरबस मेरे मानस-पटल पर उभर आता है कि शोध छात्र को 'मार्ग' भर दिखाया जा सकता है, उस मार्ग पर चलना उसका कार्य है। मार्ग पर गतिवान होने की 'शक्ति' पूज्य डॉक्टर साहब की ही प्रेरणा है जिनका सम्बल पाकर मैं इस महत् कार्य को कम से कम समय में पूर्ण कर सका। डॉक्टर साहब की ही प्रेरणा मेरे समस्त मानसिक एवं बौद्धिक अभियानों में अन्तर्भूत रही है। कदाचित् हम छात्रों के लिए ही उन्होंने 'एकलव्य का आदर्श' सम्मुख रखा है। मुझ अकिंचन 'एकलव्य' के पास है ही क्या कि मैं 'कुछ' अर्पित कर सकूँ? केवल साधना, श्रद्धा एवं यह अकथ श्रम का एक 'फूल' जो उन्हीं का वरदान है, उन्हीं को समर्पित है।

प्रबन्ध का कलेवर अवश्य बढ़ गया है। मैंने उसे, जहाँ तक हो सका है, कम भी किया है और उसका, जो रूप आपके सामने है, वह मूल शोध-प्रबंध का संशोधित रूप है। मैंने पूरे प्रबन्ध में व्यर्थ के विस्तार को भरसक कम किया है और जो विचार आवश्यक हैं उन्हें ही प्रबन्ध में स्थान दिया है।

इस प्रबन्ध के विस्तार का मूल कारण विषय का लम्बा काल (१६००-१६४०) है, जिसे पूरे प्रयत्न से संक्षेप में ही रखा गया है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने मुझ पर उपर्युक्त काल पर शोध-कार्य करने का भार प्रदान किया, और फिर विश्वविद्यालय से मुझे यह लम्बा काल भी प्राप्त हुआ। अतः जिन परीक्षकों ने भक्तिकाल तथा रीतिकाल को और आधुनिक काल को, अलग अलग अनुसंधान के विषय बनाने का सुझाव रखा है, उसके न होने का मुख्य उपर्युक्त कारण भी है। परन्तु जहाँ तक इन कालों के प्रतीकों के 'स्वरूप' का प्रश्न है, उसका मैंने स्पष्टतया विवेचन किया है—भेद तथा समानता दोनों ही दृष्टियों से। इसके साथ विभिन्न कालों के प्रतीकवाद का सापेक्षिक महत्त्व एवं उनका विकास भी दिखाया गया है। प्रबन्ध के 'उपसंहार' में इस विषय का पूर्ण विवेचन किया गया है। फिर भी, मैं यह दावा नहीं कर सकता हूँ कि इसमें न्यूनताएँ नहीं है और मुझे विश्वास है कि पाठक तथा समीक्षक मेरे इस प्रयास का उचित मूल्य आँकेंगे।

अन्त में, मैं इलाहाबाद पब्लिक लाइब्रेरी के श्री वर्मा जी और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के श्री विश्वनाथ का भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अप्राप्य पुस्तकों का प्रबन्ध किया और मेरा मार्ग प्रशस्त किया।

प्रयाग —वीरेन्द्र सिंह

१ दिसम्बर, १६६४

संकेत-चिह्न

उप०भा०	उपनिषद् भाष्य
क०ग्रं०	कबीर-ग्रंथावली
कुं०	कुंडलिया
जा०ग्रं०	जायसी-ग्रंथावली
डा०	डॉक्टर
दो०	दोहा
दे०	देखो
पृ०	पृष्ठ
प्र०वि०	प्रयाग विश्वविद्यालय
पु०	पुस्तक
भा०ग्र०	भारतेन्दु-ग्रंथावली
सं०	संपादक

प्रथम अध्याय

प्रतीक का उद्गम और विकास

(क) प्रतीक का उद्गम

प्रतीक का उद्गम मानव-मन का एक अभियान है। प्रतीक केवल कल्पना की ही उन्मुक्त उड़ान नही है। उसके पीछे अनुभव के नित्य नूतन संयोग की प्रगति रेखा है। विकासवादी सिद्धान्त यह सिद्ध करता है कि जैव और अजैव (आरगैनिक एण्ड इनआरगैनिक) जगत् के बीच शून्य नहीं है, पर उनमें अन्योन्य संबंध है। मेरे विचार से प्रतीक का उद्गम एवं विकास जड़ और जीव की शृंखला को एक क्रमागत रूप में सामने रखता है। प्रतीकों की पृष्ठभूमि में अजैव जगत् का स्पन्दन है और जैव जगत् की चेतना। अतः प्रतीक के विकास को समझने के लिए आदिमानव की आश्चर्य-भावना, उसके अंधविश्वास, उसकी तांत्रिक रीतियाँ अथवा उसकी संदेहात्मक-भय-मिश्रित प्रवृत्ति को समझना आवश्यक है।

उद्गम-सिद्धान्त

आदिमानव, विकास क्रम की वह कड़ी है जिसके अवशेष चिह्न अब भी हमें अफ्रीका (नीग्रो), अमरीका (रेड इडियन), भारत (नागा व मुंडा) आदि देशो में बिखरे हुए मिल जाते हैं। इन आदिम जातियों में अनेक ऐसे चिह्न अथवा प्रथाएँ मिल जाती हैं जिनका यदि विश्लेषण किया जाय तो उनके द्वारा आज के कुछ प्रतीकों का कहीं हल्का-सा और कही गहरा-सा रूप अवश्य मिल जायगा। इसका यह अर्थ नही है कि हमारी समस्त चिन्ता-धारा के प्रतीकों का आदिस्रोत केवल इन्ही आदिमानवीय अंधविश्वासों एवं रीतियों में समाहित है। परन्तु इससे भी इन्कार नही किया जा सकता है कि इन आदि परंपराओं, प्रथाओं एवं अंधविश्वासों के पीछे एक सबल मानसिक पृष्ठभूमि है।

१. जड़ात्मवादी सिद्धान्त (Animistic Theory)

मानव का आदिम इतिहास यह स्पष्ट करता है कि उसमें मानसिक चेतना अत्यन्त निम्न स्तर पर थी। उस समय उसकी आश्चर्य-भावना ने प्रकृति-पदार्थों एवं घटनाओं के प्रति एक अन्वेषण की भावना का सूत्रपात किया। इस प्रवृत्ति का प्रथम विकास उस आदितम रूप मे प्राप्त होता है, जब मानव-मन ने अपनी चेतना एवं क्रियाओं का आरोप प्रकृति-पदार्थों एवं घटनाओं पर करना आरम्भ किया। इसी से फ्रेजर, स्पेन्सर आदि विद्वानों का मत है कि प्रतीक का आदितम स्रोत आदिमानवीय अन्वेषण प्रवृत्ति ही है।

आदिमानवीय अंधविश्वासों के अन्तराल में यह सामान्य प्रवृत्ति थी कि वे अपने अव्यक्त अंधविश्वासों को व्यक्त चेतनयुक्त रूप प्रदान कर देते थे। दूसरे शब्दों में, वे अपनी प्राण-चेतना को प्रकृति में ही स्पंदित देखते थे। यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो यह प्रवृत्ति समस्त धार्मिक एवं पौराणिक प्रतीकों के अंतराल मे व्याप्त प्रतीत होती है।

मानसिक विकास की दृष्टि से आदिमानव की स्थिति सामान्यतः भाव-मूलक ही थी। फ्रेजर ने अपने अत्यन्त खोजपूर्ण ग्रंथ 'गोल्डन बाउ' में ऐसी अनेक मानवीय प्रथाओं अथवा विचारो का विश्लेषण प्रस्तुत किया है जो आदिमानव की प्रतीक-सृजन की क्रिया की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं।[1] उन्होंने अग्निअनुष्ठानों, वृक्ष-प्रथाओं एवं पशु-पूजा (टोटम) की अनेक विधियों का जो विश्लेषण किया है, उस पर हम अग्नि व वृक्ष प्रतीकों के अन्तर्गत विचार करेंगे। इसी आदिम भावना को प्रो० वाइटहेड ने 'अंध-भावना' (ब्लाइंड इमोशन) की संज्ञा दी है।[2] परन्तु इस अंध-भावना को 'हेय' दृष्टि से देखना उचित नहीं है, पर उसके प्रति एक सहानुभूति की भावना का रखना अपेक्षित है।

इन अंधप्रथाओं ने आदिमानव की जिज्ञासा भावना को एक नवीन दिशा की ओर उन्मुख किया। इस दिशा में मानवीकरण की प्रक्रिया पर ही बल नही दिया, पर उस प्रक्रिया में एक तान्त्रिक शक्ति का (Mechanical Force) आरोप किया। इस शक्ति-भावना में भय की, आश्चर्य की एवं पवित्रता की

१—गोल्डन बाउ द्वारा फ्रेजर—ए स्टडी इन मैजिक एंड रिलीजन : पुस्तक २, भाग १, तथा पुस्तक २, भाग ७, अध्याय २, ३ और ५।

२—प्रोसेस एन्ड रियाल्टी द्वारा ए० एन० वाइटहेड, पृ० २४६।

मिश्रित अभिव्यक्ति हुई जिसने प्रकृति-शक्तियों एवं व्यापारों को मानवीय आकार प्रदान किया। इस पर धर्म के अनेक देवी-देवताओं की धारणाओं का क्रमिक विकास लक्षित होता है।

यह सत्य है कि जड़ात्मवादी सिद्धान्त के प्रकाश में अनेक प्रतीकों का आदिस्रोत ज्ञात होता है, परन्तु यह कहना कि इस सिद्धान्त में ही समस्त प्रतीकों का उद्गम समाहित है, अत्युक्ति होगी। उदाहरणस्वरूप, हम चिह्नों एवं भाषा के प्रतीकों के उद्गम को (शब्दों को) इस सिद्धान्त के द्वारा नहीं समझ सकते हैं। यह ठीक है कि इस आदि स्थिति में भाषा का स्पष्ट प्रारम्भ नहीं हुआ था, परन्तु यह भी मान्य है कि इस आदिम दशा में भी चिह्नों एवं अंग मुद्राओं का प्रयोग अवश्य आरम्भ हो गया था।[1] ये आदिम चिह्न एवं मुद्राएँ किसी न किसी रूप में 'आदिभाषा' के प्रचीनतम रूप अवश्य थे। इसके अतिरिक्त प्रतीक निर्माण का क्षेत्र अव्यक्त भी है जिसमें दार्शनिक तत्त्व चिंतन, मनोविज्ञान एवं विज्ञान के अनेक धारणागत प्रतीकों का स्थान आता है। इन प्रतीकों का उद्गम भी इस सिद्धान्त के द्वारा पूर्णतया हृदयंगम नहीं किया जा सकता है। यहाँ पर मन की क्रियाएँ अनुभूतिपरक हो उठती हैं और कल्पना के द्वारा अनेक नव प्रतीकों का सृजन शुरू हो जाता है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि काव्य-दर्शनादि में आरोपण क्रिया से उद्भूत प्रतीकों का स्थान ही नहीं होता है। उनका भी उन ज्ञान-क्षेत्रों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

२. मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Psychological Theory)

उपर्युक्त सिद्धान्त की कमी को यह सिद्धान्त पूरा करता है। इस सिद्धांत के प्रकाश में हम प्रतीकों के सर्वत्र व्यापक क्षेत्र के उद्गम का आभास पा सकते हैं। उनका विचारात्मक एवं तार्किक विकास हमें धार्मिक प्रतीकों के रूप (पौराणिक भी) में ही दृष्टिगत होता है। मेरे विचार से मनोविज्ञान का व्यापक अर्थ लेने पर आदिमानवीय अंधविश्वास एवं चेतनावादी प्रक्रिया का भी स्पष्ट संकेत मिल जाता है। मानसिक विकास का इतिहास यह सिद्ध करता है कि मानव-मन सदैव से जटिल प्रक्रियाओं को सामान्य संगठित विचारों के रूप में ग्रहण करता है। इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप अनुभव ने, धूमिल विचारात्मक प्रवृत्ति का सहारा लेकर, प्रतीकों का सृजन आरम्भ किया। विचार की प्रवृत्ति, सत्य रूप में, वह शक्ति है जो प्रतीकों का सृजन करती

१—इस अंश का पूर्ण विवेचन आगे द्वितीय अध्याय में भाषागत प्रतीकवाद के अन्तर्गत किया जायगा।

है। विचारों का सबसे मुख्य कार्य 'प्रतीकीकरण' है[1]। यह प्रवृत्ति किसी न किसी रूप में हमें आदिमानवीय अंधविश्वासों और अनेक तांत्रिक रीतियों में प्राप्त होती है।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त यह भी सिद्ध करता है कि प्रतीकों के उद्गम में सामूहिक चेतना का सदैव हाथ रहा है। मानसिक सृजन-शक्ति का उदय समूह की प्रक्रिया में होता है। इसी सामूहिक चेतना के दर्शन हमें आदिमानवीय प्रतीकों के उद्गम, उनके अनेक अंधविश्वासों, त्यौहारों एवं तांत्रिक रीतियों में प्राप्त होते हैं। आदिमानवीय तांत्रिक रीतियों का लक्ष्य अंधविश्वासीय धारणाओं का प्रतीकात्मक निर्देशन ही था। यही चिह्नों (Signs) के प्रयोग की स्थिति कही जा सकती है। प्रतीक और चिह्न में अंतर है। प्रतीक-निर्माण की क्रिया किसी विचार अथवा धारणा पर आश्रित रहती है। प्रतीक-सृजन मन की सूक्ष्म प्रक्रिया है, परन्तु चिह्न-प्रयोग मन की वाह्य क्रिया है जिससे किसी विशिष्ट धारणा या विचार का दिग्दर्शन नही होता है। अंगमुद्राएँ, चिह्न आदि जो तांत्रिक रीतियों में प्रयुक्त होते हैं वे सब सामान्य रूप से चिह्न ही हैं, प्रतीक नहीं—अधिक से अधिक वे प्रतीक-सृजन की एक आदिम प्रारम्भिक दशा मात्र ही कहे जा सकते हैं। इसी तथ्य की प्रतिध्वनि हमें सूसेन के० लेंगर के इस कथन में अपरोक्ष रूप से मिलती है—'तंत्र' (Magic) एक विधि नही है पर वह भाषा का आदितम रूप (चिह्न से अर्थ) है। यह उस महान् भौतिक सत्य 'अनुष्ठान' (Ritual) का अंश है जो धर्म और पुराण की भाषा[2] है।

चिह्न का प्रयोग आदिमानव की एक मानसिक आवश्यकता थी। ये चिह्न जानवरों द्वारा प्रयुक्त चिह्नों से सर्वथा भिन्न हैं। मानव नामधारी प्राणी जीव-धारियों की तरह चिह्नों का प्रयोग केवल संकेत के लिए ही नही करता है, पर किसी भाव या विश्वास को प्रदर्शित करने के लिए भी करता है। जब ये चिह्न किसी विचार, भाव या धारणा की अभिव्यक्ति करते हैं, तब वे विचारवाहक 'प्रतीक' की श्रेणी तक पहुँच जाते है।

समन्वय

इस सिद्धान्त का विस्तार एक अन्य भूमि पर भी दृष्टिगत होता है जो अचेतन एवं चेतन मानसिक प्रक्रियाओं के स्तरों का उद्घाटन करता है। परन्तु यहीं

१—द नेचुरल हिस्ट्री आफ माइंड द्वारा रिची, पृ० २७८।

२—फिलासफी इन ए न्यू की द्वारा सूसेन के० लेंगर, पृ० ४०।

पर प्रतीक के उद्गम स्रोत का तो पूर्ण रूप प्राप्त हो जाता है पर उसके भावी विकास के लिए यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त कार्य नहीं कर सकता है। भारतीय दर्शन में 'मन' से भी महान् आत्मा है जिसका पूर्ण विवेचन हम मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद के अंतर्गत करेंगे। अतः यह सिद्धान्त आत्मा (प्राण) की गहन प्रक्रियाओं का समन्वय न कर सकने के कारण, प्रतीक-निर्माण की उस भावभूमि का विश्लेषण नहीं कर सकता है जो आत्मिक है। अतः मानव-मन के सर्वांगपूर्ण प्रतीकीकरण का क्षेत्र मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से पूरी तौर पर हृदयंगम नहीं किया जा सकता है। परन्तु जहाँ तक प्रतीक के उद्गम का प्रश्न है, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पूर्णतया मान्य है, क्योंकि उसमें हमें जड़ात्मवादी सिद्धान्त का जो सबसे कमजोर पक्ष था (भाषा के प्रतीकों का) उसका उसमें उचित स्थान प्राप्त होता है। जड़ात्मवादी सिद्धांत में आरोपण क्रिया एक भय एवं आश्चर्य भावना से समन्वित क्रिया है जब कि इस सिद्धान्त में वह मानव मन की चेतना का एक प्रसार ही ज्ञात होता है। मन की इसी विस्तृत परिधि को ध्यान में रख कर भारतीय मनीषी ने उसे 'देव' की संज्ञा दी है जो समस्त इंद्रियां तथा वृत्तियों को समाहित किये हुए है। प्रश्नोपनिषद् प्रश्न ४ में कहा गया है—तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्त गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवंति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्वेवं ह वै तत्सर्व परे देवे मनस्येकीभवति[1]।' अर्थात् तब उससे उसने (आचार्य ने) कहा 'हे सौम्य'! जिस प्रकार सूर्य के अस्त होने पर सम्पूर्ण किरणें उस तेजोमंडल में ही एकत्रित हो जाती हैं और उसका उदय होने पर फिर फैल जाती हैं, इसी प्रकार वे सब इंद्रिया परमदेव मन में एकीभाव को प्राप्त हो जाती हैं।' अतः मन की गतिशीलता जड़ और चेतन में समान रूप से गतिशील होती है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त जड़ में भी चेतना के दर्शन करता है। वह अपने अंदर उन समस्त क्रियाओं को अंतर्हित किए हुए है जो प्रतीक-सृजन में योग प्रदान करते हैं।

अग्नि-प्रतीक एवं वृक्ष-प्रतीक

इन दोनों सिद्धान्तों के मनोवैज्ञानिक विकास-क्रम में हम अग्नि-प्रतीक एवं वृक्ष-प्रतीक के उद्गम एवं विस्तार पर विचार कर सकते हैं। प्रकृति की शक्तियों की (यथा जल, पवन, बवंडर) सप्राण रूप में देखने के अन्तराल में और ऋतुओं के परिवर्तन में अनेक वाह्य तांत्रिक आचारों के करने से यह समझा जाता था कि इन रीतियों और आचारों से प्रकृति की भयावह शक्तियों को

१—प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न ४, पृ० ६० (उप० भा० खंड १)।

प्रसन्न किया जा सकता है। मानसिक विकास की दृष्टि से इन अंधविश्वासों का महत्त्व सामान्यतः सभी प्रतीकों के उद्गम में समान रूप से दृष्टिगत होता है।

अग्नि जो एक भौतिक प्रक्रिया का फल है, आदिमानव उसे इस प्राकृतिक रूप में न देख सका। उसका मानसिक जगत् इतना विकसित नहीं था कि वह अग्नि को भौतिक रूप में ले सकने में समर्थ होता। इसी से उसने उसे आदि भौतिक 'रहस्य' के रूप में देखा। इस स्थिति में आदिमानव के मानसिक विकास का भी रूप मिल जाता है जो अत्यन्त संदेहात्मक एवं भयमिश्रित तथ्य पर आधारित है। भय या अन्य विकारों की प्रवृत्ति, जो उपचेतना में प्रसुप्त रहती है, वह किसी न किसी रूप में जाग्रत हो, चेतना के स्तर को स्पर्श करती है। इस प्रकार अभिव्यक्ति का रूप सामने आता है। यह अभिव्यक्ति की क्रिया अनेक प्रतीकों अथवा रूपों (Forms) को जन्म देती है। जब अग्नि का शक्ति रूप उपचेतना के पास से छूट कर चेतना के स्तर पर आया तब उसने अनेक अन्धविश्वासों द्वारा अपनी विचारात्मक प्रवृत्ति का धुंधला सा परिचय दिया। अस्तु, आदिमानव के मस्तिष्क में सबसे प्रथम यह विश्वास घर कर गया कि अग्नि में सृजनात्मक शक्ति है। फ्रेजर ने इस अन्धविश्वास के उदय का एक आश्चर्यजनक कारण बताया है। उसका मत है कि अनेक आदिम जातियों में अग्नि की उत्पत्ति के लिए 'अग्नि-ड्रिल' की प्रथा प्रचलित थी। इस प्रथा ने आदिमानव को यह विश्वास प्रदान किया कि अग्नि की उत्पत्ति एक प्रकार से अग्नि-लकड़ियों की देन है। तदनुसार उनकी अविकसित बुद्धि ने यह तर्क उपस्थित किया कि अग्नि-लकड़ियों का आपस में रगड़ना जिस प्रकार अग्नि जैसी महान् शक्ति की उत्पत्ति कर सकता है, उसी प्रकार अग्नि की कृपा से मनुष्य संतान प्राप्त करने में भी सफल हो सकता है।[१] अतः अग्नि-ड्रिल में जिन दो लकड़ियों का प्रयोग होता है, उनको उन्होंने स्त्री और पुरुष के प्रतीक रूप में स्वीकार किया। उनके परस्पर संघर्षण को यौन प्रक्रिया का सूचक माना। हिन्दुओं में इन दोनों लकड़ियों को क्रमशः उर्वशी और पुरुरवा की संज्ञा दी गई। यहाँ से यौन प्रतीकों का भी संकेत प्राप्त होने लगता है। यहीं से अग्नि का प्रतीकात्मक रूप स्पष्ट होने लगता है। आगे चलकर अग्नि की उत्पत्तिकारिणी शक्ति के अनेक उदाहरण हमें सभी धर्मों के कर्मकाण्डों में

१—द गोल्डन बाउ—ए स्टडी इन मैजिक एंड रिलीजन—द्वारा सर जे० जी० फ्रेजर, भाग १ पुस्तक २।

प्राप्त होते हैं। इस अन्धविश्वास के अन्तराल में आदिमानवीय विचारधारा का एक अस्पष्ट रूप प्राप्त होता है जो आगे चल कर अग्नि के सृजनात्मक एवं विध्वंसात्मक रूपों में अधिक स्पष्ट हो सका।

अनेक आदिजातियों में जैसे अफ्रीकी, ऐशियाई एवं योरोपीय जातियों में 'अग्नि-त्यौहारों' (Fire-Festivals) के मनाने की प्रथा थी। इस प्रथा का एक उद्देश्य यह भी था कि दम्पति स्वस्थ संतान लाभ कर सकें और प्रजनन-क्रिया को अधिक सरलता के साथ सम्पन्न कर सकें। परन्तु इन आदिम जातियों में अग्नि-त्यौहारों के मनाने का एक अन्य लक्ष्य भी था, जैसा कि फ्रेजर ने एक स्थान पर स्पष्ट किया है—'ये अग्नि त्यौहार, जो रविवार को मनाये जाते थे, उनका एक उद्देश्य यह भी था कि वे उन राक्षस-राक्षसियों, भूतात्माओं को नष्ट करने में सफल हों जो उनकी फसलों अथवा शिशुओं की उत्पत्ति में अनेक प्रकार की बाधाएँ डालते हैं।'[1] अतः इस विपत्ति से बचने के लिए अनेक प्राणियों का बलिदान भी अग्नि में किया जाता था। इससे यह समझा जाता था कि उस जीवधारी अथवा मनुष्य के रूप में उस विशिष्ट 'भूत आत्मा' को जलाया जाता है। अनेक देशों (यथा फ्रांस और जर्मनी) में ये त्यौहार ईस्टर के अवसर पर मनाये जाते थे और उनके मनाने से यह समझा जाता था कि अग्नि खेतों को उर्वरा-शक्ति प्रदान करती है और घरों को बीमारियों से सुरक्षित रखती है। इस धारणा में अग्नि की पवित्र शक्ति की भी प्रतिध्वनि मिलती है।

उपर्युक्त विवेचन के द्वारा अग्नि के प्रतीकात्मक रूप का आभास मिलता है। इस प्रतीकात्मक विकास से दो बातें स्पष्ट होती है। प्रथम यह कि इन त्यौहारों के द्वारा सूर्य की प्रकाश-शक्ति को सृजनात्मक एवं विध्वंसात्मक कार्यों के लिए उद्बोधित किया जाता था। दूसरे, इन त्योहारों के द्वारा अग्नि की शुद्धात्मक शक्ति की ओर भी संकेत मिलता है। दूसरे शब्दों में अग्नि के प्रतीक रूप में पवित्रता, निर्मलता, सृजनात्मकता एवं विध्वंसात्मकता की धारणाएँ भी सम्मिलित हुईं।

हिन्दुओं में अग्नि के प्रतीक रूप का पूरा विकास प्राप्त होता है। वेदों एवं उपनिषदों में अग्नि के प्रति कही हुई ऋचाएं इसी तथ्य को एक अत्यंत हृदय-ग्राही रूप में सामने रखती हैं। भारतीय विवाहों में पति-पत्नी का अग्नि की

१—गोल्डन बाउ—बाल्डर द ब्यूटीफुल—द्वारा सर जे० जी० फ्रेजर, भाग ७ पुस्तक २ पृ० ११३।

परिक्रमा करने में यही सत्य दृष्टिगोचर होता है कि दोनों प्राणियों को प्रजनन-क्रिया में सहायता मिले, संतान की उत्पति हो और उनके विकारो का ह्रास हो। अतः वैदिक साहित्य में अग्नि के मिथुनपरक रूप का सुंदर प्रतीकार्थ पाणिग्रहण तथा अन्य संस्कारों के समय प्राप्त होता है। वैदिक कर्मकाण्डों एवं प्रथाओं में अग्नि का अत्यधिक महत्त्व होने के कारण उसमें 'हवि' देने की जो प्रथा है, वह अन्न और अग्नि के परस्पर महत्त्व की सूचिका है। अन्न की उत्पत्ति 'ताप' (अग्नि) की समुचित मात्रा में होती है, अतः 'हवि' के द्वारा वैदिक ऋषियों ने इस वैज्ञानिक तथ्य का प्रतीकात्मक निर्देश किया है। यहाँ पर आकर अग्नि का 'परम दिव्य' रूप दृष्टिगत होने लगता है। मुण्डकोपनिषद् में अग्नि की सात लपलपाती हुई जिह्वाओं का जो वर्णन प्राप्त होता है, वह अग्नि के उस विकराल एवं सृजनात्मक रूप को सामने रखता है जो 'शिव' के तृतीय नेत्र का प्रतीक माना जाता है। इन लपलपाती जिह्वाओं (लपटों) का नामकरण किया गया है—

(१) काली (२) कराली च (३) मनोजवा च
(४) सुलोहिता या च (५) सुधूम्रवर्णा।
(६) स्फुलिंगिनी (७) विश्वरुची च देवी
लोलायमाना इत सप्त जिह्वाः।[१]

अग्नि-प्रतीक के विकास का समानान्तर रूप हमें वृक्ष प्रतीक के उद्गम में भी प्राप्त होता है। इस उद्गम का प्रथम रूप वृक्ष पूजा की भावना है जो रेड इंडियन, आस्ट्रयक (फिनलैंड की एक आदिम जाति) और फीजी जैसी आदिम जातियों में प्राप्त होती है। इन आदिम जातियों में वृक्ष को अनेक प्रकार से भेंट प्रदान की जाती थी और उससे यह समझा जाता था कि वृक्षों आदि वनस्पतियों में भी प्राणधारियों की तरह जीवन-तत्त्व वर्तमान रहता है। अतः उन्होंने वृक्षों में जीवीकरण अथवा चेतन का आरोप करना शुरू कर दिया। आदितम रूप में, यह तथ्य अंधविश्वास के रूप में ही प्रचलित था। वनस्पति जगत् को सप्राण करने की क्रिया और वृक्षों के प्रति एक 'परम भावना' का विकास होने से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण क़दम उठाया गया। वह यह कि वृक्ष-आत्मा की भावना ने शनैः शनैः वृक्ष देवता की भावना को बल दिया।[२] इस प्रकार जैसे-जैसे वृक्ष-आत्मा की भावना प्रत्येक वृक्ष से अलग होती गयी,

१—मुण्डकोपनिषद्, पृ० ३६ श्लोक ४ (उपनिषद् भाष्य खंड १)।
२—गोल्डन बाउ द्वारा फ्रेजर, भाग १, पुस्तक २ पृ० ४५।

वैसे-वैसे उसने अपना आकार एवं रूप बदलना आरम्भ किया और अन्त में वह एक मानवीय रूप में 'वन देवता' का प्रतीक बन गया। आदि मानव की आश्चर्य भावना ने इस दशा में आकर, वृक्ष के प्रति एक रहस्यमय दृष्टिकोण का परिचय दिया। उन्होंने वृक्ष के उत्पन्न होने में और मानवीय प्रजनन क्रिया में एक धूमिल समानता का अनुभव किया। इसी अंधविश्वास ने वृक्ष को उर्वरता का प्रतीक बनाया और क्रमशः अनेक आदिम जातियों में यह भावना भी दृढ़ होती गई कि स्वस्थ संतान की प्राप्ति में वृक्षों का एक विशिष्ट योग है। इसी से अनेक वृक्षों एवं पौधों को मिथुनपरक अर्थ भी प्रदान किया गया और उनमें एक पवित्रता की भावना का समुचित समन्वय हुआ। हमारे यहाँ श्रीफल, प्रियंगु, तुलसी, अशोक आदि ऐसे ही वृक्ष हैं जिन्हे उर्वरता एवं प्रजनन का प्रतीक माना गया है। योरुपीय देशों में 'मैट्री' को उर्वरता का प्रतीक माना गया है जो स्त्रियों एवं पशुओं में उर्वरता का योगदान करता है।[1] इस तथ्य का संस्कृत साहित्य में वाचक शब्द 'दोहद' है जो मूलतः मिथुनपरक है।[2] इसी मिथुन की अभिव्यक्ति अनेक पौदों एवं वृक्षों के प्रतीकार्थ में व्यंजित होती है जिनके कुछ नाम प्रथम ही दिये गये हैं।

इसी 'दोहद' की भावना के कारण अनेक आदिम जातियों मे वृक्षों के यौन सम्बंध पर 'पवित्र-पाणिग्रहण' का भी आयोजन प्राप्त होता है। योरुपीय देशों (जैसे फिनलैंड, रूस, फ्रास आदिमें) ड्याना (Diana) नामक एक वृक्ष देवी का वर्णन प्राप्त होता है जो वृक्षों के प्रतीक के साथ उर्वरा शक्ति का भी प्रतीक मानी जाती है। अपनी उर्वरा-शक्ति को बनाये रखने के हेतु उसे एक नर-साथी की भी आवश्यकता पडी जिसे उन जातियों ने वियब्रियस (Viebıus) की संज्ञा दी।[3] इस कृत्रिम विवाह-विधि में अपरोक्ष रूप से, अचेतनावस्था में उस विश्वास की प्रतिध्वनि प्राप्त होती है जो मानवीय मिथुनरूप का ही अभिव्यक्तीकरण है। इसी प्रकार हमारे यहाँ तुलसी, जो एक देवी का रूप मानी जाती है, उसका वार्षिक विवाह कृष्ण 'देव' से सम्पन्न किया जाता है।[4] इन सभी उदाहरणों से यह तथ्य स्वयं प्रकाशित होता है कि

१—गोल्डन बाउ द्वारा फ्रेजर, भाग १, पुस्तक २ पृ० ४५।

२—हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० २२६। इस प्रसंग पर पूरा विचार रीतिकाल के अंतर्गत होगा, दे० कवि-परिपाटी।

३—गोल्डन बाउ, भाग १, पृ० १४२।

४—इपिक्स, मिथ्स, लीजैंड्स आफ इंडिया द्वारा पी० थामस, पृ० ६०।

आदिम जातियों में मिथुन तथ्य के सत्य का प्रतीकात्मक निर्देशन अंधविश्वास के रूप में होते हुए भी प्रकृति का एक अनादि सत्य ही था। आगे चलकर इसी मिथुन सत्य पर अनेक तात्विक प्रतीकों की अवतारणा हुई—जैसे पुरुष और प्रकृति, ब्रह्मा एवं सरस्वती, वाक् एवं वाणी इत्यादि।

निष्कर्ष

प्रतीक के उद्गम-सिद्धान्तों के अनुशीलन से और अग्नि तथा वृक्ष-प्रतीकों के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्रतीक का उद्गम एक अत्यन्त मनोवैज्ञानिक आदिम प्रक्रिया है। उद्गम-सिद्धान्तों में जड़ात्मवादी सिद्धान्त सत्य के एक पक्ष को ही रखता है जबकि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त मानवीय चेतना के पूर्ण रूप का परिचय देता है। भाषा के चिह्नों तथा अन्य मानवीय ज्ञान के प्रतीकों का पूरा सन्दर्भ मनोवैज्ञानिक सिद्धात से प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु प्रतीक-सृजन की क्रिया में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त अपने अन्दर जड़ात्मवादी सिद्धान्त को भी समेट लेता है। आदिमानवीय अंधविश्वास, उनकी भय-मिश्रित आश्चर्यभावना एवं प्रकृति के प्रति एक जिज्ञासा—इन सब तत्त्वों ने मिल कर उनके मानसिक जगत के अविकसित रूप में एक 'प्रश्न' उपस्थित किया, जो उनके प्रतीक निर्माण को गति दे सका।

इस मानसिक प्रगति का सुन्दर उदाहरण आदिमानव की अनेक आदिम रीतिया हैं जिन्होंने उनके प्रतीकों एवं विचारों को एक स्वरूप प्रदान किया है। वृक्ष तथा अग्नि के प्रति उनकी अनेक 'भावनाएँ' जो अंधविश्वास के समान दृष्टिगत होती हैं, उन्होंने उनकी 'चेतना' को ही नही पर अनुष्ठानिक एवं पौराणिक प्रतीकों को अर्थ प्रदान करने मे सहायता दी है। अग्नि की सृजनात्मक, शुद्धात्मक एवं पवित्रदायिनी शक्ति तथा यौनपरक शक्ति और वृक्ष की सृजन एवं प्रजनन शक्तियो ने क्रमशः वृक्ष तथा अग्नि के प्रतीकार्थ की भूमि प्रस्तुत की है। आगे चल कर पुराण, धर्म, साहित्य, कला एवं संस्कृति के प्रतीक-सृजन में इनका एक महत्त्वपूर्ण स्थान हो सका। यही बात सामान्यतः अन्य धार्मिक तथा पौराणिक प्रतीकों के बारे में सत्य है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर आदिमानव की कल्पना ने यथार्थ जगत के एक 'सत्य' को ही सामने रखा है जो प्रकृति का सत्य है। वह सत्य है मिथुन तत्व का। यथार्थ के अंचल से ही, कल्पना एवं अंधविश्वास का सहारा लेकर, इन आदिम जातियों ने मानव-मन के प्रथम अभियान का परिचय दिया

और मानवीय शक्तियों को प्रतीक-सृजन की ओर उन्मुख किया। प्रतीक का उद्गम ही नहीं पर उसका भावी विकास सामान्यतः इन्हीं आदिम जातियों की देन है, पर इसका यह भी अर्थ नहीं है कि अनेक ज्ञान-क्षेत्रों के नव प्रतीकों का उद्गम भी इसी आदिम स्रोत से जोड़ा जा सकता है।

(ख) प्रतीक का विकास

१—अनुष्ठानिक और पौराणिक

प्रतीकों के विस्तार एवं विकास का इतिहास अनुष्ठान से पुराण तक की विकास-यात्रा का फल है। मानव मन विचारों का केन्द्र है। आदिमानवीय विचार इतने विकसित नहीं थे कि वे तर्कयुक्त 'सत्य' परिणामों की अवतारणा कर सकते। परन्तु उनकी इस मानसिक दशा ने अनेक आश्चर्यमय तांत्रिक रीतियों एवं अद्भुत विचारों का प्रणयन किया जो मानव-विकास की आदिम स्थिति के द्योतक हैं। इन्हीं रीतियों और विचारों ने आगे चलकर मानव-मन की वह आधार शिला प्रस्तुत की जो पौराणिक प्रवृत्ति की परिचायिका है।

अनुष्ठान की पृष्ठभूमि

जिस प्रकार प्रतीक के उद्गम में आदिमानवीय अंधविश्वास और संदेहात्मक-भयमिश्रित प्रवृत्ति का हाथ है, उसी प्रकार तांत्रिक आचारों में अनुभव के प्रतीकात्मक रूपान्तरिक तथ्य का बहुत बड़ा हाथ है। अनुभव प्राप्त करना एक मानसिक क्रिया है। यह रूपान्तर की प्रवृत्ति वह अवस्था है जब आदि-मानवीय मस्तिष्क एक 'मानवीय' विचारशील मस्तिष्क की दशा में पहुँचता है। यह तथ्य स्पष्ट करता है कि तांत्रिक आचारों का चाहे जो भी ध्येय रहा हो, पर इतना तो सर्वमान्य है कि इन आचारों का सबसे बड़ा ध्येय अनेक विचारों का प्रतीकात्मक निर्देशन ही था। इस दृष्टि से, ये समस्त अनुष्ठानिक रीतियाँ मूलतः प्रतीकात्मक ही हैं। अरबन के अनुसार ये अनुष्ठान किसी विशिष्ट अर्थ की व्यंजना करते हैं जो शब्दों के द्वारा पूर्णरूपेण अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त कर सकते हैं।[1] यह प्रतिक्रियाएँ सूसेन के० लैंगर के शब्दों में एक प्रकार की 'प्रत्यावर्तित क्रिया' (ओवर्ट एक्शन) हैं जहाँ पर

१—लैंग्वेज एण्ड रियलटी द्वारा डब्लू० एम० अरबन पृ० ४०१।

आदिमानवीय कल्पना का शमन हो जाता है।[1] यह विकास-परम्परा वाणी और भाषा की विकास परम्परा से भी काफी मेल खाती है। तांत्रिक आचार अनुष्ठान के एक आवश्यक अंग हैं। अन्त में इनका उन्नायक रूप हमें पौराणिक कथाओं और प्रवृत्तियों में प्राप्त होता है।

विम्ब और प्रतीक (Image and symbol)

मन की आदितम क्रिया वाह्य प्रभावों को मानसिक विम्ब के रूप में परिणत करना है। यह विम्ब-ग्रहण ही प्रतीकों की प्रथम आवश्यक दशा है। इस दृष्टि से विम्ब ग्रहण केवल बोधगम्य (Perceptive) ही होते हैं और इनकी प्रवृत्ति किसी विचार या धारणा की उद्भावना करना नही होता है। इनका कार्य चिह्न के समान ही होता है। दूसरी ओर, प्रतीकात्मक क्रिया एक अधिक जटिल मानसिक क्रिया है जिसमें बोध, विम्ब और साथ ही मानसिक साहचर्य का भी हाथ रहता है।[2] अतः विम्ब-ग्रहण और प्रतीक-सृजन मन की अलग-अलग क्रियाएँ नही हैं। दोनों का अन्योन्य सम्बन्ध है—केवल इस अन्तर के साथ कि विम्ब, मन के धरातल की क्रिया है और प्रतीक, मन की अधिक सूक्ष्म और व्यापक प्रक्रिया। भारतीय तत्त्व-चिंतन में इसी से मन का कार्य मनन करना है। विम्ब-ग्रहण तो उसी समय होता है जब मन वाह्य विषयों की ओर आकृष्ट होता है। यह उसकी निजी प्रवृत्ति है जैसा कि केनोपनिषद् के निम्न वाक्य से स्पष्ट होता है—

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः।[3]

'यह मन किसके द्वारा इच्छित एवं प्रेरित होकर अपने विषयों में गिरता है।' आगे चलकर भाष्यकार शंकर ने स्पष्ट ही कहा है कि मन स्वतंत्र है और वह स्वयं ही अपने विषयों की ओर जाता है जो उसकी प्रवृत्ति ही है।'

अतः अनुष्ठानिक चेतना में मन का केवल विम्बग्रहण ही प्रमुख है जब कि पौराणिक चेतना में मन का मनन करने वाला रूप अधिक स्पष्ट है। विम्बग्रहण एवं विचारात्मक प्रक्रिया (मनन) इतनी अन्योन्य सम्बन्धित हैं कि उन्हें अलग करके देखा नही जा सकता है। परन्तु इतना कहना समीचीन होगा कि पौराणिक प्रवृत्ति में किसी वस्तु अथवा विचार के प्रकाशन में जो भी कथा

१—फिलासफी इन ए न्यू की द्वारा एस० के० लेंगर पृ० ३१।

२—इक्सपीरियस एन्ड थिंकिंग द्वारा एन० एच० प्राइस, पृ० २८६।

३—केनोपनिषद् पृ० १९ तथा २३ (उप० भा० खंड १)।

का आश्रय लिया जाता है उसमें उस वस्तु का विम्बग्रहण तो अवश्य होता है, परन्तु मानसिक प्रक्रिया यहीं पर नहीं रुकती है, वह उस विम्बग्रहण में किसी भाव अथवा विचार का स्पष्टीकरण करती है। धरातल से सूक्ष्म की ओर मन की यह क्रमिक रूपरेखा प्रतीकात्मक अर्थ की अवतारणा करती है जो कि पौराणिक कथाओं का मूल ध्येय है। कठोपनिषद् में इसी से इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषयों को श्रेष्ठ कहा गया है, विषयों से मन को उत्कृष्ट कहा गया है, मन से बुद्धि को 'पर' कहा गया है और अन्त में बुद्धि से भी महान् आत्मा को कहा गया है।[1] पुराण-प्रवृत्ति में मन की प्रक्रिया क्रमशः बुद्धि की ओर प्रयत्नशील है जिसका पूर्ण अनुभूतिमय पर्यवसान आत्मा में उसी समय होता है जब मन का विकास धार्मिक चेतना के सूक्ष्म स्तर को स्पर्श करता है। इसे हम 'आध्यात्मिक मनोविज्ञान' (Spiritual-Psychology) की संज्ञा दे सकते हैं। इसका पूरा आख्यान द्वितीय अध्याय में होगा।

अनुष्ठान और पवित्र संस्कारगत रीतियां

अग्नि एवं वृक्ष-प्रतीकों के विकास-क्रम में यह संकेत हो चुका है कि उन रीतियों में मानव-मन के अंदर कुछ ऐसे संस्कार घर कर गये थे जो उन रीतियों के प्रति एक विशिष्ट श्रद्धा की भावना को जन्म दे रहे थे। यह श्रद्धा अथवा संस्कार-जनित पवित्र भावना का क्रमिक विकास भावी अनुष्ठानिक रूपों में हो सका। तान्त्रिक रीतियों में जो अंधविश्वासीय भावना के दर्शन होते हैं वे अनुष्ठान में आकर एक पवित्र भावना के रूप में परिवर्तित हो गए। इस प्रकार, अनुष्ठानिक कर्मकाण्डों का उदय हुआ जिनके पीछे केवल अंधविश्वास ही नही, पर मानव-चेतना का एक तार्किक रूप भी दृष्टिगोचर होता है। सभी धार्मिक अनुष्ठानों में यह प्रवृत्ति समान रूप से प्राप्त होती है कि उनके द्वारा वे 'दिव्य-शक्तियों' का आवाहन करते हैं। अतः अनुष्ठान का क्षेत्र अपने अंदर उन समस्त संवेदनाओं एवं संस्कारों को समेटने में समर्थ है जो केवल मात्र भौतिक अथवा वाह्य क्रियाएँ ही नहीं हैं, परन्तु उनका संबंध मानव की एक आतरिक लालसा से भी है। अनुष्ठान में हमें 'कार्य-कारण' की शृंखला के दर्शन होते है। यही कारण है कि धार्मिक अनुष्ठान मानव-मन की वह

१—इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धिरात्मा महान्परः॥ १०॥
—कठोपनिषद् पृ० ६१ (उप० भा० खंड १)।

विकसित दशा है जिसके पीछे कोई न कोई तात्त्विक या लाक्षणिक अर्थ छिपा रहता है। इन्हें नित्यप्रति करने से मन एक विन्दु की ओर केंद्रित रहता है। इस प्रकार मानसिक चेतना पौराणिक क्षेत्र की ओर क्रमशः अग्रसर होती है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि अनुष्ठान एवं धर्म-काण्ड, चाहे वैदिक हों अथवा ईसाइयों के, उनका महत्त्व प्रतीकात्मक ही है। जब अनुष्ठान केवल-मात्र अर्थहीन कर्म रह जाते है तो वे तात्रिक अंधविश्वास के समान हो जाते है।

वैदिक काल के कवियो ने जिन अनुष्ठानों का आयोजन किया था, वे मूलतः किसी भावना अथवा सत्य से ही संबंधित थे। वैदिक ऋषियों ने उन अनुष्ठानों के द्वारा जन जीवन मे इस सत्य का प्रतिपादन किया कि इनके द्वारा मानव-मन अधिक उच्च अभियानो को स्पर्श कर सकेगा और क्रमशः उन देवताओं को प्रसन्न कर सकेगा जिनके संतुलन एवं सामरस्य से सृष्टि-कार्य सम्पन्न होता है। वैदिक अनुष्ठानों की जड़ें भारतीय संस्कृति में इतनी गहरी पैठ गयी हैं कि उन्हें केवल वितंडा कह कर नहीं छोड़ा जा सकता है। परन्तु उनके सही प्रतीकार्थ को ही हृदयंगम करके उन्हे हम जीवन में समुचित स्थान दे सकते है। इसी प्रकार अनेक भारतीय त्यौहारों के अनुष्ठान भी किसी न किसी अर्थ को ही स्पष्ट करते हैं।

अंगमुद्रा की स्थिति (Gestures)

इस प्रकार अनुष्ठान का प्रतीकार्थ पौराणिक जगत के समीप, मानवीय मन को लाता है। इस मानसिक अभियान में अनुष्ठान तथा पुराण-वृत्तियों के मध्य एक कड़ी है जो दोनो क्षेत्रों को जोड़ने में समर्थ है और वह बीच की कड़ी शब्द, विम्ब और अंगमुद्राएँ हैं। शब्द और ध्वनि का क्षेत्र भाषा से संबंधित है अतः उसका विवेचन भाषा के प्रतीक-दर्शन के अन्तर्गत किया जायगा। जहाँ तक विम्ब-ग्रहण और अंगमुद्राओं का संबंध है, इन दोनों मानसिक क्रियाओ का संबंध मानव की पौराणिक प्रवृत्ति से अति निकट का है। श्री एच० एच० प्राइस के मतानुसार ये मुद्राएं और विम्ब-ग्रहण मानव के ऐसे आदितम माध्यम हैं जिनके द्वारा मानव की विचारात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते है।[1] अतः आतरिक संवेदना और हृदगत भावना का वाह्य अभिव्यक्तीकरण प्रतीक के रूप मे ही होता है। इसी से, अनेक विचारकों यथा लेंगर,

१—थिंकिंग एंड इक्सपीरियंस द्वारा एच० एच० प्राइस, पृ० १४६।

प्राइस, टेलर, फ्रेजर और अरबन का मत है कि मानवीय मुद्राएँ ही मानव की अंतर्संवेदना एवं भावना के प्रतीक हैं। अनुष्ठान मानव की आदि कल्पनाओं और विचारों को हमारे सामने रखता है। परन्तु अनुष्ठान की यह क्रिया एक अत्यन्त मंथर गति की क्रिया है और यह कहना कि यह अनुष्ठानिक क्रिया कब और कैसे पौराणिक रूप में परिवर्तित हो गई, अत्यन्त कठिन है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि अनुष्ठान का महत्त्व इस तथ्य में समाहित है कि इसके द्वारा मानव ने ईश्वर या किसी अन्य 'परम शक्ति' की कल्पना चेतन व्यक्ति के रूप में ही नहीं की, पर यह मानसिक क्रिया की वह दूसरी मंजिल थी जिसने 'शक्ति' को एक व्यक्तित्व प्रदान किया जो अनुष्ठान में व्यक्ति-रूप से भाग लेता था। शक्ति का अनुष्ठानिक क्रियाओं में भाग लेना मानव के अंदर व्यक्तिगत 'इच्छाशक्ति' को जन्म देता है। इस स्थिति में आकर अनुष्ठान के अविच्छिन्न अंग-प्रार्थना और विचारात्मक कल्पना की रूपरेखा भी स्पष्ट होने लगती है। अंत में यही भावना क्रमशः जाति का 'आदर्श' बन जाती है। सत्य रूप में यह 'पुराण' का ही क्षेत्र है जब मानव के अंदर 'दिव्यता' की भावना का उदय होता है। इसका उदाहरण हम प्राचीन जातियों के 'भूतात्माओं' के जगत में पाते है, जब वे अनेक अनुष्ठानों के द्वारा एक आत्मिक जगत् की धूमिल कल्पना मृत व्यक्तियों के जगत में करते हैं।[1] इसी प्रकार अनेक पशुओ एवं वृक्षों की पूजा-भावना में इसी पवित्र भावना का, आत्मिक जगत का एक स्पष्ट रूप प्राप्त होता है। अतः इस 'दिव्य भावना' का उदय अनुष्ठान की छाया में हुआ है और 'धर्मशास्त्र' का उदय (Theosophy) पौराणिक प्रवृत्ति के द्वारा हुआ है।

पुराण और प्रतीक

पौराणिक प्रवृत्ति का उदय अद्भुत कल्पनाओं के द्वारा ही हुआ है। ये कल्पनाएं अचेतन मन में सुषुप्तावस्था में रहती हैं जो एक निश्चित मानसिक विकास की स्थिति में स्वप्न-विम्बों एवं प्रतीकों के रूप में प्रकट होती है।[2] परन्तु यह कहना कि पुराण का विकास नितान्त स्वप्निल क्रिया पर ही अवलम्बित है, सत्य पर पर्दा डालता है। स्वप्न जहाँ अचेतन मन की अव्यवस्थित अभिव्यक्ति

१—द ओरिजिन आफ रिलीजन द्वारा रेफील कास्टन पृ० २०३।

२—यह विचार प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युंग का है। लेंगर ने अपनी पुस्तक (फिलासफी इन ए न्यू की, अध्याय ७) में इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। युंग की पुस्तक का निर्देश पीछे किया जा चुका है।

हैं वहाँ पुराण प्रवृत्ति मानव मन की व्यवस्थित एवं अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति है। पुराण एक प्रकार का इतिहास ही है जिसमें मानव के आध्यात्मिक एवं तात्विक रहस्यों का प्रतीकात्मक निरूपण होता है। यही कारण है कि पुराण-प्रवृत्ति में मन की विचारात्मक शक्ति का विकास लक्षित होता है। अतः पुराण में, जैसा कि पाश्चात्य विचारकों की धारणा है कि अद्भुत कल्पनाएँ और परियों की कथाओं-सी उन्मुक्त अतार्किक उडान ही अधिक है, उसका निराकरण उपयुक्त विस्तृत मापदण्ड से हो जाता है। फिर, दूसरी बात जो भारतीय और पाश्चात्य पुराण-प्रवृत्तियों मे प्राप्त होती है वह है पुराण के क्षेत्र एवं अर्थ की मूल विभिन्नता। पाश्चात्य जगत् में पुराण का सीमित अर्थ ही ग्रहण किया जाता है, और हमारे यहाँ पुराण को एक अत्यंत व्यापक रूप दिया गया है। वेदों, उपनिषदों अथवा ब्राह्मणों के तात्विक संदर्भों को ही पौराणिक आख्यानों के द्वारा, एक प्रतीकात्मक शैली का ही रूप प्रदान किया गया है। इस सत्य का विश्लेषण हिन्दी काव्य के राम अथवा कृष्णकाव्यों के अन्तर्गत सविस्तार किया जायगा।

उपाख्यानों का प्रतीकार्थ

यह ठीक है कि पुराणों मे हमें अनेक प्रकार के अंधविश्वास एवं अद्भुत कल्पनाएँ प्राप्त हो जाती हैं। पौराणिक कल्पनाओं का केवल मात्र अंध-विश्वासीय आधार नही होता है, पर उन कल्पनाओं के पीछे कोई ऐसी प्रेरणा कार्य करती है जिसकी जड़ें सभ्यता और संस्कृति की परम्परा में अत्यन्त गहरी पैठ जाती हैं। सत्य रूप में, पुराण गाथाएँ किसी संस्कृति एवं धर्म के मूलभूत दार्शनिक विचारों को जन-साधारण में जन-गाथात्मक शैली के द्वारा हृदयंगम कराती है। यही पुराणों का मूल ध्येय है जो उनके विस्तृत प्रतीकार्थ की ओर संकेत करता है। भारतीय तथा विदेशी पुराणों में सृष्टि-कथाएँ, वीर-कथाएँ देवासुर एवं मनु की गाथाएँ आदि केवल मात्र कपोल कल्पना की ही उन्मुक्त उपज नहीं हैं पर उन सब कथाओं के पीछे वेदों, उपनिषदों, टेस्टामेंट, बाइबिल, ब्राह्मणों, अवेस्ता आदि की मूलभूत दार्शनिक एवं धार्मिक मान्यताओं की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। देवासुर-संग्राम का जो संसार पर्यन्त पुराणों में एकछत्र राज्य है, उसका प्रतीकात्मक अर्थ मानसिक क्षेत्र में चिरन्तन होने वाले राजसिक एवं सात्विक प्रवृत्तियों का संघर्ष है। यही मानसिक संघर्ष वाह्य संघर्ष का प्रतीक रूप है। ये समस्त कथाएँ कल्पना पर ही आश्रित हैं।

उनका प्रतीकार्थ ही अपेक्षित है, वे ऐतिहासिक तथ्य नहीं हैं जैसा कि शंकर ने अपने वेदान्त-भाष्य में भी स्पष्ट संकेत किया है—

यदि हि संवादः परमार्थ एवाभूदेकरूप एव संवादः सर्वशाखास्वश्रोष्यत निरुद्धानेकप्रकारेण नाश्रोष्यत । श्रूयते तु तस्मान्न तादर्थ्यसंवाद-श्रुतीनाम् ।'[1]

अर्थात् यदि यह संवाद (देवासुर संग्राम सृष्टि प्रसंग में) हुआ होता तो सम्पूर्ण शाखाओं में (अर्थात् सभी उपनिषदों में) एक ही संवाद सुना जाता, परस्पर विरुद्ध भिन्न-भिन्न प्रकार से नहीं । परन्तु ऐसा सुना ही जाता है इसलिए संवाद श्रुतियों का तात्पर्य यथाश्रुत अर्थ में नहीं है ।' यही बात अन्य पौराणिक कथाओं के बारे में भी सत्य है । इसी प्रकार सृष्टि-गाथाओं में जहाँ एक ओर विश्व के विकास का क्रमिक रूप प्राप्त होता है, वहीं पर परमतत्त्व ब्रह्म के एकत्व का विविध रूपों में आभास प्राप्त होता है । पुराणों में जो सृष्टि-उपाख्यान प्राप्त होते हैं उनका मूलस्रोत उपनिषद् ही है । उपनिषदों की गाथाओं के आधार पर पुराणों की सृष्टि विषयक वृहद् कथाओं का विस्तार हुआ है । इन सृष्टि-उपाख्यानों का रहस्य माण्डूक्योपनिषद् में इस प्रकार समझाया गया है—

मृल्लोहविस्फुलिंगाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा ।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन ॥[2]

अर्थात् (उपनिषदों में) मृत्तिका, लौहखण्ड और विस्फुलिगादि दृष्टांतों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से सृष्टि का निरूपण किया गया है वह (ब्रह्मैक्य में) बुद्धि का प्रवेश कराने का उपाय है, वस्तुतः उनमें कुछ भी भेद नहीं है ।' इस दृष्टि से भारतीय पुराणों की विभिन्न सृष्टि-कथाओं का ध्येय उपनिषदों के अनुसार जीव एवं परमात्मा का एकत्व निश्चय कराने वाली बुद्धि का निर्माण है जिससे कि मानव सृष्टि के रहस्य का परिशीलन कर सके ।

दूसरा तथ्य, जो इन सृष्टि गाथाओं से ध्वनित होता है, वह है मिथुनपरक सत्य का प्रतिपादन । प्रजापति, जो उपनिषदों में (माडूक्य छादोग्य अथवा वृहद् उप० में) अद्वय तत्त्व है, वही अपनी ईक्षणा (इच्छा) से विभक्त होकर सृष्टि कार्य में संलग्न होता है । यही प्रजापति पुराणों में ब्रह्मा और नारायण के प्रतीक हैं । यह प्राणिशास्त्र का अनादि नियम है कि सृष्टि, चाहे वह कैसी भी

१—उपनिषद् भाष्य, गीताप्रेस खंड २, पृ० १४५-१४६ (माडूक्योपनिषद्) ।
२—मांडूक्योपनिषद्, पृ० १४४ (उप० मा० खंड २) ।

हो, अकेले नहीं हो सकती है, उसके हेतु दो की या अधिक की भावना अत्यन्त आवश्यक है। अवतार तथा लीला भावनाओं में इस तत्त्व का एक विशेष हाथ है। इसी मिथुन रूप के तात्विक प्रतीक प्रकृति-पुरुष, मन-वाक्, श्री-नारायण, शिव-शक्ति, ब्रह्मा-सरस्वती आदि हैं। छादोग्योपनिषद् में जो अंडे से सृष्टि का क्रम वर्णन किया गया है,[1] उसमें भी अपरोक्ष रूप से मिथुन तत्त्व का समावेश प्राप्त होता है पर प्रधानता एक तत्त्व की अधिक है जिससे सम्पूर्ण चराचर विश्व उद्भूत हुआ है। अतः सर्ग अनेकता में एकता की भावना को भी चरितार्थ करता है। इसी कारण पुराणों की कल्पना प्रसूत सर्ग कथाओं में आदितत्त्व ब्रह्म या नारायण का व्यक्तीकरण ही अनेक प्रतीकों के द्वारा हुआ है। आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से ये कथाएँ केवल स्थावर-जंगम, चराचर विश्व तथा पंचमहाभूतों के विकास पर ही प्रकाश नहीं डालती है, वरन् वे मनुष्य के आध्यात्मिक आरोहण की ओर भी संकेत करती हैं। भारतीय पुराणों में सृष्टि-कथाओं का एक अत्यन्त व्यापक प्रतीकात्मक अर्थ है जिसमें सृष्टि के निम्नतम पदार्थों से लेकर उच्चतम विकासशील मानव नामधारी प्राणी के भावी विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है।

देवासुर और सृष्टि उपाख्यानों के अतिरिक्त तीसरा प्रमुख वर्ग जिन प्रतीकात्मक कथाओं का है, वह है अवतार सम्बंधी आदर्श पुरुषों की लीलाओं का। इस वर्ग की कथाओं में उपर्युक्त दोनों वर्गों की कथाओं के कुछ तात्विक निर्देशों का भी समाहार प्राप्त होता है। इनका प्रतीकार्थ मानव जीवन सापेक्ष है जो विकास की दृष्टि से भी एक शृंखलाबद्ध क्रम ही कहा जायगा। हमारे दस अवतार मानवेतर प्राणियों से लेकर मानव नामधारी प्राणी तक के विकास-क्रम को एक सूत्र में अनुस्यूत करते है जिनका विवेचन यथास्थान होगा।[2] इन कथाओं में विष्णु के अवतारों का मानवीय धरातल पर आदर्शीकरण उनकी विभूतियों के द्वारा सम्पन्न हुआ है। ये व्यक्त आदर्श पुरुष ही किसी संस्कृति के आदर्श प्रतीक बन जाते है। कालान्तर में ये ही चरित्र 'नायक' की संज्ञा से विभूषित होते हैं। इस नायक के प्रतीकार्थ पर हम पौराणिक काव्य के अन्तर्गत विस्तार से विवेचन करेंगे।

इन प्रमुख वर्गों के अतिरिक्त अन्य प्रकार की प्रतीकात्मक कथाएँ भी प्राप्त होती हैं। इनका भी सम्बंध वेदों, उपनिषदों एवं ब्राह्मणों से ही है इसके

१—छांदोग्योपनिषद् पृ० २४३-४६ (उप० भा० खंड ३)।

२—अवतारों के विकासवादी विवेचन के लिए दे० राम भक्ति काव्य।

अंतर्गत गंगावतरण, शिव की कथाएँ (काम), सूर्य कथाएँ और अनेक भक्तों की कथाएँ आदि आती हैं। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि इन सभी कथाओं के अधिकांश नाम वैदिक साहित्य से ही ग्रहण किए गए हैं जिनके अन्योन्य व्यापारों के द्वारा कथावस्तु का निर्माण हुआ है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उपर्युक्त सभी वर्गों की कथाओं को वैदिक नामों से जोड़ा जा सकता है अथवा सभी आख्यानों का प्रतीकार्थ होना आवश्यक है। यह कोई नियम नहीं है, पर हाँ, अधिकांश प्रमुख कथाओं का महत्व उनके प्रतीकात्मक अर्थ में ही समाहित है।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक चेतना के विकास मे पौराणिक प्रवृत्ति विशिष्ट से सामान्य की ओर प्रयत्नशील होती है। यही कारण है कि धर्म और पुराण का अन्योन्य सम्बन्ध कार्य-कारण का है जिसमें प्रतीक-दर्शन दो (कार्य-कारण) को एक सरल रेखा में लाता है। अस्तु, पुराणों का केन्द्र मानव इच्छा एवं संवेदना का रंग-स्थल है। यहाँ पर मानव मन का 'गतिशील चितन' मुखर होता है।

पौराणिक साहित्य और प्रतीक

कला और साहित्य में पुराणों के तात्विक सन्दर्भों का अभिव्यक्तीकरण भी प्राप्त होता है। साहित्य चाहे वह किसी भी क्षेत्र का क्यो न हो उसकी अभिव्यक्ति के लिए 'भाषा' का माध्यम सर्वोपरि है। भाषागत प्रतीकों (शब्दों) के द्वारा ही कवि अपने विचारों अथवा भावों को एक सुगठित रूप में रखता है। अतः सबसे प्रथम पौराणिक भाषा के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है।

भाषा और पुराण

भाषा का विकास प्रतीक योजना और उनके अर्थगर्भित संगठन में निहित है। अरबन के मतानुसार पौराणिक साहित्य केवल भाषा से ही उद्भूत होता है।[2] परन्तु यह सत्य का एकांगी दृष्टिकोण है। तथ्य तो यह है कि आदिकाल से पुराण और भाषा का अन्योन्य सम्बन्ध अत्यन्त निकट का रहा है। दूसरी ओर, विश्लेषण करने पर यह प्रंकट होता है कि भाषा और पुराण

१—इन गाथाओं का प्रतीकार्थ विवेचन एक अन्य पुस्तक का विषय है, अतः विषयान्तर के भय से इसे अधिक विस्तार देना अनुचित समझा गया।

२—लैंग्वेज एंड रियाल्टी द्वारा डब्लू० एम० अरबन, पृ० ८०।

एक ही सत्य के दो पहलू हैं जिनकी सहायता से जीवन और जगत् के 'सत्य' को एक निश्चित प्रतीकात्मक शैली का वरदान प्राप्त होता है। यह रूपक-तत्त्व समस्त पुराणों में प्राप्त होता है जो भाषा की अर्थ-व्यंजना के लिए एक आवश्यक तत्त्व है। अतः हम कह सकते हैं कि पुराण की भाषा आदि से अंत तक रूपकात्मक अथवा प्रतीकात्मक है।[1] असल में यह रूपक तत्त्व पौराणिक साहित्य को अर्थ देता है। पौराणिक विचार और वाणी अव्यक्त वस्तुओं का नामकरण करते हैं और प्रतीकात्मक विचार और भाषा उन्हे अर्थ प्रदान करते हैं।

पौराणिक भाषा को हम दो वर्गों में बाँट सकते है। प्रथम वर्ग नाटकीय भाषा का है जिसके अन्तर्गत सृष्टि या ब्रह्मांड पुराण (Cosmic Myth) और दैवी शक्तियों की व्यक्त लीलाओं की अनेक कथाएँ आती हैं। इन समस्त कथाओं के व्यक्त प्रतीकों का ध्येय किसी अन्य अर्थ की व्यंजना करना होता है। इस क्षेत्र में आकर पुराण केवल कथामात्र नही रह जाता है, पर भाषा के माध्यम से पौराणिक काव्य का रूप धारण कर लेता है।

दूसरा वर्ग गीतात्मक भाषा का है जिसके अंतर्गत श्लोक (ऋचाएँ), प्रार्थना एवं अनेक उद्बोधन के गीत आते हैं। ये गीत या श्लोक मानसिक भावना एवं संवेदना के मिश्रित स्वरूप हैं। इसी से वैदिक साहित्य में इन श्लोकों को रस रूप भी कहा गया है क्योंकि उनके द्वारा सत्य की रसात्मक अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि छांदोग्योपनिषद् में वेदों को रस रूप कहा गया है, उसे अमृत की संज्ञा दी गई है—

> ते वा एते रसानाँ रसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि वा
> एतान्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि।[2]

अर्थात् वे ये (पूर्वोक्त लोहितादि रूप सूर्य के) रसों के रस हैं, वेद ही रस हैं और ये उनके भी अमृत हैं। यहाँ पर उस तथ्य की प्रतिध्वनि भी प्राप्त होती है जिसके प्रकाश में गोपियों को ऋचाओं की संज्ञा से विभूषित किया गया है जो कृष्ण काव्य में रसात्मक सिद्धि की प्रतीक मानी गई हैं।[3]

१—द सिम्बालिस्ट एसर्थटिक्स इन फ्रांस द्वारा ए० जी० लेहमैन, पृ० ११३।

२—छांदाग्योपनिषद् पृ० २५५ तृतीय अध्याय, पंचम खंड (उप० भा० : खंड ३)।

३—इसका पूर्ण विवेचन सप्तम अध्याय में किया जायगा।

पुराण और भाषा का सम्बन्ध उस समय और भी निकट का हो जाता है जब मानव मन उनके द्वारा ऐसे 'शब्दों' का सृजन आरम्भ करता है जो 'नाम' की कोटि में आते हैं। ये शब्द रूप नाम ही प्रतीक की श्रेणी में उस समय आ जाते हैं जब वे किसी धार्मिक अथवा पौराणिक विचार, भाव अथवा देवों के व्यक्त वाहक बन जाते है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि मानवीय चेतना के विकास के साथ पौराणिक प्रवृत्ति का स्वरूप भी बदलता रहता है। उसे नवीन ज्ञान के प्रकाश मे नवीन मान्यताओं का वाहक बनाया जाता है। किसी विशिष्ट पुराण कथा को युग की माँग के अनुसार परिवर्तित भी किया जाता है। ये कार्य शब्द-प्रतीक ही करते है जो उस नव धारणा और विचार को विनिमयशील बनाते है जिससे कि वह प्रेषणीय हो सके। इस तथ्य में पुराण का 'गतिशील चिंतन' भी मुखर हो जाता है जिसका संकेत प्रथम ही किया जा चुका है।

लोकसाहित्य और प्रतीक

पौराणिक काव्य में भाषा के साथ-साथ लोकतत्त्वों का भी समाहार प्राप्त होता है। लोकसाहित्य के अन्तर्गत लोकगीतों, लोकगाथाओं का समावेश होता है। किसी भी पौराणिक काव्य की पृष्ठभूमि समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम लोकगीतों एवं कथाओं का विश्लेषण करें जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पौराणिक काव्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की।

लोकगीत मानवीय कल्पना एवं भाव के आदितम साहित्यिक रूप है। इन लोकगीतों में 'मानवीय नायक' के दर्शन होते हैं, जो नायक-भावना के विकास में प्रथम चरण है। इस नायक-भावना का विकास पौराणिक काव्यों में किस प्रकार दिव्य या परम रूप में मान्य हुआ इसका विवेचन 'नायक के प्रतीकार्थ' के अन्तर्गत किया जायगा।

जब हम लोकगाथाओं की ओर दृष्टिपात करते हैं तब हमें प्रतीक का एक अत्यन्त विस्तृत रूप प्राप्त होता है। हीगल ने इसे 'चेतन-प्रतीकवाद' के अन्तर्गत माना है। इन लोकगाथाओं का उद्गम एवं उनका सृजन बाह्य जगत् के जीव एवं पदार्थों पर आश्रित होने के कारण लोक-जीवन के अधिक निकट है। इन गाथाओं में जानवरों एवं पक्षियों के द्वारा किसी ऐसे 'नैतिक मूल्य' की व्यंजना की जाती है जो मानव-जीवन सापेक्ष होती है। इन जीवधारियों को, उनके विभिन्न गुणों को और साथ ही उनके परस्पर सम्बन्धों को मानव गुणों एवं व्यवहारों का पर्याय माना जाता है। इस प्रकार उन्हें (मानवेतर प्राणियों को)

प्रतीक का रूप प्राप्त होता है। एशप की कथाएँ, पञ्चतंत्र एवं बालहितोपदेश की कथाएँ इसी श्रेणी में आती हैं। शेर की वीरता एवं उदारता, भेड़ की प्रतिहिंसा, लोमडी की चालाकी, मृग की चपलता आदि कुछ ऐसे अव्यक्त गुण हैं जिन्हें इन कथाओं के द्वारा स्पष्ट रूप प्राप्त होता है। ये कथाएँ बरबस साहित्य के उस विशाल प्रांगण की याद दिलाती है जिन्हें हम नीति-काव्य की संज्ञा देते है। प्रतीक की दृष्टि से इनका अत्यन्त महत्त्व है क्योंकि काव्य में अनेक ऐसे मानवेतर प्राणियों का प्रयोग होता है जिनके द्वारा अनेक गूढ़ रहस्यों अथवा आचरण सम्बन्धी नीतियों की व्यंजना प्रस्तुत की जाती है। यह अन्योक्तियों का क्षेत्र है। लोकतत्त्वों का समाहार काव्य में उस समय और भी स्पष्ट होता है जब हम महाकाव्यों के चरित्रों अथवा नायकों के स्वरूप को देखते हैं। राम, कृष्ण आदि का जो काव्यात्मक व्यक्तित्व है, उसमें लोकतत्त्वो का समावेश एक ऐतिहासिक घटना मानी जाती है। कृष्ण तथा रामादि की भावनाओं में लोकतत्त्वों का समावेश प्राप्त होता है जिस पर हम आगे विचार करेंगे।[1]

नायक का प्रतीकार्थ

युंग ने नायक-भावना के उद्‌गम-स्रोत का विश्लेषण करते हुए उसके प्रतीक रूप की ओर भी संकेत किया है। वह विश्लेषण उसके अचेतन-सिद्धान्त पर आधारित है। उसके मतानुसार व्यक्ति विशेष के चारों ओर जो जातीय प्रेम-भावना केंद्रित हो जाती है उसका उद्‌गम स्रोत अचेतनावस्था ही है जो कि एक प्रकार से 'अचेतन' के प्रति जाति का प्रेम है अथवा आदिमानवीय प्रवृत्ति का अवशेष-चिह्न है।[2] अतः महाकाव्यों में जो नायक या देवतागण हैं वे हमारे ही अंश है जो किसी न किसी रूप मे जाति की सांस्कृतिक-चेतना के 'हीरो' हैं। ये नायक किसी जाति के अविच्छिन्न अंग हैं जिनके द्वारा हमारे अन्दर यह विश्वास समाहित हो जाता है कि हम कभी भी जातीय चेतना से विलुप्त नही हो सकते हैं।

नायक-भावना का विकास दो दशाओं से होकर गुजरा है। प्रथम, तांत्रिक या ऐंद्रजालिक (Magical) स्थिति और द्वितीय शुद्ध नायक की स्थिति।[3] प्रथम स्थिति का सबसे उत्तम उदाहरण फिनलैंड की आदितम

१—दे० आगे कृष्ण तथा रामकाव्य में, षष्ठ तथा सप्तम अध्याय।

२—दे० युंग की पुस्तक 'साइकलाजी आफ द अनकांशस, अध्याय ४, पृ० १०६-१११।

३—हिरोइक पोइट्री द्वारा बावरा, पृ० ६३।

काव्य-कृति 'कैलीवेला' है जिसमें नायक को अनेक प्रकार से ऐंद्रजालिक कर्मों का कर्ता चित्रित किया गया है। सत्यरूप में, यह काव्य-कृति एक ऐसी मध्य-स्थिति की द्योतक है जिसमे वीर-गीतों का महाकव्य में संयोग होता है।[1] कुछ इसी प्रकार की स्थिति हमें आल्हखण्ड में भी प्राप्त होती है। परन्तु दूसरी स्थिति में आकर नायक का यह ऐंद्रजालिक रूप कम हो जाता है और उसकी धारणा में क्रमशः मानवीय एवं दैवी रूपो का समन्वय होने लगता है। पौराणिक नायक-देवता का अस्तित्व चाहे संकट में पड़ जाय पर इतना तो असंदिग्ध है कि महाकवियों के द्वारा उन्ही 'नायकों' को जातीय अथवा सांस्कृतिक रूप में अंकित किया गया है। इसी से ये पौराणिक नायक कवियों की अनुभूति से रंजित होकर क्रमशः सास्कृतिक जीवन के परम प्रतीक हो गए। नायक का यह सांस्कृतिक पक्ष होमर के हेक्टर (महाकाव्य इलियड) और यूलीसीज (महाकाव्य आडिसी) में, वाल्मीकि-रामायण के राम मे, महाभारत के श्रीकृष्ण और अर्जुन में, वर्जिल के इनीयस (महाकाव्य इनीड) में प्राप्त होता है। एक अन्य बात जो इन नायकों मे देखी जाती है वह है उनके कृत्यों में किसी देवता का सहायक होना या किसी अप्सरा के द्वारा उनकी बाधाओं का अंत होना। उदाहरणस्वरूप हेक्टर का सहायक ज्यूपीटर देवता है, अर्जुन के सहायक श्रीकृष्ण है और इनीयस का सहायक भी ज्यूपीटर है।[2]

महाकाव्यों में नायक की परिणति एक अन्य सत्य को सम्मुख रखती है। पौराणिक नायको के चारों ओर जो अनेक प्रकार के अतार्किक तथ्यों का समावेश हो गया था, उनका एक प्रकार से उन्नायक रूप, कवि की सृजनात्मक 'जीनियस' से तप कर, अधिक भावात्मक तार्किक रूप में सामने आ सका। अतः पौराणिक काव्य में केवल अंधविश्वास एवं अंधमान्यताएँ ही नहीं हैं, पर इसके साथ-साथ जीवन, प्रकृति और ब्रह्माड के प्रति एक जागरूक संवेदना भी है जो जाति की सास्कृतिक चेतना है। यह ठीक है कि हम होमर के काव्य में अनेक मानवों को रेड इंडियन के देवताओं की तरह पक्षी या अन्य जानवरों का रूप धारण करते पाते हैं या रामायण में देवताओं को महाकाय या सूक्ष्म रूप में परिवर्तित होते देखते हैं, परन्तु दूसरी ओर इन्ही महाकाव्यों में हमें आरटीमिस के आखेट का, गोल्डन एफ्रोडाइट

१—कस्टम एन्ड मिथ द्वारा एन्ड्रयू लेंग, पृ० १५८।

२—इन विदेशी उदाहरणों के लिए दे० 'विदेशो के महाकाव्य' अनु० गोपीकृष्ण (द बुक आफ इपिक्स)।

की अंतर्दृष्टि का, राम के अंतर्द्वन्द्व का, बानरों और राक्षसों की परम भक्ति का, और जीवन और विश्व के सत्य का परम रूप दृष्टिगत होता है। इस दृष्टि से पौराणिक काव्य जातीय 'आत्मा' की परम अभिव्यक्ति हैं जिसमें हमारे दुख-सुख, प्रेम-घृणा, विनय-अहंकार और यहाँ तक कि हमारा सारा मनोविज्ञान साकार हो उठा है। वस्तुत: ये नायक मानसिक चेतना के विकास-स्तम्भ हैं। अवतारों के रूप में ये देव-नायक भारतीय पुराण-साहित्य में इसी चेतना-विकास की परम्परा को आध्यात्मिक क्षेत्र मे चरितार्थ करते हैं।[1]

विचार, अनुभूति तथा पुराण-काव्य

इस सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकला है कि सारे पुराण काव्य का ध्येय किसी भाव, विचार या संवेदना को प्रतीक रूप में व्यक्त करना है। नायक, लोकगीत, कथाएँ और भाषा—इन सभी क्षेत्रों में पौराणिक काव्य की वह पृष्ठभूमि प्रस्तुत होती है जिसमे भाव तथा विचार का समन्वय न्यूनाधिक रूप में लक्षित होता है। पौराणिक चेतना का सबसे महत्वपूर्ण अंग विचार की उद्‌भावना है जिसने प्राचीन साहित्य को नवीन मोड़ प्रदान किया। अनेक विचारकों का मत है कि यह पौराणिक चेतना केवलमात्र काव्यात्मक प्रतीकवाद का सृजन है। परन्तु इसमें सत्य का अंश कम ही है। यह ठीक है कि महाकाव्यकारों ने पुराण का सृजन किया पर उनका पुराण केवल 'पुराण' ही नहीं है, उसमें कवि की प्रतिभा और कल्पना का संयोग है, चरित्रों में अधिक स्थायित्व है, रूप एवं अर्थ में व्यापकता है और स्वप्न-बिम्बों के स्थान पर जीवनसापेक्ष बिम्बों का समावेश है। इसी विचार की रूपरेखा हमें लेंगर के इस कथन में भी प्राप्त होती है कि महान् पौराणिक कथाएँ जो रूढ़िपरम्पराओं से अपने को मुक्त कर सकीं, ऐसी गाथाएँ जातीय महाकाव्यों में स्थायित्व प्राप्त कर सकीं।[2] काव्य में पौराणिक तत्त्वों का समाहार काव्य के पूर्ण रूप (फार्म) का परम द्योतक है जिसे हम 'पौराणिक-कल्पना' की संज्ञा दे सकते हैं। इसी काव्यगत रूप एवं प्रतीकात्मक व्यंजना के अंतराल में मानवीय विचारधारा के विकास का उन्नायक रूप प्राप्त होता है।

१—भक्ति-काव्य के अन्तर्गत अवतार का विकासवादी विश्लेषण सविस्तार प्रस्तुत किया गया है।

१—फिलासफी इन ए न्यू की द्वारा लेंगर, पृ० १६०।

जहाँ तक अनुभूति का प्रश्न है वह काव्य-प्रतीकों एवं पौराणिक प्रतीकों के व्यापक अनुभव पर आधारित होती है। जब यह व्यापक अनुभव अभिव्यक्ति-माध्यमों के द्वारा अव्यक्त अथवा अमूर्त व्यंग्य (Suggestion) की ओर संकेत करता है, उस समय वह अनुभूति अव्यक्त तथा अमूर्त्त की व्यंजना करती है। इस दृष्टि से पौराणिक प्रतीक अनुभूति का व्यापक रूप नहीं दे पाते हैं जिसे कवि अपनी अनुभूति के द्वारा उन्हें देने में समर्थ है। भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से अनुभूति का 'साधारणीकरण' ही रसोद्रेक में सहायक होता है जो कवि की प्रतिभा पर निर्भर है। इस तथ्य का समाहार हमें ऊपर के विवेचन में भी मिल जाता है। परन्तु इतना असंदिग्ध है कि रस अथवा किसी भी 'शब्द' का विवेचन जिस प्रकार किया जाता है उसी के प्रकाश में उसका प्रतीकार्थ स्पष्ट होता है। यही कारण है कि अनेक दार्शनिक एवं धार्मिक वितंडाओं का उद्‌गम उनमें प्रयुक्त अनेक शब्दों एवं प्रतीकों के गलत विवेचन से होता है जिसे लोग अपने अपने विचारानुसार विवेचित करते हैं।

(ग) प्रतीक का विकास

१—*धार्मिक*

धर्मिक प्रतीकों का स्वरूप और क्षेत्र

पौराणिक प्रतीकों का जो कथात्मक स्वरूप पीछे विवेचित हो चुका है उसका मूल आधार धार्मिक तात्विक मान्यताएँ हैं जिनका अभिव्यक्तीकरण पुराणों का परम ध्येय है। रिट्‌ची का मत है कि विचारों का आवश्यक कार्य प्रतीकीकरण है।[१] स्पेन्सर का कथन है कि धार्मिक विचार मानवीय अनुभवों से प्राप्त किये गये हैं जो क्रमशः संघटित एवं परिष्कृत होकर प्रतीक की दशा तक पहुँचे हैं।[२] यह विचार अथवा धारणा मूलतः अनेक देवी-देवताओं के स्वरूप-विश्लेषण से ज्ञात होती है जिनकी धारणा में किसी तात्त्विक रहस्य का प्रतीकीकरण होता है। इसी प्रतीकात्मक विवेचना को शायद ध्यान में रखकर धार्मिक देवी-देवताओं के प्रति छांदोग्योपनिषद् का निम्न श्लोक सही अर्थ में उनके प्रतीकार्थ को चिंतन का विषय घोषित करता है—

१—द नेचुरल हिस्ट्री आफ माइंड द्वारा ए० डी० रिट्‌ची, पृ० २१

२—द फर्स्ट प्रिन्सपिल्स द्वारा हर्बर्ट स्पेन्सर, पृ० १५

'यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवताममिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत् ।।[१]

अर्थात् (यह साम रूप रस) जिस ऋचा में (प्रतिष्ठित हो) उस ऋचा का, जिस ऋषि वाला हो, उस ऋषि का तथा जिस देवता की स्तुति करने वाला हो, उस देवता का चिंतन करें ।' तत्वतः भारतीय धार्मिक प्रतीकों का रहस्य उसके चिंतन करने में समाहित है । यह चितन मानव-मन की वह सबल प्रक्रिया है जो कि धारणा के स्वरूप को व्यक्त करती है ।

निम्नांकित विकास-स्थितियों से धार्मिक प्रतीकों के स्वरूप का जहाँ एक ओर संकेत प्राप्त होता है, वहीं पर उस विकास से उनके विस्तृत क्षेत्र की भी प्रत्यक्ष व्यंजना होती है । धार्मिक प्रतीकात्मक धारणाएँ इस तथ्य को भी सामने रखती हैं कि प्रतीकों का आंतरिक अर्थ इस बात पर आधारित होता है कि हम किस सीमा तक व्यक्त और सामान्य पदार्थों से अमूर्त एवं वृहत् पदार्थों तथा विचारों की ओर जा सके है । धार्मिक प्रतीकों का अर्थ केवल बाह्य सत्य पर ही अवलंबित नहीं है, पर उन प्रतीकों की 'आत्मा' को हृदयंगम करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसकी वाह्य परिधि से हटकर उसके व्यंजनात्मक केन्द्र की ओर जायँ । डा० राधाकृष्णनन् ने एक स्थान पर इसी 'सत्य' की ओर संकेत किया है । उनका कथन है, 'यथार्थ प्रतीक कोई स्वप्न या छाया नहीं है । वह अनंत का जीवित साक्षात्कार है । हम प्रतीकों को विश्वास के द्वारा स्वीकार करते है जो अनेक व्यक्तियों के लिए 'परम-सत्य' के साक्षात्कार करने का माध्यम है ।'[२] अनेक धार्मिक मतों एवं सम्प्रदायों का इतिहास भी यही सिद्ध करता है कि उनकी साधना पद्धतियों ने अनेक ऐसे प्रतीकों का आश्रय लिया जिनके द्वारा साधकों ने परमतत्त्व के निकट पहुँचने का प्रयत्न किया । बौद्ध मत के अन्तर्गत 'बोधिसत्व' और 'युगनद्ध', वैष्णव सम्प्रदायो (यथा रामानुज, वल्लभाचार्य आदि) में राधा-कृष्ण आदि कुछ ऐसे धार्मिक प्रतीक हैं जिनके द्वारा साधक 'परम तत्त्व' का साक्षात्कार करता था ।

विकास-स्थितियां

इस पृष्ठभूमि के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि हम उन स्थितियों का अध्ययन करें जिनसे होकर धार्मिक प्रतीकों का विकास सम्भव हो सका ।

१—छांदोग्योपनिषद् प्रथम अध्याय, तृतीय खंड, पृ० ७४ श्लोक ६ (उप० भा० : खंड ३) ।

२—रिकवरी आफ फेथ द्वारा डा० राधाकृष्णनन्, पृ० १५२ ।

इन विभिन्न दशाओं का विभाजन, मानसिक एवं बौद्धिक विकास को दृष्टि में रख कर किया गया है—

(१) मानवीकरण अथवा आरोप

प्रतीकीकरण की प्रथम स्थिति पदार्थों और प्रकृति-शक्तियों को चेतन मानवीय रूप प्रदान करने में थी जिसका आदि रूप 'प्रतीक का उद्गम' नामक उपखण्ड में दिखाया जा चुका है। यह धार्मिक प्रतीकों की प्रथम स्थिति है, जब मानव-मन प्रकृति के रहस्य के प्रति सचेत होने लगता है और अन्धविश्वास के ऊपर विजय प्राप्त करने में प्रयत्नशील होता है।

(२) पशु-तत्त्व से नर-तत्त्व तक

धार्मिक-प्रतीकों के विकास-क्रम में मानसिक विकास की भी छाया मिलती है। मानसिक प्रगति की रूपरेखा के साथ प्रतीको की धारणा में पशु-तत्त्व का अंश क्रमशः लोप होने लगता है। यह प्रवृत्ति हमें हिन्दू, सामी और चीनी धर्मों में अधिक स्पष्ट रूप से प्राप्त होती है। अधिकांश भारतीय और मिस्री देवताओं (यथा गणेश दुर्गा, ब्रह्मा) की अभिव्यक्ति सिंह या किसी अन्य जीवधारी के ऊपर आसीन रूप में की गयी है। इसका प्रतीकात्मक अर्थ केवल यह है कि मानव के अंदर 'दिव्यता' का अंश पशु-प्रवृत्तियो पर विजय प्राप्त कर, उसे बुद्धि के द्वारा नियंत्रित रखना चाहता है। मानसिक प्रगति की यह रूपरेखा मिश्रित देवताओं (Hybrid Gods) की अभिव्यक्ति में स्पष्ट प्राप्त होती है।

इस प्रतीकात्मक अर्थ के अतिरिक्त, भारतीय मिश्रित देवी-देवताओं में यह पशु-वर्ग 'वाहन' की संज्ञा से ज्ञातव्य है। इस वाहन की भावना में केवल पशुता पर विजय का अर्थ नहीं है पर उसके साथ ये सभी वाहन उस विशिष्ट देवता के किसी विशेष गुण, कार्य अथवा प्रकृति के प्रतीक हैं।[1] उदाहरण स्वरूप ब्रह्मा का वाहन हंस है (सरस्वती का भी) जो ब्रह्मा की उस शक्ति का द्योतक है जिसके द्वारा वह सृष्टि जैसे दुर्लभ कार्य को करता है। वह शक्ति है विवेक-बुद्धि। शायद हंस के नीर-क्षीर-विवेक की भावना का उद्गम यहीं से हुआ हो जो आगे चलकर एक परिपाटी के रूप में रूढ़ि हो गई। इसी प्रकार दुर्गा, जो शिव की शक्ति है, उसे सिंह के ऊपर आसीन चित्रित किया गया है। इसका प्रतीकार्थ यही है कि दुर्गा की जो ध्वंसात्मक शक्ति है, जिसके

१—डा० तैमनी के एक व्याख्यान से जिसे उन्होंने एनी बेसेंट हाल, प्रयाग में 'हिन्दू प्रतीकवाद' विषय पर दिया था (नवम्बर १९५९)।

द्वारा वह 'पाप' का नाश करती है—वह शक्ति सिंह के द्वारा प्रदर्शित की गई है। देवताओं की अभिव्यक्ति में अनेक पदार्थों का समाहार भी यही तथ्य प्रकट करता है कि वे पदार्थ किसी विशिष्ट कार्य अथवा शक्ति के द्योतक हैं। विष्णु के 'रूप' में शंख, चक्र और पद्म का प्रदर्शन उनके तीन प्रमुख कार्यों एवं शक्तियों के द्योतक हैं जिनके द्वारा वह विकास की परम्परा को गति देते हैं। चक्र उस शक्ति का प्रतीक है जो विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को नष्ट करता है। शंख प्रणव अथवा शब्द का प्रतीक है और पद्म शुभ फल का द्योतक है, जिस प्रकार गदा अशुभ फल का प्रतीक माना जा सकता है।

(३) आदर्श अपर लोकों की धारणा और अन्य आदर्श प्रतीक

(१) *स्वर्ग वैकुण्ठादि*—जब मानवीय चेतना दृश्यमान जगत् के पीछे रहस्य को जानने के लिए प्रयत्नशील हुई तब उसने अनेक ऐसे लोकों की कल्पना की जहाँ मृत्यु के बाद जीवन की भावना ने एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। मानव-मन यह प्रश्न करने लगा कि मृत्यु के पश्चात् जीवन का क्या स्वरूप होता है। इस जिज्ञासा के फलस्वरूप सभी धर्मों में स्वर्ग की कल्पना का उदय हुआ। मृत्यु के परे की भावना ईसाई प्रतीकवाद की मूल आधार शिला है।[1] हिंदू धर्म में भी इसी जिज्ञासा ने 'स्वर्ग' की कल्पना का श्रीगणेश किया। परन्तु हमारे यहाँ स्वर्ग-लोक से भी ऊपर अन्य लोकों की भावना प्राप्त होती है जो आध्यात्मिक दृष्टि से मानवीय चेतना के ऊर्ध्वगामी अभियान से प्रतीत होते हैं। हमारे यहाँ चार देवता प्रमुख हैं—इन्द्र, शिव, विष्णु और ब्रह्मा और इनके साथ ही क्रमशः चार लोकों—स्वर्ग, कैलास, वैकुंठ और सत्य लोकों की कल्पना की गयी।[2] इन चारों लोकों के आदर्शीकरण मे 'सत्यलोक' का स्थान सब से ऊँचा है जो ब्रह्मा का परमलोक है। ये सभी लोक आनंद के क्रमिक विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। वैज्ञानिक दर्शन की दृष्टि से ये लोक, जो पृथ्वी से ऊपर माने गये हैं, मूलतः ऊर्ध्व वातावरण के स्तरपरक विभाग हैं। जिस प्रकार आकाश के वातावरण में निम्नतर स्तर अधिकतम भारयुक्त (Pressure) होता है और जैसे-जैसे हम वातावरण में (आकाश तत्त्व) ऊपर जाते हैं वैसे-वैसे 'भार' की मात्रा भी कम होती जाती है, उसी प्रकार इन्द्रलोक से लेकर सत्य लोक तक क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर भार की उन्मुखता प्राप्त होती है।

१—इनसाइक्लोपीडिय आफ इथिक्स एंड रिलीजन, वाल्यूम १२ क्रिश्चियन सिम्बालिज्म।

२—हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स एंड सेरीमनीज द्वारा जे० ए० डब्वियस, पृ० ४३३।

इन आदर्श लोकों के निर्माण में धार्मिक भावना का वह रूप प्राप्त होता है जो आत्मा के आनंदगत स्तरों का उद्घाटन करती है। यही कारण है कि उपनिषदों में स्वर्ग की भावना में 'आनंद' का परिवेश प्राप्त होता है।[1]

अस्तु, भारतीय धर्म में जितने भी आनंद लोक हैं उनके अंतराल में आनन्द तत्त्व का समान महत्त्व है।

उपर्युक्त चार प्रमुख आनंदलोकों का भारतीय धर्म अथवा साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो वर्ग जिस देवता (इन्द्र, शिव, विष्णु व ब्रह्मा) की आराधना या उपासना करता है वह उसी के परमधाम की इच्छा करता है। भक्त कवियों ने इसी से विष्णु के परमलोक, गोलोक अथवा वैकुंठ की कामना की है, जिसका विवेचन आगे किया जायगा। इसी प्रकार शिव के भक्तों का ध्येय 'कैलास' है और ब्रह्मा के आराधकों का सत्यलोक।

हिंदू धर्म में ही नहीं, पर संसार के अन्य धर्मों में भी कर्मफल का आभास प्राप्त होता है। इसी कर्मफल के आधार पर व्यक्ति को 'स्वर्ग' या 'नरक' प्राप्त होता है। पाइथागोरस और हिरोडोटस ने भी भारतीय स्वर्ग और नरक के आदर्शों को मान्य माना है। पाइथागोरस ने स्वर्ग-नरक की भावना को केवल-मात्र एक अव्यक्त सिद्धान्त के तौर पर ग्रहीत किया है। अनेक विचारकों ने पाइथागोरस के इस सिद्धान्त को भारतीय प्रभाव कहा है।[2] नरक की भावना का मूल रहस्य, पापों एवं अपवित्र आचरणों से युक्त व्यक्तियों का मृत्यु के पश्चात् वीभत्स यातनाओं के जगत् में जाने की कल्पना ही ज्ञात होती है। सीजर ने इस नरक की भावना का आरोपण गाल्स-वासियों पर पूर्णतया किया था। अतः यह नरक और स्वर्ग की कल्पना का तात्त्विक अर्थ यही प्रतीत होता है कि ये लोक मनुष्य के अन्तःकरण में ही व्याप्त हैं, अपने कर्मों के द्वारा ही वह इन्हे इसी चराचर जगत् में प्राप्त करता है। उनका विधान मनुष्य के नीति-परक आदेशों के प्रति आग्रह ही है।

सप्तक-कल्पना : इन लोकों की संख्या का विस्तार भी होता रहा। वैदिक धर्म में सप्तलोक की कल्पना भी प्राप्त होती है। इसी तथ्य के हृदयंगम करने पर अन्य सप्तक कल्पनाओं का रहस्य स्वय प्रकाशित हो जायगा। सप्तलोक, सप्तसिंधु, सप्तर्षि, सप्तस्वर, सप्तपाताल, सप्तदिवस, सप्तान्न की धारणाएँ मूलतः मानव मन के आध्यात्मिक स्वरूप की प्रतिरूप हैं।

१—कठोपनिषद् पृ० २७ श्लोक १२ प्रथम अध्याय, प्रथम बल्ली (उप० भा०)।

२—हिन्दू मैनर्स कस्टम्स एंड सेरिमनीज, ड्यूबियस, पृ० ५५८।

सप्तक की कल्पना का रहस्य 'प्राण-विज्ञान' है क्योंकि भारतीय दार्शनिक चिंतन में प्राण को आत्मरूप ब्रह्म की कोटि तक पहुँचा दिया गया है। समस्त इन्द्रियाँ प्राण की ही रूपान्तर हैं। इसी से प्राण की समष्टि भावना में समस्त 'इन्द्रिय संघात शरीर' की भी परिणति प्राप्त होती है। शंकर ने वेदान्त भाष्य के अन्तर्गत कहा है कि 'शिशु-प्राण' का यह शरीर अधिष्ठान है क्योंकि इसमें अधिष्ठित होकर अपने स्वरूप को प्राप्त करने वाली इन्द्रियाँ विषयों की उपलब्धि का द्वार होती है।[1] प्राण को नाना रूपों वाले 'यज्ञ' की संज्ञा भी दी गयी है।[2] यह यज्ञ क्या है? चमस रूप शिर में विश्व रूप यश निहित है। अतः यश के नाना रूप प्राण के ही अंग हैं। प्राण की संख्या सात मानी गई है—दो कान, दो नेत्र, दो नासिका और एक रसना। ये सातों इन्द्रियाँ प्राण की 'अन्न' होकर ही अवस्थित रहती हैं जिसका यही अर्थ है कि सप्त इन्द्रियों का अन्योन्य सम्बन्ध प्राण के द्वारा ही कार्यान्वित होता है। सप्तक की अधिकांश कल्पनाएँ इसी तथ्य की प्रतिध्वनि ज्ञात होती हैं। शब्दादि जितने भी बाह्य विषय हैं उनका ज्ञान मनुष्यों को इन्हीं प्राणों के द्वारा होता है। इसी से इन सप्त-प्राणों को सप्तान्न भी कहा गया है क्योंकि ये सभी इन्द्रियाँ मुख्य प्राण की 'अन्न' ही है। वृहद्उपनिषद् मे प्राण की इसी सर्वव्यापकता को आधिदैविक रूप देने की लालसा से उन्हें सप्तर्षि भी कहा गया है जो मानवीकरण का सुन्दर उदाहरण है। उपनिषद् कहता है—'ये दोनों (कान) ही गौतम और भारद्वाज हैं, यह ही गौतम है और दूसरा भारद्वाज है। ये दोनो नेत्र ही विश्वा-मित्र हैं और जमदग्नि हैं, यह ही विश्वामित्र है और दूसरा जमदग्नि है। ये दोनों नासा रन्ध्र ही वशिष्ठ और कश्यप है, यह ही वशिष्ठ है और यह दूसरा कश्यप है। तथा वाक् ही अत्रि है, क्योंकि वागिन्द्रिय द्वारा ही अन्न भक्षण किया जाता है जिसे अत्रि कहते हैं वह निश्चय 'अत्ति' नामवाला है। जो इस प्रकार जानता है वह सबका अत्ता (भक्षण करने वाला) होता है, सब इसका अन्न हो जाता है।'[3] यह सप्तर्षि मंडल मानव के भौतिक पक्ष का उन्नायक रूप है। यह घोषित करता है कि प्रत्येक भौतिक अंश का उसी समय सत्य महत्त्व होगा जब वे दिव्य देव ऋषियों से युक्त मानवीय चेतना के ऊर्ध्वगामी अभियानों में योगदान दे सकेंगे। इन समस्त इंद्रियसंघात रूप अन्नमय शरीर में

१—उपनिषद् भाष्य, पृ० ५०४ (खंड ४)।

२—बृहद्उपनिषद् पृ० ५०८-५०९, श्लोक ३ खंड ४ (उप० भा०, खंड ४)।

३—वही पृ० ५१०, श्लोक ४ खंड ४ (उप० भा० खंड)।

संतुलन उसी समय हो सकता है जब ये सब 'प्राण' मुख्य प्राण के आश्रित हों प्रत्यक्ष रूप से 'मुख्य प्राण' ही वह तर्कमय कारण है जो अतर्कपूर्ण आचरणों को एक संतुलन प्रदान करता है। जो इस प्रकार इस प्राण के यथार्थ रूप को जानता है, वह अपने प्रारब्ध का स्वयं विधाता होता है। हिन्दू धर्म में सभी सत्तक कल्पनाएँ इसी सत्य प्राण की विवेचना करती हैं जिससे 'सत्य' का, ब्रह्म का साक्षात्कार हो सके। वृहद्उपनिषद् मे इसी से प्राण को देवता कहा गया है जो इन्द्रिय-रूप देवताओं के पाप रूप मृत्यु को दूर कर फिर इन्हें मृत्यु के पार ले जाता है।[1]

लिंग, शालिग्राम, क्रास और अर्धनारीश्वर

ये सब रूप-प्रतीक किसी विचार अथवा किसी देवता के प्रतिनिधि हैं। इनमें से प्रथम तीन प्रतीक उपासना से संबंधित होने के कारण उपासक एवं उपास्य के संबंध के निर्देशक हैं और साथ ही वे किसी न किसी तात्त्विक भावभूमि के द्योतक है। आदि मानव की मानवेतर जड़ पदार्थों के प्रति जो रहस्य भावना थी, वह मानसिक चेतना के क्रमिक विकास के कारण अंधभावना एवं विश्वास की परिधि को छोड़कर एक चेतनापूर्ण विश्वास का प्रतीक बन गई। धार्मिक प्रतीकों में यही श्रद्धापूर्ण विश्वास ही मुख्य तथ्य है जो उस विशिष्ट रूप में किसी आदर्श की स्थापना करता है। यह आदर्श या तो कोई देवता होता है अथवा उसका कोई धारणात्मक तत्त्व। लिंग, शालिग्राम और क्रास मे देवता या मानवीय ईश्वर (क्राइस्ट) की भावना सन्निहित रहती है। इस प्रकार, लिंग शिव का, शालिग्राम विष्णु का और क्रास अनंत जीवन के प्रतीक क्राइस्ट या ईसा का रूपात्मक प्रतीक माना जाता है। अर्धनारीश्वर एक आदिम प्रकृति-सत्य का रूप है जो नारी और ईश्वर रूप मानव की समान अभिव्यक्ति है। यह प्रतीक मिथुन सत्य का, जो सृष्टि का रहस्य है, एक अत्यन्त सुंदर मानवीकरण है। वृहद् उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि 'पहले एक आत्मा ही था। उसने कामना की कि मेरे स्त्री हो, फिर मै प्रजारूप में उत्पन्न होऊँ[2]।' पुरुष के अंदर भी इन्ही दो तत्त्वों का समाहार माना गया है जैसा कि उसी उपनिषद् में कहा गया है 'मन इसका आत्मा है, वाणी स्त्री है, प्राण संतान है[3]।' यहाँ पर जो

१—वृषद् उपनिषद्, पृ० १२८ श्लोक ११ खंड ४ (उप० भा० खंड ४)।

२—वृहदारण्यकोपनिषद्, पृ० ३११ श्लोक १७, चतुर्थ ब्राह्मण, प्रथम अध्याय (उ० भा० खं० ४)।

३—वही पृ० ३११।

वाणी को स्त्री कहा गया है, वह मन का अनुवर्तन करने में स्त्री के साथ वाणी की समानता का द्योतक है। वाक् विधि निषेध रूप शब्द है। यह श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा मन से गृहीत और प्रयुक्त होता है। इसीलिए वाक् मन की स्त्री के समान है, वे दोनों मिथुन तत्त्व हैं। अतः इससे सिद्ध हुआ कि सृष्टि क्रम के लिए दो लिंगों की समान आवश्यकता है। अर्धनारीश्वर का प्रतीकार्थ इसी तथ्य का सुंदर अभिव्यक्तीकरण है।

लिंगादि की धारणा में उस देवता के साथ साथ उसके अन्य गुणों एवं क्रियाओं का भी समाहार होता है। हिन्दू धर्म में अधिकांश प्रमुख देवताओं की पूर्ण अभिव्यक्ति अकेले न होकर देवियों के सहित की जाती है। जहाँ तक लिंग अथवा शालिग्राम का प्रश्न है, उनके प्रतीकार्थ में देवता के साथ 'देवी' की भावना भी अनुस्यूत है। अतः अनेक मनोवैज्ञानिकों ने जो लिंग को यौन प्रतीक माना[१] है (फेलस) उसे मैं अंधविश्वास अथवा आदिम अतर्कपूर्ण भाव से गृहीत नहीं कर सकता हूँ, पर उसे मैं उपर्युक्त एक मुख्य तत्त्व के रूप में ग्रहण करता हूँ। अतः 'लिंग' आदितत्त्व शिव के सृजनात्मक तत्त्व का प्रतीक है। स्वयं शिव के शब्दों में कि 'स्वयं मैं' ही लिंग हूँ और जो भी मुझे इस 'प्रतीक' लिंग के द्वारा प्रतिष्ठित करेगा, उसकी इच्छा की पूर्ति होगी और वह 'कैलास' को प्राप्त करेगा। मैं ही आदितत्त्व हूँ और लिंग भी आदि तत्त्व है[२]। लिंग की यह भावना रोमन जाति के प्रियपस (Priapus) और मिश्र जाति के फेलस (Phallus) में भी प्राप्त होती है[३]। अतः लिंग सृष्टि के पूर्व वर्तमान था जिस प्रकार ब्रह्मा या विष्णु (कृष्ण व राम रूप) की स्थिति मानी जाती है। लिंग के प्रतीकार्थ में शिव के तीन नेत्रों का भाव भी निहित है जो द्युलोक, अंतरिक्ष लोक एवं पृथ्वी में व्याप्त नेत्रस्थ अग्नि के प्रतीक हैं। इसी प्रकार लिंग को बाघ की त्वचा से आवृत करते हैं जैसे कि शिव बाघंबर ओढ़े रहते हैं।

शालिग्राम में भी मिथुनपरक स्वरूप प्राप्त होता है, परन्तु विष्णु के संरक्षक रूप का ही उससे अधिक समावेश है। वह मूलतः उपासना का ही माध्यम है। क्रास और क्राइस्ट में जिस प्रकार का अन्योन्य संबंध

१—युंग तथा फ्रायड ने माना है कि लिंग यौन प्रतीक है, दे० फ्रायड, साइकोएनालिसिस, पृ० ११२।

२—लिंगपुराण में उद्धृत : हिन्दू मैनर्स एंड कस्टम्स से पृ० ६२६।

३—हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स एंड सेरीमनीज, ड्यूबियस पृ० ६३१।

है वैसा ही शालिग्राम अथवा लिग का क्रमशः विष्णु और शिव से है। क्राइस्ट का मानवीय रूप विष्णु के मानवीय रूप कृष्ण के समान प्रतीत होता है। डा० राधाकृष्णन् का मत है कि मानवीय रूप क्राइस्ट 'स्वर्ग' और धरती का मध्यस्थ[1] है, जिस प्रकार कृष्ण इहलोक और परलोक के मध्यस्थ हैं। बालक ईसा और माता मेरी के अधिकांश चित्र 'दिव्य बाल-रूप' के द्योतक हैं, जिस प्रकार कृष्ण और माता यशोदा के परम दिव्य बाल-रूप। जिस प्रकार कृष्ण का स्वरूप गोचारण से संबंधित है, उसी प्रकार ईसा की आदि-भावना परम-चरवाहे के रूप में प्रस्तुत की गयी है। यहाँ पर मेरा मंतव्य केवल कृष्ण और क्राइस्ट के प्रतीकार्थ के साम्य पर ही केन्द्रित है, न कि यह दिखलाना कि किसकी भावना किससे ली गई। संसार के अनेक धार्मिक प्रतीकों में इस प्रकार की समानता यह सिद्ध करती है कि प्राचीन मानव के मानसिक विकास का धरातल कितना अन्योन्य संबंधित था?

जान गैम्बल के मतानुसार 'क्रास' का आदितम रूप मृत्यु का द्योतक नही था, वरन् मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का प्रतीक था।[2] क्रास की भावना में दुःखात्मक अवसाद का आरोप अनेक शताब्दियों के बाद हुआ। क्रास के व्यापक अर्थ का आरम्भ उस समय से होता है जब उसे 'जीवन-वृत्त' के रूप में देखा गया।[3] क्रास का प्रतीकार्थ उस ऊर्ध्वगामी दशा का द्योतक है जहां पर समस्त पापों का शमन हो जाता है। अतः क्रास के प्रतीक रूप में मानवीय, भावनात्मक और विश्व संबंधी तथ्यों का सुंदर समन्वय प्राप्त होता है। एस० के० लेंगर के शब्दों में हम कह सकते हैं कि क्रास सम्पूर्ण ईसाई धर्म के नाटक का परम प्रतीक है—समस्त पाप, पीड़ा, क्लेश और उनसे मुक्ति का द्योतक है।[4]

४. अंतर्दृष्टि और प्रतीक

इस वर्ग के प्रतीकों का धारणात्मक एवं तात्विक महत्त्व है। प्रायः ये सभी प्रतीक 'आत्मज्ञान' की आधारशिला पर आश्रित हैं। इनमें तप एवं चिंतन, अनुभूति एवं अध्यात्म तथा धारणा और अंतर्दृष्टि का समान समन्वय प्राप्त

१—ईस्ट एंड वेस्ट द्वारा डा० राधाकृष्णन्, पृ० ७२।
२—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एंड इथिक्स भाग १२ (१६२१)।
३—साइक्लाजी आफ द अनकांशस द्वारा युंग, पृ० १६३ (१६१६)।
४—फिलासफी इन ए न्यू की द्वारा लेंगर, पृ० २३२ (१६४६)।

होता है। ये प्रतीक तात्त्विक चिंतन के 'मधु' हैं। भारतीय मनीषा ने इसी से मुख्य तैंतीस देवताओं का अंतर्भाव एक ही परम देव में माना है। उन्होंने नानात्व में एकत्व की स्थापना की है। बृहद् उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और शाकल्य संवाद में विश्व में व्याप्त शक्तियों, प्राकृतिक घटनाओं एवं पदार्थों का मानवीकरण तैंतीस देवताओं में किया गया है। इनमें आठ वसु (अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चंद्रमा और नक्षत्र), ग्यारह रुद्र (पुरुष की दस इंद्रिया, प्राण और मन), बारह आदित्य (संवत्सर के अवयवभूत ये १२ मास ही आदित्य है) और इंद्र (विद्युत्) तथा प्रजापति (यज्ञ)—सब मिलाकर तैंतीस देवता माने गए हैं जिनका पर्यवसान 'एक देव' की धारणा में किया गया है जिसे ऋषि ने 'प्राण', 'वह ब्रह्म है, उसी को त्यत् (ब्रह्म) ऐसा कहते हैं' के द्वारा निरूपित किया है। परंतु इस 'एक देव' की धारणा में अन्य देवों की क्रमिक परिणति होती है—पैंतीस से छः ,छः से तीन, तीन से दो, दो से डेढ़ और डेढ़ से एक की धारणा का विकास होता है।[१] धार्मिक प्रतीकों के अनेकानेक रूप भी इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। उनके वाह्य रूप में जो नानात्व दर्शित होता है वह 'सत्य' नही है। सत्य तो वह है जो नानत्व में एकत्व की अनुभूति देता है। यही धर्म का ध्येय है और मूलतः उनके प्रतीकों का तात्विक अर्थ भी इसी ध्येय की पूर्ति है। ऐसे कुछ प्रमुख तात्त्विक प्रतीक हैं—ब्रह्म, ओ३म् आदि, त्रिमूर्ति, असुर (सामी)।

ब्रह्म

भारतीय धर्म चिंतना में ही नहीं, परन्तु समस्त दार्शनिक तत्त्व का सार यह ब्रह्म शब्द है जिसकी आधारशिला पर धार्मिक सम्प्रदायों का, धार्मिक काव्यों का एवं धार्मिक कला का प्रासाद निर्मित हुआ है। आर्य मनीषा ने इस 'शब्द-प्रतीक' की धारणा में मानो समस्त विश्व के 'सत्य' का, सृष्टि-सत्य का, आध्यात्म सत्य का और जीवन-सत्य का एकीकरण कर दिया है। यही कारण है कि ब्रह्म को सत्य, ज्ञान और अनंत की संज्ञा दी गयी है—

'तदेषाभ्युक्ता सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[२]

१—बृहद्उपनिषद् पृ० ७८५-७९४ नवम् ब्राह्मण, तृतीय अध्याय (उप० भा० खड ४)। पृ० ७९३ पर कहा गया है 'एकोदेव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' जो एक देव की धारणा है।

२—तैत्तिरीयोपनिषद् पृ० ९७ श्लोक १ ब्रह्मानन्द वल्ली, प्रथम अनुवाक (उ० भा० खंड २)।

अर्थात् 'वह' सत्य का, ज्ञान और आनंद का स्रोत है, वह निरपेक्ष है, उसे किसी कारण की अपेक्षा नहीं है क्योंकि वह नित्य स्वरूप है।[1] ब्रह्म की निरपेक्षता का बहुमुखी विकास उपनिषद् साहित्य में फैला हुआ है। वह इन्द्रियों (प्राणों) से परे है, जगत् से परे है, परन्तु 'वह' इन सब का कारण है। उसी से सब प्रकाशित है—यह प्रकाश्य तत्त्व ही ब्रह्म है।

अतः ब्रह्म का निरपेक्षत्व हीगल, काट के निरपेक्ष तत्त्व (Absolute) के समान है और उस निरपेक्षता में सापेक्षता की भावना भी समाहित है। यही कारण है कि ब्रह्म के दो स्वरूपों का विस्तार किया गया है जो उसके प्रतीकार्थ का आवश्यक अंग है। आदि तत्त्व की 'पूर्णता' इसी सापेक्ष-निरपेक्ष की समान समन्वित अभिव्यक्ति मानी जाती है। बृहद् उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्म के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थित और यत् (चर) तथा सत् और त्यत्।[2] यहाँ पर हमें स्पष्ट रूप से अवतार की भावना 'मूर्त्त' तत्त्व में प्राप्त होती है जिसका विकास भक्ति काल में सम्पन्न हुआ। अमूर्त्त का विकास सन्तों ने अपनी बानियों में किया। इसका पूर्ण विवेचन हम यथास्थान करेंगे।

ब्रह्म के प्रतीकार्थ में इस निरपेक्ष तत्त्व की भावना के साथ दूसरा प्रमुख तत्त्व उसका सृष्टिपरक क्षर रूप है जो अक्षर ब्रह्म का एक रूपातर मात्र माना गया है। उपनिषद् साहित्य अथवा पुराणों में 'ब्रह्म' के इस सृष्टिपरक रूप का चतुर्मुखी विकास दृष्टिगत होता है। प्रजापति अथवा 'ब्रह्मा' के द्वारा जो सृष्टिक्रम दिखाया गया है, वह सत्य रूप में अक्षर ब्रह्म का क्षर में विस्तार ही माना जा सकता है। कहीं पर वह सोलह कलाओं वाला पुरुष है जिसने प्राण, श्रद्धा, अकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन और अन्नादि को उत्पन्न किया।[3]

उपनिषदों में सृष्टिक्रम का प्रथम चरण यह माना गया है कि परब्रह्म ने तप के द्वारा अपने को कुछ उपचय अथवा स्थूलता में परिवर्तित किया। उसी से अन्न उत्पन्न हुआ और फिर अन्न से क्रमशः प्राण, मन, लोक-कर्म और कर्म से अमृत-संज्ञक कर्मफल उत्पन्न हुआ।[4] अक्षर पुरुष से सप्त प्राणों की भी उत्पत्ति मानी गई है जिससे सप्तक की विस्तृत कल्पना का विकास हुआ जिसका

१—उप भाष्य खड २, पृ० १११।

२—बृहद् उप० पृ० ५१३, तृतीय ब्राह्मण, श्लोक १ (उप० भाष्य)।

३—प्रश्नोपनिषद् पृ० ११७ षष्ठ प्रश्न श्लोक ४ (उप० भा० खंड १)।

४—मुण्डकोपनिषद् पृ० २६-२८, प्रथम मुण्डक प्रथम खंड (उप० भा० खंड १)।

मैं प्रथम ही विवेचन कर चुका हूँ। ब्रह्म का यह सृष्टिपरक रूप मिथुन तत्त्व पर ही आश्रित है जिसका कार्य ब्रह्मा, प्रजापति अथवा नारायण करते हुए प्रतीत होते हैं। ये सभी देवता ब्रह्म से ही उद्भूत हैं। बृहद् उपनिषद् के ब्रह्म को सत्य की संज्ञा दी गयी है और वह सत्य, सृष्टिपरक तथ्य पर ही आश्रित है।[1]

इन निरपेक्ष एवं सृष्टिपरक तत्त्वों के अतिरिक्त तीसरा प्रमुख तत्त्व जो ब्रह्म की धारणा में व्याप्त है, वह उसका आत्मपरक रूप है जो मानवीय चेतना से सम्बन्धित है। भारतीय दार्शनिक विचारधारा का मूल रहस्य ब्रह्म का आत्मपरक सामंजस्य-रूप है जिस पर 'अद्वैतवाद' की सृष्टि हुई है, जो काव्य में 'रहस्यवाद' की संज्ञा से विभूषित है। इसका पूर्ण विवेचन हम धार्मिक प्रतीकवादी दर्शन के अन्तर्गत करेंगे।

भारतीय अध्यात्मवाद में ब्रह्म का निरपेक्ष स्थान होते हुए भी उसमें सापेक्ष गुणों का भी समुचित समन्वय किया है। कोई भी आदि तत्त्व—चाहे वह ईश्वर हो, क्राइस्ट हो, निरपेक्ष हो, अल्लाह हो, अब्राह्म हो—उसका सही महत्त्व उसी समय दृष्टिगत हो सकता है जब वह मानवीय मन एवं प्राण के दायरे में आ सके। विकास की दृष्टि से कहा जा सकता है कि मानवीय चेतना का ऊर्ध्वगामी आरोहण अतिचेतना के स्तर को उसी समय स्पर्श करता है, जब वह दिव्य ज्योति रूप 'ब्रह्म' की अनुभूति प्राप्त करता है। यह दिव्य आरोहण मन का कार्य नहीं है, पर आत्मा का परम कार्य है। इस प्रसंग का पूर्ण विवेचन मनोवैज्ञानिक प्रतीकवादी दर्शन के अन्तर्गत किया जायगा।

ओ३म्, यक्ष, खं, पुरुष तथा वृक्ष (ब्रह्मद्योतक प्रतीक)

ब्रह्म की सर्वव्यापकता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ऋषियों ने अनेक शब्द-प्रतीकों के द्वारा की है। ओ३म्, खं आदि शब्द उसी 'परब्रह्म' के वाचक शब्द हैं जो अपने में स्वयं प्रतीक रूप है।

पहले ही संकेत किया गया है कि ब्रह्म के दो रूप हैं—क्षर और अक्षर, सत् और त्यत् एवं अमृत और मर्त्य। ॐ अक्षर में इसी अपर और 'पर' ब्रह्म का समन्वय है। यही कारण है कि ब्रह्म के 'पर' रूप (क्षर रूप) के अनेक प्रतीकगत अवतारों का भक्त कवियों ने ज्ञान प्राप्त किया था। श्री लोकमान्य गंगाधर तिलक का इसी से यह मत है कि उपासक का अंतिम ध्येय ज्ञान

१—बृहद् उपनिषद् पृ० ११६४, पंचम ब्राह्मण, श्लोक १ (उप० भा० खंड ४) में सत्य तत्त्व का पूर्ण विश्लेषण प्राप्त होता है।

प्राप्त करना है। यही कारण है कि परमेश्वर के किसी विशिष्ट अवतार का महत्त्व, उपासक के लिए, एक प्रतीक का कार्य करता है जिसके द्वारा वह 'परमतत्त्व' का ज्ञान प्राप्त करता है।[१]

ॐ, ओंकार, प्रणव, उद्गीथ—ये अक्षर नाम रूप ही हैं। ये वाचक शब्द वाच्य रूप में ब्रह्म के नाम ही हैं जो प्रतीकात्मक अर्थ से समाहित हैं। यही कारण है कि प्रतीक रूप नाम का महत्त्व नामी के समान ही माना गया है और हमारे भक्त कवियों ने नाम को नामी से भी अधिक महत्त्व दिया है जिसके स्वरूप पर हम यथास्थान विचार करेंगे। शंकराचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् के सम्बन्ध भाष्य के अन्तर्गत नाम की महत्ता पर प्रकाश डाला है—

वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्, तदस्येदं वाचा तन्त्या-
नामभिर्दामभिः सर्वं सितं, सर्वं हीदं नामनि इत्यादिश्रुतिभ्यः।[२]

अर्थात् जैसा कि विकार केवल वाणी का विलास और नाम मात्र है, उस ब्रह्म का यह सम्पूर्ण जगत् वाणी रूप सूत्र द्वारा नाममयी डोरी से व्याप्त है। यह सब नाममय ही है, इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है। इस नाम तत्त्व में वाणी से उद्भूत शब्द-ध्वनि का रूप प्राप्त होता है। इनके उच्चारण में शब्द का ध्वनिविषयक प्रतीकार्थ है। समस्त सृष्टि में ध्वनि की व्याप्ति है जो आधुनिक वैज्ञानिक मान्यता के अनुसार भी सत्य है। वाणी के विकास में शब्द का उच्चारण, ध्वनि का प्रतीकात्मक रूप ही है।[३] ॐ की धारणा में ध्वनि का प्रतीकार्थ भी समाहित है जो नाम तत्त्व की अभिव्यक्ति में तिलतन्दुल की भाँति मिला हुआ है। यही कारण है कि उपनिषदों में ओंकारोपासना का अत्यधिक महत्त्व है और इसी से मिथुन रूप ॐ की कल्पना की गयी है। इस अक्षर में वाक् और प्राण का मिथुन रूप वर्तमान है। ओंकार का उच्चारण वाक् शक्ति से सम्पन्न होता है और प्राण से ही निष्पन्न होने वाला है, और यही उसका मिथुन से संयुक्त होना है। इसी ओंकार की उपासना देवों ने असुरों के पराभव के लिए की थी और इस उद्गीथोपासना के फलस्वरूप असुर रूप पापों का उसी प्रकार नाश हो गया जैसे दुर्भेद्य पाषाणों के पास पहुँच कर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है। यहाँ पर देवासुर संघर्ष का भी संकेत

१—गीतारहस्य द्वारा तिलक, पृ० ५७७-८०।

२—उपनिषद् भाष्य, पृ० २४ माण्डूक्योपनिषद् शांकरभाष्य।

३—इस विषय का पूर्ण विवेचन दे० भाषागत प्रतीकवादी दर्शन में।

प्राप्त होता है जो प्राणों (इन्द्रियों) में व्याप्त पुण्य और पाप, सद् और असद् के रूप में देवों और असुरों का चिरन्तन युद्ध है।[1]

ओंकार की धारणा में उसके तीन वर्णों अ, उ, और म का प्रतीकार्थ समाविष्ट है जो अक्षर रूप में 'आत्मा' से सम्बन्धित हैं। आत्मा के चार पाद वैश्वानर, तेजस, प्राज्ञ और तुरीय अवस्थाएँ मानी गयी हैं जिनका विवेचन हम यथास्थान करेंगे (आध्यात्मिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत)। यहाँ पर इतना ही संकेत करना पर्याप्त होगा कि आत्मा के तीन पादों की समानता ओंकार की मात्राओं से की गयी है और वे मात्राएँ हैं अकार, उकार और मकार। इन मात्राओं का तात्विक अर्थ ॐ के उस विस्तृत प्रतीकार्थ की ओर संकेत करता है जिसका स्थान विश्व, तैजस और प्राज्ञ की सापेक्षता में उपासना की उस भावभूमि को प्रस्तुत करता है जो मानवीय अनुभूति एवं अंतर्दृष्टि का अत्यन्त मोहक परिचायक है। अतः पाद और मात्रा का अन्योन्य संबंध है और वे मात्राओं को विषय करके स्थित हैं।

अकार का महत्त्व वाणी और भाषा की दृष्टि से अभिन्न है, क्योंकि सम्पूर्ण वाणी में अकार का एक निश्चित स्थान है। जिस प्रकार अकार में सारी वाणी व्याप्त है, उसी प्रकार वैश्वानर (अग्नि) समस्त विश्व में व्याप्त है। अतः सर्वव्यापकता के अर्थ में अकार और वैश्वानर की समानता है। अतः अकार निश्चित रूप से विश्व में व्याप्त वह तत्त्व है (ब्रह्म) जो सृजनात्मक एवं विकासात्मक है। माण्डूक्योपनिषद् में अकार के प्रति कहा गया है—

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद।[2]

अर्थात् जिसका जागरित स्थान है, वह वैश्वानर व्याप्ति और आदिमत्त्व के कारण ओंकार की पहली मात्रा है। जो उपासक इस प्रकार जानता है, वह सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है और (महापुरुषों में) आदि (प्रधान) होता है।

इसी प्रकार स्वप्नावस्था वाला तैजस ओंकार की दूसरी मात्रा, उकार का पर्याय है। उकार अथवा तैजस की समानता का कारण यह है कि दोनों का धर्म उत्कर्ष है। जिस प्रकार अकार से उकार उत्कृष्ट सा है, उसी प्रकार विश्व से तैजस

१—दे० छांदोग्योपनिषद्, पृ० ४६-६०, द्वितीय खंड, प्रथम अध्याय (उप० भा० खं० ३)।
२—दे० माण्डूक्योपनिषद् पृ० ६६, आगम प्रकरण श्लोक ६ (उप० भा० खंड २)।

उत्कृष्ट है। जिस प्रकार उकार अकार और मकार के मध्य में स्थित है, उसी प्रकार विश्व और प्राज्ञ के मध्य में तैजस है।[1] अतः मध्य में होने के कारण उकार का धर्म समरसता एवं संतुलन को स्थगित रखना है जिसके द्वारा सृष्टि स्थित रहती है। यह विष्णु का स्वरूप है। अंत में मकार और सुषुप्तिवाला जो प्राज्ञ तत्त्व है, उनमें भी आपस में समानता है। यह समानता 'मित्ति' के कारण है जिसकी व्याख्या महाप्रभु शंकराचार्य ने इस प्रकार की है— 'मित्ति' मान को कहते हैं। जिस प्रकार प्रस्थ (एक प्रकार का बाट) से जौ तौले जाते हैं उसी प्रकार प्रलय और तैजस मापे जाते हैं क्योंकि ओंकार की समाप्ति पर उसका पुनः प्रयोग किये जाने पर मानों अकार और उकार मकार में प्रवेश करके उससे पुनः निकलते हैं।[2] इस विवेचन से सृष्टि की उत्पत्ति एवं स्थिति का अंतिम पर्यवसान मकार तत्त्व में हो जाता है। पुनः जब सृष्टि का प्रकाशन अथवा सृजन होता है तब मकार से दोनों सृष्टि तत्त्व बहिर्गामी होते हैं। शिव की दो शक्तियों, संहार एवं लय, का यहाँ स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है जो उसके रुद्र एवं महेश रूप के प्रतीक हैं। इसी का प्रतीकात्मक निर्देश माण्डूक्योपनिषद् में इस प्रकार किया गया है—

> सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा
> मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद।[3]

अर्थात् 'सुषुप्त जिसका स्थान है वह प्राज्ञ, मान और लय के कारण ओंकार की तीसरी मात्रा है। जो उपासक ऐसा जानता है वह इस सम्पूर्ण जगत् का मान-माण कर लेता है और उसका लयस्थान हो जाता है।'

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म का यह अक्षर 'प्रतीक' मात्रा के द्वारा ज्ञेय तत्त्व है, पर अमात्रारूप परब्रह्म में किसी की गति नहीं है। उस परमगति की प्राप्ति भारतीय मनीषा ने तुरीय आत्मा के अंतर्गत मानी है जो आत्मसंज्ञक ब्रह्म का ही स्थान है। मात्रा रहित ओंकार तुरीय आत्मा ही है।[4] इस प्रकार जो भी ओंकार के इस महत् प्रतीकात्मक अर्थ का चिंतन करता है वह 'आत्मा' रूप ब्रह्म में ही एकाकार हो जाता है। यही मोक्ष की

१—माण्डूक्योपनिषद्, पृ० ७०-७१ प्रक० वही श्लोक १० (उप० भा० खंड २)।
२—शांकर भाष्य, माण्डूक्योपनिषद्, पृ० ७२, आगम प्रकरण (उप० भा० खण्ड २)।
३—माण्डूक्योपनिषद् पृ० ७२, श्लोक ११, आगम प्रकरण (उप० भा० खंड २)।
४— वही पृ० ७६ श्लोक १२ (उप० भा० खंड २)।

स्थिति है जो आध्यात्मिक मनोविज्ञान का उच्चतम लक्ष्य है। इसे ही हम श्री अरबिंद की अति चेतन दशा कहते हैं।

ओ३म् के अतिरिक्त भारतीय विचारधारा में अन्य प्रतीकों की भी कल्पना की गई है। खं रूप ब्रह्म 'आकाश' का पर्याय है। यही आकाश ब्रह्म, ॐकार है। ब्रह्म विशेष्य नाम है और खम् उसका विशेषण। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आकाश जड़ रूप नहीं है पर वह सनातन परमात्मा का प्रतीक है। बृहद् उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है—

ॐ खं ब्रह्म। खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माह कौरव्यायणीपुत्र वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यं।[1]

अर्थात् 'आकाश ब्रह्म ओंकार है। आकाश सनातन है। जिसमें वायु रहता है वह आकाश ही खं है—ऐसा कौरव्यायणीपुत्र ने कहा। यह ओंकार वेद है—ऐसा ब्राह्मण जानते है, क्योंकि जो ज्ञातव्य है उसका इससे ज्ञान होता है।' ॐ ब्रह्म की प्राप्ति का परम-साधन है। यह साधन दो प्रकार के माने गये हैं—प्रतीक रूप से और नाम रूप से। जैसा कि प्रथम संकेत किया गया है कि ब्रह्म के पर और अपर दो रूप माने गये है उसी प्रकार खं का एक रूप सनातन निरुपाधि ब्रह्म का प्रतीक है और दूसरा आकाश रूप वायु से युक्त सोपाधिक रूप है। यही बात ओंकार के बारे में सत्य है। फिर कहा गया कि ॐकार ही वेद है अर्थात् वेद ज्ञातव्य होने से ज्ञान है। अतः ओंकार वेदवाचक या नाम है।

अब तक तो ब्रह्म के अव्यक्त अथवा अदृश्य प्रतीकों का विवेचन हुआ है परंतु भारतीय धर्म में कुछ ऐसे भी प्रतीक प्राप्त होते है जो व्यक्त रूप हैं जैसे सोलह कलाओं वाला पुरुष, कार्य ब्रह्म का प्रतीक वृक्ष और यज्ञ। 'पुरुष' (देव रूप) ब्रह्म का वह प्रतीक है जो सर्वभूतों में व्याप्त अन्तरात्मा का द्योतक है। मुण्डकोपनिषद् में भी इसी देव पुरुष का वर्णन रूपकात्मक विधि से इस प्रकार किया गया है कि अग्नि में जिसका (द्युलोक) मस्तक है, चंद्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ कर्ण हैं, प्रसिद्ध वेद वाणी है, वायु प्राण है, सारा विश्व जिसका हृदय है और जिसके चरणों से पृथ्वी प्रकट हुई है, वह देव सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा है। इसे ही अक्षर पुरुष भी कहा गया है जिससे चराचर सृष्टि की उत्पत्ति हुई

१—बृहदारण्यकोपनिषद्, पृ० ११७५ श्लोक १, पंचम अध्याय, प्रथम ब्राह्मण (उप०-भा० खंड ४)।

है।[1] इस पुरुष को सोलह कलाओं वाला भी कहा गया है जिससे सृष्टिक्रम का आरंभ माना गया है। ये सोलह कलाएँ स्वयं पुरुष के अंदर प्राणादि के रूप में वर्तमान हैं जिसकी इच्छा से ही सृष्टि का उत्क्रमण होता है। वे सोलह कलाएँ प्रथम ही वर्णित हो चुकी हैं।[2]

ब्रह्म के कार्य-रूप तत्त्व का प्रतीक जो संसार में व्याप्त है, उसे अश्वत्थ वृक्ष भी माना गया है। जिस प्रकार कार्य (तूल) का निश्चय कर लेने पर उसके मूल का पता लग जाता है, उसी प्रकार संसार रूप कार्यवृक्ष के निश्चय से उसके मूल ब्रह्म का स्वरूप निर्धारित हो जाता है। अतः ज्ञेय और ज्ञाता का अन्योन्य संबंध है। इस अश्वत्थ वृक्ष को सनातन भी कहा गया है जिसका मूल ऊपर की ओर और शाखाएँ नीचे की ओर हैं। वही विशुद्ध ज्योतिः स्वरूप है, वही ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है। सम्पूर्ण लोक उसी में आश्रित है, कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। यही निश्चय वह (ब्रह्म) है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताःसर्वे तदु नात्येति कश्चन।
एतद्वै तत्॥[3]

इसमें सृष्टि तत्त्व का भी समाहार प्राप्त होता है क्योंकि वृक्ष के द्वारा और उसकी अनेक शाखाओं प्रशाखाओं के द्वारा, सृष्टि का प्रसार ही निर्देशित है। इस दृश्यमान प्रसार का अस्तित्व उसके मूल ज्योतिस्वरूप अमृत ब्रह्म पर ही आश्रित है। अतः कार्य ब्रह्म और इस वृक्ष (प्रतीक) में समानता है। इस वृक्ष का महत्त्व साहित्य की दृष्टि से भी है, क्योंकि इस प्रतीक का प्रयोग संतों अथवा भक्त कवियों ने भी किया है। इस पर यथास्थान विचार होगा।

केनोपनिषद् की एक आख्यायिका में ब्रह्म को यक्ष (श्रेष्ठ) की संज्ञा दी गयी है। देवासुर संग्राम में ब्रह्म ने देवताओं के लिए विजय प्राप्त की और

१—मुण्डकोपनिषद्, पृ० ५७ श्लोक संख्या ४ व ५ द्वितीय मुण्डक, प्रथम खंड (उप० भा० खंड १)।

२—दे० प्रश्नोपनिषद्, पृ० ९७-११७ श्लोक २, ३ और ४ (उप० भा० खंड १)।

३—कठोपनिषद्, पृ० १४६ श्लोक १ तृतीय वल्ली (उप० भा० खंड १)।

अहंकारवश देवतागण यह समझने लगे कि विजय उन्हीं ने स्वयं प्राप्त की है। तब ब्रह्म देवताओं के इस अभिप्राय को जान गया और उनके सामने 'यक्ष' रूप में प्रादुर्भूत हुआ। तब देवता 'यह यक्ष कौन है ?' ऐसा न जान सके। इसके पश्चात् क्रमशः अग्नि तथा वायु यक्ष के पास गये पर उसके सत्य रूप का वे साक्षात्कार न कर सके। अंत में, इद्र के जाने पर वह यक्ष अंतर्धान हो गया और इंद्र उसी आकाश में (जिससे कि यक्ष अंतर्धान हुआ था) एक अत्यन्त शोभामयी स्त्री 'उमा' (पार्वतीरूपिणी ब्रह्मविद्या) के पास गया जिससे उसे यह पता चला कि यह यक्ष कोई अन्य नही, स्वयं सर्वशक्तिमान 'ब्रह्म' है।[1] इस कथा का प्रतीकार्थ यही है कि प्रकृति शक्तियों में अग्नि, वायु और इंद्र ही प्रमुख हैं (अर्थात् प्रमुख देवगण हैं) और उनकी यह प्रमुखता इस कारण से है कि उन्होंने सबसे प्रथम 'ब्रह्म' का साक्षात्कार 'ज्ञान' (उमा) के द्वारा किया। इससे यह भी ध्वनित होता है कि ब्रह्म का स्वरूप ज्ञानात्मक है और वह 'ज्ञान' के द्वारा ही ज्ञातव्य है। यही कारण है कि भारतीय धर्म में 'आत्मज्ञान' का इतना अधिक महत्त्व है कि उसे 'ब्रह्म' के समान भी घोषित किया गया है।

त्रिमूर्ति

त्रिमूर्ति की धारणा का विकास ॐ की तीन मात्राओं अकार, उकार तथा मकार का व्यक्त स्वरूप है जिसका संकेत पीछे हो चुका है। त्रिमूर्ति की अभिव्यक्ति में प्रकृति एवं विश्व की तीन प्रमुख शक्तियों का मानवीकरण ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के द्वारा हुआ है। सृष्टि-कार्य में इन तीनों शक्तियों का समान महत्त्व है, क्योंकि सृजन, स्थिति और प्रलय का समानान्तर चक्र एक सत्य है। प्रकृति क्रियाओं में संतुलन का रहस्य इन तीनों शक्तियों के समुचित कार्य कारण संबंध पर आश्रित है जिसका प्रतीकात्मक निर्देशन 'त्रिदेवों' की धारणा में ज्ञात होता है। यदि हम ग्रीक धर्म की ओर दृष्टिपात करें, तो हमें ब्रह्मा का पर्याय ज्यूपीटर में, विष्णु का नेपच्यून में और शिव का प्लूटो में प्राप्त होता है। जिस प्रकार ब्रह्म का व्यापक नाम-प्रतीक ॐ है, उसी प्रकार त्रिमूर्त्ति ब्रह्म की तीन शक्तियों का एक संघटित रूप में मानवीकरण है। इस त्रिमूर्त्ति की धारणा का विकास प्रत्येक धर्म में प्राप्त होता है क्योंकि आदि तत्त्व के तीन कार्यों का मानवीकरण—सृजन, स्थिति तथा संहार—का स्वरूप प्रत्येक धर्म में

१—केनोपनिषद्, पृ० १०७-१२२, तृतीय खंड (उप० भा०)।

मान्य है। ग्रीक धर्म में ऐसा ही प्राप्त होता है जिसका मै ऊपर संकेत कर चुका हूँ। भारतीय धर्म में त्रिमूर्ति के प्रत्येक देवता का एक अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है और धर्म सम्प्रदायों में उनमें से विष्णु तथा शिव से संबंधित अनेक उपासना-काण्डों का प्रादुर्भाव भी हुआ जिसके फलस्वरूप अनेक तात्त्विक प्रतीकों का विकास भी सम्भव हो सका।

सृजन, स्थिति तथा संहार का एक देव की भावना में प्रतीकात्मक निर्देश आदि तत्त्व की सर्वव्यापकता का सुंदर स्वरूप है। ड्यूबस ने उन तीन देवो का संबंध क्रमशः पृथ्वी, जल और अग्नि से भी जोड़ा है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं: 'प्रकृति के तीन तत्त्व—पृथ्वी (ब्रह्मा, ज्यूपीटर रूप), जल (विष्णु-नेपच्यून) और अग्नि (शिव-प्लूटो) जो आदि-मानव की आश्चर्यभावना एवं अंधविश्वास के माध्यम थे, उनका तार्किक एवं उन्नायक रूप त्रिमूर्ति की धारणा में साकार हो उठा है।'[1] इस निष्कर्ष में सत्य का अंश कम ही है। यह ठीक है कि आदिमानव के लिए पृथ्वी, जल और अग्नि आश्चर्य भावना के विषय थे, परन्तु यह कहना कि त्रिमूर्ति की भावना में केवल मात्र पृथ्वी, जल और अग्नि का ही मानवीकरण हुआ है, धार्मिक चेतना के प्रति अन्याय होगा। पृथ्वी की भावना का ब्रह्मा में तो समाहार ही नहीं प्राप्त होता है और जहाँ तक विष्णु की भावना मे जल का संबंध है, उसका भी स्पष्ट रूप नहीं प्राप्त होता है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जल के द्वारा जीवन का पालन होता है जो धूमिल रूप में विष्णु की भावना में प्राप्त होता है। परन्तु विष्णु की धारणा का विकास इससे कहीं अधिक तात्त्विक संदर्भों का पुंजीभूत रूप है जिसका पूर्ण निर्देशन लीला तथा अवतार की भावनाओं में, विष्णु के सूर्य रूप में और इसके चार पदों में समाहित है। इन सब तत्त्वों का समाहार विष्णु की प्रतीकात्मक धारणा को एक अत्यन्त उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित करता है। अब रही शिव के अग्नि रूप की बात। शिव का यह अग्नि रूप केवल उसके एक कार्य-संहार की अभिव्यक्ति है जैसा कि ड्यूबस ने ग्रहण किया है। शिव की तात्त्विक भावना में अग्नि की विध्वंसात्मक शक्ति उसका केवल तृतीय नेत्र है और वह अग्नि जो पृथ्वी तथा द्युलोक में व्याप्त है, वह उसके शेष दो नेत्र है। जैसा कि मैं ॐ की मात्राओं के अन्तर्गत विवेचन कर चुका हूँ, शिव की भावना में प्रलय के साथ-साथ लय अथवा सृष्टि की भावना का भी समाहार है जो उसके अन्य प्रतीकों—रुद्र, महेशादि की ओर संकेत करते हैं। शिव में ही

१—हिंदू कस्टम्स, मैनर्स एन्ड सेरीमनीज द्वारा ड्यूबस, पृ० ५४७।

सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का पर्यवसान होता है और फिर उसी से सृष्टि होती है—यह क्रम निरन्तर एक चक्र में चला करता है। शिव की 'समाधि' इस लय-स्थिति का प्रतीक है और तांडव नृत्य सृष्टि का प्रतीक है। शिव का प्रतीकार्थ इन तत्त्वों के कारण 'स्थितप्रज्ञ' की संज्ञा में आता है। गीता में भी कहा गया है कि जब 'जीवात्मा' सब मानसिक इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर लेती है और आत्मा के द्वारा आत्मा में स्थित हो जाती है, तब वह स्थितप्रज्ञ हो जाती है—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥[1]

उपर्युक्त शिव की धारणा में समाधि की इसी स्थितप्रज्ञ दशा का रूप मिलता है। अतः शिव की धारणा में इन सभी तत्त्वों का समाहार प्राप्त होता है, उसे केवल आदि-मानवीय 'अग्नि' के प्रति अंधविश्वास का उन्नायक रूप नहीं कहा जा सकता है।

धार्मिक प्रतीकों का काव्य रूप

हिन्दी काव्य में ही नहीं, वरन् संसार के सभी काव्यों में धार्मिक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। उपर्युक्त धार्मिक प्रतीकों के विश्लेषण के संदर्भ में उनके काव्यात्मक प्रयोगों की ओर भी यदा कदा संकेत किया गया है। आरोपण और मानवीकरण से लेकर अंतर्दृष्टिपरक प्रतीकों का प्रयोग साहित्य में प्राप्त होता है। प्रश्न यह है कि काव्य में उनका स्वरूप क्या नितांत वही रहता है जो धर्मग्रन्थों में प्राप्त होता है? काव्य के विशाल प्रांगण में तत्त्व और रूप (Content and Form) का समान आग्रह होना परमावश्यक है।[2] कलाओं के क्षेत्र में रूपात्मक अभिव्यंजना का आग्रह अधिक होता है। परन्तु उनमें भी तत्त्व का समावेश प्राप्त होता है जिसके आधार पर कलाकृति का मूल्य एवं अर्थ अपेक्षित रहता है। धार्मिक देवी-देवताओं के वाह्य आकारों या रूपों का उचित अर्थ उनके तत्त्व पर ही आश्रित है। यहाँ तक कि उनके हास्यास्पद रूपों का भी एक अपना अर्थ है जो उनके किसी धर्म व गुण (कार्य) की अभिव्यक्ति है। काव्य के क्षेत्र में रूपात्मक अभि-व्यंजना का उसी सीमा तक महत्त्व है जिस सीमा तक वह किसी तत्त्व का निर्देश करती है। धार्मिक प्रतीकों का महत्त्व, काव्य की दृष्टि से,

१—श्रीमद्भगवत् गीता, पृ० ७४ श्लोक ५५ सांख्ययोग।

२—इस विषय का पूरा विवेचन द्वितीय अध्याय के काव्यात्मक प्रतीकवादी दर्शन के अन्तर्गत किया जायगा।

रूपगत अभिव्यंजना के साथ-साथ 'तत्त्व' की निहिति पर कहीं अधिक आश्रित है। काव्य में आकर धार्मिक प्रतीक कवि की 'अनुभूति' से अतिरंजित हो जाते हैं और इस प्रकार वे प्रतीक अनुभूति का, कल्पना का और लोकभावना का कविजनित मधुर संस्पर्श पाकर एक नवीन भावभूमि का दिग्दर्शन कराते है। मेरे विचार से कवि का सबसे बड़ा कार्य यही माना जा सकता है कि वह अपनी मधुर कल्पना और अनुभूति के द्वारा धार्मिक प्रतीकों को जन-जीवन के धरातल पर लाकर, उन्हें मानवीय चेतना एवं ज्ञान का माध्यम बना सकता है। उस प्रतीक का स्वरूप माधुर्यपूर्ण हो उठता है, उसमें अधिक गहरा उन्माद तरंगित हो जाता है और कवि की रसानुभूति से 'वह' रसमय हो जाता है। उदाहरणस्वरूप हम प्रोमीथियस, कृष्ण, राम अथवा राधा को ले सकते है जिनका काव्यात्मक रूप धार्मिक रूपों से मेल खाता हुआ भी नवीन तथ्यों से समन्वित प्राप्त होता है। कवियों ने अपनी कल्पना का रंग उन पर चढ़ाकर नवीन आदर्शों का भी माध्यम बनाया है। शेली का प्रोमीथियस, तुलसी के राम, सूर तथा हरिऔध के कृष्ण और राधा—इन सब में धार्मिक अर्थों के साथ-साथ जीवन से प्राप्त तत्त्वों का, कवि की अपनी विशिष्ट मान्यता का और सम्पूर्ण मानव-चेतना के वाहक आदर्शों का समावेश प्राप्त होता है।

धार्मिक प्रतीकों के काव्य रूप मे एक तत्त्व समान रूप से प्राप्त होता है, वह है 'दिव्यता की भावना'। अरबन ने इस 'दिव्यता' की भावना को धार्मिक प्रतीकों का यथार्थवाद (Realism) कहा है।[1] मेरे विचार से काव्य में जो भी प्रतीक (धार्मिक) प्रयुक्त होते है उनका स्वरूप, आदर्श एवं यथार्थ का मिश्रित रूप होता है। जहाँ तक दिव्य भावना का प्रश्न है वह किसी तत्त्व का, भाव का, अथवा धारणा का आदर्शीकरण ही है। इस आदर्शीकरण के ऊर्ध्वगामी रूप को ही 'दिव्यता' की संज्ञा दी जा सकती है। अतः दिव्य-भावना की पृष्ठभूमि में आदर्श ही अधिक है जो यथार्थ की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतीक की धारणा को स्थिर करता है। भारतीय धार्मिक प्रतीकों के उपर्युक्त विश्लेषण से यही तथ्य ध्वनित होता है और काव्य में उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण भी उसी मापदण्ड के द्वारा किया जा सकता है।

१—लैंग्वेज एंड रियाल्टी द्वारा अरबन, पृ० ५७७

द्वितीय अध्याय

प्रतीकवादी दर्शन के क्षेत्र और प्रकार

प्रवेश

प्रतीकों के उद्‌गम एवं विकास के विवेचन के बाद यह आवश्यक है कि हम विभिन्न प्रतीकवादी दर्शनों की ओर दृष्टिपात करें और उनके काव्यात्मक स्वरूपों का भी विवेचन करें। प्रस्तुत विवेचन के लिए आवश्यक है कि हम मानव ज्ञान के विस्तृत क्षेत्र को कुछ विभागों में विभक्त कर ले, और फिर उनके प्रतीकात्मक दर्शन पर अलग-अलग विचार करें। इस दृष्टि से, मानव-ज्ञान के निम्नलिखित विभाग किये जा सकते हैं और इसी के आधार पर उनके विभिन्न प्रतीकवादी दर्शनों का विवेचन किया जा सकता है :

क—धार्मिक प्रतीकवादी दर्शन
ख—काव्यात्मक प्रतीकवादी दर्शन
ग—मनोवैज्ञानिक प्रतीकवादी दर्शन
घ—भाषागत प्रतीकवादी दर्शन (लिपि सहित)
ङ—वैज्ञानिक प्रतीकवादी दर्शन
च—तात्त्विक प्रतीकवादी दर्शन

मोटे तौर पर ये ही ज्ञान के विभिन्न क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों के अनेक उपक्षेत्र भी हैं जिनका समाहार उस विशिष्ट क्षेत्र के अन्दर ही माना जायगा। उदाहरणस्वरूप विज्ञान के अन्दर भौतिक विज्ञान, गणित, कलन (Calculus), जीव-विज्ञान और रसायन आदि हैं। यही बात अन्य ज्ञान-क्षेत्रों के बारे में भी सत्य है।

(क) धार्मिक प्रतीकवादी दर्शन

धारणा और प्रतीक

प्रथम अध्याय के अंतिम अंश में जिन धार्मिक प्रतीकों का तात्त्विक स्वरूप स्पष्ट हुआ है, उससे यह ध्वनित होता है कि इन प्रतीकों के द्वारा धर्म के

उस स्वरूप का प्रासाद निर्मित होता है जिस पर दार्शनिक चिंतन का स्पष्ट आग्रह है। यही कारण है कि भारतीय विचारधारा में धर्म और दर्शन का संबंध अन्योन्यपूरक रूप में रहा है। धर्म ही नहीं, पर मानव ज्ञान के जितने भी क्षेत्र हैं, उनका उच्चतम रूप उसी समय प्राप्त होता है जब उनमें दार्शनिक धारणाओं एवं विचारों का प्रणयन होता है। इसी से यह माना जाता है कि समस्त ज्ञानों का पर्यवसान दर्शन की मधुरिम छाया में होता है। प्रत्येक मानव क्रिया का ध्येय इसी धारणात्मक ज्ञान के गंतव्य तक पहुँचना होता है। धार्मिक दर्शन भी अपने प्रतीकों के द्वारा ज्ञान के इसी स्वरूप को मुखर करता है।

धार्मिक प्रतीकवादी दर्शन का मूल तत्त्व, इसी से, धारणाओं का एक ऐसा रूप प्रस्तुत करना होता है जिससे मानवीय चेतना का ऊर्ध्वगामी आरोहण हो सके। धार्मिक प्रतीकों का महत्त्व आत्मसंज्ञक 'ब्रह्म' या निरपेक्ष तत्त्व के साक्षात्कार में निहित है। यही कारण है कि बृहद्-उपनिषद् में धर्म को समस्त भूतों का मधु कहा गया है और उसमें व्याप्त तात्विक पुरुष को 'आत्मा' की समकक्षता में रखा गया है—

'अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्।[1]

धार्मिक काव्य में प्रयुक्त प्रतीक एक प्रकार से परम-भावना के परिचायक होते हैं जिसे 'धार्मिक यथार्थवाद' की संज्ञा दी जा सकती है। देवताओं एवं परम वस्तुओं के अधिकाश नाम किसी ऊर्ध्वगामी तथ्य की ओर ही संकेत करते हैं जिनके द्वारा केवलमात्र भावना का ही उद्रेक होता है।[2] इस कथन में केवल सत्यांश ही है। यदि धार्मिक प्रतीक-दर्शन का विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होता है कि उनका क्षेत्र केवल भावोद्रेक करना ही नहीं है, पर इससे परे वे किसी विशिष्ट मानवीय मूल्य के प्रतिरूप भी होते हैं। ब्रह्मा, ज्यूपीटर, त्रिमूर्ति, जीहोवा, आदि अनेक प्रतीक किसी न किसी दार्शनिक तथ्य के ही 'प्रतीक' हैं। ईश्वर की धारणा हमारे समस्त मानसिक विकास, हमारे आदर्शों अथवा मूल्यों का एक संघटित रूप है। इस दृष्टि से,

---

१—बृहदारण्यकोपनिषद्, पृ० ५६० श्लोक ११ द्वितीय अध्याय, पंचम ब्राह्मण (उप० भा० खण्ड ४)।

२—लैंग्वेज एंड रियाल्टी द्वारा अरबन, पृ० ५७७।

पुराणशास्त्र और धर्मशास्त्र (Theology) जो धार्मिक-दर्शन के अविच्छिन्न अंग है, उनका महत्व मानव-मूल्य-सापेक्ष ही है। सृष्टि-पुराण (Cosmological myths) एक अन्य तथ्य को हमारे सामने रखता है । वह यह कि भौतिक और अभौतिक विश्व का निर्माण एक प्रकार से प्रतीक निर्माण की सचेतन क्रिया पर आधारित है ।[१] विज्ञान के बारे में भी यही कहा जा सकता है कि उसका क्षेत्र केवल भौतिक विश्व के प्रतीक सृजन का ही क्षेत्र नहीं है, पर उसके अनेक प्रतीक भौतिक विश्व से परे अदृश्य सत्य की ओर भी संकेत करते हैं। यही बात धार्मिक अथवा किसी भी ज्ञान के क्षेत्र के बारे में पूर्ण रूप से 'सत्य' है। इस दृष्टि से समस्त मानवीय ज्ञान की परिणति 'दर्शन' के विशाल 'महाज्ञान' में हो जाती है ।

सत्य और प्रतीक

ज्ञान की आधारशिला पर ही 'सत्य' का प्रासाद निर्मित होता है। ज्ञान का यह विस्तार विचारवाहक प्रतीकों के द्वारा ही होता है। इस दृष्टि से धार्मिक प्रतीकों का रहस्य भी ज्ञान को अनुभूतिमय रूप देना ही होता है। जब यह ज्ञान अनुभूति के संस्पर्श से ऊर्ध्वगामी होता है तब वह भौतिक क्षेत्र को छोड़ कर 'सत्य' की सापेक्षता की ओर अग्रसर होता है। धार्मिक-प्रतीकवादी दर्शन के इस तात्त्विक सत्य के प्रति अनेक विचारकों का मतभेद है। अनेकों ने धार्मिक प्रतीकवादी दर्शन को भौतिक क्षेत्र के अन्दर ही सीमित माना है। एक वर्ग उन लोगों का है जो धार्मिक प्रतीकों का महत्त्व केवल मात्र नैतिक मूल्यों (Value) तक ही सीमित मानते है। इसके समर्थक कांट, फीत्से आदि विचारक है। यदि नैतिकता के मानदण्डो का सृजन न हो तो, उनके अनुसार धार्मिक प्रतीकात्मक दर्शन का विकास ही सम्भव न हो सके ।[२] इस मत में 'सत्य' का केवल एक ही पक्ष है। धार्मिक दर्शन में नैतिक मूल्यों का एक प्रमुख स्थान है पर उनके प्रतीकों को केवल नैतिकता के दायरे में नही बाँधा जा सकता है। नैतिकता के अतिरिक्त धार्मिक प्रतीक-दर्शन में अन्य तत्वो का भी समाहार होता है। उनके द्वारा किसी धारणा का, आदर्श का, अव्यक्त रहस्य का और ऊर्ध्व अभियानों का दिग्दर्शन होता है। ईश्वर, आत्मा, अनंत अथवा निरपेक्ष (Absolute)

१—माइन्ड एन्ड नेचर द्वारा वेह्म, पृ० ३८।

२—लैंग्वेज एन्ड रियाल्टी द्वारा अरबन, पृ० ६०१।

की धारणाओं का पूर्ण हृदयंगम केवल मात्र नैतिक आदर्शों के द्वारा नहीं हो सकता है। इसी प्रकार दूसरा वर्ग उन विचारकों का है जो धार्मिक दर्शन को केवल मात्र भौतिक अनुभव तथा प्रयोग का विकसित रूप मानते हैं। इस मत के पोषक ली रो (Le Roe), विलियम जेम्स और बटरन्ड रसल आदि विद्वान हैं। इन विचारको ने ईसाई धर्म की अनेक रूढ़ियों एवं मान्यताओ का विश्लेषण करने के बाद इस निष्कर्ष को सामने रखा है कि धार्मिक प्रतीकों का सर्वप्रथम महत्त्व उनके अर्थ में समाहित है जो अनुभव और प्रयोगात्मक विधि के द्वारा विकसित हुए है। केवल मात्र अनुभव ही किसी प्रतीक की 'सत्यता' का मापदण्ड है।[१]

इस सिद्धान्त के पक्ष में कहा जा सकता है कि इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, क्योंकि ज्ञान का आरम्भ एवं विस्तार अनुभव पर ही आश्रित है। परन्तु उसका क्षेत्र, जैसा कि इन विचारकों ने बताया है केवल मात्र भौतिक ही है, और मै किसी सीमा के बाद इससे सहमत नहीं हूँ। जहाँ तक भौतिकता का प्रश्न है, उससे मेरा कोई मतभेद नहीं है। परन्तु अनुभव का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। वह केवल भौतिक प्राचीरो के अन्दर ही सीमित नहीं है। उसका क्षेत्र भौतिकता से परे तात्त्विक एवं अभौतिक क्षेत्र की ओर भी उन्मुख है। इस क्षेत्र में आकर अनुभव, भौतिकता की परिधि को छोड़कर, अनुभूति (Intuition) के क्षेत्र में प्रवेश करता है। इस दृष्टि से धार्मिक प्रतीक जहाँ अनुभव की परिधि को स्पर्श करते हैं, वहीं वे किसी न किसी अनुभूति के द्वारा दार्शनिक तत्त्व-चिंतन की पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत करते हैं।

अतएव धार्मिक प्रतीकवादी दर्शन का ध्येय अनुभूतिपरक अदृश्य 'सत्य' का साक्षात्कार कराना है। 'सत्य' की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति भौतिक क्षेत्र से ग्रहण तो की जाती है पर उस प्रतीक का दार्शनिक पक्ष 'तत्त्व चिंतन' अथवा अदृश्य क्षेत्र की व्यंजना करता है। इस दृश्यमान क्षेत्र से अदृश्यमान तात्त्विक क्षेत्र तक एक क्रमागत सम्बन्ध है जिसमें नैतिक, आध्यात्मिक एवं अनुभवपरक भौतिक जगत् का भी अटूट सम्बन्ध है। दृश्य का यहाँ पर तिरोभाव नहीं है, पर उसका उन्नायक स्वरूप ही प्राप्त होता है। 'सत्य' का स्वरूप विश्वास (Faith) की

१—इस विचारधारा को अंग्रेजी में Pragmatism की संज्ञा दी गई है जिसका भारतीय चार्वाक मत से भी सम्बन्ध ज्ञात होता है।

आधारशिला पर ही प्रतिष्ठित है। यह विश्वास, अन्तर्दृष्टि एवं अनुभूति का विषय हो, अंधविश्वास एवं अतार्किक मान्यताओं का रंगस्थल न हो। अतः प्रतीक विश्वास के द्वारा आत्मज्ञान को प्राप्त कराने में सहायक होते हैं।[1] इस आत्मज्ञान का विस्तार समस्त विश्व को अपने अन्दर समेटे हुए है और समस्त विश्व उसी ज्ञान से प्रकाशित हो रहा है। यही आत्मा का ब्रह्मसंज्ञक ज्ञान है जिसे गीता मे आत्मविद्या की संज्ञा दी गयी है—

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥[2]

अर्थात् हे "अर्जुन! 'मै' ही समस्त सृष्टि का (सर्ग) आदि, मध्य और अंत हूँ, समस्त विद्याओं में मैं आध्यात्मिक व आत्मविद्या हूँ, शब्दों के द्वारा जो सिद्धान्त बनाये जाते हैं, मैं वह सिद्धान्त हूँ जो 'सत्य' का प्रतिपादन करते हैं।" 'सत्य' का प्रतिपादन करना ही धर्म का ध्येय है और यह ध्येय केवल धर्म के लिए ही नहीं, पर ज्ञान के समस्त क्षेत्रों के लिए समान रूप से सत्य है। उपनिषदों की सारी निधि इसी ज्ञान और अज्ञान का विभाग करने में समाप्त हुई है और सम्पूर्ण शास्त्रों का भी यही अभिप्राय है। अतः सत्य का साक्षात्कार कराना ही ज्ञान का महत् ध्येय माना गया है इसी से 'सत्य ब्रह्म है' का महत्त्व सभी धर्मों में समान रूप से प्राप्त है।

साहित्यिक रूप

धार्मिक प्रतीकवादी दर्शन का मूल ध्येय यही 'सत्य' रूप ब्रह्म का साक्षात्कार कराना है। उपासक ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करने के हेतु ब्रह्म की व्यक्त विभूतियों (अवतारो आदि) का सहारा लेता है जिसपर वह अपनी समस्त मनोवृत्तियो को केन्द्रित कर सके। दार्शनिक शब्दावली में जिसे 'अद्वैत' कहते हैं, वही जब कवि की अनुभूति का स्पर्श प्राप्त करता है, तब वह अनेक प्रतीकों के द्वारा रहस्यवाद की सृष्टि करता है। रहस्यानुभूति भी 'सत्य' को हृदयंगम करने के लिए एक माध्यम है जिसमें भावना, कल्पना एवं प्रेम का अधिक योग रहता है। दूसरी ओर अद्वैत दर्शन में तार्किक बुद्धि के द्वारा उस 'सत्य' तक पहुँचने का प्रयत्न होता है। अतः कवि के रहस्यवाद में सत्य की अनुभूतिमय प्रतीकवादी अभिव्यंजना होती है और अद्वैत मे 'सत्य' की बौद्धिक विवेचना

१—दे० प्रथम अध्याय, उपखण्ड 'ख' व 'ग' में।
२—श्री मद्भगवद्गीता, विभूतियोग, पृ० ३६५ श्लोक ३२ (१६४८)।

होती है जिसको रसात्मक रूप में कवि व्यक्त करता है। प्रसंगवश रहस्यवाद के इस प्रतीकात्मक रूप पर यहाँ इतना कहना ही उपयुक्त होगा, क्योंकि अद्वैत दर्शन की पीठिका पर ही रहस्य-भावना की परिणति होती है। अतः इसका पूर्ण दार्शनिक विवेचन हम तात्त्विक प्रतीकवाद के अन्तर्गत करेंगे।

काव्य में रहस्यवाद का प्रणयन प्रतीकों के द्वारा ही होता है। भक्तिकाल के अन्तर्गत जिस रहस्यवादी प्रतीकवाद का विवेचन होगा, वह अधिकतर धार्मिक भावना का ही उन्नायक रूप कहा जा सकता है। उसका रहस्यवाद प्रणय भावना और भक्ति के संस्पर्श से सत्य की अनुभूतिमय अभिव्यंजना करता है। इस प्रकार के रहस्यवाद में 'भावना' का संयोग अधिक रहता है। इसी से मीरा, सूर आदि कवियों का रहस्यवाद 'भावात्मक' ही कहा जा सकता है जिसमें प्रतीक भावात्मक उद्रेक को तीव्र करने में सहायक होते हैं। जब भक्त प्रेमी अपने निजी सम्बन्ध को 'सत्य' की सापेक्षता में व्यक्त करने का प्रयत्न करता है तब वह प्रणय प्रतीकों का सहारा लेता है। कभी-कभी 'सत्य' से सम्बन्ध दिखाने की लालसा से 'वह' मानवेतर प्राणियों अथवा वस्तुओं के सम्बन्ध के द्वारा अपनी रहस्य-भावना का प्रतीकात्मक संकेत करता है। इसे हम प्राकृतिक रहस्य-भावना कह सकते हैं। इसी रहस्यवाद (प्राकृतिक) के अन्तर्गत उन प्राकृतिक व्यापारों अथवा घटनाओं का प्रतीकात्मक आयोजन होता है जिनके पीछे किसी अव्यक्त चेतन-शक्ति का स्पंदन अथवा आभास प्राप्त होता है। प्रतीकवाद की दृष्टि से तीसरे प्रकार का रहस्यवाद साधनात्मक माना जा सकता है जिसमे कवि ऐसे योगपरक साधना-प्रतीको का सहारा लेता है जो तांत्रिक एवं यौगिक परम्पराओं के प्रतीकों पर आश्रित रहते हैं। सिद्धों, नाथों तथा संतो के अनेक शब्द-प्रतीक (जैसे खसम, शून्य, सहज, सुरति, निरति आदि) इसी श्रेणी में आते हैं जिनका विवेचन यथास्थान होगा। चौथे प्रकार का प्रतीकात्मक रहस्यवाद बौद्धिक अथवा तार्किक कहा जा सकता है जो हमें दर्शन, विज्ञान तथा गणित में प्राप्त होता है। इस वर्ग के प्रतीक भी किसी विशिष्ट धारणा के प्रतिरूप होते हैं जैसे 'समय', आकाश, गुरुत्वाकर्षण शक्ति, कार्य-कारण (Cause and Effect) तथा अंक (Number) आदि जिनका प्रतीकात्मक विवेचन दार्शनिक तथा वैज्ञानिक प्रतीकवादी दर्शनों के प्रसंग में सविस्तार किया जायगा।

रहस्यवाद की इस विस्तृत पृष्ठभूमि के प्रकाश में कहा जा सकता है कि

हिन्दी कवियों ने जिन धार्मिक प्रतीकों का काव्य में प्रयोग किया है वे अधिकतर धार्मिक सम्प्रदायों की ही देन है। भागवत मत की आधारभूमि पर वैष्णव मत के प्रतीकों का आश्रय भक्तिकाल में लिया गया। उसकी समान प्रवृत्ति यह थी कि वह मत किसी न किसी धार्मिक तत्त्व-चिंतन को ऐसे लौकिक प्रतीकों के सहारे व्यक्त करता था जो सादृश्य के आधार पर सामान्य जनता के लिए बोधगम्य बन सके। संतों ने इस दिशा में (सगुण कवियों ने भी) सबसे अधिक प्रयोग किया है। अद्वैतवाद, विवर्तवाद, शून्यवाद एवं हठयोग पद्धति के अनेक शब्दों (प्रतीकों) एवं सिद्धान्तों को कवियों ने अनेक लौकिक प्रतीकों के द्वारा व्यक्त करने का सफल प्रयत्न किया है। अतः कवि की प्रतीकोद्भावना में विचार, कल्पना, अनुभूति एवं रूप का ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण होता है कि चारों का तिल-तंदुल रूप ही रह जाता है। यही कवि की उच्चतम प्रतीक-साधना है जो धार्मिक काव्यों में समान रूप से अनुस्यूत प्राप्त होती है।

(ख) काव्यात्मक प्रतीकवादी दर्शन

'Thus Nature drove us, Warbling rose;
Man's Voice in Verse, before he spoke in prose.'

काव्य के शब्द-प्रतीक

भारतीय काव्य-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रतीकों की स्थिति पर हम तीसरे अध्याय में सविस्तार विवेचन करेंगे। इसके अतिरिक्त प्रतीकों के विकास-क्रम के अन्तर्गत पौराणिक अथवा धार्मिक काव्यों में प्रतीक-दर्शन पर भी विचार हो चुका है। उपर्युक्त विवेचनों के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि काव्य, धर्म और दर्शन का अन्योन्य संबंध है। काव्य के प्रतीक जहाँ एक ओर किसी भाव की अभिव्यक्ति करते हैं, वहीं वे दार्शनिक एवं धार्मिक मान्यताओं का भी स्पष्टीकरण करते हैं। भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति में भाषा का एक महत्त्वपूर्ण योग होता है। कवि इन्हीं भाषा के शब्दप्रतीकों के द्वारा अपने भावों को रूप प्रदान करता है। काव्य में प्रयुक्त भाषा और उसके शब्द-प्रतीकों का स्वरूप विज्ञान में प्रयुक्त शब्द-प्रतीकों की अपेक्षा कहीं अधिक भावनामय एवं अनुभूतिमय होता है। विज्ञान के प्रतीकों में तर्क की भावना का कहीं अधिक संयोग होता है। इसका अर्थ यह

नहीं है कि अन्य ज्ञान-क्षेत्रों के शब्द-प्रतीकों में अनुभूति का सर्वथा अभाव है, वहाँ पर भी अनुभूति का स्वरूप प्राप्त होता है पर वह तर्क अथवा कार्य-कारण की शृंखला से कहीं अधिक आबद्ध होता है। इसी से विज्ञान के प्रतीकों को 'तर्कात्मक अनुभूति' से और काव्य के प्रतीकों को संवेदनात्मक अनुभूति से युक्त कहा जा सकता है।[1]

शब्द की संवेदनात्मक परिणति मूलतः उसके भावात्मक संदर्भ के प्रकाश में देखी जाती है। काव्य में शब्द-प्रतीकों का अर्थ भी इसी संदर्भ के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। यही कारण है कि कविता में कहीं-कहीं पर एक शब्द-प्रतीक अनेक अर्थों की व्यंजना करता है। भारतीय काव्य-शास्त्र में शब्दगत अनेक अलंकारों की भावना में शब्द की इस विविध अर्थ-व्यंजना की शक्ति का सुन्दर विकास प्राप्त होता है। उसका विवेचन तृतीय अध्याय में किया जायगा। इस प्रकार काव्य-भाषा के शब्दों में संवेदना की मात्रा और भावोद्रेक की शक्ति का एक सापेक्षिक महत्त्व है। इस दृष्टि से काव्य के शब्द-प्रतीक उसी सीमा तक संवेदनात्मक हो सकते हैं जिस सीमा तक उनके द्वारा किसी भाव अथवा विचार के गुणों तथा तीव्रताओं की अभिव्यक्ति सम्भव हो सके।[2]

प्रतीक और भाव

उपर्युक्त विवेचन से काव्य के भावात्मक महत्त्व का दिग्दर्शन होता है। भारतीय काव्यशास्त्र में भावों का एक अत्यन्त वैज्ञानिक स्वरूप मिलता है जिसके अन्तर्गत भावों को मन की संवेदनात्मक क्रिया का एक अविच्छिन्न अंग माना गया है। इन्हीं भावों की सम्मिलित प्रक्रिया के द्वारा 'रसोद्रेक' की अनुभूति होती है। अतः रसोद्रेक एक मनोवैज्ञानिक सत्य है जिस दशा में मन की समस्त वृत्तियाँ किसी केन्द्रविन्दु से एक रूप हो जाती हैं। इसी एकरूपता में जिन प्रतीकों का प्रणयन होता है अथवा जो प्रतीक इस एकरूपता में सहायक होते हैं, वे (प्रतीक) काव्य रस (पाश्चात्य विचारधारा में सौंदर्य) के एक आवश्यक अंग हो जाते हैं। इसी मनोवैज्ञानिक रस के स्वरूप की आधार-शिला पर उपनिषद्-साहित्य ने उसे 'मधु' की संज्ञा दी है जो समस्त सृष्टि का सार है। 'मधु' का अर्थ ही है सार। वह समस्त भूतों का मधु है—

१—अनुभूति का विवेचन मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद के अन्तर्गत इसी अध्याय में होगा।

२—द पोइटिक एप्रोच टू लैंग्वेज द्वारा वी० के० गोकाक, पृ० २१-२२ ;

सार है, क्योंकि धर्म मनुष्य जाति, सृष्टि तत्त्व, सूर्य, पृथ्वी आदि सभी भूतों के परम मधु हैं।[1]

भावों के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि उनकी स्थिति अचेतन मन की सुषुप्तावस्था में रहती है जिनका स्वरूप अमूर्त ही माना जाता है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और कुंतक के वक्रोक्तिवाद में भी इसी तथ्य की ओर संकेत प्राप्त होता है। अमूर्त भाव-तरंगें, जो सुषुप्तावस्था में रहती हैं, कवि के मानस लोक में मूर्त आकार को प्राप्त करती हैं। अंत में इन मूर्त रूपों की अभिव्यंजना प्रतीक-पद्धति के द्वारा होती है।

इस प्रकार कवि के मानस जगत् के मंथन से उद्भूत प्रतीकों का द्विपक्षीय महत्त्व है। एक तो उसके द्वारा वाह्य 'सत्य' का प्रतिपादन और दूसरे, एक ऐसी दशा का द्योतन जो मानव-मन की माँग का एक आवश्यक स्वरूप है। कवि के भाव एवं विचारलोक में विम्ब और प्रतीक का समान महत्त्व है, क्योंकि प्रतीक का सृजन बिना विम्ब-ग्रहण के सम्भव नहीं हो सकता है जिस पर प्रथम अध्याय (ख) में विचार हो चुका है। फ्रांस के प्रतीकवादी आंदोलन में कवि की इसी सृजनात्मक कल्पना को कवि की 'स्वतंत्रता' की संज्ञा दी गई है। इस स्वतंत्रता के हेतु वह प्रत्येक मूल्य को देने के लिए प्रस्तुत रहता है। इसी स्वतंत्रता के कारण वह अन्तहीन अभिव्यक्ति के क्षेत्र में पदार्पण करता है।[2] काव्य में प्रतीक-सृजन की क्रिया भी इसी नियम का पालन करती है, जब वह रूढ़ परम्पराओं और मान्यताओं के पाश से अपने को मुक्त कर नव सृजनात्मक 'मूल्यों' का प्रतिपादन करती है। यह तथ्य उन सभी काव्यों में समान रूप से प्राप्त होता है जो नवीन प्रतीकों की योजना की ओर उन्मुख होते हैं। प्रतीक-सृजन में कल्पना का महत्त्व इसी तथ्य में है कि वह दो वस्तुओं को एक रूप में घनीभूत कर देती है और एक नवीन सादृश्य-भावना पर आश्रित रूप को जन्म देती है। इसी तथ्य का सुन्दर अभिव्यक्तीकरण वर्ड्सवर्थ ने एक स्थान पर किया है।[3]

१—दे० पीछे प्रथम अध्याय, उपखण्ड 'ग' में।

२—द सिम्बालिस्ट एस्थिटिक इन फ्रान्स द्वारा ए० जी० लेहमैन, पृ० ४७।

३—प्रिल्यूड पुस्तक २ द्वारा वर्ड्सवर्थ उद्धृत पोइटिक माइंड से पृ० २१७—

Of that Interminable building reared,
By observation of affinities.
In objects where :no brotherhood exists,
To passive minds.

रसानुभूति (सौंदर्यानुभूति) और प्रतीक

भाव, विचार तथा वस्तु का एकीकरण किसी भी प्रतीक की स्थिति को स्पष्ट करता है और अनुभूति के द्वारा उस प्रतीक के कलेवर में अधिक गहरा रंग समाविष्ट होता है। रसानुभूति में इस सम्पूर्ण क्रिया का एक सबल रूप प्राप्त होता है। भाषा के शब्द-प्रतीकों का महत्त्व इस तथ्य पर आश्रित होता है कि उनके द्वारा सौदर्यानुभूति या रसानुभूति की व्यंजना किस सीमा तक हो सकी है। रसानुभूति के लिए पदार्थ का 'भोग' स्वयंसापेक्ष होना काव्य का गुण माना गया है और उसका अस्तित्व किसी भी प्रकार के प्रयोग-वादी, भौतिकवादी तथा अस्तित्ववादी सिद्धान्तों से आबद्ध नही माना गया है। इस 'निरपेक्ष सौदर्य तत्त्व' की मान्यता देने वाले कुछ आदर्शवादी सौंदर्यशास्त्री है जिनमें क्रोचे, हीगल, फीत्से तथा शापनहावर प्रमुख हैं। दूसरी ओर राजर फ्राई, बेल और अभिनव गुप्त आदि रसशास्त्री हैं जो रसानुभूति (सौदर्य) को वस्तुपरक या सापेक्षिक महत्त्व प्रदान करते है। इस प्रकार वे सापेक्ष सौंदर्य-तत्त्व को मानने वाले हैं। इन दोनों मान्यताओं में रस की महत्ता को प्रमुख स्थान दिया गया है, चाहे वह निरपेक्ष हो अथवा सापेक्ष। इस दृष्टि से रसानुभूति को एक 'मूल्य' की संज्ञा दी जा सकती है। जी० साइन्टीयाना का इसी से मत है कि सौदर्य एक मूल्य है जो तत्त्वतः पदार्थ या वस्तु का गुण है।[1] यहाँ पर सौंदर्यानुभूति को, प्रतीक की दृष्टि से, किसी एक पक्ष के अन्तर्गत नही माना जा सकता है, क्योंकि प्रतीक की सौंदर्य-शक्ति में निरपेक्षता के साथ-साथ सापेक्षता का भी समान महत्त्व है। दोनों के समुचित समन्वय पर ही प्रतीक के द्वारा रसोद्रेक होना सम्भव हो सकता है। यह कहा जा सकता है कि प्रतीक का औचित्य उसकी समुचित अर्थ-व्यंजना पर निर्भर करता है जो रसोद्रेक के लिए भी मान्य है। बिना व्यंजना के प्रतीक की आधी शक्ति लुप्त हो जाती है और वह उचित प्रकार से रसानुभूति में सहायक नहीं हो पाता है। इस धरातल पर आकर प्रतीक और रसानुभूति का समन्वय हो जाता है। कवि अथवा कलाकार प्रतीक के सहारे रस अथवा सौंदर्य के स्वप्निल लोक (जो सत्य की व्यंजना करता है) का निर्माण ही नही करता है, पर साथ ही इस जगत् की मिट्टी का भी गान करता है। प्रतीक की इस विस्तृत अर्थ-व्यापकता का क्षेत्र उसके अनुभूतिपरक होने की कसौटी है। इसी से हम कह सकते हैं कि प्रतीक

१—ए माडर्न बुक आफ एस्थिटिक द्वारा एम० एम० रेडर, पृ० १३६।

अनुभूति को तीव्र करते है। जब यह तीव्रता उच्चतम विन्दु तक पहुँच जाती है तब प्रतीक की सम्पूर्ण शक्ति काव्य की आत्मा 'रस' का एक अविच्छिन्न अंग हो जाती है।

अनेक विचारकों के अनुसार रस अथवा सौदर्य की परिभाषाएँ केवल मात्र प्रस्ताव-निर्देश में, प्रतीक प्रयोग की विधि पर ही निर्भर करती है।[1] संदर्भ अथवा प्रकरण के प्रकाश में उस परिभाषा की सत्यता अथवा असत्यता का निर्णय किया जा सकता है। यह तथ्य एक अन्य पक्ष की ओर संकेत करता है कि अधिकांश काव्य के प्रस्ताव (Statement) प्रतीकात्मक आयोजना पर आश्रित रहते हैं जो संदर्भानुसार सत्य अथवा मिथ्या दोनों हो सकते हैं। रस और सौदर्य में इस प्रस्ताव-सिद्धान्त का एक अपना विशिष्ट स्थान है। यह सिद्धान्त संकेत करता है कि शब्दों के अन्योन्य सम्बन्ध से गृहीत जो भी अर्थ प्रकट होता है, उसका मूल्य प्रतीकात्मक ही अधिक है। यदि प्रस्ताव-निर्देश में प्रतीकों का व्यर्थ प्रयोग किया जाता है तो यह प्रवृत्ति ज्ञान के यथार्थ क्षेत्र को धूमिल कर देती है। इस दशा में प्रस्ताव के प्रतीक केवल मात्र वाणी के विकार ही रह जाते है, उनका प्रतीकार्थ पृष्ठभूमि में चला जाता है और केवल रह जाता है प्रतीको का अर्थहीन विस्तार जो प्रतीक के औचित्य के प्रति कुठाराघात कहा जा सकता है। काव्य में शब्द-प्रतीकों का प्रयोग काव्यगत ज्ञान की अनुभूतिमय अभिव्यक्ति ही कही जा सकती है। ज्ञान का क्षेत्र समस्त मानवीय क्रियाओं का मूल है और काव्य-भावना भी इसी के अन्तर्गत आती है। उस मानव क्रिया का मूल्य ही क्या, उस प्रतीक का महत्त्व ही क्या, जो 'ज्ञान' की परिधि को अपने अन्दर समेट न सके? यही ज्ञान का क्षेत्र जब कवि की अनुभूति के सहारे प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्ति प्राप्त करता है तब वह मानव-जीवन-सापेक्ष हो जाता है। अतः काव्य की रसानुभूति में प्रतीकों की आयोजना समस्त ज्ञान क्षेत्रों से गृहीत की जा सकती है, केवल इस सत्य को ध्यान में रख कर कि वे कवि की भावात्मक अनुभूति से अनुरंजित होकर काव्य की धरोहर बन सकें और इस प्रकार उन प्रतीकों का 'उन्नयन' काव्यीकरण में हो सके। काव्य की रसानुभूति में प्रत्यक्ष ज्ञान अनुभूति में परिवर्तित होता है और अंत में यह अनुभूति अनेक प्रतीकों के द्वारा अभिव्यंजित होती है। इस प्रकार ये अनुभूतिमय प्रतीक ही काव्य के 'सत्य' का आदर्शीकरण

१—द मीनिंग आफ़ मीनिंग द्वारा आडजन एड रिचर्ड्स, पृ० १४२-१४४।

करते हैं।[1] अनुभूति की परिधि में समस्त कार्यों, प्रवृत्तियों, भावनाओं, इच्छाओं और आदर्शों आदि का समावेश सम्भव हो सकता है। इसी से अनुभूति आदर्श और यथार्थ का समन्वय भी कर सकने में समर्थ है। इसी से अनुभूतिपरक प्रतीक-सृजन की क्रिया-प्रतिक्रिया का असली रूप हमें संसार रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित, भासित होता है।

तत्त्व और रूप (Content and Form)

प्रतीक की चिरन्तनता में उपर्युक्त तत्त्व के साथ-साथ एक अन्य तथ्य का समावेश भी अपेक्षित है। प्रतीक, जैसा कि संकेत किया गया, एक विचारात्मक और भावात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें 'रूप' और तत्त्व का समुचित स्थान है। प्रतीक का मूल्यांकन करने के लिए इन दोनो तत्त्वों का निष्पक्ष विवेचन करना आवश्यक है।

अनेक सौंदर्य-शास्त्रियो (यथा बेल, राजर फ्राइ, कारपेन्टर और पारकर आदि) ने रूप-सिद्धान्त का पूर्ण आख्यान अपने विभिन्न ग्रंथों में किया है। ये सब विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि कला के लिए 'रूप' का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बिना रूप के कला की रसानुभूति सम्भव नहीं है। सोरियो (Soriau) जो फ्रेंच रूप-सौदर्यशास्त्र का पिता है, ने सौन्दर्य-शास्त्र की महत्ता इन शब्दों में व्यक्त की है—

"सौन्दर्यशास्त्र विश्वजनीनता की श्रेणी में रूपात्मक अध्ययन है—वह एक प्रकार से रूपात्मक विज्ञान है।"[2] इस कथन में 'फार्म' को एक उच्च स्थान दिया गया है जब कि तत्त्व के प्रति लेखक उदासीन ही दृष्टिगत होता है। केवल क्रोचे, हर्बर्ट रीड और पारकर को छोड़ कर किसी ने भी 'तत्व' का 'रूप' में क्या स्थान होना चाहिए, इस ओर स्पष्ट सकेत नहीं किया है। पारकर ने 'थीम' और विचार की महत्ता को माना है पर उसने भी इस 'थीम' पर पूर्ण विचार नहीं किया है।[3]

अन्य विचारकों (बेल, फ्राई आदि) ने 'तत्त्व' की महत्ता के प्रति पूरी उदासीनता प्रकट की है। बेल का 'महत्त्वपूर्ण रूप' (Significant Form) राजर फ्राई का विश्वजनीन रूप (Universal Form) और कारपेन्टर का

१—द वर्ल्ड ऐज स्पेक्टकिल द्वारा जी० ई० म्यूलर, पृ० ६२।

२—ए क्रिटिकल स्टडी आफ माडर्न एस्थिटिक द्वारा एर्ल आफ लिस्टोवल, पृ० १४६।
Souriau L 'Avenir de L 'Esthetique, p. 180-181।

३—द माडर्न बुक आफ एस्थिटिक द्वारा रेडर, पृ० २३४-२३५।

रूपात्मक सत्य (Formal Truth) ये सभी सिद्धान्त, मेरे विचार से, जहाँ तक काव्यात्मक प्रतीकों का सम्बन्ध है, सत्य के एक पक्ष का ही दिग्दर्शन कराते हैं। मेरा मंतव्य यह नहीं है कि काव्य में फार्म या रूप का महत्त्व नगण्य है। मेरा तो केवल यह मंतव्य है कि रूप का कविता में वह सार्वभौम महत्त्व नहीं हो सकता है जो कि अन्य कलाओं में प्राप्त होता है। रूप का महत्त्व किसी भी कला के लिए, उसके अभिव्यक्ति-माध्यम पर निर्भर करता है। चित्रकला में रूप का सम्पूर्ण महत्त्व रेखाओं और रंगों की व्यंजनात्मकता पर आश्रित रहता है।

परन्तु कविता का क्षेत्र शब्द और अर्थ का अन्योन्याश्रित क्षेत्र है। कविता में शब्द का चयन ही अभिव्यक्ति का माध्यम है। शब्द-प्रतीकों का महत्त्व केवल रूपपरक ही नहीं होता है पर उनका महत्त्व अर्थ की व्यंजना शक्ति में समाहित रहता है। अर्थग्रहण का क्षेत्र व्यंजना, बुद्धि और भावना की मिलित प्रक्रिया पर निर्भर रहता है। अब प्रश्न है कि अर्थ-विज्ञान किस तत्त्व पर निर्भर रहता है? अर्थ-विज्ञान उसी समय मानव-जीवन-सापेक्ष होता है जब वह किसी तात्विक अर्थ की व्यंजना करने में समर्थ होता है। अतः अर्थ का प्रस्फुटन उसी समय होगा जब काव्य मे कुछ न कुछ 'तत्त्व' का समावेश लक्षित होगा, चाहे वह तत्त्व लौकिक हो अथवा अलौकिक। अर्थ और तत्त्व का अन्योन्य सम्बन्ध ही 'रूप' की भावभंगिमा में प्राण संचार कर सकता है। अतः काव्य में 'तत्त्व' ही वह शक्ति है जो रूप को चेतना प्रदान करती है। काव्य अथवा कला में तत्त्व की पूर्ण परिव्याप्ति 'रूप' के कलेवर में सम्पन्न होती है—जो कभी 'विश्व' था, वह रूप में आकर भाषा में परिवर्तित हो जाता है।[१] अतः प्रतीक का महत्त्व जहाँ एक ओर रूपात्मक तथ्य है, वहीं पर उसके 'रूप' में प्राण-प्रतिष्ठा करने वाला 'तत्त्व' है जो उस प्रतीक को अर्थ प्रदान करता है।

अस्तु, काव्य में फार्म या रूप को तत्त्व का प्रतीक रूप कह सकते हैं। संसार के सभी महान् कवियों ने फार्म की अपेक्षा तत्त्व को अपने काव्य में प्रमुख स्थान दिया है, उन्होंने फार्म को तत्त्व का अनुयायी बनाया है न कि तत्त्व को फार्म का। एक सभ्यता का काल या युग, रूप का वरदान तो अवश्य देता है, पर इसके साथ वह तत्त्व या विचार की दार्शनिक पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत करता है।

१—थियेरी आफ लिटरेचर द्वारा आस्टिन वारन अथवा रिना वेलक, पृ० १२८।

इसी के आधार पर कवि अपने तत्त्व को फार्म का रूप देता है। प्रतीक के हेतु तत्त्व और फार्म का समुचित समन्वय अपेक्षित है। यह संतुलित निर्वाह कवि की अपनी प्रतिभा पर निर्भर करता है जो उसके मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास पर आधारित है।[1]

(ग) मनोवैज्ञानिक प्रतीकवादी दर्शन

प्रवेश तथा क्षेत्र

मनोविज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। मानसिक चेतना का विकास ही मानव की प्रगति का इतिहास है। अतः मन का सम्पूर्ण विकासात्मक अध्ययन ही मनोविज्ञान है। उसके अन्तर्गत मानसिक चेतना के उत्तरोत्तर नवीन स्तरों का भी उद्घाटन होता है। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि हिन्दू मनोविज्ञान 'सम्पूर्ण मन' का अध्ययन प्रस्तुत करता है जब कि पाश्चात्य मनोविज्ञान केवल मन के विशिष्ट स्तरों (Phases) के अन्दर ही सीमित रह गया है।[2] मन से भी परे मानवीय शक्तियों का विकास दिखाना ही हिन्दू मनोविज्ञान का केन्द्रविन्दु है। उसका क्षेत्र अचेतन-उपचेतन से परे ऊर्ध्व या अतिचेतन का परम क्षेत्र है जो सत्य में मानव नामधारी प्राणी के भावी विकास की दिशाओं की ओर संकेत करता है। इसी कारण से मैं पाश्चात्य मनोविज्ञान को केवल 'मनोविज्ञान' की संज्ञा देता हूँ और हिन्दू मनोविज्ञान को 'आध्यात्मिक मनोविज्ञान' के रूप में मानता हूँ। हमारी समस्त विचारधारा का अंतिम लक्ष्य आत्मिक जगत् का साक्षात्कार कराना है और आध्यात्मिक मनोविज्ञान इसी अध्यात्म अथवा आत्मज्योति के निकट मनुष्य को पहुँचाना चाहता है।

भारतीय आध्यात्मिक मनोविज्ञान का प्रारम्भ 'मनोनिग्रह' की स्थिति से माना जाता है जब मन अपनी चचल वृत्तियों का उन्नयन करता है अथवा उनका निरोध करता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में इस दशा को 'सब्लीमेशन' (Sublimation) की संज्ञा दी गयी है। मानसिक वृत्तियाँ, अचेतन मन में दमित वासनाओं के रूप में, वाह्य अभिव्यक्ति को अनेक माध्यमों के द्वारा प्राप्त करती है। इन अभिव्यक्तियों में स्वप्न एवं यौन प्रतीको का मुख्य स्थान माना गया है जिन पर हम आगे विचार करेंगे। भारतीय मनोविज्ञान में

१—द मीनिंग आफ आर्ट द्वारा हर्बर्ट रीड पृ० ६०।

१—हिन्दू साइक्लाजी द्वारा स्वामी अखिलानन्द, पृ० १५।

चेतना के स्वरूप का स्पष्टीकरण केवल अचेतन मन की दमित इच्छाओं एवं वासनाओं तक ही सीमित नहीं है। वहाँ पर चेतना के विभिन्न स्तरों का जो विश्लेषण प्राप्त होता है वह मनोनिग्रह की ओर संकेत करता है जिससे मानव अपने भावी आध्यात्मिक अभियान में अग्रसर हो सके। यह एक प्रकार से 'लय-योग' ही कहा जा सकता है। इसमें काम्य पदार्थों एवं भोगों का निरोध अत्यन्त आवश्यक है। माण्डूक्योपनिषद् में मनोनिग्रह के बारे में कहा गया है—

उपायेन निगृह्णीया द्विक्षिप्तं कामभोगयोः।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥[1]

अर्थात् काम्य विषय और भोगों में विक्षिप्त हुए चित्त का उपायपूर्वक निग्रह करे तथा लयावस्था में अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त हुए चित्त का भी संयम करें, क्योंकि जैसा (अनर्थकारक) काम है, वैसा लय भी है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान की तरह यहाँ पर 'मन' की क्रियाओं को दमित वासनाओं का रंगस्थल नहीं माना गया है। वह तो मन की चेतना का केवल एक अंशमात्र है। मन की चेतना का क्रमिक रूप तो उस समय प्राप्त होता है जब मानवीय चेतना निम्न स्तरों को पार कर उच्च स्तरों की ओर उन्मुख होती है। उस उन्मुखता में भारतीय 'मनीषा' की मनोनिग्रह स्थिति परमावश्यक है।

चेतना का स्वरूप तथा प्रतीक-सृजन

प्रतीक-सृजन की दृष्टि से, आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार, मन के दो स्तर—चेतन और अचेतन—माने गए हैं। इन्हीं के आधार पर दो प्रकार के प्रतीकों का विभाग किया जाता है अर्थात् चेतन और अचेतन प्रतीक। इसके अतिरिक्त उपचेतन (सबकांशस) की मान्यता भी आधुनिक मनोविज्ञान में है जिसकी स्थिति अचेतन और चेतन के मध्य में मानी गयी है। इसकी सापेक्षता में भारतीय मनोविज्ञान में चेतना का अधिक व्यापक विश्लेषण प्राप्त होता है जो प्रतीक-निर्माण की क्रमिक उत्तरोत्तर भावभूमि को भी स्पष्ट करता है। भारतीय आध्यात्मिक मनोविज्ञान में चेतना के चार स्तरों की व्याख्या प्राप्त होती है। वे हैं—सुषुप्ति, स्वप्न, जाग्रत और तुरीय अवस्थाएँ। वस्तुतः ये चार अवस्थाएँ मानसिक चेतना के उत्तरोत्तर विकासशील सोपान हैं। विवेचन की सुविधानुसार, हम इन चार अवस्थाओं का, आधुनिक मनोविज्ञान का भी ध्यान रख कर, विवेचन करेंगे। इस दृष्टि से, अचेतन तथा उपचेतन के

१—माण्डूक्योपनिषद्, पृ० १८० श्लोक ४२ अद्वैत प्रकरण (उप० भा० खण्ड २)।

अन्तर्गत सुषुप्ति तथा स्वप्न की अवस्थाओं का और चेतनावस्था के अन्दर जाग्रत तथा तुरीय अवस्थाओं का, प्रतीक की दृष्टि से, विवेचन करना उचित होगा।

(१) अचेतन-प्रतीक (स्वप्न, सुषुप्ति, यौनादि के प्रतीक)

बटरन्ड रसल ने अचेतन मन की क्रियाओं को केवल एक प्रवृत्ति ही माना है जिसकी समकक्षता भौतिक शास्त्र में वर्णित 'शक्ति' (फोर्स) से हो सकती है।[१] वस्तुतः अचेतन की धारणा में एक प्रकार से सुषुप्ति की अवस्था ही प्राप्त होती है, क्योंकि अचेतन के महासागर में दमित वासनाएँ, इच्छाएँ, कामनाएँ और संवेदनाएँ सुप्तप्राय अवस्था में निश्चेष्ट पड़ी रहती हैं। ये वासनाएँ आदि समय पाने पर अपनी अभिव्यक्ति अनेक स्वप्न अथवा यौन प्रतीकों के द्वारा करती हैं। इनके द्वारा अद्भुत विचारो की अश्रृंखलाबद्ध रचना होती है जिनका स्वरूप हमें साहित्य, कला, धर्म आदि मानवीय क्रियाओं में प्राप्त होता है। इसी तथ्य के प्रकाश में फ्रायड, युंग तथा एडलर आदि मनोवैज्ञानिकों ने मनोविश्लेषण के सहारे कला, धर्म, साहित्य आदि ज्ञान-क्षेत्रों के प्रतीकों को अदभुत प्रतीकवाद के अन्तर्गत माना है। फ्रायड ने तो यहाँ तक कह डाला कि पुराण-प्रवृत्ति इच्छा-परितृप्ति का शेष चिह्न है और साथ ही आदि मानव की अतार्किक स्वप्न प्रवृत्ति।[२] पौराणिक प्रतीकों के विवेचन के अन्तर्गत इस मत का कुछ प्रत्याख्यान हो चुका है। सत्य तो यह है कि समस्त मानवीय ज्ञान-क्रियाओं में अचेतन प्रतीको के साथ-साथ चेतन मन की क्रियाओं का भी सम्मिश्रण प्राप्त होता है। एक को दूसरे से सर्वथा विलग करके नहीं देखा जा सकता है।

स्वप्न-प्रतीक

मनोविज्ञान में मन की अनेक क्रियाओं को 'विभूति' की संज्ञा दी गयी है और मन उन्हीं विभूतियों को अनेक प्रकार से प्रकट करता है। दमित वासनाओं अथवा इच्छाओं का प्रकटीकरण स्वप्न में, सुषुप्ति के समय अनेक प्रतीकात्मक रूपों के द्वारा होता है। इसी से, यह माना जाता है कि स्वप्न-प्रतीकों के समुचित विश्लेषण से आंतरिक इच्छाओं की प्रकृति को जाना जा सकता है। स्वप्न-दर्शन का हेतु विगत संस्कार भी माना गया है और 'देवमन' स्वप्ना-

---

१—द एनालिसिस आफ माइंड द्वारा रसल, पृ० ३८।

२—द हाउस दैट फ्रायड बिल्ट द्वारा जोसफ जेसट्राव, पृ० ११४।

वस्था के समय अपनी महिमा का ही अनुभव करता है।[1] भारतीय मतानुसार मन भी एक इंद्रिय है जो अन्य इंद्रियों से उत्कृष्ट है—सभी इंद्रियाँ उसी में एकीभूत होती हैं। स्वप्नावस्था एवं सुषुप्तावस्था के समय मन ही अपनी विभूतियों का, अप्रकट रूप से, विस्तार करता है। यही कारण है कि स्वप्न-प्रतीको को समझा नहीं जा सकता है और उनके पीछे कौन सी स्फूर्ति काम कर रही है, इसे भी कहना अत्यंत कठिन है। इसका प्रमुख कारण इन प्रतीकों की शृंखलाहीनता ही कही जा सकती है। युंग ने इन प्रतीको का कारणत्व (काजल) माना है और उसके अनुसार स्वप्न-प्रतीको में एक तारतम्यता भी प्राप्त होती है।[2] स्वप्न-विम्बो एवं प्रतीकों का विश्लेषण करने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि इन विम्बों में तारतम्यता नही होती है और उनके क्रम में विचारात्मक प्रवृत्ति के दर्शन अत्यन्त अस्पष्ट रहते हैं। फ्रायड ने एक स्थान पर कहा है कि स्वप्न में हमारे विचार अनैच्छिक होते हैं और इसी से ऐच्छिक विचार, जो चेतन मन की क्रिया है (ये मेरे शब्द हैं), अपनी अभिव्यक्ति नहीं कर पाते हैं। वास्तव में, स्वप्न-प्रतीकों को उस दृष्टि से प्रतीक नही कहा जा सकता है जिस दृष्टि से चेतन क्षेत्र के प्रतीको को (जैसे भाषा के, विज्ञान के)। स्वप्न-प्रतीक, एक प्रकार से अचेतन काम-इच्छा की पूर्ति ही कहे जाते है जो कभी-कभी मानवीय क्रियाओं में भी स्थान पाते हैं। काम-इच्छा का एक व्यापक स्वरूप मानव जीवन में प्राप्त होता है और कामशक्ति का कोई न कोई रूप सभी धर्मों एवं संस्कृतियों में मान्य रहा है। यहाँ तक कि काम शक्ति से युक्त 'ब्रह्म' भी कहा गया है जिस पर हम प्रथम अध्याय में विचार कर चुके हैं। अतः काम इच्छा वह प्रबल माध्यम है जो अंशतः स्वप्न-प्रतीकों का सृजन अवश्य करती है। इसी कारण से, स्वप्न-पदार्थों का असत् रूप, जो चित्त के अन्दर कल्पित होता है और साथ ही चित्त से बाहर, इंद्रियों द्वारा ग्रहण किया हुआ पदार्थ सत् जान पड़ता है—ये दोनो ही रूप मिथ्या ही कहे गये हैं। माण्डूक्योपनिषद् का कथन है—

स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्दृष्टं वैतथ्यमेतयोः ॥[3]

१—उपनिषद् भाष्य खंड २ (शांकर) पृ० ३१ माण्डूक्योपनिषद्।

२—साइक्लाजी आफ द अनकांशस द्वारा युंग, पृ० ७।

३—मांडूक्योपनिषद् वैतथ्यप्रकरण, श्लोक ६ पृ० ६१ (उप० भा० खण्ड २)।

परन्तु उपनिषद्-साहित्य यहीं पर नहीं रुकता है पर वह इन मिथ्या पदार्थों को कल्पित करने वाले 'आत्मा' के प्रति यह भी कहता है—

विकारोत्यपरान्भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान्।
नियतांश्च बहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभुः ॥[1]

अर्थात् प्रभु आत्मा अपने अन्तःकरण में (वासना रूप से) स्थित लौकिक भावों को नाना रूप करता है तथा बहिश्चित्त होकर पृथ्वी आदि नियत और अनियत पदार्थों की इसी प्रकार कल्पना करता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जाग्रत एवं स्वप्न अवस्थाओं में पदार्थों का मिथ्यात्व एक प्रकार का अज्ञान ही है। द्वैत भावना का विस्तार भी इसी मिथ्या के कारण होता है। स्वप्न प्रतीकों में आत्मा के इसी मायापरक विस्तार का स्वरूप प्राप्त होता है। जीव का स्वप्न दर्शन ही नहीं, परन्तु उसकी समस्त मनोवृत्तियों का वैसा ही स्वरूप होता है जैसा कि उसका विज्ञान होता है। इसी विज्ञान तत्त्व पर जीव की स्मृति का रूप भी मुखरित होता है। स्वप्न-प्रतीको के सृजन में अचेत्य-स्मृतियाँ, जो संस्कारजनित होती हैं, अनेक बाह्य अभिव्यक्तियों के द्वारा प्रकट होती हैं जिन्हे हम स्वप्न-प्रतीक या बिंब (Image) कहते हैं। इन प्रतीकों का मिथ्यात्व गीता में भी मान्य है। जो व्यक्ति स्वप्न के प्रति (भय, शोक आदि भी) आसक्ति रखता है, वह तामसिक धृति के अन्तर्गत माना गया है। गीता का कथन है—

यथा स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥[2]

इन स्वप्न-प्रतीकों के मिथ्यात्व में मतभेद का स्थान कम ही है। तब भी इन प्रतीकों का साहित्य मे अथवा अन्य मानवीय क्रियाओं में क्या स्वरूप प्राप्त होता है, इस पर हम आगे विचार करेंगे।

यौन या काम-प्रतीक

इन काम-प्रतीको (यौनपरक) के महत्त्व पर हम प्रथम अध्याय ही में यदा कदा संकेत कर चुके हैं। फ्रायड, युंग आदि मनोविश्लेषकों ने इन प्रतीकों

१—वही, पृ० ६४ श्लोक १३ तथा प्रश्नोपनिषद प्रश्न ४, श्लोक ५ में स्वप्न-दर्शन का उपर्युक्त वर्णन प्राप्त होता है जिसमें विगत सस्कार की ही पुनरावृत्ति होती है (उप० भा०)।

२—श्रीमद्भगवद्गीता, मोक्षयोग, श्लोक ३५ पृ० ५७४, बंगाल १६४८।

का क्षेत्र, पुराण, धर्म, कला अथवा साहित्य में माना है जिसके उचित स्वरूप पर हम आगे विचार करेंगे।

यौन प्रवृत्तियाँ, जो दमित हो जाती हैं, उनकी अभिव्यक्ति स्वप्न में अनेक माध्यमों यथा सांढ, सर्प, लिग, छड़ी आदि के द्वारा होती है। युंग ने एक स्थान पर कहा है कि प्रेम सम्बन्धी स्मृतियाँ जो अचेतन मन में क्रियाशील रहती हैं, वे अपनी अभिव्यक्ति इन्हीं काम प्रतीकों के द्वारा करती हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति स्वयं अपने से ही लुक-छिप कर खेल खेलता है।[१] इस काम-रति को युंग ने 'लीबीडो' की संज्ञा दी है जो काम का प्रतीक-शब्द माना जाता है। प्राचीन धर्मों के अनेक देवता लीबीडो के विभिन्न रूपान्तर हैं जिनका पर्यवसान किसी न किसी रूप में एक 'देवता' या शक्ति की भावना में होता है। अवेस्ता, वेद और उपनिषद् में यदा-कदा यह प्रवृत्ति भी प्राप्त होती है। यह काम रूप का अभिव्यक्तीकरण नायक या हीरो में, तांत्रिक अनुष्ठानों में, मातृत्व प्रतीकों में, ओडीपस ग्रंथि आदि में मान्य है, जहाँ पर लीबीडो का स्थानान्तरण (Transference) अनेक दिशाओं में प्राप्त होता है। धर्म के अनेक, पदार्थ जिन्हे हम प्रतीक के रूप में स्वीकार करते हैं, उनमें भी काम- रति का स्थानान्तरण ही प्राप्त होता है जैसे शालिग्राम, लिग, क्रास आदि। अतः काम-वासना का क्रियात्मक रूप सृजनात्मक ही अधिक होता है। सृष्टिक्रम से लेकर मनुष्य जाति तक इस काम वृत्ति का मिथुनपरक रूप एक 'सत्य' है जिसे हम केवल मात्र 'वासना' कहकर हेय दृष्टि से नही देख सकते हैं। परन्तु इसका यह भी अर्थ नही है कि समस्त मानवीय क्रियाओं में केवल 'काम' ही एक मात्र स्फूर्ति शक्ति है, काम के अतिरिक्त भय, इच्छा, आदि मनोवृत्तियों और आन्तरिक प्रेरणा का भी मानवीय क्रियाओं में एक विशिष्ट स्थान है।[२] स्वयं मनोवैज्ञानिकों में एडलर ने भी यह अमान्य माना है कि केवल मात्र काम इच्छा ही समस्त मानवीय क्रियाओं का मूल है। यही बात 'ओडीपस' ग्रन्थि के बारे में कही जा सकती है। यहाँ पर काम का एक सीमित रूप ही ग्रहण किया गया है जो यौन (Sex) भावना पर आधारित है। युंग तथा फ्रायड ने इस ग्रन्थि को तीन सम्बन्धों में कार्यान्वित देखा है—पुत्र का माता के प्रति, पुत्री का पिता के प्रति और भाई बहन का अन्योन्य के प्रति गुप्त काम-वृत्तियाँ। इन सभी सम्बन्धों का रंगस्थल नाटक, पुराण, साहित्य

१—साइक्लाजी आफ द अनकांशस द्वारा युग, पृ० ३५।

२—हिन्दू साइक्लाजी द्वारा स्वामी अखिलानन्द, पृ० ७०।

आदि सृजनात्मक क्षेत्र है जिनमें इन सभी सम्बन्धों का द्वन्द्व और संघर्ष किसी विशिष्ट परिस्थिति एवं पात्रों के कार्य कलापों के द्वारा प्रकट होता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इन सभी सम्बन्धों में पवित्रता की ही भावना अधिक है। यहाँ पर जो प्रेम अथवा श्रद्धा का स्वरूप है, वह काम का वासना-पूर्ण सम्बन्ध नहीं है। यह सत्य है कि अनेक धार्मिक मतों में यदा-कदा इन सम्बन्धों पर आश्रित ऐसे भी उदाहरण मिल जाते हैं जो काम के निम्नतर वासना रूप के परिचायक हैं। दूसरी ओर यह ओडीपस ग्रन्थि मानवीय क्रियाओं का एक सीमित रूप ही रखती है। क्या सभी मानवीय क्रियाएँ इतनी सीमित हैं कि वे केवल मात्र यौन या कामवृत्ति को ही केन्द्र मान कर अपना विस्तार करें? मानवीय क्रियाओं के पीछे इच्छाशक्ति, स्फूर्ति, अनुभूति और आध्यात्मिक विज्ञान का एक सबल योग रहता है जो वास्तव में चेतना के उच्चतर स्तर का परम-सूचक है। फ्रायड का यह मत कला के अभिमूल्यन में (Valuation) भी पूर्ण योग नहीं देता है और इसी से कला के प्रतीकों को केवल मात्र ओडीपस-ग्रन्थि की भावभूमि के प्रकाश में मूल्यांकन करना प्रतीकों के सत्य स्वरूप के प्रति एकांगी दृष्टिकोण ही कहा जायगा।

काम अथवा स्वप्न-प्रतीकों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि फ्रायड की विवेचना-पद्धति में प्रतीकों का द्वितीय स्थान ही है। फ्रायड के लिए प्रतीक किसी मानसिक जटिलता अथवा दमित इच्छा का गुप्त अभिव्यक्तीकरण हैं। फ्रायड के इस सीमित दृष्टिकोण में युंग ने संशोधन किया है। युंग के लिए प्रतीक मानसिक क्रियाओं का गुणक है जिसकी महत्ता उसके मनोविश्लोषणात्मक स्वरूप पर आधारित है।[1] हिन्दू मनोविज्ञान में अचेतन का विवेचन विगत संस्कारों एवं भावनाओं के समष्टि रूप का परिचायक है जब कि पाश्चात्य मनोविज्ञान में अचेतन को वह आधारशिला माना गया है जो चेतन-मन का निर्माण करता है।[2] अतः भारतीय मनोविज्ञान में अचेतन मन ही सब कुछ नहीं है, चेतना का विकास इसी क्षेत्र में आकर रुक नहीं जाता है पर उसका ऊर्ध्व रूप भी प्राप्त होता है। शंकराचार्य ने स्वप्न को संसार के हेतुभूत अविद्या, कामना और संस्कार से संयुक्त माना है। अतः इस अचेतनावस्था में जीव अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता है। अपने स्वरूप की प्राप्ति 'वह' उस समय

१—द हाउस दैट फ्रायड बिल्ट द्वारा जैसट्राव, पृ० ९८।

२—हिन्दू साइकलाजी द्वारा स्वामी अखिलानन्द, पृ० ५५।

करता है जब वह सुषुप्ति की चेतनावस्था में पहुँचता है।[1] अतः स्वप्न के प्रतीकों का महत्त्व उसी सीमा तक माना जा सकता है जिस सीमा तक उनके द्वारा जीव अपने निजी स्वरूप का, सुषुप्ति के समय, साक्षात् कर सके। यह साक्षात्कार मन की उस दशा का द्योतक है जब कि समस्त इंद्रियाँ 'प्राण' से गृहीत हो जाती हैं। एक प्राण ही अश्रान्त रहता है जो कि देह रूप घर में जागता रहता है। भारतीय मनोविज्ञान में इसी से प्राण की धारणा उस स्वपिति की दशा का पूर्ण वाचक शब्द है जिससे जीव अपनी चंचलायमान इद्रियों का निरोध कर प्राण से एकीभूत हो जाता है। चक्षु, श्रोत, वाक् और मन तथा प्राण—ये पाँच इंद्रियाँ ही जीव को क्रमिक वाह्य ज्ञान देती है और 'प्राण' की उपासना का सत्य स्वरूप उसी समय मुखर होता है जब व्यक्ति इंद्रियों की एकसूत्रता प्राण में कर सकें। इंद्रियो के उपासक असुर और प्राण के उपासक देव कहे जाते हैं—इन्हीं के परस्पर संघर्ष का प्रतीकात्मक निर्देश देवासुर संग्राम कहा जाता है। इस पर हम प्रथम ही विचार कर चुके है।

(२) चेतन-प्रतीक

प्राण की धारणा का रूप ही चेतना का ऊर्ध्वगामी विकास कहा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद में चेतना का स्तर अचेतना से कहीं अधिक विस्तृत, कहीं अधिक महत्त्वशील है। मानव की सृजनशील शक्तियों का विकास इसी चेतना के विकसित रूप पर आश्रित है। समस्त मानवीय सृजनात्मक क्रियाओं में, चाहे वह कला हो या दर्शन—एक सचेतन प्रतीकीकरण की प्रवृत्ति ही दर्शित होती है। रूपक, उपमा, अन्योक्ति, श्लेष आदि जितनी अभिव्यंजना की शैलियाँ हैं उनका क्षेत्र सचेतन मन का ही कार्य है। इसी कारण से हीगल ने चेतन प्रतीकीकरण की क्रिया के अन्तर्गत निरपेक्ष-सापेक्ष, ईश्वर, संख्या, अंक, दंतकाथाएँ, मुहावरे, रूपक, उपमा, विम्ब आदि को स्थान दिया है।[2] इसी के अन्दर भाषा के प्रतीकों (शब्दों) तथा लिपियों को भी रख सकते हैं परन्तु शब्दों की ध्वनियों में अचेतन मन का भी योग है। अतः चेतन-प्रतीकवाद का क्षेत्र जाग्रत चेतना का विस्तार है। इसी चेतन प्रयत्नशीलता में 'इच्छा शक्ति' (Will Power) का भी विकास होता है। जब तक मनुष्य में इच्छा शक्ति का आविर्भाव नहीं होता है

१—उपनिषद् भाष्य खण्ड ३, पृ० ६४२-६४३।

२—द फिलासफी आफ फाइन आर्ट्स द्वारा हीगल दे० अध्याय १ तथा ३।

तब तक वह अचेतन मन के क्षेत्र से चेतना के तेजप्रधान आलोक का साक्षात्कार नहीं कर सकता है। यही कारण है कि मानसिक चेतना का ऊर्ध्व विकास जाग्रतावस्था से प्रारम्भ होकर तुरीय अवस्था तक माना गया है। हिंदू मनोविज्ञान का लक्ष्य मन को इसी तुरीयावस्था तक पहुँचाता है। अंतर्दृष्टि अथवा अनुभूति का विकास इसी क्षेत्र में आकर होता है। इसी प्रवृत्ति के प्रकाश में प्रतीक-दर्शन का भी संकेत मिलता है। प्रतीक का मूल रहस्य इसी आत्मिक अनुभूति का क्षेत्र है। भाव, अनुभूति एवं ज्ञान की समन्वित अभिव्यक्ति प्रतीक की रूपात्मक अभिव्यंजना का मूल प्राण है। इसी से हिन्दू मनोविज्ञान में 'आत्मा' से ही समस्त चेतन, अचेतन, इन्द्रियों, भूतों एवं प्राणों का विकास माना गया है। वृहद् उपनिषद् का यह कथन इसका प्रमाण है—

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्ने: क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येव-मेवास्मादात्मन: सर्वे प्राणा: सर्वे लोका: सर्वे देवा: सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥[1]

अर्थात् 'जिस प्रकार वह मकड़ा (ऊर्णनाभि) तन्तुओं पर ऊपर की ओर जाता है तथा जैसे अग्नि से अनेक क्षुद्र चिनगारियाँ उड़ती हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त प्राण, समस्त लोक, देवगण और भूत विविध रूप से उत्पन्न होते हैं। सत्य का सत्य यह उस आत्मा की उपनिषद् है। प्राण ही सत्य है। उन्हीं का यह सत्य है।' इसी से आत्माभिव्यंजना में प्रतीक का वही स्थान है जो कल्पना मे भाव का माना जाता है। कवि की इस आत्माभिव्यंजना पर हम काव्यात्मक प्रतीक-दर्शन में विचार कर चुके हैं। इस आत्माभिव्यंजन में समस्त भूतों, देवों अथवा लोकों का एकात्म भाव होता है जिसके बिना कोई भी कलाकार सत्य रूप से, यथार्थ का दिग्दर्शन नहीं कर सकता है। इसी भाव को भगवान् शंकराचार्य ने इस प्रकार व्यक्त किया है जो आध्यात्मिक मनोविज्ञान का केन्द्र माना जा सकता है। उनका कथन है—'तुरीय अवस्था को अपनी आत्मा जान लेने पर अविद्या एवं तृष्णादि दोषों की सम्भावना नहीं रहती है। और तुरीय को अपने आत्मस्वरूप से न जानने का कोई कारण भी नहीं है, क्योंकि "तत्वमसि

१—वृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय २ ब्राह्मण १, पृ० ४५७ श्लोक २० (उप० भा०)।

अयमात्मा ब्रह्म तत्सत्यं स आत्मा" आदि समस्त उपनिषद् वाक्यों का पर्यवसान इसी अर्थ में हुआ है।[१] यही तुरीय आत्मा है और यही साक्षात् जानने योग्य है। इसी तुरीयावस्था में आत्मा का अद्वैत एवं अविकारी रूप दृष्टिगत होता है,[२] कार्य-कारण का तिरोभाव होता है और निद्रा अथवा स्वप्न का दर्शन नहीं होता है।[३] संतों अथवा भक्तों का आत्मलोक इसी भाव का प्रत्यक्षीकरण है जहाँ ईश्वर की अनुभूति होती है। जब कवि की रहस्य भावना प्रकृति एवं विश्व के अंतराल में किसी शक्ति का आभास प्राप्त करती है, उस समय वह आत्मानुभूति को ही व्यक्त करती है। इस आत्माभिव्यंजना में इच्छा शक्ति का विशेष हाथ रहता है। बिना इस इच्छा-शक्ति के हम अपने विचारों, भावनाओं अथवा धारणाओं को एक गति से युक्त रूप नहीं दे सकते हैं।[४] प्रतीकात्मक दर्शन की दृष्टि से सृजनात्मक शक्तियों का विस्फुरण अनुभूति, इच्छा-शक्ति एवं विश्वास की मिलित क्रियाओं से होता है। इस निष्कर्ष से यह ध्वनित होता है कि मन की उच्चतम क्रियाओं में अनुभूति ही वह अभिन्न अंग है जिसके द्वारा 'सत्य' का साक्षात्कार होता है।[५] मानव के दिव्य जीवन की आधारशिला इसी अनुभूति पर आश्रित है जो आत्मा का धर्म है।

काव्य और मनोवैज्ञानिक प्रतीक

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक प्रतीकों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका महत्त्व काव्य के विशाल प्रांगण में एक सत्य है। अचेतन मन की क्रियाओं का कवि के मनोविज्ञान में क्या स्वरूप हो सकता है यह एक अत्यन्त विवादग्रस्त विषय रहा है। कोई तो कवि की सृजनात्मक क्रिया में अचेतन को ही एक मात्र स्फूर्ति तत्त्व मानते हैं और कोई उसे एक हेय वस्तु की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु इन दोनों दृष्टिकोणों को एक मात्र मान्य नहीं माना जा सकता है। निष्पक्ष दृष्टि से देखने पर कवि की सृजन क्रिया में चेतन अथवा अचेतन दोनों का न्यूनाधिक महत्त्व है। कवि भी

१—उप० भाष्य खंड २, पृ० ५०–५२ माडूक्योपनिषद्।

२—अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः—माण्डूक्योपनिषद् आगम प्रकरण पृ० ५९।

३—माण्डूक्योपनिषद् पृ० ६०, ६१ व ६३ के अनक श्लोका के आधार पर—आगम प्रकरण (उप० भा०)।

४—हिन्दू साइक्लाजी द्वारा स्वामी अखिलानन्द, पृ० ७८।

५—द लाइफ डिवाइन द्वारा अरविंद, पृ० ७१९ भाग २।

एक सामान्य प्राणी है जिसका एक गुप्त जगत भी है जिसे वह प्रकट करना चाहता है। इसी अभिव्यक्ति-इच्छा के कारण वह रूपात्मक अभिव्यंजना का सहारा लेता है जिसमें प्रतीकों का एक मुख्य स्थान है। इस गुप्त जगत के अभिव्यक्तीकरण में काम और स्वप्न-प्रतीकों का एक अपना विशिष्ट स्थान है, क्योंकि कभी-कभी कवि की कविता में इन प्रतीकों का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। परन्तु जैसा प्रथम संकेत हो चुका है कि समस्त काव्य की प्रेरणाएँ अचेतन मन से संबंधित नहीं कही जा सकती हैं अनेक काव्यात्मक प्रतीकों का सृजन मानव मन की सचेतन क्रिया है। दूसरे शब्दों में, काव्य के क्षेत्र में अचेतन का उन्नायक (Sublimated) रूप प्राप्त होता है। जहाँ तक कल्पना का प्रश्न है, मन की इस प्रमुख क्रिया में अचेतन मन का एक विशेष हाथ है। कारलाइल ने अपने निबंधों में अचेतन दशा को सृजन-क्रिया का परम चिह्न माना है जो कवि की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। दूसरी ओर उसने चेतन दशा को उसकी कृत्रिम प्रवृत्ति माना है। इसके साथ-साथ उसका कथन है कि गहन मन (डीपर) शांत रहता है, और इसी से शान्ति स्वर्ण के समान है जिसकी अभिव्यक्ति केवल मात्र प्रतीकों के द्वारा ही हो सकती है।[1] कारलाइल के इस महत्त्वपूर्ण कथन का विश्लेषण अपेक्षित है। काव्य में स्वाभाविकता उसी समय आती है जब कवि की समस्त मनोवृत्तियाँ एवं भावनाएँ साधारणीकरण की स्थिति में पहुँच जाती हैं। इस साधारणीकरण में अचेतन दशा से कहीं अधिक चेतन दशा का हाथ है। फिर, चेतन मन की क्रियाओं को केवल कृत्रिम कह देना भी उचित नहीं है। सत्य तो यह है कि कृत्रिम अथवा स्वाभाविक कोई भी दशा हो सकती है, यदि उसमें कवि की अनुभूति का योग नहीं हुआ है। फिर, कवि के 'गहन मन' को केवल अचेतन नहीं माना जा सकता है। हिन्दू मनोविज्ञान में अचेतन से उच्च स्तर भी माने गए हैं जो सृजनात्मक क्रियाओं में विशिष्ट योगदान देते हैं। इसका संकेत 'चेतन प्रतीकवादी' के अन्तर्गत हो चुका है। मेरे विचार से मानव का 'गहन मन' अचेतन नहीं है, वह तो चेतन अथवा अतिचेतन ही माना जा सकता है। कवि का 'गहन मन' अंतर्दृष्टियुक्त अनुभूति का क्षेत्र है।

कवि की इस अन्तर्दृष्टि के प्रति भी मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि अधिकांशतः इनका क्षेत्र दिवा-स्वप्न (Day Dream) अथवा स्वप्न के

१—पोइटिक माइंड द्वारा प्रेसकॉट, पृ० ६८–६६।

अन्दर ही जाता है। रहस्यवादी अन्तर्दृष्टि का भी समावेश स्वप्न-प्रतीकों की कोटि का माना गया है। कवि का वाह्य जगत से आतरिक जगत में केन्द्रित होना (अहं में समाहित होना) एक प्रकार की स्वप्नद्रष्टा की दशा कही जाती है।[१] स्वप्न क्रिया में हरेक प्रतीक का अति-निश्चयात्मक (Over determined) रूप प्राप्त होता है जिनका महत्त्व अनेक भावात्मक क्रियाओं से युक्त होता है। यह दशा कवि के शब्दों से भी मेल खाती है।[२] उसके शब्द स्वप्न-प्रतीकों के समान अतिनिश्चयात्मक होते हैं और वे भावात्मक ही अधिक होते हैं। अतः कवि की अन्तर्दृष्टि (Vision) और स्वप्न के 'विजन' में महान् अन्तर है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्तर्दृष्टि का स्वप्नपरक मूल्य ही नहीं है। अनेक स्वप्नप्रतीकों का यदा कदा धार्मिक महत्त्व भी प्राप्त होता है और वे अपरोक्ष रूप में, धार्मिक उपदेश भी देते हुए प्रतीत होते हैं।[३] अन्तर्दृष्टि में एक प्रकार का विश्वास एवं सत्य का सम्मिश्रण प्राप्त होता है। काव्य में भावना अथवा कल्पना से अतिरंजित होने के कारण, अन्तर्दृष्टि कहीं अधिक 'सहज' हो उठती है। कवि की अन्तर्दृष्टि सत्य का सहज साक्षात्कार कराती है।

(घ) भाषागत प्रतीकवादी दर्शन

१—चित्र-लिपि और प्रतीक

विचार और लिपि

भाषा का विकास मानव-मन के स्वाभाविक विकास का फल है। यही बात लिपि के विकास के बारे में भी सत्य है। आदि मानव ने वाणी के विकास के साथ लिपि के विकास का भी प्रयत्न किया। रसल के अनुसार लिपि का प्रथम एवं आदि रूप वाणी का वाह्य रूप में अभिव्यक्ति करना नहीं था, पर इसका आरम्भ स्पष्ट चित्रात्मक अभिव्यक्ति से मानना अधिक समीचीन है।[४] परन्तु रसल का यह मत एकांगी है। सत्य तो यह है कि आदि मानव की मानसिक क्रिया चित्रात्मक अभिव्यक्ति एवं वाणी के क्षेत्र में समानांतर ही रही होगी, एक को दूसरे से नितान्त विलग करना अत्यन्त कठिन है। अतः आदि मानव

१—इल्यूजन एंड रियाल्टी द्वारा क्रिस्टोफर कॉडवल, पृ० २०८।

२—वही, पृ० २०८–२०९।

३—हिन्दू साइकलाजी दारा स्वामी अखिलानन्द, पृ० ६८।

४—द एनालिसिस आफ माइंड, द्वारा बर्टरंड रसल, पृ० १९१।

ने अपने अद्भुत विचारों एवं धारणाओं को लिपिबद्ध करने के लिए चित्र-प्रतीकों का आश्रय लिया। परन्तु यहाँ पर इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि गुफाओं में रहने वाले आदि मानवों के बनाये हुए अनेक प्रकार के चित्र, ज्यामीतिक (Geometry) आकार और पशु-पक्षी के चित्र किसी भी प्रकार के विचारों के वाहक नहीं थे। उनका एक मात्र ध्येय 'सहानुभूतिमय तंत्र' की क्रियाओं में ही था।

आदितम चित्र रूप

विभिन्न प्रकार की लिपियों का विकास इस बात का द्योतक है कि उनमें प्रयुक्त विभिन्न चिह्न और प्रतीक किसी विशिष्ट विचार के वाहक होते हैं। इसी से अनेक भाषाविज्ञानियों का मत है कि मानव ने शब्द लिखने के पूर्व विचार को लिपिबद्ध करने का प्रयत्न अपनी अविकसित बुद्धि के द्वारा करने का प्रयत्न किया।[1] अतः इस दृष्टि से इकोनोग्रैफी लिपि अत्यन्त प्राचीन है। इस लिपि के चित्रों के द्वारा एक प्रकार का स्थायी प्रभाव ही मन पर पड़ता है, किसी भी प्रकार के विशिष्ट विचारों का तारतम्य नहीं प्राप्त होता है जो लिपि की प्रतीकात्मक दशा का द्योतक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस आदितम लिपि को सत्य में 'लिपि' की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। लिपि का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग उसके विनिमय का प्रतीकात्मक माध्यम है। यह दशा हमें स्मरण रखने की अनेक कृत्रिम विधियों, यथा आदि जातियों में प्रयुक्त, लकड़ी पर दाँतों (कोड्स) में प्राप्त होती है। इन माध्यमों का महत्त्व इस बात में है कि इनके द्वारा संदेश एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजे जाते थे। अतः ये माध्यम आदितम आदान-प्रदान के प्रतीकात्मक रूप माने जा सकते हैं। अनेक विचारकों के अनुसार इन्हीं चिह्नों या प्रतीकों का प्रयोग 'लेखन' क्रिया का आरम्भ विन्दु है। ये चित्र केवल मात्र आस्ट्रेलिया, उत्तरी अमरीका, पश्चिमी अफ्रीका, चीन, उत्तरपूर्व एशिया की आदिम जातियों में ही प्रयुक्त नहीं होते थे पर प्राचीन इंग्लैंड, इटली और रूस में भी इनका अधिकता से प्रयोग होता था। ये लकड़ियाँ, मनुष्य तथा जानवरों के आकार मूलतः आदिम जातियों में स्मृति के सहायक अंग थे (चित्र १)।

१—लैंग्वेज द्वारा जे० वेनत्रीज पृ० ३१५।

चित्रलिपि और प्रतीक

आदि मानव की प्रतीकात्मक कल्पना का सुन्दरतम विकास हमें चित्र-लिपि में प्राप्त होता है। चित्र-लिपि की प्रथम स्थिति, जो हमें चीनी हिटाइट, मिश्री एवं हरप्पा मोहनजोदाड़ो की लिपियों में प्राप्त होती है, उस समय आरम्भ होती है जब 'चित्र' किसी भी प्राणवान् या निर्जीव पदार्थ के 'प्रतीक' रूप में देखा गया। इस स्थिति को हम चित्र-लिपि का यथार्थ रूप नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इसमें चित्र का पदार्थ-पर्याय ही महत्त्व था। उसके द्वारा किसी विचार की व्यंजना नहीं होती थी। इस स्थिति में प्रतीकों का स्वरूप स्थायी था।

जब चित्र-प्रतीक विचारों के वाहक हुए तब चित्र-लिपि को एक अन्य नाम से अभिभूत किया गया जिसे 'विचार-वाहक चित्र-लिपि' (Ideographic Script) कहते हैं। अतः चित्र-लिपि की दूसरी स्थिति अधिक विकसित मानी गयी है जिसमें प्रतीक विचारों एवं अव्यक्त कल्पनाओं के भी वाहक हैं। उदाहरण स्वरूप वृत्त (Circle) का प्रतीकार्थ सूर्य के अतिरिक्त ताप, प्रकाश तथा देवता का भी होता था। यह प्रवृत्ति हमें चीनी, मिश्री एवं सिंधु घाटी आदि की प्राचीन चित्र-लिपियों में समान रूप से प्राप्त होती है। इन चित्र-प्रतीकों को शब्द-चिह्न (Ideograph) की संज्ञा दी गयी। रसल के अनुसार ये चित्र-प्रतीक जिस भी विचार की अवतारणा करते हैं, ये विचार ही उन प्रतीकों के अर्थ होते हैं।[1]

शुद्ध विचार-वाहक चित्र-लिपियों के दर्शन उत्तरी अमरीका, मध्य अमरीका, पालिनीशियन तथा आस्ट्रेलिया की आदिम जातियों में प्राप्त होते हैं। उदाहरणस्वरूप एक चित्र में उत्तरी अमरीका के निवासियों ने अमरीकी कांग्रेस के पास मछली मारने के अधिकार को एक चित्र के द्वारा व्यक्त किया था। इस चित्र में सात जातियों ने अपने संगठित रूप को सात मछलियों के द्वारा व्यंजित किया था (चित्र २: ख)। इसी प्रकार एक यात्रा को प्रदर्शित करने के लिए भी मनुष्यों के आकार का आश्रय लिया गया है (चित्र २ क)।

चीनी प्रतीकों का स्वरूप

चीनी लिपि चित्रलिपि का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसमें प्रत्येक प्रतीक का आकार लेखन-पदार्थ के आकार के अनुपात से परिवर्तित होता है (जैसे

१—द एनालिसिस आफ माइंड द्वारा रसल, पृ० १६४।
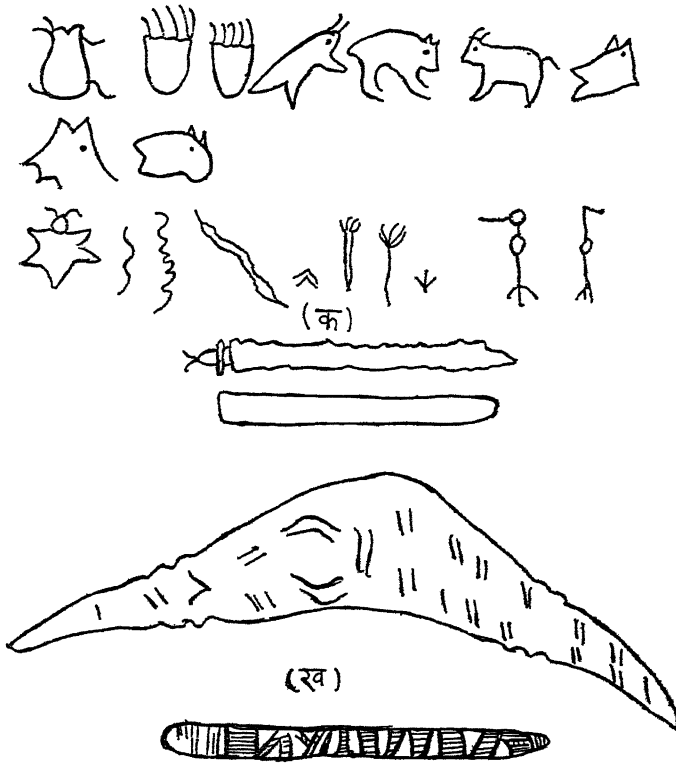
चित्र १—आदिमानवीय चिह्न एवं अन्य कृत्रिम माध्यम्
(क) जीवधारियों के तथा ज्यामीतिक आकार
(ख) लकड़ी पर दाँत तथा अन्य संकेत चिह्न
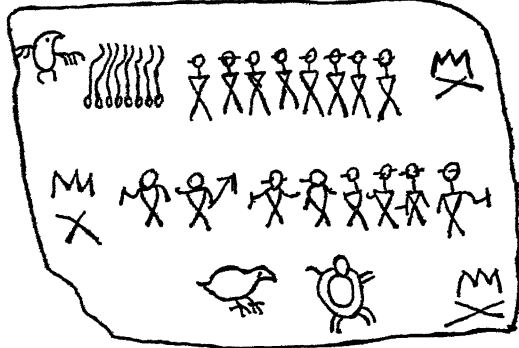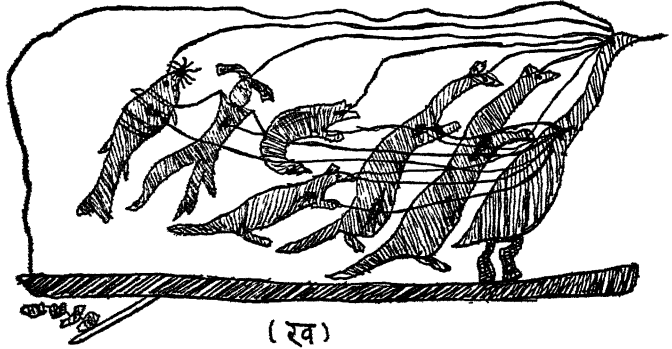
चित्र २—विचार-वाहक चित्रलिपि

(क) उत्तरी अमरीका की एक आदिम जाति का "यात्रा-चित्र"

(ख) उत्तरी अमरीका की सात उपजातियों के मछली मारने के अधिकार का एक मोहक प्रदर्शन ।
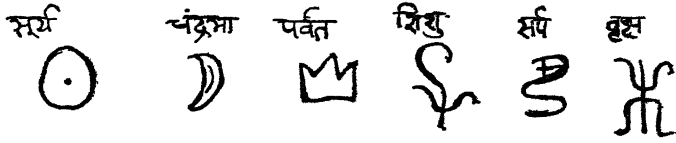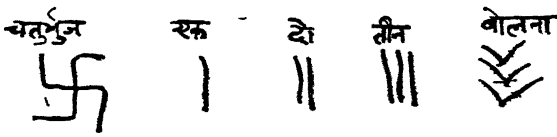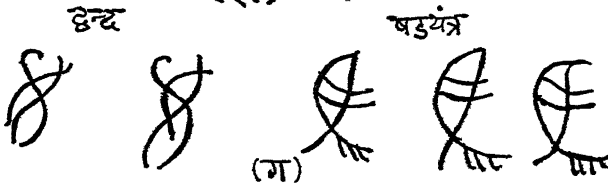
चित्र ३—चीनी चित्र-प्रतीक

(क)—ह्याग प्रतीक

(ख)—ची-शी प्रतीक

(ग) ह्यू-प्रतीक

(ङ)
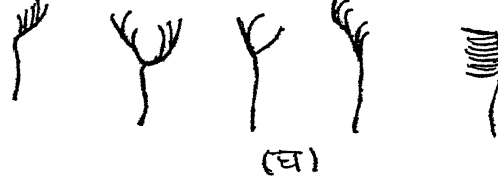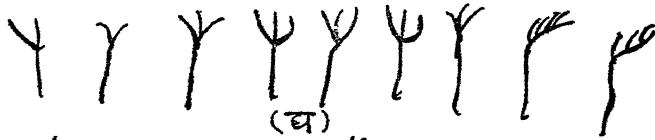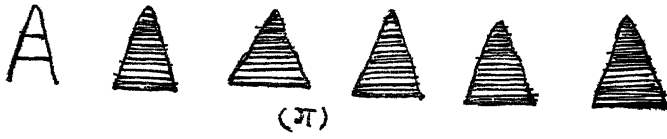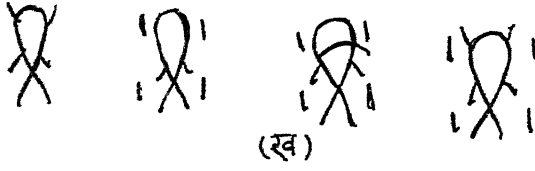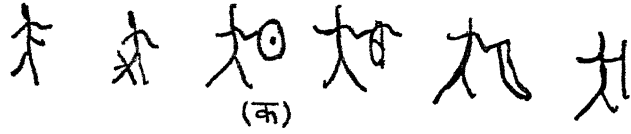
चित्र ४—सिंधु घाटी के चित्र-प्रतीक

(क) मानवीय आकार

(ख) मछली

(ग) पर्वत

(घ) वृक्ष

(ङ) आवर्तित पीपल वृक्ष का वृत्त

लकड़ी, सिल्क)। यह प्रवृत्ति हमें इस निष्कर्ष की ओर ले जाती है कि इस लिपि में प्रतीकों की सदैव अपरिमित वृद्धि होती रही है।[1]

इन चित्र-प्रतीकों को तीन मुख्य विभागों में बाँटा जा सकता है—

(क) ह्यांग-प्रतीक

ये आकारगत प्रतीक किसी विशिष्ट पदार्थ, मानव आकार आदि से साम्य रखते हैं। चीनी लेखन-कला में ये प्रतीक एक प्रकार से आधार स्तंभ हैं। ये आकार चित्र-प्रतीक का कार्य करते हैं जो आदि मानवीय दशा में किसी वस्तु का चित्रांकन निम्न दशा में करते हैं। एक वृत्त एक विन्दु के सहित 'सूर्य' को प्रकट करता है, एक अर्धवृत्त चंद्रमा की व्यंजना करता है। इसी प्रकार एक 'शिशु' का आकार बालक की भावना को स्पष्ट करता है (दे० चित्र ३ क)। इसी प्रकार अनेक अन्य उदाहरण भी हैं जो चित्र में प्रदर्शित हैं।

(ख) ची शीं-प्रतीक

ये प्रतीक अव्यक्त विचारों तथा भावों को प्रकट करते हैं। ये प्रतीक उन शब्दों से लिए गए हैं जिनका सम्बन्ध उनके अर्थों से व्यंजित होता है अथवा इनका सम्बन्ध उन मुद्राओं (Gestures) से भी है जो किसी विशिष्ट अव्यक्त विचार को प्रकट करते हैं। इस वर्ग में कम ही चिह्न प्राप्त होते हैं। इस वर्ग में सरल अंकों का भी समाहार है जो संख्यानुसार एक, दो या तीन रेखाओं से प्रदर्शित किए जाते हैं। 'बोलने' का प्रदर्शन एक मुख और उसके अन्दर एक जीभ को बनाकर प्रकट किया जाता है। इसी प्रकार चतुर्भुज को प्रदर्शित करने के लिए 'स्वस्तिक' का चिह्न काम में लाया जाता है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं जिन्हें चित्र में दिखाया गया है (चित्र ३ ख)।

(ग) ह्वू-प्रतीक

ये प्रतीक, शब्द-चिह्नों (Ideograph) के तार्किक समूह रूप हैं जो अनेक विचारों को अभिव्यक्त करते हैं। इसमें प्रयुक्त प्रतीकों के अर्थ, व्यंजना के द्वारा किसी अन्य तथ्य अथवा विचारों की अभिव्यक्ति दो या अधिक शब्द-चिह्नों (प्रतीक) को एक साथ प्रयोग करने में समाहित है। उदाहरण स्वरूप दो स्त्रियों के चित्र द्वेष या द्वंद्व का प्रतीक हैं। ये चित्र मूलतः समान होते हैं।

१—द एलफाबेट द्वारा डेविड डिरिंजर, पृ० १०६।

जब तीन स्त्रियों को चित्रित किया जाता है तो उसका अर्थ षड्यत्र से गृहीत होता है (चित्र ३ ग) ।

सिन्धु-घाटी के चित्र-प्रतीक

इन समस्त प्रतीकों के विकास की रूपरेखा इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि आदि मानव की विचारात्मक शक्ति इन प्रतीकों के सहारे उनके चेतन-मन को एक नवीन दिशा प्रदान कर रही थी। अनेक लिपियों में इन चित्रों को एक क्रमिक रूप से रखने पर एक सम्पूर्ण कथा का भी अंकन हो जाता था। इस विचारात्मक प्रवृत्ति के दर्शन हमें सिन्धु-घाटी (मोहन-जो-दाड़ो) के प्रतीकों में भी प्राप्त होते हैं।

इन चित्र-प्रतीकों का स्वरूप मूलतः उपयोगितावादी था न कि सौंदर्यवादी। अनेक मुद्राओं (Seals) में इन चित्र-प्रतीकों की संख्या आठ सौ या उससे कम मानी गई है जो इस लिपि को विचारवाहक और ध्वनिलिपि के मध्य में रखती है।[1] परन्तु गूढ़ाक्षरों (चित्रों) के स्पष्टीकरण (Decipherment) में अब भी विद्वानों में मतभेद है। गैड एवं स्मिथ के अनुसार इस लिपि में ३९६ चिह्न हैं और हंटर आदि के अनुसार इन चित्रों की संख्या २५३ है। परन्तु हंटर आदि स्पष्टकर्ताओं के अनुसार सिन्धु-घाटी के चित्र-प्रतीक ब्राह्मी वर्ण से भी कुछ न कुछ संबंध अवश्य रखते हैं। इस लिपि का सम्बन्ध हिट्टाइट, पूर्वीय द्वीपों की लिपियों से भी जोड़ा गया है। कुछ भी हो, इतना तो कहा जा सकता है कि इन चित्रों में कहीं-कहीं पर स्पष्ट विचार तथा ध्वनि-तत्त्वों का संकेत मिल जाता है जो उसे पदात्मक लिपि की ओर अग्रसरी करता है। मानवीय आकार, मछली, पर्वत तथा वृक्ष आदि के चित्र इस भाव को साकारता प्रदान करते हैं। यही बात अनेक शिलालेखों में प्राप्त चित्रों के बारे में भी सत्य है। हरोजनी (Hrozny) ने करीब ११० चिह्नों को ध्वनि-चिह्नों की कोटि में रखा है। इन चित्र-प्रतीकों में एक महत्त्वपूर्ण चित्र U का है जो आवर्तित पीपल वृक्ष से लिया गया है। यह प्रतीक सिन्धु घाटी के समस्त पदों (Salable) में सबसे महत्त्वपूर्ण है। पीपल वृक्ष ब्रह्मा का निवासस्थान माना गया है। इसी से इस वृक्ष को सृष्टिकर्ता वृक्ष की संज्ञा दी गई है।[2] अतः U प्रतीक उपर्युक्त वृक्ष का प्रतीक रूप है और साथ ही सृष्टि-देवता का पर्याय भी (दे० चित्र ४) ।

१—द एलफाबेट, पृ० ८४।

२—हिन्दुस्तान टाइम्स, साप्ताहिक, ३० मार्च १९५८ में प्रकाशित के० एन० शास्त्री का लेख 'वाज इन्डस स्क्रिप्ट रिटिन फ्राम राइट टू लेफ्ट'।

इन समस्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार की आदितम लिपि यही चित्र-लिपि है। भाषाविज्ञानियों के अनुसार यही विचारात्मक चित्र-लिपि प्रायः संसार की सभी लिपि-पद्धतियों की जननी है।[1]

(२) **पद, वर्ण और प्रतीक** (सेलबिल, एलफाबेट एंड सिम्बल)

चित्र-प्रतीक और ध्वनि

शब्द-चिह्न या विचारवाहक चित्रलिपि का विकास उनमें प्रयुक्त प्रतीकों (चित्रों) के संगठन पर निर्भर करता है। विकास की रूपरेखा यहीं पर स्थगित नहीं होती है वरन् वहाँ से एक नवीन दिशा की ओर मुड़ती है। जैसे-जैसे मानव की सम्भाषण अथवा विचार-विनिमय की आवश्यकता बढ़ती गयी वैसे-वैसे उसके लिए शब्द-चिह्नों का प्रयोग, उसकी संपूर्ण आवश्यकता को पूरा न कर सका और इसी कारण उसने लिपि के विकास-क्रम को एक कदम और आगे बढ़ाया।

अस्तु, चित्र-प्रतीकों का प्रयोग केवल पदार्थ अथवा संबंधित विचार की अभिव्यक्ति के लिए ही नहीं होता रहा, परन्तु उनका प्रयोग शब्द-विकास के ध्वन्यात्मक मूल्य पर भी क्रमशः केन्द्रित हो गया। अतः चित्र-लिपि के अनेक चित्र (प्रतीक) ध्वनि-चित्र (Phonogram) के रूप में विकसित हुए। यह ध्वनि-चित्र भाषाशास्त्रियों के अनुसार शब्द-ध्वनि की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। इस स्थिति में चित्र-लिपि का सबसे महत्त्वपूर्ण विकास-चरण उसका पदांश चिह्न अथवा स्वर (Vowel) का सृजन है। डिविन्जर के मातानुसार इन स्वरों का सृजन एवं विकास इस बात का द्योतक नहीं है कि इनकी प्रकृति वर्ण-लिपि की ओर उन्मुख है।[2] लिपि की वर्ण स्थिति का विकास इस दशा से कहीं विकसित रूप माना गया है।

चित्र-लिपि का प्रत्येक प्रतीक 'स्वर' का रूप है। इन्हीं का योग पदों के सामूहिक रूप की अभिव्यक्ति है जो मूलतः, शब्द के उच्चारण में स्वर के एक अभिन्न स्थान का द्योतक है। यही कारण है कि प्रत्येक में 'स्वर' का योग एक सत्य है जिसके बिना उच्चारण-ध्वनि का प्रस्फुटन होना सम्भव नहीं है। भाषा के प्रतीकों में स्वर का इसी से एक अविच्छिन्न

१—लैंगवेज द्वारा वेन्ड्रीज़, पृ० ३२।

२—एल्फाबेट द्वारा डेविड डिरिंजर पृ० ४३ लंदन, न्यूयार्क १९४८।

योग है और संगीत-साधना में स्वर-साधना का रहस्य इसी ध्वनिपरक रूप का उदाहरण कहा जाता है।

सामान्य रूप से ध्वनि का प्रतीकात्मक मूल्य क्रमशः विम्ब (Image) के प्रतीकात्मक मूल्य के समकक्ष आता रहा और आवश्यकता पड़ने पर उसे स्थानान्तरित या रूपान्तरित भी करने में समर्थ हो सका। इसी से वेन्ड्रीज़ का मत है कि एक बार ये दोनों मूल्य—विम्ब और ध्वनि—समानता को प्राप्त हुए, उसी समय प्रथम विम्ब एक लाक्षणिक चिह्न (Emblem) की तरह प्रयुक्त हुआ। अंत में, ध्वनि के स्पष्ट प्रतिलेख की तरह उसका (Graphic Transcription) विकास सम्भव हो सका।[1] अतः लिपि और ध्वनि का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध प्रत्येक भाषा में न्यूनाधिक रूप में प्राप्त होता है। इस प्रकार की लिपियाँ बैबीलान, साइप्रेस, जापानी और पारसी लिपियाँ कही जाती है।[2]

इन ध्वन्यात्मक लिपियों की विशेषता यह है कि इनमें प्रयुक्त एक-एक प्रतीक कभी-कभी अनेक पदार्थों की व्यंजना करता है जिसे अंग्रेजी में पोलीफोन (Polyphone) की संज्ञा दी गई है। यह भी देखा गया है कि कभी-कभी ये चिह्न एक ही पदार्थ की व्यंजना करते हैं तब उन्हें होमोफोन (Homophone) कहते है। परन्तु उपर्युक्त दोनों प्रकार के ध्वन्यात्मक प्रतीकों का अलग-अलग अस्तित्व नहीं माना जाता है पर उनका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध ही सत्य है।

वर्ण और प्रतीक

लेखन कला के उपर्युक्त विकास क्रम की अंतिम स्थिति भाषा के वर्ण समूह (Alphabet) की उच्चतम दशा मानी गई है। वर्ण-लिपि का क्षेत्र पद और स्वर के आगे की स्थिति है जहाँ पर भाषा का वह रूप दृष्टिगोचर होता है जो मानसिक विकास की, सभ्यता की एक उच्चतम अभिव्यक्ति है। एक यथार्थ 'वर्ण' के आकार में प्रत्येक चिह्न सामान्य रूप में एक ही ध्वनि का सूचक होता है और प्रत्येक ध्वनि का सूचक एक स्थायी प्रतीक (चिह्न) होता है। भाषा के वर्णों में ध्वनि का ही प्रतीकात्मक निर्देशन है जिसके समुचित संगठन पर भाषा की व्यंजना शक्ति,

१—लैंग्वेज द्वारा वैनड्रीज, पृ० ३२३ लदन १९५२।

२—इन लिपियों के प्रतीकों का विवरण दे० एल्फाबेट द्वारा डिरिंजर अध्याय १०।

शब्द के रूप में, साकार होती है। परन्तु इसके साथ यह भी ध्यान रखना परमावश्यक है कि वर्ण का एक आकार अथवा संगठन ही लिपि का एक मात्र निश्चित नियम नहीं है। कहीं-कहीं पर एक ही ध्वनि के लिए अनेक प्रतीकों या चिह्नों का प्रयोग भी प्राप्त होता है। मिश्री लिपि ऐसा ही उदाहरण है।

वर्ण के उद्गम स्रोत पर अनेक मत हैं जिनका यहाँ पर विवेचन करना विषय की परिधि का अतिक्रमण करना होगा। फिर भी वर्ण-उद्गम के प्रति दो मत विचारणीय है। विचारकों का एक वर्ग यह मानता है कि साइप्रेस में प्रयुक्त युगारीट (Ugarit) वर्ण आदितम है और दूसरा वर्ग पैलस्टीन से प्राप्त प्रतिलेखों के आधार पर कैनानाइट (Cananite) वर्णलिपि को प्राचीनतम मानता है। परन्तु ये दोनों मत कहाँ तक समीचीन हैं इस पर भाषा-शास्त्रियों में परस्पर मतभेद है। फिर भी, इतना असंदिग्ध है कि इन लिपियों की प्रवृत्ति वर्ण लेखन की ओर अवश्य प्रयत्नशील थी। इस आधार पर डिविजर का मत ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। वह कहता है कि। "यह स्पष्ट है कि पैलस्टीन और सीरिया ने वर्ण लिपि के लेखन के आविष्कार एवं विकास के हेतु समस्त आवश्यक दशाओं तथा परिस्थितियों को सबल योगदान दिया।"[१]

(३) भाषा, शब्द और प्रतीक

भाषा और प्रतीक रूप

वर्ण अथवा अक्षर के संयोग से शब्द का स्वरूप मुखर होता है। भाषा की इकाई 'शब्द' मानी जाती है, जो अनेक विचारकों के अनुसार वर्ण के योग से निर्मित होते हैं। दूसरे शब्दों में प्रतीक (शब्द) का स्थान परमाणु के सदृश है जिसके योग से पदार्थ का विकास सम्भव होता है—यही सत्य भाषा के शब्दों के प्रति भी लागू होता है। भाषा की लिपि इन्हीं शब्द-प्रतीकों के तार्किक सम्बन्ध पर आश्रित रहती है जिसके द्वारा अर्थ-अभिव्यक्ति का स्पष्ट रूप प्राप्त होता है।[२] सम्पूर्ण विश्व वाणी के नामों या उच्चारित शब्दों के द्वारा अनुस्यूत है। जब तक वाणी का सम्बन्ध प्रज्ञा या बुद्धि से नहीं होता है तब तक वाणी 'नामों' को ग्रहण करने में असमर्थ होती है। इसी भाव को शंकराचार्य ने उपनिषद् भाष्य मे इस प्रकार रखा है—

१—द अल्फाबेट, पृ० २१५।

२—द पोइटिक एप्रोच टू लैंगवेज द्वारा गोकाक, पृ० ११।

प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति ।[1]

अर्थात् प्रज्ञा द्वारा वाणी पर आरूढ़ होकर वाणी से सम्पूर्ण नामों को प्राप्त (ग्रहण) करता है ।

भाषागत प्रतीकों के उद्गम एवं विकास को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन दिशाओं का अनुशीलन करें जो प्रतीकों के विकास की ओर संकेत करते है ।

विकास की स्थितियाँ

(१) शब्द-तंत्र—(Word-Magic) आदि मानव के मानसिक विकास को ध्यान में रख कर इन स्थितियों का विवेचन अपेक्षित है । यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भाषा तथा वाणी के शब्दों तथा प्रतीकों का विकास विचार-विनिमय की आवश्यकता पर निर्भर था । जैसा कि प्रथम अध्याय (क) में संकेत किया गया कि आदि मानवीय अद्भुत विचारों का न्यूनाधिक तांत्रिक आधार था । अतएव अनेक प्रकार के भावात्मक उद्गारों का स्वरूप धूमिल शब्द-ध्वनि का प्रतिरूप था और इसी कारण वे आदि 'चिह्न' क्रमशः शब्द-तंत्र के रूप में प्रयुक्त होने लगे । इससे यह सिद्ध होता है कि शब्द का जो आदितम रूप रहा हो 'वह' तांत्रिक रीतियों में शक्ति के उद्बोधन का माध्यम था । किसी भी तंत्र के पीछे मानवीय इच्छा शक्ति कार्य करती है । जब मानव की इच्छा-शक्ति शब्द-तंत्र की शक्ति से समन्वित होती है, तब वह 'शब्द' एक शक्ति का उच्चरित रूप हो जाता है ।[2] यही कारण है कि ये आदि चिह्न, जो वाणी के प्रथम रूप कहे जाते हैं, उनका महत्त्व आदि मानव के लिए एक 'तन्त्र' के समान था, जिसकी सहायता से वे देवताओं, आत्माओं एवं भूतों को अनुष्ठानिक क्रियाओं के द्वारा आवाहन करते थे । इस प्रकार आदि शब्द-ध्वनि के शक्तिपरक रूप के साथ-साथ प्रेषणीयता (Communication) की आवश्यकता ने मानव को चिह्न-निर्माता की संज्ञा प्रदान की । सम्पूर्ण रूप से इस स्थिति में मानव को स्वयं प्रतीकवत् कहा जा सकता है ।[3]

(२) अंग मुद्रा—उपर्युक्त शब्द-ध्वनि या वाह्य चिह्न जो मूलतः भावात्मक एवं संवेदनात्मक थे वे वाणी के आदितम स्रोत कहे गए हैं । अंग-मुद्राओं को

१—उपनिषद् भाष्य खंड २, पृ० ९४ ।

२—द पोइटिक एप्रोच टू लैंगवेज द्वारा वी० के० गोकाक, पृ० ७८ ।

३—द हाउम दैट फ्रायड बिल्ट, जैसट्राव पृ० ७१ ।

भी प्रतीकात्मक माना गया है जो प्रेषणीयता में सहायक होते हैं। इस प्रसंग का पूर्ण विवेचन प्रथम अध्याय (ख) के अंतर्गत किया जा चुका है।

आदिमानवीय विकास में इन मुद्राओं का वाणीपरक महत्त्व इसीलिए मान्य है कि अनेक प्रकार की वाह्य आंगिक अभिव्यक्तियाँ, विस्मयादिबोधक शब्दों तथा ध्वनियों (Interjectional sounds) को प्रकट करती थीं जो शब्द-ध्वनि के अनुष्ठानिक रूप कहे जाते हैं। इस दशा को आदिमानवीय 'अंगमुद्रात्मक-भाषा' (Gesture Language) की संज्ञा दी जा सकती है। इसी ध्वनि के महत्त्व के प्रति महर्षि अरविंद के ये वचन चिंतन करने योग्य है जिनमें शब्द-ध्वनि और मानसिक विकास की मिलित अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। वे कहते हैं—शब्द ध्वनि का जीवित विकास है जिसमें कुछ मुख्य ध्वनियाँ आधारकेन्द्र कही जाती हैं। वास्तव में नाड़ी-संधान ने (Nerves) वाक् या वाणी का सृजन किया है न कि बुद्धि ने।[1] वाणी और भाषा का विकास समूह की प्रक्रिया से प्रारम्भ होता है जब मानवों ने परस्पर अपने भावों को प्रेषणीय बनाने का प्रयत्न किया। इस दिशा में उन्होंने अनेक प्रकार की ध्वनियों का सृजन किया जो इनके भावों के वाहक बन सकें। इन ध्वनियों का सम्बन्ध क्रमशः किसी विशिष्ट क्रिया अथवा पदार्थ से होता गया और इस प्रकार भाषा अथवा वाणी का प्रारम्भ हुआ।[2]

(३) ध्वनि शब्द से प्रतीक तक

किसी भी प्रकार के उच्चारण का महत्त्व उसके अर्थ पर आश्रित रहता है। चाहे वह शब्द-ध्वनि हो या उच्चारण, उसका अर्थ ही प्रमुख वस्तु है। अब प्रश्न है कि ध्वनि-शब्द का अर्थ-विस्तार किस तथ्य पर आधारित रहता है? अर्थ-विज्ञान के अनुशीलन से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि किसी भी 'चिह्न' या ध्वनि-शब्द का अर्थ विस्तार उसके संदर्भ या प्रकरण पर अवलम्बित रहता है।[3] इस दृष्टि से संदर्भ (Reference) की महत्ता शब्द के प्रतीकार्थ का एक अत्यन्त आवश्यक अंग है। भाषा-शास्त्रियों का मत है कि विभिन्न संदर्भों के प्रकाश में ही किसी शब्द विशेष का विविध अर्थ-विस्तार संभव होता है।

१—आर्या, वाल्यूम १, पृ० ३४२।

२—यह फ्रायड का सिद्धान्त है जिसका संकेत फ्राइ ने 'आर्टिस्ट एन्ड साइकोएनालिसिस' में पृ० ४ पर किया है।

३—दे० द मीनिंग आफ मीनिंग द्वारा आडजन आदि में परिशिष्ट १ का ले पृ० ३०७।

न्याय-दर्शन के अनुसार भी शब्द का अर्थ संबंधगत है जो चिह्न और पदार्थ (जिसका प्रतीकीकरण होता है) के अन्योन्य संबंध पर आधारित रहता है।[1] वैदिक ऋषियों ने संस्कृत शब्दों का जो अनेकार्थी महत्त्व अपनी ऋचाओं में प्रदर्शित किया है उसका मूल रहस्य यही सम्बन्धगत अर्थ-विज्ञान कहा जा सकता है। शब्दों में अपने अर्थ से अधिक अर्थ कहने की जो क्षमता है, उस क्षमता या शक्ति को पाणिनि ने 'वृत्ति' की संज्ञा दी है जो व्यंजना शक्ति का ही पर्याय ज्ञात होता है।[2]

आदि ध्वनि-शब्द मानवीय क्रिया के द्योतक थे। ये ध्वनि-शब्द संदर्भ से सीधे सम्बन्धित थे (चित्र १)। ध्वनि-शब्द, जो प्रथम स्थिति में धूमिल क्रियात्मक थे वे अब क्रियात्मक ध्वनि रूप में अभिव्यक्ति को प्राप्त हुए। परन्तु, इस स्थिति तक ध्वनि-शब्द विचारात्मक स्वरूप को प्राप्त नहीं हुए थे। जिस प्रकार शिशु के लिए शब्द क्रिया-प्रतिक्रिया के माध्यम मात्र होते हैं उसी प्रकार आदिमानव के लिए ये ध्वनि-शब्द केवल क्रिया के द्योतक थे। ये शब्द आदिमानवीय स्थिति में पदार्थ से सीधे संबंधित रहते थे (चित्र २)। तीसरी दशा में जब क्रियात्मक वाणी वा भाषा का स्वरूप पूर्ण रूप से मुखर हो जाता है, उस समय क्रियात्मक प्रतीक पदार्थ से अथवा संदर्भ से एक रहस्यात्मक संबंध की पुष्टि करते हैं। इस दशा में क्रियात्मक प्रतीक (शब्द) एक अनुष्ठानिक शक्ति के रूप में प्रयुक्त होता है जिसे हम शब्द-तंत्र की संज्ञा दे चुके हैं (चित्र ३)। चौथी तथा अंतिम स्थिति में क्रियात्मक प्रतीक विचार-वाहक प्रतीक की श्रेणी में आ जाता है और इस दशा में प्रतीक अर्थगर्भित संदर्भों की अवतारणा करता है जिसका विवेचन हम पीछे कर आये हैं (चित्र ४)। इस प्रकार आदि चिह्न ही क्रमशः विचारवाहक प्रतीकों के रूप में विकसित हो सके।

अ		ब
ध्वनि-क्रिया	जो सीधी संबंधित है	संदर्भ से

चित्र १

१—इंडियन फिलासफी द्वारा डा० राधाकृष्णन् भाग २, पृ० ९९-१००।

२—संस्कृति और कला द्वारा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ७२।

चित्र २

अ ———————————————— ब

क्रियात्मक ध्वनि का सम्बन्ध पदार्थ से
(उच्चरित)
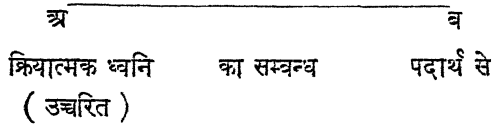
चित्र ३

क्रियात्मक वाणी का रूप

अनुष्ठान की भाषा

चित्र ४

स तर्कमय भाषा का रूप

अ ब

प्रतीक रहस्यात्मक व विचारात्मक सम्बन्ध वस्तु से या संदर्भ से
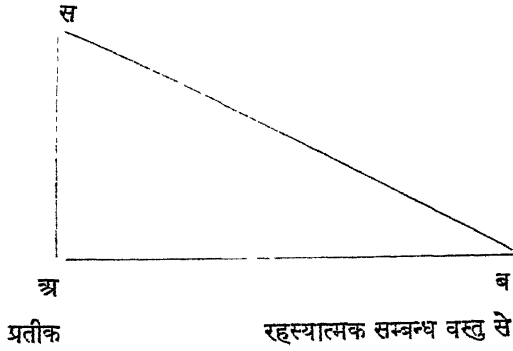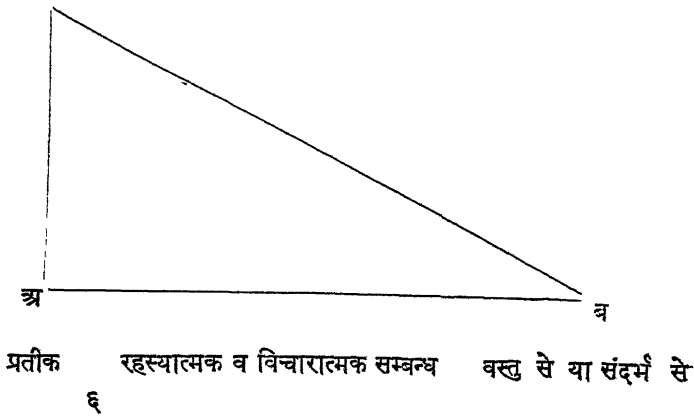
(४) प्रतीकवादी दर्शन

भाषा और शब्द

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विचारवाहक शब्द-प्रतीकों का क्षेत्र मानवीय चेतना के विकास का उच्च बिन्दु है। विचार एवं भाव से संयुक्त शब्द ही प्रतीक की श्रेणी में आता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि शब्द प्रतीक नहीं है। हम जिस भी शब्द का उच्चारण करते हैं या उसे लिपिबद्ध रूप में विचारों के विनिमय का माध्यम बनाते हैं, वे शब्द प्रतीक ही कहे जाते हैं। मानवीय क्रियाओं के मूल में शब्द और उसके अर्थ के संबंध पर आश्रित भाषागत प्रतीकवादी दर्शन का प्रासाद निर्मित होता है। सम्पूर्ण चराचर विश्व के सम्बन्ध शब्द-प्रतीकों के द्वारा एक दूसरे से अनुस्यूत हैं।[१] अतः यह सारा का सारा ब्रह्माड शब्दमय अथवा नाममय ही है, नाम के द्वारा ही (प्रतीक) ज्ञान का स्वरूप मुखर होता है। यही कारण है कि वाक् या वाणी को छांदोग्योपनिषद् में तेजोमयी कहा गया है,[२] उसे 'विराट'[३] की संज्ञा भी दी गयी है। तात्त्विक दृष्टि से अक्षर ब्रह्म और क्षर ब्रह्म के मूल में इसी शब्द-प्रक्रिया का रहस्य छिपा हुआ है।

शब्द की इस विस्तृत भावभूमि को ध्यान में रख कर ही शायद अरस्तू ने 'शब्द का तर्क' (Logic of word) ऐसा कहा, जिसका यही अर्थ है कि शब्द या प्रतीक का तार्किक संबंध ही शब्द का तर्कमय रूप हो सकता है। इन्हीं शब्दों में से अनेक प्रतीक का रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार शब्द किसी धारणा, विश्वास और भाव का प्रतिरूप बन जाता है। अरबन का यह कथन सत्य है कि किसी भी शब्द-प्रतीक में विश्वास मूलतः तत्त्वज्ञान या दर्शन में विश्वास ही माना जायगा।[४] ज्ञान का विस्तृत क्षेत्र चाहे वह

१—दे० पीछे, प्रथम अध्याय में।

२—छांदोग्योपनिषद् पृ० ६२६ श्लोक ४ पर कहा गया है कि मन अन्नमन्य हैं प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है—अन्नमय हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति (उप० भा० खण्ड ३)।

३—वही, पृ० १४५ श्लोक २ वाग्विराट् (उप० भा०)।

४—लैंगवेज एन्ड रियाल्टी द्वारा अरबन, पृ० २५।

साहित्य हो अथवा विज्ञान, उसकी दार्शनिक पीठिका की आधारशिला प्रतीक-सृजन की विश्वासमयी तार्किक मानसिक प्रक्रिया ही है। ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म, चेतना, समय, आकाश, गुरुत्वाकर्षण, परमाणु, अणु और अनेक धार्मिक प्रतीक (जिनका विवेचन अध्याय १ में हो चुका है)—ये सब शब्द-रूप प्रतीक ही हैं जिनमें भावना, तर्क एवं अनुभूति का न्यूनाधिक समाहार प्राप्त होता है। आगे के अध्यायो में भक्तिकाल के अन्तर्गत, कुछ ऐसे ही शब्द-प्रतीको का विवेचन होगा। ये शब्द-प्रतीक किसी विशिष्ट साधना के माध्यम भी रहे हैं जिनके द्वारा साधक अपनी मनोवृत्तियों को उस विशिष्ट 'प्रतीक' में लय कर सकें। इस प्रकार 'प्रतीक' ज्ञान और साधना दोनो का माध्यम हो जाता है।

काव्य के क्षेत्र में प्रतीकों (शब्द) का उपर्युक्त रूप सामान्यतः प्राप्त होता है। इन प्रतीकों में भावात्मक विचार अथवा अनुभूति का समावेश एक मुख्य गुण है। मंत्रों की भाषा में शब्द-प्रतीकों का यही रूप प्राप्त होता है जो 'सत्य' की अभिव्यक्ति में एक सबल अंग है। इसी से ऋग्वेद में कहा गया है कि 'मंत्रो गुरुः सत्यो मंत्रः'[१]। दूसरा तत्त्व जो काव्य-भाषा में अपेक्षित है, वह है प्रतीकों की संगीतात्मक परिणति। कवि के शब्द-प्रतीकों में इस तत्त्व का समावेश एक प्रकार से ध्वनि-प्रतीकवाद का स्वरूप है। इसी से वासलर का यह मत है कि ध्वनिविज्ञान के लिए भाषा आत्मा की अभिनायिका है, जिसके बिना काव्य और उसके साथ जितने भी भाव, विचार, इच्छाएँ आदि अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील रहती हैं, वे सब मूक ही रह जाती हैं।[२] संगीत तत्त्व और अर्थ-अभिव्यक्ति का अन्योन्य संबंध ही काव्यात्मक प्रतीकवाद का सत्य स्वरूप है। फ्रांस के प्रतीकवादी आन्दोलन में मालार्मे और वेग्नर (Wagner) जैसे कवियों ने शब्द-प्रतीक के संगीतात्मक (लययुक्त) महत्त्व की ओर संकेत किया है। मलार्मे ने काव्य-भाषा पर विचार करते हुए यह मत रखा है कि यह कवि का कर्तव्य है कि यह अपने शब्द-चयन में अव्यवस्था के स्थान पर ऐसे शब्दों का निर्वाचन एवं व्यवस्था करे जो पूर्ण रूप से संगीतमय अथवा रागमय हों। इस प्रकार, शब्दों को अनुस्यूत कर उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया से ऐसे रागयुक्त (Melody) स्वर का सृजन करें जिसमें यदि एक भी शब्द या स्वर का रूपान्तर या स्थानान्तर किया जाय तो वह समस्त

१—रसकलस द्वारा अयोध्यासिंह उपाध्याय, पृ० ४ : बनारस, सं० २००८।
२—द प्योटिक एप्रोच टू लैंगवेज द्वारा गौकाक, पृ० ८।

वाक्य का प्रभाव ही नष्ट कर दे।[1] इस कथन में काव्य और संगीत-तत्त्व का जो संबंध प्रदर्शित किया गया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि काव्य में संगीत-तत्त्व का समावेश भावोद्रेक में सहायक होता है। काव्य-भाषा का काव्यत्व इसी संगीतात्मक भाव-परिणति में दृष्टिगोचर होता है।

ज्ञान और प्रतीक

प्रतीकों का नित नवीन सृजन एक प्रकार से ज्ञान तंतुओं को एक व्यवस्थित रूप में रखता है। ज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और उसकी व्यापकता 'सत्य' के क्रमिक साक्षात्कार के साथ उच्चतर होती जाती है। ज्ञान का महत्व इसी सत्य की अनुभूति पर आश्रित है। आधुनिक दार्शनिक विचारधारा की सबसे मुख्य प्रवृत्ति यह है कि समस्त ज्ञान का विकास भाषा और शब्द (प्रतीक) के क्रमिक संगठन एवं उनके विवेचन का इतिहास है। भौतिक दार्शनिक विचारधारा का केन्द्र बिन्दु यही तथ्य है। यदि हम लाक (Locke) से लेकर आधुनिक तार्किक निश्चयवादी विचारकों (Logical Positivists) का अनुशीलन करें तो हमें यह तथ्य ज्ञात होता है कि समस्त प्रतीकों एवं शब्दों का उद्गम स्रोत भौतिक पदार्थों का इंद्रियपरक अनुभव ही है जो अंततोगत्वा तात्त्विक और अभौतिक क्षेत्रों की व्यंजना करते है। इसी से प्रो० वाइटहेड का मत है कि प्रतीकात्मक संदर्भ मानव अनुभव और उस पर आश्रित ज्ञान में एक विवेचनात्मक अंश है।[2] अतः भाषागत प्रतीकवाद का सृजन और उसका एक संगठित सूत्र में अनुस्यूत होना आधुनिक तर्क-शास्त्र की दार्शनिक आधारशिला है। रसल, वेरी, वाइटहेड आदि विचारकों ने प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति को एक अत्यन्त व्यापक क्षेत्र प्रदान किया है। उन्होंने समस्त ज्ञान को प्रतीकों के विवेचन एवं उनके संदर्भ पर आश्रित माना है।

दार्शनिक दृष्टि से भाषागत प्रतीको को हम दो विभागो में विभाजित कर सकते हैं जिनके द्वारा मानव ज्ञान-क्षेत्रों का एक संगठित रूप प्राप्त होता है। दर्शन का क्षेत्र भौतिक और तात्त्विक दोनो क्षेत्रों को अपने अंदर समेटने में समर्थ है। दार्शनिक प्रश्न दो प्रकार के होते है। एक वे जो तार्किक होते हैं और दूसरे वे जो भाव, अनुभूति और तर्क से समन्वित होते हैं। इन दो प्रकार के प्रश्नों का विश्लेषण करने पर दो प्रकार के प्रतीकों का स्वरूप मुखर होता है। तार्किक प्रश्नों का सुंदरतम रूप उन ज्ञान-क्षेत्रों में प्राप्त होता

१—द सिम्बालिस्ट एस्थटिक इन फ्रान्स द्वारा लेहमैन, पृ० १५६।

२—प्रोसेस एंड रियाल्टी द्वारा ए० एन० वाइटहेड, पृ० २६३।

है जो भौतिक जगत से सम्बन्धित होते हैं जैसे तर्कशास्त्र, ज्ञान-सिद्धान्त शास्त्र, भौतिक शास्त्र, इतिहास आदि। इनमें प्रयुक्त प्रतीकों का रूप भौतिक जगत-सापेक्ष अधिक होता है और वे विवेचनात्मक बुद्धि के द्वारा निर्मित होते हैं। दूसरे प्रकार के प्रतीक तात्त्विक ज्ञान-क्षेत्रों में प्रयुक्त होते हैं, जैसे तत्त्वज्ञान शास्त्र (Metaphysics), गणित, भौतिक शास्त्र, धर्म आदि। यह विभाग इस बात का द्योतक नहीं है कि प्रथम वर्ग के प्रतीक केवल भौतिक क्षेत्र की ही व्यंजना करते है और द्वितीय वर्ग के प्रतीक केवल तात्त्विक क्षेत्र की। सत्य तो यह है कि किसी भी ज्ञान-क्षेत्र के प्रतीक जब दार्शनिक चिंतन के माध्यम बन जाते है तो वे मूलतः तात्त्विक क्षेत्र के प्रतीक हो जाते हैं। शब्द अपने उद्गम रूप में भौतिक ही होते हैं, परन्तु यदि उन्हें अभौतिक क्षेत्र की व्यंजना करनी होती है तो वे रूपकात्मक या प्रतीकात्मक रूप ही धारण करते हैं।[१] काव्य-भाषा के क्षेत्र में शब्दों का प्रतीकात्मक रूप इसी तथ्य पर आश्रित रहता है। यहाँ पर यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि ज्ञान का स्वरूप शब्द-प्रतीकों की विवेचना पर आश्रित तो अवश्य है, पर व्यर्थ के शाब्दिक वितंडा से ज्ञान का सत्य रूप भी अज्ञान से आच्छादित ही रहता है। इस सत्य की ओर बृहद्उपनिषद् का यह कथन मनन करने योग्य है—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तदिति।[२]

अर्थात् बुद्धिमान ब्राह्मण को उसे ही जानकर उसी में प्रज्ञा करनी चाहिए। बहुत शब्दों का निरन्तर चिंतन न करे (अनुध्यान) वह तो वाणी का श्रम ही है।

अर्थ विज्ञान और प्रतीक

भाषा के प्रतीकवादी दर्शन की आधारशिला अर्थविज्ञान है। कार्ल ब्रिटन ने एक स्थान पर कहा है कि जगत और प्रकृति का आकार और अर्थ उन्हीं के लिए साकार होता है जिनके पास विचारात्मक चेतना की धरोहर होती है।[३] अतः अर्थविज्ञान का सबसे महत्त्वपूर्ण माध्यम यही 'मन' है। विचारों के

१—लैंगवेज एंड रियाल्टी द्वारा अरबन, पृ० ६४३।

२—बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय ४, ब्राह्मण ४ पृ० १०९१ श्लोक २१: उप० भा० खंड ४।

३—कम्युनिकेशन—ए स्टेडी आफ़ लैंगवेज द्वारा कार्ल ब्रिटन पृ० ११।

संगटन में प्रतीकों और चिह्नों की क्रमशः वृद्धि इसी तथ्य की द्योतक है कि उनका एकमात्र ध्येय अर्थ का स्पष्टीकरण है। अर्थ का यह क्रमिक धारणापरक विकास दर्शन का 'बृहद्' क्षेत्र है।[1] इसी भाव की सुन्दर व्यंजना भारतीय शब्द 'निरुक्त' में प्राप्त होती है। शब्द-निरुक्ति अर्थ-अभिव्यक्ति है। शब्द कहने में आ गया, अर्थ कथन से परे अनुभव या दर्शन चाहता है।[2]

अधिकांशतः जो भी अर्थ विस्तृत भावभूमि को अपने अन्दर समेटते हैं वे प्रतीकात्मक अर्थ ही होते हैं। किसी भी जीवित भाषा का शब्द प्रायः रूढ़ होकर प्रतीक का रूप धारण कर लेता है। सत्य अथवा यथार्थ स्वयं ही अर्थ-गर्भित होते हैं और उसकी अर्थगर्भिता प्रतीकों के अर्थ पर अवलम्बित रहती है। इस दृष्टि से पुराण, धर्म, विज्ञान, कला तथा दर्शन के प्रतीक किसी विशिष्ट अर्थव्यंजना के द्वारा 'यथार्थ' और 'सत्य' के अर्थ-तंतुओं को एक संगठित रूप प्रदान करते हैं।

अनेक विचारको ने अर्थ का अनर्थ करने का प्रयत्न किया है जिनमें रिचार्ड्स, वाडजन, विटगेन्सटीन और कारनाप आदि प्रमुख हैं।[3] कुछ के अनुसार (जेम्स) अर्थ का सम्बन्ध व्यावहारिक निष्कर्षों पर आश्रित है। अन्य विचारकों के अनुसार अर्थ एक प्रकार का भावात्मक उद्रेक है जो किसी विशिष्ट पदार्थ के द्वारा उद्वेलित होता है, अथवा अर्थ वह है जो किसी प्रतीक से सम्बन्धित हो। उपर्युक्त अर्थ-सम्बन्धी सभी धारणाएँ ज्ञान की पूरक हैं। प्रत्येक का स्थान मानव-ज्ञान की वृद्धि के लिए परमावश्यक है। परन्तु फिर भी जहाँ तक भाषा तथा यथार्थ (सत्य) का सम्बन्ध है और उसके द्वारा अर्थ-व्यंजना का प्रश्न है, उस सीमा तक हमें प्रतीकीकरण की प्रक्रिया को अर्थ-विज्ञान का पथ-प्रदर्शक मानना ही पड़ेगा।

भाषा के प्रतीकों का उपर्युक्त अर्थगर्भित विवेचन और उनकी प्रस्थापना तथा ज्ञान से अविछिन्न सम्बन्ध यह तथ्य प्रकट करता है कि प्रतीक की स्थिति मानवीय चेतना के विकास में एक शक्ति रूप ही है। जो बात वासलर ने भाषा के सम्बन्ध में कही है, यदि हम उसे प्रतीक के सम्बन्ध में रूपान्तरित करें तो वह कथन प्रतीक (भाषा) के बारे में भी पूर्ण सत्य होगा। वासलर का कथन

१—फ़िलासफ़ी इन ए न्यू की द्वारा लैंगर, पृ० २३७।

२—संस्कृति और कला द्वारा वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १८७।

३—द मीनिंग आफ़ मीनिंग का नवम अध्याय देखिए।

है—'एक राष्ट्र की भाषागत 'आत्मा' कोई कल्पनाप्रसूत पौराणिक रूप नहीं है, यह एक शक्ति है, एक योग्यता है, एक स्वभाव (प्रकृति) है।'[१]

(ङ) वैज्ञानिक प्रतीकवादी दर्शन

प्रवेश

वैज्ञानिक विकास का इतिहास इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि मानवमन के विकास क्रम में वैज्ञानिक प्रतीकवाद एक सबल क्रियात्मक ज्ञान-क्षेत्र है। उसमें प्राप्त प्रतीकीकरण की प्रवृत्ति का अपना एक विशिष्ट दर्शन है। अतः वैहींगर के शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'वैज्ञानिक प्रतीकवाद मानव के प्रतीकीकरण-शक्ति का एक नवीन अध्याय है।'[२] वैज्ञानिक प्रतीकों की पृष्ठभूमि में अनुभव और प्रयोग की एक अपनी निजी परिणति है जो अधिकांशतः अन्य ज्ञान के प्रतीकों में अप्राप्य है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य ज्ञान-क्षेत्रों की प्रतीक-सृजन-क्रिया अनुभवहीन अथवा प्रयोगहीन होती है, परन्तु इतना तो असंदिग्ध है कि वैज्ञानिक प्रतीकों में इनका कहीं अधिक समाहार होता है। अस्तु, अध्ययन की सुविधा के लिए विज्ञान के विशाल क्षेत्र को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम भौतिक संबंधी विज्ञान (जैसे रसायन, भौतिकशास्त्र, प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञानादि) और द्वितीय गणित संबंधी विज्ञान (जैसे भौतिक शास्त्र, गणित, ज्यामिति, तर्कशास्त्र आदि)। प्रतीकात्मक अध्ययन के लिए इन विभागों के प्रतीकों पर विचार अपेक्षित है।

तर्कशास्त्र और प्रतीक

जिस प्रकार प्रत्येक कला का पर्यवसान संगीत के मधुरिम आंचल में होता है, उसी प्रकार समस्त विज्ञान की उन्मुखता तर्क के कठोर सत्य की ओर होती है। तर्कशास्त्र (Logic) की एक 'परिभाषा' अर्थ-विज्ञान में प्राप्त होती है। उस परिभाषा के अनुसार तर्कशास्त्र में प्राप्त अर्थ-तारतम्य उसमें प्रयुक्त प्रतीकों की तर्कमयता पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त तर्कशास्त्र की दूसरी परिभाषा अधिक वैज्ञानिक सत्य के निकट है। इसके अनुसार तर्कशास्त्र

१—The language-spirit of a nation is no mythological being, it is a force, a talent, a temperament.
—From Language and Reality by Urban p. 431.

२—द फिलासफी आफ 'एज-इफ' द्वारा वेहींगर पृ० ११ (१९२५)।

एक प्रतीक-विज्ञान के समान है जिसका प्रयोग किसी न किसी नियम के अन्तर्गत भौतिक शास्त्रों अथवा गणित में प्राप्त होता है। इसी से बटरन्ड रसल के मतानुसार तर्कशास्त्र का संबंध यथार्थ प्रतीकवाद पर ही आधारित है।[१] जैसा कि प्रथम संकेत किया गया (भाषागत प्रतीकवाद के अन्तर्गत), प्रतीक का और उस वस्तु का, जिसका कि प्रतीकीकरण हुआ है, संबंध मूलतः अर्थ-संबंध है। अरबन के अनुसार प्रतीक और उसके अर्थ की समस्या एक ही है जिसके द्वारा तर्कशास्त्र की ऊर्ध्वगामी स्थिति का स्वरूप मुखर होता है।[२]

गणित और प्रतीक

अर्थ के दो पक्ष होते हैं—एक मनोवैज्ञानिक और दूसरा तार्किक। मनोविज्ञान की दृष्टि से, कोई भी वस्तु जिसे अर्थ ग्रहण करना है, उसे चिह्न अथवा प्रतीक का रूप लेना पड़ेगा। दूसरी ओर, तार्किक दृष्टि से, इन प्रतीकों को एक विशिष्ट विधिक्रम से संदर्भ की अवतारणा करनी पड़ती है। अतः लैंगर के शब्दों में हम कह सकते हैं कि अर्थ का नवीन दर्शन सर्वप्रथम प्रतीकों का तार्किक संबंध है जिसके द्वारा एक विशिष्ट अर्थ की व्यंजना होती है।[3] गणित के सामान्यतः सभी चिह्न और प्रतीक तार्किक अर्थ-व्यंजना ही करते हैं और अपनी योजना के फलस्वरूप 'सत्य' के किसी अंग का रहस्योद्घाटन करते हैं। कुछ विचारकों के अनुसार गणित के चिह्न और प्रतीक शब्द के वर्ण ही हैं जो अव्यक्त बिम्बों की श्रेणी में माने जाते हैं।[४] बीजगणित के प्रतीक ऐसे ही वर्ण हैं जो किसी विशिष्ट मूल्य की व्यंजना करते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति हमें 'अंकों' के रूप में भी प्राप्त होती है। अंकों का प्रतीकार्थ तर्क सम्मत होता है। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भाषा के वर्ण जिनका आयोजन शब्द संगठन में होता है, वे कभी कभी स्वतंत्र रूप से किसी अर्थ की व्यंजना करते हैं। धार्मिक प्रतीकों के अन्तर्गत हम सत्य और ओउम् (अ+उ+म) के स्वतंत्र वर्ण प्रतीकार्थ पर विचार कर चुके हैं।[५]

१—द फिलासफी आफ मैथिमैटिक्स द्वारा रसल, पृ० ३५।

२—लैंगवेज एंड रियालटी द्वारा अरबन, पृ० २७६।

३—द फ़िलासफ़ी इन ए न्यू की द्वारा लैंगर, पृ० ५२।

४—द वन्डर आफ़ वर्ड्स द्वारा गोल्डबर्ग, पृ० ८६।

५—दे० अध्याय प्रथम उपखंड 'ग'।

गणित संबंधी विज्ञानों में इन वर्णों का अर्थ भी कुछ इसी प्रकार से प्राप्त होता है।

अतः गणित में प्रयुक्त प्रतीकों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। कला व साहित्य मे प्रयुक्त प्रतीकों से इन प्रतीकों का रूप सर्वथा भिन्न है। गणित के प्रतीक कहीं अधिक अव्यक्त हैं। उनका रूप उतना स्पष्ट नहीं होता है जितना कला व साहित्य का। गणित के प्रतीकों, यथा अंक, रेखाएँ, ज्यामीतिक चित्र, (Geometrical Figures) और वर्ण के द्वारा एक ऐसी भाषा का सृजन होता है जिसे हम कारनाप द्वारा विभाजित स्थायी भाषा (Definite Language) के अंदर रख सकते हैं। इस गणित संबंधी भाषा में प्रयुक्त प्रत्येक प्रतीक की योजना एक व्यक्त पूर्णता की द्योतक होती है।[1] इस भाषा के अन्तर्गत कलन (Calculus) का भी समावेश किया गया है।

इसके अतिरिक्त, गणित तथा भौतिक विज्ञान में एक अन्य प्रकार की भाषा का प्रयोग होता है। इसमें प्रतीकों की योजना केवल मात्र तार्किक ही नहीं होती है। उनका स्वरूप विवरणात्मक (Descriptive) होता है। रसल और कारनाप ने इस प्रकार की भाषा को अस्थायी भाषा (Indefinite Language) की संज्ञा दी है जो स्थायी भाषा से कहीं अधिक व्यंजना शक्ति से युक्त होती है।[2] इस भाषा के अन्तर्गत प्राचीन गणित और साथ ही भौतिक विज्ञानो के वाक्य और उनमें प्रयुक्त प्रतीकों का भी समावेश रहता है।

इस प्रकार गणित के क्षेत्र में दो प्रकार के प्रतीक प्रयुक्त होते हैं। एक तो वे प्रतीक जो स्थायी रहते हैं अथवा जिनका क्रम एक सा होता है जैसे संख्याएँ १, २, ३, ४ आदि। दूसरे वे प्रतीक होते हैं जिनका मूल्य अस्थायी रहता है और उनका अर्थ सदा परिवर्तित होता रहता है। ऐसे प्रतीक क, ख, ग, आदि (या A, B, C) है। इनका अर्थ अनिश्चयात्मक होता है, क्योंकि संदर्भ के प्रकाश में उनके अर्थ या मूल्य में परिवर्तन होता रहता है। ऐसे अनिश्चयात्मक अर्थवाहक प्रतीकों को रूपान्तर-अंक (Variables) की संज्ञा प्रदान की गई है।[3]

भौतिकविज्ञान और प्रतीक

ये प्रतीक अधिकतर विवरणात्मक एवं किसी विशिष्ट धारणा के प्रतिरूप

१—द लाजिकल सिनटेक्स आफ़ लैंगवेज द्वारा कारनाप, पृ० ११—१८

२—द फ़िलासफ़ी आफ़ मैथिमैटिक्स द्वारा रसल, पृ० ८३।

३—द लाजिकल सिन्टैक्स आफ़ लैंगवेज द्वारा कारनाप, पृ० १८९।

होते हैं। ऐसे प्रतीक प्राणिशास्त्र, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र आदि में प्राप्त होते हैं।

इन विज्ञान के प्रतीकों में, जैसा कि प्रथम संकेत किया गया, अनुभव तथा प्रयोग पर आश्रित किसी विशिष्ट धारणा तथा विचार का प्रतिरूप मिलता है। एक प्रकार से ये प्रतीक 'यथार्थ' का विश्लेषणात्मक रूप ही रखते हैं। इन प्रतीकों का काव्यात्मक रूप भी हो सकता है जिस पर हम यथास्थान विचार करेंगे। आधुनिक वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि ने मानव चेतना के स्तरों में एक उथल-पुथल मचा दी है। अनेक नवीन आविष्कारों ने प्रतीक-सृजन की क्रिया को एक गत्यात्मक रूप प्रदान कर दिया है जो अन्य ज्ञान क्षेत्रों में (कविता को छोड़ कर) दुर्लभता से प्राप्त होगा। इसका प्रमुख कारण ज्ञान के उन स्तरों का उद्घाटन करना है जो अभी तक मानवीय चेतना की परिधि में नहीं आ सके हैं। जब मानवीय ज्ञान नित नूतन अभियानों की ओर अग्रसर होता है तब वह उस ज्ञान को स्थायी करने के लिए नूतन प्रतीकों का सहारा लेता है। वैज्ञानिक प्रतीकवाद ने इस नियम का पूर्ण रूप से पालन किया है। यही कारण है कि नवीन वैज्ञानिक दृष्टि से प्राचीन और रूढ़ मूल्यों पर आश्रित प्रतीकवाद का संघर्ष रहा है। इसके फलस्वरूप अभौतिक यथार्थ के स्थान पर भौतिक प्रयोगात्मक दृष्टि का विकास भी सम्भव हो सका।[1]

वैज्ञानिक प्रतीकवाद, जैसा कि हक्सले का मत है, एक ऐश्वर्ययुक्त सामान्य भाषा का अंग है। वैज्ञानिक प्रतीकों के सृजन में जहाँ एक ओर सामान्यीकरण की प्रवृत्ति नज़र आती है वहीं उस सामान्यीकरण से प्राप्त फल का विशिष्टीकरण भी होता है। अन्त में यह विशिष्टीकरण प्रतीक के द्वारा प्रकट किया जाता है। अतः प्रतीक के स्वरूप-विकास मे सामान्य एवं विशिष्ट दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं। वैज्ञानिक अपने अनेक प्रयोगो अथवा अनुभवों के आधार पर किसी तथ्य का सामान्य रूप एकत्र करता है। फिर वह उन एकत्र किए सामान्य निष्कर्षों को एक या अनेक प्रतीकों में विशिष्टीकरण कर स्थिर कर देता है। परमाणु, अणु, गुरुत्वाकर्षण, ऊर्जा (इनर्जी), समय, आकाश आदि जितने भी प्रतीक हैं उनमें सामान्यतः उपर्युक्त प्रक्रिया ही प्राप्त होती है।

वैज्ञानिक धारणाएँ और प्रतीक

वैज्ञानिक धारणाओं का स्वरूप उपर्युक्त विशिष्टीकरण-प्रक्रिया का फल है।

१—फ़िलासफी इन ए न्यू की द्वारा एस० के० लैंगर, पृ० २२७।

ये धारणाएँ या तो स्वतन्त्र पदार्थों या इकाइयों से संबंधित रहती हैं अथवा उनका रूप 'संबंधों' पर ही (Relational) आश्रित है। इन दोनों प्रकार की धारणाओं को प्रतीकों के द्वारा निर्देशित किया जाता है। अरबन के अनुसार ये धारणाएँ प्रथम तो केवलमात्र 'यथार्थ' का प्रतिबिंब मात्र थीं, परन्तु गत्यात्मक-विद्युत् (Electrodynamics) के आगमन के साथ इन धारणाओं का ध्येय यथार्थ का प्रतीकात्मक निर्देशन करना हो गया।[1] यहीं से प्रतीकवाद विज्ञान का एक अटूट अंग हो गया। गत्यात्मक-विद्युतीय सिद्धान्त भौतिक पदार्थों का जटिल रूप नहीं है, पर उनके सापेक्ष सम्बन्धों का एक सरल निर्देशन मात्र है। अतः वैज्ञानिक प्रतीकवाद का संबंधगत सिद्धान्त (Relational Theory) इस बात पर आश्रित है कि 'सत्य' और यथार्थ की अभिव्यक्ति सम्बन्धित इकाइयों अथवा आकारों पर आधारित है जो प्रतीकों के द्वारा 'पूर्ण' आकार की योजना करती है। अतः यह सिद्धान्त सिद्ध करता है कि भौतिक विश्व का रहस्य 'संबंधों' पर आश्रित, प्रतीक की धारणा में सन्निहित रहता है।

यह सिद्धान्त एक अन्य तथ्य की ओर संकेत करता है। यदि विज्ञान इन प्रतीकों की अभिव्यक्ति में नाटकीय भाषा का प्रयोग करता है, तब वह 'कुछ' कहता है और यदि ऐसी नाटकीय भाषा का प्रयोग नहीं करता है, तब वह केवल क्रियाशील ही रहता है। उसे 'यथार्थ' और 'सत्य' का माध्यम नहीं बना सकता है। ये प्रतीक तात्त्विक अभिव्यंजना भी करते हैं और यही कारण है कि विज्ञान की विश्व-संबंधित प्रस्थापनाएँ तात्त्विक एवं भौतिक रूपों में प्रतीकात्मक ही होती हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक-तत्त्व चिंतन (Metaphysics of Science) का स्वरूप हमारे सामने मुखर होता है। यही बात आइंस्टीन के सापेक्षतावादी सिद्धान्त के प्रति भी सत्य है। आइंस्टीन का शब्द 'पूर्व स्थापित-सामरस्य' (Pre-established Harmony) की धारणा में इसी सत्य का संकेत है। सम्पूर्ण विश्व का संचालन एक पूर्व स्थापित समरसता के द्वारा ही होता है जो कार्य-कारण की श्रृंखला से घटनाओं को एक सूत्र में अनुस्यूत किये हुए है। इस विचारधारा में क्या किसी दार्शनिक चिंतन से कम सत्य है ? इसी प्रकार परमाणु का रहस्योद्घाटन सूर्यमंडल के रहस्य से समानता रखता है। जिस प्रकार परमाणु के आकार में केन्द्र के चारों ओर एलक्ट्रान परिक्रमा करते हैं उसी प्रकार सूर्यमंडल का केन्द्र सूर्य है और उसके

१—लैंगवेज एंड रियाल्टी द्वारा अरबन, पृ० ५२६।

चारों ओर निश्चित वृत्त में ग्रह परिक्रमा करते हैं। इस तथ्य में विश्व के प्रति एक तात्विक दृष्टि प्राप्त होती है। वैज्ञानिक प्रतीकवाद का यह तात्विक क्षेत्र ईश्वर, समय, आकाश आदि की धारणाओं में भी सत्य है।[1] यह सत्य पदार्थवादियों एवं भौतिकवादियों के विरुद्ध पड़ता है जो विज्ञान को तत्व-चिंतन का विषय नहीं मानते हैं। परन्तु उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि यह प्रवृत्ति वैज्ञानिक प्रतीकवाद की संकुचित भावभूमि है, वह भी मानव ज्ञान के तत्त्वपरक रूप का समान अधिकारी है। इस प्रकार काव्यात्मक प्रतीकवाद की तरह वैज्ञानिक प्रतीकवाद को प्रत्यावर्तित तत्त्व-चिंतन (Covert-Metaphysics) की संज्ञा दी जा सकती है।

वैज्ञानिक प्रतीक और काव्य

अनेक विचारकों का मत है कि वैज्ञानिक प्रतीकों का क्षेत्र काव्य अथवा कला के समान नाटकीय नहीं है और उनके द्वारा सौंदर्यानुभूति या रसानुभूति सम्भव नहीं है। इस मत का विश्लेषण अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इसकी समुचित विवेचना पर ही साहित्य और विज्ञान की समन्वय-भूमि प्रस्तुत हो सकती है।

जहाँ तक सौंदर्यानुभूति या रसानुभूति का प्रश्न है, वैज्ञानिक प्रतीकों में इनका समुचित समावेश है। उसके लिए केवल एक विशेष मानसिक एवं बौद्धिक अंतर्दृष्टि अपेक्षित है। यदि हम डारविन के विकासवादी सिद्धान्त या आइंस्टीन के सापेक्षतावादी सिद्धान्त अथवा मैक्सवेल के विद्युत्-चुम्बकीय सिद्धान्त का अनुशीलन करें तो इन समस्त नवीन विचार-पद्धतियों की भाषा और उनमें प्राप्त प्रतीकों की योजना क्या कम नाटकीय रूप से हमारे सामने आती है ? अणु और परमाणु की महत् शक्ति को देखकर, नक्षत्र मंडल के बृहद् रहस्योद्घाटन को देखकर, समय, आकाश और गुरुत्वाकर्षण शक्ति की धारणाओं को देखकर क्या हमारे अंदर सौंदर्य-भावना का संचार नहीं होता है ? अंतर केवल इतना है कि जहाँ कला का सौंदर्य भावना और संवेदना पर आश्रित रहता है वहाँ विज्ञान का सौंदर्य बुद्धि और तर्क पर अधिक आश्रित रहता है। अतः मेरे विचार से वैज्ञानिक

१—इस दिशा की ओर अनेक वैज्ञानिक दार्शनिकों ने प्रयत्न किये हैं जैसे ड्यूनूं, वाइटहेड, आइंस्टीन। इस विषय में दे० ह्यूमन डेस्टिनी द्वारा ड्यूनूं, साइंस एंड द माडर्न वर्ल्ड द्वारा वाइटहेड, प्रोसेस इंड रियल्टी द्वारा वाइटहेड।

प्रतीकों का प्रयोग साहित्य में संभव है। यह कवि की प्रतिभा पर निर्भर करता है कि वह वैज्ञानिक प्रतीकों को किस प्रकार बुद्धि, भावना तथा संवेदना से समन्वित कर काव्यानुभूति में एकरस कर सकता है ?

मैं अपने उपर्युक्त कथन को एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। वैज्ञानिक प्रतीकों और धारणाओं का स्वरूप हिन्दी काव्य में और पाश्चात्य काव्य में समान रूप से मिल जाता है। शेली के 'प्रोमिथियस अनबाउंड', प्रसाद की 'कामायनी' और पंत की स्फुट कविताओं में यदाकदा वैज्ञानिक प्रतीकों और विचारों की काव्यात्मक परिणति प्राप्त हो जाती है। मै प्रसाद की 'कामायनी' से एक उदाहरण लेता हूँ जो 'परमाणु' की वैज्ञानिक धारणा को काव्यात्मक रूप से सामने रखता है।

विज्ञान ने भौतिक जगत् की सूक्ष्मतम इकाई को 'परमाणु' की संज्ञा दी है। परमाणु के भी अंदर उसकी विद्युत् शक्ति की व्याख्या करने के लिए 'एलक्ट्रान' और 'प्रोटान' आदि की कल्पना की गयी। एलक्ट्रान ऋणात्मक विद्युत शक्ति का और प्रोटान धनात्मक शक्ति का केन्द्र या प्रतीक होता है। दोनों की शक्तियाँ निष्क्रिय अवस्था में रहती हैं। इसी तथ्य की सुन्दर काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रसाद ने इस प्रकार की है—

आकर्षणविहीन विद्युत्कण बने भारवाही थे भृत्य।[१]

पूरे महाकाव्य में प्रसाद परमाणु की रचना तथा प्रकृति के प्रति पूर्ण रूप से सचेत हैं। बीसवी शताब्दी के पहले चरण तक परमाणु के रहस्य का साक्षात्कार डाल्टन, बोहर आदि ने किया था। परमाणु की प्रकृति अत्यन्त चलायमान होती है। प्रत्येक परमाणु दूसरे अणु के प्रति आकर्षित ही नहीं होता है वरन् उस आकर्षण में नवीन सृष्टि-क्रम की सम्भावनाएँ भी सन्निहित हैं। उनके विस्फोट में संहार और निर्माण की समान संभावनाएँ रहती हैं। इसीलिए परमाणु जो स्वयं में एक एक ब्रह्मांड है और सौरमंडल का प्रतिरूप है, उन्हें कभी भी विश्राम नहीं प्राप्त होता है। उनका विश्राम मानो प्रकृति की गतिशील विकासशीलता का व्यवधान ही है। अतः आइंस्टीन के अनुसार परमाणुओं में वेग (Velocity), कंपन (Vibration) और उल्लास (Veracity) तीनों की अन्विति प्राप्त होती है। तीनों के सम्यक् समन्वय या समरसता में ही प्रकृति की सृष्टि का रहस्य छिपा हुआ है। प्रसाद ने इसी तथ्य को काम सर्ग में इस प्रकार व्यक्त किया है—

१—कामायनी द्वारा जयशङ्कर प्रसाद, चिंता सर्ग, पृ० २०।

अणुओं को है विश्राम कहाँ,
यह कृतिमय वेग भरा कितना।
अविराम नाचता कंपन है,
उल्लास सजीव हुआ कितना।[1]

वेग, कंपन और उल्लास—अणु के तीन प्रमुख तत्त्वों का कितना सुन्दर काव्यात्मक रूप है। इसी भाव को पंत जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

महिमा के विशद जलधि में हैं छोटे छोटे से कण।
अणु से विकसित जग जीवन लघु लघु का गुरुतम साधन।[2]

अणु है तो लघु, पर इन्हीं लघु तत्त्वों के संयोग से गुरुतम सृष्टि-कार्य भी सम्पन्न होता है। यह विश्व मानो रहस्यपूर्ण सागर है और परमाणु उसमें छोटे छोटे कण के समान हैं। इसी कारण से प्रसाद ने परमाणुओं को चेतनायुक्त भी कहा है जिनके अन्योन्य संबंधों में, उनके बिखरने एवं विलीन होने में सृष्टि का विकास एवं निलय निहित रहता है—

चेतन परमाणु अनंत बिखर,
बनते विलीन होते क्षण भर।[3]

इस प्रकार वैज्ञानिक प्रतीक का काव्यपरक स्वरूप एक प्रकार से संवेदना (Feeling) और भावना के सम्मिश्रण से काव्य की धरोहर हो जाता है। हिन्दी काव्य में वैज्ञानिक धारणाओं अथवा प्रतीकों का यदा कदा सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है, जैसे विकासवाद का कामायनी में, समय व आकाश का कामायनी तथा पंत में, और अनेक वैज्ञानिक विचारों का रूप हमें आज के कवियों में भी प्राप्त हो सकता है। यह एक अलग प्रबंध का विषय है जिस पर मेरा कार्य प्रायः समाप्त ही हो गया है।

(च) तात्त्विक प्रतीकवादी दर्शन

दार्शनिक ज्ञान और प्रतीक

प्रत्येक ज्ञान का उच्चतम विकास अथवा उसका अन्त, दर्शन के महाज्ञान में होता है। विभिन्न प्रतीकवादी दर्शनों के अनुशीलन के द्वारा यह स्पष्ट होता

१—वही, काम सर्ग, पृ० ६५।
२—गुंजन द्वारा सुमित्रानंदन पंत, पृ० २८।
३—कामायनी द्वारा जयशंकर प्रसाद, पृ० ८२।

है कि सभी ज्ञान-क्षेत्रों का ऊर्ध्वगामी रूप दार्शनिक तत्त्व चिन्तन में ही परिणत हो जाता है। ये प्रतीक दार्शनिक तत्त्वचिंतन के धरोहर उसी समय होते हैं जब उनके द्वारा चिंतन (Reflective Thinking) का तर्कसम्मत रूप स्पष्ट होता है। दार्शनिक प्रतीकों में इसी से अनेक ज्ञान-क्षेत्रों की धारणाओं का सामूहिक अथवा समन्वित रूप प्राप्त होता है। दार्शनिक ज्ञान में इसी से किसी प्रकार का अंधविश्वास नहीं होता है, जीवन और विश्व के प्रति उदासीनता का भाव नहीं होता है और न होती है किसी भी ज्ञान क्षेत्र के प्रति स्पर्धा या उदासीनता। वह समान रूप से डार्विन के विकासवाद से, अरविंद के अतिचेतन सिद्धान्त से, वाइटहेड के अंगीय सिद्धान्त से (Theory of Organism) और न्यूटन, आइस्टीन आदि के वैज्ञानिक सिद्धान्तों से यथार्थ और सत्य के दो छोरों को एक सरल रेखा में लाने का प्रयत्न करता है। इस कार्य में भाषा का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है जो प्रतीकों के द्वारा दार्शनिक चिंतन को स्थायीत्व प्रदान करता है। दार्शनिक भाषा का सृजन प्रतीकवाद का विकास ही है। इस दृष्टि से प्रतीकीकरण का सिद्धान्त दार्शनिक ज्ञान का महत्वपूर्ण अंग है।

दार्शनिक ज्ञान का समष्टीकरण प्रायः प्रतीकों में ही होता है। अतः दार्शनिक शब्दों (प्रतीकों) का स्वरूप संकल्पात्मक (Affirmative) होता है। दूसरी ओर, जब उन्हें एक विस्तृत एवं व्यापक ज्ञान-क्षेत्र की व्यंजना करनी होती है तो उनके प्राथमिक अर्थ (भौतिक) का निषेध हो जाता है। उदाहरणस्वरूप हम शापनहावर के इस वाक्य को ले सकते हैं—'विश्व इच्छा-शक्ति तथा विचार का रूप है।' इसमें इच्छाशक्ति का प्रतीकात्मक अर्थ उसके प्राथमिक अर्थ से भिन्न है। इसका एक अन्य सुन्दर उदाहरण छांदोग्योपनिषद् में मिलता है—

> 'स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो
> ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामीति ते,
> होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव
> कमिति प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः।[1]

अर्थात् "वह बोला (ब्रह्मचारी) यह तो मै जानता हूँ कि प्राण ब्रह्म है, किन्तु 'क' और 'ख' को नहीं जानता। तब वे बोले, निश्चय जो 'क' है, वही 'ख'

१—छांदोग्योपनिषद्, अध्याय ४, खण्ड १० पृ० ४०४ (उप० भा०)।

है और जो 'ख' है वही 'क' है। इस प्रकार उन्होंने उसे प्राण और उसके आश्रयभूत आकाश का उपदेश दिया।" यहाँ पर प्राण, ब्रह्म, 'क' और 'ख'— इन सबका प्राथनिक अर्थ किसी दार्शनिक तत्त्व की ओर संकेत करता है। यहाँ पर प्राण वह मानवीय चेतना-तत्व है जिसके द्वारा जीवन स्थित रहता है। मानवीय विकास का ध्येय इस चेतना तत्त्व को ब्रह्म या परमतत्त्व के समान करना है। अतः प्राण ही ब्रह्म है, ऐसा कहा गया। इसी प्रकार 'क' जो इंद्रियों एवं भौतिक सुख का प्रतीक है, वह वही है जो 'ख' या आकाश तत्त्व (ब्रह्म) है। अतएव जिसे हम 'ख' (आकाश) कहते हैं, उसी को 'क' (सुख) भी मानना समीचीन है। इस प्रकार के अनेक तात्विक निर्देश हमें उपनिषद् तथा वेदों में प्राप्त होते हैं, जो दार्शनिक तत्त्व-चिंतन का एक सुन्दर रूप है।

दार्शनिक अर्थ और प्रतीक

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि दार्शनिक अर्थ की समस्त आधारशिला उनके प्रतीकों के प्रयोग एवं विवेचन पर निर्भर करती है। प्रश्न है कि किसी प्रतीक की धारणा में जो मूल्य समाहित है उसका अर्थ क्या है? किसी भी वस्तु का अर्थ-गौरव उसका महत् मूल्य है, बिना मूल्य के कोई भी ज्ञान मानव-सापेक्ष नहीं हो सकता है। विश्व, प्रकृति, मानव, सभ्यता, संस्कृति का महत्त्व यदि किसी भी दृष्टि से है तो वह मानव मूल्य-सापेक्ष है। इन्हीं मूल्यों को स्थिर करने के लिए उनके अर्थपरक तत्त्व को 'रूप' देने के हेतु ही प्रतीकों का सृजन होता है।

दार्शनिक ज्ञान अरबन के अनुसार सारतत्त्व गुण आकार से समन्वित होना चाहिए और यह समन्वय केवल प्रतीकात्मक दर्शन के द्वारा ही सम्भव है।[१] ईश्वर और निरपेक्ष (Absolute) की धारणा का तात्त्विक अर्थ उसके प्रतीक रूप पर ही आश्रित है। इसी प्रकार कार्य-कारण की धारणा का तात्त्विक रूप उसका प्रतीकार्थ ही माना जायगा। वाइटहेड के अनुसार भी दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य प्रस्थापनाओं का समुचित एवं सृजनात्मक विश्लेषण और फिर उनका समन्वय करना ही है[२]। सत्य[३] का स्वरूप भी प्रतीकात्मक ही होता है जिसमें जैव और अजैव, व्यक्त और अव्यक्त क्षेत्रों का पर्यवसान 'दिव्य' प्रकृति में

१—लैंगवेज एंड रियल्टी द्वारा अरबन, पृ० ६२८।

२—प्रोसेस एंड रियल्टी द्वारा ए० एन० वाइटहेड, पृ० १७।

३—'सत्य' का विश्लेषण दे० धार्मिक प्रतीकवादी दर्शन में, अध्यय २ उपखंड 'क'।

होता है। इसी दिव्य रूप को पूर्ण, ईश्वर अनंत तथा ब्रह्म कह सकते हैं। प्रो० वाइटहेड ने ईश्वर (गाड) की धारणा में मानव जीवन सापेक्ष मूल्यों का समाहार किया है। वह कहता है 'ईश्वर प्रत्येक निर्माण के पूर्व विद्यमान नहीं है, पर वह प्रत्येक विश्व निर्माण के साथ है। न ईश्वर, न संसार ही कभी अंतिम स्थायी गंतव्य तक पहुँच सकते हैं। दोनों अंतिम तत्वज्ञान की मुष्टि में समाहित है जिनका सृजनात्मक विकास सदैव नवीनता की ओर ही होता है। दोनों—ईश्वर और संसार—अन्योन्य के लिए नवीनता के माध्यम हैं।[१]

दार्शनिकवाद और प्रतीक

सामान्य रूप से जहाँ पर दर्शन का विवरण आता है, वहाँ 'वाद' (इज़्म) का समावेश स्वयमेव माना गया है। यदि हम 'वादों' में दार्शनिक विचारधाराओं को खंडित करके ही देखने का प्रयत्न करें, तो भी हमारे सामने 'सत्य' का स्वरूप धूमिल नहीं हो सकता है। तत्वतः 'वाद' भी दार्शनिक 'सत्य' का प्रतिरूप होता है। जब हम किसी विचारधारा का नामकरण करते हैं, तब वह 'वाद' का रूप धारण कर लेता है जिसके अन्तर्गत उस विशिष्ट विचारधारा का रूप स्थिर सा हो जाता है। इस दृष्टि से 'वाद' या सिद्धान्त एक प्रतीकवत् रूप ही दृष्टिगत होता है।

दार्शनिक 'वादों' की आधारशिला 'चिंतन' है। इस चिंतन के वाहक प्रतीक ही माने जा सकते हैं। उदाहरण स्वरूप साख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष के द्वारा सत्य का स्वरूप स्पष्ट हुआ है। यहाँ पर प्रकृति और पुरुष प्रतीक ही हैं, जो किसी विशिष्ट धारणा के प्रतिरूप हैं। इनका क्षेत्र तात्विक ही है। इसी प्रकार अद्वैत-दर्शन में दो विपरीत धारणाओं का एकत्व प्रदर्शित किया गया है अथवा द्वैत में अद्वैत की अवतारणा की गयी है। दूसरे शब्दों में, उपर्युक्त प्रतीकों के द्वारा (शब्द) जो दो छोरों पर विद्यमान हैं, उनको एक सरल रेखा में लाना ही अद्वैतवाद की अंतर्दृष्टि है। तान्त्रिक दर्शन में भी इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, अमृत, ब्रह्मरंध्र आदि के द्वारा, साधक 'सत्य' या यथार्थ के स्वरूप की अनुभूति प्राप्त करता है।

दार्शनिक प्रतीकों का काव्य रूप

दार्शनिक प्रतीकों के काव्य रूप पर विचार करने के पूर्व इस मत पर विचार करना अपेक्षित है कि काव्य में किसी भी दार्शनिक विचारधारा का

१—प्रोसेस एण्ड रियल्टी द्वारा वाइटहेड, पृ० ५२८।

रूप नहीं प्राप्त होता है, वह तो केवलमात्र संवेदना तथा कल्पना (Feeling and Imagination) का क्षेत्र है। परन्तु निष्पक्ष रूप से देखने पर इस एकांगी दृष्टिकोण का कम से कम मेरे सम्पूर्ण प्रतीकवादी विवेचन से तारतम्य नहीं बैठता है। मेरा तो उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन यह स्पष्ट करता है कि प्रत्येक ज्ञान-क्षेत्र का दार्शनिक पक्ष काव्यात्मक रूप में लय हो सकता है। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि काव्य की आत्मा केवल मात्र दार्शनिक विचारों का रंगस्थल है। किसी भी दार्शनिक विचार अथवा प्रतीक को काव्य रूप उसी समय प्राप्त होगा जब वह विचार तथा प्रतीक दार्शनिक गुरुता को त्याग कर कवि की अपनी निजी संवेदना एवं अनुभूति से समन्वित हो, काव्य की आत्मा 'रस' में एकीभूत हो सके। सत्य तो यह है कि बिना 'तत्व' के कोई भी काव्य स्थायी नहीं हो सकता है।

दूसरी बात जो काव्य में प्रयुक्त दार्शनिक प्रतीकों के बारे में कही जा सकती है वह है उनका ज्ञान परक रूप। साहित्य अथवा कला भी एक प्रकार का ज्ञान है—ऐसा ज्ञान जिसे हम चाहे तो भावात्मक तथा संवेदनात्मक ज्ञान कह सकते हैं। इस दृष्टि से काव्य का विस्तृत अर्थ प्राप्त होता है। दार्शनिक प्रतीकों की काव्यात्मक परिणति इसी संवेदनात्मक ज्ञान की भावभूमि का निर्माण करती है। यथार्थ और सत्य स्वयं आदमी का अपना निर्माण है, और उसका निर्माण-कर्ता वस्तुतः, बिम्ब और प्रतीक का सृजनकर्ता ही होता है। 'यथार्थ' और 'सत्य' का साक्षात्कार कलाकार अपने प्रतीको के द्वारा ही करता है।[१] यह भी सम्भव है कि कलाकार किसी सत्य या दार्शनिक विचार को हमारे सामने नये प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्त करे। यह प्रवृत्ति कलाकार की अपनी प्रतिभा पर भी निर्भर करती है। यह सत्य हमें करीब-करीब सभी महान् कवियों में प्राप्त हो सकता है। यही कारण है कि जहाँ दार्शनिक प्रस्थापनाओं में प्रतीक अधिक जटिल एवं दुरूह होते हैं, वहीं काव्य की प्रस्थापनाओं में अधिक तरल और हृदयग्राही रूप में प्रयुक्त होते हैं।

काव्य के 'वाद' भी किसी न किसी दार्शनिक तत्व को लेकर ही अपना विकास करते हैं। काव्य का प्रमुख वाद रहस्यवाद प्रत्येक काव्य का प्रिय विषय रहा है। काव्य में जो रहस्य-भावना का स्वरूप प्राप्त होता है वह अद्वैत दर्शन की काव्यात्मक परिणति है। निर्गुण काव्य के प्रतीकों में इसी रहस्यवाद

१—द फ़िलासफ़ी आफ़ माडर्न आर्ट द्वारा हर्बर्ट रीड, पृ० ६६।

की प्रतीकात्मक अभिव्यंजना प्राप्त होती है। वहाँ पर भी कवियों ने वेदान्त-दर्शन के कुछ प्रतीकों का प्रयोग किया है (खं, वृक्ष)। उस प्रयोग में दार्शनिक विचारधारा का पुट तो अवश्य है पर उसकी काव्यात्मक गरिमा कवि की अपनी वस्तु है। काव्य में रहस्यवाद प्रधान रूप से दो रूपों में प्राप्त होता है। प्रतीक की दृष्टि से रहस्यवाद या तो अव्यक्त को अभिव्यंजित करता है अथवा भक्ति के क्षेत्र में वह अव्यक्त की व्यक्त व्यंजना रूपात्मक प्रतीकों के द्वारा करता है। यही कारण है कि भक्ति की रहस्यभावना में, स्वरूप का आग्रह अधिक होने से, वह व्यक्त प्रतीकों का सहारा लेता है। तात्विक रहस्य-भावना में (निर्गुण तथा आधुनिक रहस्यवाद) प्रतीकों का स्वरूप अव्यक्त एवं अगोचर धारणा का प्रतिरूप होता है। राम, कृष्ण तथा गोपियाँ—ये व्यक्त प्रतीक हैं जिनका एक अपना विशिष्ट तात्विक अर्थ है। इस प्रसंग का पूर्ण विवेचन हम यथास्थान भक्तिकाल के अन्तर्गत करेंगे। कबीर का 'राम' है तो व्यक्त रूप, पर उसकी धारणा में अव्यक्त गुणों का ही अधिक समावेश है, तभी तो वह द्वैताद्वैत-विलक्षण है। निर्गुण काव्य में भी व्यक्त प्रतीकों का रूप यदा कदा मिल जाता है। परन्तु उनका रूप मानवीय नहीं है, अधिक से अधिक प्राकृतिक वस्तुओं का ग्रहण किया हुआ रूप है जिसे प्रतीकवत् प्रयोग में लाया गया है।

तृतीय अध्याय

भारतीय काव्य-शास्त्र और प्रतीक

प्रवेश

भारतीय काव्य-शास्त्र का इतिहास यह स्पष्ट करता है कि काव्य और साहित्य में अभिव्यंजना के अनेक माध्यम हैं। कविता के लिए उन माध्यमों का एक विशिष्ट स्थान है। हिन्दी काव्य-शास्त्र का विकास भारतीय मनीषा की एक चिंतन प्रधान क्रिया कही जा सकती है। उसमें काव्य के सभी उपादानों तथा तत्वों का विश्लेषण प्राप्त होता है। काव्य के सम्प्रदाय जहाँ एक ओर वितंडावाद की सृष्टि करते है वहाँ दूसरी ओर, उनके उचित वैज्ञानिक विश्लेषण करने पर काव्य-सृजन में जिन-जिन माध्यमों तथा तत्वों का समाहार आवश्यक है, उनका भी स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। मानव के भावों-विचारों का केन्द्र मन है। इन भावों का अभिव्यक्तीकरण कला और साहित्य का क्षेत्र है। कवि या कलाकार जिन माध्यमों के द्वारा अपनी संवेदनाओं तथा विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है वे किसी न किसी रूप का आश्रय लेते हैं। ये 'रूप' ही अभिव्यंजना के माध्यम हैं। कवि के शब्द-प्रतीक, प्रतीक, अप्रस्तुत विधान—ये सभी एक प्रकार से रूप ही कहे जाते है। परन्तु जैसा कि काव्यात्मक प्रतीक दर्शन के अन्तर्गत स्पष्ट हो चुका है कि काव्य में प्रतीक का महत्व केवल रूपात्मक ही नहीं है, उसकी अभिव्यक्ति में फ़ार्म के साथ 'तत्व' का समावेश अत्यन्त आवश्यक है। तभी वह प्रतीक स्थिर हो सकता है।

भारतीय साहित्य-शास्त्र के सम्प्रदायों में हमे परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से ऐसे संकेत मिल जाते हैं जो प्रतीकात्मक स्थिति को स्पष्ट करते हैं। रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और अलंकार सम्प्रदायों के अनेक तत्वों में प्रतीक की भावना का स्वरूप मुखर हो जाता है। यह मुखरता उसी समय दृष्टिगत होती है जब उनका विश्लेषण प्रतीक की दृष्टि से किया जाय। आगे के उपखंडों में मैंने इसी दृष्टि से काव्य-शास्त्र को देखने का प्रयत्न किया है।

(क) रस और प्रतीक

रस, शब्द और भाव

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत रसानुभूति के स्वरूप पर हम कुछ विचार कर चुके हैं। इसके प्रकाश में रसोद्रेक एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। रस शब्द वैदिक साहित्य में 'सोम रस' का पर्याय माना गया है और जिसका अर्थ द्रवत्व, स्वाद और निष्कर्ष का द्योतक है।[1] उपनिषदों में आकर रस ने मधु का रूप ग्रहण कर लिया और मधुविद्या का एक विस्तृत विवेचन हमें वहाँ पर प्राप्त होता है। यह 'मधु' शब्द सार या निष्कर्ष के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।[2] अतः उपनिषद् साहित्य में आनन्द का वाच्य शब्द 'रस' या 'मधु' माना गया जिसे योगी आत्म-साक्षात्कार के समय अनुभव करते हैं। साहित्य समालोचकों के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वे इस रस शब्द को, कलात्मक या सौंदर्यात्मक आनन्द के अर्थ में (Aesthetic Pleasure) प्रयुक्त करें। अतः रस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से उत्पन्न वह कलात्मक आनन्द का वाचक शब्द है जो साहित्य तथा काव्य की 'आत्मा' के रूप में स्वीकृत हुआ।

रसोद्रेक में मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का विशेष हाथ है और पाश्चात्य सौंदर्यानुभूति में भी मनोवैज्ञानिक क्रिया का अभिन्न स्थान माना गया है। इस दृष्टि से पाश्चात्य सौंदर्य तत्व और भारतीय रस तत्व की समानता दर्शनीय है। दोनों का क्षेत्र मनोवैज्ञानिक अनुशासन का क्षेत्र है। इसी तथ्य पर प्रतीक-निर्माण के एक आश्रयभूत सिद्धान्त के भी दर्शन होते है। विचारकों ने प्रतीक का आवश्यक कार्य विचारोद्भावना माना है। रस की निष्पत्ति में इन्हीं संवेदनात्मक विचार-प्रतीकों का विशेष योग रहता है। रस-निष्पत्ति में जहाँ भावों तथा संवेदनाओं की मीलित प्रक्रिया होती है, वहीं विचारों के संगुंफन से उस भावात्मक रूप में एक अधिक व्यापकता का स्वरूप मुखर होता है। यहाँ पर बेल (Bell) का यह मत कि किसी कलाकृति को सौंदर्य भावना का उद्रेक करना चाहिए, किसी विचार अथवा धारणा का नहीं,[3] उचित नहीं ज्ञात होता है। यह ठीक है कि कला तथा साहित्य का मुख्य धर्म सौंदर्यभावना का उद्रेक है, ऐसी संवेदना का संचार करना है जो सौंदर्यानुभूति को मुखर कर

१—काव्य-सम्प्रदाय द्वारा अशोककुमार सिंह, पृ० २७।

२—दे० वृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय २ ब्राह्मण ५, पृ० ५८२-५९५। इस पर प्रथम तथा द्वितीय अध्यायों में विचार किया जा चुका है।

३—आर्ट द्वारा क्लाइव बेल, पृ० १८।

सके। कला के रूप में सौंदर्य का रस केवलमात्र भाव तथा संवेदना पर ही आश्रित नहीं है। उस सौदर्य का स्वरूप कहीं अधिक स्थिर हो सकेगा यदि उसमें विचारो का भी तिलतंदुल रूप समाहित हो सके। रसानुभूति में प्रतीक इसी दृष्टि से सहायक हो सकते हैं जब उनके भावात्मक रूप में विचारात्मक प्रवृत्ति एक-रस हो जाय, उसकी संवेदना इतनी विस्तृत हो सके कि उसमें विचारों तथा भावों की अन्विति हो जाय। मेरे विचार से काव्य के जो भी स्थायी प्रतीक हैं अथवा कवि-प्रतिभा पर आश्रित नवीन प्रतीक हैं उनका स्थायित्व इसी तथ्य पर आश्रित रहता है। एक वाक्य में कहें तो कह सकते हैं कि रसोद्रेक, भाव, संवेदना तथा विचार से समन्वित मानव वृत्तियों की समरसता है। इसी सामरस्य पर आनन्द की सृष्टि होती है। प्रतीक का स्थान इस आनंदानुभूति में उस एलक्ट्रान के समान है जो किसी तत्व (Element) के केन्द्रक (Neucleus) का विस्फोटन कर, शक्ति रूप आनन्द का प्रादुर्भाव करते हैं। उपनिषद् में 'आनन्द ब्रह्म है' ऐसी भी स्थापना की गयी है[1]। अतः तार्किक पद्धिति से, रस जो आनन्द स्वरूप है, वह ब्रह्म का पर्याय है। अतः रस ही ब्रह्म है।

अनुभाव का प्रतीक रूप

अनुभाव भाव जाग्रत होने के पश्चात् होने वाले अंग विकारो को कहते हैं। ये अंगविकार हृदयगत भावों तथा मनोभावों के बाह्य अभिव्यक्तीकरण हैं। अनुष्ठानिक प्रतीकों के अन्तर्गत हम अंगमुद्राओं का जो प्रतीकात्मक महत्व वर्णन कर चुके हैं, ये अंगविकार उसी के समकक्ष बाह्य मुद्राएँ ही कही जा सकती हैं[2]। रस सिद्धान्त में अनुभावों के अंतर्गत इन अंगमुद्राओं की भावना का सुन्दर समाहार प्राप्त होता है। अंगज, स्वभावज, कायिक, मानसिक तथा वाचिक अनुभावों के श्रेणीबद्ध विभाजन, प्रतीकात्मक दृष्टि से एक वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि के परिचायक हैं। अंगविकार या मुद्राएँ अधिकतर अंगज तथा कायिक ही होती है जो स्वभाव तथा मानसिक स्थिति पर आश्रित रहती हैं। नायिका-भेद में इन अनुभावों का भी यदा-कदा सहारा लिया गया है जिसका सुन्दर रूप विदग्धा एवं प्रौढ़ा में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।[3] अतः प्रतीकात्मक

१—तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्दमय आत्मा और ब्रह्म की कल्पना के लिए दे० पृ० १६१ तथा २०८ (उप० भा० खंड २)।

२—दे० अध्याय प्रथम उपखंड 'ख' में।

३—नायिका भेद के प्रतीक रूप पर दे० रीतिकाल में प्रतीक योजना, पृष्ठभूमि 'क' में।

दृष्टि से, अंगज के अन्तर्गत स्वभावज, कायिक और मानसिक अनुभावों को सन्निहित किया जा सकता है। वाचिक का महत्व प्रतीकात्मक दृष्टि से वाणी का ही रूप है जिस पर हम भाषा के प्रतीकों के अन्तर्गत विचार कर चुके हैं। अंगमुद्राओं के अतिरिक्त हम कभी-कभी अपने भावों तथा विचारों का प्रकाशन वाणी के शब्दों के द्वारा भी करते हैं। आदिमानवीय स्थिति में वाणी के शब्द (प्रतीक) प्रेषणीयता के माध्यम थे और यहाँ पर भी इनका महत्व इसी रूप में है। रसोद्रेक की प्रक्रिया में ये अनुभाव (अंगज तथा वाचिक) अपनी विशिष्टता के कारण सहायक होते है। साथ ही रसानुभूति के क्षेत्र में भावों की और मुद्राओं की स्थिति को भी स्पष्ट करते हैं। काव्य में इन मुद्राओं का स्वरूप मुख्यतः उत्तेजनात्मक है और वे भावों, वासनाओं एवं वृत्तियों के द्योतक हैं। इस दृष्टि से अनुभावों का रसपरक और साथ ही प्रतीकपरक महत्व स्पष्ट हो जाता है।

साधारणीकरण और प्रतीक

अभिनवगुप्त का साधारणीकरण सिद्धान्त अभिव्यक्तिवाद का एक प्रमुख अंग है। क्रोशे का अभिव्यंजनावाद और अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद कई तत्वों में समानता प्रदर्शित करते हैं।

साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है[१]। जब यह अनुभूति भाषा के भाव-मय प्रयोग के द्वारा अपना विस्तार करती है तब साधारणीकरण की क्रिया का रूप स्पष्ट होता है। प्रश्न है अनुभूति और प्रतीक के सम्बन्ध का जिसकी विवेचना पर साधारणीकरण और प्रतीक का सम्बन्ध आश्रित है।

कवि अपनी भावाभिव्यक्ति में प्रतीकों का सहारा लेता है। वह ऐंद्रिय अनुभव पर ही विम्बग्रहण करता है और विम्बों के सहारे प्रतीक निर्माण की क्रिया का पालन करता है[२]। कला और साहित्य प्रत्यक्षानुभव (Perception) को विम्ब रूप में ग्रहण कर उसे अनुभूति में परिवर्तित करता है, तभी वह प्रतीक की श्रेणी में आता है। अतः प्रतीक के स्वरूप में प्रत्यक्षानुभव और अनुभूति दोनों का समन्वित रूप प्राप्त होता है।[3] काव्य के विचार मूलतः

१—अनुभूति के रूप का विवेचन दे० काव्यात्मक तथा मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद में अध्याय २।

२—बिम्ब और प्रतीक के सम्बन्ध पर दे० पीछे अध्याय प्रथम उपखंड 'ख' में।

३—द वर्ल्ड एज स्पेक्टिकिल द्वारा म्यूलर, पृ० ८६।

अनुभूतिपरक कहे जाते है। जब भी कवि इस अनुभूति का बाह्य रूप देना चाहेगा, तब वह भाषा के द्वारा और अनेक प्रतीकों के द्वारा उस विशिष्ट अनुभूति का साधारणीकरण करेगा। यह एक सत्य है कि हमारी अनेक ऐसी अनुभूतियाँ होती हैं जो अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति प्रतीक के द्वारा ही कर सकने में समर्थ होती हैं। डा० नगेन्द्र का यह मत प्रतीकात्मक दृष्टि से अनुशीलन योग्य है— 'कवि अपने समृद्ध भावों और अनुभूतियों (मेरा स्वयं का जोड़ा शब्द है) के बल पर अपने प्रतीकों को सहज ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरों के हृदय में भी समान भाव जगा सकें।'[1]

अनुभूति का क्षेत्र मूलतः संवेदनात्मक होता है। प्रतीक उसी सीमा तक संवेदनयुक्त होंगे जिस सीमा तक उनमें अनुभूति की अन्विति होगी। संवेदना, अनुभूति तथा विम्बग्रहण जो मन की विभिन्न दशाएँ तथा क्रियाएँ है—इन सबकी क्रिया-प्रतिक्रिया प्रतीक के सूक्ष्म मानसिक तथा बौद्धिक धरातल की परिचायिका है। इस क्रिया के द्वारा प्रतीक 'अरूप' की रूपात्मक अभिव्यंजना प्रस्तुत करता है। मेरे विचार से यही अभिव्यक्तिवाद है। यह विवेचन क्रोशे के इस कथन से भी मेल खाता है कि अनुभूति ही अभिव्यक्ति है।[2]

भट्टनायक ने साधारणीकरण को शक्ति माना है जिसके द्वारा भाव का आपसे आप साधारणीकरण हो जाता है। परन्तु अभिनवगुप्त ने व्यंजना शक्ति में साधारणीकरण का सामर्थ्य माना है। जहाँ तक प्रतीक के अर्थ का प्रश्न है, उसका अर्थ व्यंजना और लक्षण शक्तियों पर आधारित होता है। भाषागत प्रतीक व्यंजना के द्वारा ही अर्थव्यक्ति करते हैं। अतः शब्द-प्रतीक की व्यंजना तथा लक्षणा शक्तियों पर ही साधारणीकरण की क्रिया अवलम्बित है।

(ख) ध्वनि और प्रतीक

शब्द-शक्ति और प्रतीक

यदि रस काव्य की आत्मा है तो ध्वनि काव्य-शरीर को बल देने वाली संजीवनी शक्ति है। घंटे के टन् के पश्चात् जो सुमधुर झंकार निकलती है जो वायु तरंगों में शनैः शनैः विलीन हो जाती है, यही झंकार ध्वनि का रूप है। इसी प्रकार काव्य में वाच्यार्थ के द्वारा जो व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है वही ध्वनि

१—रीतिकाल की भूमिका द्वारा डा० नगेन्द्र, पृ० ४६।

२—द एसन्स आफ़ एस्थटिक द्वारा क्रोचे, पृ० ४२।

है। इस प्रकार ध्वनिवादियो ने शब्द-शक्तियों का विशद् विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस विश्लेषण के द्वारा प्रतीक की एक वैज्ञानिक आधारभूमि भी प्रस्तुत होती है जो शब्द-शक्ति और प्रतीक के सम्बन्ध पर भी प्रकाश डालती है।

भारतीय मनीषा ने शब्द-शक्ति के विश्लेषण के द्वारा भाषागत प्रतीक-दर्शन की भूमि प्रस्तुत की है जो साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं पर मानवीय ज्ञान के सभी क्षेत्रों में समान रूप से सत्य है। हम भाषागत प्रतीक-दर्शन के विवेचन में पीछे दिखा आए हैं (अध्याय २) कि भाषा का गठन एवं विकास प्रतीकों के संगठन एवं अर्थबोध का इतिहास है। शब्द-शक्तियों पर ही प्रतीक का भवन निर्मित होता है जिसकी आधारशिला पर अर्थ का प्रस्फुटन सम्भव है।[1] शब्द-शक्तियों और उसके आधार पर अर्थ की व्यंजना प्रतीकार्थ की दृष्टि से एक सत्य है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में शब्द की तीन शक्तियाँ मानी गयी हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इन तीन शब्द-शक्तियों की तुलना में काव्य में व्यंजना-शक्ति का सर्वोच्च स्थान है। इसी व्यंजना (Suggestiveness) द्वारा व्यक्त व्यंग्यार्थ को 'ध्वनि' कहा गया। जहाँ तक अभिधा का प्रश्न है, वह तो केवल शब्द का प्राथमिक अर्थ है जो शब्द से परे किसी अन्य अर्थ का वाहक बनने में असमर्थ है। लक्षणा भी शब्द की वह शक्ति है जो प्राथमिक अर्थ से द्वितीय अर्थ की ओर अग्रसर होती है। परन्तु व्यंजना शक्ति शब्द की उच्चतम शक्ति कही जा सकती है, क्योंकि काव्य की दृष्टि से अनुभूति की सुन्दर अभिव्यक्ति शब्दों की व्यंजना एवं लक्षणा शक्तियों पर आधारित है। डा० रामकुमार वर्मा ने इसी से यह मत रखा है कि प्रतीक का सम्बन्ध शब्द-शक्ति की ध्वनि शैली से है।[2] प्रतीक की यह ध्वन्यात्मक परिणति वास्तव में शब्द के व्यंग्यार्थ का विकसित रूप है। यदि शब्द व्यंग्यार्थ का ध्वनन न कर सका तो वह प्रतीक का रूप नहो हो सकता है। अलंकारों के क्षेत्र में शब्द की लक्षणा तथा व्यंजना शक्तियों का पूरा प्रयोग हुआ है। अनेक सादृश्य-मूलक अलंकारों में शब्दों की इन शक्तियों का एक तार्किक रूप प्राप्त होता

१—भाषा, प्रतीक और शब्द तथा प्रतीकवादी दर्शन में इस पर हम पूर्ण विवेचन कर चुके हैं।

२—साहित्य शास्त्र द्वारा डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ११८।

है।[1] रीतिकाव्य (दे० अष्टम अध्याय) में अधिकांश प्रतीकों की योजना अलंकारों के आवरण में अथवा कवि-समय के प्रकाश में ही हुई है। शब्द की इन शक्तियों का वैविध्यपूर्ण विस्तार छायावादी तथा रहस्यवादी कविता में भी प्राप्त होता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य-भाषा की उच्चतम प्रकृति शब्द के व्यंग्यार्थ में ही समाहित मानी गयी है। बर्नार्दी ने भाषा को बुद्धि का प्रतीकात्मक रूप कहा है।[2] यदि हम इस कथन का प्रतीकात्मक दृष्टि से मनन करें तो यह व्यंजित होता है कि काव्य की भाषा में प्रयुक्त शब्दों का व्यंग्यार्थ ही उसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। यही काव्य के शब्द-प्रतीक की ध्वनि है। इसी व्यंग्यार्थ पर कवि अनेक शब्द-प्रतीकों का नव निर्माण करता है जो उसकी अनुभूति को नवीन युग-चेतना के प्रकाश में रखता है। अतः कवि की क्रिया भाषा और शब्दों के रूढ़ एवं स्थिर रूप का ही केवल प्रयोग नहीं करती है वरन् उसकी सृजनात्मक क्रिया अपने विकास के साथ नवीन शब्दों पर आश्रित काव्य-भाषा का नव-निर्माण भी करती है।[3] आधुनिक काव्य में हमें ऐसे नवीन प्रतीकों का एक सुन्दर रूप प्राप्त होता है।

स्फोट सिद्धान्त और प्रतीक

शब्द-प्रतीक किसी भाव या वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है जो विचारोद्-भावना में सहायक होते हैं। शब्द के सुनने पर अर्थ की प्रतीति कैसे होती है, इस समस्या पर ही स्फोट सिद्धान्त का प्रणयन हुआ है जो शब्द और उसके अर्थ की दूरी को निकट ला देता है। वैयाकरणों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन वैज्ञानिक रूप से किया है।

स्फोट उस सम्मिलित ध्वनि-बिम्ब को कहते हैं जो किसी शब्द की विभिन्न ध्वनियों के संयोग से प्रादुर्भूत होता है और उस ध्वनि-बिम्ब के पृथक्-पृथक् वर्णों से भिन्न अर्थ का बोध देता है। बिम्ब-ग्रहण और शब्द का अन्योन्य सम्बन्ध है, जैसा कि हम द्वितीय अध्याय के भाषागत प्रतीक दर्शन में दिखा आये हैं। अतः यह कहना अधिक न्यायसंगत होगा कि बिम्ब-ग्रहण के बिना शब्द का अस्तित्व ही संदिग्ध रहता है। इन्हीं बिंबों की आधारशिला पर शब्द-प्रतीकों का सृजन होता है। शब्द की अंतिम ध्वनि के उच्चारण हो जाने पर

१—अलकार और प्रतीक पर हम आगे विचार करेंगे।

२—एस्थटिक द्वारा क्रोचे, पृ० ३२८ से उद्धृत।

३—एस्थिटिक एण्ड लैंगवेज : सम्पादक विलियम इल्टन, पृ १०३ पर दिये कालिंगवुड का कथन।

ध्वनि बिम्ब या स्फोट ही शब्द के सम्पूर्ण अर्थ का बोध कराता है। ध्वनिकार का मत है कि जिस प्रकार ध्वनि के और उसके स्फोट के सुनने पर ही उस शब्द के वाच्यार्थ के द्वारा जो व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है, वही काव्य है। प्रतीक की दृष्टि से शब्द का वाच्यार्थ महत्त्व नहीं रखता है, परन्तु उसका व्यंग्यार्थ ही आवश्यक तत्व है जिसके द्वारा अर्थ-स्फोट होता है। अंग्रेजी शब्द 'सजेशन' की भी यही स्थिति है जिसके बिना शब्द की व्यंजना शक्ति सम्भव नहीं है। अर्थ-व्यक्ति प्रतीक की दृष्टि से व्यंग्यार्थ से होती है जो स्फोट पर अवलम्बित है। डा० नगेन्द्र का मत है कि अर्थबोध शब्द के स्फोट पर ही आश्रित रहता है।[1]

शब्द का अभिधेयार्थ एक ही रहता है परन्तु जब वह शब्द प्रतीक का कार्य करता है तब वही शब्द व्यंजना का कार्य करने लगता है। सत्य व्यंग्यार्थ में चमत्कार नहीं होता है, पर उसमें एक तरह की जीवनगत मर्मस्पर्शिता होती है और प्रतिभाजन्य जागरूकता। इसी से ध्वनिकार ने काव्य के तीन भेद शब्द-ध्वनि की परिणति के अनुसार किये हैं। वे है—ध्वनिकाव्य (उत्तम काव्य) गुणीभूत काव्य (मध्यम) तथा अधम काव्य (चित्रकाव्य)। जहाँ तक प्रतीक का प्रश्न है, ध्वनि काव्य ही सत्य प्रतीकात्मक शैली को अपनाता है। गुणीभूत काव्य में जहाँ वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ से समानता प्रदर्शित करता है वहाँ पर प्रतीक की स्थिति असंदिग्ध रहती है, क्योंकि वस्तु तथा शब्द का वहाँ पर समान धरातल रहता है।

(ग) रीति संप्रदाय और प्रतीक

रीति और प्रतीक

रीति शब्द भारतीय काव्य-शास्त्र में उस विशिष्ट पद रचना को कहते हैं जिसके द्वारा कवि अपने मनोभावों तथा विचारों को किसी विशिष्ट शैली या फ़ार्म में अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। इसी से रीति या शैली को मनोविकारों की अभिव्यक्ति का नाम दिया गया है।[2] अंग्रेजी शब्द 'स्टाइल' रीति का समान अर्थ देता है। इस शैली के अन्तर्गत उन माध्यमों का समावेश होता है जो कवि या कलाकार रीति-प्रदर्शन में प्रयुक्त करते हैं। इसमें रूपक, उपमान, प्रतीक आदि का भी समावेश है। परन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना

१—रीतिकाल की भूमिका द्वारा डा० नगेन्द्र, पृ० १५० ।
२—वही, पृ० ६५ ।

आवश्यक है कि रीति काव्य का सर्वस्व नहीं है। इस दृष्टि से जो भी प्रतीक का यहाँ विवेचन होगा वह केवल रीति या शैली के प्रकाश में ही होगा। अतः यह विवेचन काव्य की दृष्टि से एकांगी ही कहा जायगा। इस दृष्टि से, 'रीति' कवि-स्वभाव और उसके मनोगत भावों की प्रतीक कही जा सकती है जो केवल रूपात्मक ही मानी गई है।[1]

दण्डी, वामन और भामह जैसे संस्कृत आचार्यों ने रीति के तत्वों का विस्तृत विवेचन किया है। उसमें हमें यदा कदा ऐसे संदर्भ भी प्राप्त हो जाते हैं जो प्रतीकात्मक शैली की ओर संकेत करते हैं। परन्तु यह प्रतीकात्मक शैली प्रतीकवाद नहीं है, वह तो प्रतीकवाद का एक अंगमात्र है जिसका समाहार प्रतीकवाद में करना उचित होगा। प्रतीक को केवल शैलीमात्र मानना उसके व्यापक अर्थ को संकुचित करना होगा।

शब्द गुण और अर्थ गुण

वामन ने गुणों की संख्या १० मानी है और उन गुणों को दो भागों में विभाजित किया है—शब्द गुण और अर्थ गुण। ये दोनों गुण काव्य के आवश्यक अंग है जिस पर 'रीति' का प्रासाद निर्मित हुआ है। ये गुण हैं ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता, अर्थव्यक्ति और कांति। इन विभिन्न गुणों के विवेचन से एक बात जो प्रकट होती है वह प्रतीक-शैली के हेतु आवश्यक है। वह है शब्द और अर्थ का अन्योन्य सम्बन्ध जिस पर प्रतीक की व्यंजना शक्ति आश्रित रहती है। इन गुणों में श्लेष, माधुर्य और अर्थव्यक्ति का प्रतीक की दृष्टि से विशेष महत्व है क्योंकि प्रतीकार्थ श्लेषपरक भी हो सकता है और उसमें माधुर्य तथा कांति का समावेश अपेक्षित है। शब्द-प्रतीक उसी समय गुणयुक्त होते हैं जब वे औचित्यपूर्ण अर्थ-व्यंजना कर सकने में समर्थ हों। गुण, वामन के अनुसार, मानसिक दशा के द्योतक हैं जो काव्य की आत्मा 'रस' से संबंधित है। मन की क्रियाओं में विचार की क्रिया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः गुण और विचार मन की क्रियाएँ हैं। विचार का कार्य प्रतीकीकरण है और प्रतीक का कार्य उस विचार तथा भाव की अर्थव्यक्ति है जिसका प्रतीकीकरण हुआ है। अतः अर्थव्यक्ति, जो एक गुण है, का यथार्थ स्वरूप वस्तु के विशद संदर्भ के प्रयोग में समाहित है। काव्य में प्रतीक की स्थिति उसी सीमा तक अपेक्षित है जिस सीमा तक वह शब्द-

---

१—भारतीय साहित्य-शास्त्र द्वारा बलदेव उपाध्याय, पृ० २०१।

प्रतीक अपने व्यंग्यार्थ को एक विशिष्ट रीति के द्वारा अभिव्यंजित कर सके। काव्यात्मक शब्द का सौंदर्य अर्थव्यक्ति के विस्तार में निहित है जो अलंकारों का भी क्षेत्र है। रीति की दृष्टि से शब्द का सौंदर्य उसके रूपात्मक और शैलीपरक रूप में निहित है जो अर्थ को सुंदर विधि से प्रकट कर सके।

दूसरा गुण काति है जिसके द्वारा शब्द-प्रतीकों के प्रयोग में उज्ज्वलता तथा भावोद्रेक करने की क्षमता आती है। श्लेष गुण प्रतीक को स्थिर कर सकता है यदि उस शब्द के द्वारा दो या अधिक पक्षों में समानता व्यजित हो। इसका विवेचन अलंकारों के अंतर्गत किया जायगा।

अरस्तू ने भी चार अवगुणों को प्रधानता दी है जो शैली की गरिमा को नष्ट करते हैं। वे हैं—समासों का अनुचित प्रयोग, अप्रचलित शब्दों का प्रयोग, विशेषणों का प्रयोग और रूपक का वर्ण्य विषय से अलग प्रयोग।[1] प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के लिए जो बात रूपक के लिए कही गयी है वह प्रतीक के लिए भी सत्य है। प्रतीक की अर्थ-व्यंजना उसी समय सफल हो सकती है जब वह अपने वर्ण्य विषय से पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर ले। तभी 'प्रतीक और वस्तु' की पूरी सादृश्यता हो सकती है। यह मत मम्मट से भी साम्य खाता है।[2]

(घ) वक्रोक्ति और प्रतीक

वक्रता और प्रतीक

कुंतक का वक्रोतिवाद काव्य की आत्मा को वक्रोक्ति या कथन की वक्रता मानता है। यदि निष्पक्ष रूप से देखा जाय तो काव्य में वक्रोक्ति का स्थान एक स्वाभाविक गुण है। कविता किसी भी विचार तथा भाव को 'स्वाभाविक' वक्रता के साथ रखती है। 'स्वाभाविक' शब्द को जोड़ कर कष्ट कल्पना पर आश्रित वक्रता से उसे भिन्न कर दिया है। इसके प्रथम भामह ने सभी अलंकारों में वक्रोक्ति को अविछिन्न माना है। यह सत्य भी है कि सामान्यतः सभी अलंकारों में वक्रोक्ति का समावेश अवश्य रहता है, चाहे वह स्वाभाविक हो या कष्ट कल्पना पर आश्रित।

अरस्तू ने अपने ग्रंथ 'पेयोटिक्स' में एक स्थान पर कहा है कि प्रत्येक वस्तु जो अपनी स्वाभाविक सरल बोलने की विधि से विलग हो जाय, वह काव्य

१—भारतीय साहित्य शास्त्र, बलदेव उपाध्याय पृ० २१८-२१६।

२—वही, पृ० २१६।

है।[1] यह कथन वक्रोक्ति के स्वरूप से साम्य रखता प्रतीत होता है। दूसरी ओर कुछ रोमाटिक कवियो, जैसे वर्ड्सवर्थ तथा कालरिज, का वक्रोक्ति से विरोध था जो ग्राम्य जीवन की साधारण भाषा के प्रेमी थे।[2] परन्तु इनके काव्य में स्वाभाविक एवं सरल वक्रता का समावेश अवश्य था जिसे उन्होंने ग्रामीण जगत की निष्कपट सरलता की संज्ञा दी है।

इस प्रकार वक्रोक्ति अलंकार और काव्य-भाषा का एक आवश्यक गुण है। प्रतीक के लिए भी वक्रोक्ति का एक अपना विशिष्ट स्थान है जो उसके प्रतीकार्थ की सापेक्षता में ही ग्राह्य है। यह तथ्य रीतिकाल तथा आधुनिक काव्य में प्रत्यक्ष रूप से लक्षित होता है। यदि प्रतीक की वक्रता में प्रस्थापना का स्वरूप मुखर न हो सका तो वह प्रतीक न रह कर केवल शब्द या वस्तु-मात्र ही रह जायगा।

अलंकार और वक्रोक्ति

कुंतक की परिभाषा से स्पष्ट होता है कि सालंकृत शब्द ही काव्य के आवश्यक अंग हैं। वक्रोक्ति ही शब्द और उसके अर्थ को सालंकृत कर अर्थ-गरिमा को द्विगुणित कर देता है। शब्द की वक्रता का स्थान अलंकारों में भी प्राप्त होता है। अलंकारों में शब्दों की वक्रता काव्य-प्रस्थापनाओं को रससिक्त कर देती है। विविध प्रकार के काव्यालंकार वक्रोक्ति के रूप हैं। जहाँ तक रस का संबंध है, कुंतक ने उसे वक्रता पर आश्रित माना है और उसे 'रसवत् अलंकार' में समाहित किया है।[3] अतः रस का उद्रेक वक्रता पर अवलम्बित है। परन्तु रस के लिए केवलमात्र वक्रता आवश्यक नहीं है। जैसा कि प्रथम संकेत किया जा चुका है कि स्वाभाविक वक्रता या कथन-शैली ही रसोद्रेक में सहायक हो सकती है। शब्द-प्रतीक की भावभूमि में वक्रता की स्वाभाविक परिणति ही उसे अलकारगत प्रतीक के अंतर्गत ला सकती है। अंत में यह अलंकृत शब्द-वक्रोक्ति का औचित्य इसी तथ्य में सन्निहित रहता है कि वह किस सीमा तक काव्य की आत्मा 'रसानुभूति' में सहायक हो सकी है।[4] अप्रस्तुत-विधान अलंकार का अभिन्न अंग है। ये ही अप्रस्तुत जब स्वतंत्र रूप से

१—प्योटिक्स द्वारा अरस्तु, पृ० ७५ उद्धृत भारतीय साहित्यशास्त्र से।

२—रोमाटिक साहित्य शास्त्र द्वारा देवराज उपाध्याय, पृ० १११।

३—दे० रीतिकाल की भूमिका द्वारा डा० नगेन्द्र, वक्रोक्ति सम्प्रदाय।

४—भारतीय साहित्य शास्त्र द्वारा बलदेव उपाध्याय, पृ० ३२५।

अलंकारों के आवरण में प्रयुक्त होते हैं तो उनकी सफलता का रहस्य वक्रोक्ति भी कहा जा सकता है। मेरे विचार से, जिन अलंकारों में भी प्रतीक की स्थिति सम्भव है (जैसे यमक, श्लेष, रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति और समासोक्ति) उनमें किसी सीमा तक रसानुभूति की परिणति वक्रता पर आश्रित रहती है।

कुंतक ने अलंकारों के द्विविध रूप माने हैं—वाच्य तथा प्रतीयमान रूप। जहाँ तक रूपक का सम्बन्ध है वह वाच्य भी हो सकता है और प्रतीयमान भी। प्रतीक की दृष्टि से वाच्य का स्थान नगण्य है क्योंकि वाच्य अलंकारों में उपमान और उपमेय का अभेदारोप तो अवश्य रहता है पर यह अभेदारोप स्पष्ट शब्दों में केवल वाच्यार्थ तक सीमित रहता है। परन्तु प्रतीक में यह अभेदारोप केवल उपमान या अप्रस्तुत में स्वतन्त्र व्यक्तित्व के समान व्यंग्यमुखेन रहता है। उसका अर्थ वाच्य पर निर्भर न होकर व्यंग्यार्थ (ध्वनि भी) पर अवलम्बित रहता है। अतः प्रतीक के लिए प्रतीयमान-अलंकार ही महत्त्वपूर्ण है, परन्तु उनमें भी प्रतीक की स्वतन्त्र स्थिति अपेक्षित है। बहुत से परम्परागत रूढ़ि वक्रता के प्रतीक (कविसमय के प्रतीक) वाच्यार्थ से भिन्न रूढ़ि अर्थ को ही व्यंजित करते हैं। उनका भी क्षेत्र प्रतीयमान होता है, चाहे वे अलंकारों के आवरण में ही क्यों न हों ?

अभिव्यंजनावाद और प्रतीक

वक्रोक्तिवाद वाणी की विलक्षणता के कारण भावों की विलक्षणता मानता है। यह मत एकांगी ही है। भाव तथा भाषा का अन्योन्य सम्बन्ध है। भावों को प्रकट करने के लिए ही हम वाणी या भाषा का प्रयोग करते हैं। अतः भाव प्राथमिक वस्तु है तथा भाषा द्वितीय। प्रतीक में भी भाव या भाषा का समन्वित रूप प्राप्त होता है। क्रोशे का अभिव्यंजनावाद भाषा के इसी रूप का विवेचन करता है। बेशो ने कहा है—'अभिव्यक्ति के लिए भावात्मक संवेदना आवश्यक है और संवेदना के लिए अभिव्यक्ति। इसी से अभिव्यक्तिवाद भाषा की आधारशिला पर आश्रित है।[1]'

क्रोशे के अभिव्यंजनावाद में और कुंतक के वक्रोक्तिवाद में समानताएँ हैं। दोनो के लिए अभिव्यंजना का समान महत्त्व है। दोनों वस्तु तथा भाव

१—बेशां : Bosanquet : थ्री लेक्चर्स आन एस्थटिक—पृ० ५० माडर्न बुक आफ एस्थिटिक द्वारा रेडर, पृ० १६७।

की अपेक्षा उक्ति में काव्यत्व मानते हैं। दोनों कलाशास्त्री आत्मा की क्रिया को ही कला का क्षेत्र मानते है अर्थात् आध्यात्मपरक क्रिया पर ज़ोर देते हैं। दोनों सौंदर्य की श्रेणियाँ नहीं मानते है पर उसे सहजानुभूति की एक क्रिया ही मानते हैं।[१] इन समानताओं मे जहाँ एक ओर 'आत्माभिव्यक्ति' की प्रधानता है, वहीं अपेक्षाकृत वस्तु की गौणता। प्रतीक की दृष्टि से यह मत नितान्त सत्य नहीं है। प्रतीक की आधारशिला 'वस्तु' ही होती है जो अन्य अर्थ को व्यंजित करती है। काव्य-प्रतीकत्व 'वस्तु' पर आश्रित तो रहता है पर उसका ध्येय व्यंग्यार्थ ही होता है जो अभिव्यंजनात्मक क्रिया में एक आवश्यक तत्त्व है। प्रत्येक भाव तथा विचार की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को ध्यान में रख कर ही मूर्त विधान (अमूर्त का) करना अच्छा होता है,[२] पर मूर्त (प्रतीक) को अत्यन्त अतिरंजित कर देना अभिव्यंजना को कृत्रिम बना देता है। आत्माभिव्यंजना एक आध्यात्मिक क्रिया है और इसी से जो भी प्रतीक इस क्रिया के सहायक होंगे वे मूर्त्त रूप होते हुए भी अमूर्त्त की व्यंजना अवश्य करेंगे। यही प्रतीकात्मक अभिव्यंजना काव्य की सबसे बड़ी शक्ति है।

(ङ) अलंकार और प्रतीक

शब्द-प्रतीक और अलंकार

विगत विवेचन के प्रकाश में यदा कदा अलंकारो और उनमें प्रयुक्त शब्दों की ओर संकेत किया गया है। पंडितराज जगन्नाथ ने एक स्थान पर कहा है कि 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यं' अर्थात् रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाले शब्द ही काव्य है।[३] पाश्चात्य विचारक लांगिनस ने सब्लाइम का उदय अलंकारों की सत्ता में माना है। अलंकार भव्यता की वृद्धि करते हैं। अलंकार में यह भावना उचित शब्द के प्रयोग पर आश्रित है।[४] यह कथन पंडितराज जगन्नाथ के 'रमणीय अर्थ' के समकक्ष ज्ञात होता है। रमणीय अर्थ प्रदान करने के दो साधन हैं—व्यंजना और अलंकार। प्रतीक शब्दों का जहाँ तक प्रश्न है उनका स्थान अलंकार और व्यंजना दोनों पक्षों पर समान रूप से आधारित है। व्यंजना शक्ति पर हम पहले विचार कर चुके हैं और

१—रीतिकाल की भूमिका द्वारा डा० नगेन्द्र, पृ० ५१।

२—काव्य में अभिव्यंजनावाद द्वारा लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', पृ० १२४।

३—काव्य सम्प्रदाय द्वारा अशोक कुमार सिंह, पृ० ७८।

४—भारतीय साहित्य शास्त्र द्वारा बलदेव उपाध्याय, पृ० १२०।

प्रतीकात्मक अर्थ में उसकी महत्ता पर प्रकाश डाल चुके हैं। अतः अलंकार और प्रतीक का विवेचन अपेक्षित है।

अलंकार काव्य के गुण माने गए हैं—काव्य शरीर के आवश्यक आभूषण और अलंकरण। आचार्य विश्वनाथ ने अलंकारों के बारे में कहा है कि शोभा को बढ़ाने वाले और रसादि के उपकारक जो शब्द, अर्थ के अनित्य धर्म हैं, अंगद (आभूषणविशेष) आदि की तरह, अलंकार कहे जाते हैं।[1] परन्तु प्रतीक की महान् भावभूमि को ध्यान में रखते हुए अलंकार की यह परिभाषा एकांगी ही कही जायगी।

अलंकार की मूल प्रेरणा का रहस्य क्या है? अलंकारों की मूलभूत प्रेरणा का स्रोत भावों तथा संवेदनाओं में ही निहित है। जब मानव-मन में हृदयगत भाव तथा संवेदनाएँ उद्दीप्त होती हैं, तब वे आवेग का रूप धारण करती हैं। ये आवेग इतने तीव्र होते हैं कि वे कवि के मानस-लोक को उद्वेलित कर देते हैं। इस उद्वेलन के फलस्वरूप कवि या कलाकार उसे बाह्य रूप देना चाहता है। अमूर्त आवेग इस प्रकार मूर्तरूप में अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं। यही अभिव्यक्ति अनेक रूपों में, जिसमें अलंकार प्रमुख हैं, प्रकट होती है। क्रोचे ने इसी से, अलंकार, प्रतीक, रोमांटिक, यथार्थ—सब को अभिव्यंजना की विधियाँ माना है। वस्तुतः अलंकार 'तत्व' को शक्तिशाली रूप में रख सकने में समर्थ है। मेरे विचार से 'तत्व' और अलंकार का एक दूसरे से वही सम्बन्ध है जो प्रतीक का वस्तु से। अभिव्यक्ति के विशेष माध्यम शब्द हैं जो अलंकारों में अपनी शक्ति का सुन्दर विकास प्राप्त करते हैं। सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो अलंकारों का प्रतीकात्मक महत्त्व शब्द की लक्षणा तथा व्यंजना शक्तियों पर ही निर्भर करता है। शब्द ही वस्तु तथा पात्र के बोधक होते हैं। अलंकार वस्तु और पात्र में निहित मनोवैज्ञानिक सौंदर्य को स्पष्ट करने के साधन हैं। वे केवलमात्र अलंकरण के उपकरण नहीं हैं।[2] अतः शब्द और उसके अर्थ-विस्तार पर ही अलंकार की आधारशिला प्रतिष्ठित है। अलंकार में प्रतीक केवल चमत्कारिक वस्तु नहीं है, पर उनका महत्त्व विचारों तथा भावों को रमणीय रूप देने में है। अलंकार अभिव्यक्ति के माध्यम हैं, उसके ध्येय नहीं।

अलंकार और प्रतीक के इस विवेचन के प्रकाश में कुछ ऐसे काव्यालंकार दृष्टिगत होते हैं जिनमें प्रतीक की स्थिति सम्भव है। अतः उनका विवेचन यहाँ अपेक्षित है।

१—काव्य-सम्प्रदाय, पृ० ८० ।

२—साहित्य शास्त्र द्वारा डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ११६ ।

रूपक और प्रतीक

अनेक विचारक रूपक और प्रतीक में कोई भी भिन्नता नहीं पाते हैं। उनके अनुसार प्रतीक रूपक होते हैं और केवल रूपक से ही आविर्भूत होते हैं। परन्तु तथ्य तो यह है कि प्रतीक रूपक से कहीं अधिक व्यापक अर्थ का द्योतक है और दोनों में स्पष्ट अन्तर है।

रूपक में उपमान तथा उपमेय की अभिन्नता तथा तद्रूपता रहती है, एक प्रकार से रूपक में दोनों का समान महत्त्व रहता है। उनकी तद्रूपता में भी विलगता का स्पष्ट आभास प्राप्त होता है। यह बात प्रतीक के लिए सर्वथा असत्य है। प्रतीक का अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व रहता है और साथ ही वह पूरे संदर्भ को अपने अन्दर समेटने में समर्थ होता है। प्रतीक में उपमान या उपमेय (प्रस्तुत या अप्रस्तुत) की सत्ता नहीं रहती है, वहाँ तो केवल उपमान ही प्रतीक की स्थिति को स्पष्ट करता है। जब उपमान में उपमेय अंतर्भूत हो जाता है और केवलमात्र उपमान ही पूरे संदर्भ को किसी भाव तथा विचार का वाहक बन किसी अन्य अर्थ की व्यंजना करता है, तब वह प्रतीक हो जाता है। अतः जिनका यह मत है कि औपम्यमूलक प्रतीक योजना रूपक की मूल प्रकृति है जिसमें प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का अभेद रहता है,[1] वह पूर्ण रूप से सत्य नहीं है। दूसरी ओर प्रतीक के अभेदत्व में उपमान तथा उपमेय का अलग-अलग कथन नहीं किया जाता है। अप्रस्तुत पर जितना ही अधिक स्वतंत्र प्रतीकत्व होगा, वह उतना ही विस्तृत अर्थ का व्यंजक होगा। इस प्रकार प्रतीक रूपक की सापेक्षता में व्यक्त और अव्यक्त का एक साथ अंतर्लय अपने में कर लेता है। वह अपने में कार्य-कारण का रूप मुखर करता है। वह (प्रतीक) मूर्त्त और प्रतिमूर्त्त की तरह अकेला कार्य करता है।[2] यही उसकी स्वतंत्रता है, यही उसकी विशालता है।

श्लेष और प्रतीक

दूसरा अलंकार श्लेष है जिसमें प्रतीक की योजना प्राप्त होती है। श्लेष में शब्द के अनेक अर्थ ध्वनित होते हैं, परन्तु शब्द का प्रयोग एक बार ही होता है। शब्द-शक्तियों के अंतर्गत हम शब्द के प्रतीकत्व पर विचार कर चुके हैं जहाँ शब्द अपनी विशिष्ट अर्थाभिव्यक्ति या भावाभिव्यक्ति के कारण अनेक

१—सिद्ध साहित्य द्वारा धर्मवीर भारती, पृ० २८४।

२—थियरी आफ़ लिटरेचर द्वारा वारन और वेलक, पृ० १९२।

अर्थों की व्यंजना करते है । यहाँ पर शब्द-प्रतीकों की स्थिति स्पष्ट होने लगती है और अंत में वह स्थिर हो जाता है ।

इस प्रकार अर्थ समष्टि के अभिव्यक्तीकरण में प्रतीक किसी शब्द-विशेष का आश्रय ग्रहण करता है । यह शब्द उस सतखंड के समान है जिसके अर्थ की अनेक रश्मियाँ इष्ट दिशाओं में गतिशील होती हैं । अनेक सादृश्यमूलक अलंकारो की (यथा श्लेष, यमक, प्रतीक, अपह्नुति) अभिव्यक्ति किसी शब्द विशेष के माध्यम से ही होती है । श्लेष में (यमक में भी) प्रतीकवाद की स्थिति वहीं सम्भव होती है जहाँ शब्दों के अर्थ, व्यंजना की प्रतिष्ठा करते हुए, किसी भाव तथा विचार में स्थिर हो जाते है । श्लेष में सभी शब्दो का ध्येय इसी भाव अथवा विचार को व्यंजित करने के लिए होता है, और ये शब्द केवल 'एक' प्रमुख शब्द के द्वारा दो संदर्भों को सादृश्य के आधार पर स्थिर कर प्रतीकात्मक व्यंजना प्रस्तुत करते है । उदाहरणस्वरूप 'घनश्याम' शब्द लिया जा सकता है । यह शब्द प्रतीकात्मक रूप उसी समय धारण करेगा जब वह मेघ के साथ किसी अन्य वस्तु, भाव तथा विचार (व्यक्तित्व भी) की गतिशीलता में स्थिर हो जाय । श्लेषगत प्रतीकों का रूप हमें भक्तिकाल (केशव, सूर में) और रीतिकाल में (सेनापति प्रमुख कवि हैं) अधिकता से प्राप्त होता है जिनका विवेचन यथास्थान किया जायगा ।

यमक और प्रतीक

श्लेष में जहाँ शब्द की पुनरावृत्ति नहीं होती है वहीं यमक में उसकी आवृत्ति होती है । इस आवृत्ति में वह शब्द अनेक अर्थों की व्यंजना अलग-अलग प्रस्तुत करता है । इसके साथ इन अर्थों का स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं रहता है वरन् वे किसी चित्र, भाव तथा विचार को सामूहिक रूप में व्यक्त करते हैं । इस प्रकार प्रतीक की स्थिति यमक में उसी समय स्पष्ट होती है जबकि एक शब्द अनेक अर्थों की व्यंजना करता है और ये सभी व्यंजनाएँ मिलकर किसी एक अर्थ तथा भाव को स्थिर कर देती हैं । श्लेष की ही तरह शब्द-प्रतीक की गतिशीलता किसी अर्थ में स्थिर हो जाती है । सूर के कूटों में ऐसे यमकगत प्रतीकों की सुन्दर योजना यदा कदा मिल जाती है जिसका विवेचन आगे किया जायगा ।

रूपकातिशयोक्ति और प्रतीक

रूपकातिशयोक्ति में प्रतीकों की पूर्ण स्वतंत्र सत्ता प्राप्त होती है । इन

प्रतीकों की संख्या भी अधिक हो सकती है जो केवल-मात्र उपमान या अप्रस्तुत की गणना पर निर्भर रहती है। इन उपमानों के स्वतंत्र रूप होते हैं जिनमें उपमेय का अंतर्भाव रहता है जो लक्षणा पर आश्रित अर्थ की व्यंजना प्रस्तुत करते हैं। अतः रूपकातिशयोक्ति में प्रतीक का रूप अप्रस्तुत-परक ही अधिक होता है। इसी से इन प्रतीकों को 'अप्रस्तुत-प्रतीक' की संज्ञा दी जा सकती है। इन प्रतीकों का प्रतीकार्थ एकपक्षीय होता है। वे केवल एक ही अर्थ की या वस्तु की व्यंजना करते हैं। श्लेष के प्रतीकों के समान द्विपक्षीय व्यंजना नहीं करते हैं। इस अलंकार में प्रतीकों का अर्थ एक अर्थ में ही रूढ़ि सा हो जाता है। इसी से इसमें अनेक प्रतीको की एक साथ स्थिति सम्भव है, केवल एक प्रतीक पूरे संदर्भ का समावेश अपने अन्दर नहीं करता है। अतः प्रत्येक प्रतीक का संदर्भ अत्यन्त संकुचित होता है। इसी से मैंने इन प्रतीकों को 'अप्रस्तुतपरक प्रतीक' ही कहा है।

कथा-रूपक और प्रतीक (Allegory)

कथा-रूपक के द्वारा कवि या लेखक एक बहुत बड़े संदर्भ का प्रतीकीकरण करता है। इसमें कवि किसी प्रस्थापना या 'सत्य' को भौतिक माध्यमों के द्वारा व्यंजित करने का प्रयत्न करता है। इन भौतिक माध्यमो में पदार्थ और व्यक्ति दोनों हो सकते हैं जो किसी अन्य तत्त्व, भाव या वस्तु की व्यंजना प्रस्तुत करते हैं। परन्तु कथा-रूपक के सब पात्र, चाहे वे मानवेतर प्रकृति से लिए गए हों अथवा मानवीय व्यक्तित्व से युक्त हों, उनका प्रयोग किसी सत्य अथवा यथार्थ को व्यंजित करना ही होता है और वह भी किसी कथा के द्वारा। इस दृष्टि से सम्पूर्ण पौराणिक तथा धार्मिक कथाएँ 'कथारूपक' शैली में ही कही गयी हैं। इन कथाओं का एक-एक पात्र अलग-अलग किसी धारणा या तत्त्व का प्रतिनिधि होता है जिसके कार्यकलापों एवं अन्योन्य संबंधों के द्वारा किसी प्राकृतिक सत्य, किसी मानवीय आदर्श और किसी तात्त्विक अर्थ की अभिव्यंजना होती है।

कथा-रूपक में प्रत्येक पात्र का अपना विशिष्ट प्रतीकार्थ होने के कारण अरबन ने कथा-रूपक को उपमा का बौद्धिक विकास माना है।[1] मेरे विचार से कथा-रूपक में उपमा का बौद्धिक विकास अवश्य प्राप्त होता है। उस विकास में बुद्धि के साथ-साथ जहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है, अनुभूति का भी

१—लैंगवेज एण्ड रियाल्टी द्वारा अरबन, पृ० ४७१।

समुचित समावेश होता है। बिना अनुभूति के उपमा का प्रतीकत्व पूर्ण अर्थ व्यक्त करने में असमर्थ रहेगा। यहाँ पर उपमा का अर्थ केवल तुलना है जो सादृश्य के आधार पर होती है। परन्तु प्रतीक की स्थिति में वह वस्तु जिसकी तुलना की जाती है, उसका सर्वथा अभाव रहता है, वह मानों प्रतीक में ही अंतर्भूत रहता है। केवल इसी रूप में उपमा के प्रतीकत्व को हम कथा-रूपक में स्थान दे सकते हैं।

अतः कथा-रूपक के द्वारा प्रतीकात्मक दर्शन अपने उच्चतम रूप में प्राप्त होता है। इस प्रतीकात्मक विस्तार में बाह्य तत्त्व क्रमशः महत् तत्त्व (Significance) के साथ एकीभूत प्रतीत होते हैं और अंत में, वह पूर्ण रूप से महत्-तत्त्व के व्यंजक बन जाते हैं।[1] फिर भी कथा-रूपक के 'महत्-प्रतीकार्थ' के प्रति बोशों का एक आश्चर्यजनक निष्कर्ष है। वह कहता है, 'कथा-रूपक अपने मूल रूप में दोष-युक्त प्रतीकवाद है जिसमें 'रूप' और 'तत्त्व' की असमानता रहती है जो प्रतीकवाद के सत्य स्वरूप को हृदयंगम नहीं करा सकती है।'[2] इस कथन में जो दोषयुक्त प्रतीकवाद का संकेत किया गया है वह सर्वथा आधारहीन है। प्रतीकवाद का सुन्दर विकास हमें कथा-रूपक में ही प्राप्त होता है। संसार के सभी महान् काव्य इसी शैली में लिखे गए हैं जिनकी विश्व-जनीनता के प्रति कोई संदेह करना सत्य पर आवरण डालना है। युगों-युगो से ये महाकाव्य तथा काव्य अपने प्रतीको के द्वारा ही सांस्कृतिक चेतना के अभिन्न अंग बन सके हैं। ये कभी भी चिरन्तन न हो पाते, इनका सांस्कृतिक महत्त्व न जाने कब का रसातल में चला गया होता, यदि इनका 'प्रतीकवाद' दोषयुक्त होता। रही तत्त्व और रूप की बात। कथारूपक में प्रतीकवाद दोष-युक्त नहीं है, अतः उनमें तत्त्व-समावेश का रूप भी अत्यन्त अर्थगर्भित है। बिना अर्थ के तत्त्व का स्थायित्व नही रह सकता है और बिना रूप के तत्त्व की अभिव्यंजना सुन्दर रूप से नही हो सकती है। असमानता का जो रूप दृष्टिगत होता है वह धरातल से ही सम्बन्धित है, पर उनकी समानता सूक्ष्म स्तर में ही भासित होती है। सत्य तो यह है कि कथा-रूपक में 'रूप-तत्त्व' की सार्वभौमिकता उसके 'तत्व' पर ही आश्रित रहती है। दोनों एक दूसरे के पूरक होकर ही कथा-रूपक में कार्य-कारण की शृंखला से अनुस्यूत रहते हैं।

१—द फिलासफी आफ़ फ़ाइन आर्ट्स द्वारा हीगल, पृ० १३२।

२—हिस्ट्री आफ़ एस्थिटिक द्वारा बोशों (Bosanquet), पृ० ४४।

अन्योक्ति और प्रतीक

अन्योक्ति में प्रतीक की स्थिति नितान्त स्वतंत्र रूप से अपने पूर्ण व्यक्तित्व के साथ उभर कर आती है। अन्योक्ति में उपमान तथा उपमेय की एकाकारिता प्राप्त होती है। वह वस्तु या पदार्थ जिसे अन्योक्ति (व्यंग्य) का माध्यम बनाया जाता है, उसका मुख्य धर्म ही बढ़ कर सम्पूर्ण संदर्भ को अपने अंदर क्रमशः समाहित कर लेता है। इस प्रकार वस्तु पूरे संदर्भ का प्रतीकीकरण करने में समर्थ होती है। दूसरे पर कही गई उक्ति (जो व्यंग्यार्थ ही है) उस वस्तु या अप्रस्तुत में इस प्रकार से एकीभूत हो जाती है कि अप्रस्तुत का प्रस्तुत रूप में अवतार होता है।[१] इसी अवतार पर प्रतीक का विस्तृत भाव-क्षेत्र स्पष्ट होता है।

अन्योक्ति में प्रतीक का चयन किसी भी क्षेत्र से किया जा सकता है। वह मानवेतर जड़ प्रकृति भी हो सकती है और मानवेतर चेतन प्रकृति भी। यह तो कवि प्रतिभा पर आश्रित है कि वह उस 'वस्तु' को प्रतीक के रूप में किस सीमा तक सफलता से रूपान्तरित कर सकती है। जिस अप्रस्तुत मे जितना ही प्रतीकत्व होगा उस पर की गयी अन्योक्ति उतनी ही मार्मिक होगी।[२] यही कारण है कि कमल, भौंरा, हंस, काग आदि पर अप्रस्तुत का बोझ इतने अधिक दिनों से लदा हुआ है, परन्तु इसके साथ ही साथ उनका प्रतीकत्व भी हमें अन्योक्तियों में सुन्दर रूप से प्राप्त होता है।

मानवीकरण

साहित्य की सृजनात्मक शक्तियों में मानवीकरण एक प्रमुख माध्यम है जो आरोपण की प्रवृत्ति पर निर्भर है। प्रथम अध्याय के अन्तर्गत यह स्पष्ट हो चुका है कि मानवीय क्रियाओं का संवेदनात्मक रूप समस्त चराचर विश्व को मानवीय चेतना एवं क्रिया से संवलित देखता है जो उसे मानवीकरण की ओर प्रवृत्त करता है। मानवीकरण की क्रिया प्रकृति, जीव और जगत के तादात्म्य एवं एकात्मभाव की महत् क्रिया है। साहित्य में मानवीकरण की प्रेरणा का स्रोत संवेदना के प्रत्यक्षीकरण के लिए होता है।[३] सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य में इसके अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। इसका मूल कारण, मेरे विचार से,

---

१—हिंदी कविता में युगांतर द्वारा सुधीन्द्र, पृ० ३६४ (दिल्ली—१६५०)।

२—काव्य में अभिव्यंजनावाद द्वारा लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', पृ० ११६।

३—साहित्य शास्त्र द्वारा डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६६।

वह एकात्म भाव है जो ब्रह्म की चेतन-क्रिया का स्पंदन समस्त सृष्टि-प्रसार में देखता है। यही कारण है कि उपनिषदों ने सूर्य से परे, या सूर्य के अन्दर 'पुरुष' की कल्पना[1] की, सृष्टि प्रसंग में चेतन शक्ति को विराट् पुरुष आत्मा की संज्ञा दी जिसके विभिन्न अंग सृष्टि के विभिन्न अवयव हैं।[2] अतः मानवीकरण का क्षेत्र केवल भाव तथा संवेदना तक ही सीमित नहीं है। वह तो इन तत्त्वों के सहित किसी विशिष्ट धारणा, भाव, विचार तथा तत्त्व-चिंतन का भी वाहक हो सकता है और होता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन में मानवीकरण का तात्विक एवं आध्यात्मिक महत्त्व है। इसी से डा० वर्मा का मत है कि मानवीकरण का एक आध्यात्मिक पक्ष है जिसमें जीव और प्रकृति मिलकर जीवन में सहयोगी हो जाते है और अपने रूप में सुख-दुख की प्रतिक्रिया समान रूप से लक्षित करते हैं। इसी में प्रकृतिगत मानवीकरण की निष्पत्ति होती है।[3]

मानवीकरण का काव्य-रूप उसी समय सफल माना जायगा जब उसमें अनुभूति-प्रवणता का समावेश अपने सुंदर रूप में होता है। अनुभूति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है जैसा कि मनोवैज्ञानिक तथा काव्यात्मक प्रतीक दर्शनों (अध्याय २) के विवेचन में स्पष्ट हो चुका है। अनुभूति एक आत्मिक क्रिया है। इस स्थिति में मानव अपने दुख सुख को भी वाह्य प्रकृति पर आरोपित कर उसे संवेदनशील बना देता है। वह अपनी सीमित परिधि को तोड़कर अपनी आत्मिक अनुभूति को समस्त चराचर प्रकृति में प्रसारित करता है। अपनी इस सहजानुभूति को वह प्रतीक शैली में व्यक्त करता है जिसे हम मानवीकरण की संज्ञा दे सकते हैं। यहाँ पर जड़ भी मानव का सहयोगी बन जाता है। इसी से गोपियों ने अपनी विरहानुभूति को इतना व्यापक रूप प्रदान किया कि यमुना को ही विरहिणी[4] का रूप दे डाला। यहाँ पर ऐसा ज्ञात होता है कि वस्तु का निलय मानवीय रूप में सम्पन्न हो अनुभूति की प्रांजलता में साकार हो उठा है। शायद इसी से प्रेसकाट ने मानवीकरण-क्रिया में पदार्थ और मानव का एकीभूत संस्कार माना है।[5] एकीभूत संस्कार भी अनुभूति पर

१—कठोपनिषद् अध्याय १, बल्ली ३, पृ० ९२-१ ११ तथा वृहद् उप० पृ० ८७१-८७८ खंड १।

२—ऐतरेयोपनिषद् अध्याय १ खण्ड १, पृ० ३२-४१ (उप० भा० खं० २)।

३—साहित्य शास्त्र द्वारा डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६६।

४—दे० सगुण भक्ति काव्य के प्रतीको में।

५—प्योटिक माइंड द्वारा प्रेसकाट, पृ० २२१।

ही आश्रित है, वह केवल कल्पना का ही क्षेत्र नहीं है। इस प्रकार देखने पर रस्किन का 'पैथिटिक फ़ैलसी' वाला सिद्धान्त निराधार प्रतीत होता है। काव्य का क्षेत्र व्यक्तिगत क्षेत्र है जिसमें कवि की अपनी भावभूमि ही विस्तार प्राप्त करती है। इस विस्तार में वह अन्य क्षेत्रों को भी अपने अन्दर समेटती है। और फिर, जब हम प्रकृति के उल्लासपूर्ण चित्रों में चेतना का आरोप करते हैं तब उसे दोष की संज्ञा नहीं देते हैं, तब विषाद चित्रों पर ही ऐसा दोषारोपण क्यों? अतः डा० वर्मा ने 'पैथटिक फ़ैलसी' के स्थान पर 'सिम्पैथटिक फैलसी' की जो अवतारणा की है वह रस्किन के एकांगी दृष्टिकोण से कहीं विस्तृत है।[1] परन्तु चाहे वह 'सिम्पैथटिक फ़ैलसी हो या पैथिटिक,' दोष तो वह दोनो दृष्टियों से है। मैं इसे 'फ़ैलसी' अथवा दोष ही नहीं मानता हूँ। वह तो दोष तब हो सकता है जब उसे दोषयुक्त रूप में प्रयुक्त किया जाय। यह दोष ही गुण हो जाता है जब उसके द्वारा (मानवीकरण भी) चेतना का विस्तार अपनी ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति का परिचारक होता है। मानवीकरण तत्त्व चितन का मधु है, सार है, वह अद्वैत दर्शन को प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है—वह इस दृष्टि से काव्य का गुण है।

मानवीकरण का एक अन्य क्षेत्र अव्यक्त विचारों तथा भावों का चारित्रिक रूप है। समाज की विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य जब अपना विकास करने लगता है, तब उसे नीति तथा 'आदर्श' की आवश्यकता पड़ती है। इसी नीति तथा आदर्श की धारणा को मानव-जीवन और मानव-मनोविज्ञान के अनुकूल बनाने के लिए प्रतीक शैली में मानवीकरण क्रिया का सहारा लिया जाता है। इसी प्रवृत्ति का प्रकाशन हमें भारतेन्दु के नाटक 'भारत-दुर्दशा' और प्रसाद की नाटिका 'कामना' में प्राप्त होता है जिसमें समाज की दूषित (राष्ट्र) प्रवृत्तियों को व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। इसी प्रकार कामना में विभिन्न हृदयस्थित प्रवृत्तियों के मानवीकरण द्वारा अमूर्त को मूर्त रूप दिया गया जिसने एक नई सृष्टि कर दी, जो मानवीय जीवन सापेक्ष है। इसी प्रकार के नाटक हैं, मैटरलिंग का 'ब्लू बर्ड', पंत का 'ज्योत्स्ना', डा० रामकुमार वर्मा का 'बादल की मृत्यु' आदि। इस प्रकार मानव-चरित्र के विविध पार्श्वों पर प्रकाश डालने के लिए विविध प्रतीकों की सृष्टि हुई। इस प्रकार आंतरिक तथा वाह्य जगत का विश्लेषण मानव मन को नीति तथा आदर्श की ओर प्रेरित करने में सहायक हो सका।

१—साहित्य शास्त्र द्वारा डा० वर्मा, पृ० ७२।

चतुर्थ अध्याय

संत काव्य में प्रतीक-योजना

प्रवेश

मध्यकालीन संतों की प्रतीक-योजना सामान्यतः किसी न किसी दार्शनिक एवं धार्मिक मान्यताओ के प्रकाश में ही प्राप्त होती है। यही कारण है कि इनके सामान्य प्रतीक, किसी विशिष्ट धार्मिक रहस्यभावना के कारण एवं उनके सांप्रदायिक संस्कारों के कारण, अपने समय की समस्त विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। फिर भी, संतो के प्रतीकों के बारे में यह कहा जा सकता है कि इन कवियों ने अपने काव्य में रूढ़ि अथवा परम्परा से प्राप्त प्रतीको का सुंदर प्रयोग किया है। ये रूढ़िप्रयोग उन्हें अपने पूर्ववर्ती साधकों (यथा नाथों, सिद्धों से) से प्राप्त हुए थे। इन रूढ़ि प्रतीकों का प्रयोग इन्होंने अपनी साधना पद्धति के प्रकाश में किया था। अतः जहाँ तक इनके योगपरक प्रतीकों का प्रश्न है उनकी पृष्ठभूमि में बौद्ध धर्म से विकसित हुई कर्मकाण्डों के निषेध की प्रवृत्ति लिए हुए बज्रयान की प्रतिक्रिया में उत्पन्न नाथ सम्प्रदाय की आत्मानुभव और योग की परम्परा का एक सबल रूप प्राप्त होता है।[1]

इस प्रभाव के अतिरिक्त दूसरा प्रमुख तत्त्व जो इन सन्तों के काव्य में प्राप्त होता है वह है भक्ति का समन्वय। इसके फलस्वरूप इनके प्रतीकों में दार्शनिकता के साथ-साथ काव्यात्मक भावानुभूति का सुंदर समावेश प्राप्त होता है। सन्त काव्य की प्रतीक-योजना का एक बहुत बड़ा क्षेत्र इस भावात्मक रहस्यवाद पर आश्रित है। इस भावात्मक रहस्यवाद में उपनिषदों का अद्वैत दर्शन, विट्ठल सम्प्रदाय की प्रेमासक्ति, रामानंद के प्रभाव से उत्पन्न अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद की सम्मिलित विचारधारा में भक्ति भावना का सन्निवेश,

---

१—हिन्दी साहित्य, भाग २ लेख संतकाव्य द्वारा डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १६५ [भारतीय हिन्दी परिषद् १९५९]

और सूफ़ी मत की रहस्यमयी मादकता में इश्क मजाजी का तात्त्विक समावेश—इन सब विचारधाराओं का तिलतंदुल रूप संत काव्य के भावपरक रहस्यवादी प्रतीकों में प्राप्त होता है।[1] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मन की सबसे सबल प्रक्रिया उस समय प्राप्त होती है जब मन समन्वायात्मक रूप धारण करता है। मेरे विचार से सन्त प्रतीकों की भावभूमि में मानसिक प्रक्रिया की यही उच्चतम दशा प्राप्त होती है। इसी तत्त्व के प्रकाश में हम कह सकते हैं कि सन्त प्रतीकों का क्षेत्र अनुभूतिपरक ज्ञान का क्षेत्र है और ज्ञान की वृद्धि का अर्थ है नित नवीन प्रतीकों का सृजन जो उस ज्ञान का वाहक हो सके।[2]

इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में संतकाव्य के प्रतीकों का सिंहावलोकन निम्न वर्गों में किया जा सकता है :—

१—भावात्मक रहस्यवादी प्रतीक
२—तात्त्विक प्रतीक (ब्रह्म, माया, संसार आदि)
३—साधनात्मक रहस्यवादी प्रतीक (नाथों तथा सिद्धों की साधना से)
४—उल्टवासियों की प्रतीक योजना

(क) भावात्मक रहस्यवादी प्रतीक-योजना

इन प्रतीकों की पृष्ठभूमि में एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद और प्रेम-भक्ति का समन्वय प्राप्त होता है—मेरा तात्पर्य है कि परमात्मा एवं आत्मा, ब्रह्म, माया और जीव आदि की एकता को प्रदर्शित करने के लिए लौकिक प्रतीक योजनाएँ प्राप्त होती हैं। इनमें प्रेम-भक्ति की सलिल प्रवाहिनी का सुमधुरतम रूप द्रष्टव्य है। इस विवेचन के आधार पर हम इस उपखंड के रहस्यवादी प्रतीकों को अनेक वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। इस विभाजन में अनेक प्रकार के प्रतीकों का चयन प्राप्त होगा जिनमें मानवीय सम्बन्ध भी हैं, मानवेतर प्राणियों तथा पदार्थों के भी सम्बन्ध हैं तथा प्रणय भाव पर आश्रित दाम्पत्य सम्बन्ध भी प्राप्त होते हैं। कबीर और दादू की काव्य साधना में इन प्रतीकों का महत्त्व प्रेम-परक ही अधिक है। अस्तु, विवेचन की सुविधानुसार उनके प्रतीकों का निम्न वर्गों में अध्ययन किया जा सकता है—

१—दे० हिन्दी साहित्य ले० संतकाव्य द्वारा डा० वर्मा में इन प्रभावो का सुन्दर विश्लेषण पृ० १६०-१६५।

२—ज्ञान और प्रतीक के सम्बन्ध पर दे० पीछे अध्याय २ दार्शनिक प्रतीकवाद में तथा भाषागत दर्शन में।

मानवेतर प्रकृति के प्रतीक (प्रेम सम्बन्ध)

इनमें से अनेक प्रतीक परम्परा के रूप में कवियों को प्रिय रहे हैं और उस परंपरा का पालन सन्तों ने भी अपनी प्रेम भावना को व्यंजित करने के लिए किया है। यही नहीं, इन परम्परा के प्रतीकों (यथा, चातक, मीन, हंस आदि) का एक सबल प्रयोग भविष्य में भी होता रहा और सगुण भक्त कवियों ने भी उन्हें अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया।

चातक

सन्तों में इस रूपान्तर का भव्य रूप 'चातक वृत्ति' में प्राप्त होता है जो मानो उनके मानस जगत का एक भावात्मक प्रतीक ही है। इस प्रतीक के द्वारा उन्होंने अपनी 'आत्मा' को उस परम प्रिय परमात्मा (मेघ रूप) की सापेक्षता में उस प्रेमी के रूप में चित्रित किया है, जो अपने 'प्रिय' के अनेक आघातों तथा संकटों की परवाह न कर केवल उसी में और केवल उसी की कामना करता है। कबीर ने इसी से 'चातक' के प्रति कहा—

अंबर घन हरु छाइया, बरषि भरे सर ताल।
चातक ज्यों तरसत रहे, तिनको कौन हवाल ॥[1]

इससे तो यही ज्ञात होता है कि एक साधक-प्रेमी के लिए समस्त वैभव तथा सुख तिरोहित रहते हैं जब तक कि वह अपने परमाराध्य का एक 'घूंट' प्रेम-सामीप्य न पा सके। इस सामीप्य को न प्राप्त होने से उनकी दशा दादू द्वारा वर्णित चातक के समान हो जाती है—

चात्रिक मरे पियासा,
निसि दिन रहे उदासा
जीवे किहि बेसासा।[2]

चातक की यह उदासी मानों कबीर के अन्तरतम में व्याप्त कर्म गति की एक विषम गति हो गयी जिसके कारण वे सर्वथा 'पियास-पियास' ही अनुभव करते हैं।[3] इस प्रकार संत काव्य में चातक वृत्ति विरह-मिश्रित प्रेम-भाव को व्यक्त करती है।

१—कबीर-ग्रन्थावली, स० श्यामसुन्दर दास, पृ० २४९-३।

२—स्वामी दादूदयाल की बानी, सं० चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी, पृ० ४०८।१२६।

३—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १२५।११९।

दीप-पतंग

यह विरह भाव, एक रहस्य भावना के सन्निवेश में, पतंग के आत्म-समर्पण में साकार हो उठता है। उसका दीपक में पड़ना एक 'सारतत्त्व' को सामने रखता है। वह यह कि प्रेम की निष्फलता में भी उसका उज्ज्वल पक्ष आत्म-समर्पण में ही सुरक्षित रहता है—

ज्यों मरे पतिंगा जोति मां,
देखि देखि निज सार हो
प्यासा बूंद न पावई,
तब बनि बनि करै पुकार हो।[1]

प्रेमी साधक का यही आत्मसमर्पण उसे प्रेम भाव के उन्नत रूप की ओर ले जाता है। वह उसके अंदर एक प्रकार के विश्वास को बल देता है जो साध्य की महत्ता का सापेक्षिक रूप होता है। कबीर ने भी इस दीप-पतंग की बात कही है—

दीपक पावक आंणियां
तेल भी आंण्यां संग।
तीनों मिल करि जोइया
(तब) उड़ि उड़ि पड़ै पतंग॥[2]

हंस-मानसरोवर

कवि-परिपाटी में हंस का मानसरोवर के प्रति एक अटूट प्रेम तथा उसके नीर-क्षीर विवेक की प्रसिद्धियाँ कवियों को प्रिय रही हैं। प्रेमभाव की परिधि में इन दोनों तत्त्वो का समाहार प्राप्त होता है। यह जीवात्मा के विवेक तथा उसकी इच्छा शक्ति पर निर्भर है कि वह 'तत्त्व' रूप सरवर के जल को किस सीमा तक अपने अंदर हृदयंगम कर सकती है। इस तत्त्व-ग्रहण में 'जुगति' तथा श्रम की आवश्यकता है। तभी तो हंसनी तट पर रह कर भी तत्त्व जल का पान नहीं कर पाती है—यही हाल उस पनिहारिन (इन्द्रियों) का होता है जो कुंभ रूपी भौतिक शरीर के सहित सर से नीर नहीं भर सकती है, क्योंकि उसमें उस गुण की कमी है जो तत्त्व-ग्रहण में क्रियात्मक रूप धारण करती है—

१—स्वामी दादू दयाल की बानी पृ० ४७५।२७५।

२—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ११।१।

सरवर तटि हंसणी तिसाई
जुगति बिना हरि जल पिया न जाई।

पिया चहे तौ लै खग सारी
उड़ि न सकै दोऊ पर भारी,
कुंभ लिये ठाढ़ी पनिहारी
गुण बिन नीर भरै कैसे नारी।[1]

जब हंस का यह अज्ञान ज्ञान रूप में बदल जाता है तभी वह हरिजल पीने में समर्थ होता है। यही हाल तो जीव का भी है, बिना ज्ञान तथा विवेक के वह 'सत्य' के निकट नहीं पहुँच सकता है—

हंस सरोवर तहाँ रमैं, सूभर हरिजल नीर।
पाणी आप पखालिये, निमल होय सरीर ॥[2]

जब हंस इस स्थिति में पहुँच जाता है तब वह सूभर जल में केलि करता है और मुक्ता तत्त्व चुगता है—

मानसरोवर सूभर जल, हंसा केलि कराहि।
मुक्ताहल मुक्ता चुगै, अब उड़ि अनत न जाहि ॥[3]

इसी प्रकार जब जीव ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब वह जल रूपी 'तत्त्व' में निमग्न रहता है और मुक्ता को चुगता है।

चकई-मीन आदि

प्रेम का एक पक्ष वियोग भी है जो प्रेम को एक प्रांजल रूप में रखता है। वियोगी अक्सर मिल भी जाते हैं जैसे रात के बिछुड़े हुए चकवा-दम्पत्ति सुबह को मिलन का आनंद प्राप्त करते हैं। परन्तु कबीर का कहना है कि माया के प्रभाववश राम से जो भी मनुष्य एक बार विलग हो गया तो फिर उस व्यक्ति को राम की अनुभूति न दिन में और न रात में होती है। इस प्रकार इस चकई की प्रसिद्धि के द्वारा कवि ने एकनिष्ठ प्रेम की व्यंजना करते हुए एक उपदेश भी दिया है—

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १८६।२६८।

२—स्वामी दादूदयाल की बानी, पृ० ४६१।२४७।

३—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १५।३६।

चकई बिछुरी रैंणि की, आइ मिली परभाति ।
जो जन बिछुरे राम सूं, तो दिन मिले न राति ।।[१]

इसी प्रकार मछली भी एक ऐसी जीवात्मा की प्रतीक है जिसे परमात्मा की अनुभूति हो जाने पर, केवल उसी की अनुभूति शेष रह जाती है। दादू ने मीन को इसी संदर्भ को एक स्थान पर प्रतीक बनाया है—

मीन मगन मांहै रहै
मुदित सरोवर माहिं ।
सुख सागर क्रीला करै
पूरण परमिति नाहिं ।।[२]

एक अन्य स्थान पर कबीर अपने को जल की मीन तथा परमात्मा को समुद्र कहते हैं, और इसी प्रकार अपने को सुआ तथा परमात्मा को पिंजरा की संज्ञा देते हैं।[३]

दाम्पत्य प्रतीक योजना

पुरुष और नारी के सम्बन्धों में माता तथा बालक का सम्बन्ध एक अत्यन्त शुद्ध सम्बन्ध माना गया है, जबकि प्रणय-सम्बन्ध एक मधुर एवं कामपरक सम्बन्ध ही अधिक है। इसी से रहस्यभावना की दृष्टि से पति पत्नी का सम्बन्ध एक अत्यन्त तल्लीनता एवं मधुर लययोग का द्योतक है। इस प्रकार का आध्यात्मिक प्रणय संसार की सभी रहस्यवादी परम्पराओं में प्राप्त है। इसाई धर्म में ब्राइडल या वधूगत रहस्यवाद (Bridal Mysticism) भी इसी प्रेम का सुन्दर रूप है। सूफी साधना में (ईरान) इसी प्रेम पर आश्रित अनेक हृदयोद्गारों का प्रकाशन हुआ है, यहाँ तक कि बौद्धसाधना में भी इसी संबंध पर आधारित प्रज्ञा और उपाय (युगनद्ध) के सम्बन्ध की कल्पना की गई। बौद्धों (वज्रयानी) के दाम्पत्य भाव में साधना और मुद्राओं का एक जटिल रूप प्राप्त होता है, परन्तु संतों एवं अन्य भक्तिपरक सम्प्रदायों में यह संबंध कहीं अधिक भावमय एवं तरल ज्ञात होता है। इस प्रकार के दाम्पत्य रहस्यवाद में केवल भावना और कल्पना की उच्छृंखल उड़ान न हो, अपितु इस संबंध के द्वारा किसी विशिष्ट धारणा या विचार का बौद्धिक स्पष्टीकरण भी हो।

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ७।३।

२—स्वामी दादूदयाल की बानी, पृ० ४६१।३८१।

३—कबीर-ग्रन्थावली पृ० १२६।१२०।

अस्तु, संतकाव्य में दाम्पत्य प्रतीकों की योजना किसी विशिष्ट धारणा का ही प्रतिरूप है और वह बौद्धिक (अनुभूतिपरक) स्पष्टीकरण करता है। इसका सुंदरतम स्वरूप हमें बर्टरन्ड रसल की पुस्तक 'मिस्टिस्जिम एंड लाजिक' में प्राप्त होता है। लेखक ने वैज्ञानिक विधि से रहस्यवाद का क्रमिक विकास चार अवस्थाओं के द्वारा दिखाया है। प्रथम अवस्था में विश्वास का उदय होता है जो दूसरी अवस्था में अन्तर्दृष्टि में परिणत हो जाता है। इसी अंतर्दृष्टि के द्वारा साधक अपने साध्य के प्रति एकात्म भाव की अनुभूति प्राप्त करता है। यही तीसरी दशा है। जब यह एकात्म भाव अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है तब साधक समय और आकाश की सीमाओं के परे 'असीम' की अनुभूति प्राप्त करता है जहां आनन्द का अविरल स्रोत बहता है। यही आध्यात्मिक आनंद है।[1]

संतों के दाम्पत्य-प्रतीकों के विकास के लिये हमें ऊपर का वर्गीकरण इष्ट है क्योंकि इन प्रतीकों का स्वरूप क्रमशः इन्हीं अवस्थाओं में मुखरित होता गया है।

(१) विश्वास और अन्तर्दृष्टि

इस अवस्था में आत्मा रूपी नारी अपने साध्य के प्रति सचेत हो कर प्रयत्नशील होती है। वह अपने प्रिय के प्रति सहज आकृष्ट ही नहीं होती है पर उसे अपने ऊपर भी पूरा-पूरा विश्वास हो जाता है कि परम प्रिय की सापेक्षता में उसकी भी 'कोई' सत्ता है। अपने व्यक्तित्व का भास वह इस संबंध के द्वारा प्रकट करती है—

हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया,
राम बड़ो मैं तनकी लहुरिया[2]। आदि

यदि यहाँ पर प्रिय का व्यक्तित्व प्रधान है तो प्रेमिका का व्यक्तित्व तिरोहित नहीं माना जा सकता है। काव्यात्मक रहस्यवाद में दोनों पक्षों का समान महत्त्व रहता है, जैसा कि दार्शनिक प्रतीकवाद के अन्तर्गत हम दिखा आये हैं कि 'पूर्ण' की धारणा में अपूर्ण का और अंश का भी समाहार रहता है तभी पूर्ण का 'पूर्णत्व' है[3]।

१—मिस्टिजिम एंड लाजिक द्वारा रसल, दे० अध्याय पुस्तक के नाम पर ही।

२—बीजक (मूल), पृ० ११५, शब्द ३५।

३—दे० अध्याय दो का अंतिम उपखंड।

पूर्वराग का यह सम्बन्ध अंतर्दृष्टि का परम सूचक है या यों कहना चाहिए कि विश्वास की अन्तिम परिणति अंतर्दृष्टि को प्रश्रय देती है। प्रेम के लिए अन्तर्दृष्टि की परमावश्यकता है जो संतों की नारी रूपी आत्मा में व्याप्त है। इस अन्तर्दृष्टि का चरम विकास उस समय प्राप्त होता है जब 'आत्मा' प्रिय के हेतु विरहावस्था में तल्लीन हो जाती है, जब वह 'आरति' कर अपने हृद्गत उद्गारों की अभिव्यंजना करती है

रतिवंती आरति करे, राम सनेही आव।
दादू औसर जब मिले, यहु बिरहिन का भाव [1]॥

परन्तु क्या अभी प्रियतम का आना सम्भव है? दिन भी चला गया, रात भी व्यतीत हो गई, तब भी विरहिणी आत्मा प्रिय का दर्शन करने में असमर्थ है—

कबीर देखत दिन गया, निसि भी देखत जाइ।
विरहणि पीव पावै नहीं, जियरा तलफै माइ॥ [2]

यह विरहानुभूति अंतिम सत्य नहीं है, वह तो प्रिय के मिलन के लिए सोपान स्वरूप है। यहाँ पर विरहिणी का प्रतीकात्मक अर्थ उस दशा का परिचय देता है, जहां 'आत्मा' अपने सहज स्वरूप को पहचान कर 'परमाराध्य' की ओर अग्रसर होती है। यही प्रयत्न अनुभूति को जन्म देता है। इस अनुभूति के उदय का फल यह होता है कि वाह्य शृंगार के प्रति आत्मा की आसक्ति क्रमशः कम होने लगती है और वह एक प्रकार से अभ्यंतर-प्रकाश का अनुभव करती है—

जग दिखलावइ बावरी, षोडस करइ सिंगार।
तहं न संवारइ आपको, जहं भीतर भरतार [3]॥

प्रियतम का वास तो हृदय में है और 'तू' उसे बाहर खोज रही है। जो भीतर है वही तो बाहर है और जो बाहर है वही तो भीतर है। छांदोग्योपनिषद् में ब्रह्म के बारे में कहा गया है कि वह यही है जो कि यह पुरुष के भीतर आकाश (हृदय) है तथा जो भी यह पुरुष के भीतर आकाश है वह यही है जो कि हृदय के अंतर्गत आकाश है—

१—स्वामी दादूदयाल की बानी, पृ० ४२। २।

२—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १०। ३४।

३—श्री दादूदयाल की बानी सं० सुधाकर द्विवेदी, पृ० १२८। ३०।

अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशो यो वे सोऽन्तः पुरुष आकाशः ।[१]
इस हृदयाकाश की अनुभूति के प्रथम कबीर ने शरीर रूप चूनरी को प्रेम रस में परिप्लावित कर दिया है जिससे सुहागिन अपने प्रिय का अंतरतम मे साक्षात्कार कर सके—

> भीजै चुनरिया प्रेम रस बूंदन
> आरती साज कै चली है सुहागिनि
> पिय अपने को ढूंढ़न ।[२]

अस्तु, जीवात्मा की साधना का प्रथम रूप विश्वास के उदय के साथ परमात्मा या पति के पूर्वरागजनित अनुराग की भावना को जन्म देता है जो क्रमशः विरह, आत्मोत्कर्ष अथवा अनुसंधान की भावनाओं से होता हुआ अंतर्दृष्टि में पर्यवसित होता है जहाँ हृदयाकाशस्थित ब्रह्म की परमानुभूति होती है । अतः प्रतीक में जो अनुभूति एवं विचार का समन्वय अपेक्षित है, वह संतों के दाम्पत्य रूप (नारी) मे वर्तमान है। इसीसे नारी का प्रतीकात्मक अर्थ एक विस्तृत संदर्भ को स्वयं व्यंजित करता है ।

(२) एकात्म भाव तथा आध्यात्मिक मिलन

अपरोक्षानुभूति में, जिसे संतों ने 'परचा' की संज्ञा दी है, एकात्म भाव की परिणति होती है । इसी दशा में प्रिय और प्रिय पात्र दोनो के मध्य दूरी का नितात अभाव हो जाता है । इस एकाकार की भावना की समस्त पीठिकाएँ उपर्युक्त अवस्थाएँ हैं जो 'परचा' की दशा को पुष्ट ही करती हैं । इस स्थिति में आकर आत्मा (बधू) आकाश के समान निर्मल हो जाती है, समस्त भौतिक दुखो का तिरोभाव हो जाता है और साधक 'आत्मा' के रहस्य के प्रति सजग हो जाता है—

> पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि ।
> निर्मल कीन्हीं आतमां, ताथैं सदा हजूरि ।।[३]

और जब तक बधू को यह 'परचा' नहीं होता है, तब तक उसे 'क्वारी' ही समझना चाहिए[४] । परचा होते ही बधू एक सुहागिन के रूप में प्रिय-

१—छांदोग्योपनिषद्, अध्याय ३, खंड १२, पृ० २८५ । ८ (उप० भाष्य, खंड ३) ।
२—कबीर साहब की शब्दावली, बेलवेडियर प्रेस, पृ० ६ । ६ ।
३—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ४ । ३५ ।
४—वही, पृ० ४७ । २४ ।

मिलन का सुख भी प्राप्त करने लगती है। इस मिलन-सुख की पूर्व कल्पना से ही उसके अन्तर्मन में प्रेम, उत्साह, उल्लास एवं रति—सभी दाम्पत्यपरक भावों का आलोड़न होने लगता है। वह विकल हो उठती है प्रिय के दर्शन के लिए। उसकी समस्त अंतर्वृत्तियाँ मानो सागर की लहरों की भाँति हिलोरें लेने लगती हैं। वह 'राम' के आगमन की कल्पना से आत्मविभोर हो उठती है। अपने तन और मन को प्रेम से प्लावित कर लेती है, यहाँ तक कि पंचतत्त्व से निर्मित भौतिक शरीर को 'बराती' बना डालती है और पूर्ण 'जोबन' से मदमत्त हो जाती है।[1]

यहीं पर एकात्म भाव की परिणति होती है, 'अहं' का 'इदं' में एकाकार हो जाता है। सूफी प्रेम-साधना की शब्दावली में कहें तो आशिक और माशूक में कोई अन्तर नहीं रह जाता है, आशिक ही माशूक हो जाता है और उस माशूक का अल्लाह ही आशिक होता है—

आसिक मासुक ह्वै गया, इसक कहावै सोइ।
दादू उस मासूक का, अल्लह आसिक होय ॥[2]

ऐसा है यह आध्यात्मिक मिलन जहाँ 'मैं' और 'तुम' की प्राचीरें मानों परम-प्रेम के पारावार में बह जाती है—केवल मात्र मिलनानंद ही रह जाता है। मिलन की आकांक्षा का पर्यवसान 'सेज-सुख', 'प्रेम-रस क्रीडा' और हिंडोलना के रस में हो जाता है। ये सब वस्तुएँ उस परमदशा की भूमिकाएँ मात्र हैं जो आध्यात्मिक आनन्द अथवा विवाह की अवस्था को मुखर करती हैं। इस भूमिका का एक सुन्दर वर्णन ईरानी कवि रूमी ने इस प्रकार प्रस्तुत किया—

'वह क्षण कितना आनंदप्रद होगा जब 'मैं' और 'तुम' प्रासाद में बैठे हो, 'हमारे' अथवा 'तुम्हारे' दो आकार हों और दो रूप भी हों, परन्तु आत्मा तो एक ही है, 'हम' और 'तुम' किसी रूप में 'व्यक्ति' नहीं हैं, हमारा समाहार 'आनंद' में ही अपेक्षित है।[3] यही मिलन का रहस्य है, जहाँ 'मैं' और 'तुम'

१—कबीर-ग्रंथावली, पद २, पृ० ८७।

२—स्वामी दादूदयाल की बानी, पृ० १६०।

३—Happy the moment when we are seated
in the Palace, Thou and I
With two forms, and with two figures
But with One Soul, Thou and I
Thou and I, individuals no more,
Shall be mingled in ecstasy.
—From 'The Mystics of Islam' by R. A. Nicholson. P. 167,

का पर्यवसान एकात्मभाव के आनन्द में हो जाता है, तभी आध्यात्मिक मिलन आध्यात्मिक विवाह का रूप धारण करता है।

(३) आध्यात्मिक आनन्द या विवाह

यह एकात्म भाव की चरम परिणति है जहाँ आनन्द ही आनन्द है। दाम्पत्य रति की यह अवस्था साधना के क्षेत्र में परम 'लय' की सूचिका है। यहाँ पर भौतिक सुखों का अंत हो जाता है और रह जाता है 'आत्मानंद' या आध्यात्म प्रकाश। यही अतीन्द्रिय आनन्द का मनोराज्य है जहाँ पर सदा बसन्त है, तेजपुंज का तेजपुंज में लय है—

तेजपुंज की सुंदरी, तेजपुंज का कंत।
तेजपुंज की सेज पर, दादू बनेउ बसंत ॥[1]

यहाँ पर सुंदरी, तेजपुंज कंत, सेज और बसंत—ये सब प्रतीक आनन्द के ही वाहक हैं जिनका प्रतीकार्थ क्रमशः आत्मा, परमात्मा, शरीर और सुख का द्योतक है। यही नहीं, यहाँ पर किसी प्रकार का 'पर्दा' नही रहता है, क्योंकि सेज सुख (शरीर के अन्दर) में इसका अभाव है—

पिय से खेलउ प्रेम रस, तउ जिय रेचक होइ।
दादू पावउ सेज सुख, परदा नाहीं कोइ ॥[2]

माया-मोह का, मैं-तुम का, अंतर तथा बाह्य का—सबका (परदा) मानो लुप्त हो गया। केवल मात्र आनन्द ही रह गया। इस आनन्द का रूप उस समय और भी मुखर हो उठता है जब सुलक्षणी नारी अपने प्रिय के साथ नितप्रति 'हिंडोलना झूलने' का उपक्रम करती है। कबीर ने कहा—

दरिया पारि हिंडोलना, मेल्या कंत मचाइ।
सोई नारि सुलक्षणी, नित प्रति झूलन जाइ ॥[3]

पर्दे की बात का वर्णन नज़ीर ने भी आध्यात्मपरक रूप से किया है जो इस प्रकार है—

यां एक तरफ़ तो दूल्हा था औ एक तरफ़ को दुलहिन थी
जब दोनों मिलकर एक हुए, फिर बात रही क्या पर्दे की।[4]

१—श्री दादूदयाल की बानी, स० सु० द्वि०, पृष्ठ ४६। १०४।

२—वही पृ० ५६। २६१।

३—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ८१। ५।

४—सूफ़ी काव्य सग्रह से उद्धृत।

इन आध्यात्मिक आनन्द के प्रतीकों के बारे में यह स्पष्ट होता है कि वे अपने ध्येय से कभी विलग नहीं हुए हैं। दाम्पत्य-प्रतीकों का ध्येय है पूर्ण सामरस्यजनित आनन्द की अनुभूति कराना। संतों के दाम्पत्य संबंध के द्वारा ऐसी ही अनुभूति का स्वरूप मुखर होता है। यहीं पर आकर अन्तःकरण चतुष्टय नितान्त निर्मल हो जाते हैं। रस, फाग, सेज सुख और हिडोलना—ये सब आनन्द भाव के पूरक है जिनका प्रयोग संतों ने प्रतीक रूप में किया है। अद्वैतवाद की यह प्रथम माँग है कि उसमें 'आत्मा' या 'जीव' का प्रयत्न सदैव बढ़ता ही रहे और बढ़ते बढ़ते वह स्वयं ही 'परमात्ममय' हो जाय। इस तथ्य की सुंदर अभिव्यक्ति सूफी कवि 'शब्सतरी' ने इस प्रकार प्रस्तुत की है—

'अद्वैत के रहस्य को वही जान सका है जो अपने मार्ग में कभी ठहरा नही है, जो अविश्रांत रूप से आगे बढ़ता गया है।

ब्रह्म के सिवाय उसने किसी को 'सत्' नही पाया और उसने अपने अस्तित्व को उसी सत् में मिला दिया।'[1]

वैवाहिक प्रतीक योजना

संतों में आध्यात्मिक विवाह से सम्बन्धित कुछ ऐसे भी प्रतीक प्राप्त होते हैं जिनका विवेचन अलग ही करना समीचीन होगा। जब आत्मा रूपी नारी अपने ब्रह्म रूप पति से मिलन-लाभ करती है तब आनंद की धारा फूट कर उसे आध्यात्मिक आनंद से परिप्लावित कर देती है। परन्तु विवाह के समय और उसके पश्चात् अनेक ऐसे संबंधों की और अनेक ऐसी क्रियाओं की लौकिक मान्यताएँ साथ आती हैं जिनका पालन करना लौकिक 'बधू' के लिए एक धर्म है। ननद, देवर, जेठ, सास, ससुर आदि ऐसे ही संबंध हैं और विवाह के समय होने वाली अनेक क्रियाएँ ही वैवाहिक रीतियाँ हैं। कबीर और दादू ने इन संबंधों एवं रीतियों का सम्यक् वर्णन आध्यात्मिक विवाह के पूरक अंगों के रूप में ग्रहण किया है।

अतः आध्यात्मिक विवाह में बधू और पति क्रमशः जीव और ब्रह्म के प्रतीक ही माने गये हैं। इन प्रतीकों का महत्त्व साधनात्मक भी है। वैसे तो इन प्रतीकों का प्रयोग सिद्धों तथा नाथों में भी प्राप्त होता है, परन्तु जहाँ तक

१—ईरान के सूफ़ी कवि, सं० बाँके बिहारीलाल, पृ० २४८। २४६।
(प्रयाग वि० १९९६)

उनके भावनात्मक संदर्भ का प्रश्न है, संतों में इनका रूप कहीं अधिक हृदयग्राही है।[1]

जब बधू को अपने परमपति (ब्रह्म) से प्रेमानुभूति हो जाती है, तब उसे यह भौतिक संसार (नैहर) आकर्षित नहीं करता है। उसे तो केवलमात्र 'साईं की नगरी' (ब्रह्मपद या आनंद) की ही लालसा रहती है—

नैहरवा हमका नहिं भावै।
साईं की नगरी परम अति सुंदर जहँ कोई जाय न आवै।
चांद सुरज जहं पवन न पानी को संदेस पहुँचावै।[2]

बधू के साथ अनेक सांसारिक सम्बन्धों की भी सृष्टि होती है—कबीर का एक पद इसी ओर संकेत करता है—

सेजै रहूँ नैन नहीं देखौ, यहि दुख कासौ कहूँ हो दयाल। टेक।
सासु की दुखी, ससुर की प्यारी, जेठ के तरस डरौ रे।
नणद सुहेली गरब गहेली, देवर के बिरह जरौ हो दयाल।[3]

ईश्वर शरीर के अन्दर ही वर्तमान है (सेज) पर उसके दर्शन नहीं हो पाते हैं, यह कैसी विडम्बना है। लौकिक धरातल में यह प्रसिद्ध भी है कि ननद, सास आदि बधू को पति से मिलने में अनेक प्रकार के व्यवधान प्रस्तुत करते हैं। इसी तरह तात्त्विक अर्थ में आत्मा को भी परमात्मा से मिलने के लिए अनेक अड़चनों को पार करना पड़ता है। इतने पास रहकर भी उसका दर्शन न प्राप्त कर सकने के भी अनेक कारण हैं। जीवात्मा माया (सास) से आवृत है पर गुरु (ससुर) जो कि उसे मार्ग दिखलाता है, वह उस गुरु की अत्यन्त प्यारी है। दूसरी ओर असाधु पुरुषों से (जेठ) आत्मा को अत्यन्त भय है, क्योंकि वे उसके मार्ग में अड़चनें डालते हैं। कर्म-इंद्रिया (सखी) और ज्ञान-इंद्रिया (ननद) दोनों के मार्ग में आ जाने से प्रियतम के सत्य-साक्षात्कार में बाधा पड़ती है। केवलमात्र जीव को देवर या साधु पुरुषों की ही अंतिम आशा रह जाती है जिसके द्वारा उसका परम मिलन सम्भव होता है। इसी से जीवात्मा उसके विरह में जलती है।

दूसरे प्रकार के विवाह-प्रतीक हमें उन स्थलों पर प्राप्त होते हैं जहाँ पर

१—सिद्ध साहित्य द्वारा डा० धर्मवीर भारती, पृ० ४३४-३५।

२—उद्धृत सूफी मत और हिन्दी साहित्य से, पृ० २२०।

३—कबीर-ग्रथावली, पृ० १६६। २३०।

वैवाहिक क्रियाओं एवं वस्तुओं का वर्णन एक संश्लिष्ट रूप में प्राप्त होता है। इन प्रतीकों की व्यंजना के आधार पर तात्त्विक अर्थ का स्पष्टीकरण होता है। विवाह की अनेक क्रियाओं (प्रथाओं) यथा माड़ो का छाना, सखी-सहेलियों का गाना, हाथो पर हल्दी लगाना और भावरो का पड़ना—आदि को प्रतीक रूप मे प्रयुक्त किया गया है। ऐसी प्रतीक-योजना में बुद्धि को काफी श्रम करना पड़ता है, तब कहीं अर्थ की संगति बैठती है। अतः ऐसे स्थलो पर कबीर के प्रतीक अधिक दुरूह हो गए है जैसा कि उल्टवासियों में भी प्राप्त होते हैं। इतना होने पर भी यह कहा जा सकता है कि इन प्रतीकों के द्वारा विचारोद्भावना अवश्य होती है जो कि प्रतीक का एक अत्यन्त आवश्यक कार्य है।

जीव और ब्रह्म के बीच में माया का आवरण है जो जीव के ब्रह्म-साक्षात्कार में व्यवधान उपस्थित करती है। अतः जीव के साथ 'माया' का आना उस समय और भी स्पष्ट हो उठता है जब साई रूप ब्रह्म से उसका साक्षात्कार होने को होता है। अतः माया ब्रह्म की सृजनात्मक शक्ति होने से जीव के साथ लगी रहती है अथवा बधू (जीव) के साथ वह सासु (माया) के समान लगी रहती है—

साईं के संग सासुर आई।
जना चारि मिलि लगन सोधाये, जना पांचि मिलि माड़ो छाये।
सखी सहेलरि मंगल गावै, दुख सुख माथे हलदि चढ़ावै।
नाना रूप परी मन भांवर, गांठ जोरि भाई पतियाई।
भयो विवाह चली बिन दूलह, बाट जात समधी समुदाई।
कहै कबीर हम गौने जइबे, तब रे कंथ लै तूर बजइबे।[1]

जिस प्रकार पाणिग्रहण पर बधू को पति और ससुर दोनों मिलते हैं उसी प्रकार जीवात्मा को ब्रह्म और माया दोनों का वरदान प्राप्त होता है। उस समय उसके अंतःकरण चतुष्टय (जना चारि) विषयों की ओर उन्मुख होने लगते हैं और पंच इंद्रियाँ या तत्त्व (जना पांचि) मिलकर शरीर (माड़ो) का रूप धारण करते हैं। पाँच कर्म-इंद्रियाँ (सखी आदि) इस शुभ अवसर पर प्रकार-प्रकार के विषयों की ओर अग्रसर होने लगती है (मंगल गाती हैं) जिसके

१—बीजक, शब्द ५४, पृ० १४५।

फलस्वरूप जीवात्मा माया के पाश में बँधने लगती है और अनेक विषय (हल्दी) और सुख दुःखादि उसके ऊपर मंडराने लगते हैं। जब मन विषय-वासना से लिप्त हो गया तब वह अनेक योगियों-साधुओं के कर्मकाण्डों को देखकर भ्रमित होने लगा (नाना रूप पड़ी मन भांवर) और इस प्रकार निदान जीव अहंकार (गाठि) से बुरी तरह से आबद्ध हो गया। इस माया के चक्र में फँस जाने के कारण जीवात्मा ने जो ब्रह्म की कुछ अनुभूति प्राप्त की थी, वह भी व्यर्थ हो गयी और वह बिना परमात्मा की अनुभूति प्राप्त किये ही इस संसार-चक्र में फिर फँस गई (चली बिन दुलहा) और इस अज्ञान के फल-स्वरूप गुरु आदि (समधी समुदाई) भी उसका पथ-प्रदर्शन न कर सके। तब जीव के लिए केवलमात्र परमधाम (ब्रह्म का) का आश्रय रह जाता है (गौना) और उस दशा में ही पहुँच कर आनन्दानुभूति (तूर) का सत्य स्वरूप मुखर होता है। इस प्रकार यह पूरा संदर्भ ही प्रतीकात्मक है जो हमारे सामने तात्विक क्षेत्र की व्यंजना प्रस्तुत करता है।

वेदान्त दर्शन के अद्वैतवादी प्रतीक

भावात्मक रहस्यवादी प्रतीकों में जितना दाम्पत्य प्रतीकों का स्थान है उतना ही अन्य सम्बन्ध-प्रतीकों का है। वेदान्त के अद्वैतवाद का सबसे प्रमुख अंग, प्रतीक दर्शन की दृष्टि से, विषय और विषयी (subject and object) ब्रह्म, जीव और जगत की एकता का प्रतिपादन है जिस पर हम द्वितीय अध्याय के तात्विक प्रतीकवादी दर्शन में विचार कर चुके हैं। वेदान्त का ध्येय ब्रह्म का अद्वैत प्रदर्शन है और इस अद्वैत को प्रदर्शित करने के लिए ऐसे रूपकों तथा प्रतीकों का आश्रय लिया गया है जो 'सत्य' का प्रतिपादन कर सके। यदि यह कहा जाय कि दार्शनिक चिन्तन की तरलता में ही इन प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, तो अत्युक्ति न होगी। अतः वेदान्त दर्शन में 'सत्य' को समझाने के लिए प्रतीकात्मक शैली का ही आश्रय लिया गया है। इस दृष्टि से संतों ने अपने काव्य में अद्वैतभाव प्रदर्शित करने के लिए अनेक उपनिषदों के प्रतीकों को ग्रहण किया है जिनमें प्रमुख सम्बन्ध-प्रतीक निम्न हैं—

१—जल-कुंभ का उदाहरण

२—पिंड-ब्रह्मांड का उदाहरण

३—बूंद-समुद्र का उदाहरण

इस चराचर विश्व एवं ब्रह्मांड का अस्तित्व अस्थिर है और इस अस्थिर

रूपराशि के पीछे एक स्थिर तत्त्व भी है जो परब्रह्म की संज्ञा से वेदान्त दर्शन का प्रतिपाद्य है। यह रूपराशि और असीम की एकसूत्रता पिंड और ब्रह्माड के संबंध में ध्वनित होती है। इस पिंड में ही समस्त ब्रह्मांड समाहित है या इस ब्रह्मांड में ही पिड समाया हुआ है—एक सत्य का दो विधियों से प्रतिपादन मात्र है, वस्तुतः वे एक ही हैं। आधुनिक विज्ञान दर्शन के अनुसार पिंड एवं ब्रह्मांड को माइक्रोकाज़्म और मैक्रोकाज़्म (Microcasm and Macrocasm) की संज्ञा दी गयी है जिनका अन्योन्य संबंध विकासवाद का एक तथ्य है। यह वैज्ञानिक सत्य इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि दो या अधिक विपरीत तथ्यों का एकीकरण ही सत्य की चरम अभिव्यक्ति है।[1] इसी तथ्य को कबीर ने सूफी प्रभाव के कारण, ख़लक और ख़ालिक को एक निरपेक्ष तत्त्व में समाहित दिखाया है—

> **खालिक खलक खलक महं खालिक**
> **सब घटि रह्या समाई [2]।**

यहाँ पर यह ज्ञात होता है कि संत-काव्य में वेदान्त की सलिल प्रवाहिनी में सूफ़ी विचारधारा तिलतंदुल की भाँति मिल गई है। अनेक समीक्षकों ने पिंड का अर्थ केवलमात्र शरीर ही किया है और जो कुछ भी बाहर भासित होता है, उसे ब्रह्मांड माना है। परन्तु यह एक सीमित दृष्टिकोण है। पिंड वह दृश्यमान जगत् है जिसमें काल और समय की सीमाएँ हैं और ब्रह्माड वह तात्विक जगत है जो काल-समय से परे है—यही अनंत है। अतः असीम और ससीम का पर्यवसान, जहा पर और जिस धारणा में होता है, वही परम-तत्त्व है, वही कबीर का 'हरि' है—

> **प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अंत न होई।**
> **प्यंड ब्रह्मंड छांड़ि जे कथिए, कहै कबीर 'हरि' सोई।[3]**

इसी ससीम असीम की सापेक्षता का व्यंजनात्मक रूप एक अन्य संबंध के द्वारा भी व्यक्त किया गया है, वह है जल और कुंभ का उदाहरण। इस उदाहरण के प्रतीकों के बारे में जहा एक ओर आत्मा और परमात्मा का अभेदत्व लक्षित होता है, वहीं यह विस्तृत अर्थ भी व्यंजित होता है कि ससीम

१—दे० अध्याय २ में तात्विक प्रतीकवाद पर लेख।

२—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ८३। २५।

३—वही, पृ० १४६। १८०।

का असीम में तिरोभाव तो होता है, पर साथ ही ससीम का अस्तित्व भी मान्य है, अधिक से अधिक उसे हम भ्रम या विवर्त्त ही कह सकते हैं। जहाँ पर भी संतों ने वेदान्त का अनुसरण करते हुए घडे के फूट जाने पर उसके भीतर के पानी को बाहर के पानी से मिल जाने का संकेत किया है, वह इन अस्तित्वों का अनादि तत्त्व (जल) में निलय ही है अथवा आत्मा का परमात्मा में एकात्म भाव का सूचक भी है—

जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यहु तत कथौ गियानी।[1]

जल और कुंभ की इस प्रतीक-योजना के समकक्ष एक अन्य प्रतीक संबंध है बूँद तथा समुद्र का। बूँद की सीमित सत्ता का समुद्र की विशाल सत्ता में विलीन हो जाना जीव, जगत्, प्रकृति आदि का महत् तत्त्व 'ब्रह्म' की सत्ता में एकीभूत हो जाने का प्रतीक है—

बूंद समानी समुद में सो कत हेरी जाय।[2]

परन्तु यही नहीं, बूँद का समुद्र में समा जाना ही सब कुछ नहीं है पर तथ्य तो यह है कि समुद्र भी बूँद से (ब्रह्मांड पिंड से) इस प्रकार से अभिन्न है कि दोनों का अस्तित्व एक 'महा अस्तित्व' में समाया हुआ है—

समुद समाना बूंद में सो कत हेर्‌या जाय।[3]

इस असीम और ससीम की प्रतीकात्मक व्यंजना जामी ने भी एक स्थान पर इस प्रकार की है—

'अस्तित्वहीन बूँद समुद्र में मिल गया और अपने जीवन रूपी सरिता की सैर भी कर ली।

समुद्र के विभिन्न रूपों में, आनंदमयी लहरों के समान, सभी स्थानों में अपने को ही पाया।'[4]

इस अन्योन्याश्रित अस्तित्व-दर्शन (Reciprocal Existentional Philosophy) का केन्द्र बिन्दु मानव चेतना की वह क्रिया है जहाँ संवेदना

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १०३। ४४।

२—वहीं, पृ० १७। ३।

३—वहीं, पृ० १७। ३।

४—ईरान के सूफी कवि, सं० बांके बिहारीलाल, पृ० ३८७-३८८।

तर्क और अनुभूति, सीमा की परिधि को लाँघकर 'असीम' का साक्षात्कार करती है। संतों की बानियों में हमें स्थान-स्थान पर इसी 'बेहद के मैदान' की व्यंजना प्राप्त होती है। 'हद' का 'बेहद' में लय हो जाना ही तो कबीर का ध्येय है।

हद छांड़ि बेहद गया हुवा निरन्तर वास।[1]

अथवा

बेहद वाको हद नहीं, सकल रह्या भरपूर।[2]

इस बेहद अथवा असीम देश के बारे में डा० हजारीप्रसाद का कथन चिंतनयोग्य है—'कबीरदास का यह असीम प्रियतम का प्रेम साधना के साहित्य में अपूर्व है—सीमा मानों उस असीम की ओर उठी हुई अंगुली है।'[3]

इन प्रतीकों के अध्ययन से यह ध्वनित होता है कि प्रकृति (सृष्टि) का 'सत्य' नाश (Annihilation) होने में समाहित नहीं है, पर उसका सत्य है रूपान्तर होने में। आधुनिक विज्ञान में भी इसी सत्य का प्रतिपादन किया है जिसके द्वारा रूपान्तर या परिवर्तन ही प्रकृति का नियम है न कि वस्तु का नाश या अस्तित्वहीन होना। संतों के ये प्रतीक इसी सत्य को प्रतीकात्मक विधि से रखते है।

(ख)—तात्त्विक एवं नीतिपरक प्रतीक योजनाएँ

इन प्रतीकों का भी क्षेत्र रहस्यवाद ही माना जा सकता है जो कहीं अधिक चिंतन प्रधान है। इस प्रसंग में ऐसी प्रतीक-योजनाओं पर विचार अपेक्षित है जो स्वतंत्र रूप से ब्रह्म, माया और संसार के द्योतक हैं।

(१) ब्रह्म अर्थ के बोधक प्रतीक

कबीर तथा अन्य सन्तों में राम ही ब्रह्म का पर्याय है, वही निरंजन है और कहीं-कहीं पर वह 'खसम' रूप भी है। इन निर्गुण रूपों में भावना एवं संवेदना का पुट अधिक प्राप्त होता है।

तरुवर

वृक्ष प्रतीक के आदिमानवीय इतिहास की क्रमिक रूपरेखा यह सिद्ध करती है कि आदिमानव ने वृक्ष को सृष्टि का, प्रजनन का अथवा जीवन का प्रतीक

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १२। ५।

२—श्री दादूदयाल की बानी, सं० सु० द्वि०, पृ० ४५-९८।

३—कबीर द्वारा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २१३।

माना था[1]। उनकी इस भावना में अंधविश्वास एवं आश्चर्य भावना का ही अधिक पुट था। परन्तु जैसे जैसे मानव चेतना का विकास होता गया उनकी अंधभावना में अंतर्दृष्टि का समावेश होने लगा। पुराण एवं धर्म-साहित्य में आ कर, वृक्ष एक तात्विक अर्थ का बोधक प्रतीक बन गया। अतः सामान्य रूप से सभी धर्मों में वृक्ष को सृजन का प्रतीक माना गया। डारविन आदि के विकासवादी सिद्धान्त (इवोल्यूशनरी थियोरी) के अनुशीलन से भी यही सिद्ध होता है कि सृष्टि का क्रमिक विकास सरलता से जटिलता की ओर ही सम्पन्न हुआ है और उनकी अनेक प्रशाखाएं विभिन्न दिशाओं को ओर फैली हुई हैं।

अनेक चितकों के अनुसार इस सम्पूर्ण सृष्टि का आदि कारण या तो कोई शक्ति है जो कि नित नवीन रूपों का सृजन करती है (बर्गसां) अथवा कोई परम तत्त्व है (शंकर और हीगल) जिसने स्वयं अपना विस्तार ईश्वर के द्वारा किया, या कोई आदि कारण (फ़ाइनल ला—अरस्तू) है जिसका कार्य ही यह संसार है और परमाणु एवं अणु के समन्वय एवं क्रमिक विकास का इतिहास ही सृष्टि-क्रम है (वैज्ञानिक दृष्टिकोण, डाल्टन-आदि)। जहाँ तक कबीर और दादू का संबंध है, उन्होंने ब्रह्म को सृष्टि का आदि कारण मानते हुए भी विकास की परम्परा को उस धारणा में घुला मिला दिया है। वृक्ष को कार्य ब्रह्म का प्रतीक मानने में इन दोनों रूपों—आदि कारण एवं विकास परम्परा—का जितना सुंदर समन्वय संतों ने इस प्रतीक के द्वारा किया है, वह अद्वितीय है। कबीर का कथन है—

> या बिरवा चीन्हें जो कोय, जरा मरण रहित तन होय।
> बिरवा एक सकल संसारा, पेड़ एक फूटल तिनि डारा॥
> मध्य की डार चार फल लागा, साखा पत्र गिने को वाका।
> बेलि एक त्रिभुवन लिपटानी, बाधे ते छूटे नहि ज्ञानी॥[2]

ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर जन्ममरण का चक्र ही समाप्त हो जाता है। इस वृक्ष की तीन डालें कही गई हैं जो ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता), विष्णु (पालनकर्ता) और शिव (संहारकर्ता) की प्रतीक हैं। मध्य की डाल से (विष्णु) चार फलों—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—की उत्पत्ति हुई। इन शाखाओं की अनेक

१—पूर्ण विवेचन के लिए दे० अध्याय प्रथम उपखण्ड 'क'।

२—बीजक (कबीर) सं० पूरनसाहब, पृ० १४४ शब्द ५३।

प्रशाखाएँ (अवतार आदि) एवं अनंत पत्र (वेद वेदान्त आदि) हैं जिनकी गणना करना मानव बुद्धि की शक्ति के बाहर है। इस संपूर्ण चराचर सृष्टि से एक 'वेलि' आवृत्त है जो माया की प्रतीक है जिससे छुटकारा प्राप्त करना ज्ञानी के लिए भी अत्यन्त दुर्लभ है। इस सम्पूर्ण विकास-क्रम को वृक्ष-प्रतीक के द्वारा दिखाना यह स्पष्ट करता है कि वृक्ष 'अनेकता' में 'एकता' का प्रतीक है। ब्रह्म की धारणा में भी अनेकता के तत्त्व निहित हैं और वृक्ष को उसका प्रतीक बनाना इसी तथ्य को सामने रखता है।

तापस

इस प्रतीक का प्रयोग कबीर की बानी में ही प्राप्त होता है। तापस के प्रतीकार्थ में ब्रह्म और उसकी सृष्टि का विकास दृष्टिगत होता है। इसके साथ यह संकेत भी प्राप्त होता है कि परम तत्त्व रूप ब्रह्म में भक्ति, ज्ञान और योग नामक तीन तत्त्वों का भी समाहार है जो साधक की प्रवृत्ति के अनुकूल अपना विस्तार करते हैं। इसी धारणा की प्रतिध्वनि कबीर के इस कथन में प्राप्त होती है—

> तापस केरे तीन गुण, भौंर लेहिं तंह बास।
> एकै डारी तीनि फल, भांटा ऊख कपास [१]।।

भौंरा रूपी ज्ञानी भक्त ही वह व्यक्ति है जो 'परमतत्त्व' के सान्निध्य को प्राप्त करता है। यह तो जीव और ब्रह्म का संबंध हुआ जो योग, ज्ञान और भक्ति के ईश्वरीय तत्त्वों से होता हुआ क्रमशः ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करता है। परन्तु दूसरी ओर कबीर ने इस साखी की दूसरी पंक्ति में अत्यन्त कुशलता से सृष्टि रचना के तत्त्वों की ओर, प्रतीक शैली के द्वारा अभिव्यंजना की है। माया (डारी) के तीन गुण सत्, रज और तम होते हैं जिनकी सहायता से 'ब्रह्म' सृष्टि-कार्य सम्पन्न करता है। इन तीन गुणों को क्रमशः भाँटा, ऊख और कपास के द्वारा व्यंजित किया गया है।

बाजीगर

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि संतों ने ब्रह्म विषयक धारणा का मानवीकरण 'बाजीगर' की भावना के द्वारा किया है और उसे एक प्रकार से 'बाजी' (माया) की सापेक्षता में रखने का प्रयत्न किया है। ब्रह्म का बाजीगर रूप यह स्पष्ट करता है कि 'परमतत्त्व' का लीला-प्रसार ही समस्त

१—बीजक, पृ० ४६७।

ब्रह्मांड है, उसका बाह्य प्रसार ही यह चराचर सृष्टि है। उसकी प्रत्येक भंगिमा एवं कार्य में मानो सृष्टि रचना का बीज अव्यक्त रूप से विद्यमान है। जब वह (बाजीगर) अपने डंके की ध्वनि से 'शब्द' का विस्फोट करता है, तब यह सम्पूर्ण जगत् (खलक) अपने अस्तित्व में आता है और एक 'तमासे' की सी ऐन्द्रिजालिक सत्ता के दिग्दर्शन कराता है। इस सम्पूर्ण व्यक्त लीला-प्रसार के क्षेत्र में ब्रह्म सदा एक है—अकेला है और अपने ही रंग में एकांत रमण किया करता है—

बाजीगर डंक बजाई। सब खलक तमासे आई।
बाजीगर स्वांग सकेला। अपने रंग रवै अकेला [1]॥

बाजीगर के इस सम्पूर्ण स्वाग का प्रसार इसी 'डंक-ध्वनि' से ही होता है जिसकी व्यंजना इस पूरे पद में है। ब्रह्म का बाजीगर रूप बर्गसा के (Elan-vital) अथवा 'ब्रह्माड शक्ति' का परम द्योतक है जो सम्पूर्ण सृष्टि के विकास-क्रम के पीछे एक महाशक्ति के रूप में कार्य करती है। इसी बाजीगर के 'षेल पसारा' की अभिव्यंजना दादू ने भी की है—

यहु बाजी षेल पसारा, सब मोहे कौतुकहारा।
यहु बाजी षेल दिखाया, बाजीगर किनहूँ न पावा [2]॥

स्पष्ट है कि हम बाजी के बाह्य प्रसार (सृष्टि) को तो देख लेते हैं परन्तु उसके नियंता को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। दूसरे शब्दों में 'परमतत्त्व' की अनुभूति तो की जा सकती है, परन्तु उसे प्रत्यक्ष रूप में देखना सम्भव नहीं है।

बढ़ैया

उपर्युक्त ब्रह्म द्योतक स्वतंत्र प्रतीक संतों ने अधिक प्रयुक्त किये हैं। इनके पश्चात् उन्होंने यदाकदा अन्य प्रतीकों का भी प्रयोग किया है जो कम संख्या में प्राप्त होते हैं। इनमें से एक प्रतीक बढ़ई का है जिसे कबीर ने इस प्रकार प्रयोग किया है—

जो चरखा जरि जाइ, बढ़ैया न जरै।
मैं कातौं सूत हजार, चरखुला जिन जरै [3]॥

१—कबीर-ग्रंथावली सं० श्यामसुंदरदास, पृ० २९०, पद ११६ (१९२८)।

२—स्वामी दादूदयाल की बानी, सं० चंडिका प्रसाद त्रिपाठी, पृ० ४८८, पद ३०६।

३—बीजक, पृ० १७४ शब्द ६७।

यह चर्खा जो संसार के कर्म-चक्र का प्रतीक है उसका अस्तित्व चाहे संदिग्ध मान भी लिया जाय पर उसके नियंता एवं निर्माता का अस्तित्व एक 'सत्य' है। परन्तु प्रश्न है कि इस 'चरखा' से मुक्ति कैसे प्राप्त हो? इसका उत्तर कबीर का अपना निजी उत्तर है जो 'अनुभूति' पर आश्रित है, उनके अपने 'अनुभव' का निचोड़ है। उनके अनुसार इस आवागमन से बचने का उपाय है—राम नाम जिसे 'सूत कम कातने' की संज्ञा प्रदान की गई है। तुलसी ने भी राम नाम को ही अपना एकमात्र 'भरोसा' माना जिस प्रकार कबीर ने उसे (राम नाम) कर्म-चक्र से मुक्त होने का परम माध्यम माना है।

माया-द्योतक प्रतीक-योजना

उपर्युक्त ब्रह्म विषयक 'स्वतंत्र' प्रतीक-योजना में प्रसंगवश माया के बोधक कुछ प्रतीकों की ओर संकेत किया गया है। इन प्रतीकों की स्वतंत्र सत्ता का समुचित दिग्दर्शन नहीं हो पाता है। परन्तु दूसरी ओर संत काव्य में कुछ ऐसे भी प्रतीकों की योजना मिलती है जो अपने स्वतंत्र 'व्यक्तित्व' के द्वारा माया की सत्ता एवं प्रवृत्ति की ओर सफल निर्देश करते है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि संतों ने अनेक प्राकृतिक पदार्थों, मानवेतर प्राणियो अथवा मानवीय रूपों में माया के प्रतीकों की योजना की है।

संतों ने माया को ब्रह्म की शक्ति के रूप में ही ग्रहण किया है। उन्होंने उसके संकेतार्थ जिन प्रतीकों की योजना की है, वे प्रायः हेय वस्तुएँ ही अधिक हैं यथा सर्प, डाइन, चोरटी आदि। उन्होंने माया के लिए इन प्रतीकों का प्रयोग कर अपनी मानसिक प्रवृत्ति का ही अपरोक्ष रूप से परिचय दिया है कि उनके उपचेतन स्तर में माया का ऐसा रूप विद्यमान था जो पथभ्रष्ट करने वाला है और उनके आत्म-साक्षात्कार में बाधा स्वरूप है। इस मनोवैज्ञानिक स्तर को ध्यान में रख कर हम माया द्योतक प्रतीकों को निम्न वर्गों में बाँट सकते हैं—

आवृत्तिमूलक प्रतीक

इस वर्ग के अंदर मानवेतर प्राणियों एवं वस्तुओं की योजना प्राप्त होती है। ऐसे प्रतीकों में 'सर्प' और 'बेलि' का, प्रयोग संत काव्य में प्रचुरता से हुआ है।

सर्प की प्रवृत्ति लपटने या आवेष्टित होने की है जो एक प्रकार से माया की भी प्रवृत्ति मानी जाती है। माया इस पूरे चराचर ब्रह्मांड को अपनी

आवृत्तियों से लपेटे हुए है। संतों ने कहीं-कहीं पर माया को, जीवों की सापेक्षता में, एक सर्प का रूप प्रदान किया है जिसकी आवृत्तियाँ जीव को अमृत-तत्त्व के समीप नहीं पहुँचने देती है।

चंदन सर्प लपेटिया, चंदन काह कराय।
रोम-रोम विष भीनियाँ, अमृत कहाँ समाय ॥[1]

इसी भाव को दादू ने सर्पिनी के द्वारा व्यक्त किया है जो जीवों को 'आगे-पीछे'—सब प्रकार से भक्षण करती रहती है।[2]

इस सर्प के समान ही 'बेलि' की भी यही प्रवृत्ति होती है कि वह किसी आश्रय को पाकर उस पर लिपट कर चढ़ने लगती है। अतः बेलि और सर्प से जो बिम्बग्रहण मानसिक धरातल पर होता है, उसी प्रकार का बिम्ब माया की धारणा में भी प्राप्त होता है। यह सादृश्यमूलक व्यंजना प्रतीक की स्थिति को स्थिरता प्रदान कर देती है। ऐसी ही व्यंजना कबीर ने इस साखी में की है—

बाड़ि चढ़ंती बेलि ज्यूं, उलझी आसा फंद।
टूटै पणि छूटै नहीं, भई ज बाचा बंध ॥[3]

ऐसी माया है यह, जो टूट तो सकती है पर अपने आधार रूप संसार को कभी भी छोड़ नहीं सकती है। अस्तित्ववादी दर्शन के अनुसार अस्तित्व में 'आना' ही संसार का नियम है और जो शक्ति संसार के अस्तित्त्व को प्रकट करती है, वह यह माया ही है। यही कारण है कि संतकाव्य में माया के अस्तित्व को माना तो गया है पर उसे अशुभ रूप ही अधिक दिया गया है।

माया के अस्तित्त्व को प्रकट करने के लिए कबीर ने एक अन्य आवृत्ति-मूलक वस्तु 'जेवड़ी' की योजना की है। जेवड़ी की आवृत्तियाँ इतनी दृढ़ होती हैं कि वे शीघ्र छूटने का नाम नहीं लेती हैं और उसका यह गुण माया के ऊपर भी घटित होता है। इस चराचर संसार पर माया की मोहिनी का प्रभुत्व है। इस माया से कौन छूट सकता है और कौन नहीं बँधा है? वह तो संसार की धुरी है—

१—बीजक, पृ० ४३३ साखी ३८।

२—श्री दादूदयाल की बानी, स० सुधाकर द्विवेदी, पृ० १०३।

३—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ३४।

ऊबटि चले सु नगरि पहूंते, बाट चले ते लूटे ।
एक जेवड़ी सब लपटाने, के बांधे के छूटे ॥[१]

इन सभी प्रतीकों से एक तथ्य समान रूप से प्रकट होता है कि संत-काव्य में इनकी योजना अविद्या माया की ही व्यंजना करती है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि ये प्रतीक माया के सामान्य रूप को ही स्पष्ट करते हैं।

नारी रूपों की प्रतीक-योजना

आवृत्तिमूलक प्रतीकों के अतिरिक्त कबीर में माया द्योतक नारी-प्रतीको की योजना भी प्राप्त होती है। इन नारी रूपों में दो श्रेणियाँ प्राप्त होती हैं। एक वह श्रेणी है जो दूषित एवं कलुषित नारी-रूपों को स्थान देती है जैसे डाइन, नकटी, चोरटी। दूसरी श्रेणी में ऐसी स्त्रियों की योजना है जो एक तरह से शुभ या अच्छी समझी जाती हैं जैसे बहन, सुहागिन। परन्तु संतों ने इन सभी नारी-रूपों को उपेक्षित एवं कुटिल रूप में ही ग्रहण किया है। अतः जहाँ तक मनोवृत्ति का प्रश्न है, संतों की मनोवृत्ति दोनों वर्गों में समान रूप से कार्य कर रही है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत दूषित नारी-चित्रो की गणना की गयी है। इसका सबसे आश्चर्यजनक रूप उस समय प्राप्त होता है जब कबीर माया को डाइन और चोरटी तथा दादू उसे नकटी की संज्ञा देते हैं। अतः भावजगत् में डाइन और उसके पाँच पुत्र (इंद्रियाँ) जहाँ एक ओर प्रतीकीकरण-क्रिया को स्पष्ट करते हैं वहीं वे माया के स्वरूप पर भी प्रकाश डालते हैं। देखिए—

एक डाइन मेरे मन में बसे रे, नित उठ मेरे जीव को डसै रे।
या डाइन के लरिका पांच रे, निसि दिन मोहिं नचावैं नाच रे।[२]

अब गाने अथवा नाचने का भी उदाहरण लीजिए जिसके द्वारा जीव और माया के अन्योन्य संबंध का सुन्दर स्पष्टीकरण होता है। उदाहरण में माया के सामने जीव की निस्सहाय अवस्था भी स्पष्ट होती है। जीव माया के पाश में इस प्रकार आबद्ध हो जाता है जिस प्रकार माया उसे चाहती है, नचाती है।[३]

१—वही, पृ० १४७ पद १७५।

२—कबीर-ग्रंथावली, पृ० १६८, पद २३६।

३—दादूदयाल की बानी, पृ० ६०, सा० ६०।

दूसरे वर्ग के अन्तर्गत ऐसे रूपों की योजना है जो मानवीय सम्बन्ध के शुभ-परक रूप हैं। परन्तु कबीर ने इन शुभ रूपों को भी एक प्रकार से हेय रूप ही दिया है। माया के शक्ति रूप का और ब्रह्म से उसकी अभिन्नता का दिग्दर्शन 'रमैया की दुलहिन लूटल बजार' के द्वारा कबीर ने व्यंजित किया है जिसमें माया को 'रमैया की दुलहिन' (ब्रह्म की माया) का रूप प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त कबीर ने माया को 'बहन' का रूप इस प्रकार दिया है—

तुम घर जाहु हमारी बहना, बिष लागै तुमरे नैना।[१]

यहाँ पर एक बात स्पष्ट है कि शुभ नारी रूपों में भी यह वाक्य 'बिष लागै तुमरे नैना' जोड़ कर संतों ने (कबीर आदि) माया को हीन स्थान ही दिया है। बहन जैसे पवित्र संबंध को भी कबीर ने ऐसे हीन रूप में ग्रहण किया है—इससे यह भ्रम हो सकता है कि उन्होंने अपने प्रतीक-निर्वाचन में कहीं-कहीं पर वस्तु एवं भाव का सादृश्य नहीं रखा है। परन्तु तथ्य तो यह है कि बहन का विवाह हो जाने पर उसका घर दूसरा हो जाता है। इसी से माया को बहन का रूप देने से यही व्यंजित होता है कि माया आज किसी के पास है तो कल किसी के पास। परन्तु सुहागिन रूप में ऐसी भावना नहीं दृष्टिगत होती है। उसे तो कबीर ने एक नीच नारी का रूप प्रदान किया है। इस पर भी यह कहा जा सकता है कि उसके इस वर्णन में सत्य प्रतीकात्मक रूप व्यंजित होता है। माया (सुहागिन) जो सकल जीव-जन्तुओं को समान रूप से प्यारी है उसकी प्रवृत्ति अत्यन्त अद्भुत है। वह एक ऐसी सुहागिन है जो खसम (जीवों) के मर जाने पर भी रोती नहीं है और सदा सुहागिन ही बनी रहती है (सदा अन्य जीवों को मोहित करती रहती है) क्योंकि उसके रखने वाले अनेक जीव हो जाते हैं। यह भी सत्य है कि उसको रखने वाले व्यक्तियों का नाश हो जाता है, संसार में रह कर वे अनेक प्रकार के भोगों में फँस जाते हैं और मृत्यूपरान्त नरक के भागी होते हैं। अतः निदान जीव दोनों तरफ़ से मृतप्राय हो जाता है और वह दो पाटों के मध्य में पिस जाता है—

एक सुहागिन जगत पियारी, सकल जीव जंतु की नारी।
खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवारा औरै होवै।
रखवाले का होइ बिनास, उतहिं नरक इत भोग बिलास।[२]

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ६६।

२—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २११, पद ३७०।

अस्तु, इस विश्लेषण से यह कहा जा सकता है कि संतों (कबीर) के नारी रूपों (और अन्य प्रतीक भी) में जो माया के प्रति एक निरादर, हीनता एवं कटुता के दर्शन होते हैं उनका एकदम बहिष्कार नहीं किया जा सकता है, अपितु वह पूरे संत काव्य का मनोराज्य स्पष्ट कर देता है। भाषा के शब्द-प्रयोग से किसी भी प्रयोक्ता का मनोविश्लेषण हो सकता है। इस ओर आज के अनेक तार्किक निश्चयवादी दार्शनिक जिन्हें 'लाजिकल पासिटविस्ट' कहते हैं, प्रयत्नशील हैं।[1] प्रत्येक काल में भाषा के परिष्कार के लिए उसके तार्किक विश्लेषण की आवश्यकता पड़ती रहती है। यही कार्य यहाँ की वाक्य-मीमांसा ने किया था।

३—संसार बोधक प्रतीक

माया के प्रतीकों के अन्तर्गत हमने देखा है कि माया 'ब्रह्म' की वह शक्ति है जो इस चाराचर विश्व की सृष्टि करती है जो मूलतः अस्थिर और परिवर्तनशील है। संतों ने, इसी से, संसार को जिन प्रतीकों के द्वारा दर्शाया है वे एक प्रकार से अस्थिर भाव की भी व्यंजना करते है।

चक्की-चरखा

संतों ने समय और काल की अंतर्निहित 'चक्की' के प्रतीकत्व के द्वारा संसार की व्यंजना सफलता से की है। यह संसार रूपी चक्की काल के सम पर ही चल रही है जो दो पाटों (धरती और आकाश) के मध्य में अस्तित्व को प्राप्त है। निदान जीव इन दो पाटों के बीच में आकर, उसके चक्रव्यूह में फंस कर 'साबुत' नहीं बच पाता है।[2] इसे हम संसार का यंत्रवत् प्रतीक कह सकते है, क्योंकि संसार भी एक यांत्रिक (Mechanical) रूप में कार्यान्वित होता है। इस यंत्र भाव का दूसरा प्रतीक 'चरखा' भी है जिसके द्वारा संसार के यांत्रिक रूप की प्रतिध्वनि प्राप्त होती है—

> जो यह चरखा लखि परै,
> ताको आवागवन न होइ।[3]

१—इस विषय के पूरे अध्ययन के लिए देखिए कारनप का सॉमैंटिक्स आफ़ लेंग्वैज और हिस्ट्री आफ फ़िलासफ़ी सं० राधाकृष्णन। इस विषय पर कुछ प्रकाश मैंने द्वितीय अध्याय के उपखड में डाला है।

२—बीजक, साखी १२६, पृ० ४८६।

३—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १३८।

मोक्ष के रहस्य को जानना इस 'चरखा' और चक्की के स्वरूप को समुचित रूप से हृदयंगम करना है।

हाट-नगर

सादृश्य-भावना का सुंदर रूप इन प्रतीकों में प्राप्त होता है जो संसार की भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं। हाट का अस्तित्व जिस प्रकार अस्थिर होता है उसी प्रकार जगत् की स्थिति के प्रति भी सत्य है। इस जगत् को माया ही अपने बाणों के द्वारा छेदन करती है अर्थात् उसे अप्रत्यक्ष रूप से 'लूटा' करती है। ऐसी है यह रमैया की दुलहिन (माया) जो बाज़ार (संसार) को लूटती है। इसी (हाट) में प्रत्येक मनुष्य अपना सब सामान उतारते हैं और स्वयं ही उस पर मोहित होते है—

आनि कबीरा हाटि उतारा, सोइ गाहक सोइ बेचनहारा।[1]

कुछ दिनों का ही संसार में जीवन है, सब अपनी-अपनी नौबत (ऐश्वर्य) कुछ दिनों के लिए बजाकर चले जाते हैं—

कबीर नौबत आपणी, दिन दस लेहु बजाय।
ए पुर पाटन ए गली, बहुरि न देखै आय॥[2]

पुर, पाटन और गली—ये समष्टि रूप से संसार की अस्थिरता के प्रतीक हैं। इसी कोटि का एक अन्य पद है जिसमें नगर को संसार का प्रतीक बनाया गया है जिसकी सही कोटवाली (इन्साफ) करना अत्यन्त दुर्लभ कार्य है, क्योंकि इस संसार में कामविषयादि का चतुर्मुखी (मास) विस्तार है जिसमें अज्ञानी व्यक्तियों का मन (गिद्ध) सदैव फँसा रहता है—

को अस करै नगर कोतवलिया।
मांस फैलाय गिद्ध रखवरिया॥
मूस भौ नाव मजार कडहरिया।
सौवै दादुर सरप पहरिया॥

बैल बियाय गाय भै बंझा। बछवहिं दूहहिं तीनि तीनि संझा।
नित उठि सिंघ सियार सौं जूझै। कबीर के पद जन बिरला बूझै॥[3]

१—वही, पृ० १२४।
२—वही, पृ० २०।
३—बीजक, पृ० ६२।६५।

इस संसार में अज्ञानी शिष्यों की (व्यक्तियो की भी) जीवन नौका की पतवार बंचक गुरुओं अथवा पुरुषों के हाथों में रहने से वे बिल्ली के शासन में पड़े चूहे की भाँति सदा विवश रहते हैं। इसी प्रकार अज्ञानी दादुर की तरह संसार से आवृत माया (सर्प) से सुरक्षित रहता है अथवा उसके बस में रहता है। फलतः जड़ ज्ञान का उदय होता है (बैल बियाना) और गाय जैसी सात्विक बुद्धि निष्क्रिय हो जाती है। इस दशा में कोरे संकल्प से ही काम लिया जा सकता है (तीनों पहर बछड़े का दुहना)। अतः समर्थ जीवात्मा (सिंह) को अपनी स्थिति संभालने के लिए सदैव चंचलायमान 'मन' (सियार) के साथ जूझना पड़ता है, क्योंकि जब तक मन बस में नहीं होता है तब तक जीवात्मा सांसारिक प्रपंचनाओं में लिप्त ही रहती है। इस संपूर्ण प्रतीक योजना (उल्टवासी) के द्वारा संसार की प्रपंचमय स्थिति का चित्र स्पष्ट हो जाता है जो व्यक्ति और उनके वाह्य जगत् के सम्बन्ध पर आश्रित है।

नीतिपरक प्रतीक योजना

इन समस्त तात्विक स्वतंत्र प्रतीकों के विवेचन के पश्चात् कुछ ऐसी भी प्रतीक-योजनाएँ शेष रह जाती हैं जो नीतिपरक भी हैं और तात्विक भी। सामान्यतः ये संबंधपरक भी हैं और स्वतंत्र भी। दूसरा तत्त्व जो इन प्रतीक-योजनाओं में प्राप्त होता है वह है रूढ़ि तथा नवीन प्रतीकों का प्रयोग। सत्य तो यह है कि जब तक प्रतीकों का अर्थ-विस्तार नहीं होता है, तब तक उनका अर्थ सीमित ही रहता है, वे रूढ़ि के ढाँचे में तड़पते रहते हैं। कबीर आदि संतों ने अपनी प्रतीक-योजनाओं में सदैव इस बात का ध्यान रखा है कि वे केवल रूढ़ अर्थ का ही पालन न करें, पर नव-विचारों तथा भावों के वाहक भी बनें। इस दृष्टि से प्रतीक-सृजन मानसिक स्तरों का प्रकटीकरण करता है और साथ ही सत्य या यथार्थ की व्यंजना भी।

अहेरी-मृग आदि

इन प्रतीकों को चेतावनी अथवा उपदेश देने के ध्येय से प्रयुक्त किया गया है। अहेरा या आखेटक एक ऐसी शक्ति है (कालरूप) जो इस संसार (वन) में रहने वाले प्राणियों (मृग) का सदैव समय-असमय पर शिकार किया करता है। काल की व्यापकता एवं जीव की असहायता की जितनी व्यंजना इस प्रतीक-योजना के द्वारा हुई है, वह अत्यन्त सुन्दर है—

अहेड़ी दौ लाइया, मृग पुकारे रोइ।
जा बन में क्रीला करी, दाझत है बन सोइ॥[1]

जीवन और जीव की अस्थिरता की व्यंजना एक अन्य प्रतीक-योजना में भी दर्शित होती है जिसमें काल (मालिन) पूर्ण विकसित जीवों को (कलियाँ जो फूली हैं) समय आने पर ग्रसित (चुन लेना) कर लेता है और इसे देख कर अन्य जीव अपने अंधकारमय भविष्य पर शंकित हो उठते हैं—

मालन आवति देखि कै, कलियां करी पुकारि।
फूले फूले चुण लिये, काल्हि हमारी बारि॥[2]

इस प्रतीक-योजना की सुन्दर भावाभिव्यक्ति टी० एस० इलियट ने अपनी कविता (Chources from the Rock) में इस प्रकार की है—

'तुम जीवन पर विजय प्राप्त कर सकते हो पर मृत्यु पर नहीं, और साथ ही तुम उस आगन्तुक (मृत्यु) से उदासीन भी नहीं रह सकते हो'।[3] सत्य में यह आगन्तुक काल रूप अहेरी और मालिन ही हैं जिनसे कोई भी बच नहीं सकता है।

बगुला, हंस आदि

हंस का नीर क्षीर विवेक और बगुला को उसका अविवेक एक प्रसिद्धि ही मानी गई है। हंस का अर्थ दो संदर्भों का वाहक है—एक जीवात्मा का और दूसरा ऐसे पुरुषों का जो सुन्दर आचरण करते हैं—विवेकी हैं। परन्तु बगुला का अर्थ इसके नितान्त विपरीत है। मानव मन की यह प्रवृत्ति होती है कि वह शिव और अशिव की विपरीत धारणाओं की ओर अग्रसर होता है। दूसरे शब्दों में शिव-प्रवृत्तियों का प्रतीक 'हंस' है और अशिव प्रवृत्तियों का 'बगुला'। कबीर का एक दोहा इसी भाव को व्यक्त करता है—

१—कबीर-ग्रंथावली; पृ० १२-८।

२—वही, पृ० ७२।

३—Though you forget the way to the Temple ;
There is One who remembers the way to your door.
Life you may evade, but death you shall not
You shall not deny the stranger.

कलेक्टेड प्योम्स, द्वारा इलियट, पृ० १६७।

कबीर लहर समुद्र की, मोती बिखरे आइ।
बगुला मंझ न जाणई, हंस चुणे चुण खाइ ॥[1]

संसार में मोती (शुभतत्व) बिखरे हुए है पर इन तत्व रूपी मोतियों को वही हृदयंगम कर सकता है जो हंस के समान विवेकी हो।

दूसरी ओर दादू ने 'हंस' का प्रयोग तात्विक रूप में किया है। हंस रूपी जीवात्मा को आनन्दानुभूति की जगह 'सुन्न-सरोवर' में मोती (नाम) चुगते हुए दिखाया गया है, जो परमतत्व से पूर्ण तदाकारिता की सुन्दर व्यंजना करता है—

सुन्न सरोवर हंस मन, मोती आप अनंत।
दादू चुग चुग चोंच भरि, यो जन जीवइ संत ॥[2]

तरु, पंखी आदि

संतों में कहीं-कही पर वृक्ष को ब्रह्म और माया के प्रतीक रूप के अतिरिक्त, जहाँ पर उपदेश का संदर्भ है, एक ऐसे मनुष्य की सद्वृत्तियों का प्रतीक माना गया है जो केवल अपने ही लिए नहीं पर अन्यों के लिए भी जीवित रहता है। परोपकार की भावना का प्रतिरूप ही यह प्रतीक माना जा सकता है। दूसरी ओर यह प्रतीक-योजना व्यक्ति के सामाजिक उत्तरदायित्व पर भी प्रकाश डालती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर यह कहा गया—

तरुवर तास बिलंबिए, बारह मास फलंत।
सीतल छाया गहरि फल, पंषी केलि करंत ॥[3]

इस कोटि के, पर दूसरे संदर्भ व्यंजक प्रतीक, संतों में यदाकदा मिलते हैं। तात्विक दृष्टि से ऊपर का उदाहरण उस परमतत्व में रमने की ओर भी संकेत करता है जो सदा आनंद देने वाला है। ऐसे ही परमतत्व (खसम) तक पहुँचने के लिए जीव को अनेक प्रकार के सांसारिक प्रलोभनों (फल का फलना व आम पकना) की तिलाञ्जलि देनी होती है, तब कहीं खसम या स्वामी के दर्शन होते हैं—

कबीर फल लागे फरनि, पाकन लागे आव।
जाइ पहूँचे खसम को, जो बीच न खाई काव ॥[4]

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ७८-२।
२—श्रीदादू की बानी, पृ० ४२-५६ (सु० द्वि०)।
३—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ७७-६ साखी।
४—वही, पृ० २५६-६६।

इसी प्रकार एक कार्य या गंतव्य की ओर अग्रसर होते समय या एक कार्य को करते समय अन्य वस्तुओं का प्रलोभन व्यक्ति को हतप्रभ कर देता है—वह दुविधा में ही रह जाता है कि किसे लूं और किसे त्याग दूं ? इसी तथ्य की सुन्दर अभिव्यक्ति कबीर ने चींटी के द्वारा इस प्रकार व्यंजित की है—

च्यूंटी चांवल ले चली, बिच में मिल गई दार।
कहै कबीर दोऊ न मिलै, एक लै दूजी डार ।।[1]

इसी भाव का एक अन्य स्थान पर संकेत किया गया है जहाँ यह कहा गया है कि समुद्र (एक ध्येय तत्व) चाहे जितना भी खारा हो पर उसे त्यागना नहीं चाहिए और उसे छोड़ कर व्यर्थ ही पोखर पोखर की (अनेक तत्वो की ओर एक साथ बढ़ाना) ख़ाक छानना हमें कही का भी नही रखेगा—व्यक्ति को एक ध्येय का पथिक होना ही समीचीन है—

कबीर समुद न छोड़िए, जौ अति खारा होइ।
पोखरि पोखरि ढूंढते, भली न कहिए कोइ ।।[2]

भंवरा-भंवरी आदि

संत तथा सूफी काव्य में 'गुरु' का समान रूप से आध्यात्मिक यात्रा में महत्व है। दूसरे शब्दों में, वह साधक और ईश्वर के मध्य ऐसी कड़ी है जो दो सीमाओं को एक सरल रेखा में लाती है। साधक मन (भंवरा) को अनेक प्रकार के भौतिक लोभों एवं आकर्षणों (अनेक पुहुपों का बास) में लिप्त रहने पर भी कहीं पर भी शाति नहीं मिलती है। सांसारिक भोगों के द्वारा वह पूर्ण रूप से निर्बल हो जाता है, तब उसको सहायता देनेवाला केवल गुरु (भंवरी) ही होता है जो उसके चंचल मन को वाह्य से अभ्यन्तर की ओर केन्द्रित करता है। इस तथ्य की प्रतिध्वनि हमें भंवरा, भंवरी और पुहुपवास (मन, गुरु और संसार) की प्रतीक-योजना के द्वारा मिलती है—

चलि चलि भंवरा रे कमल पास।
भंवरी बोलै अति उदास ।।
तैं अनेक पुहुप कौ लियो भोग, सुख न भयो तब बढ़्यो रोग।
उड़्यो न जाइ बल गयो है छूटि, तब भंवरी रुनी सीस कूटि।
दह दिसि जोवै मधुप राइ, तब भंवरी लै चली सिर उठाइ ।।[3]

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २२।

२—वही, पृ० २६०-१४८।

३—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २१७-३८८।

(ग) साधनात्मक रहस्यवादी प्रतीक

(योगपरक शब्द-प्रतीक)

सिद्धों के वज्रयान और नाथों के यौगिक (हठयोग) शब्द-प्रतीकों की एक बलवती परम्परा हमें संतकाव्य में प्राप्त होती है। इन सभी प्रतीकों का क्षेत्र साधनात्मक रहस्यवाद और सहज-योग का है। इन प्रतीकों में किसी विचार अथवा धारणा का प्रतिनिधित्व ही प्राप्त होता है। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि संतों में हठयोग का परम्परागत रूप ही ब्रह्मानंद के मिलन का आनंद स्पष्ट करने के लिए प्रतीक रूप में सुरक्षित रह गया था।[1]

अतः संतों का सहज तत्व, शब्द योग और कुंडलिनी योग की क्रियाओं में समान रूप से प्राप्त होता है। यह ठीक है कि संतों ने योग एव तंत्र की क्रियाओ का, उनके चक्र-भेदन का वर्णन किया है, पर इन भक्त-साधकों का केवल यही ध्येय नहीं था—उनका तो ध्येय था यौगिक प्रतीको को भावात्मक एवं संवेदनात्मक उद्रेक की तरलता में अभिव्यंजित करना।

विवेचन की सुविधानुसार हम इन प्रतीकों को तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :—

१—हठयोग से प्राप्त प्रतीक

२—वज्रयानी सिद्धों की परम्परा से गृहीत प्रतीक

३—कुछ उनके स्वयं नवीन शब्द-प्रतीक

हठयोग (शब्द-योग) के शब्द-प्रतीकों का स्वरूप

शब्द की वैज्ञानिक परिभाषा यह मानी जाती है कि उसकी तरंगे कभी भी विलुप्त नहीं होती हैं, वे सदैव वायुमंडल में परिक्रमा किया करती हैं। शब्द की इस चिरन्तन परिभाषा से यह स्वयं साक्ष्य है कि हमारे प्राचीन मनीषा ने उसे 'सत्य' का परमवाहक रूप प्रदान किया और उसे ब्रह्म की कोटि तक पहुँचा दिया। इसी शब्द-ब्रह्म का रूपान्तर शरीरान्तर्गत भी माना गया। इसी से संतों तथा नाथों ने पिंड में ही ब्रह्मांड का साम्राज्य देखा, ख़लक में ही ख़ालिक के दर्शन किये और हद में ही बेहद की व्यंजना की।[2] वैज्ञानिक शब्दावली में कहें तो परमाणु में ही ब्रह्मांड का प्रतिबिंब देखा।

१—हिन्दी साहित्य, लेख संतकाव्य द्वारा डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २३०।

२—देखिए इसी अध्याय के उपखण्ड (क) में वेदान्त प्रतीकों के अन्तर्गत।

शब्द-योग में शरीर के अंदर व्याप्त स्नायु-केन्द्रों (जिन्हें योग में चक्र या कमल की संज्ञा दी है) के शीर्ष स्थान पर सहस्रदल कमल की स्थिति मानी जाती है जिन्हें सुषुम्ना नाड़ी के अंदर अवस्थित माना गया है। इन षट्चक्रों का भेदन मूलाधार चक्र में स्थित सर्पाकार कुंडलिनी के द्वारा होता है जो सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। साधक जब इस कुंडलिनी को जाग्रत करता है तब वह शक्ति का रूप धारण कर षड्चक्रों का भेदन कर सहस्राधार कमल या ब्रह्मरंध्र तक पहुँचाती है। साधक को इस दशा में 'आनंद' का अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त सुषुम्ना नाड़ी के वाम भाग में इड़ा और दाहिने भाग में पिंगला नाड़ियों की स्थिति मानी गई है। यही पर समाधि की अवस्था मानी गयी है।

सहस्राधार कमल में परम सुख या परम पुरुष का निवास है। इसी सहस्र-कमल में चंद्र अमृतस्राव करता है जो मूलाधार चक्र में वर्तमान सूर्य द्वारा शोषित हो जाता है। साधक का ध्येय चंद्र-स्राव अमृत का पान करना होता है जो उसे सूर्य से प्रवाहित विषैले रस से मुक्त करता है। यह सम्पूर्ण क्रिया—अमृत से विष तक की—एक अत्यन्त गूढ़ रहस्य की द्योतिका है। अमृत हमारे अंदर व्याप्त अमरत्व या शुभतत्व का प्रतीक है। साधक इस अमरत्व का उसी दशा में भागी हो सकता है जब वह अपने अन्दर के अशुभ एवं विषैले तत्वों का परिहार करने में समर्थ हो।

इस सम्पूर्ण योग-क्रिया से संबंधित अनेक प्रतीकों का प्रयोग नाथों में प्राप्त होता है। संतों ने भी इन परम्परागत प्रतीकों को अपने काव्य में यथास्थान दिया है।

नाथों ने इन शरीर स्थित नाड़ियों को अनेक प्रतीकों के द्वारा प्रकट किया है जिसका मूलतः पालन संतों ने किया है। ऐसे कुछ प्रतीक हैं—गंगा, यमुना और सरस्वती, सूर्य और चंद्र तथा ललना, रसना और अवधूती जो इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों के प्रतीक शब्द हैं।[1]

त्रिकुटी

संतकाव्य में इस शब्द-प्रतीक का अत्यन्त अर्थ-विस्तार हुआ है। इसका मुख्य कारण इस प्रतीक की रूढ़ धारणा में अनेक नवीन तत्त्वों का समाहार है।

१—इनके विवेचन के लिए दे० सिद्ध साहित्य द्वारा डा० भारती तथा कबीर द्वारा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी। ये केवल नाममात्र हैं अतः यहां पर इनका विवरण देना विषय का व्यर्थ विस्तार ही हैं जिन पर काफ़ी लिखा जा चुका है।

संत साहित्य में अनेक स्थानों पर 'संगम' शब्द का प्रयोग हुआ है जो त्रिकुटी का अन्यार्थकवाची शब्द है। इस संगम में आकर साधक भौतिकता के क्षेत्र का अतिक्रमण कर तात्विक क्षेत्र में पदार्पण करता है। त्रिकुटी को 'संगम' का पर्याय बनाना इसी तथ्य की ओर संकेत करता है कि जिस प्रकार गंगा, यमुना और सरस्वती (इंड़ा, पिंगला, सुषुम्ना) के संगम से त्रिवेणी जैसे पवित्र स्थान का उद्भव होता है, उसी प्रकार तीनों नाड़ियों के उचित संगम पर ही साधक की मनोभूमि उच्च दशा की ओर प्रयत्नशील होती है। यह वह सोपान है जहाँ साधक ऊर्ध्वमन अथवा 'शून्य' 'गगन'—तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। कबीर ने इसी से त्रिकुटी के विषय में कहा—

> सुमति सरीर कबीर बिचारी, त्रिकुटी संगम स्वामी।
> पद आनंद काल तैं छूटै, सुख में सुरति समानी।[१]

कहीं-कहीं पर त्रिकुटी को 'कोट' भी कहा है।[२]

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि त्रिकुटी संगम ही वह स्थान है, जहाँ से 'सुख-सुरति और सहज समाधि' की दशाओं की ओर साधक अग्रसर होता है। इसी प्रस्तुतीकरण क्रिया का एक रूप हमें दादू में भी प्राप्त होता है जब त्रिकुटी के संधिस्थल पर प्राण, पवन आदि मन में ही समाहित होने लगते हैं।[३]

अतः डा० बडथ्वाल का यह कथन कि त्रिकुटी 'गगन' का ही रूप है,[४] पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता है। यदि इसके स्थान पर यह कहा जाय कि त्रिकुटी वह स्थान है अथवा सोपान है जिसके द्वारा साधक 'गगन' की ओर ऊर्ध्वगामी होता है, तो अधिक समीचीन होगा। इसी प्रकार दूसरी भ्रांति यह हो गयी है कि त्रिवेणी और संगम क्रमशः ब्रह्मरंध्र और त्रिकुटी के अलग-अलग प्रतीक हैं। परन्तु ऊपर के उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि दोनों त्रिकुटी के ही वाचक शब्द हैं क्योंकि मंजन स्नान संगम रूपी त्रिवेणी में ही होता है

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ९०। तथा पृ० ३८१।७१ साईं के मिलबे करन त्रिकुटी संगम नीर नहाई॥

२—वही, पृ० १५८।२०४।

३—दादू की बानी, पृ० ६१।२१४ (सु० द्वि०)।

४—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय द्वारा बडथ्वाल, पृ० २४४ (अनु० परशुराम चतुर्वेदी)।

जहाँ साधक का मन आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है। दादू ने तो स्पष्ट शब्दो में कहा है कि गंगा-यमुना के 'तीर' पर 'राम' का निवास है जहाँ पर त्रिवेणी संगम का निर्मल नीर भी है—

चंद सूर मधि भाई, तहाँ बसै राम राई, गंग जमुन के तीर।
त्रिवेणी संगम जहाँ, निर्मल विमल तहाँ, निरखि-निरखि निज नीर।[1]

गगनमंडल

संत काव्य में गगन के प्रतीकार्थ में एक तत्व का समावेश नही है, उसमें सिद्धों के शून्य का और नाथों के ब्रह्मरंध्र का समाहार है और साथ ही वह किसी स्थान विशेष का नाम सा लगता है।[2] दूसरी ओर डा० भारती का मत है कि सन्तों ने सुन्न-गुफा, गगन-मंडल, त्रिकुटी, ब्रह्मरंध्र और भँवरगुफा (सहस्राधार कमल) की कल्पनाओं को इतना घुलामिला दिया है कि ऐसा लगता है कि वे इनकी वास्तविक स्थितियों को भूल गए हैं।[3] इन मतों का विश्लेषण आवश्यक है जो गगन के सही रूप को मुखर कर सके।

किसी भी प्रतीक के अर्थ का विवेचन संदर्भ के प्रकाश में ही किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से गगन के प्रतीकार्थ का ही विस्तार सन्तों ने अपने काव्य में किया है। सिद्धों ने उसे केवल महासुख का रूप माना[4], नाथों ने उसे ब्रह्मरंध्र का रूप प्रदान किया, परन्तु सन्तो ने उसकी धारणा में इन तत्वों के अतिरिक्त सुन्न-समाधि, सुन्न गुफा, 'त्रिवेणी संगम से परे' तत्वों का समावेश किया। यदि निष्पक्ष रूप से देखा जाय तो संतों ने 'गगन' शब्द को, उसके प्रतीकार्थ को 'सहज' रूप देने का ही प्रयत्न किया है। त्रिकुटी के विवेचन के प्रसंग में मैं दिखा चुका हूँ कि कबीर और दादू ने त्रिकुटी आदि को गगन से निम्न स्थान दिया है, उनकी भावनाओं को एक दूसरे से मिला नही दिया है।

गगन पर संतों के विचार काफ़ी स्पष्ट से ज्ञात होते हैं। एक स्थान पर कबीर ने कहा है—

१—स्वामी दादूदयाल की बानी, पृ० ५४२।४३८।

२—कबीर साहित्य की परख द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २४०-२४१।

३—सिद्ध साहित्य द्वारा डा० धर्मवीर भारती, पृ० ३४६।

४—कबीर साहित्य की परख, पृ० २३९।

अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै महासुख उपजै बंकनालि रस पीजै ॥[१]

यहाँ पर स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि परमतत्व तक पहुँचने के लिए प्रथम कहीं पैर जमाने का स्थान तो करो और वह स्थान केवल गगनमंडल ही है। यह स्थान 'सुन्न' से नीचा ही है अथवा सुन्न तक पहुँचने का सोपान है जहाँ अमृत का पान होता है। यह ऐसा स्थान है जहाँ 'आसन' मारना ही होता है, तभी काल भी 'कूंच' कर जाता है।[२] गगन और शून्य के सापेक्षिक अंतर को कबीर ने एक स्थान पर स्पष्ट किया है—

गगन गरज मन सुन्न समाना, बाजै अनहद तूरा।[३]

इसी गगन के गर्जन एवं वर्षा से संतों का सिक्त होना भी कहा गया है।[४]

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि कबीर साहित्य में गगन शब्द का प्रयोग शून्य की स्थिति का वाचक नहीं है। इस दृष्टि से ब्रह्मरंध्र, दसम-द्वार, त्रिवेणी संगम से परे, आदि शब्द इसी गगन के पर्याय हैं न कि शून्य के। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो गगन (Sky) और आकाश (Space) में अंतर है। गगन का गुण शब्द है और आकाश का गुण शून्य है। सन्तों का गगन इसी वैज्ञानिक तथ्य का रूप है जब कबीर ने कहा—

जत्री जंत्र अनूपम बाजै
ताका सबद गगन में गाजै।[५]

अतः आकाश गगन से कहीं अधिक सूक्ष्म तत्व है। गगन की धारणा में शून्य तत्व समाहित नहीं कहा जा सकता है पर दूसरी ओर शून्य की धारणा में गगन का भाव अंतर्हित कहा जा सकता है।

अमृत

अमृत की धारणा के विकास में संतों का एक महत्वपूर्ण योग है। श्री परशुराम जी चतुर्वेदी के अनुसार अमृत सिद्धों के 'सहज रस' का पर्याय है

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ११०।७०।
२—वही, पृ० ६०।७।
३—वही, पृ० ८८।४।
४—वही, पृ० १५४।१६५।
५—वही, पृ० १३४, १४३।

और संतों ने इसे तांत्रिक अर्थ में नहीं ग्रहण किया है।[1] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसका सम्बन्ध व्योम चक्र (खेचरी मुद्रा) से जोड़ा है और इसे सोमरस के समकक्ष रखा है।[2]

संतों में अमृत शब्द का प्रयोग दो रूपों में प्राप्त होता है—

१—अमृत, रस, महारस के रूप में।

२—हरिरस, रामरस, रामरसाइन आदि के रूप में।

श्री चतुर्वेदी जी का मत है कि संतो ने अमृत का अर्थ तान्त्रिक रूप में नहीं ग्रहण किया है परन्तु नीचे के उदाहरणों से सिद्ध होता है कि कबीर और दादू ने इसे रस, महारस तथा अमृत के रूप में भी अपनाया है। यथा—

नीझर झरै रस पीजिए, तहां भंवरगुफा के घाट रे।[3]

महारस रूप में—

चढ़ि अकास आसण नहीं छांड़ै, पीवै महारस मीठा।[4]

अमृत रूप में—

सोमवार ससि अमृत झरै, चाखत बेगि तरै निसितरै।
बांणी रोक्या रहै दुवार, मन मतवाला पीवनहार।[5]

इस महारस का संकेत क्या अमृत का रूप नहीं है जो हमें सिद्धों तथा नाथों में भी प्राप्त होता है ? दादू की बानी में इस महारस को 'सहज सुरति-रस' भी कहा गया है—

अहनिसि लागा एक सों, सहज सुरति रस खाइ।[6]

उपर्युक्त उदाहरणों का विश्लेषण करने पर अमृत के प्रतीकार्थ में तांत्रिक अर्थ का समावेश तो अवश्य हुआ है, यह दूसरी बात है कि उसका प्रयोग इस अर्थ में कम ही हुआ हो। किसी भी शब्द प्रतीक की धारणा में अनेक तत्वों का संगुंफन इस बात का सूचक है कि उसे प्रयुक्त करने वाले के सामने उसके अनेक अर्थ अवश्य रहे होंगे। कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति संतो के 'अमृत रस' में भी प्राप्त होती है।

१—कबीर साहित्य की परख, पृ० २३४-२३६।
२—कबीर, डा० द्विवेदी, पृ० ४८।
३—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ८८-४।
४—वही पृ० १०६-६६।
५—वही, पृ० २०६-३६२।
६—श्री दादूदयाल की बानी (सु० द्वि०), पृ० ६-७१।

इस रूढ़ि अर्थ के अतिरिक्त, संतों ने अमृत में नवीन अर्थ का भी समावेश प्रस्तुत किया है। ये नवीन तत्व रामरस, रामरसाइन, प्रेमरस, और हरिरस हैं जो मूलतः एक ही अर्थ के द्योतक हैं। इनका अमृत की धारणा में समावेश एक प्रकार से भक्ति-भावना का समावेश ही कहा जा सकता है। अतः डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कथित सोमरस का यह पर्याय ठहरता है पर उसे एकमात्र 'सोमरस' भी नहीं कह सकते हैं। संतों का 'हरिरस' (प्रेमरसादि) भक्ति-भावना के कारण 'सहज' राम की साधना में विलक्षण तत्व हो गया है। इस 'हरिरस' को हम उपनिषद् कथित 'अमृत ब्रह्म' की समकक्षता में रख सकते हैं। वहाँ कहा गया है—

योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मद ँ सर्वम्[1]

अर्थात् यह जो आत्मा है (मधु प्रसंग) वह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यहाँ पर प्रत्यक्ष रूप से ब्रह्म को अमृत के समान कहा गया है। कबीर का रामरसाइन पीना[2] दादू का घृतरूप रामरस का साधुओं द्वारा विलोना[3] और रामरसाइन पीकर जीव का ब्रह्ममय हो जाना[4] इसी प्रेममयी तल्लीनता का परम द्योतक है। अतः संतों के अमृततत्व में निम्न तत्वों का समावेश तालिका के अनुसार प्रदर्शित किया जा सकता है।
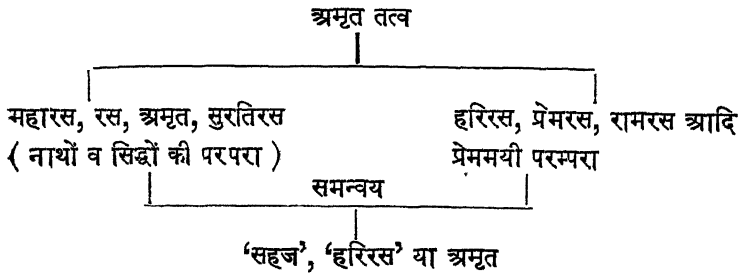
उन्मनि

नाथ और संत साहित्य में 'उन्मनी' का प्रयोग मन की उस दशा का द्योतक है जहाँ पर वह स्थितप्रज्ञावस्था को प्राप्त हो जाता है और वाह्य रूप राशि से खिच कर अंतर्मुखी हो जाता है। नाथो ने इसी अवस्था को

१—वृहद उपनिषद् अध्याय २ ब्राह्मण ५, पृ० ५६३ (उप० भा० खड ४)।

२—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १०२-४३ तथा पृ० २६५।

३—श्री दादूदयाल की बानी, पृ० ३-३० तथा २६-२६।

४—वही, पृ० ७३-१५ तथा पृ० ७०-१४।

'मनोन्मनी' अवस्था कहा है। माण्डूक्योपनिषद् में इस अवस्था का पर्याय शब्द 'अमनीभाव' है जिसमें अद्वैत की अनुभूति होती है और आत्मसत्य की उपलब्धि हो जाने से मन संकल्प एवं विकल्प से रहित हो जाता है यथा—

आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम ॥[१]

उपनिषद् की यह अमनी अवस्था संतो की उन्मनी के समान है जो एक प्रकार की समाधि-दशा है। सूफ़ी कवि जामी की शब्दावली में कहे तो यह उन्मनी दशा मस्ती और ख़ुदी में अंतर का ज्ञान न प्राप्त कर एक प्रकार की 'उदासी' दशा ही ज्ञात होती है।[२] यह दशा मन को बस में करने से प्राप्त होती है। कबीर ने भी इस दशा का वर्णन समाधि के समान ही किया है जहाँ पर साधक न हँसता है और न बोलता है, चंचलता से विहीन और अन्तर्मुखी हो जाता है।[३] जब मन इस प्रकार 'उन्मन्न' से लग जाता है तो वह गगनमंडल में पहुँच जाता है जहाँ चन्द्रमा बिना चंद्रिका के ही प्रकाशित होता है—वही पर अलख निरंजन का वास है।[४] यही पर त्रिभुवन में प्रकाश हो जाता है।[५] दूसरी ओर दादू ने कहा कि मन जहाँ पर उनमन रहता है वहीं परम स्थान[६] है और जहाँ पर भी मन 'उनमन' से लग जाता है तब वह कहीं नहीं जाता है।[७] सूत्र रूप में यदि कहा जाय तो उपनिषद् के शब्दों में उपर्युक्त समस्त उदाहरणों का सार यही है—निगृहीत, निर्विकल्प और विवेकसम्पन्न चित्त का जो व्यापार है वही विशेष रूप से ज्ञातव्य है—यही निरुद्धावस्था है जो सुषुप्तावस्था से भिन्न है।[८]

अनहद

डा० बड़थ्वाल जी का मत है कि जब साधक उन्मनी अवस्था तक पहुँच जाता है, तभी उसे अनाहद नाद की ध्वनि सुनाई पड़ती है।[९] अतः अनाहद

१—माण्डूकोपनिषद् अद्वैत प्रकरण पृ० १६८-३२।

२—ईरान के सूफ़ी कवि द्वारा बाकेबिहारी लाल, पृ० ३१६।

३—कबीर-ग्रथावली, पृ० २-८।

४—वही, पृ० १३।

५—वही, पृ० ११०-७२।

६—श्री दादू की बानी, पृ० २०-७८, ६ ६।

७—वही, पृ० ८६-२।

८—माण्डूक्योपनिषद्, पृ० १७०-३४ (उप० भा० खंड २)।

९—हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ० २३७।

शब्द का सुन पड़ना साधक के मानसिक हृदयाकाश पर परम वह मधुर ध्वनि है जो 'परमतत्व' की अनुभूति में सहायक होती है। अनाहद का श्रवण एवं उसकी अनुभूति को कबीर ने बार-बार ब्रह्म के साक्षात्कार का माध्यम माना है। इसी के आधार पर दादू ने अनाहद वेणु बजाकर ही 'उसे' अपने अंतर में ही प्राप्त किया और उन्हें सहज ही सून्य की स्थिति तक पहुँचा दिया।[1] अनाहद शब्द में ही सम्पूर्ण सृष्टि समायी हुई है,[2] कबीर के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि अनाहद तत्व ब्रह्मानन्द का द्योतक है और सृष्टि का सम्पूर्ण प्रसार उसी में निहित है। शंकराचार्य ने इसे ही 'ब्रह्म' कहा है जो ईश्वर रूप में चराचर सृष्टि का स्रष्टा है। प्रो० रानाडे ने अपनी पुस्तक 'द पाथवे टु गाड इन हिंदी लिटरेचर' में अनाहद को ब्रह्म का पर्याय एवं शब्द को ईश्वर का पर्याय माना है।[3] परन्तु ध्यान देने की यह बात है कि क्या शब्द तत्व ब्रह्म नही है जब कि भारतीय दर्शन में शब्द ब्रह्म की मान्यता है। शब्द ही सृष्टि का मूल तत्व है और यही मूल तत्व ब्रह्म अक्षर ब्रह्म है। शब्द-ब्रह्म की ध्वनि अनाहद है अथवा कबीर के शब्दों में कहे तो अनाहद की झंकार ही ब्रह्मज्ञान का स्रोत है—

अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान।[4]

यह अनाहद का सहज रूप ही है जिसमें आनंदानुभूति का समावेश है। दादू ने कहा—

सबद अनाहद हम सुना, नख सिख सकल सरीर।
सब घटि हरि हरि होत है, सहजइ ही मन धीर॥[5]

कबीर ने भी अनाहद के सहज रूप पर ही ज़ोर दिया है।[6] इस सहज रूप अनाहद में मन का उल्लास है, मन की वह उमंग है जो प्रेम भक्ति के परमावेश में ही उत्पन्न होती है जिसमें घंटे का शब्द है,[7] अखंड ज्योति है,

---

१—दादू की बानी, पृ० ६४।

२—बीजक, शब्द ९७, पृ० १५३।

३—पाथवे टु गाड इन हिंदी लिटरेचर द्वारा रानाडे, पृ० ३७६।

४—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १६।

५—श्री दादूदयाल की बानी, पृ० ५-१६९ (सु० द्वि०)।

६—दे० कबीर-ग्रंथावली, पृ० १४०-१५९ व पृ० १५४-१६६ और स्वामी दादू की बानी पृ० ४०६-२४२।

७—स्वामी दादूदयाल की बानी, पृ० ५४३, पद ४४२।

बेनु का राग है, तूर्य का नाद है, और बाजे की ध्वनि है अर्थात् वह ब्रह्मानंद का रूप है।

निरंजन

निरंजन शब्द के प्रतीकार्थ में अनेक भ्रान्तियाँ आ गयी हैं जिसका मुख्य कारण उसके दो पक्षीय संदर्भों के कारण है—एक निश्चयात्मक (Positive) और दूसरा निषेधात्मक (Negative)। इन पक्षों पर विवेचन के पूर्व विद्वानों के कतिपय मतों का सिंहावलोकन आवश्यक है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने निरंजन को शुद्ध बुद्ध ब्रह्म, जो नाद-रूप है, की स्थिति नाथों तथा सिद्धों में समान रूप से मानी है। वह राम, अलाह के समान सार तत्व है।[१] इस धारणा में प्रायः सभी तत्व निश्चयात्मक हैं और कहीं पर भी निषेधात्मक तत्व की ओर संकेत नहीं है।

श्री डा० बड़थ्वाल ने भी निरंजन को 'परब्रह्म' माना है, पर इसके साथ यह भी मत रखा है कि आगे चल कर परब्रह्म उसके ऊपर समझा जाने लगा और कालपुरुष बन बैठा।[२] अतः डा० बड़थ्वाल के अनुसार निरंजन की स्थिति परब्रह्म की सापेक्षता में निम्न है और वह कालपुरुष का पर्याय है। यहाँ भी निरंजन निश्चयात्मक है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी निरंजन शब्द को निर्गुण ब्रह्म का और शिव का वाचक शब्द माना है।[3] इसके साथ ही उनका यह मत है कि आगे चल कर इस शब्द की कबीरपंथ में बहुत दुर्गति हुई और उसे शैतान भी समझा गया, वह एक ऐंद्रजालिक सत्ता है जो जाल पसारता है।[४] इस कथन में भी निश्चयात्मक तत्वों का ही सन्निवेश प्राप्त होता है।

उपर्युक्त सभी मतों में निरंजन के निषेधात्मक रूप को छोड़ दिया गया है। निषेधात्मक अर्थ समष्टि में सामान्यतः 'नेति नेति' प्रणाली का आश्रय लिया गया है और निश्चयात्मक विधि में निरंजन की धारणा को समय, आकाश और कार्यकारण की सीमाओं में बाँधा गया है। यदि हम हीगल, कांट तथा शंकर के दार्शनिक चिंतन का विश्लेषण करें तो एक बात यह

१—कबीर साहित्य की परख द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २४४-२४६।

२—हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय द्वारा डा० बड़थ्वाल, पृ० १६१।

३—कबीर द्वारा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५२।

४—वही, पृ० ५१।

स्पष्ट होती है कि उनकी परमतत्व की धारणाओं में दो विपरीत धारणाओं अथवा तत्वों का समन्वय प्राप्त होता है।[1] इस दृष्टि से निरंजन की धारणा में हीगल के निरपेक्ष आत्म तत्व का (Absolute Spirit), शंकर के परब्रह्म का, वाइटहेड के 'ईश्वर' का रूप ही दृष्टिगत होता है। जिस प्रकार परब्रह्म की धारणा में ब्रह्म और कार्यब्रह्म, निरपेक्ष आत्म-तत्व में विषयीगत एवं विषयगत आत्म तत्व और ईश्वर (गाड) में ससीम और असीम की विपरीत धारणाएँ परिव्याप्त है उसी प्रकार निरंजन में भी 'अंजन' और निरंजन की विपरीत धारणाएँ समन्वित प्राप्त होती हैं। अंजन हमारे सामने निश्चयात्मक तत्व का और 'अंजन से परे' निषेधात्मक तत्व का प्रतिरूप है जिनका समाहार 'निरंजन' शब्द में हुआ है।

अब प्रश्न है कि अंजन का क्या स्वरूप है ? कबीर और दादू आदि ने जहाँ एक ओर अंजन को निरंजन का अंग माना है, वहीं अंजन की सत्ता को भी स्वीकार किया है। संतों में अंजन तत्व नामरूपात्मक समय तथा आकाश में सीमित विश्व का प्रतीक है जो निरंजन का प्रसार है—

राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसार रे।
अंजन उतपति वो अंकार, अंजन माड्या सब बिस्तार।
अंजन ब्रह्मा संकर इंद, अंजन गोपी संग गोब्यंद ॥[2]

इस अंजन की भावना में उन सभी तत्वों (Elements) का समावेश प्राप्त होता है जो कि किसी सब्सटेंस या 'तत्व' में विकसित हुए हैं। इसे हम हीगल के विषयीगत-आत्म-तत्व (आब्जेक्टिव स्पीट) के समकक्ष रख सकते हैं। दादू ने भी अंजन का संकेत इस प्रकार किया—

निरंजन अंजन कीन्हा रे, सब आत्म लीन्हा रे।
अंजन माया अंजन काया, अंजन छाया रे ॥[3]

अतः अंजन निरंजन की छाया है—उसका प्रतिरूप है। यह हुआ अंजन की धारणा का रूप जो संतों को मान्य है।

सत्य में, निरंजन क्या है ? कबीर के अनुसार 'अकल निरंजन सकल सरीरा, ता मन सौ मिलि रह्या कबीरा' निरंजन अकल है, वह सकल है जिसमें समस्त दृश्यमान और अदृश्यमान जगत समाये हुए हैं।

१—इस प्रसंग के लिए दे० द्वितीय अध्याय, 'दार्शनिक प्रतीकवाद'।

२—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १६०।२२६।

३—स्वामी दादू दयाल की बानी, पृ० ४२३ पद १६१।

संतों मे निरंजन की भावना में निषेधात्मक रूप का भी संकेत प्राप्त होता है जिसको व्यक्त करने के लिए 'नेति-नेति' प्रणाली अपनाई गई है। इस तथ्य को हृदयंगम न करने से निरंजन की सम्पूर्ण धारणा का रूप मुखर नहीं हो सकता है। इस सत्य के प्रकाश में निरंजन एक तरह 'शून्य' की दशा का भी द्योतक हो जाता है। इस दशा में निरंजन 'आदि निरंजन' भी हो जाता है—शब्द रूप ब्रह्म भी हो जाता है। कबीर ने निरंजन को शून्य का वासी कहा है—

कहै कबीर जहं बसहु निरंजन, तहां कछु आहि कि सून्यं।[१]

और दादू ने उसे सीमा से परे 'नेति-नेति' का विषय माना है—

अवधू बोलि निरंजन बांणी।
तहां एकै अनहद जांणी।

तहं बसुधा का बल नाहीं, तहां गगन घाम नहीं छाई।
तहं चंद सूर नहिं जाई, तहं काल काया नहिं भाई।[२]

केनोपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उसे निषेधात्मक रूप के द्वारा व्यक्त किया गया है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो—
तद्विदितादथोअविदितादधि।[३]

अर्थात् वहाँ (ब्रह्म) नेत्रेन्द्रिय नहीं जातीं, वाणी नहीं जाती, मन नहीं जाता—वह विदित से अन्य ही है तथा अविदित से परे भी है। कबीर ने भी एक स्थान पर निरंजन को रूप, रेख, मुद्रा, काया, नादविंदु और काल से परे माना है।[४] इसके अतिरिक्त कबीर ने आदिनिरंजन को वहाँ आनन्द करते हुए पाया जहाँ सूर्य और चंद्र उदय नहीं होते हैं।[५]

अस्तु, निरंजन की धारणा में ससीम और असीम का—निश्चयात्मक और निषेधात्मक तत्वों का जितना सुन्दर समन्वय प्राप्त होता है वह किसी भी दशा में ब्रैडेले के निरपेक्ष तत्व, हीगल के निरपेक्ष आत्म तत्व, शंकर के परब्रह्म,

---

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १४३।१६४।

२—स्वामी दादूदयाल की बानी, पृ० ५०८-५०९ पद ३५१।

३—केनोपनिषद् खंड १, पृ० ३६ श्लोक ३। इसी भाव के अनेक श्लोक इस उपनिषद् में तथा अन्यों में प्राप्त होते हैं (उप० भा० खंड १)। दे० धार्मिक प्रतीकों में, अध्याय प्रथम

४—कबीर-ग्रंथावली, पृ० १६२।२१९।

५—वही, पृ० १९।

वाइटहेड के गाड और आइंस्टीन के अनंत (Infinite) से कम हृदय-ग्राही नहीं है। इस तथ्य को सामने रखकर जब हम निरंजन के प्रति भ्रान्तियो का विश्लेषण करते हैं तब हमारे सामने 'सत्य' पर पड़े आवरण का तिरोभाव होता है। निरंजन को 'कालपुरुष' के समान मानना और फिर उसे शैतान की पदवी तक पहुँचा देना, उसके सही अर्थ के प्रति अन्याय है। कालपुरुष भी निरंजन का ही रूप है जिसे सतो ने 'ईश्वर' के समान माना है। गीता में भगवान् कृष्ण ने भी अपने को 'कालोऽस्मि' की संज्ञा दी है—

> कालोस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्त।
> ऋतेऽपि त्वां न भविष्यंति सर्वे येऽवस्थिता प्रत्यनीकेषु योधाः।[1]

अर्थात् श्री भगवान् ने कहा—'हे अर्जुन ! मै प्रवृद्धकाल रूप हूँ जो लोकों का नाश करता है और समस्त लोकों के सहार के लिए मैं व्यक्त रूप में प्रवृत्त होता हूँ। तुम्हारे न रहने पर भी यहाँ पर वर्तमान जितने भी योद्धा हैं, वे भविष्य में जीवित नहीं रह सकते हैं।' यह 'कालोऽस्मि' की धारणा 'विश्व रूप' का ही दिग्दर्शन है जिसे श्रीकृष्ण ने विश्व रूप दर्शन 'योग' में पूरा विस्तार प्रदान किया है। यह 'कालोऽस्मि' अपने अन्दर समस्त चराचर ब्रह्मांड को समेटे हुए है। वह अपने से ही इस विश्व का प्रसार करता है। कालोऽस्मि कबीर का अंजन और निरंजन दोनों है। सृष्टि और निलय की भावना को लिए 'कालोऽस्मि' कबीर का 'कालपुरुष' है जिसमें अंजन का तिरोभाव निरंजन में होता है और वह 'काल' के नियम पर नियंत्रित रहता है। यहाँ पर काल एक गति का और तुल्यभारिता का प्रतीक है। कृष्ण के समान ही उसमें प्रलय और सृजन, विकास और विलय की तारतम्यता है। अतः 'कालपुरुष' को निरंजन का विकृत रूप कहना उचित नही है वरन् यह कहना अधिक उपयुक्त है कि निरंजन ही कालपुरुष का रूप है अथवा निरंजन के प्रतीकात्मक अर्थ में कालपुरुष की भावना का भी योग है।

निरंजन को शैतान की पदवी देना भी उसके प्रतीकात्मक संदर्भ के प्रति उदासीनता का परिचायक है। निरंजन के बारे में यह कहा जाता है कि वह अपनी माता का पति और पुत्र दोनों है जो निरंजन को कबीरोत्तर काल में शैतान की संज्ञा देता है। यहाँ पर यह ध्यान रखने की बात है कि संतों की बानियों में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिन्हें हम 'उल्टवाँसी' कहते हैं, जो किसी सत्य

१—श्रीमद्भगवद्गीता, विश्वरूपदर्शन योग, पृ० ३६५, श्लोक ३२।

का प्रतीकात्मक निर्देश ऐसी भाषा में करते हैं जो लौकिक दृष्टि से नितान्त हास्यास्पद एवं अतार्किक होते हैं।[1]

निरंजन को शैतान कहना भी इसी मनोवृत्ति का फल है। वेदान्त-दर्शन की यह मान्यता है कि 'ईश्वर' इस नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि माया नामक शक्ति के द्वारा करता है। इस मिथुन रूप के प्रकाश में माया का वह पति है। इसी को कबीर ने निरंजन को अपनी नारी का पति कहा है। अब रही माता की बात। वेदांत चिंतन में 'ब्रह्म' वह परम आदितत्व है जो इस जगत की सृष्टि माया की सहायता से ईश्वर रूप में करता है। अतः ईश्वर का जन्म ब्रह्म से और माया के संयोग से सम्पन्न हुआ। अतः माया-शक्ति ईश्वर की माता ही हुई। इसी तात्विक सत्य को कबीर ने निरंजन को अपनी माता का पुत्र कहकर व्यक्त किया। सांसारिक सम्बन्धों के इस 'वितंडावाद' में कबीर ने एक तात्विक सत्य की प्रतीकात्मक अभिव्यंजना प्रस्तुत की है।

इस प्रकार के संकेत हमें संतों में अनेक स्थानों पर प्राप्त होते हैं जिनका वर्गगत विश्लेषण हम उल्टवासियों के अन्तर्गत करेंगे। इसी प्रकार का एक पद दादू का भी है—

> माता नारी पुरुष की, पुरुष नारि का पूत।
> दादू ज्ञान बिचारि कै, छांड़ि गए अवधूत॥[2]

ऋग्वेद में भी ऐसा संकेत मिलता है जहाँ देवमाता अदिति की वंदना में कहा गया है कि अदिति माता है, पिता है, अदिति माता-पिता का पुत्र भी है यथा 'अदितिद्यौरदतिरन्तरिक्षमदिति माता सपिता स पुत्रः[3]।' इस कथन में भी कोई 'शैतानियत' नहीं है, पर एक सत्य का प्रतीकात्मक निर्देश है। अदिति के प्रति इस प्रकार की उक्ति ठीक ही है, क्योंकि जगत्पिता और जगन्माता में कौन पहले आया, कैसे कहा जा सकता है?

डा० हजारीप्रसाद जी का मत है कि कबीर ने निरंजन के जाल से बचने के लिए जो संतों को चेतावनी दी है उसकी हेयता का, ऐंद्रजालिकता का रूप है। कबीर ने कहा—

१—उल्टवॉसियों के बारे में आगे देखिए।

२—श्री दादू की बानी स० सुधाकर द्विवेदी, पृ० १०७-१२६।

३—उद्धृत हिन्दू-धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ द्वारा त्रिवेणी प्रसाद सिंह, पृ० १४ (पटना १९५५)।

अवधू निरंजन जाल पसारा।
स्वर्ग पताल जीव मृत मंडल, तीन लोक बिस्तारा।[1]

परन्तु क्या सच में निरंजन हेय है, ऐंद्रजालिक है ? परन्तु हम पीछे दिखा आये हैं कि यह निरंजन की प्रकृति है कि वह अपना विस्तार करे—अपने सृष्टि रूपी जाल को पसारे। यह सृष्टि जाल का विस्तार ही अंजन तत्व है जो कि स्वयं निरंजन का निश्चयात्मक तत्व है। यह तो विकास का नियम है न कि हेयता अथवा ऐन्द्रजालिकता का प्रतीक।

(२) सिद्धों के शब्द प्रतीकों की परम्परा और उनका स्वरूप

उपर्युक्त जिन योगपरक प्रतीको का विवेचन किया गया है, उनमें से कुछ सिद्धो में भी प्राप्त होते है, पर कुछ भिन्नता के साथ। अधिकतर उनका जो नाथ परम्परा में रूप रहा, संतो ने उसी रूप को ग्रहण किया। परन्तु अब जिन प्रतीकों का विवेचन होगा वे अधिकतर सिद्धों से ही लिये गये हैं जिनका अर्थ-विस्तार संतों ने अपने निजी दृष्टिकोण से किया है।

सुरति और निरति

सुरति और निरति शब्द का संबंध अन्योन्याश्रित है। अतः सुरति और निरति का चाहे जो भी रूप सिद्धों तथा नाथो में रहा हो (जिस पर मतभेद है) पर जहाँ तक संतों का प्रश्न है उन्होने रूढ़ अर्थ के साथ-साथ उन्हें नव संदर्भों का वाहक भी बनाया है। नाथों में सुरति 'शब्द योग' की क्रिया से संबंधित है। सुरति शब्द का प्रयोग सिद्धो में प्रेम व रति—दोनों ही अर्थों में हुआ है।[2] नाथों में सुरति को शब्दोन्मुख चित्त का रूप माना है और निरति को उस शून्य दशा का द्योतक माना है जो निरालम्ब दशा है। इसी से, सुरति और निरति की एकीकरण स्थिति को 'मुद्रा' की संज्ञा दी गयी है जो बौद्धों में 'महामुद्रा' साधना के अनेक प्रकारों में प्रचलित थी।

सुरति शब्द श्रुति का अप्रभंश रूप माना गया है। संतो ने इसे श्रुति (नाद) के अर्थ में भी ग्रहण किया है और कहीं पर स्मृति के अर्थ में भी [3]। सुरति-शब्द-योग में स्वयं शब्द का अर्थ अनाहद नाद है। अतः, कहा जा

१—कबीर द्वारा डा० हज़ारीप्रसाद, पृ० ५६।
२—कबीर साहित्य की परख, पृ० २५१।
३—सिद्ध साहित्य द्वारा डॉ० भारती, पृ० ४१०।

सकता है कि सुरति का एक अर्थ अवश्य ही नाद से रहा होगा। दूसरी ओर सिद्धों में यह 'सुरतवीर'। (प्रेम) और सुरतविलास (रति) के अर्थ का भी द्योतक रहा है। इस शब्द में मिथुनपरक तत्त्व की कुछ न कुछ गंध अवश्य है जो नाथों में आकर शुद्ध चित की प्रतीक हो गई। कबीर में भी सुरति का कहीं-कहीं पर यही अर्थ है—

पंचतत्त तत्तहि मिले, सुरति समाना मन [१]।

जिस प्रकार पांच तत्त्व 'परमतत्व' में मिल गए, उसी प्रकार सुरति मन में समाहित हो गई। अतः सुरति और मन की स्थिति शुद्ध चित्त रूप ही है। दूसरी ओर कबीर ने सुरति का अर्थ शून्य से अनुरागी होने वाले 'मन' से भी किया है जो षट्चक्र भेदन के द्वारा ही शून्य दशा तक पहुँचता है—

उलटत पवन चक्र षट भेदे, सुरति सुन्न अनुरागी [२]।

दादू ने भी सुरति का सहज-रूप इस प्रकार रखा—

मन चित मनसा आतमा, सहज सुरति ता मांहिं।
दादू पांचौ पूरि लै, धरती अंबर नांहिं [३]॥

अस्तु, सुरति शब्द की स्थिति ऐसी मानसिक भावभूमि की दशा है जहां मन अपनी सत्ता का निलय परमतत्व में करने के लिए प्रयत्नशील होता है और यह प्रयत्न उसी समय पूर्ण होता है जब वह निरति की स्थिति में पहुँच जाता है। इस सुरति से निरति तक की यात्रा में प्रेमतत्व की मंदाकिनी अपरोक्ष रूप से प्रवाहित ज्ञात होती है। इसी मंदाकिनी की प्रतिध्वनि दादू में द्रष्टव्य है—

अहनिसि लागा एक सौं, सहज सुरति रस खाइ [४]।

यह 'रस' संतों का अमृत है। अतः चतुर्वेदी जी का यह मत कि संतों में सुरति का प्रयोग प्रेम के अर्थ में नहीं हुआ है, निष्पक्ष निष्कर्ष नहीं ज्ञात होता है। सच तो यह है कि संतों ने अनेक पारिभाषिक शब्दों को प्रेम का पुट देकर एक अद्भुत तरलता प्रदान कर दी है। यह ठीक है कि सिद्धों के मिथुन-

---

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ५७

२—वही, पृ० २६८।१२

३—श्री दादू दयाल की बानी, पृ० २४१।१६ (सु० द्वि)।

४—वही, पृ० ६।७१।

परक अर्थ में इसका प्रयोग संतों ने नहीं किया है, पर इसका यह मतलब नहीं है कि उसमें किसी और प्रकार के प्रेम की व्यंजना न मानी जाय।

इसके अतिरिक्त सुरति में अन्य अर्थों का समावेश भी संतों ने यदा कदा किया है जैसे वेद, स्मृति, ध्यान, आकार, सौंदर्य, नाद [१]। परन्तु ये सब के सब अर्थ तत्त्व इस तथ्य की व्यंजना करते हैं कि सुरति में समन्वित इन विभिन्न तत्वों का ध्येय निरति की निरवलम्ब एवं सहज दशा तक पहुँचना है। तभी तो संतों ने बराबर कहा है सुरति निरति में समा गयी और अंत में निरति निराधार स्थिति की प्रतीक हो गयी—वह शून्य, सहज एवं सत्य की प्रतिरूप मानी गई—

सुरति समांणी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्यंभ दुवार [२]।

नाद और विन्दु

नाद और विन्दु का अर्थ श्री बागची ने इस प्रकार किया है : 'विन्दु' ध्वनि (sound) का सूक्ष्म एवं अश्रुतिकर (inaudible) रूप है, जबकि नाद उसका (ध्वनि का) अधिक प्रकट एवं श्रुतिकर दशा का रूप है[३]। इसका अर्थ यह हुआ कि विन्दु अधिक चेतन दशा का द्योतक है और नाद उससे अपेक्षाकृत कम। सिद्धों ने इसे शिव और शक्ति, प्रज्ञा और उपाय के रूप में अपनाया है और उन्हें 'मुद्रा' का सहायक रूप स्वीकार किया है।

नाद और बिंदु की मिलन-साधना पर ही साधक अनाहद की ध्वनि सुनता है—

अवधू नादे व्यंद गगन गाजे
सबद अनाहद बोले [४]।

अनाहद शब्द की अनुभूति के लिए नाद और विन्दु की ऊर्ध्वशीलता अपेक्षित मानी गई है।

कबीर में नाद और विन्दु का एक अन्य रूप भी प्राप्त होता है जो उपर्युक्त

१—सिद्ध साहित्य तथा कबीर साहित्य की परख में पूरा विवेचन हुआ है।

२—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १४।२२।

३—स्टडीज़ इन तंत्राज़ द्वारा बागची, पृ० ७०।

४—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १५४।१६०।

रूप का पूरक ही माना जा सकता है। यह उस उच्चतम स्थिति का प्रतीक है जहाँ पर न नाद है और न व्यंद—यह उच्चतम दशा अलख भी है, गोविद भी है और निरंजन, रामरस भी है। अलख रूप—

जहां नाद न व्यंद दिवस नहिं राती
नहीं नर नारि नहीं कुल जाती
कहै कबीर सरब दुखदाता,
अबिगत अलख अभेद बिधाता [1]।

गोविंद रूप—

नादहिं नाद कि ब्यंदहि ब्यंद,
नादहि ब्यंद मिलहि गोब्यंद [2]।। आदि

इन उच्च दशाओं तक पहुंचने के लिए जो परमतत्व के प्रतीक भी हैं, नाद तथा विदु की एकत्व साधना अपेक्षित है। यह मिलन-साधना स्वयं में 'परमतत्व' का रूप नहीं है पर उस तक पहुँचने का साधन है। अतः श्री चतुर्वेदी जी का यह मत कि नाद और विदु परमतत्त्व ब्रह्म के ही रूप हैं, कुछ भ्रामक सा लगता है [3]। अधिक से अधिक वे 'ब्रह्माभास' ही कहे जा सकते हैं जिनके संयोग से (विन्दु से) सृष्टि-क्रम की 'उतपत्ति' होती है—ब्रह्मविन्दु से सब उतपाती [4]। विन्दु का रूप, जैसा कि प्रथम संकेत किया गया, सूक्ष्म है (नाद से) और ब्रह्म तो इससे भी अधिक सूक्ष्म है। आदितत्व के रूप में विंदु तथा ब्रह्म परस्पर पूरक हैं—ऐसा ज्ञात होता है।

खसम

खसम शब्द का प्रतीकात्मक इतिहास अत्यंत रुचिकर है, क्योंकि इसके अर्थ में अनेक नवीन तत्वों का समन्वय समयानुसार होता रहा है। सिद्धों ने इसे शून्य तत्व का प्रतीक माना है। डा० भारती के अनुसार सिद्धों ने गगनावस्था या शून्यावस्था का मानवीकरण खसम शब्द के द्वारा किया है [5]।

संत साहित्य में खसम शब्द का अर्थविस्तार अपनी पूर्णावस्था में प्राप्त

१—कबीर-ग्रथावली, पृ० १८६।२६७।

२—वही, पृ० १६८।३२६ तथा पृ० १६२ पर गोविंद निरजन रामराया रूप प्राप्त होता है।

३—कबीर साहित्य की परख, द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २४२ २४३।

४—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २८२।६१।

५—सिद्ध साहित्य, पृ० ३६५।

होता है। यहां पर 'खसम' को अव्यक्त शून्यावस्था की अपेक्षा निकट के किसी संबंध के तौर पर ही ग्रहण किया गया है [1]। अतः सिद्धों ने जो शून्यावस्था को खसम के व्यक्त रूप के द्वारा व्यंजित किया, उसे ही संतों ने मानवीय संबंधों के द्वारा अधिक हृदयग्राही रूप में चित्रित किया। परंतु यह मानवीय रूप अत्यंत क्षीण है यथा—

कहु कबीर तेई नर भूले,
खसम बिसारि माटी संग रूले।[2]

एक अन्य स्थान पर इसी भाव का प्रत्यक्षीकरण नीतिपरक प्रसंग में आया है—

कबीर फल लागे फरन, पाकन लागे आव।
जाइ पहुंचे खसम को, जो बीच न खाई काव [3]।।

परम तत्व रूप खसम का नाथों में जो 'गगनोपम सुन्न समाधि', आकाश ब्रह्म, 'सुंनि-अकास' वाला रूप था, वही संतों में आकर मानवीय सम्बन्ध के साथ राम का भी संकेत करने लगा। कबीर ने खसम और राम की एकता इस प्रकार व्यंजित की है—

ते तो माया मोह भुलाना, खसम राम किनहूँ नहीं जाना।[4]

परन्तु दूसरी ओर दादू ने राम का निवास शून्य में भी माना है—

रहता रमता राम है, सहज सुन्नं सब पास।[5]

अतः कबीर का खसम शब्द जहाँ शून्य भाव से युक्त सहज-राम का पर्याय है, वहीं पर कबीर की सहज-राम की साधना में खसम का सहज रूप ही प्राप्त होता है। इसी सहज रूप खसम को कबीर आदि संतों ने पति, स्वामी, साहिब, सांईं आदि रूपों में परिकल्पित किया है। इस प्रकार, सतों ने खसम को परमतत्व के रूप में ग्रहण कर उसे गगनोपम का पुट देकर, अपनी अंत-र्दृष्टि से उसे 'सहज खसम' के रूप में मूलतः ग्रहण किया है। उसे और भी 'सहज' करने के लिए पति, स्वामी आदि रूपों में चित्रित किया है। खसम के

१—हिन्दुस्तानी : त्रैमासिकः पृ० ३४ लेख भाग १६ अंक ४–अक्टूबर-दिसम्बर १९५८।
२—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २६७।८।
३—वहीं, पृ० २५६।६६।
४—कबीर-ग्रंथावली, पृ० २२८।१।
—श्री दादू की बानी, पृ० ४२।५० (सु० द्वि०)।

पति, स्वामी आदि रूपों में मुस्लिम प्रभाव माना जाता है, परन्तु यह एकांगी दृष्टिकोण है।

शून्य

शून्य की स्थिति पर प्रथम ही संकेत हो चुका है। संतो ने शून्यपद या शून्यावस्था को परमतत्व के रूप में भी ग्रहण किया है। उसे अपनी प्रेम-भक्ति की साधना के संस्पर्श से सहज रूप प्रदान किया है। सिद्धों ने जिसे 'महासुख' का स्रोत माना, उसे संतों ने 'महारस' का पर्याय माना। यही कारण है कि संतो का 'सुन्न' अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है परन्तु इन सब रूपों में 'परमतत्व' की भावना न्यूनाधिक रूप से समन्वित प्राप्त होती है।

दार्शनिक दृष्टि से शून्य का अर्थ 'आदितत्व' है, वह रूप, समय और आकाश की सीमाओं से परे है। इसे हम शून्यवादी दर्शन (Philosophy of Void or Nothingness) कह सकते हैं। परन्तु संतो का शून्य-तत्व ऐसा नहीं है। उसमें निषेधात्मक अंश से कहीं अधिक निश्चयात्मक तत्व है। यही कारण है कि संतों ने शून्य को 'शब्दरूप ब्रह्म' की उपाधि भी दी है। यह प्रवृत्ति, जैसा कि डा० भारती का मत है, नाथों में भी वर्तमान थी जिसे संतों ने ग्रहण किया।[१] कबीर के नाद रूप का वर्णन—

फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यहु तत कथौ गियानी।[२]

इसके अतिरिक्त कबीर और दादू में शून्य की धारणा में 'सहज रूप' का योग प्राप्त होता है। कबीर ने कहा कि सहज की कथा ही न्यारी है। ऐसा ही न्यारा है यह सहज सुन्न भी, जहाँ पर साधक सद्गुरु की कृपा से रस का पान करता है।[3] यह रस जिसका विवेचन 'अमृत' के अन्तर्गत हो चुका है, संतों का रामरस ही है।

दूसरी ओर दादू का सहज-सुन्न प्रत्येक स्थान में व्याप्त है—

सहज सुन्न सब ठौर है, सब घट सब ही मांहिं।
तहां निरंजन रमि रह्या, कोउ गुन व्यापइ नांहिं॥[४]

१—सिद्ध-साहित्य, पृ० ३३८।

२—कबीर-ग्रंथावली, पृ० १०३।४८।

३—वही, पृ० १११।७४।

४—श्री दादू की बानी, पृ० ४२।५१।

इस प्रकार, सहज-सुन्न की धारणा परमतत्व के रूप में प्राप्त होती है, और परमतत्त 'ब्रह्म' का वाचक शब्द है। इसी कारण से, दादू ने स्पष्ट शब्दों में 'सून्य' और ब्रह्म का एकीकरण अपनी बानियों में किया है यथा—

ब्रह्म सुन्न तहं ब्रह्म है, निरंजन निराकार।
नूर तेज जहं जोति है, दादू देखनहार ॥[1]

कबीर ने भी शून्यावस्था को राम-नाम में लव लगानेवाला भी कहा[2] है। परम तत्व रूप-शून्य की धारणा में निर्गुण तत्वों के साथ रूपात्मक तत्वों का सुन्दर समाहार निर्गुण ब्रह्म, सुन्न मंडल, सहज सुन्न, अखंडमंडल आदि की कल्पनाओं में तिलतंदुल की भाँति प्राप्त होता है।

शून्य एवं गगन के तात्विक भेद को 'गगन' के प्रतीकार्थ में स्पष्ट किया गया है। गगनावस्था परमज्ञान की प्राप्ति में एक सोपान की तरह है। अतः जहाँ पर भी संतों ने सहज सुन्न से सृष्टि रूप वृक्ष का उदय माना है, वहाँ पर एक स्पष्ट रूपात्मक व्यंजना के ही दर्शन होते हैं—

सहज सुन्न इक बिरवा उपजिआ,
धरती जलहर सोखिया।
कहि कबीर हउ ताका सेवक
जिनु यहु बिरवा देखिया ॥[3]

सहज-सुन्न की धारणा में इन सभी तत्वों का न्यूनाधिक समाहार संतों में प्राप्त होता है, पर कहीं-कहीं पर परमतत्व की धारणा में निषेधात्मक प्रणाली का भी सहारा लिया गया है। संत साहित्य के अध्ययन से यह पुष्ट हो जाता है कि संतो ने 'परमतत्व' का वर्णन करते-करते उसे अभिव्यक्तियों के माध्यम से परे ले जाकर उसे न्यारा भी कहा है। दार्शनिक विचारधारा में ऐसे निषेधपरक तत्व चिंतन को 'नेति-नेति' कहा गया है। इसे ही पाश्चात्य दर्शन में (Infinite Regress) या अनंत प्रत्यावर्तन कहते है जो 'आदिकारण' (First Cause) की धारणा को प्रश्रय देता है। कबीर ने भी आदिकारण की ऐसी ही कल्पना की—

१—श्री दादू की बानी पृ० ४८।१२५।
२—कबीर-ग्रंथावली, पृ० २९१।६१।
३—वही, पृ० १६८।२०८।

कहै कबीर जहं बसहु निरंजन,
तहां कछु आहि की सून्यं।[1]

सहज

उपर्युक्त सारे विवेचन में यदा कदा 'सहज' शब्द का प्रयोग एवं विवेचन किया गया है जैसे सहज राम, सहजसुन्न, सहज हरिरस आदि। संतकाव्य की भित्ति एवं उसका दर्शन इसी 'सहज तत्व' पर आधारित है। संतों का 'सहज' मध्यम मार्ग का द्योतक है और समन्वय पर आश्रित तत्व-चिंतन का विषय है। अरस्तू के मध्यमा-सिद्धान्त (Doctrine of Mean) की भी यही स्थिति है। अरस्तू के इस सिद्धान्त के द्वारा यह दिखाया गया है कि सत्य गुण (Virtue) की स्थिति वही पर सम्भव है जहाँ अधिकता (Excess) और न्यूनता (Defeciency) के मध्य का मार्ग ग्रहण किया जाय। यह सम्भव है कि अत्यधिक एक ओर जाने से नैतिक गुण का ह्रास होने लगे अथवा दूसरी ओर अधिक कमी के कारण भी गुण का नाश होने लगे। अतः इससे बचने के लिए 'मध्यस्थिति' का पालन करना ही अपेक्षित है। संतों में मध्यमार्ग का वाचक शब्द 'सहज' भी दो विपरीत छोरो के मध्य संतुलन करता प्रतीत होता है।

सहज की परम्परा सिद्धों से नाथो में होती हुई संतों में आई। सिद्धों में यह शब्द स्वाभाविक प्रवृत्तिमूलक मार्ग का द्योतक था। इसके अतिरिक्त सहज एक ऐसी साधना पद्धति का अर्थ भी ग्रहण करता था जिसमें पुरुषतत्व और शक्ति तत्व (प्रज्ञा और उपाय) का समागम माना जाता था।[2] अतएव सहज शब्द सिद्धों में 'महासुख' अनुत्तर, 'बोधिसत्व' का वाचक शब्द माना[3] गया। नाथों ने सहज को परमपद तथा ज्ञान के लिए, परमतत्व के लिए और योगसाधना की मिथुनपरक क्रिया के लिए ग्रहण किया है। सतो ने नाथों की परम्परा को अधिकांशतः अपनाया है, फिर भी सहज के प्रति उनका अपना ही दृष्टिकोण है।

योगपरक अर्थ

संत साहित्य में हमें अनेक ऐसे स्थल प्राप्त होते है जिनमें 'सहज' का

१—कबीर-ग्रथावली, पृ० १४३।१६४।

२—सिद्ध-साहित्य द्वारा डा० भारती, पृ० ३६८।

३—उत्तरी भारत की संत परम्परा द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४३।

प्रयोग योग-साधना के संकेतार्थ किया गया है। इस शब्द का प्रयोग वज्रयानी सिद्धो की परम्परा से धूमिल रूप में मिलता है। योग-साधना में काया के अंदर ही समस्त ब्रह्माड की स्थिति मानी गयी है। दादू ने सहज की दशा कुछ इसी प्रकार की मानी है—

दादू काया अंतरि पाइया, अनहद वेनु बजाइ।
सहजै आप लखाइआ, सून्य मंडल में जाइ॥[1]

योगपरक अर्थ का संकेत कबीर में भी है यथा—

गंग जमुन उर अंतरे, सहज सुन्न ल्यो घाट।
तहां कबीरा मठ रच्या, मुनि जन जोवैं बाट[2]॥

यौगिक साधना मे और कबीर आदि संतो में सहज के स्वरूप में अंतर है। सहज का अर्थ सिद्धों में मिथुनपरक ही था जिसका स्पष्ट उल्लेख संतों ने कहीं पर भी नही किया है। एक स्थान पर कबीर ने शिव और शक्ति के मिथुनपरक रूप की व्यंजना की है जो अपरोक्ष अधिक है—

भीतरि थैं जब बाहरि आया, सिव सक्ती द्वै नाम धराया[3]।

यहाँ पर यह ध्वनित होता है कि परम आदितत्व ही दो रूपों—शिव और शक्ति—में विभाजित हो गया। इस प्रकार, यहाॅ मिथुन-भाव की अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। मेरे विचार से संतों के सहज तत्त्व में मिथुनपरक शब्दों की परम्परा अत्यन्त क्षीण रूप में वर्तमान है, अपितु यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि संतकाव्य में मिथुनपरक अर्थ का तिरोभाव पूर्णतया किया गया जिससे वह हमारी दृष्टि में स्पष्ट रूप से न आ सके।

परमतत्व रूप में

'सहज' के उपर्युक्त योगपरक रूप के साथ उसका प्रयोग संतों ने परमतत्व और उस तक पहुॅचने के लिए साधना और किसी जीवन-पद्धति के अर्थ में किया है। मेरे विचार से सहज की भावना को इन दो विभागों में (साधना व जीवन पद्धति) विभक्त करना ठीक नहीं है, क्योंकि सहज का प्रयोग सन्तों ने समाधि और जीवन-पद्धति के अर्थ में अवश्य किया है, पर उनका यह प्रयोग किसी ध्येय (सहज) का साधन है, साध्य नहीं। अतः सहज के परम

१—श्री दादू की बानी, पृ० ३६।१२।

२—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १८।३।

३—वही, पृ० २४०।५।

तत्व रूप में साधना एवं जीवन-पद्धति का समावेश सहज को मानव-जीवन सापेक्ष कर देता है।

कबीर और दादू ने सहज का प्रयोग उपर्युक्त सभी अर्थों में किया है। दादू ने श्वास और प्रतिश्वास में सहजराम की साधना को 'परमतत्व' का रूप ही माना है—

सांसे राम सुरते राम सबदे राम समाइ ले।
अंतरि राम निरंतरि राम आतमराम ध्याइले [1]॥

इस सहज रूप राम का साक्षात्कार सहज पद्धति के द्वारा ही होता है और तभी 'उसका' नूर एवं तेज सर्वकालिक चिन्मय आनंद का स्रोत होता है—

आदि तेज अंति तेज, सहजै सहजि आई।
आदि नूर अंति नूर, दादू बलि बलि जाई [2]॥

इसी प्रकार कबीर भी सहज को साधना एवं जीवन पद्धति के तौर पर मानते हुए, उसे परमतत्व तक पहुँचने का माध्यम मानते हैं—

इंद्री पसरि मिटाइए, सहजि मिलेगा सोइ [3]।

इस दृष्टि से, संतों का सहज उनके समस्त जीवन-दर्शन का मधु है—वह मध्यमा-मार्ग का परम द्योतक है। उनकी सहज-समाधि, सहज राम की साधना, सहज शील एवं स्वभाव, सहज अनूप 'तत्त'—सभी मध्यमा मार्ग पर आश्रित तत्त्व हैं, जिनके समष्टि रूप में परमतत्व 'सहज' का प्रतीकार्थ समाहित है।

मुद्रा

सिद्धों की तांत्रिक साधना में 'महामुद्रा' शून्य की उस स्थिति को कहते हैं जिसमें इस शून्य तत्व को प्रज्ञोपाय योग प्रणाली में नैरात्म-कालिका प्रज्ञा या महामुद्रा के रूप में ग्रहण किया जाता था [4]। इस महामुद्रा प्राप्त साधक की स्थिति महासुख (महासुह) चक्र में मानी जाती थी। आगे चल कर स्वयं बौद्धों में ही इस साधना का (नारीपरक) एक अत्यन्त कलुषित एवं वासनापूर्ण रूप प्राप्त होता है। स्वयं सरहपा ने इसका घोर विरोध किया था क्योंकि नारी मुद्रा का जो प्रतिकार्थ था, उसे लोग भूलकर विलास एवं ऐंद्रिय

१—स्वामी दादूदयाल की बानी, पृ० ५१५।३७४।

२—स्वामी दादूदयाल की बानी, पृ० ४५७।२३७।

३—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २८।२।

४—सिद्ध साहित्य, डा० धर्मवीर भारती, पृ० ३३६।

लोलुपता के चक्र में फँस गए [1]। सत्य में महामुद्रा, प्रज्ञा और उपाय तथा शिव और शक्ति के मिलन का 'युगनद्ध' आनंदपरक स्वरूप था जो भविष्य में निरा स्त्री और पुरुष के संभोग का द्योतक शब्दमात्र रह गया।

संतों में 'मुद्रा' का प्रयोग अवश्य हुआ है। उसमें सिद्धों के साधना-परक अर्थ का सर्वथा अभाव है। मेरे विचार से कबीर ने जो यदाकदा इस शब्द का प्रयोग किया है, उसका एकमात्र कारण उसके पतित अर्थ के प्रति एक सचेतन प्रतिक्रिया थी जो कि उस समय भी अनेक इतर साधना प्रणालियों में प्रचलित थी। यह प्रतीक के अर्थ का पतन ही है जब कि उसके अर्थ में विस्तार न होकर, उसके रूढ़ अर्थ में ही अनर्थ का समाहार प्राप्त हो। यही हाल मुद्रा का भी हुआ। देखिए, कबीर में मुद्रा का प्रयोग इसी भाव को समक्ष रखता है—

क्या सींगी मुद्रा चमकावे, क्या बिभूति सब अंग लगावे [2]।

इस कथन में मुद्रा के प्रति ही नहीं, पर अन्य बाह्य क्रियाओं के अंधविश्वासीय रूप पर भी एक प्रकार का असंतोष ज्ञात होता है। परन्तु दूसरी ओर, संतों की मंडनात्मक प्रवृत्ति भी लक्षित होती है जब वे मुद्रा का सही प्रतीकार्थ (तांत्रिक नहीं) अपने ढंग से संकेत करते हैं जो संतों की अपनी अंतर्दृष्टि एवं समन्वयात्मक प्रवृत्ति ही कही जा सकती है—

सो जोगी जाके मन में मुद्रा
रात दिवस न करई निद्रा [3]।

यहां मुद्रा मन की वस्तु है। वह मानसिक चेतना की अनुभूति है न कि केवल वाह्याडंबरों का उन्मत्त स्वरूप। वह एक ऐसी दशा है जहा पर साधक अहर्निशि परमतत्व में निमग्न रहता है—वह सहज-समाधि की दशा में पहुँच जाता है। ऐसी सहजमुद्रा का वर्णन दादू ने एक स्थान पर किया है—

सहजै मुद्रा अलष अधारी, अनहद सिंगी रहणि हमारी। [4]

अतएव, यह कहना नितान्त भ्रामक होगा कि संतों ने मुद्रा शब्द का बहिष्कार

१—उत्तरी भारत की संत परम्परा द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४१।

२—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ३०७।३५५।

३—वही, पृ० १५८।२०५।

४—स्वामी दादूदयाल की बानी, पृ० ४५५-२३१।

किया है और केवल उसके कुछ पारिभाषिक शब्दों का ही प्रयोग किया है। उपर्युक्त उदाहरणों से यह विश्वास निर्मूल सिद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त संतों ने महामुद्रा साधना के कुछ पारिभाषिक प्रयोग किया है जिनमें 'जोगिनी' और 'डाइन' प्रमुख हैं।

डाइन

कबीर ने एक स्थान पर 'डाइन' शब्द का प्रयोग किया है, पर वह सिद्धों के अर्थ से सर्वथा भिन्न है। कबीर ने डाइन शब्द को माया का वाचक शब्द माना है जो एक प्रकार से हीनरूप का परिचायक है—

इक डाइन मेरे मन में बसै रे।
नित उठि मेरे जीव को डसै रे।
या डाइन के लरिका पांच रे।
निसि दिन मोहिं नचावैं नांच रे।[1]

यहाँ पर भी प्रतीक के अर्थ में एक प्रकार का ह्रास ही हुआ है।

जोगिनी

कबीर की योगिनी एक प्रकार से शुद्ध चित्त की प्रतीक ही दृष्टिगत होती है जिसके जाग्रत होने पर काम-क्रोध का नाश हो जाता है—

काम क्रोध दोऊ भया पलीता
तहां जोगिणी जागी।[2]

जोगिनी की परम्परा भक्तिकाल में भी प्रचलित रही जिसका विवेचन यथास्थान होगा।

वज्र

'वज्र' शब्द का इतिहास भी ऋग्वेद से आरम्भ होकर संतों तक आते-आते अनेक परिवर्तनो का भागी हुआ। रुद्र की कल्पना का सार अग्नि है और अग्नि का मानवीकरण ही रुद्र देवता है। निघण्टु ने रुद्र शब्द के पर्याय-वाची शब्दो की संख्या सोलह दी है जो कि वज्रदेव के रुद्रवाची नाम हैं। वे इस प्रकार हैं—विद्युत्, नेमि, हेति, नमः, पवि, सूक, वृक, वध, वज्र, अर्क, कुत्स, कुलिस, तुज, सिम्म, स्वधिति, सायक और परशु। अतः पृथ्वी से लेकर अंतरिक्ष तक जो अग्नि त्रिवृत्त के रूप में व्याप्त है, उसी का मानवीकरण यह

१—कबीर-ग्रंथावली, पृ० १६८-२३६।
२—वही, पृ० १११।७४।

रुद्रदेव या वज्रदेव है।[1] यहाँ पर शिव के एक रूप को रुद्रदेव या वज्रदेव भी कहा गया है जिसका संबंध सिद्धो से भी जोड़ा जा सकता है। सिद्धों में इस वज्र के स्वरूप को प्रज्ञा से जोड़कर उसे बोधिचित्त का प्रतीक बनाया गया। इस प्रज्ञा की भावना में शिव रूप का भी समाहार माना गया है। यही शिव रूप ही 'शक्ति' के साथ, आगे चलकर 'युगनद्ध' रूप में अवतरित हुआ। महासुख इसका भी लक्ष्य हो गया। सिद्धों के यहाँ शिव और शक्ति का युगनद्ध रूप वज्र की धारणा से संबंधित है।[2] नाथों में इसका यह रूप नही प्राप्त होता है। सिद्धो की कमल-कुलिश साधना में इसी शून्यवाचक शब्द 'वज्र' का रूप समन्वित है। संतों में आकर वज्र का यह अर्थ परिवर्तित हो गया।

संतों में वैसे तो वज्र शब्द का प्रयोग यदा कदा प्राप्त होता है, पर अधिकांशतः उसका प्रयोग पारिभाषिक ही है। उसे संतों ने अपनी सहज प्रवृत्ति के कारण कुलिश, परशु एवं कठोर के अर्थ में मूलतः ग्रहण किया है जो निघण्टु के विभागों में प्राप्त होते हैं। यथा—

> धरे ध्यान गगन के मांहीं, लाए वज्र किंवार।
> देखि प्रतिमा आपनी, तीनिउं भए निहाल ॥[3]

अतः मेरे विचार से संतो का वज्र शब्द वैदिक अग्नि के प्रकारों एवं गुणों पर अधिक आश्रित तत्व है और उसका सम्बन्ध सिद्धों के 'वज्र' से नितान्त भिन्न ज्ञात होता है।

वज्रजाप

सिद्धों के वज्रजाप और संतो के सहज-जाप में वही अंतर है जो ब्रह्म और ईश्वर मे। सिद्धो के वज्रजाप में नैरात्मज्ञान का योग है, जब कि संतों के सहज जाप में राम नाम तत्व के सम्मिश्रण से वह वैष्णव 'जाप' के समान हो गया है। श्री परशुराम जी ने इस जाप को नाथों के सोऽहं के समकक्ष रखा है और कहा है कि यह क्रमशः 'शब्द-जोति' में परिवर्तित होकर शून्य के अंधकार को दूर कर देता है।[4] दूसरे शब्दों मे नाथों का सोऽहं परमतत्व पर आच्छादित अंधकार को दूर करता है, जिस प्रकार संतों का ओंकार शब्द परमतत्व के

१—उपनिषद् चिंतन, पृ० ८४-८६ द्वारा देवदत्त शास्त्री।

२—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ४०।

३—बीजक, पृ० ४२५।

४—कबीर साहित्य की परख, पृ० २३१।

सान्निध्य को प्राप्त कराने में सहायक होता है। संतों का सहज जाप राम तत्व की तरह द्वैताद्वैतविलक्षण है और इसी से कहीं-कहीं पर संतों ने इसे अजपा जाप की संज्ञा दी है। हठयोग का महत्व संत काव्य के लिए एक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह दृष्टि है अजपा जाप की और उससे सम्बन्ध रखने वाली सहज या सहज समाधि की। इस अजपा जाप का विकसित रूप ही सहज समाधि है। यह समाधि जाग्रत समाधि है।[1]

संतों का सहज जाप ऐसा विलक्षण जाप है जो द्रष्टव्य नहीं है। वह निरन्तर साधक के रोम-रोम मे चला करता है। वह एक प्रकार से चेतन और अचेतन का अतिचेतन में लय है। इसे हम जप-समाधि की संज्ञा भी दे सकते है। इसी तथ्य की प्रतिध्वनि कबीर के इस कथन मे प्राप्त होती है कि जिस प्रकार सुरति निरति की निरवलम्ब स्थिति में समा जाती है, उसी प्रकार अजपा में जाप भी—

सुरति समांणी निरति में, अजपा मांहीं जाप।[2]

एक अन्य स्थान पर कबीर ने ब्रह्म-अग्नि को शरीर में प्रज्वलित करने के लिए अजपा जाप और उन्मनी तारी का संकेत किया है—

ब्रह्म अगनि काया परजारी, अजपा जाप उन्मनी तारी।[3]

दादू की वाणी में जहाँ पर भी 'नमो निरंजन' का प्रयोग हुआ है वहाँ पर अपरोक्ष रूप से उन्होंने अजपा जाप की ओर संकेत किया है।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में सहज जाप के वे सभी तत्व निहित हैं जो अजपा जाप की भावना को स्पष्ट करते हैं। इसी अजपा जाप की सहज भावना में शून्य, राम नाम तत्व का, निरति और ब्रह्म-अग्नि का संयोग हुआ है। परंतु यहां पर संतों की अजपा जाप की धारणा का अंत नहीं हो जाता है, उसमें एक अन्य तत्व का समाहार प्राप्त होता है और वह है ब्रह्म का वाचक शब्द 'ओंकार'।

संत बानी में ओंकार का प्रयोग अजपा जाप की तरह हुआ है। उपनिषदों में ओंकार (ॐ) ब्रह्म का वाचक नाम है (प्रतीक) जो ब्रह्म की उच्चतम अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि उपनिषदों में ओंकार का महत्व नामी

१—हिन्दी साहित्य दे० लेख संतकाव्य, द्वारा डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २३०।

२—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १४।२३।

३—वही, पृ० १५८।२०४।

(ब्रह्म) से कहीं अधिक माना गया है।[1] दादू ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि आदि-शब्द (परब्रह्म) ही ओंकार है—

आदि सबद ओंकार है, बोलै सब घट मांहिं।[2]

ओकार का प्रथम वर्ण अकार निर्गुण ब्रह्म का प्रतीक है जो आदि शब्द का रूप कहा जा सकता है। ओंकार के द्वारा ही सृष्टि और प्रलय के दोनों कार्य होते हैं। जिस प्रकार त्रिमूर्ति में ब्रह्मा, विष्णु और महेश का एकीकरण होता है, उसी प्रकार ॐ में इन तीनों तत्वों का संकेत प्राप्त हो जाता है जिसका पूर्ण विवेचन हो चुका है।[3]

इस प्रकार सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष रूप इस प्रकार एक वाक्य में रखा जा सकता है—संतों का सहज जाप उस अतिचेतन धरातल का रूप है जहाँ निरवलम्ब स्थिति के साथ, भाव भगति का सुन्दर सम्मिश्रण है और जहाँ ओंकार का समाहार निरवलम्ब स्थिति का पूरक तत्व भासित होता है।

नवीन शब्द-प्रतीक

उपर्युक्त सभी प्रतीकों का स्वरूप या तो परम्परा का पालन है या उस परम्परा में नये तत्वों का समाहार करना है। इस दिशा में संतों को अत्यन्त सफलता मिली है। इस प्रकार उन्होंने प्रतीक के क्षेत्र को एक अत्यन्त व्यापक अर्थ-संदर्भ का वाहक बनाने का प्रयत्न किया है। यही बात उनके उन प्रतीकों में भी प्राप्त होती है जो उनके अपने निजी हैं जैसे 'लीला तत्व' और 'नाम तत्व' जिनका विवेचन अपेक्षित है।

लीला तत्व

'लीला' शब्द की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और साथ ही उसका अर्थ भी अत्यन्त व्यापक क्षेत्र की व्यंजना करता है। जहाँ तक 'लीला' शब्द के रूढ़ अर्थ का प्रश्न है, वह कृष्ण और रामलीलाओं से ही ग्रहण किया जाता है। एक प्रकार से लीला को सगुण धारा के व्यक्त वपुधारी परब्रह्म रूप विष्णु की केलि-क्रीड़ाओं का वाचक शब्द माना जाता है, यह दूसरी बात है कि फिर हम उन लीलाओं को तात्विक अर्थ में भी ग्रहण करें। अतः इसे मैं सीमित अर्थ ही कहूँगा, जो किसी शब्द विशेष को इतना अधिक एक अर्थ में आबद्ध कर दे

१—दे० अध्याय प्रथम, उपखण्ड 'ग' में ओंकार का पूर्ण विवेचन।

२—श्री दादूदयाल की बानी, पृ० १६७।१२ (सु० द्वि०)।

३—दे० पीछे अध्याय प्रथम, उपखण्ड 'ग' में त्रिमूर्ति का विवेचन।

कि वह अन्य अर्थों को अपने अंदर समेट न सके। परन्तु संतों ने इस लीला शब्द का प्रयोग इस सगुण अर्थ से परे भी किया है और उसे एक व्यापक अर्थ प्रदान किया है।

राम अथवा कृष्ण भक्त कवियों ने लीला शब्द को ब्रह्म के वपुधारी रूप के ऐसे कार्य-कलापों के अर्थ में ग्रहण किया है जिसकी नित्य लीला इस धरती पर हुआ करती है। यहां पर लीला का क्षेत्र व्यक्त है, गुणमय है। दूसरी ओर संतो का लीला तत्व अत्यन्त रहस्यमय है। यदि उसका रूप कहीं पर भी सगुण भक्त कवियो की भाँति प्राप्त होता है तो वहाँ पर भी लीला की भावना का वह रूप नही है जो कि सगुण कवियों में द्रष्टव्य है। उसमें चिंतन एवं मनन का निर्गुणपरक रूप ही अधिक है और उसको धारणा में एक प्रकार से रूप और अरूप के मिश्रित तात्विक निर्देश हैं। दादू का यह वर्णन देखिए—

घटि घटि गोपी, घटि घटि कान्ह।
घटि घटि राम, अमर अस्थान॥
कुंज केलि तहां परम बिलास, सब संगी मिलि खेलैं रास।
तहां बिन बैना बाजै तूर, बिगसै कंवल चंद अरु सूर॥[1]

यहाँ पर दादू ने कृष्ण, गोपी आदि कुछ नाम सगुण कवियों की भाँति तो अवश्य लिये हैं परन्तु इन सब का केलि स्थान 'पिंड' ही है—यहाँ तक कि राम भी उसी में समाहित है। दूसरे शब्दों में, लीला की धारणा में योग-दर्शन का मूल तत्व 'पिंड में ही ब्रह्मांड' का सुन्दर समन्वय प्राप्त होता है। जहाँ पर दादू यह कहते हैं 'तहाँ बिन बैना बाजै तूर, बिगसै कंवल चंद अरु सूर' वहाँ पर तात्रिक साधना से उत्पन्न सहजानन्द या सहजानुभूति (तूर) की ध्वनि निकलती है। इसी प्रकार कबीर ने भी लीला विस्तार का वर्णन किया है और उसे आनंद का स्रोत माना है—

लीला ते तो आहि आनंद स्वरूपा,
गुन पल्लव बिस्तार अनूपा।
ओ खेलै सब ही घट मांहीं,
दूसरि कै लेषै कछु नांहीं।[2]

यहां पर लीला का अर्थ सृष्टि प्रसार भी ध्वनित होता है जो आनंदस्वरूप है,

१—स्वामी दादूदयाल की बानी, पद ४०७, पृ० ५२७-५२८।
२—कबीर-ग्रंथावली, पृ० २२९-३।

चिद् स्वरूप है। शैव-दर्शन में आनंद की उत्पति उसी समय मानी गई है जब मानव व्यापारों और प्रकृति में समरसता का रूप मुखर होता है। इसी समरसता पर आश्रित आनंदतत्व का पुट, संतों की लीला-भावना में प्राप्त होता है। जहा तक आनंदतत्व का सम्बन्ध है, कृष्णभक्त कवियों में भी इसका उदात्त रूप मिलता है। अतः, कबीर आदि ने लीला की भावना मे तांत्रिक तत्वों का एक ओर और सृष्टि प्रसार के तत्वो का दूसरी ओर समन्वय करके, उसे निर्गुण एवं निराकार तत्वों का वाहक बनाया हे। इस कथन का एक स्पष्ट रूप कबीर की इस पंक्ति में मुखर हो जाता है—

घट मंहि खेलै अघट अपार।[1]

अघट रूप परमतत्व की लीला अपार है—नित्य है, वह मानो स्वयं अपने से ही खेलता है और इच्छानुसार अपने 'खेले' को फिर अपने में ही समेट लेता है। इसी भाव की प्रतिध्वनि गीतोक्ति 'कालोऽस्मि' है। इन सब तात्विक निर्देशो से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर का लीला तत्व—उसका 'अघट' का 'घट' में विस्तार और फिर उस विस्तार का अघट में निलय—सूफी विचारधारा एवं गीता की विचारधारा से साम्य रखता है। इसी विचार की अभिव्यक्ति कबीर ने और भी स्पष्ट शब्दों में की है—

इनमें आप, आप सबहिन में, आप आपसूं खेले।
नाना भांति प्यंड सब भांडे, रूप धरे धरि मेलै।
सोच बिचारि सबै जग देख्या, निरगुण कोई न बतावै—
कहै कबीर गुणी अरु पंडित, मिलि लीला जस गावै॥[2]

अतः इस नित्य परिवर्तन के पीछे जो शक्ति काम करती है, जो उसे एक निश्चित नियम के द्वारा कार्यान्वित करती है, वही संतो का अघट है, अलख है और निर्गुण राम है। कबीर आदि ने लीला के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति, विकास और लय की 'अकथ-कथा' का ही वर्णन किया है। खेलनेवाला तो स्वयं अव्यक्त है पर उसकी लीला तो व्यक्त है। लीला की अकथ कथा का चित्र दादू ने खींचा है—

कै यहु तुम्हको षेल पियारा,
कै यहु भावै, कीन्ह पसारा।

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ३०३।१३४।
२—वही, पृ० १५१।१८६।

यह सब दादू अकथ कहानी,
कहि समुझावो सारंगपानी ।[1]

कबीर ने भी स्वर में स्वर मिलाया—

लीला अगम कथै को पारा,
बसहु समीप कि रहौ नियारा ।[2]

संतकाव्य में सहजतत्व एवं उसकी साधना का विशेष स्थान है। निष्कर्ष रूप में, सहज परमतत्व का ही रूप है[3] जो हरि या राम का परम स्वरूप है। अतः हरि की लीला भी सहज रूप है, क्योंकि 'वह' स्वयं ही सहज है। इसी से कबीर ने एक स्थान पर कहा, 'सहज रूप हरि खेलन लागा'।[4] इसी से संतों की लीला को 'सहज-लीला' कहना अधिक उपयुक्त होगा जिसमें भक्ति-योग, सूफी प्रेम-साधना और सृष्टि विषयक मान्यताओं का समन्वय है।

नाम तत्व

भक्ति साधना के तीन माध्यम माने गए हैं—नाम, रूप और गुण। एक साधक अपने साध्य या आराध्य की अनुभूति या तो 'नाम' या 'सुमिरन' के द्वारा करता है या किसी विशिष्ट आकार (रूप) का ध्यान करता है अथवा उसके गुण का कथन, श्रवण एवं मनन करता है। संतों की नाम-साधना में निर्गुण तत्वों का योग अधिक है। उनका नाम-तत्व कोई विशेष रूपधारी व्यक्ति का बोधक शब्द नहीं है पर वह अरूप एवं निराकार तत्व का ही बोधक है।

नाम तत्व का स्पष्ट संकेत हमें वैदिक साहित्य में भी प्राप्त होता है। वहाँ पर स्पष्ट शब्दों में 'नाम' का 'नामी' से अधिक महत्व प्रतीत होता है।[5] इसी नाम तत्व के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नामस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥[6]

१—स्वामी दादूदयाल की बानी, पृ० ४५६, पद २३५।

२—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २३७।

३—दे० पीछे इसी उपखंड में 'सहज' के विश्लेषण के अन्तर्गत।

४—कबीर-ग्रन्थावली, १५७।२००।

५—दे० प्रथम अध्याय उपखंड 'ग' में 'ब्रह्मप्रतीक'।

६—श्रीमद्भगवद्गीता, राजगुह्य योग, पृ० ३१८।१४।

अर्थात् 'जो दृढ़व्रती हैं, जो समस्त क्रियाओं को मेरी सेवा में लगाते हैं, जो सतत मेरे नाम का कीर्तन करते हैं और जो भक्तिपूर्वक अपने को मुझे समर्पित कर देते हैं वे व्यक्ति मेरे चरणों से लगे हुए सदा मेरी उपासना करते हैं।' इस कथन में नाम तत्व की वह आधारशिला सुरक्षित है जिस पर संतों तथा भक्तों ने अपने नाम-तत्व का विकास किया है। संतों ने भी नाम को नामी से अभिन्न माना है। यही कारण है कि संतों ने जहाँ पर नाम को 'परमतत्व', ब्रह्म, राम, निरंजन आदि के साथ जोड़ा है वहां उनका एकमात्र ध्येय यही ज्ञात होता है कि वे नाम और नामी के अभेदत्व को प्रदर्शित करना चाहते हैं। यहाँ पर वे नाम को या तो परमतत्व के समकक्ष रखते हैं या उस तत्व तक पहुँचने के माध्यम रूप में रखते हैं अथवा कहीं कहीं पर 'नाम' को सबसे महान् घोषित करते हैं।

परमतत्व से समानता को व्यंजित करने वाले अनेक पद दादू और कबीर में प्राप्त होते हैं यथा—

कहै कबीर राम नाम न छांड़ौं
सहजै होइ सो होइ रे [1]।

कहीं कही पर कबीर ने 'नाम' में समा जाने की स्थिति को 'सुन्न' में लवलीन होने के समान कहा है। इसी प्रकार दादू ने भी राम नाम का वर्णन किया है—

राम नाम उपदेस करि, अगम गवन यह सैन। [2]

इन सभी उदाहरणों के द्वारा 'नाम' को परमतत्व के समकक्ष ही ग्रहण किया गया है। वह ऐसा तत्व है जो जल और थल, पिंड और ब्रह्मांड में व्याप्त है। उसकी सुमधुर झंकार सुनकर साधक सम्पूर्ण सृष्टि से तथा अपने आराध्य से एकात्म भाव की अनुभूति प्राप्त करता है। वह तल्लीनता के क्षणों में नूर का, तेज का और ज्योति का परम साक्षात्कार प्राप्त करता है। इतनी है शक्ति इस 'नाम' में, तभी तो दादू ने कहा—

नूर दिषावै, तेज मिलावै, जोति जगावै नाउं रे।
सब सुखदाता अमृत राता, दादू माता नाउं रे। [3]

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २६१।१५।

२—श्रीदादू की बानी, पृ० १।८।

३—स्वामी दादूदयाल की बानी, पृ० ४७५।२७१।

अतः नाम ही ऐसा तत्व है जो साधक को परम जोति और नूर के समीप पहुँचाने में सहायक होता है। नाम ही ऐसा साधन है जो साध्य के ऐश्वर्य को प्रकट करता है। 'नाम' संतों का सब कुछ है—उसके बिना राम का, ब्रह्मज्ञान का, अल्लाह का, निरंजन का, शून्य का—तीनों लोकों के तत्व या सार का ज्ञान असंम्भव है। इन सब की अनुभूति कराने वाला यही नाम-तत्व है। संत कबीर के लिए नाम का महत्व ऐसा ही है—

नाउं मेरे खेती, नाउं मेरी बारी।
भगति करी मन सरन तुम्हारी।
नाउं मेरे माया, नाउं मेरे पूजा।[1] आदि

परम तत्व के साक्षात्कार में जहाँ एक ओर 'नाम' साधक का सहायक होता है वहीं पर वह नामी का रूपान्तर भी माना गया है। नाम तत्व के समष्टि अर्थ मे इन दोनो तत्वों का समन्वय संतों ने किया है। 'नाम' को इतना उच्च स्थान देते हुए भी संतो ने अपनी साधना में उसे व्यक्ति सापेक्ष भी रखा है, यह नहीं कि नाम को व्यक्ति से परे कर दिया हो। वह तो प्रत्येक मनुष्य की सीमा की सापेक्षता में प्रकट होता है—

अपनी अपनी हद में, सब कोई लेवै नाउं,
जो लागे बेहद सों, तिनकी मैं बलि जाउं।[2]

(घ) उल्टवासियों की प्रतीक योजना

आधार एवं क्षेत्र

उल्टवासियो का शाब्दिक अर्थ यही है कि किसी धारणा, भाव या विचार को इस विधि से रखना कि वह जिन माध्यमों के द्वारा अभिव्यक्ति को प्राप्त हों, वे नितान्त असंगत एवं अतार्किक हों जो लौकिक धरातल पर अघटित तत्व ज्ञात हों। उल्टवासियों का आदि स्रोत उस धारणा पर आश्रित है जिसे योग की संज्ञा दी गयी है। योग (हठयोग) के आठ अंग माने गए हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। उल्वासियों के रहस्य को समझने के लिए इन अंगों में 'प्रत्याहार' का विशेष महत्व है। प्रत्याहार में इंद्रियों को वहिर्मुखी करने की अपेक्षा अंतर्मुखी करने

१—कबीर-ग्रंथावली, पृ० २७४।२३।

२—श्री दादूदायाल की बानी, पृ० २०।८३ (सु० द्वि०)।

की आवश्यकता है। इस अंतर्मुखी प्रवृत्ति को 'उलट जाना' भी कहते हैं। इस क्रिया में बाह्य रूपराशि की वस्तुएँ, घटनाएँ एवं पदार्थ अंतरतम में आकर 'उलट' जाती हैं। सासारिकता उलट कर आध्यात्मिकता में परिणत हो जाती है।[१] इस प्रकार उल्टवासियो का क्षेत्र तात्विक है, चाहे उनका बाह्य रूप कितना ही अतार्किक क्यो न हो!

उल्टवासियों के प्रति एक आक्षेप यह लगाया जाता कि कबीर की उल्टवासियाँ उनके सिद्धान्तों को यथार्थतः समझने में बाधक सिद्ध हुई है।[२] तथ्य तो यह है कि इन उल्टवासियो की भावभंगिमा अवश्य दुरूह है पर उनका सही अर्थ निकल आने पर, वे किसी भी दशा में संत-सिद्धान्तो के विरुद्ध नहीं पड़ती हैं। यही नहीं वे उनकी मान्यताओं की प्रतिध्वनि सी लगती हैं। ब्रह्म माया आदि के प्रति उनके जो विचार हैं, समाजिक रूढ़ियों और संप्रदाओं के प्रति जो उनका विद्रोह है और योगिक क्रियाओं के प्रति जो उनकी मान्यता है—इन सब का स्वरूप, स्पष्ट रूप से, उल्टवासियों के द्वारा समझा जा सकता है।

उल्टवासियों की परम्मपरा का स्वरूप अत्यंत प्राचीन है। इनका रूप हम वैदिक साहित्य में यदा-कदा प्राप्त कर सकते हैं। ऋग्वेद में देवमाता 'अदिति' की वंदना में कहा गया है कि 'अदितिद्यौरदितिरन्तरिक्षमदिति माता स पिता सपुत्रः[३]।' अर्थात् अदिति माता है, पिता है, अदिति माता-पिता की पुत्री भी है। अदिति का माता तथा पुत्री होना असंगत नहीं है। इसका एक तात्विक अर्थ है। यह कहना अत्यंत दुर्लभ है कि जगत्पिता एवं जगन्माता में प्रथम कौन आया? अदिति तथा अन्य प्राचीन देशों की अदिति के समान देवियों ने अपने पुत्र तथा पिता को ही अपना पति माना है। ऋग्वेद में दक्ष अदिति के पुत्र होकर भी अदिति के पति हुए तथा साथ ही पिता भी। ऐतरेय ब्राह्मण में तथा अन्य ग्रन्थों में आदि पुरुष प्रजापति ने अपने शरीर से ही अपनी पुत्री उत्पन्न की और फिर उसे अपनी पत्नी बनाया।[४] यह पुत्री तथा पुत्र से विवाह करने की प्रथा का प्रचार स्वाभाविक था क्योंकि यदि सृष्टि का आरम्भ

१—हिन्दी साहित्य, ले० संतकाव्य द्वारा डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २३७।
२—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, द्वारा डा० बड़थ्वाल पृ० ३७५।
३—ऋग्वेद १।८६।१० उद्धृत हिन्दू धार्मिक कथाओ का भौतिक अर्थ, पृ० १४
४—हिन्दू कथाओं के भौतिक अर्थ, द्वारा त्रिवेणी प्रसाद, पृ० १५।
प्रजापति का इसी प्रकार का वर्णन उपनिषद् में दे० पीछे, अध्याय १ में।

किसी पुरुष देवता से हुआ तो फिर उसकी स्त्री भी उसके द्वारा निर्मित उसकी पुत्री ही हुई। इसे ही फ्रायड ने 'ओडीपस' ग्रंथि कहा है जिसका विवेचन अध्याय द्वितीय में हो चुका है। इसी प्रकार यदि सृष्टि का आरम्भ किसी स्त्री शक्ति से हुआ तो उस स्त्री के पति उनसे उत्पन्न उनके पुत्र हुए। ये सब संबंध मिथुनपरक तत्व पर आश्रित हैं क्योंकि सृष्टि का रहस्य इतना निगूढ़ है कि उसको व्यक्त करने के लिए ऋग्वेदादि ग्रन्थों में ऐसी अद्‌भुत कल्पनाएं की गई हैं। इसी कारण, इन उल्वासियों को डा० रामकुमार वर्मा ने अर्थ विपर्यय रूपक या प्रतीक रूपक की संज्ञा दी है[1]। फारसी में भी ऐसे अर्थविपर्यय रूपकों का संकेत प्राप्त होता है। इन उल्टवासियों के प्रति फारसी के कवि इजुलफ़रीद ने अपने ३६६वें गीत में कहा है कि इन प्रतीक-रूपकों का भाव सामान्य भाषा में कैसे कहा जा सकता है? मुस्कान शब्दों में कैसे बाँधी जा सकती है।[2]

संतों ने (विशेषतया कबीर ने) अपने काव्य में इन अर्थविपर्यय रूपकों का अत्यधिक प्रयोग किया है। इनमे मानवेतर प्राणियों एवं पदार्थों की योजना (मानवीय संबंध भी) अनेक अतार्किक रूपों मे प्राप्त होती हैं। इन उल्टवासियों में कुछ प्रतीक योजनाएँ योगपरक हैं, कुछ तात्विक चिंतन पर आश्रित हैं, कुछ उपदेशात्मक हैं और कुछ मानव एवं संसार पर आधारित है।

(१) योगपरक उल्टवासियों में प्रतीक योजना

सुरति-शब्द-योग के प्रतीकों पर प्रथम ही विचार हो चुका है। कबीर ने योगपरक उल्टवासियों में उन्हीं प्रतीकों के अर्थों को प्रकट करने के लिए उल्टी पद्धति का सहारा लिया है।

उदाहरण स्वरूप कबीर का एक पद लें—

जल की मछरी तरवरि बिआई।
देखत कुतरा लै गई बिलाई॥
तले रे बैसा ऊपरि सूला।
तिस कै पेडि लगे फल फूला॥
घोरै चरि भैस चरावन जाई।
बाहरि बैलु गोनि घरि आई॥

१—हिन्दी साहित्य भाग २, लेख संतकाव्य डा० वर्मा, पृ० २३६।

२—वही, भाग २, वही, पृ० २३६।

कहत कबीर जु इस पद बूझै।
राम रमत तिसु सभ किछु सूझै ॥[१]

यहाँ पर यौगिक क्रिया का वर्णन मानवेतर प्राणियो तथा पदार्थों के द्वारा हुआ है। यौगिक क्रिया का मूलाधार कुंडलिनी है जो षट्चक्र भेदन कर मेरुदण्ड तक पहुँचती है। इसी का संकेत यहाँ किया गया है कि जल की मछरी (कुंडलिनी) अपनी क्रियात्मक शक्ति से तरुवर (मेरुदण्ड) को जनती है। आँखों के सामने ही कुत्ते (जीवात्मा जो अज्ञानी है) को बिल्ली (माया) उठाकर ले गई जो माया की शक्ति और उसके सामने जीव की निर्बलता की सुन्दर व्यंजना करता है। एक वृक्ष है (सुषुम्ना नाड़ी) जो नीचे तो बैठा हुआ है अथवा जिसके नीचे तो पत्ते हैं और ऊपर जड़े है, ऐसा पेड़ फल फूल से परिपूर्ण है (चक्र और सहस्रदल कमल)। घोड़ा (मन) तो संसार की विषय वासनाओं को ग्रहण (चरता) करता है और तामसी वृत्तियाँ (भैंस) उसे इन विषयो की ओर अग्रसर करती हैं। बैल (पंच प्राण) तो बाहर ही खड़ा रहता है और गोनि घर के भीतर (स्वरूप सिद्धि) स्वयं चली जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि पंचप्राण (इद्रियाँ) तो वाह्य जगत में निमग्न रहते हैं और मन के अन्दर जो परमतत्व की स्वरूप सिद्धि है, वह जीव के अज्ञान के कारण, उससे अलग ही रह जाती है। इस प्रकार कबीर का कहना है कि जो व्यक्ति इस पद में आये हुए प्रतीकों का मनन करेगा, वह ईश्वर में रमण करेगा अर्थात् उसे अपनी स्वरूप सिद्धि होगी। इसी प्रकार का एक अन्य पद भी है जिसमें कबीर ने गंगा (इड़ा) का समुद्र सोखना, चंद्रमा (अमृतस्राव) का सूर्य को ग्रसना (विषैले तत्वो का तिरोभाव करना), नवग्रिह (नवद्वार) को अधिकार में करके जोगिया (जोगी) का बैठना और बम्बई (कुडलिनी) का सरग (सहस्रकमल) तक जाना—इन सब योगपरक क्रियाओं का प्रतीकात्मक निर्देश है।[२]

इन योगपरक प्रतीकों का रूप तो अवश्य योग से संबंधित है, पर संतों ने इनका प्रयोग एक प्रकार से सहज-समाधि के पूरक रूप में ही किया है। सूक्ति रूप में योग प्रणाली का वर्णन कबीर ने एक स्थान पर किया है यथा, धरती का

१—संत कबीर सम्पादक डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ११२।२२ (प्रयाग-१९४२)।

२—कबीर-ग्रंथावली, पृ० ४७-१७६।

उलट कर आकाश को भेदना (ब्रह्मरंध्र प्रवेश[1]) जो सत्य में योग की क्रिया का संकेत है ।

(२) तात्विक उल्टवासियों में प्रतीक-योजना

कबीर आदि सन्तो में कुछ ऐसी उल्टवासियाँ प्राप्त होती है जो मानव से संबंधित है और कुछ ऐसी भी हैं जो तत्वचिंतन पर आश्रित हैं । जहाँ तक इन तात्विक उल्टवासियो के प्रतीकों का सम्बन्ध है जो माया, जीव, ब्रह्म और संसार के द्योतक हैं—उनका निर्वाचन मुख्यतः दो उपवर्गों में किया जा सकता है । प्रथम, वह वर्ग है जिनमें मानवीय सबंधो का एक अद्‌भुत अतार्किक रूप है और दूसरे वर्ग में मानवेतर प्राणियों के द्वारा तात्विक रूप की व्यंजना प्रस्तुत की गयी है ।

मानवीय संबंधों के प्रतीक

जैसा कि प्रथम संकेत किया गया, संतों ने सृष्टि एवं जगत् के रहस्य को समझाने के लिए ऐसे मानवीय संबंधो का आयोजन किया है जिसके द्वारा ब्रह्म, माया, जीव आदि के रूपों पर और उनके सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है । यह क्षेत्र मूलतः मानवीकरण का है । कबीर का एक पद लीजिए—

> जोइ खसमु है जाइआ । पूति बापु खेलाइआ ।
> बिनु स्रवण खीर पिलाइआ ।
> देखहु लोगा कलि को भाउ ।
> सुति मुकलाई अपनी माउ ।[2]

यहाँ पर खसम ईश्वर का, जाया (स्त्री) माया का, पुत्र अज्ञान का, बापु मन का और माता माया का प्रतीक हैं । यहाँ माया को सृष्टिपरक शक्ति का रूप दिया गया है, क्योंकि बिना माया के ईश्वर या देवता रूपों की सृष्टि असम्भव है । इसी की अभिव्यक्ति कबीर ने यह कहकर किया है कि स्त्री (माया) ने अपने स्वामी (ईश्वर अर्थात् देवताओं के अनेक रूपों) को जन्म दिया ।

सृष्टि तत्व का मूलरहस्य मिथुनपरक है जैसा कि प्रथम अध्याय में संकेत किया जा चुका है । इसी मिथुन भाव को सन्तों ने मानवीय रूपों के अनहोने संबंधों के द्वारा भी प्रदर्शित किया है । कबीर की यह पंक्ति—

१—बीजक, पृ० ७२ शब्द २ ।

२—संत कबीर, डा० वर्मा पृ० २३२।३ ।

एक अचन्भा हम ऐसा देखा जो बिटिया ब्याहल बाप ।[1]

स्वयं उपनिषदों में प्रजापति ने अपनी 'स्त्री' को उत्पन्न किया और फिर सृष्टि कार्य के लिए उसे अपनी पत्नी भी बनाया। इसी तथ्य की अभिव्यक्ति ऊपर का कथन है। अतः जीव तथा माया का यह सम्बन्ध एक ऐसा अज्ञानपूर्ण सम्बन्ध है जिससे जीव को शायद छुटकारा मिलना ही नितान्त भ्रामक है। जीव और माया की संसार में एक साथ आने की व्यंजना एक अन्य सम्बन्ध खसम (जीव) और नारि (माया) के द्वारा प्रदर्शित की गयी है।[2]

मानवेतर प्राणियों और वस्तुओं की प्रतीक योजना

संतों ने इन प्राणियों के द्वारा भी अनेक प्रकार के तात्विक निर्देश दिये है। ऐसे कुछ मानवेतर प्राणी हैं—चींटी, हाथी, सियार, गरुड़, दादुर, चूहा, बिल्ली, कुत्ता, गिद्ध, बैल आदि जिनका अर्थ प्राय: संदर्भ के अनुसार शरीर या जीव, मन, गुरु, जीव, माया, अज्ञानी, पंचप्राण आदि है। कबीर का एक पद है—

ऐसो हरि सो जगतु लरत है।
पांडुर कतहूं गरुड़ धरतु है ॥
मूस बिलाई कैसन हेतू।
जंबुक करै केहरि सों खेतू।
अचरज एक देखौ संसारा।
स्वनहा खेदै कुंजर असवारा ॥[3]

इसमें जितने भी कथन हैं वे सामान्यतः यह व्यंजित करते हैं कि माया का ससार पर पूरा अधिकार है और जीव सदा ही माया और अज्ञान से आवृत्त रहता है, ऐसी शक्तिशाली माया (हरिसों) से समस्त संसार युद्ध करता है। यह संघर्ष कैसे और किन-किन माध्यमो से चलता है, इसका संकेत पाडुर (जीव) और गरुड (माया), मूस (मन) और बिल्ली (माया), जंबुक (जीव) और केहरि (मन) एवं कुत्ता (अज्ञानी) और कुंजर (मन) के द्वारा दिया गया है। मन और जीव की इस असहायावस्था का वर्णन दादू ने भी एक उल्टवासी में किया है—

१—बीजक, शब्द ६८ पृ० १७४।

२—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २८०-५४। इसका विवेचन दे० पीछे तात्विक प्रतीकों में (माया के अन्तर्गत)।

३—बीजक, पृ० १२६।३६।

मूनैं यहै अचम्भौ थाये।
कीड़ीयै हस्ती विडरायो, तिन्हैं बैठी खाये ।। टेक ।।
नान्हीं हुगै ते मोटी थायौ, गगन मंडल नहि भाये।
मोटे रा विस्तार भणीजै, तेतौ केन्है जाये।[1]

यहाँ पर मनसा, कीडीये का रूप है जो माया का ही विस्तार है। मनको ये विषय-वासनाएँ (मनसा) बुरी तरह से क्षत विक्षत कर देती हैं। इसे ही देखकर दादू को बहुत अचम्भा होता है कि कीडिये (मनसा) हस्ती (मन-जीव) को क्षतविक्षत करके, उसे बैठी हुई खाती है। अतः यह छोटी कीड़े के समान (चीटी) मनसा नित्य प्रति अपना भोजन (मन से) पाते-पाते अत्यन्त मोटी हो गयी है। इसी से वह मन को परमज्ञान (गगन) के समीप नहीं जाने देती है। इससे बचने का केवल यही उपाय है कि मनसा के अप्रतिम विस्तार को रोका जाय जिससे कि उसकी शक्तिमत्ता अधिक वृद्धि को न प्राप्त हो।

(३) मानव शरीर तथा संसार से संबंधित प्रतीक-योजना

कुछ ऐसी भी उल्टवासियाँ प्राप्त होती हैं जो मानवेतर वस्तुओं एवं प्राणियों की योजना के द्वारा मानव जीवन तथा परिवर्तनशील संसार के अंधविश्वासों एवं कार्य-कलापों को रखती हैं। इन उल्टवासियों की प्रतीक-योजना मानवीय इंद्रियों, सांसारिक अंधविश्वासों तथा माया कालादि के समष्टि चित्र ही उपस्थित करती हैं। उदाहरण स्वरूप एक प्रतीक योजना है—

हरि ने पारे बड़े पकाये, जिन जारे तिन खाये।
ग्यान अचेत फिरै नर लोई, ताथै जनमि जनमि डहकाये। टेक।
घौल मंदलिया, बैल रबाबी, कउआ ताल बजावै।
पहिर चोलना गदहा नाचै, भैंसा निरति करावै।
स्यंघ बेठा पान कतरे, घूँस गिलौरा लावै।
उंदरी बपुरी मंगल गावै, कछुये आनन्द सुनावै ।।
कहै कबीर सुनहु रे संतो, गडरी परबत खावा।
चकवा बैठि अंगारै निगलै, समंद अकासै धावा ।।[2]

संदर्भ के अनुसार इस उल्टवाँसी की प्रतीक-योजना के द्वारा नरदेह या

१—स्वामी दादूदयाल की बानी, पृ० ४४८।२१३।

२—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ६२।१२।

मानव जीवन की पाँच ज्ञानेन्द्रियों के मध्य असंतुलन होने से अंतःकरण चतुष्टय विभिन्न दिशाओं की ओर गतिशील हो जाते हैं। इसी से मानव जीवन एवं व्यक्तित्व में विघटन शुरू हो जाता है। अतः इस विघटन एवं असतुलन से बचने का एकमात्र उपाय अपने मन को बस में कर, कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत कर, परमतत्व की ओर उन्मुख करना जिससे विश्वप्रेम का उदय हो। इसी भाव को यहाँ पर इस प्रकार कबीर ने रखा कि ईश्वर ने नरदेह या जीवन (बड़े) का दान दिया है और वही व्यक्ति उसका सदुपयोग कर पाता है जो उसकी इच्छाओं तथा वासनाओं का उन्नयन (जला देना) कर लेता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के धर्म भी अलग-अलग हैं जिसका संकेत मदलिया धौल, रबाबी बैल, ताल बजाता हुआ कौआ, नृत्य करते हुए गदहे और भैंसे से लिया जा सकता है। परन्तु यहाँ पर यह स्पष्ट नहीं है कि कौन सी ज्ञानेन्द्रिय किस प्राणी के द्वारा प्रकट की गयी है। इन्हीं बेतुकी कार्यरत इद्रियों के कारण व्यक्ति का अंतःकरण चतुष्टय भी असंतुलित क्षेत्रों की ओर उन्मुख होने लगता है। ये चतुष्टय है—पान कतरने वाला सिंह, गिलौरी लगाने वाला घूस, मंगल गाने वाली उदरी और आनन्द मनाने वाला कछुआ जिनका कार्यव्यापार एक असंतुलित रूप का द्योतक है। इन बेतुकी इन्द्रियों एवं अन्तःकरण चतुष्टय को, कुंडलिनी जाग्रत कर, परमतत्व की ओर लगाना ही सहज-समाधि का रूप है। इसी दशा में मन (चकवा) विश्वप्रेम के अंगारों को हृदयंगम कर सकता है। इसी भाव को एक अन्य उल्टवासी में व्यक्त किया गया है जिसे यहाँ पर देना प्रसंग का व्यर्थ ही विस्तार होगा।[1] संसार का एक ऐसा ही चित्र, कबीर ने, मानवेतर प्राणियों के द्वारा (नगर में बैल, चील, नाव, बिल्ली आदि) प्रस्तुत किया है जिसकी ओर प्रथम ही संकेत हो चुका है।[2]

(४) उपदेशपरक उल्टवासियों में प्रतीक योजना

इन प्रतीकों के द्वारा संतों ने उपदेश अथवा चेतावनी देने का प्रयत्न किया है। ये उपदेश या चेतावनी सामान्यतः जनजीवन के प्रति या संतों के प्रति कही गयी हैं। अतः इन उल्टवासियों में धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों के प्रति एक प्रकार की असंतोष-भावना भी दृष्टिगत होती है। उनका विद्रोह व्यंग्यपरक है। ऐसे ही व्यंग्यात्मक रूप का एक सुंदर चित्र उस समय प्राप्त

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ३०७।१४३।

२—बीजक, पृ० ४२८।२१ दे० तात्विक प्रतीक योजना (ससार के प्रतीकों में)।

होता है जब कबीर संतों या अवधू को संबोधन करते हैं और उनके धर्माडम्बरों एवं अंधविश्वासों के प्रति व्यंग्यात्मक उक्तियाँ रखते है जो नितात प्रतीकात्मक हैं यथा—

> अवधू ऐसा ज्ञान विचारं।
> भेरै चढ़े सूं अधधर डूबै, निराधार भये पारं ॥ टेक ॥
> ऊघट चले सु नगर पहूंते, बाट चले ते लूटे।
> एक जेवड़ी सब लपटाने, के बांधे के छूटे ॥
> मंदिर पैसि चहूं दिसि भीगै, बाहर रहै ते सूका।
> सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूखा ॥
> बिन नैनन ते सब जग देखै, लोचन अछते अंधा।
> कहै कबीर कछु समझ परी है, यह जग देख्या धंधा ॥[1]

हे संतो ! यह जग भी कैसा भ्रमपूर्ण है, ऐसा विचार कर तो देखो। वे मनुष्य जो अनेकानेक साधना पद्धतियों (या देवों) को लेकर इस संसार सागर को पार करने का प्रयत्न करते हैं, वे बीच में ही अपना मार्ग भूल कर डूबने की दशा तक पहुँच जाते हैं। जो एकात्म भाव से, एक ध्येय को, एक साधन (निराधार) को लेकर चलते है, वे संसार महोदधि को पार कर लेते हैं। जो बिना मार्ग के चलते हैं, वे परमपद (सुनगरि) तक पहुँच जाते हैं और जो अंधविश्वासों का सहारा लेकर बढ़ते है, वे बीच में ही लूट लिये जाते हैं अर्थात् उनके आध्यात्मिक गुणों का अपहरण हो जाता है। इस प्रकार वे सब के सब एक ही माया रूपी जेवड़ी के आधीन होकर इस तरह पथभ्रष्ट हो जाते हैं कि किसे माया से मुक्त कहें और किसे बँधे हुए ? माया से मुक्ति उसी समय हो सकती है जब अंतरात्मा का साक्षात्कार हो जाय (मंदिर मे भीगना) और ईश्वरीय रस से मन अप्लावित हो जाय (चहू दिसि भीजै)। दूसरी ओर वह व्यक्ति जो केवल मात्र वाह्य विषयों एवं वाह्य जगत में ही लिप्त रहता है, वह ईश्वरानुभूति से अछूता रहता है (बाहर रहे ते सूका)। सतगुरु के शब्दों को जिसने हृदयंगम कर लिया वह सदा सुख का अनुभव करता है और जो शब्द (सरि) से वंचित रहता है, वह दुखी ही रहता है। जो पुरुष इस शब्द रूपी वाण का आनन्द प्राप्त कर लेता है, वह बिना नयनों (अंतर्दृष्टि) के ही समस्त संसार के रहस्य को देख लेता है और जो

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १४७।४७५।

लोचन-युक्त होकर भी (केवल रूपराशि को देखकर) इस अंतर्दृष्टि से अछूता रहता है, वह आँख होते हुए भी अंधा है।

सत्य में, इस समस्त वितंडा का मूल कारण अज्ञान ही है जिसके वशीभूत होकर सत्य एवं ज्ञान भी नितान्त धूमिल हो जाते हैं। इसी भाव की व्यंजना एक अन्य उल्टवासी में देखिए—

पगा बिनु हुरीआ मारता।
बदनै बिनु खिर खिर हासता॥
निद्रा बिनु तरु पै सोवै।
बिनु बासन खीरु बिलोवै॥
बिनु असथन गऊ लवेरी।
पैडे बिनु बाट घनेरी॥
बिनु सतगुरु बाट न पाई।
कहु कबीर समुझाई॥[1]

यह अज्ञान कैसा है? यह बिना पैर के ही लात मारता है, बिना मुख के 'खिलखिला' के हँसता है, बिना निद्रा के मानव पर शयन करता है और बिना बर्तन (सत्य) के दूध (ज्ञान की बातों) का व्यर्थ मंथन करता है। 'सत्य' के बिना ज्ञान का स्वरूप अपूर्ण ही रहता है अथवा ज्ञान का महत्त्व "सत्य' के साक्षात्कार मे है।[2] बिना वास्तविकता के (स्तन) मोह माया (गाय) व्यर्थ ही दूध पिलाती है। बिना पथ (ज्ञान) के बहुत से संप्रदाय (मार्ग) हो गए है जो सत्य पर पर्दा ही डालते है। कबीर समझा कर कहता है कि बिना गुरु के सच्चा मार्ग नहीं पाया जा सकता है।

निष्कर्ष—

उपर्युक्त सभी खंडों की प्रतीक योजनाओं को समष्टि रूप से देखने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि सतकाव्य की भावभूमि में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति एक सबल माध्यम है। क्या लौकिक क्षेत्र, क्या आध्यात्मिक क्षेत्र, क्या उपदेश और क्या अन्य क्षेत्र—सभी क्षेत्रों में प्रतीकों का एक विशिष्ट स्थान दृष्टिगोचर होता है। धार्मिक मतों एवं दार्शनिक विचारों की जितनी सुंदर अभिव्यक्ति संतों ने अपने प्रतीकों के द्वारा सम्पन्न की है, वह प्रतीक-दर्शन की दृष्टि से अत्यन्त

१—सत कबीर, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २३२।३।

२—दे० अध्याय द्वितीय (धार्मिक प्रतीकवादी दर्शन में)।

महत्त्वपूर्ण है। उनके अनेक शब्द-प्रतीक जहाँ तत्त्व चिंतन की धारणा को स्पष्ट करते है, वही वे संतों के अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के भी परिचायक है। इन शब्दों की जड़े उस समय के समाज एवं धर्म में इतनी गहरी चली गई थी कि उनकी परम्परा कृष्णकाव्य तक और कुछ सीमा तक रीतिकाव्य तक अक्षुण्ण रूप से चलती रही। उनके ये शब्द-प्रतीक उनकी अपनी भावधारा के सुंदर द्योतक है। इन प्रतीको मे उनका जीवन-दर्शन, उनका अध्यात्म स्पंदित प्राप्त होता है। निरंजन, शून्य, सहज, नाम, लीला आदि जितने भी शब्द-प्रतीक है, उनमे उनके दार्शनिक चिंतन का केन्द्रीकरण भी प्राप्त होता है। वे केवल मात्र शब्द नहीं हैं पर वे उनकी भावधारा के प्रतिरूप से हैं। उन्होंने इन शब्दों के द्वारा जीवन में आध्यात्मिक 'सत्य' का उद्घाटन ही किया है। इस दृष्टि से, उनके अधिकाश शब्द-प्रतीक 'सत्य' के सहायक अंग हैं, वे माध्यम है सत्य तक पहुँचने के लिए। इस सत्य के साक्षात्कार में उन्होंने किसी भी विचारधारा को त्याज्य नही माना है, पर अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्ति के कारण, उन्हे 'सत्य' के सहज रूप में ही रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया है। एक वाक्य में कहे तो उनका समस्त दर्शन 'सहज' की भावभूमि पर ही आश्रित है, और सभी प्रतीक योजनाएँ इस 'सहज' की ओर उठी हुई अंगुली हैं।

ऐसे सहज का रूप उनकी नवीन प्रतीकोद्भावना में भी प्राप्त होता है। इन नवीन प्रतीकों का एक स्वस्थ रूप तात्विक, नैतिक, प्रेमपरक तथा उल्ट-वासियों के क्षेत्रों में देखा जा सकता है जहाँ पर कवियों ने एक जीवन-दर्शन का स्वरूप भी मुखर किया है। इस जीवन-दर्शन में रहस्यमयता, नैतिकता, आध्यात्मिकता और सामाजिक जागरूकता के दर्शन भी होते हैं। संतों ने अपने जीवन-दर्शन का विकास, प्रतीकात्मक रूप में, इन सभी क्षेत्रों की प्रतीक-योजनाओं से अनुस्यूत किया है। इनके प्रतीक यह स्पष्ट करते है कि एक स्वस्थ जीवन-दर्शन के लिए आध्यात्मिकता का समाजसापेक्ष रूप होना आवश्यक है। यही कारण है कि उन्होने उल्टवासियों के प्रतीकों, नैतिक प्रतीकों और प्रेमपरक प्रतीको के द्वारा आध्यात्मिक रूप में सामाजिक तत्व का स्पष्टीकरण किया है। इसी से संतो के प्रतीक सामाजिक रूढ़िवादिता के प्रति व्यग्य भी करते हैं। उनका यह विश्वास है कि बिना इस रूढ़िवादिता के तिरोहित हुए, समाज एवं धर्म का सत्य रूप मुखर नहीं हो सकता है।

आध्यात्मिकता का यह वाह्यपरक रूप उनके आंतरिक पक्ष का पूरक ही

है। उन्होंने अपने अन्तर्जगत को 'परमादि तत्व' में तल्लीन करने के लिए जिस रहस्यवाद की सृष्टि की, वह मूलतः आत्मिक है। इस रहस्यवाद में उनका प्रेम भाव, उनका अध्यात्म भाव अनेक प्रणय तथा मानवेतर प्रतीकों के द्वारा व्यंजित हुआ है। दाम्पत्य प्रतीकों के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि जीवात्मा नारी क्रमशः अनेक मानसिक एवं आध्यात्मिक स्तरों को पार करती हुई अपने 'परमप्रिय' से एकाकार हो जाती है—उसका यह अभियान, उस यात्री के समान है, जो अपने गंतव्य तक पहुँचने के लिए अनेक पथ के सोपानों को पार करता है। संतों के इन प्रणय प्रतीकों के बारे में हम कह सकते हैं कि वधू के मनोहर कक्ष में ही ईश्वर रूप पति का मिलन एक ऐसे रहस्यवाद की सृष्टि करता है जिसमें तात्विक चिंतन एवं अनुभूति का समन्वय है। यहाँ तात्विक रूप उन प्रेम-प्रतीकों में भी दर्शनीय है जो प्रकृति तथा मानवेतर प्राणियों की योजना से व्यंजित होता है। चिंतन प्रधान तात्विक रूप ब्रह्म, माया तथा संसार के बोधक प्रतीकों में साकार हो उठा है। कबीर आदि संतों के तात्विक विचार इन्हीं प्रतीकों में अनुस्यूत हैं जिनमें अद्वैत-दर्शन, समाज-दर्शन, सूफ़ी-दर्शन तथा भक्ति-दर्शन का एक अद्भुत समन्वय प्राप्त होता है। लीला एवं नाम तत्वों में उनका तात्विक भक्ति-परक रूप साकार हो उठा है।

अंत में, हम कह सकते हैं कि संतों ने 'प्रतीकों का पर्वत' ही खड़ा कर दिया है जिसकी चोटी पर पहुँच कर हम आध्यात्मिक एवं सांसारिक सत्य के 'भावचित्रों' को देख सकते है। इन भाव-चित्रों में जीवन सत्य है, जीवन का प्रकाश है और साथ ही जीवन के अंधकार पर कटु व्यंग्य भी है। संतों के प्रतीक, यथार्थ के अंचल से 'सत्य' के आवरण को धीरे से हटा कर, हमारी मनश्चेतना को एक नव-प्रकाश से भर देते हैं—शराबोर कर देते है।

पंचम अध्याय

सूफ़ी प्रेम काव्य में प्रतीक-योजना

(क) पृष्ठभूमि

संत काव्य की सम्यक् प्रतीक-योजनाओं के सिंहावलोकन से यह स्पष्ट होता गया है कि उनकी धारणाओं पर सूफी विचारो एवं तत्त्व निर्देशों का यदा-कदा प्रभाव पडा है। इसमें सबसे मुख्य प्रभाव 'प्रेम की पीर' का मानना चाहिए। इसका यह अर्थ नही है कि भारतीय परम्परा में प्रचलित प्रेम-भक्ति की धारा का संतों पर प्रभाव ही नही पड़ा है। सत्य तो यह है कि संत काव्य की आत्मा भारतीय प्रेम-भक्ति पर ही आश्रित है, परन्तु सूफी प्रेमधारा ने उस प्रेम-भक्ति में और भी अधिक तरलता एवं उल्लास का समावेश कर दिया। दूसरी ओर सूफियों पर भी भारतीय दर्शन एवं साधना पद्धति का कम प्रभाव नहीं पड़ा है। प्रतीक योजना एवं सृजन की दृष्टि से यह तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ईरान की सूफी परम्परा को सम्यक् हृदयंगम करते हुए इन भारतीय सूफी कवियों ने वेदात-दर्शन एवं योगपरक साधना-प्रणालियों का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है।

प्रतिबिंबवाद का रूप

सूफी काव्य के अनेक सूफी-प्रतीकों की पृष्ठभूमि में इस्लामी एकेश्वरवाद एवं प्रतिबिंबवाद की भावनाओं का एक स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। परन्तु, दूसरी ओर उनके प्रतीक कट्टर कुरानपंथियों एवं इस्लामी धर्म की रूढ़िवादिताओं के प्रति विद्रोह एवं असंतोष के माध्यम भी थे।[1] वे कट्टर क़ुरान-पंथियों से खुल कर विद्रोह नहीं कर सकते थे। इसी कारण उन्होंने गुह्य एवं गुप्त बातों का संकेत प्रतीक शैली में व्यक्त किया। इस प्रतीकवाद ने क़ुरान-पंथियों को यह प्रत्यक्ष रूप से नहीं जानने दिया कि यह विद्रोह उन्हीं के प्रति

१—तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ीमत द्वारा चन्द्रबली पाण्डेय, पृ० ६७ (बनारस १६४८)।

है। यह प्रवृत्ति हमें संतों में भी प्राप्त होती है जिन्होंने धार्मिक एव सामाजिक अंधविश्वासों और रूढ़ियों के प्रति प्रतीकों के द्वारा विद्रोह व्यंजित किया है।

सूफ़ी प्रतीकों में उनके कुछ ऐसे साधनात्मक प्रतीक हैं जो निजी उनके हैं। परन्तु उनका कोई न कोई साम्यपरक रूप भारतीय दर्शन में भी प्राप्त होता है यथा मुक़ामात, अवस्थाएँ, अल्लाह की धारणा, कुन, फ़ना आदि। दूसरे प्रकार के प्रतीक शुद्ध इस्लामी या सूफ़ी हैं जिनका सीधा संबंध ईरान, फ़ारस आदि देशो से है जैसे नूर, साक़ी, शराब, प्याला। सूफ़ी साधना के इन दोनो वर्गों के प्रतीक, सूफ़ी धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों एवं तात्त्विक संदर्भों का प्रतिनिधित्व करते है। प्रतिबिंबवाद एक ऐसा ही सिद्धान्त है।[1]

सूफ़ियों के अनुसार मानव के चार विभाग हैं जिन पर सूफ़ी साधना का प्रासाद निर्मित हुआ है। वे हैं, नफ़्स (विषय भोग) रूह, (आत्मा) क़ल्ब (हृदय) और अक़्ल (बुद्धि)। रूह के लिए क़ल्ब एक दर्पण है जिस पर उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है। अतः रूह (आत्मा) ही वह दर्पण है जिसमें ईश्वर का प्रतिबिंब भासित होता है। दूसरी ओर साधक का साध्यतत्त्व जगत से परे है, तब 'उसकी' अनुभूति कैसे प्राप्त करे ? यह अनुभूति वह 'ईश्वर' के प्रतिबिंब से प्राप्त करता है जिसका प्रतिबिंब इस सम्पूर्ण चराचर जगत पर पड़ता है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि दर्शन के क्षेत्र में जो प्रतिबिंबवाद है, वही भावना के क्षेत्र में आकर 'प्रतीक' का रूप धारण कर लेता है। दूसरे शब्दो में यही सर्वात्मवाद है जो सम्पूर्ण ब्रह्मांड में एक परमतत्व को व्याप्त देखता है। यही उपनिषदों में अद्वैत दर्शन है जो सम्पूर्ण भूतो को 'आत्मा' में ही देखता है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥[2]

अर्थात् जो सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है और समस्त भूतो में ही आत्मा को देखता है, वह इस (सर्वात्म दर्शन) के कारण ही किसी से घृणा नहीं करता है। अतः 'परमतत्त्व अल्लाह' ब्रह्मांड से परे भी है और उसके

१—दार्शनिक सिद्धान्त और प्रतीक के विवेचन पर देखिए द्वितीय अध्याय का अंतिम उपखंड।

२—ईशावस्योपनिषद्, पृ० २९ श्लोक ६ (उप० भा० खंड १)।

साथ भी है।[1] इसी से क़ुरान और सूफ़ी मत दोनों में ईश्वर की जगत्लीनता (इम्मेनेन्स) का समान महत्त्व है।[2] जब हम एकेश्वरवाद का विश्लेषण करते हैं तो उसमें भी यही धारणा व्याप्त पाते हैं कि एक सबसे महान् देवता, जो सृष्टि का पालन अथवा संहार करता है, वही सृष्टि का विस्तार 'शून्य' से करता है। अतः, एकेश्वरवाद में ईश्वर जगत् से पृथक् है तो प्रतिबिंबवाद में 'वह' जगत् से परे भी है और उसमें व्याप्त भी है। परन्तु दोनों सिद्धान्तों में 'ईश्वर' की सर्वशक्तिमत्ता का समान संकेत प्राप्त होता है। मेरे विचार से सूफ़ी काव्य के अधिकांश प्रतीक इन दोनों सिद्धान्तों के समन्वय पर आश्रित हैं। यही कारण है कि सूफ़ी प्रतीकों में वेदांत-दर्शन का भी तिलतंदुल रूप प्राप्त होता है, क्योंकि वहाँ पर भी 'ब्रह्म तत्त्व' की सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता और उसकी सृजनात्मकता का प्रतिपादन प्राप्त होता है।[3] सामान्यतः सूफ़ी विचारधारा भी एक परम सृजनात्मक शक्ति 'घत्' में विश्वास करती है जो हक़ (सत्य) का ही रूप है। ब्रह्म की सृजनात्मक शक्ति माया (घत् का रूप) के द्वारा व्यंजित होती है जो सूफ़ियों के 'हक़' की शक्ति है। यही 'घत्' है जिसके द्वारा 'परमतत्त्व' अपना विस्तार करता है। सूक्ष्म रूप से यह परमतत्त्व का मिथुन रूप भी कहा जा सकता है जिस पर हम प्रथम अध्याय में सविस्तार विवेचन कर चुके हैं। सूफ़ी काव्य में अल्लाह की भावना क्या थी, इसकी पृष्ठभूमि यहाँ पर स्पष्ट हो जाती है? अल्लाह की धारणा का विस्तार-पूर्वक विवेचन सूफ़ी प्रतीकों के अन्तर्गत किया जायेगा।

अतः सूफ़ियों का प्रतिबिंबवाद, एकेश्वरवाद, सर्वात्मवाद—सभी मूलतः अद्वैत भावना पर ही आश्रित हैं। यही कारण है कि सूफ़ियों का रहस्यवाद इन सब की मिली हुई अभिव्यक्ति है जिसमें अद्वैत भावना की प्रमुखता किसी न किसी रूप में प्राप्त होती है। सूफ़ियों के रहस्यवादी प्रतीक इसी तथ्य की अभिव्यंजना प्रस्तुत करते हैं।[4] इसी अद्वैत-दर्शन की आधारभूमि में सूफ़ी कवियों ने 'प्रेम पंथ' की धारा का सुंदर पुट दिया है जिसमें ईरानी रहस्यवादी

१—अल्लाह की भावना का यही रूप प्रो० वाइटहेड के 'गाड' में भी प्राप्त होता है जो विकासवादी दृष्टिकोण पर आश्रित है, दे० अध्याय द्वितीय तात्त्विक प्रतीकवादी दर्शन के अन्तर्गत।

२—स्टडीज़ इन तसव्वुफ़ द्वारा ख़्वाजा ख़ान पृ० १७।

३—दे० पीछे प्रथम अध्याय उपखंड 'ग' में 'ब्रह्म'।

४—रहस्यवाद और प्रतीक के संबंध पर दे० अध्याय द्वितीय उपखंड क।

प्रवृत्ति का भी योग प्राप्त होता है। इसका फल यह हुआ कि सूफ़ी काव्य में जहाँ एक ओर आत्मा का परमात्मा में एकाकार होना ध्येय है, वहीं उस तक पहुँचने के लिए अनेक मुक़ामों अथवा अवस्थाओं की भी योजना है। प्रेम-भाव की प्रगाढ़ अनुभूति के कारण इस रहस्यवादी परम्परा में सूफ़ी साक़ी, शराब और प्याले का भी समुचित स्थान है।

उपर्युक्त दार्शनिक पृष्ठभूमि के प्रकाश में सूफ़ी प्रेम-काव्य में प्रतीक की स्थिति का संकेत भी प्राप्त हो चुका है। सूफ़ी प्रतीकों की स्थिति मूलतः दो बातों पर आधारित है—एक तो, सूफ़ी तत्त्व चिंतन की समन्वायात्मक प्रक्रिया और दूसरे, उनकी कथारूपक की समान शैली जिनके द्वारा उन्होंने अपने प्रतीकों की काव्यात्मक स्थापना की है। अतः सूफ़ी प्रतीकों की स्थिति के बारे में यह कहा जा सकता है कि उनकी धारणा में समन्वयात्मक तत्त्वों का समावेश संत काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों से कम नहीं है। दोनों निर्गुण काव्यों की आत्मा—उनके प्रतीक यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत की है और प्रतीक उसी 'ज्ञान' की अभिव्यक्ति के माध्यम है।[1]

सूफ़ी काव्य के प्रतीकों की समन्वयात्मक पृष्ठभूमि के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि स्वयं किसी प्रतीक अथवा पद्धति विशेष में अंतर एवं विरुद्धता नहीं है—अंतर है तो केवल दृष्टिकोण का। स्वयं इरान आदि देशों के सूफ़ी साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि सूफ़ियों के रक्षक उनके प्रतीक ही थे। वे उनके द्वारा सत्य की खोज करते थे न कि उन्हे विद्रोह अथवा विद्वेष का माध्यम मानते थे।[2]

संतों के योगपरक प्रतीकों (शब्दों) की परम्परा

सूफ़ियों की यह समन्वयात्मक उदारता उनके योगपरक प्रतीकों में लक्षित होती है जिसे उन्होंने संतों की परम्परा से ग्रहण किया है। इन प्रतीकों की जड़े भारतीय साधना पद्धति में इतनी गहरी चली गयी थी कि सूफ़ियों को भी उन्हे समुचित स्थान, अपने दृष्टिकोण से देना ही पड़ा। संतों की सहज साधना सूफ़ियों की प्रेम-साधना की समानता में रखी जा सकती है।

कबीर और जायसी आदि के योग-प्रतीकों के प्रयोग में एक मूल अंतर ज्ञात होता है। सूफ़ी कवियों ने इन प्रतीकों को सामान्यतः साधक की

१—दे० द्वितीय अध्याय में ज्ञान और प्रतीक के अन्योन्य सम्बन्ध पर।

२—तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ी मत द्वारा चंद्रबली पाण्डेय, पृ० ९६-९७।

उस दशा में वर्णित किया है, जब वह किसी गढ़ का 'छेंका' करता है। दूसरी ओर कबीर आदि ने इन प्रतीकों का प्रयोग स्वतंत्र व्यक्तिगत साधना के रूप में किया है। अतः जायसी के योग प्रतीकों का वर्णन सापेक्ष्य है तो कबीर का निरपेक्ष्य।

इड़ा, पिंगला आदि

जायसी और नूरमोहम्मद के प्रेमकाव्यों में गंगा, यमुना और सरस्वती (त्रिवेनी) आदि योगपरक नाड़ियों का संकेत सिंहल गढ़ के वर्णन की सापेक्षता में ही प्राप्त होता है। गढ़ का छेकना, नाथों तथा संतों के चक्र भेदन का पर्याय है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना के परम्परागत द्योतक प्रतीकों का भी यदा कदा प्रयोग सूफी काव्य में मिल जाता है। जायसी ने पिंगला और 'सुषमन' नाड़ियों का नाम लिया है और उनके मिलन की स्थिति को 'सुन्न समाधि' की दशा भी कहा है।[1] इसके अतिरिक्त इड़ा और पिंगला नाड़ियों के द्योतक शब्दों (चांद, सूर्य) का भी उल्लेख प्राप्त होता है—

आजु चांद घरु आवा सूरू। आज सिंगार होइ सब चूरू।[2]

यहां चांद और सूर्य का योगपरक अर्थ उतना ध्वनित नहीं होता है जितना प्रेम या श्रृंगार संबंधी। परन्तु ध्यान देने पर स्पष्ट हो जाता है कि योग में चांद की स्थिति सहस्राधार कमल मे और सूर्य की मूलाधार चक्र में मानी गयी है। चांद से स्रवित अमृत विष का नाश करता है। अतः 'चांद का घरु' अमरता का प्रतीक है जहां पर साधक समस्त 'विषों' का नाश करता है और अपने साध्य तत्व से एकात्मक भाव की अनुभूति प्राप्त करता है। इससे भी स्पष्ट यौगिक क्रिया का वर्णन (चांद सूर्य का) एक अन्य स्थल पर प्राप्त होता है जो सूक्ति रूप में योग क्रिया को भी रखता है यथा—

होय मंडल ससि के चहुं पासा।
ससि सूरहिं लेइ चढ़ी अकासा॥[3]

अन्य प्रतीकों (गंगा यमुना) का संकेत सूफी काव्य में नहीं प्राप्त होता है (नूरमोहम्मद तथा जायसी में)। अस्तु, चंद्र और सूर्य के परम्परागत अर्थ

१—जायसी ग्रन्थावली, स० रामचद्र शुक्ल गढ़ छेका खड, पृ० ११४।

२—जा० ग्र० रत्नसेन पद्मावती विवाह खंड, पृ० १३६।

३—वही, पृ० १४४।

में उन्होंने 'रतिपरक' भावना का सन्निवेश कर, उन्हे नवीन अर्थ-तत्वों से युक्त करने का भी प्रयत्न किया।

चक्र, दसवं दुआर आदि

षट्चक्र भेदन पर आश्रित अनेक प्रतीक, जो संतो में प्राप्त होते हैं उनकी एक सम्यक् परम्परा हमे सूफी काव्य में प्राप्त होती है। जायसी ने चक्र भेदन का वर्णन सिंहलगढ़ को लक्ष्य कर इस प्रकार किया है—

सो गढ़ देख गगन ते ऊंचा। नैनन्ह देखा कर न पहूँचा॥
बिजुरी चंद्र फिरै चहुं फेरी। औ जमकात फिरै जमकेरी॥
धाइ जो बाग़ा के मन साधा। मारा चक्र भयउं दुइ आधा॥
पौन जाइ तहां पहुंचे चाहा। मारा तैस लौट भुंइ राहा॥[1]

इसमें गढ़ को गगन से ऊँचा कह कर 'ब्रह्मरंध्र' की स्थिति का संकेत किया गया है और 'पौन' (प्राणवायु) के द्वारा चक्रों का अर्ध हो जाना, नाथपंथी योग क्रिया का ही प्रतीकात्मक वर्णन है। सत्य में, नाथो के चक्र भेदन की क्रिया का प्रभाव जायसी पर स्पष्ट है जब वह 'गोरखनाथ' का जगह-जगह पर नाम लेते है।[2] जायसी ने 'ऊँचे चढ़ने' की सुदर व्यजना की है। इसका संकेत साधारण रूप से गढ़ से संबंधित होने के कारण (जो शरीर का प्रतीक है) सहस्रदल कमल का द्योतक है जहाँ से अमृत की वर्षा होती है। इस 'ऊँच' का महत्त्व स्वय जायसी के शब्दों में सुनिए—

दिन दिन ऊंच होय सो, जेहि ऊंचे परिचाउं।
ऊंचे चढ़त सो खसि परै, ऊंच न छाड़ै काउं॥[3]

श्वासनिरोधन की क्रिया से कुंडलिनी शक्ति जाग्रत होती है और साधक उसके द्वारा 'ब्रह्मांड' के परम प्रकाश का अनुभव करता है। नूर मोहम्मद ने इंद्रावती मे 'ऊँचे गगन' का और नवखंडों का वर्णन किया है—

राजै गढ़ नौ खंड बनावा। ऊंच गगन लगि ताहि उठावा॥[4]

१—जायसी-ग्रन्थावली, सिंहल द्वीप वर्णन, पृ० ७७-७८।

२—वही, जोगी खड पृ० ६०।

३—वहीं, सिंहल द्वीप खंड, पृ० ७६।

४—इंद्रावती द्वारा नूरमोहम्मद सं० श्यामसुदर दास, पृ० १५। नवखंड इस प्रकार है—कुरु, हिरण्यमय, रम्यक्, इला, हरि, भद्राश्व, किन्नर, भारत।

इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के संगम पर स्थित ब्रह्मरंध्र या गगन गुफा का एक अन्य रूप प्राप्त होता है जिसे कवि ने 'दसवं द्वार' की संज्ञा दी है—

दसईं द्वार न खोलत कोई।
तब खोलै जा मरमी होई ॥[1]

वही इस द्वार को खोल सकता है जो उसके 'मर्म' को जानता है। परन्तु नूर मोहम्मद ने इस प्रतीक को भी कुछ सूफियाना तरह से इस प्रकार रखा है—

आज उघारउं दसईं द्वारा।
दिष्ट परा यह पीतम प्यारा ॥[2]

यहाँ पर कबीर के राम या खसम की भावना भी स्पष्ट ध्वनित होती है।

अतः प्रिय के दर्शन हेतु और उसकी अनुभूति प्राप्त करने के लिए ब्रह्मरंध्र के द्वार को उघारना आवश्यक है। जायसी ने भी 'दसवं द्वार' का संकेत योग प्रणाली के अनुसार किया है—

दसवं दुआर ताल कै लेखा।
उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा ॥

नौ पौरी तेहि गढ़ि मंझियारा। औ तहां फिरहिं पांच कोतवारा ॥
दसवं दुआर गुपुत इक नाका। अगम चढ़ाव बाट सुठि बांका ॥
गढ़ कर कुंड सुरंग तेहि माहां। तहं वह पंथ कहौं तोहि पाहां ॥[3]

जायसी के इस दुर्ग-वर्णन में (शरीर में) नौ पौरी (खंड) के ऊपर 'दसवं दुआर' (ब्रह्मरंध्र) का जो संकेत प्राप्त होता है, वह गुप्त है। गढ़ के नीचे (शरीर के मूलाधार में) बनी हुई एक सुरंग का जो संकेत है, वह संदर्भ के अनुसार मेरुदण्ड के निम्नभाग में वर्तमान कुंडलिनी के प्रवेश द्वार का सूचक ज्ञात होता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि सूफ़ीकाव्य में चक्र-भेदन एवं योग-प्रणाली का प्रतीक रूप गढ़ वर्णन ही है जिसके अनेक अंशो एवं भागों को शरीर स्थित विभिन्न योग-केन्द्रों का प्रतिरूप बनाया गया है।

संतों में दसवंदुआर गगन का ही वाचक शब्द माना गया है (दे० पीछे संतकाव्य)। जिस प्रकार गगन में पहुँचे बिना शून्य की अनुभूति नहीं होती है

१—इद्रावती द्वारा नूरमोहम्मद सं० श्यामसुंदरदास, मालिन खंड, पृ० २७।

२—वही, दर्शन खंड, पृ० ८१।

३—जायसी-ग्रन्थावली, पार्वती महेश खंड, पृ० १०५।

उसी प्रकार 'दसवं-दुआर' के उघारे बिना प्रियतम की झलक प्राप्त करना और 'अगम चढ़ाव' तक पहुँचना, दोनों ही दुष्कर हैं। अतः संतों और सूफ़ियों में जहा तक ब्रह्मरंध्र का विषय है, दोनों का समान दृष्टिकोण प्राप्त होता है, केवल अभिव्यक्ति के माध्यम में विशेष अंतर है।

अमृत

साधक का परम लक्ष्य सहस्राधार में वर्तमान 'अमृत' का पान करना होता है। 'अमृत' अमरता का प्रतीक है जिसे पाकर न रोग ही रहता है न व्याधि ही। अमृत के इसी भाव को जायसी ने भी ग्रहण किया है जो उनकी प्रेम-साधना के कारण 'प्रेम-रस' (राम रस के समान-संतों) के रूप में दृष्टिगत होता है—

> राजा भये भिखारी, सुनि यह अमृत भोग।
> जेइ पावा सो अमर भा, न कछु व्याधि न रोग ॥[1]

कहीं कहीं पर अमृत का प्रयोग शुद्ध योगपरक अर्थ में भी प्राप्त होता है।

> जस सुमेरु पर अमृत मूरी। देखत नियर चढ़ति बड़ि दूरी ॥[2]

सुमेरु अर्थात् मेरुदण्ड पर अमृतरूपी 'मूरी' का संकेत है जिसे प्राप्त करना साधक का लक्ष्य होता है। सूफी काव्य में अमृत का प्रयोग, संतों की सापेक्षता में कम ही प्राप्त होता है। परन्तु यदि हम अमृत को 'प्रेमरस' के समान ग्रहण करें तो उसकी व्याप्ति समस्त कथा में प्राप्त होगी, क्योंकि प्रेम रस ही वहां पर अमृत है, सार है और मधु है।

अनाहद

सूफ़ी काव्य में अनाहद शब्द का प्रयोग संतों के समान ही प्राप्त होता है। जायसी में अनाहद को कहीं कहा पर केवल 'शब्द' ही कहा है जिसकी ध्वनि 'शिवलोक' तक पहुँचती है।

> औ विधि रूप दीन्ह है तोका।
> उठा सो सबद जाइ सिव लोका ॥[3]

इसी शब्द या ध्वनि का संकेत करते हुए जायसी ने एक अन्य स्थान पर उसे

१—जा० ग्र०, सिंहल द्वीप वर्णन, पृ० २०।

२—वही, अखरावट, पृ० ३५६।

३—वही, पार्वती महेशखंड, पृ० १२७।

अंग प्रत्यंग में व्याप्त भी कहा है, जिसकी ध्वनि नसनस में उठ रही है [1]। यह 'शब्द' जो योग का अनाहद है वह सूफियों के 'अनलहक़' का पर्याय सा लगता है। परन्तु जायसी तथा नूरमोहम्मद में 'अनाहद सबद', का स्पष्ट योगपरक अर्थ भी सुरक्षित प्राप्त होता है। नूर ने अनाहद नाद के बारे में यह कहा है कि इस नाद को केवल वही सुन सकता है जो सिद्ध है यथा—

नाद अनाहद अहद, सुनै अनाहद कौन।
सिद्ध होइ अपने गन, सुनै अनाहद तौन ॥[2]

जायसी ने भी अनाहद शब्द की 'झंकार' को ओंकार की 'धुनि' के बाद होना कहा है [3]। अतः सूफी काव्य में अनाहद उल्लास तथा आनंद का रूप है जिस प्रकार कबीर के लिए भी है।

सूफी काव्य में अनाहद का उपर्युक्त रूप एक अन्य प्रतीक के द्वारा भी व्यक्त किया गया है और वह प्रतीक है 'घड़ियाल'। नूरमोहम्मद ने मठ (ब्रह्मरंध्र) के ठीक ऊपर घड़ियाल की स्थिति बताई है—

मठ के ऊपर ठीक ही, घड़याली घड़याल।
निसि दिन बैठे साधै, घड़ा मुहूरत काल ॥[4]

यही रूप जायसी में भी है और वह भी अधिक स्पष्ट शब्दों में—

नव पौरी पर दसवं दुआरा। तेहि पर बाज राज घरियारा ॥
....
जब ही घरी पूज तेइ भारी। घरी घरी घरियार पुकारी ॥[5]

सूफी काव्य में जहाँ तक 'घरियार' का संबंध है, वह 'परमनाद' का ही प्रतिरूप प्रतीत होता है।

अलख

सूफी काव्य में अलख शब्द का प्रयोग संतों में प्राप्त 'अलख-निरंजन' का प्रतिरूप है। दूसरी ओर, सूफियों मे केवलमात्र शब्दार्थ (अ+लख) ही नहीं

१—जा० ग्र०, रत्नसेन सूली खंड, पृ० १२७।
२—इंद्रावती, मानिक खंड, पृ० १२।
३—अखरावट, पृ० ३६७।
४—इंद्रावती, स्वप्न खंड, पृ० १५।
५—जा० ग्र०, सिंहलद्वीप खंड, पृ० १९।

है पर उनका अलख शब्द रहस्यमय परमशक्ति, परम आदि तत्त्व, सृष्टिकर्ता के रूपों में, उनका 'अल्लाह' ही ज्ञात होता है। नूर मोहम्मद ने 'अलख' को नियति अथवा अदृष्ट के समान व्यजित किया है—

आगमपुर इद्रावती, कुंवर कलिंजर राय।
प्रेम हुते दोऊ कहं, दीन्हा अलख मिलाय॥[1]

इस रूप में अलख तत्त्व स्वयं एक अव्यक्त शक्ति सा प्रतीत होता है। जायसी में भी अलल का यही रूप है—न उसका नाम है और न ठाव।[2]

यही अलख-ब्रह्म कबीर का राम है, जो सूफी काव्य के सहज रूप में रूपान्तरित होकर, अल्लाह की भावना को समेटता हुआ 'अलख' के रूप में प्रकट हुआ। इसी अलख के साथ, साधक ने अलख-पंथ की भी अवतारणा की है जैसा कि नूर मोहम्मद ने एक स्थान पर स्पष्ट रूप से कहा है—

मुवा न कहै जियत है सोई। अलष पंथ जो जूझा होई॥[3]

सूफियों के लिए अलख एक ऐसी धारणा का रूप है जो प्रेमतत्त्व और परमतत्त्व के सम्मिश्रण से परमसाध्य रूप 'प्रिय' का प्रतीक हो गया है।

योगिनी, हस्तिनी आदि

महामुद्रा साधना की जो धूमिल परम्परा संतो में थी, उसी का पालन यदा-कदा सूफ़ियों में भी प्राप्त होता है। जिस प्रकार संतों ने महामुद्रा साधना के कुछ शब्दों को अर्थ-गाम्भीर्य दिया था, उसी प्रकार की प्रवृत्ति हमें सूफी काव्य में भी प्राप्त होती है। सूफी काव्य मे हमें मुद्राओं के अनेक रूप प्राप्त होते हैं, जबकि संत काव्य में योगिनी और डाइन रूप ही मुख्यतः मिलते हैं।

सूफ़ियों ने 'मुद्रा' शब्द का प्रयोग यदा-कदा किया है, वह भी केवल परम्परा पालन के तौर पर। जायसी ने अनेक योग साधना की वस्तुओं के 'नाम' के साथ 'मुद्रा' का भी नाम लिया है। इन वस्तुओं में मुद्रा के अतिरिक्त माला, बघछाला, मेखला, सिगी और रुद्राक्ष का नाम लिया गया

१—इद्रावती, पृ० ३ अथवा १४ भी, स्तुतिखण्ड।
२—जा० ग्र० अखरावट, पृ० ३४४।
३—इंद्रावती, फुलवारी खण्ड, पृ० ५४।

है।[1] नूर मोहम्मद में 'मुद्रा' का प्रयोग मेरे देखने में कहीं पर भी नहीं हुआ है। इस पारिभाषिक शब्द का अर्थ गौण हो चला था और उसका रूप भी सूफियों के समय तक लुप्तप्राय हो गया था या हो रहा था। अतः इस शब्द की कोई निश्चित धारणा सूफी काव्य में न होने से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इस शब्द का प्रतीकत्व जो थोड़ा बहुत संत काव्य में वर्तमान था, वह भी सूफियों तक आते-आते क्रमशः विलुप्त हो गया।

जायसी के 'पदुमावति' में योगिनी चक्र का संकेत प्राप्त होता है जो यह स्पष्ट करता है कि योगिनी की धारणा का पारिभाषिक अर्थ तब भी सुरक्षित था। मिथुनपरक तत्त्व की अपेक्षा साधनात्मक प्रभाव कहीं अधिक है यथा—

> अब सुनु चक्र जोगिनी, तेंपुनि थिर न रहाहि।
> तीसौ दिवस चंद्रमा, आठौ दिसा फिराहि॥[2]

अतः योगिनी का रूप 'कुछ' सीमा तक सिद्धों से मिलता भी है, पर सूफी काव्य मे महामुद्रा साधना का सर्वथा अभाव ही दृष्टिगत होता है। केवल महामुद्रा के कुछ नामों (नारी रूपों) का ही प्रयोग प्राप्त होता है। जायसी ने एक स्थान पर सभी नारी रूपों के नाम भी लिए है—

> इहां हस्तिनी संखिनी, औ चित्रिन बहु बास।
> कहां पद्मिनी पदुम सरि, भंवरि फिरै जेहि पास॥[3]

जायसी ने इसमें पद्मिनी प्रकार को सबसे उच्च स्थान दिया है। 'वह' उनको प्रेमपंथ के भी अधिक निकट पहुँचाती है जिसके द्वारा वह अपने साध्य की लोकोत्तर अनुभूति करने में सफल होते हैं। यही कारण है कि जायसी ने 'पद्मावती' को और नूरमोहम्मद ने 'इंद्रावती' को पद्मिनी प्रकार के अन्दर ही रखा है। जायसी ने ऐसी नारी को पद्म रंग का कहा है जिसमें सोलह कलाएँ अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति में प्राप्त होती है। वह न तो बहुत मोटी ही होती है और न बहुत दुबली ही।[4] नूर मोहम्मद ने भी पद्मिनी नारी को कंचन वर्ण का बताया है और मन को पूरी तरह से हरने वाली भी कहा है[5] और एक स्थान पर इंद्रावती को पदुमिनी नारी भी कहा है—

१—जा० ग्रं०, पृ० २० तथा ६०।
२—वही, रतनसेन बिदाई खण्ड, पृ० १६२।
३—वही, राघव चेतन दिल्ली गमन खड, पृ० २३६।
४—वही, स्त्री भेद खड, पृ० २३८।
५—इद्रावती, स्वप्न खण्ड, पृ० १४।

है पदुमिनि इन्द्रावति प्यारी। ताको वदन रूप फुलवारी ॥[1]

अतः पद्मिनी प्रकार में, सूफी कवियों के 'प्रियतम' रूप के भी अनेक गुण मिल जाते हैं जैसे सोलह कलाएँ, स्वर्णवत् रंग, रूप सागर आदि। अन्य रूपों में सूफी भावना का उतना विस्तार एवं विकास नहीं हो सकता था जितना पद्मिनी प्रकार में अपेक्षित था। इसका कारण अन्य नारी रूपों के 'गुणों' में समाहित प्रतीत होता है जो सूफी विचार-धारा के अनुकूल नहीं थी। उदाहरण-स्वरूप हस्तिनी नारी के गुणों को लीजिए। उसकी ग्रीवा छोटी और लंक मोटी होती है, वह मद से भरी हुई परपुरुष प्रेम में चतुर होती है,[2] आदि ऐसे गुणों से युक्त नारी लोकोत्तर स्वरूप की अनुभूति कैसे करा सकती है? इस अनुभूति के लिए चाहिए एक उच्चादर्श क्योंकि उसी 'आदर्श के आधार पर ऊर्ध्वगामी मानसिक क्षितिजों का आरोहण सम्भव हो सकता है। यही बात अन्य नारी रूपों के बारे में भी सत्य है। जायसी ने संखिनी नारी का चित्र इस प्रकार रखा—

उर अति सुभर खीन अति लंका।
गरब भरी मन करै न संका ॥[3]

यहां तक तो ठीक है पर आगे उसके गुणों में यह भी है कि वह पर-शृंगार को फूटी आंखों नहीं देख सकती, वह मास भक्षिणी है, वह सिंह की चाल से भूमि को हिला देती है।[4] यही बात यक्षिणी नारी के प्रति भी सत्य है जिसकी सिद्धि राघव चेतन जैसे शैतान को बतलाई गई है—

राघौ पूजा जाखिनी, दुइज देखावा सांझि ॥[5]

केवल एक नारी रूप चित्रिनी रह जाती है जिसकी तुलना या समकक्षता पद्मिनी नारी से की जा सकती है। वह 'महा चतुर रस प्रेम पियारी' है, सदैव प्रसन्न मुख रहती है, कभी रोष नहीं करती है। (रोष न जानै हंसता मुखी), वह एक पुरुष पर ही आसक्ति रहती है (एक पुरुष तजि आन न दूजा)। ये सब गुण एक शुभ नारी के ही है जो पद्मिनी के गुणों के समकक्ष रखे जा सकते हैं। जहां तक सूफी-कवियों का

१—वही, वही पृ० १६।
२—हि० जा० ग्र०, स्रीभेद खंड, पृ० २३७।
३-४—वही, पृ० २३७।
५—वही, पृ० ४२०।

प्रश्न है, उन्होंने पद्मिनी को ही उच्च स्थान दिया है, चित्रिनी को क्यों नहीं, जब वह भी उनके ध्येय को कुछ परिवर्तन के साथ पूरा कर सकती थी? इसका एक कारण था। वह यह कि उनका प्रिय रूप प्रथम तो परकीया है पर फिर स्वकीया हो जाता है जब कि चित्रिनी प्रारम्भ से ही स्वकीया है। एक अन्य मनोवैज्ञानिक कारण भी हो सकता है। सूफी कवियों को परम्परा से पद्मिनी नारी का आदर्श ही प्राप्त हुआ था। अतः उसके विरुद्ध वे न जा सके। उनकी मानसिक भावभूमि एक ऐसे आश्रय को चाहती थी जिसके द्वारा वे अपने सैद्धान्तिक धारणाओं को उस आश्रय में समाविष्ट कर सकें। यह रूप-साकारता, उनकी मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार सूफी साक़ी का भी रूपान्तर किसी भारतीय रूप में चाहती थी जो उन्हें भारतीय स्वरूप पद्मिनी में प्राप्त हुई।

वज्र

संत काव्य में, जैसा कि संकेत किया जा चुका है, वज्र शब्द का अर्थ पारिभाषिक एवं नवीन दोनों प्रकार से प्रयुक्त हुआ है। सूफ़ी काव्य में वज्र शब्द का प्रयोग काफ़ी हुआ है और यही कारण है कि उसमें नये अर्थ तत्वों का भी समावेश प्राप्त होता है। अस्तु, सूफ़ी काव्य में वज्र के तीन प्रकार के प्रयोग मिलते हैं—

(१) कठोरता के अर्थ में

यह अर्थ संतों में भी प्राप्त होता है। कुलिश साधना के पर्याय रूप में इस शब्द का संकोचन क्रमशः होता गया और कहीं कहीं पर यह शब्द केवल कठोरता का वाचक ही रह गया। वज्र शब्द का प्रयोग जायसी ने योगक्रिया के अंतर्गत एक स्थान पर किया है—

नवौं खंड, नव पौरी, औ तहं वज्र-केंवार [१]।।

इस प्रयोग में कोई नवीन उद्भावना नहीं है, और न किसी नवीन अर्थ तत्व का समावेश ही।

(२) स्वतंत्र अर्थ में

जायसी ने इस शब्द का प्रयोग कहीं कहीं पर स्वतंत्र अर्थ बोधक शब्द के रूप में भी किया है। अतः यहाँ पर शब्द विशेष के भिन्न भिन्न लाक्षणिक

१—जायसी-ग्रन्थावली, सिंहलद्वीप वर्णन खंड, पृ०१६।

अर्थ स्पष्ट ध्वनित होते हैं। कहीं पर वज्र, प्रसंगानुसार, वज्र सत्य का हल्का सा प्रतिरूप ज्ञात होता है जो सिद्धों के बोधसत्व के शुद्ध बुद्ध चित्त का पर्याय माना जा सकता है—

वज्रहि तिन कहि मारि उड़ाई।
तिन्हहि वज्र करि देइ बड़ाई॥[1]

यहां पर वज्र एक शक्ति के रूप में प्रयुक्त हुआ है जो परम शक्ति का प्रतीक है। एक अन्य स्थान पर वज्र के उघारने की बात भी कही गई है[2]।

इन दोनों उदाहरणों में वज्र का परम्परागत अर्थ कुछ सीमा तक सुरक्षित ज्ञात होता है। दूसरी ओर कठोरता का तत्व भी समाहित प्राप्त होता है।

इन प्रयोगों के अतिरिक्त एक अन्य प्रयोग अस्त्र के रूप में भी मिलता है। आठ सिद्धों का भी अर्थ ग्रहण हो सकता है—

जावत दानव राच्छस पुरे। आठौ वज्र आइ रन जुरे॥[3]

ये समस्त अर्थ विविधताएं इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि वज्र शब्द के प्रतीकार्थ में अनेक अर्थ-तत्वों का सन्निवेश सूफ़ी काव्य तक हो चुका था और प्राचीन अर्थ के साथ नव अर्थों का समावेश भी हो गया था।

(३) विरहाग्नि के रूप में

जायसी आदि सूफ़ियों में विरह की भावना का अत्यन्त महत्व है क्योंकि विरह की अग्नि मे तपे बिना आत्मा प्रिय का साक्षात्कार नहीं कर सकती है। पूर्वराग विरह में 'बजागि' इसी विरहाग्नि का प्रतीक है—

बिरह बजागि बीच का कोई।
आगि जो छुवै जाइ जरि सोई॥[4]

इस विरह की लोकोत्तर अनुभूति जैसे नागमती के विरह में साकार हो उठी है—

बिरह बजागि बीच को ठेघा। धूम सो उठा साम भये मेघा।[5]

१—जा० ग्र०, स्तुति खण्ड, पृ० ३।

२—वही, राजा गढ़ छेंका खण्ड, पृ० ११६।

३—वही, रत्नसेन सूली खण्ड, पृ० १३३।

४—वही, पद्मावती सुआ भेंट खण्ड, पृ० ८८ तथा राजा रत्नसेन सूली खण्ड, पृ० १०८।

५—वही, नागमती संदेश खण्ड, पृ० १८३।

यहां पर हम सूफी कवियों की मौलिक उद्भावना का परिचय पाते हैं, जिन्होंने एक रूढ़ि प्रतीक को अपनी प्रेममयी भावना के अनुकूल एक नव अर्थ से समन्वित कर लिया।

सहज समाधि

सूफ़ी कवि की सहज-समाधि शुद्ध सहजयान की परम्परा की नहीं है। उसमें भी प्रेम भाव का पुट है, उसमें प्रियतम की स्मृति, विरह और मिलन का सुंदर समागम हुआ है।

सहज शब्द का स्वतंत्र प्रयोग जायसी तथा नूर मोहम्मद में बहुत कम हुआ है। जहां पर भी इन कवियों ने इस शब्द का प्रयोग किया है, वह प्रेम योग की भावभूमि से ही अन्य शब्दों के पर्यायवाची अर्थ के रूप में प्रयुक्त हुआ है। केवल एक स्थान पर नूर मोहम्मद ने 'सहज' का प्रयोग किया है जहां पर एक प्रासंगिक कथा में 'पवन' हीरा' की सुंदरता के प्रति मानिक नामक नायक से कहता है—

> सुघर सुंदर निमल तन, विमल सहज है ताहि।
> तेहि का पूछै चाहिए, रम्भा चेरी जाहि॥[1]

यहा पर सहज का अर्थ स्वाभाविकता अथवा 'परम भाव' से ही गृहीत होता है। इसके अतिरिक्त जो भी प्रयोग हुए हैं वे पर्यावयाची शब्दों के द्वारा ही हुए हैं जो 'सहज' की भावना के प्रतिरूप से प्रतीत होते हैं। एक स्थान पर जायसी ने 'दीठि समाधि' की चर्चा की है—

> दीठि समाधि ओहिं सौं लागी।
> जेहि दरसन कारन वैरागी॥[2]

प्रेम पंथ की दृष्टि से प्रिय में दृष्टि का एकात्म रूप से केन्द्रित हो जाना सहज समाधि का ही रूप है। प्रेम एवं विरह की मिश्रित अभिव्यंजना के कारण यह दृष्टि-समाधि एक प्रकार से सहज प्रेम-समाधि का रूप लगता है। यह समाधि आन्तरिक समाधि है जिसमें मन की समस्त प्रवृत्तियां एवं इच्छाएं एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाती हैं। जब मन एक ध्येय और एक साध्य के प्रति

१—इद्रावती, मानिक खण्ड, पृ० १३७

२—जा० ग्र० मडप गमन खंड, पृ० ८१।

केन्द्रीभूत हो जाता है, तो वही 'मन-समाधि' की दशा हो जाती है। इस मन-समाधि का संकेत जायसी ने एक स्थान पर किया है—

> मन-समाधि तासौं धुनि लागी।
> जेहि दरसन कारन बैरागी॥[1]

कहीं कहीं इस मन-समाधि की सहजावस्था को सुख-समाधि की भी संज्ञा दी गई है। उसमें प्रेमी-साधक के हृदय की धड़कन व्याप्त है, मिलन की आकांक्षा का उत्साह है, परमानंद की धारा का उद्दाम वेग है—प्रिय के निकट आने की सम्भावना से—

> सुख-समाधि आनंद घर, कीन्ह पयाना पीउ।
> थरथराइ तन कांपै, धरकि धरकि उठि जीउ॥[2]

उपर्युक्त समाधि का रूप मूलतः आंतरिक जगत से संबंधित है। दूसरे शब्दों में, इस सहज-रूप समाधि में प्रेम योग की अभ्यांतर साधना का सुंदर समन्वय है, उसमें सूफी 'इश्क' की भावना अंतर्हित है। ऐसा सुन्दर शब्द-प्रतीक सूफ़ी साधना की ही देन है।

शून्य

जिस प्रकार संतकाव्य में शून्य परमतत्त्व और परमज्ञान का प्रतीक माना गया था, उसी प्रकार सूफ़ी कवियों ने इसे परमतत्त्व का रूप माना है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं पर शून्य को परमधाम या परमपद के रूप में अपनाया गया है। शून्य का परम-पद के अर्थ में प्रयोग नितान्त स्पष्ट नही है, पर संदर्भ के अनुसार और अपनी स्थिति के प्रकाश में वे 'धाम,' 'शून्य धाम' के वाचक शब्द माने जा सकते हैं।

परमतत्त्व रूप में

जायसी ने शून्य शब्द का प्रयोग एक स्थान पर योगपरक अर्थ में भी किया है—

> कहां पिंगला सुषमन नारी।
> सूंनि समाधि लागि गई तारा॥[3]

१—वही, रत्नसेन सूली खंड, पृ० १२७।

२—वही, रत्नसेन बिदाई खंड, पृ० १ ३।

१—जा० ग्रन्थावली, राजागढ़ छेका खंड पृ० ११[illegible]।

यौगिक प्राणायाम से संबधित इस 'शून्य' शब्द का कम ही प्रयोग सूफ़ी काव्य में प्राप्त होता है। उसका स्वरूप मूलतः परमतत्त्व रूप है जो संतों के अधिक निकट है अपेक्षाकृत नाथों से या सिद्धों से। शून्य की धारणा का जो भी रूप प्राप्त होता है उसका प्रतिनिधित्व जायसी का अखरावट करता है। जायसी ने 'अनहद सुन्न' को साधक की वह अवस्था मानी है जहाँ पर वह नितान्त एकनिष्ठ हो जाता है और इस प्रकार ऊर्ध्व मन की दशा में पहुँच जाता है—

अनहद सुन्न रहै संग लागे।
कबहुँ न बिसरै सोवे जागे ॥[1]

दूसरी ओर सुन्नावस्था को सिद्धावस्था का पर्याय भी ठहराया है—

जानि परै जेहि सुन्न, मुहमद सोई सिद्ध भा।[2]

अतः सूफ़ियों के लिए शून्य निराकार परमतत्त्व ब्रह्म का पर्याय है। वह एक प्रकार से एक सत्ता का स्वरूप है जहाँ 'अभाव' का स्थान नहीं है। दूसरी ओर, यहूदी तथा अन्य मतावलबियों के 'शून्य' में अभाव की भावना व्याप्त है जिससे कि भाव की उत्पत्ति हुई।[3] अतः सूफी काव्य का शून्य 'ब्रह्म भाव' के अधिक निकट है जिसमें सब भावो का अंतर्लय है। सूफी काव्य का शून्य संतों के शून्य से भी मेल खाता है जब जायसी कहते हैं—'निरखि सुन्न महं सुन्न समाई।'[4] यह शून्य की धारणा सूफी विचारधारा के भी निकट है, क्योंकि सूफ़ियों के अनुसार भी परमतत्त्व अल्लाह अपने में स्वयं ही समाया हुआ है, वह आप में ही 'आप' को देखता है। वह प्रथम भी है और अंत भी, वह सब कुछ है। क़ुरान के शब्दों में—

'वह आदि है और अंत भी, आतरिक है और वाह्य भी और वह सब कुछ जानता है।'[5] इस प्रकार वह अद्वितीय है जिसमें अनेकता का अभाव है। कठोपनिषद् का यही कथन है—

१—वही, अखरावट, पृ० ३७३।

२—वही, अखरावट, पृ० ३६५।

३—सूफ़ी मत और हिन्दी साहित्य द्वारा डा० विमलकुमार जैन पृ० ४०।

४—जा० ग्रन्थावली, अखरावट, पृ० ३५२।

५—उद्धृत हिस्ट्री आफ़ फ़िलासफी, ईस्टर्न एंड वेस्टर्न, पृ० १७७ सं० डा० राधाकृष्णन् वाल्यूम २ (लंदन १९५३)।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥[1]

अर्थात् मन से ही यह तत्त्व प्राप्त करने योग्य है, इस ब्रह्मतत्व में नाना कुछ भी नहीं है, जो पुरुष इसमें नानात्व सा देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। इस प्रकार शून्य तत्त्व के अर्थ-साम्य का इतना विशाल क्षेत्र सूफ़ी के शून्य-रूप परमतत्त्व-सत्ता में प्राप्त होता है। इतना होते हुए भी इस शब्द-प्रतीक की भारतीयता का यहाँ पर भी हनन नहीं हुआ है, जैसा कि स्पष्ट है।

परमपद के रूप में

यह रूप हमें यदा कदा कथा-प्रसंग में वर्णित स्थानों में प्राप्त होता है। उनकी संदर्भानुसार स्थिति परमपद के समान ही ज्ञात होती है, साधक की सारी साधना का अन्तिम लक्ष्य उसी 'परमधाम' तक पहुँचना होता है। नूरमोहम्मद और जायसी दोनों ने इन काल्पनिक स्थानों को परमधाम का प्रतीक माना है। नूरमोहम्मद ने ऐसे ही स्थान को 'आगमपुर' कहा है जो सिंधु के पार है। सिंधु इस नामरूपात्मक संसार का प्रतीक है और आगमपुर इस संसार से परे एक शून्य धाम का—उपनिषद् कथित ब्रह्मधाम[2]—का पर्याय है। इसकी तुलना सिंहलद्वीप (जायसी) से भी होती है, जो समुद्र के पार बसा है।

इस परमधाम को सूफ़ी कवियों ने अन्य नामों से भी सम्बोधित किया है। ऐसे मुख्य शब्द कैलास[3] और अटारी[4] हैं।

अतः सात खंडों के ऊपर, या 'नारि-सेज का सुख रासि' या 'सासुर कबिलास'—ये सब संज्ञाएँ परमपद की ओर संकेत करती हैं। इनमें से कुछ रूपों में सूफ़ी प्रेमिका के उच्चतम निवास-स्थान की ओर भी संकेत प्राप्त होता है। ऐसे ही परमपद की ओर एक सूफ़ी कवि 'अत्तार' का निम्न वर्णन कितना साम्य रखता है :—

'संयोग से एक दिन उन्होंने एक बहुत ऊँची अट्टालिका देखी जिसमें एक

१—कठोपनिषद्, अध्याय २, बल्ली १, पृ० ११८।११ (उप० भा० खण्ड १)।
२—दे० पीछे अध्याय प्रथम, उपखण्ड 'ग' में।
३—इंद्रावती, नहान खण्ड, पृ० ६३।
४—जा० ग्रं० रत्नसेन भेंट खण्ड, पृ० १४६ तथा बोहित खण्ड ७०।

लड़की बैठी थी। वह लड़की (जिसका नाम गुबरा था) मुख की पवित्रता के प्रकाश में देदीप्यमान हो रही थी।

सूर्य उसके सौंदर्य के आगे लज्जित होकर फीका पड़ जाता था।'[1]

उपर्युक्त संतों के परम्परागत प्रतीकों के विश्लेषण से उनके धारणात्मक एवं भावात्मक रूप का यथोचित स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। साथ ही सूफ़ी कवियों की दृष्टि का समावेश भी उनकी धारणा को और भी व्यापक रूप प्रदान कर देता है। सूफ़ी काव्य की इस विहंगम पृष्ठभूमि के प्रकाश में हम सूफ़ी कवियों की प्रतीक-योजनाओं को निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं जिससे उनके विवेचन में सुविधा हो :—

(१) सूफ़ी साधना की प्रतीक-योजना।
(२) प्रेम परक तथा रूप-सौंदर्य की प्रतीक योजना।
(३) समासोक्तियों तथा प्रसंग कथाओं के प्रतीकार्थ।
(४) कथा-पात्रों का प्रतीकार्थ।

(ख) सूफ़ी साधना की प्रतीक योजना

पृष्ठभूमि के अंतर्गत सूफ़ी विचारधारा का सिंहावलोकन यह स्पष्ट कर देता है कि हिन्दी काव्य में सूफ़ीमत के अनेक प्रतीकों का स्थान प्राप्त होता है। इन प्रतीकों में भारतीय दर्शन का भी स्पंदन प्राप्त होता है। इन प्रतीकों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) अल्लाह की धारणा तथा प्रतिबिंबवादी प्रतीक।
(२) संख्यावाचक प्रतीक योजना।
(३) प्रेमानुभूति के प्रतीक।

(१) परमतत्त्व की धारणा का स्वरूप तथा प्रतिबिंबवादी प्रतीक अल्लाह की धारणा

हिन्दी सूफ़ी कवियों ने परमतत्त्व की धारणा में, जैसा कि प्रथम संकेत किया गया, एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। सूफ़ियों ने परमतत्त्व को अल्लाह या ख़ुदा का नाम दिया है। जायसी ने अल्लाह की भावना में शून्य तत्त्व का भी यथोचित समन्वय किया है जिस पर मैं पूर्व ही

१—इरान के सूफ़ी कवि सं० बांकेबिहारीलाल, पृ० ११६।

विचार कर चुका हूँ ।[1] इसके अतिरिक्त जायसी आदि ने परमतत्त्व की धारणा में एकेश्वरवाद, प्रतिबिंबवाद एवं अद्वैतवाद का भी समन्वय किया है। जायसी ने भी 'उसे' सृष्टिकर्ता माना है—

गगन हुता नहिं महि हुती,
हुते चंद नहिं सूर।
ऐसे अंधकूप महं
रचा मोहम्मद नूर ॥[2]

अतः शून्य रूप (अंधकूप) परमतत्त्व की सत्ता ने अपने 'नूर' का विस्तार किया। अनादि तत्त्व के न पिता हैं और न माता, वह आपही सब कुछ है और 'आप' ही अकेला है। इस भाव की प्रतिध्वनि नूर मोहम्मद में भी प्राप्त होती है यथा—

आपु गुपुत और परगट, आप आदि औ अंत।
आपु सुनै औ देखै, कीन्ह मनुप बुधवंत ॥[3]

इसी प्रकार यह जग 'कर्त्ता की फुलवारी' भी[4] है जिसके द्वारा यह व्यंजित होता है कि यह समस्त चराचर विश्व 'उसी' की रचना है। इसी कर्ता ने मोहम्मद को जन्म दिया और अपने अंश का 'उसे' कुछ भाग भी प्रदान किया—

करता तोहि मोहम्मद कीन्हा।
आप सुभाग अंश तेहिं दीन्हा ॥[5]

इस्लाम धर्म में अल्लाह के भयपरक रूप की प्रधानता प्राप्त होती है। जायसी ने 'उसे' प्रेम रूप में ग्रहण किया है और उसे निकटतम प्रिय की कोटि तक पहुँचा दिया है। सूफ़ी कवियों का परमतत्त्व रूप, उन्ही के शब्दों में आंतरिक 'सत्य' या 'घत्' और वाह्य सत्य या 'शिफ़त' का समन्वित रूप है। यही घत् ही शिफ़त में परिणत होता है और सृष्टि करता है। यह अल्लाह का परमतत्त्व रूप 'अलिफ़' वर्ण के प्रतीकार्थ की ओर भी संकेत करता है।

१—दे० पृष्ठभूमि (क) में 'शून्य' के प्रतीकार्थ के अन्तर्गत।

२—जा० ग्रं०, अखरावट पृ० ३४३।

३—इंद्रावती द्वारा नूर मोहम्मद, स्तुति खण्ड, पृ० १।

४—वही, फुलवारी खण्ड, पृ० ५४।

५—वही, नहान खण्ड, पृ० ७९ तथा स्तुति खण्ड पृ० २।

'अलिफ़' अरबी के अठाइस वर्णों में प्रत्येक वर्ण में प्राप्त होता है जैसा कि देवनागरी वर्णों में 'अकार' की व्याप्ति होती है। यह 'अलिफ़' वर्ण सीधे तथा वक्र—दोनों प्रकार के वर्णों में समान रूप से समाहित है। इसका अर्थ यही है कि सत्य अस्तित्व की व्याप्ति अव्यक्त तथा व्यक्त, दोनों रूपों में समान रूप से प्राप्त होती है, जिस प्रकार अलिफ़ की व्याप्ति सीधे (व्यक्त) और वक्र (अव्यक्त) दोनों प्रकारों में प्राप्त होती है।[1] यही अलिफ वर्ण सृष्टि का आदि स्रोत है और साथ ही उसके निलय का भी।

प्रतिबिंबवादी तथा वेदान्त के प्रतीक

इस तात्विक रूप की पृष्ठभूमि में जायसी ने प्रतिबिंब का समावेश किया है। एक प्रेम संदर्भ के प्रसंग का उदाहरण लीजिए—

जनहुँ आहि दरपन मोर हीया।
तेहिं महं दरस दिखावै पीया॥[2]

इस तात्विक रूप की आधारशिला पर अन्य प्रकार के कुछ प्रतीकों का आयोजन प्राप्त होता है। एक प्रकार से इन प्रतीक योजनाओं में भी परमतत्त्व के अर्थ की व्यंजना प्राप्त होती है।

योग प्रणाली के अनुसार पिंड में ही ब्रह्मांड समाहित है। आत्मा में ही परमात्मा की विभूति व्याप्त है। संतों ने इस संबंध को प्रदर्शित करने के लिए ख़ालिक और ख़लक, बूँद और समुद्र, जल और कुंभ, हद और बेहद आदि की योजना की है जिन पर हम संतकाव्य में विचार कर चुके हैं। इसी भाव को सूफ़ी कवियों ने अन्य प्रतीकों के द्वारा, प्रतिबिंबवाद का पुट देकर, परम-तत्व की सर्वव्यापकता का रूप मुखर किया है। जायसी ने पानी भरी गगरियों और उनमें समान रूप से सूर्य के प्रतिबिंब पड़ने के दृष्टांत के द्वारा जहाँ एक ओर 'ब्रह्मतत्व' (अल्लाह) की सर्वव्यापकता का संकेत किया है, वहीं पर प्रतिबिंबवाद का अपनी प्रतीक योजना में सहारा लिया है :—

गगरी सहस पचास, जो कोउ पानी भरि धरै।
सूरुज दीपै अकाश, मोहम्मद सब महं देखिए॥[3]

१—स्टडीज़ इन तसव्वुफ़ द्वारा ख़ाजा ख़ान पृ० ६८।
२—जा० ग्र०, लक्ष्मी समुद्र खण्ड, पृ० २०२।
३—वही, अखरावट, पृ० ३७४।

इसी प्रकार 'पवन' और 'बुल्ले' की प्रतीक-योजना के द्वारा जायसी ने जल और कुंभ के संबंध का एक अन्य रूप भी प्रस्तुत किया है।

पवनहिं महं जो आप समाना। सब भा बरन ज्यों आप समाना ॥
पवनहिं माह जो बुल्ला होई। पवनहिं फुटै जाइ मिलि सोई ॥[१]

इन उदाहरणों में जहाँ एक ओर सूफी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है वहाँ अन्य उदाहरणों में वेदान्त दर्शन का भी स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। नदी और समुद्र का प्रतीकात्मक दृष्टांत—

नदी समाहि समुद महि आई।
समुद डोलि कहु कहां समाई ॥[२]

इसी प्रकार बूंद तथा समुद्र का प्रतीकात्मक रूप जो हमें संतों में भी प्राप्त होता है, उसका संकेत जायसी में भी प्राप्त होता है—

बुंदहिं समुदि समाना, यह अचरज कासो कहो।
जो हेरा सो हेरान, मोहम्मद आपहु आप मंह ॥[३]

इन उदाहरणों में विभिन्न प्रतीकों के द्वारा परमात्मा और आत्मा, पिंड और ब्रह्मांड और सम्पूर्ण सृष्टि तथा परमतत्व की अद्वैतता का संकेत प्राप्त होता है।

परमतत्व और प्रतिबिम्बवाद की इन योजनाओं के पश्चात्, तात्विक व्यंजना के हेतु सूफ़ी काव्य में कार्य ब्रह्म को व्यक्त करने के लिए 'वृक्ष' का प्रतीक-रूप ग्रहण किया गया है। यह प्रतीक हमें संतों में तथा 'अश्वत्थ वृक्ष' के रूप में उपनिषद् में भी प्राप्त होता है जिस पर हम पूर्व ही संकेत कर चुके हैं। जायसी ने सृष्टिक्रम का वर्णन सूफ़ियों की भाँति ही किया है। वृक्ष के दो पात्तों का प्रतीकार्थ चित् और अचित् हैं जिससे सूक्ष्म-तत्व (सरग) और स्थूल-तत्व (धरती) की सृष्टि हुई है जो विकास क्रम के परम माध्यम हैं।[४] इसी प्रकार चाक के रूपक द्वारा सृष्टि की रचना की ओर संकेत प्राप्त होता है—

१—जा० ग्र०, अखरावट, पृ० ३८० ।
२—वही, पद्मावती वियोग खण्ड, पृ० ८३ ।
३—वही, अखरावट, पृ० ३४८ तथा रूख और बीज का दृष्टांत दे० पृ० ३५२ पर।
४—जा० ग्र०, अखरावट, पृ० ३४२ ।

एक चाक सब पिंडा चढ़ै।
भांति भांति के भांड़ा गढ़ै ॥[1]

(२) संख्यावाचक प्रतीक योजना

सूफी साधना से संबंधित इन प्रतीकों का एक विशेष स्थान सूफी साहित्य तथा धर्म में रहा है। ये प्रतीक मूलतः परमतत्व के साक्षात्कार हेतु माध्यम रूप में ही मान्य हैं। सूफी साधना में साधक को अपने साध्य तक पहुँचने के लिए कुछ विशिष्ट अव्यवस्थाओं तथा मुक़ामातो से गुजरना पड़ता है। इस यात्रा में उसे अनेक बाधाओ एवं संकटों का सामना करना पड़ता है। सूफी विचार-धारा में साधक की इसी प्रगति का क्रमिक-रूप उनके मुक़ामात तथा अवस्थाएँ हैं जिनके द्वारा उसके आध्यात्मिक एवं मानसिक प्रगति की रूपरेखा भी स्पष्ट होती है।

चार अवस्थाएँ और सात मुक़ामात

सूफ़ियों की साधना पद्धति में सात मुक़ामातों का बहुत महत्व है जिन पर साधक क्रमशः रुक-रुक कर अपने 'साध्यतत्व' की ओर अग्रसर होता है। यदि प्रतीकात्मक विधि से कहा जाय तो ये 'मुक़ामात' साधक की विभिन्न मानसिक स्थितियाँ हैं। ये सात मुक़ामात इस प्रकार हैं—

१—पहला मुक़ाम वह है जहाँ पर मोमिन (साधक) शरिअत में विश्वास करता है जो उसे सेवा-भाव की ओर उन्मुख करता है। इस उन्मुखता से मोमिन एक प्रकार के 'अनुताप' का अनुभव करता है। इसे 'उबदियत्' की भी संज्ञा दी गई है।

२—इस मुक़ाम के बाद इश्क या प्रेम का स्थान है जो साधक को आत्म-ज्योति या आत्म संयम का वरदान देता है।

३—जब प्रेम का प्रकाश हो गया तब साधक संसार के वाह्य बंधनो का त्याग कर वैराग्य की उच्च दशा का साक्षात्कार करता है। इसे सूफ़ी शब्दावली में 'जुहुद' कहते हैं।

४—वैराग्य की किरण से ज्ञान का परम प्रकाश उत्पन्न होता है। यह ज्ञान व्यक्ति को मनोनिग्रह की 'स्थितप्रज्ञ' दशा तक ले जाता है। यह अंतः-करण का आह्लादकारी जीवन है। यही 'मारिफ़त' की दशा है।

१—वही, पृ० ३४६।

५—ईश्वरीय ज्ञान की अनुभूति हो जाने के बाद साधक का मन आनंद की मधुरिमा से परिव्याप्त हो जाता है। इसे 'वज्द' का नाम दिया गया है।

६—आनंदानुभूति के बाद या उसके साथ ही 'सत्य' का ज्ञान हो जाता है। इसे सूफ़ी शब्दावली में 'हक़ीक़त' की दशा कही गई है। इसके बिना मोमिन सातवें मुक़ाम तक पहुँचने में असमर्थ ही रहेगा।

७—इस अंतिम मुक़ाम में आकर साधक परमात्मा से अभेद दृष्टि की अनुभूति प्राप्त करता है जिसे 'वस्ल' की संज्ञा दी गई है। इस परम एकात्म भाव या अद्वैत दृष्टि को 'फ़ना' की अवस्था भी कहा गया है। फ़ना की परिभाषा इस प्रकार दी जाती है कि जहां पर साधक-यात्री के कार्य, गुण और तत्व क्रमशः अद्वैतभाव में परमात्मा के कार्य, गुण और तत्व हो जाते हैं। यहाँ पर साधक कामरहित या आप्तकाम हो जाता है। उपनिषद् में मोक्ष की धारणा भी कुछ इसी प्रकार की है।[1] फ़ना और मोक्ष की धारणा में मूलतः वे ही तत्व है जो समान रूप से दोनों में ही प्राप्त होते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि दोनों धारणाओं का ध्येय एकात्मभाव एवं सर्वात्मभाव है। इन समानताओं के अतिरिक्त मोक्ष तथा फना में एक सूक्ष्म अंतर भी है। उपनिषद् के कथनानुसार मोक्ष की स्थिति परमशांति की दशा है जहां समस्त इच्छाएं, कर्म एवं फल आदि तिरोहित हो जाते हैं। परन्तु फना में हर्षोन्माद का सहज उद्रेक सलिल प्रवाहिनी की तरह बहता रहता है। रहस्यवाद की दृष्टि से यही आनंदोद्रेक की परमदशा है जो मोक्ष में परमशान्ति की दशा है।[2]

इन सात मुक़ामों के कुछ पर्याय भारतीय साधना में भी मिल जाते हैं जिनकी ओर प्रसंगवश संकेत कर दिया गया है। एक अन्य दृष्टि से इन मुक़ामों की समानता योग-प्रणाली से भी हो जाती है। योगानुसार शरीर के अन्दर सप्तखंडों (चक्रों) की जो कल्पना की गयी है उनकी समकक्षता इन सात मुक़ामों से स्पष्ट रूप से की जा सकती है। इन सात मुक़ामातों की समानता सूफ़ियों की चार अवस्थाएं हैं जिन्हें शरीअत, तरीक़त, हक़ीक़त और मारिफ़त कहा जाता है जो क्रमशः प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि से मिलते हैं। इन अवस्थाओं को सूफ़ी कवियों ने बसेरे और निसेनी आदि संज्ञाओं से व्यक्त किया है।

१—बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय ४ ब्राह्मण ३, पृ० ९३८ (उप० भा० खंड ४)।
२—सूफ़ीमत और हिन्दी साहित्य, द्वारा डा० विमलकुमार जैन, पृ० ७५।

सूफ़ी साधना में यह यात्रिक आरोहण एक विशिष्ट तात्विक अंत-र्दृष्टि का परियाचक है। राडल्फ़ आटो के शब्दो में कह सकते है कि यह यात्रिक आरोहण ऊर्ध्व जीवन का एक नियम है—उसका एक परम रूप प्रारब्ध है [१]। इसी यात्रिक रूप जीवन को सूफी कवियो ने उपयुक्त प्रतीको के द्वारा व्यंजित किया है। सूफी कवियों ने इन विभिन्न प्रतीको का प्रयोग कहीं कहीं पर एक साथ भी किया है और उन्हे योग साधना की समकक्षता में रखने का प्रयत्न भी किया है। इसके अतिरिक्त इन संख्यावाचक प्रतीकों को कहीं कहीं पर स्वतंत्र रूप से स्थान दिया है। ये मुक़ामात एव अवस्थाएं मूल रूप से इरान के सूफ़ी कवियो में भी प्राप्त होती हैं। यही नहीं, पाश्चात्य काव्य में भी इन मुक़ामों का अपरोक्ष रूप प्राप्त होता है। 'दांते' की 'डिवाइन कामेडिया' में इसका एक स्थान पर संकेत मिलता है। जब महाकवि दांते मार्जन प्रवेश (Purgatory) में सात स्तरों का सविस्तार वर्णन करते हैं [२] जिससे होकर कवि तथा वर्जिल स्वर्ग की ओर चढ़ते है, तब स्पष्ट रूप से सूफ़ी मत के साथ मुकामों की समानता प्राप्त हो जाती है।

सूफी साधना में, आध्यात्मिक प्रगति के लिए, कष्टो तथा बाधाओं की योजना एक प्रमुख अंग है। इन बाधाओ की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति पर्वतों, नदियों, खोहो और नालो से की जाती है। जायसी ने एक स्थान पर स्पष्टतया इसका उल्लेख किया है—

ओहिं मिलान जो पहुंचे कोई।
तब हम कहब पुरुष भल सोई॥
है आगे परबत कै बाटा।
विषम पहार अगम सुठि घाटा॥
बिच बिच नदी खोह ओ' नारा।
ठावहिं ठांव बैठि बटपारा॥[३]

जायसी और नूरमोहम्मद में सात मुक़ामातों का वर्णन अधिकांशतः प्रतीकात्मक रूप में ही प्राप्त होता है। 'पद्मावति' में जायसी ने रत्नसेन को सिहलद्वीप जाते समय सात समुद्रों के पार करने का जो संकेत दिया है वह मूलतः इन्ही सात मुक़ामातों का प्रतिरूप है। यदि विश्लेषण करके देखा जाय

१—मिस्टिसिज़्म इस्ट एड वेस्ट, राडल्फ़ आटो, पृ० १५७।

२—कामायनी दर्शन डा० फ़तहसिंह, पृ० ४७४।

३—जा० ग्र०, जोगी खड, पृ० ६४।

तो कहीं कहीं पर जायसी ने इन समुद्रों के वर्णन में भयंकरता का भी समावेश कर दिया है। इन सात समुद्रों के नाम इस प्रकार हैं—खार (क्षार), खीर, दधि, जल, उदधि, सुरा और किलकिला।[1] इन सातों का वर्णन विस्तार-पूर्वक किया गया है जिनमें हमें प्रतीकात्मक रूप भी मिलता है। उदाहरण-स्वरूप दधि समुद्र का वर्णन लीजिए—

> प्रेम जो दाधा धनि वह जीऊ। दधि जमाइ मथि काढ़े घीऊ।
> सांस डांडि मन मथनी गाढ़ी। हिए चोट बिनु फूट न साढ़ी॥[2]

'दधि' तीसरे मुक़ाम का प्रतीक है जो 'इश्क' के बाद आता है। यहा पर साधक संसार के बंधनों से मुक्त हो, परमात्मा के समीप पहुँचने को होता है। यहां दधि का जमा कर घी का निकालना इसी सत्य की ओर संकेत करता है कि इस व्यक्त रूप राशि से ही परम ज्ञान रूप 'घृत' को निकालना ही काम-वासनाओं से मुक्त होना है। बिना वैराग्य को प्राप्त किए 'सत्यज्ञान' की अनुभूति नितान्त असंभव है। इस 'घी' का निकलना सांस और मन के समुचित निरोध पर ही अवलंबित रहता है। इसी प्रकार अन्य समुद्रों का वर्णन जायसी को अभीष्ट है। अंत में, सातवें 'मानसर' में आकर जीवात्मा के सम्मुख अज्ञानांधकार का आवरण नितान्त तिरोहित हो जाता है और परमसत्य की ज्योति सूर्य के समान विकीर्ण होने लगती है। यही फ़ना की दशा कही गयी है जहां सर्वात्मभाव अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है—

> गा अंधियार रैनि मसि छूटी।
> भा भिनसार किरन रबि फूटी॥[3]

इस प्रकार, जायसी ने जहां सात मुक़ामातों या सात समुद्रों के रूप में प्रतीकात्मक वर्णन किया है, वहां नूर मोहम्मद ने इन्हें 'सात बन' भी कहा है और अलग अलग उन वनों का नामकरण भी किया है—यथा—

(१) जंगल या वन,
(२) शब्द वन,
(३) सुगंध युक्त वन,
(४) फले बहुत फल देखे जहां—अर्थात् फल वन,

१—दे० वही, सात समुद्र खंड, पृ० ७२-७६।
२—वही, पृ० ७२-७३।
३—जा० ग्र०, सात समुद्र खंड, पृ० ७६।

(५) छोटे छोटे घास व कांटों का वन,

(६) व (७) वन में बसेरा; और कवि ने इन सात वनो के बाद मधुकर को देहन्तपुर या परमपद के दर्शन कराये हैं।[१] विदेशी सूफी कवियों में भी इन सात मुक़ामातो का यदा कदा वर्णन प्राप्त हो जाता है। सूफी कवि अत्तार ने इन सात मुक़ामों को सात घाटियां भी कहा है।[२] इन प्रतीकों की योजना में सर्वत्र इस तथ्य का संकेत प्राप्त होता है कि सूफी साधना में, चाहे वह भारत के सूफी साधक कवियो की साधना हो या किसी विदेशी कवि की, उन साधनाओं में जीवात्मा-साधक का रुकना या आराम करना अपनी 'मंजिल' को दूर करना ही होता है। इस प्रगति में अहर्निशि प्रयत्न की ओर सदैव मानसिक प्रवृत्तियों के उन्नयन की आवश्यकता है। इसी भाव को हाफ़िज़ ने अपने 'दीवान' में इस प्रकार रखा है—

'मुझे प्रियतम के मार्ग में आराम करने का क्या विश्वास है, जब कि क़ाफ़िला का घंटा सदैव बजता रहता है और लोगों को अपनी अपनी लादी लादने के लिए सचेत रहना पड़ता है।[३]

योग साधना में शरीर के अंदर जो सात चक्रो या खण्डों की मान्यता है उसकी तुलना सूफ़ियों के सात मुक़ामातों से की जाती है। सत्य में, यह सप्तक की धारणा का परमविकास हमें उपनिषदों के महान् ज्ञान भण्डार में ही प्राप्त होता है जहां सप्तप्राणो, सप्तऋषियों, सप्ताश्वों आदि की कल्पना मूलतः मानव मन के आध्यात्मिक स्वरूप का प्रतिरूप है।[४] इसी सप्त आरोहण को व्यंजित करने के लिए जायसी ने 'सात चढ़ाव' का वर्णन इस प्रकार किया है—

> कहौं सो तोहि सिंघलगढ़, है खँड सात चढ़ाव।
> फिरा न कोई जियति जिउ, सरग पंथ देइ पाव॥[५]

इसी प्रकार की भावना, कि शरीर के अन्दर ही सातों मुक़ामात हैं, एक विदेशी सूफ़ी कवि निजामी के इस कथन में प्राप्त होती है—

१—इंद्रावती, जोगी खंड, पृ० २६-२८।

२—हिन्दी साहित्य और सूफ़ी मत द्वारा डा० विमलकुमार, पृ० ७२।

३—ईरान के सूफ़ी कवि सं बांकेबिहारीलाल, पृ० ३१६।

४—पूर्ण विवेचन के लिए दे० अध्याय प्रथम उपखंड 'ग'।

५—जा० ग्रं०, पार्वती महेश खंड, पृ० १०५।

'मन रूपी उसी मंदिर में सात मार्ग थे और सातों सिलसिले भी वहीं थे।'[1]

इस प्रकार, सूफी कवियों ने सात मुक़ामातों का समान ही वर्णन किया है जो मूलतः निज़ामी के सात सिलसिलों तथा अत्तार की सात घाटियों के समान है। जायसी ने इन सात खंडों का नामकरण भी भारतीय नामों से निर्वाचित किया है जो इस प्रकार है—शनीचर, वृहस्पति, मंगल, अदिति, शुक्र, बुद्ध और सोम।[2] इन सात खण्डों में अंतिम सोम का पाट कहा गया है जो 'दसवें द्वार' का प्रतिरूप है। योग साधना में सोम से ही अमृत का प्रवाह होता है जिसे साधक पान करता है। इस तत्व को जायसी ने अतीव कुशलता से सूफ़ी मुक़ामातों से समन्वित किया है।

इन सात मुक़ामों के समकक्ष चार अवस्थाओं का स्थान भी सूफ़ी साधना में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जायसी ने, जैसा कि ऊपर के एक उदाहरण से स्पष्ट है, इन अवस्थाओं को 'चार बसेरे'[3] और 'चार निसेनी'[4] की संज्ञा प्रदान की है।

इन चार अवस्थाओं का वर्णन नूरमोहम्मद ने एक नितान्त भिन्न रूप में किया है—

एक सरीर मंदिर छबिधारी। दूसर है यह मन फुलवारी।
तीसरे माहिं जीव अस्थाना। चौथा जोति सदन हम जाना॥[5]

चौथी अवस्था (मारफ़त) को 'जोति-सदन' कहा गया है जहाँ परमज्ञान की ज्योति प्रकाशित होती है। तीसरी अवस्था में जीव हक़ीकत के अन्दर स्थान ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार शरीअत और तरीक़त क्रमशः प्रथम और दूसरी अवस्थाएं हैं। मारिफ़त की अवस्था फ़ना की दशा होने से 'प्रत्यक्ष रूप से सहज-समाधि' और 'परम मोक्ष' की दशाएँ ज्ञात होती हैं।

इन मुक़ामों तथा अवस्थाओं के अतिरिक्त सूफ़ी काव्य में अन्य संख्या-वाचक शब्द प्रतीकों की योगपरक तथा सूफ़ी-परक परम्पराओं का रूप भी प्राप्त

१—ईरान के सूफ़ी कवि, पृ० ८६।

२—जा० ग्र० अखरावट, पृ० ३५६।

३—जा० ग्र०, सिंहल द्वीप वर्णन खंड, पृ० १६।

४—वही, अखरावट, पृ० ३२०।

५—इंद्रावती, पाती खंड, पृ० ७१।

होता है। उदाहरणस्वरूप नौ नाका या पौरी, बारह मन्दिर, पांच हरकारा, चौबीस खंड आदि का संकेत भी प्राप्त होता है जो प्रसंगानुसार नव द्वार (इंद्रियां), अनाहत चक्र (जिसमें १२ दल होने हैं जो हृदय में स्थित रहते हैं), पाच कर्मेन्द्रियां, शरीर के चौबीस विभाग आदि के द्यौतक शब्द हैं।

(३) प्रेम भाव के प्रतीक—साक़ी, शराब आदि

इन प्रतीकों में सूफ़ी साधना का एक सबल भावात्मक रूप प्राप्त होता है। इसकी परम्परा हिन्दी तथा उर्दू साहित्य में अभी तक किसी न किसी रूप में प्राप्त होती है। जायसी और नूर मोहम्मद में इन प्रतीकों का प्रयोग कथा प्रसंग में ही हुआ है। अतः यह कहना अधिक समीचीन होगा कि इनका प्रयोग 'प्रेम-साधना' की अभिव्यक्ति में उस तत्वचिंतन का प्रतिरूप है जिसमें प्रेमी साधक और प्रेमी साध्य का तात्विक संबंध दृष्टिगत होता है। यह प्रेम साधना 'रति' एव 'काम' पर ही अधिक आश्रित है जिसका क्षेत्र लौकिक होते हुए भी अलौकिक एवं तात्विक है। इसी कारण से, सूफियों के आलम्बन प्रायः किशोर ही होते हैं, क्योंकि 'रति' का जितना मोहक एवं उल्लासपूर्ण सम्बन्ध किशोरावस्था से हो सकता है उतना अन्य अवस्थाओं से नहीं। सूफियों के साक़ी मूलतः किशोर ही होते हैं। माशूक़ा एवं साक़ी पर्यायवाची शब्द-प्रतीक हैं जो सूफ़ी प्रेम परक साधना में, रति के आलम्बन होने के कारण, परमात्मा या परमतत्व के प्रतीक माने गए हैं। हिन्दी सूफ़ी काव्य में साक़ी का वर्णन अपरोक्ष रूप में ही गृहीत हुआ है। उसका अन्तर्भाव कवियों ने 'प्रेमिका' के स्वरूप में किया है। सामान्यतः हिन्दी सूफ़ी कवियों ने नायिका की धारणा में ऐसा ही समन्वय प्रस्तुत किया है। जब माशूक़ा (साक़ी) प्रतीक है, तब उसके अंग प्रत्यंग भी प्रतीकात्मक अर्थ को व्यंजित करते हैं। जिन सूफ़ी कवियों ने भारतीय कथानको को लिया है उन्होंने नायिका के नख शिख, अंग-अंग को लोकोत्तर अर्थ देने का भरसक प्रयत्न किया है। अतः यह स्पष्ट करता है कि उन्होंने भारतीय नामधारी नायिकाओं को फ़ारस के साक़ी या माशूक़ा के रूप में चित्रित करने का भी प्रयत्न किया है।

साक़ी का कार्य है शराब का पिलाना (मै)। यह 'मै' एक तात्विक अर्थ की ओर संकेत करती है जिसका प्रतीकार्थ उल्लास है, अमृत है।[1] भारतीय शब्द जो इसका पर्याय है, वह सोम है जो अमरता या अमृत का प्रतीक है।

१—तसव्वुफ़ और सूफ़ी मत द्वारा चंद्रबली पाण्डेय, पृ० १०७

यह 'मैं' ही वह माध्यम है जिसके द्वारा परमात्मा और साधक में संबंध स्थापित होता है। वह शराब के द्वारा ही अतीन्द्रिय जगत में पहुँच जाता है और अपने 'परमप्रिय' से एकात्म भाव की अनुभूति करता है।

यह 'मैं' साक़ी और प्याला—सूफ़ी साधना के आधारस्तम्भ हैं। हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने इन्हें ग्रहण तो अवश्य किया है पर उनके काव्य में केवल-मात्र ये ही वस्तुएँ नहीं हैं—इनके अतिरिक्त भी उनमें और 'कुछ' है। अतः यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि सूफ़ी काव्य का एकमात्र ध्येय अपने काव्य को प्रियतमा, शराब और प्याले से ही आबद्ध करना नहीं था वरन् अपने काव्य को जीवन एवं जगत के कठोर सत्यों पर भी आश्रित करना था जो भारतीय परम्परा की एक प्रमुख विशेषता रही है। यही कारण है कि सूफ़ी काव्य में इन प्रतीकों का प्रयोग प्रसंगवश हुआ है। उनका वहाँ पर स्थान तो है पर एकछत्र साम्राज्य नहीं है जैसा कि हमें ऊमर ख़य्याम, अत्तार, हाली आदि सूफ़ी कवियों में प्राप्त होता है।

जायसी और नूरमोहम्मद ने अपने काव्यों में नायिकाओं को प्रियतमा का रूप दिया है। जायसी ने पद्मावती को प्रियतमा के रूप में चित्रित करते हुए, रत्नसेन के समागम पर 'मिलन-शराब' का जिक्र किया है—

> विनय करहि पदमावति बाला।
> सुधि न सुराही पियउ पियाला ॥[1]

इस कथन में सुरा का संकेत तो अवश्य है, पर साक़ी का रूप भारतीय प्रभाव के कारण दब-सा गया है। फ़ारस देशों की साक़ी कभी भी विनय नहीं करती, परन्तु जायसी ने, भारतीय प्रभाव के कारण नायिका को भी नायक के समान प्रेम विह्वल एवं प्रेम-प्रपीड़ित दिखाया है। यह जायसी की समन्वयात्मक प्रवृत्ति का परम सूचक है।

आनंद मिश्रित प्रेम रस का पीना ही मिलन में ध्येय होता है। साधक का बस यही लक्ष्य है कि उसे एक भरा हुआ शराब का प्याला मिल जाय तो उसका मानस जगत प्रियतमा के चरणों पर लोटने लगे—

> एक पियाला भरि भरि दीजै।
> मोल पियारी मानस लीजै ॥[2]

१—जा० ग्र० पद्मावती रत्नसेन भेंट खंड, पृ० १६०।

२—वही, पाती खंड, पृ० ७८।

यही भावना जायसी में भी प्राप्त होती है जब वे केवल मात्र सुरापान की इच्छा करते हैं, देने वाले के स्वरूप पर और उसकी स्थिति से उन्हें कोई सरोकार नहीं है।[१]

इस प्रेम मदिरा का संकेत रूमी ने भी किया है। वह कहता है, मैं प्रेम की मदिरा पान कर मदमस्त हो गया हूँ। दोनों जहां को त्याग चुका[२] हूँ। इसी मदिरा को पीकर जीवात्मा परमात्मा के महाअस्तित्व से संबंध स्थापित करती है। इसी भाव को सूफी कवि शब्सतरी ने भी जायसी की भांति, इस प्रकार रखा है—

'तू यह मदिरा पी जिससे अहंकार को भूल जाय और समझने लगे कि एक बूंद का अस्तित्व उस महासागर के अस्तित्व से संबंध रखता है।'[३] इन उदाहरणों से यह स्पष्ट भासित होता है कि हिंदी सूफी कवियों और ईरान के सूफी कवियों के भावों में कितना साम्य है। परन्तु इस साम्य के होते हुए भी सुरा का एक अन्य अर्थ भी सूफी कविता में प्राप्त होता है जो विप्रलंभ श्रृङ्गार से संबंध रखता है। कदाचित् अन्य विदेशी कवियों ने ऐसा प्रयोग नहीं किया है—

बहुत वियोग सुरा मैं पीया।
संयोगी मद चाहत हीया॥[४]

इसी प्रकार जायसी ने सुरा का प्रयोग एक अत्यन्त रहस्यमय रूप में किया है, उसने सात समुद्रों के वर्णन प्रसंग में[५] सुरा-समुद्र का भी संकेत किया है—इसको पान करने वाला व्यक्ति 'भावरि' लेने लगता है।[६]

सुरा-समुद्र भी सात मुक़ामातों में वह मुक़ाम है जिसे पार करने पर साधक 'प्रियतम-साम्य' से मिलनानंद की दशा तक पहुंचता है। अतः इन सब प्रयोगों के आधार पर यह कहना अत्युक्ति न होगा कि हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने 'सुरापान' के प्रचलित तात्विक अर्थ में अन्य अर्थों का भी समन्वय किया है।

१—ज० ग्र० रत्नसेन पद्मावती भेंट खंड, पृ० १६० तथा पृ० १६१ पर।

२—ईरान के सूफी कवि स० बांकेबिहारीलाल, पृ० १८८।

३—वही, पृ० २६०।

४—इंद्रावती, पृ० १७६।

५—१० मुक़ामाता के अन्तर्गत।

६—जा०ग्र० सात समुद्र खंड, पृ० ७६।

परन्तु यह समन्वय इतना सूक्ष्म है कि धरातल पर दृष्टिगत नहीं होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि सूफ़ी कवियों ने सुरा को नितान्त दूसरा अर्थ देने का प्रयत्न किया है वरन् उस रूढ़ अर्थ को नवीन अर्थों के स्पन्दन से अधिक व्यापक क्षेत्र का व्यंजक बनाया है।

साक़ी का सुरा से अन्योन्य सम्बन्ध है। हिंदी सूफ़ी कवियों ने अपनी नायिकाओं—पद्मावति एवं इंद्रावती को उसी की भावभंगिमा में रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया है। जायसी आदि में तथा अन्य विदेशी सूफ़ी कवियों में सबसे बड़ी समानता यही है कि दोनों धाराओं में 'प्रियतमा' का स्वरूप मूलतः रतिपरक, अथवा अधिक व्यापक अर्थ में कहें, तो अनुभूतिपरक है। दूसरी प्रमुख समानता जो दोनों धाराओं में प्राप्त होती है, वह है उन नायिकाओं के नख-शिख एवं विभिन्न अंगों को लोकोत्तर रूप प्रदान करना। इस दिशा में यह कहा जा सकता है कि भारतीय सूफ़ी कवियों ने ईरान तथा फ़ारस के कवियों की परम्परा को यथोचित रूप से ग्रहण किया है। उदाहरणस्वरूप 'केश' को ले सकते हैं। सूफ़ी मान्यतानुसार प्रियतमा के केश माया के प्रतीक हैं। इसी तथ्य की प्रतिध्वनि पद्मावती के रूप-सौंदर्य वर्णन में प्राप्त होती है—

> ससि मुख अंग मलयगिरि वासा।
> नागिन झांप लीन्ह चहुं पासा॥
> ओनई घटा परी जग छांहां।
> ससि कै सरन लीन्ह जनु राहां॥[1]

माया के इस छांह का क्षेत्र कितना विस्तृत है, इसकी व्यंजना कवि ने इस प्रकार की है—

> अस फंदवार केस के, परा सीस गिउ फांद।
> अस्टौ कुटी नाग सब, अरुझि केस के बांद॥[2]

इसी भाव का संकेत नूर मोहम्मद ने भी इंद्रावती के सौंदर्य वर्णन में सखियों के द्वारा करवाया है—

> एक कहा लट नागिन कारी।
> डसा गरल सो गिरा भिखारी॥[3]

१—वही, मानसरोदक खंड, पृ० २८।

२—जा०ग्र०, नखशिख वर्णन खंड, पृ० ४७।

३—इंद्रावती, फुलवारी खंड, पृ० ६०।

इन सभी उदाहरणों मे केश के प्रतीकार्थ की ओर संकेत प्राप्त होता है। विदेशी सूफ़ी कवि हाफिज़ ने भी केश का वर्णन इसी अर्थ में किया है—

'अपने मुख पर से अलकों को हटा ले जिससे तेरे रूप सुधा को पीकर संसार चकित हो जाय और प्रेम में मतवाला हो जाय। तुम्हारी प्रत्येक लट में पचास-पचास फंदे पड़े हुए हैं—भला यह टूटा हुआ हृदय उनसे किस प्रकार जीत सकता है।'[1]

इन सब प्रतीकात्मक संदर्भों के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी आदि में प्रियतमा का रूप उतना व्यक्तिगत नहीं है जितना विदेशी सूफ़ी कवियो में प्राप्त होता है। जायसी ने केश वर्णन के द्वारा जैसे व्यक्तिगत रूप के साथ-साथ उस विस्तृत क्षेत्र की व्यंजना प्रस्तुत की है जो समस्त चराचर प्रकृति को केश की सापेक्षता में अत्यंत मुखर कर देती है। यह बात केवल केश के बारे मे ही सत्य नही है पर अन्य अंगो के वर्णन में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति लक्षित होती है—

चतुरबेद मत सब ओहि पाहीं।
रिक, जजु, साम, अथरबन माहीं॥
एक एक बोल अरथ चौगुना।
इंद्र मोह, ब्रह्मा सिर धुना॥
अमर भागवत पिंगल गीता।
अरथ बूझि पंडित नहिं जीता॥[2]

यहाँ पर मानो साक़ी का पूर्ण भारतीयकरण ही कर दिया गया है। तात्विक दृष्टि से, परमतत्व से ही वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है जिसका एक-एक शब्द अनेक विस्तृत अर्थों की व्यंजना करता है। यह तो हुआ प्रियतमा की वाणी का विस्तृत प्रतीकार्थ। इसी प्रकार दंतपंक्ति पर जायसी का कथन लोकोत्तर अनुभूति को अत्यन्त स्पष्ट रूप प्रदान करता है।[3]

इन सब उदाहरणों से यह स्वयं साध्य है कि सूफ़ी कवियों ने किस प्रकार भारतीय प्रियतमा में साक़ी के तत्वों का समाहार किया है। मानसिक क्रियाओं में जहाँ एक ओर विश्लेषण की प्रवृत्ति होती है, वहीं पर विश्लेषित तत्वों में समन्वय की प्रवृत्ति भी दृष्टिगत होती है, इस विश्लेषण एवं समन्वय में चेतन

१—ईरान के सूफ़ी कवि, पृ० ३४८-३४९।

२—जा० ग्र०, नखसिख खड, पृ० ५१।

३—वही पृ० ५० तथा पृ० ४९ पर बरूनी का लोकोत्तर वर्णन है।

तथा अचेतन क्रियाओं का समान ही महत्त्व रहता है। साक़ी या प्रिया की धारणा में यही रूप प्राप्त होता है। दूसरी ओर जायसी आदि कवियों में इस मानसिक क्रिया की अभिव्यंजना आध्यात्मपरक भी हो गई है जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। अतः साक़ी का प्रियतमा रूप तात्विक दृष्टि से आध्यात्मिक मनोविज्ञान का सुंदर विकास कहा जा सकता है।[1]

इसके अतिरिक्त सूफ़ी काव्य में नायिका की भावना में अनेक नव तत्वों का भी समाहार प्राप्त होता है। यह समाहार या तो परिस्थितिजन्य है या कथा-रूपक के कारण। विदेशी सूफ़ी कवियों ने प्रियतमा को अधिकतर ऐकांतिक रूप में ही चित्रित किया है, परन्तु हमारे कवियों ने उसे जन जीवन एवं समाज की सापेक्षता में अंकित किया है। इसी से, इरावती तथा पद्मावती का स्वरूप अधिक व्यापक अर्थ समष्टि का द्योतक है। सूफ़ी मान्यतानुसार 'प्रियतमा' एक ऐसा व्यक्तित्व है जो प्रेमी को अपनी ओर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से आकर्षित करती है। इसी प्रकार केवल मात्र जीवात्मा ही उसके विरह एवं प्रेम में तड़पती है, पूर्वराग की ज्वाला से दग्ध होती है, परन्तु इस प्रकार की चेष्टाओं का प्रियतमा (साक़ी) की ओर से सर्वथा अभाव रहता है। इस कमी को भारतीय सूफ़ी कवियों ने भारतीय प्रभाव के फलस्वरूप पूरी की। उन्होंने दोनों ओर के प्रेम को, विरह को समान महत्व दिया है उनका दृष्टिकोण एकांगी नहीं है। पद्मावती अलाउद्दीन के आक्रमण के समय अपने कर्तव्य का निश्चय करती है अथवा राजा रत्नसेन के बंदी हो जाने पर अपने नारीत्व का कर्मप्रधान एवं सतीत्वप्रधान परिचय भी देती है। कुछ आलोचक यह मत रखते है कि जब रत्नसेन तथा पद्मावती का मिलन हो गया तब प्रतीकात्मक दृष्टि से कथा का अन्त हो जाना चाहिए था। कथा का उत्तरार्द्ध किसी भी प्रतीकात्मक संदर्भ को पूरा नहीं करता है। उनके इस मत का उत्तर यहाँ स्वयं प्राप्त हो जाता है। जायसी आदि ने अपनी नायिकाओं में पूर्ण भारतीय नारीत्व के प्रतीकात्मक अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। कदाचित् इसी हेतु उन्हें कथा के अंतिम भाग को बढ़ाना पड़ा है जिससे कि उनका महत्व भारतीय वातावरण एवं उसकी परम्परा के अनुसार हो सके। ठीक है कि आध्यात्मिक मिलन हो गया और यहाँ पर 'सब कुछ' समाप्त हो गया। परन्तु क्या जीवात्मा 'परम पद' तक पहुँच कर, माया और संसार

१—दे० अध्याय दो में आध्यात्मिक मनोविज्ञान का विवेचन 'मनोवैज्ञानिक प्रतीकवादी दर्शन' के अन्तर्गत।

आदि के प्रलोभनों में फँसकर फिर अपनी अधोगति नहीं कर सकती है ? यहाँ पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। मन अत्यंत चंचल होता है, वह एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता है। यदि वह एक बार स्थितप्रज्ञ हो भी गया तो हो सकता है कि वह फिर चलायमान होकर अपनी निम्नावस्था तक पहुँच सकता है। क्या विश्वामित्र का मन समाधि में स्थितप्रज्ञ होकर भी अप्सरा के मनोमोहक बाह्य प्रभावों के द्वारा अपने पूर्व उच्च स्थान से डिग नहीं गया था ? यही हाल रत्नसेन का भी हुआ। वह बुद्धि रूपी पद्मावती से एकाग्र होकर भी, बाह्य प्रलोभनों के कारण (अलाउद्दीन तथा राघवचेतन) फिर माया के आवरण में फँस गया। ऐसा ज्ञात होता है कि 'पद्मावती' का उत्तरार्द्ध इसी मानसिक अधःपतन की करुण कथा है जहाँ मन ऊर्ध्वगामी होकर फिर रसातल का भागी हो जाता है। अतः यदि मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोणों से देखा जाय तो कथा का उत्तरार्द्ध मन (रत्नसेन) की चचलता एव उसके दुखांत की हृदयविदारक कहानी कहता है। जब मन इस प्रकार अधोगति को प्राप्त हो गया तब बुद्धि की क्या दशा होगी ? मनोविज्ञान के अनुसार बुद्धि मन से सूक्ष्म है जो 'मन' को अपने अधिकार में रख सकती है, जब मन अपनी प्रवृत्तियों का निरोध कर सकने में असमर्थ है। यदि 'बुद्धि' की बागडोर ढीली पड़ जाय या मन बुद्धि के अनुशासन से छूट जाय, तो वह क्रमशः बाह्य वासनाओं एवं प्रलोभनों के कारण अपने निजत्व को ही खो देता है। तब निदान बुद्धि भी हताश होकर निर्जीव हो जाती है अथवा मन के चचलमय वात्याचक्रों में वह भी निश्चेष्ट सी होने लगती है—एक प्रकार से मानव बुद्धि मरणप्राय हो जाती है। बुद्धि की इसी करुण समाप्ति की कथा 'पद्मावती' का उत्तरार्ध है और पद्मावती की दीन दशा उस समय साकार हो जाती है जब वह स्वयं अग्नि की लपटों मे समा जाती है। 'पद्मावति' की पूर्ण कथा को ध्यान में रख कर (मन—रत्नसेन, बुद्धि—पद्मावती, जायसी के कथानुसार जिसका संकेत आगे किया जायगा) यह कहा जा सकता है कि रत्नसेन (मन) और पदुमावती (बुद्धि) के परस्पर विकास और फिर उनके अन्योन्य अधोगति की करुण कथा ही यह काव्य है जहाँ मानवीय चेतना में बुद्धि तथा मन का अन्योन्य सम्बन्ध, उनका विकास और उनका अधःपतन दिखाया गया है। मेरे विचार से जायसी ने अपनी 'प्रियतमा' को एक साथ इतने विस्तृत क्षेत्र का वाहक बनाकर, उसे जहाँ एक ओर आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक क्षेत्रों का समष्टि रूप में चित्रांकन किया है वहीं उसकी भावना में मानव जीवन के कर्म एवं कर्तव्य क्षेत्रों की सुन्दर व्यंजना भी की है।

(ग) प्रेम प्रतीक और रूपसौंदर्य की प्रतीक योजनाएँ

प्रेम प्रतीक

सूफ़ी काव्य में साक़ी का रूप प्रियतमा का ही प्रतिरूप है और इसी से वह ही सूफ़ी साधक के प्रेम एवं विरह का केन्द्र है।

इन प्रेम प्रतीकों के अलावा, सूफ़ी काव्य में मानवेतर जड़ एव चेतन प्रकृति—दोनों से ऐसी वस्तुएँ ग्रहण की गयी है, जिन्हें प्रतीक का रूप दिया गया है। इस प्रकार की प्रतीक योजना सूफ़ी काव्य में बहुलता से प्राप्त नहीं होती है। दूसरी ओर वहाँ पर उपमानों का ही प्रयोग अधिक हुआ है (रूपक, उत्प्रेक्षा आदि)। जो भी थोड़े बहुत प्रतीक प्राप्त होते हैं, वे या तो प्रेम-भावना के सरल संबंध को व्यंजित करते हैं या किसी भाव विशेष के आधार पर लाक्षणिक अर्थ को प्रकट करते हैं। एक स्थान पर जायसी ने ऐसी ही प्रतीक योजना प्रस्तुत की है—

चांद सुरुज दुऔ निरमल, दुऔं संजोग अनूप।
सुरुज चांद सो भूला, चांद सुरुज के रूप॥[1]

प्रसंगानुसार यह रत्नसेन तथा पद्मावती के मिलन का दृश्य है जिसकी व्यंजना के हेतु कवि ने सूर्य तथा चंद्रमा—दो विपरीत वस्तुओं का एक स्थान पर वर्णन किया है। इस प्रकार प्रेमी तथा प्रेमिका के अन्योन्य प्रेम भाव की सुंदर व्यजना की है। प्रेम-भाव पर आश्रित इन प्राकृतिक वस्तुओं को प्रतीक का रूप देना और फिर उसे लोकोत्तर अनुभूति का माध्यम बनाना—ये दोनों बातें इस उदाहरण से ध्वनित होती हैं। इसी प्रकार अन्य प्रेम प्रतीकों में सरोवर और हंस, कमल और सूर्य, भंवरा तथा कमल, चक्रवाक मिथुन आदि ऐसी कवि रूढ़ियाँ हैं जो परम्परा से काव्य में चली आ रही है। सूफ़ी कवियों ने इन प्रतीकों का भी प्रयोग अपने काव्य में यदा कदा किया है जो सुंदर बन पड़ा है। अरविंद जल में रहता है, उसे वहाँ पर सब प्रकार का सुख भी प्राप्त है, पर क्या वह बिना सूर्य की किरणों के प्रफुल्लित हो पाता है? इसी प्रकार प्रेमी व्यक्ति संसार के अनेक सुखों के रहते हुए भी बिना प्रेम-पात्र के सच्चा सुख नहीं पाता है—

औ अरबिंद रहै जल माहीं। रवि सेवत तेहि जागै नाहीं॥[2]

१—जा० ग्र०, रत्नसेन पद्मावती विवाह खण्ड, पृ० १४३।

२—इंद्रावती, मालिन खण्ड, पृ० ४४।

उपर्युक्त अन्य प्रेम-प्रतीकों के अधिकांश उदाहरण जायसी में ही प्राप्त होते हैं। चकई के प्रेम की व्यंजना पद्मावती के विरहावस्था का ही प्रतिनिधित्व करती है—

चकई बिछुर पुकारै, कहां मिलौं हो नांह।
एक चांद निसि सरग में, दिन दूसर जल मांह ।।[1]

इस प्रेम व्यंजना के अन्तराल में चकई और चाँद की एकात प्रेम-भक्ति का सुंदर निरूपण हुआ है। अन्योन्याश्रित प्रेम व्यंजना का सुंदर उदाहरण, प्रतीक शैली में उस स्थान पर प्राप्त होता है जब रत्नसेन तथा पद्मावती का मिलन होता है। इस मिलन की सुखात्मक अनुभूति कमल और भौंरो के द्वारा एक ओर, और मालती तथा भंवरे के द्वारा दूसरी ओर, इस प्रकार कवि ने व्यंजित किया है—

भौंर जो पावै कंवल कहं, बहु आरत बहु आस।
भौंर होइ नेवछावर, कंवल देइ हंसि बास ।।[2]

अथवा—

मालति देखि भंवर गा भूली।
भंवर देखि मालति बन फूली ।।
देखा दरस भये इक पासा।
वह ओहि के वह ओहि के पासा ।।[3]

विरहजनित प्रेम-भाव का एक अन्य उदाहरण दीपक और पतंग के प्रेम-संबंध के द्वारा परम्परा से चला आ रहा है। यहाँ पर पतंग नागमती तथा पद्मावती का समष्टि प्रतीक है जब वे अपने को चिता की ज्वाला में आहुति बनाने के लिए प्रस्तुत होती हैं। यहाँ प्रेम का बलिदानपरक रूप मानों मुखर हो गया है—

दीपक प्रीति पतंग जेउं, जनम निबाह करेउ।
नेवछावरि चहुं पास होइ, कंठ लागि जिउं देउ ।।[4]

इन प्रतीकों के द्वारा स्वतंत्र प्रेम भावना की व्यंजना होती है। ये सभी प्रेम-

१—जा० ग्र०, पृ० २९।

२—जा० ग्र०, पद्मावती रत्नसेन भेंट खड, पृ० १५३।

३—वही, लक्ष्मी समुद्र खड, पृ० २१०।

४—वही, पद्मावती नागमती सती खड, पृ० ३३९।

प्रतीक भारतीय भावधारा के अंग हैं जिन्हें सूफी कवियों ने पूरी भारतीयता के साथ प्रयुक्त किया है।

दाम्पत्य प्रतीक योजना

प्रेम-प्रतीकों के अन्तर्गत प्रणयाश्रित आधारभूमि का विशेष महत्व रहा है। संतों में इन प्रतीकों की एक बलवती परम्परा प्राप्त होती है जिस पर हम पूर्व ही विचार कर चुके हैं। जिस प्रकार सन्त काव्य में इन प्रणय-प्रतीकों का एक क्रमिक आध्यात्मिक विकास लक्षित होता है उसी प्रकार सूफी काव्य में भी प्राप्त होता है। परन्तु, इन क्रम विकास में सूफियाना प्रभाव होने के साथ साथ योगपरक क्रियाओं का भी प्रभाव है। इन प्रणय प्रतीकों का विकास निम्न अवस्थाओं के प्रकाश में हृदयगम किया जा सकता है—

(१) पूर्वराग का विरह एवं अंतर्दृष्टि का उदय,

(२) प्रयत्न से उद्भूत दिव्य-प्रेम,

(३) मिलन की परमावस्था,

(४) आनंदानुभूति।

(१) **पूर्वराग और अंतर्दृष्टि**—सूफी दाम्पत्य प्रतीकों के स्वरूप में पूर्व-राग का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इस दशा में मन विरह और मिलन की मिश्रित आकांक्षाओं से अपने अस्तित्व एवं व्यक्तित्व को विरहानुभूति का पुट देकर क्रमशः अंतर्दृष्टि को जन्म देता है। यह विरह-तत्व उस एकात्म भाव की अंतर्दृष्टि (Unifying Vision) का आधार प्रस्तुत करता है जिस पर साधक का भावी प्रयत्न अवलम्बित रहता है। इस विरह को उद्दीप्त करने वाले दो माध्यम सामान्यतः सूफ़ी काव्य में प्राप्त होते हैं। वे हैं—स्वप्न-दर्शन एवं किसी मानवेतर प्राणी (शुकादि) के द्वारा प्रिय का रूप वर्णन कर, साधक के विरह को द्विगुणित करना। जायसी ने विरह का व्यापक रूप इस प्रकार रखा जब, सुआ (गुरु) रतनसेन का समाचार पद्मावती को आकर देता है—

> बिरह की आग सूर जरि कांपा।
> रातहुँ दिवस जरै ओहि तापा॥[1]

विरह की यह लोकोत्तर अनुभूति नूर मोहम्मद ने उस समय व्यंजित की है जब कुंवर स्वप्न में इंद्रावती का दर्शन करता है—

१—जायसी-ग्रन्थावली, पद्मावती सुआ भेंट खंड, पृ० ८८।

राजा देख सपन अस जागा ।
लगा ग्रीव प्रेम को तागा ।।[1]

यहाँ पर जो स्वप्न का सकेत प्राप्त है, वह सत्य में मानसिक क्रिया का ही रूप है। यह स्पष्ट करता है कि स्वप्न भी कभी कभी 'सत्य' होते हैं, उनका महत्व अध्यात्मपरक भी होता है। जहाँ तक विरहानुभूति का प्रश्न है, वह नूर मोहम्मद में अधिक संयमित रूप में प्राप्त होती है। दूसरी ओर जायसी में यह विरह वर्णन अति की सीमा तक पहुँच जाता है। इसके अतिरिक्त जहाँ जायसी ने कुछ संयमित होकर विरह का वर्णन किया है, वहाँ पर उसकी व्यंजना अत्यन्त भावगर्भित हुई है। इस वृत्ति का सुंदर रूप उस समय प्राप्त होता है जब विरह को व्याधि और यौवन को पक्षी अथवा विरह को चंद्रकलंक एवं यौवन को उगा हुआ चाँद कहा गया है।[2] विरह को 'वज्राग्नि' का रूप देना भी इसी की प्रवृत्ति है।[3] रहस्यात्मक प्रतीकवाद की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि विरहावस्था में साधक केवल उस 'परमप्रिय' का आभास ही पाता है, परंतु इस आभास प्राप्त करने की भूमिका में वह अपने और अपने से परे चराचर प्रकृति के साथ एक सरस तादात्म्य का अनुभव करता है। यह तदाकारिता, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखी जाय, तो उस भूमिका को प्रस्तुत करती है जो साधक को साध्य से मिलने के हेतु उसे 'प्रयत्न' की ओर अग्रसर करती है।

(२) **प्रयत्न**—इस प्रकार इदं का अहं में तदाकार हो जाना, साधक के प्रयत्नों की भूमिका प्रस्तुत करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि विरह से उद्भूत दृष्टि प्रयत्न नहीं है। वह भी एक प्रकार का प्रयत्न है जिसमें कर्म का सर्वथा अभाव है।

इस प्रयत्न के बारे में दूसरी बात यह कही जा सकती है कि यह दोनों ओर से (नायक तथा नायिका) होता है। परन्तु सूफ़ी प्रभाव के कारण उसका प्रथम क्रियात्मक रूप पुरुष के द्वारा ही सम्पन्न होता है। अतः प्रणय प्रतीकों में भी समन्वयात्मक भावभूमि के दर्शन स्पष्ट प्रतीत होते हैं। प्रतीक-पात्रों का यह अन्योन्य आकर्षण इस बात को स्पष्ट करता है कि जीवात्मा जहाँ परमात्मा के

१—इंद्रावती, स्वप्न खंड, पृ० १४।

२—जा० ग्र०, पद्मावती वियोग खंड, पृ० ८४।

३—'बजागि' के रूप पर पूरा विवेचन दे० पीछे योगपरम्परा के प्रतीकों में उपखंड 'क' (पृष्ठभूमि)।

मिलने के हेतु लालायित रहती है, वहाँ परमात्मा भी जीवात्मा को अंगीकृत करने के लिए प्रयत्नशील होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि 'असीम' की धारणा बिना ससीम के सम्भव नहीं है। यदि सूफ़ी शब्दावली में कहें तो 'इश्कमिजाजी' के बिना 'इश्क-हक़ीक़ी' का अस्तित्व संदिग्ध है। इस इश्क-मिजाज़ी (भौतिक) की परिधि को जब तक लाँघा नहीं जाता है, तब तक 'इश्क हक़ीक़ी' की परमावस्था असम्भव है। इसी भाव की परिणति, नैहर (संसार) में सखियों आदि के साथ अनेक प्रकार की केलि-क्रीडाओं के द्वारा सूफ़ी कवियों ने प्रकट की है। यहाँ पर एक अद्भुत भावभूमि के दर्शन होते हैं। इस नैहर, सखी सासुर का वर्णन जीवात्मा (पुरुष) के साथ होना चाहिए था, परन्तु सूफ़ी कवियों ने उनका वर्णन नारी रूप (परमात्मा) के साथ ही किया है। यहाँ पर भी सूफ़ी कवियों ने भारतीय चिंताधारा को ही ग्रहण किया है और नारी के प्रतीकार्थ में भारतीय भावभूमि का यथोचित समन्वय किया है। लेकिन फिर भी, भारतीय तथा सूफ़ी नारी रूपों में मुख्य अंतर उनके प्रतीकार्थ से ही ध्वनित होता है। एक में वह जीवात्मा का और दूसरे में परमात्मा का प्रतिनिधित्व करती है। सूफ़ी काव्य में ये सब संबंध, नारी से संबंधित होने पर भी, संसार एवं इंद्रियों के प्रतीक रूप में ही ग्रहण किये गये हैं। प्रयत्न क्रम की दृष्टि से संसार, इंद्रियों और माया के पाश से जब तक जीवात्मा (मोमिन) को मुक्ति नहीं मिलती, तब तक वह अपने 'साध्य' का साक्षात्कार करने में असमर्थ रहती है। इस संसार में केवल चार दिन का ही खेल है। अंत में, उसी 'कंत' से ही काम चलेगा।[1] सभी सखी-सहेलियां (इंद्रियां) यहीं पर छूट जायेंगी और अंत में 'आत्मा' अकेली 'सासुर-गृह' की ओर गमन करेगी।[2] इसी भाव का प्रतिरूप जायसी का यह कथन है जो पद्मावती की जल क्रीड़ा के समय कहा गया है—

> ए रानी मन देखु बिचारी।
> एहि नैहर रहना दिन चारी॥
> अंतहिं सासुर गवनव काली।
> कित हम कित यह सरवर पाली॥[3]

'परमपद' यात्रा की दूसरी मंज़िल (प्रयत्न की दृष्टि से) सात मुक़ामातों, चार अवस्थाओं तथा अन्य प्रकार की बाधाओं को पार करना होता है जिसका

१—इंद्रावती, फाग खंड, पृ० ४१।

२—वही, फुलवारी खंड, पृ० ५७।

३—जा० ग्रं०, मान सरोदक खंड, पृ० २७।

पूर्ण विवेचन हो चुका है।[1] इसे हम आत्मा का रूपकात्मक अभियान कह सकते हैं जिसकी सुंदर व्यजना हमें दांते के 'डिवाइन कामेडिया' में भी प्राप्त होती है।[2]

परमपद के रूप में सिंहलद्वीप या आगमपुर की समानता ईसाई रहस्य-वादियों के 'जेरूसलम' से की जा सकती है जिस तक पहुँचने के लिए साधक को सासारिक सुखों की तिलांजलि देनी पड़ती है और अनेक विघ्नो को भी पार करना पड़ता है।[3] परंतु सूफी काव्य में इन बाधाओं के अतिरिक्त, प्रयत्न पक्ष में अन्य बाधाएँ सम्मुख आती हैं। नारी पक्ष में ऐसी बाधाओं की योजना पुरुष पक्ष की सापेक्षता में बहुत ही कम है। इस प्रयत्न का, नारी पक्ष में वहीं पर अपरोक्ष संकेत प्राप्त होता है जहाँ पर इंद्रावती को उसकी सखिया अनेक प्रकार की प्रेम गाथाओ की चर्चा करती हैं। इन कथाओं का ध्येय नायिका को प्रेम पंथ की ओर अग्रसर करने का प्रयत्न भासित होता है। ऐसी प्रतीकात्मक कथाएँ जीव कहानी, मधुकर मालती कहानी और मानिक मोती कहानी हैं।[4] इसी प्रकार मालिन खड में भी इंद्रावती जोगी वेश में कुंवर से मिलने का प्रयत्न करती है। परन्तु कुंवर इससे प्रथम ही सुप्तावस्था या अचेतनावस्था का भागी हो जाता है। यह सुप्तावस्था ही मूलतः जीवात्मा को परमात्मा से अलग रखती है।[5] इसी अवस्था का सुंदर वर्णन जायसी ने भी उस समय किया है जब राजा रत्नसेन सुआ से पद्मावती की सुंदरता का वर्णन सुनकर अचेत हो जाता है। नायिका पक्ष में हमें जो थोड़े से 'प्रयत्नाभास' के रूप प्राप्त होते हैं वे सभी इस बात को स्पष्ट करते हैं कि सूफी कवियो ने इनकी योजना भारतीय भावना की रक्षा के लिए ही किया है।

दूसरी ओर यह दशा नायक के सम्बन्ध में नहीं रहती है। वह क्रियात्मक रूप में सामने आता है। आरम्भ से अंत तक उसे अकथ श्रम और प्रयत्न करना पड़ता है। जोगी का वेश धारण कर समुद्र को तथा बनों को पार करना, फिर गढ़ का भेदन करना, मोती का समुद्र से निकालना आदि ऐसे अनेक कष्टसाध्य कर्मों के द्वारा वह अपने गंतव्य तक पहुँचता है। ये सभी

१—दे० पीछे सूफी साधनापरक प्रतीको में उपखंड 'ख' में।

२—मिस्टिसिज्म, ईस्ट एंड वेस्ट-द्वारा राडल्फ आटो पृ० १५४।

३—मिस्टिसिजिम, ईस्ट एड वेस्ट, द्वारा राडाल्फ आटो पृ० १५४-१५५।

४—इन गाथाओ के लिए दे० इंद्रावनी में जीव कहानी खड, पृ० ६४-६६, मधुकर खंड पृ० १००-११५ और मानिक खड पृ० ११६-१४६।

५—इंद्रावती, फुलवारी खंड, पृ० ५८-६४।

तत्व हमें पद्मावती एवं इंद्रावती में प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं पर महेश या लक्ष्मी साधक की परीक्षा भी लेते हुए देखे जाते हैं। अंत में ये सब दैवी शक्तियाँ साधक की एकाग्रता एवं एकनिष्ठता को देखकर द्रवीभूत हो जाती हैं और उनकी सहायक बन जाती हैं। शिव का फुलवारी में कुंवर को यह बतलाना कि इंद्रावती कहाँ मिलेगी, इसी प्रवृत्ति का सूचक है। इसी प्रकार 'पार्वती महेश खंड' में रत्नसेन को शिव सहायता प्रदान करते हैं। गुरु के रूप में सुआ और तापस के रूप में गुरुनाथ (इंद्रावती में) साधक का मार्ग प्रदर्शन करते हैं। इस विहगम दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंत में जीवात्मा (साधक) अपने प्रयत्नों में सफल होकर शुद्ध बुद्ध आत्मा के रूप में साध्य के निकट पहुँच जाती है। इस दशा में आकर आत्मा दृश्यमान और अदृश्यमान जगत को अपने अनुभूतिमय ज्ञान से एकाकार कर लेती है। यह एकाकारिता क्रमशः उतनी ही दृढ़ होती है जितना साधक परमतत्व के समीप पहुँचता जाता है।

(३) मिलनावस्था—मिलनावस्था में आकर साधक की यह एकात्म-दृष्टि पूर्णरूपेण साध्य तत्व में 'एकमेक' हो जाती है। इस एकात्म-भाव में शरीरी अथवा दृश्यमान जगत का महत्व कम नहीं होता है। 'वह' वहाँ पर वर्तमान रहता है पर आत्ममय होकर। कदाचित् टी० एस० इलियट ने मानव के अन्दर जो 'दृश्य' और अदृश्य संसार के मिलन की बात कही है वह परोक्ष रूप से उपर्युक्त भाव को भी अपने अंदर समेट लेती है।[1]

रहस्यवाद की भावना में दृश्य एवं अदृश्य की एकाकारिता प्राप्त होती है। मिलनावस्था में यह एकात्म भाव अत्यन्त मुखर हो जाता है। सूफ़ी काव्य में रहस्यभावना का स्पंदन आरम्भ से लेकर अन्त तक प्राप्त होता है। अतः डा० कमल कुलश्रेष्ठ का यह मत उचित नहीं ज्ञात होता है कि जायसी में रहस्यवाद केवल 'प्रेम खंड' और 'नख शिख वर्णन खंड' में ही प्राप्त होता है।[2] वह तो मानों सूफ़ी काव्य की धमनियों में (Homoglobin) की तरह वर्तमान है जो उसमें वर्तमान रक्तधारा को लाल रंग प्रदान करता है। यहाँ पर एकात्मभाव अपनी चरम-दशा में प्राप्त होता है जब रत्नसेन और कुंवर पद्मावती या इंद्रावती से मिलते हैं। हल्लाज ने इस सुख को ऐश्वर्य

१—Visible and Invisible, two worlds meet in Man.—Collected Poems by T. S. Elliot. p. 178.

२—मलिक मोहम्मद जायसी द्वारा कमल कुलश्रेष्ठ, पृ० १०३।

कहा है जहाँ न 'मैं' या 'हम' या 'तुम' रहते हैं, वरन् 'मैं', 'हम', 'तुम' और वह सब एक हो जाते हैं।[1] अतः इस 'मिलन ऐश्वर्य' की स्थिति में आकर बंदा (आत्मा) हक़ (परमात्मा) की अनुभूति प्राप्त करता है और शैतान (माया) को अपने अधिकार में कर 'पूर्णकाम' हो जाता है।

प्रणय भावना में दोनों पक्षों का न्यूनाधिक संयोग अवश्य रहता है। जायसी और नूर मोहम्मद में प्रणय भावना मानो एक अभियान का रूप ले लेती है, जब ब्याह खंड मे राजा अथवा उसके साथी पूर्ण रूप से प्रस्तुत हो इंद्रावती से मिलने के लिए चलते हैं। यह प्रसग प्रतीकार्थ की दृष्टि से आत्मा का अपनी समस्त शक्तियो के सहित 'परमात्मा' से मिलनेच्छा का सार्वभौम रूप है। इस मिलनावस्था में आकर सूफ़ी कवि 'केलि क्रीड़ा' का विशद वर्णन करते हैं जो मिलनानुभूति को आध्यात्मपरक अर्थ ही प्रदान करता है। जायसी ने भी पद्मावती रत्नसेन भेंट खंड मे इस मिलनावस्था का विस्तारपूर्ण वर्णन किया है। इसमें अनेक प्रकार के हाव भावों का, रति-केलि का तथा प्रेमक्रीड़ाओं का संकेत प्राप्त होता है जो आध्यात्मिक उल्लास के प्रतीक ही माने जाते है। नूरमोहम्मद ने इस मिलनानुभूति का चित्र इस प्रकार खींचा है—

राज कुंवर मुख ऊपर, रहउं सकल छबि छाइ।
आगमपुर का दारा, देखि रही मुरझाइ॥[2]

यहाँ पर साधक और साध्य का समान मिलन-सुख व्यंजित होता है जिसमें दो सीमाएँ एक 'परमसीमा' में समा जाती है। इसे सूफ़ी शब्दावली में 'तवाहिद' कहा गया है जहाँ पर व्यक्ति ईश्वर की 'धत्' से पूर्ण एकत्वलाभ करता है।[3] परन्तु दूसरी ओर सूफ़ी काव्य में नायिका को मिलनातुर भी दिखाया गया है और उसे 'तन मन जोबन साज कर' चलते हुए भी कहा गया है।[4] इस प्रकार की चेष्टाएँ यह सिद्ध करती हैं कि परमात्मा भी आत्मा से मिलने के हेतु कितना विकल रहता है!

१—मिस्टिक्स आफ इस्लाम द्वारा निकाल्सन, पृ० ७१ से उद्धृत—
In that Glory is no 'I' or 'We' or 'Thou'
'I', 'We', 'Thou' and 'He' are all one thing.

२—इंद्रावती, ब्याह खण्ड १७०।

३—स्टडीज इन तसव्वुफ़ द्वारा ख़ जा ख़ान पृ० २००।

४—जा० ग्र०, पद्मावती रतनसेन भेंट खण्ड, पृ० १५१।

(४) आनंदानुभूति—मिलन सुख का अंतिम पर्यवसान आनंदानुभूति में होता है जिसमें साधक पूर्णरूपेण 'परमतत्व' से एकात्मभाव की प्राप्ति कर लेता है। इस दशा में 'शराब' रूपी प्रेम का चर्तुमुखी विकास सम्भव होता है जिसका पूर्ण विवेचन सूफी प्रतीकों के अंतर्गत हो चुका है। इसी परमानंद की दशा को फ़ना की भी दशा कहा जाता है जहाँ पूर्णरूप से सर्वात्मभाव की प्रतीति होती है। इस फ़ना की दशा पर हम पूर्व ही विवेचन कर चुके हैं।

रूप-सौंदर्य के प्रतीक

सामान्यतः प्रेमासक्ति एवं रूपासक्ति का अन्योन्य संबंध रहा है। सूफ़ी काव्य में रूप को भी कभी-कभी 'लोकोत्तर' रूप प्रदान किया गया है। रूप सौंदर्य को 'लोकोत्तर' रूप देने के अंतराल में सूफ़ी साक़ी की भावना भी कार्य करती प्रतीत होती है। साथ ही साथ सूफ़ी काव्य की रहस्यात्मक प्रवृत्तियाँ भी इसमें सहायक हैं। इसका कुछ स्वरूप विश्लेषण हम साक़ी के प्रतीकार्थ में कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रतीक योजनाएँ सूफ़ी काव्य में प्राप्त होती हैं जो सौंदर्यानुभूति को तीव्र करने के साथ प्रतीकात्मक अर्थ को भी स्पष्ट करती है। ऐसे कुछ प्रतीक हैं—

पारस रूप

सूफ़ी काव्य (जायसी) के सौंदर्य प्रतीकों में पारस रूप सबसे प्रमुख है क्योंकि गुण एवं क्रिया की सादृश्यता के कारण 'वह' सृष्टिव्यापी अनुभूति की सुंदर व्यजना करता है। जायसी ने इसी से पारस का कई स्थलों पर प्रयोग किया है और उसके द्वारा सौंदर्य की लोकोत्तर व्यजना भी प्रस्तुत की है। पारस की दीप्ति से चराचर प्रकृति परिव्याप्त है। कवि कहता है—

> पारस जोति लिलाटहि ओटी।
> दिस्टि जो करै होय तेहि जोती ॥[१]

इस पारस रूप की तुलना साक़ी के केशों से भी की जा सकती है जो समस्त सृष्टि को अपने विस्तार से (यहाँ सौंदर्य से) आच्छादित किए हुए है। इस सृष्टिव्यापी व्यंजना का रूप उस समय और भी मुखर हो जाता

१—जा० ग्र०, पद्मावती रूप चर्चा खण्ड, पृ० २४२।

है जब कवि पारस की दीप्ति से सूर्य को भी फीका पड़ जाना कहता है[1] अथवा उसके केवल स्पर्शमात्र से रूप का लोकोत्तर स्वरूप भी प्रकट हो जाता है।[2] इसी प्रकार की अभिव्यंजना उस समय भी प्राप्त होती है जब अलाउद्दीन पद्मिनी का दर्शन दर्पण के द्वारा करता है—

होतहिं दरस परस भा लोना।
धरती सरग भयेउ सब सोना॥[3]

मानो माया और शैतान की सभी कामुक प्रवृत्तियाँ उन्नयन होकर पारसरूप के संस्पर्श से दीप्तिमान हो उठीं। यही नहीं, उसका प्रभाव तो धरती और स्वर्ग दोनों को अपने अंदर समेटने लगा। इस प्रकार, कवि ने 'पारस' रूप के द्वारा एक ऐसे 'प्रतीक' की उद्भावना की है जो उसकी निजी धरोहर है। लौकिक दृष्टि से पारस वर्णन की 'अति' तात्विक रूप में लोकोत्तर अनुभूति की व्यंजना में समाहित हो जाती है। इस प्रकार अर्थ समष्टि की दृष्टि से 'अर्थ' का विघटन नहीं होने पाता है।

धनुष बाण

प्रतीक की दृष्टि से, धनुष और बाण को कामदेव का अस्त्र माना गया है जिसे कविगण परम्परा रूप से नेत्रों के कार्य एवं गुणों के प्रतीक रूप में चित्रित करते आ रहे हैं। जायसी ने इन अस्त्रों को भौतिक क्षेत्र के अंदर ही सीमित नहीं रखा है पर उनके द्वारा सृष्टिपरक तत्त्व-निर्देश भी सफलता से किये हैं। भौंहों के लिए 'धनुक' को प्रतीक रूप में ग्रहण करता हुआ कवि 'तत्त्व' की ओर भी संकेत करता है—

उहै धनुक किसिन पहं अहा। उहै धनुक राधे कर गहा॥
ओहि धनुक रावन संहारा। वहै धनुक कंस कहं मारा॥[4]

इसी प्रकार बाण (बरुनी) को प्रतीकार्थ देते हुए कवि कहता है—

उन बानन्ह अस को जो न मारा।
बेधि रहा सगरौ संसारा॥

१—जा० ग्र०, पद्मावती रत्नसेन भेंट खड, पृ० १५२।

२—वही, मानसरोदक खड, पृ० २६।

३—वही।

४—जा० ग्र०, नखसिख खंड, पृ० ४६।

गगन नखत जो जाहिं न गने।
वे सब बान ओहि के हने ॥[1]

इस प्रकार के कुछ रूपात्मक संकेत साक़ी के प्रतीकात्मक अर्थ के अन्तर्गत दिये जा चुके हैं।[2] इसी सौंदर्य व्यजना के लिए एक विदेशी सूफ़ी कवि शब्सतरी ने प्रिया के मुख की झलक का सृष्टिपरक प्रतिबिंब कितने सुंदर प्रतीकात्मक रूप से प्रकट किया है जो तत्त्वतः सत्य और सौंदर्य के समन्वित रूप को सामने रखता है—'उसके मुख की एक झलक जब मदिरा पर पड़ गयी तो उसमें बहुत से बुलबुले उत्पन्न हो गए।

यह संसार और अस्तित्व उन्हीं बुलबुलों के रूपान्तर मात्र हैं।'[3]

अतः सौंदर्य का भी सत्यपरक महत्त्व होता है, यह सूफ़ी काव्य के द्वारा व्यंजित होता है।

चंद, चकोर, खंजन आदि

इन प्रतीकों का प्रयोग वैसे तो किसी अंगविशेष अथवा गुण के व्यंजनार्थ होता है पर इस रूप के अतिरिक्त वे कहीं कहीं पर प्रेम की व्यंजना भी करते हैं। चंद्र और चकोर का प्रेम जगत् प्रसिद्ध है, पर कवि ने इस प्रेम भाव के साथ रूप-व्यंजना भी अत्यन्त पटुता से की है, यथा—

मन लोचन मो चंद दिसि, रहिगा चितै चकोर।
चंद विलोकत रहि गयउ, निज चकोर की ओर ॥[4]

यहाँ रूप की आसक्ति नयन और मुख (चकोर और चंद्र) के अन्योन्य संबंध पर आश्रित है। इसी प्रकार नेत्रों को खंजन का रूप देते हुए जायसी ने रूप के साथ प्रेम की भी व्यंजना की है—

जस जस हेर, फेर चख भोरी।
लरै सरद महँ खंजन जोरी ॥[5]

इसके अतिरिक्त सौंदर्य वर्णन के रूढ़िगत 'उपमान' ही अधिक प्राप्त होते हैं जो प्रतीक की दशा तक नहीं पहुँच सके हैं।

१—जा० ग्र०, नखसिख खंड, पृ० ४८।

२—देखो पीछे उपखंड 'ख' में।

३—ईरान के सूफ़ी कवि, स० बांकेबिहारी लाल, पृ० २९१।

४—इंद्रावती, फुलवारी खंड, पृ० ६०।

५—जा० ग्र०, पृ० १४९।

यौवन-सौंदर्य के क्रमिक परिवर्तन की ओर भी जायसी का ध्यान रहा है और एक स्थान पर सौंदर्य के भौतिक ह्रास का संकेत, प्रतीकात्मक विधि से, इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

जोबन जल दिन दिन जस घटा।
भँवर छपान हंस परगटा ॥[1]

यहाँ पर भौंरा काले केशों का प्रतीक है और हंस सफ़ेद बालों का। जैसे जैसे यौवन का रस घटता जाता है और आदमी वृद्ध होता जाता है, वैसे वैसे काले बालों के स्थान पर श्वेत केशों का आधिपत्य होता जाता है। प्रतीक की दृष्टि से यह यौवनावस्था एवं वृद्धावस्था का एक सुंदर रंगपरक उदाहरण है जो वस्तु की सादृश्यता पर भी आश्रित है। इस प्रतीक योजना में जीवन के परिवर्तनशील तथ्य का निरूपण अपनी निजी विधि से सम्पन्न हुआ है। इस प्रयोग में रूढ़िपालन के साथ नवीन उद्‌भावना भी है जो हंस प्रयोग के द्वारा स्पष्ट लक्षित होती है।

(घ) प्रतीकात्मक समासोक्तियाँ एवं प्रासंगिक कथाएँ

सूफी काव्य में ऐसे निर्देशों की एक सबल परम्परा प्राप्त होती है जो संपूर्ण रूप से किसी अन्य अर्थ की व्यंजना करते हैं। इस प्रकार के प्रतीकात्मक संदर्भों की योजना में लौकिकता का तिरोभाव हो जाता है और व्यंजना तथा लक्षणा से प्राप्त किसी तात्त्विक अर्थ की निष्पत्ति होती है। इस रूप में इन समासोक्तियों में रहस्यभावना का भी स्वरूप लक्षित होता है। ऐसी कुछ समासोक्तियों का संकेत परमतत्त्व, साक़ी-शराब, रूप तथा प्रेम प्रसंगों के अन्तर्गत यथास्थान किया जा चुका है। तब भी, कुछ प्रकार की समासोक्तियाँ शेष रह जाती है जिन्हें हम विवेचन की सुविधा के लिए निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) प्रतिबिंबवादी समासोक्तियाँ।
(२) तात्त्विक समासोक्तियाँ।
(३) प्रेमपरक समासोक्तियाँ।
(४) रूपपरक समासोक्तियाँ।

(१) प्रतिबिंबवादी समासोक्तियाँ

सूफी काव्य में सामान्य रूप से स्वप्न तथा दर्पण दर्शन के प्रसंग पूरे

१—वही, देवपाल दूती खंड, पृ० ३०७।

प्रतीकात्मक हैं। प्रतिबिंबवाद का दूसरा रूप सौंदर्य वर्णन में मिलता है। जैसा कि प्रथम संकेत किया गया कि हृदय रूपी दर्पण पर जब 'प्रिया-रूप परमात्मा का बिंब पड़ता है तो समस्त कल्प प्रकाशमान हो जाता है। यही बात इस विश्व के प्रति भी सत्य है जो उस प्रिय का प्रतिरूप है, उसका प्रतिबिंब है, उसकी छाया है। इसी तथ्य को नूर मोहम्मद ने इस प्रकार रखा—

तेहि रुपवंती रूप सो, दरपन पायेउ रूप।[1]

यह दरपन ही साधक का हृदय है जिसको रूप उसी समय प्राप्त होता है जब उसमें रूपमती (प्रिया) का रूप प्रतिभासित होता है। प्रिया का ऐश्वर्य तथा प्रभुत्व का पूरा आभास प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इसी से, उस आभास को प्राप्त करने के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता पड़ती है और वह माध्यम है 'मुकुर'। इस 'मुकुर' की दो स्थितियाँ सूफ़ी काव्य मे प्राप्त होती हैं। एक तो साधक के हृदय में और दूसरी इस संसार में। व्यक्तिगत साधना में 'उसके' नूर की अनुभूति बिना 'मुकुर' के सम्भव नहीं है, क्योंकि उसके नूर को प्रत्यक्ष देख सकना मनुष्य की शक्ति में नहीं है। इसी भाव पर आश्रित स्वप्न-दर्शन के बाद कुँवर का यह कथन है :—

मोहिं अचरज हिरदय मों आही।
कैसे मुकुर म देखा ताही॥
यह सपने को को पतियाई।
मुकुर सौंह बिनु देखि न जाई॥[2]

दूसरा रूप उस समय प्राप्त होता है जब प्रेमिका का 'रूप' दृष्टिगत हो जाता है, उसकी अनुभूति हो जाती है, तब यह सम्पूर्ण संसार 'उसी' का दर्पण हो जाता है—

रूप पियारी का मैं देखा। जगत भयेउ दरपन कै लेखा॥[3]

इस प्रतिबिंबवाद का महत्त्व सूफ़ी कवियों के काव्य में इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि अव्यक्त 'सत्य' को एक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मिल जाती है। यह प्रवृत्ति कथा-प्रसंग में ऐसे स्थलों की उद्भावना में प्राप्त होती है जहाँ

१—इंद्रावती, स्वप्न खंड, पृ० १०।
२—वही, वही, पृ० ११।
३—वही, दर्शन खंड, पृ० ७९।

'सत्य' को व्यक्त माध्यमों के द्वारा प्रकट किया गया है। जायसी ने पद्मावती के रूप का प्रतिबिंब दर्पण में दिखाकर इसकी उद्भावना की जिसे देखकर जीव का संभ्रमित हो जाना भी चित्रित किया। नूर मोहम्मद ने इसे व्यक्त करने के हेतु एक मौलिक उद्भावना की। उसने फुलवारी के बीच एक अटारी का चित्र खींचा है जिस पर मालती (कथा प्रसंग में एक नायिका) को आसीन दिखाया है। इसके आगे सुआ मालती से कहता है कि फिर मैं मधुकर (नायक) के हाथ में एक दर्पण दूँगा जिसके द्वारा 'वह' तुम्हारा 'प्रतिबिंब' उस दर्पण में देख सके।[1] यह पूरी योजना एक प्रतीकात्मक संदर्भ को स्पष्ट करती है। इसमें फुलवारी संसार है, अटारी परमपद है, मालती परमतत्त्व है और स्वयं मधुकर साधक है जिसके हाथ में दर्पण है। सुआ का स्थान मध्यस्थ का है जो गुरु का प्रतीक है। इस प्रकार यह पूरा प्रसंग प्रतिबिंबवाद और एकेश्वरवाद की सुंदर प्रतीकात्मक अभिव्यंजना है।

(२) तात्त्विक समासोक्तियाँ

तात्त्विक समासोक्तियाँ मूलतः भारतीय तत्त्व चिंतन पर आश्रित हैं यह दूसरी बात है कि उनमें यदा-कदा सूफ़ी प्रभाव भी मिल जाय। सूफ़ी कवियों के सम्मुख 'परमतत्त्व' की कल्पना एक 'ज्योति' के समान ही दृष्टिगत होती है। विकास की दृष्टि से यह 'ज्योति अनुभूति' चेतना के ऊर्ध्व रूप की परिचायिका है जिसकी व्याप्ति साधक सर्वत्र देखता है। नूर मोहम्मद ने इसी ज्योति को इस प्रकार व्यक्त किया है—

महाजोति यह नैन सों कहाँ बिलोकै कोइ।[2]

इसी प्रकार प्यारी का रंग भी है—

छिन अंतरपट होइ रहा, फुलवारी के फूल।
देखु रंग प्यारी कर, हैं रंगन को मूल॥[3]

इस समस्त सृष्टि का रंग प्रसार उसी आदि तत्त्व का रंग रूप है।

अतः 'ज्योति' और रंग कल्पना का प्रतीकात्मक रूप इन कथनों में स्पष्ट लक्षित होता है। जिस प्रकार ज्योति और रंग के रहस्यों का पार पाना दुर्लभ है, उसी प्रकार परम-तत्त्व रूपी चितेरे के चित्र का पार पाना भी दुरूह कार्य है।

१—इंद्रावती, मधुकर खंड, पृ० ११३-११५।

२—वही, फाग खंड, पृ० ३७।

३—इंद्रावती, मालिन खंड, पृ० ४७।

पता नहीं कितने तत्त्व-ज्ञानी उसे जानने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं पर निदान 'उसका' ठीक पता न पा सके—

सब चितेरे चित्र कै हारे। ओहिक रूप कोइ लिखै न पारे।[१]

दूसरी ओर चितेरा अपने चित्र (सृष्टि) में स्वयं ही 'अरुझ' गया—

अपनो चित्र चितेरा, देखु आपु अरुझान।[२]

इसी प्रकार का सुंदर भाव उस समय प्राप्त होता है जब कवि 'नारि' के सौंदर्य को संसार के झारोखे से वर्णन करते-करते उस 'सौंदर्य' की पूर्ण अभिव्यंजना न कर सका। तब अंत में वह कह उठा 'कि जो कुछ भी शेप रह गया है जो दृष्टि से परे है, उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता है।'[३] यहाँ पर बरबस संतों की 'अकथ कथा' का स्मरण हो आता है। उनका भी परमतत्त्व वर्णन से परे है, वह विलक्षण है—'द्वैताद्वैतविलक्षण' है। इस अवर्णनीय रहस्य का संकेत केनोपनिषद् में भी प्राप्त होता है :—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥[४]

अर्थात् मैं न तो यह मानता हूँ कि ब्रह्म को अच्छी तरह जान गया और न यही समझता हूँ कि उसे नहीं जानता। इसलिए मै उसे जानता हूँ और नही भी जानता हूँ। हम शिष्यों में जो उसे 'न तो नहीं जानता हूँ और जानता भी हूँ' इस प्रकार जानता है, वही जानता है। अतः परमतत्त्व का रूप ज्ञेय और ज्ञाता से परे है, वह अनुभूति का विषय है। परन्तु रहस्यमयता यह है कि 'वह' अंतरतम में वर्तमान तो ज्ञात होता है पर व्यक्ति को उसकी अनुभूति नहीं हो पाती है। सामने मानों रहस्य का सरोवर तो लहरा रहा है पर जल का पान नहीं हो पाता है। इस बेबसी में भी आत्मज्ञान की आशावादिता के दर्शन होते हैं यथा—

देखि एक कौतुक हो रहा।
रहा अंतरपट पै नहिं अहा॥

१—जा ग्र०, पद्मावती रूप चर्चा खड, पृ० २४०।

२—इंद्रावती, पाती खंड, पृ० ७१।

३—जा० ग्र०, पद्मावती रूप चर्चा खंड, पृ० २४८।

४—केनोपनिषद्, खंड २, पृ० ६८ श्लोक २ (उप० भा० खंड १)।

सरवर देखि एक मैं सोई।
रहा पानि पै पान न होई ॥[1]

इस रहस्यात्मक अलौकिक अनुभूति पर आकर ही सूफ़ी कवि नहीं रुकते हैं। वे इस रहस्य का ज्ञान भी प्राप्त करना चाहते हैं, और वह भी लौकिक क्षेत्र के अंदर ही रह कर। उस परम तत्त्व की अनुभूति, सूफ़ियों के अनुसार, 'प्रेम-पंथ' के द्वारा हो सकती है जहाँ रहस्य भावना किसी स्पष्ट आधार को पा जाती है और उसके द्वारा ईश्वर की अनुभूति प्राप्त करती है। इसी तथ्य की प्रतिध्वनि नागमती के इस कथन में प्राप्त होती है—

मैं जानेउं तुम्ह मोहीं मांहीं। देखौ तकि तौ हौं सब पाहीं ॥[2]

इस प्रेम भावना के कारण ही साधक केवल अपने में ही नहीं, पर समस्त सृष्टि में ब्रह्म का प्रसार देखता है। इस भावना में 'अहं' का तिरोभाव अथवा उसका अंतर्निलय आवश्यक है। सत्य यह है कि 'अहं' का प्रसार माया के कारण और भी व्यापक रूप धारण कर लेता है। आत्मानुभूति के लिए माया रूपी छाया के 'मूल' को जानना आवश्यक है, तब कहीं परमतत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है—

लोग भुलाइ रहा परछाहीं।
छांह मूल कौ देखै नाहीं ॥[3]

इस 'छांह मूल' को अंग्रेज़ी शब्दावली में 'कोर आफ ट्रुथ' कह सकते हैं। यदि जीव इस सत्य का मूल नहीं जान पाता है तो वह भय से पलायन की वृत्ति का शिकार होता है। उसे संसार को पार करने में एक प्रकार का अस्पष्ट भय रहता है। इसी भाव को नूर मोहम्मद ने इस प्रकार रखा है—

वह न जातु कस होइ है, गहिरि गंभीर अथाह।
इहै समुझि मैं रोइउं, केहि बिधि होइ बिवाह ॥[4]

इस कथन से यह भी स्पष्ट होता है कि 'ब्रह्म' का ज्ञान प्राप्त करना अत्यंत दुर्लभ है और 'जीव' उसकी अगाधता के कारण 'हताश' सा हो जाता है। परन्तु यह निराशा सत्य की अरुणिमा के दर्शन नहीं करा सकती है।

१—जा० ग्र०, चित्तौरगढ़ वर्णन, पृ० २१३।
२—वही, नागमती सुआ संवाद खंड, पृ० ४३
३—इंद्रावती, मानिक खंड, पृ० ११६।
४—वही, मानिक, पृ० ६४।

निराशा से मानवीय चेतना उच्चतम अभियानों की ओर अग्रसर नहीं हो सकती है। इस निराशा का तिरोभाव ज्ञान की स्वर्णकिरण से ही हो सकता है। जब तक साधक सुप्तावस्था की अचेतन निष्क्रिय दशा में रहता है, तब तक वह 'सत्यज्ञान' के निकट नहीं आ सकता है। तभी तो जायसी ने जाग्रतावस्था में ही 'ईश्वर' से मिलन की बात कही है—

तबहूं जोगी गा तू सोई।
जागे भेंट न सोये होई॥[1]

अतः इन तात्विक समासोक्तियों के क्रमिक विश्लेषण से यह तथ्य ध्वनित होता है कि ब्रह्म की अनुभूति किस प्रकार से ज्ञान, अनुभूति एवं भक्ति भावना (प्रेम) से प्राप्त हो सकती है और साधक अपनी निराशा पर किस तरह विजयी हो सकता है।

(३) प्रेमपरक समासोक्तियाँ

इनका कुछ संकेत सूफी तथा दाम्पत्य प्रतीकों के अंतर्गत हो चुका है। प्रेम का आग्रह ही ऐसा है कि उसमें एक बार रँगनेवाला निरन्तर 'उसी' में तल्लीन होता जाता है। यहाँ तक कि वह अन्त में समस्त सृष्टि को उसी तल्लीनता में लीन देखता है—

जो रंग लागेउ सो रँग नीका।
नीको वही आन रँग फीका॥[2]

इस अंतर्दृष्टि की विस्तृत पृष्ठभूमि में ही आत्मानुभूति का रहस्य छिपा हुआ है। सत्य में, प्रेम भाव इस आत्मानुभूति को और भी तीव्र कर देती है। इसी अनुभूति के प्रवाह में साधक अपने हृदय मे ही 'रतन' का आभास पाता है। परन्तु कभी-कभी माया के पर्दे के कारण प्रिय अंतर्मन में रहता तो है, पर उसके दर्शन नहीं हो पाते हैं—

काया उदधि चितव पिउ माहां।
देखौ रतन सो हिरदय माहां।
पिउ हिरदय महं भेंट न होई।
को रे मिलाव कहौ केहि रोई॥[3]

१—जा० ग्रं०, राजा गढ़ छेंका खण्ड, पृ० ११३।
२—इंद्रावती, स्वप्न खण्ड, पृ० १३।
३—जा० ग्रं०, समुद्र लच्मी खण्ड, पृ० २०२।

इस प्रेम-परक आध्यात्म का महत्त्व एक अन्य प्रकार से भी व्यक्त हुआ है। वह प्रिया की ओर से एक ऐसे अगमपंथ का सूचक है जहाँ जाकर फिर कोई वापस नहीं आता है। जब रतनसेन बदी हो जाता है, तब नागमती तथा पद्मावती विरहाकुल होकर कहती है—

अगमपंथ पिय तहां सिधावा।
जो रे गयेउ सो बहुरि न आवा॥[1]

इस प्रसग के अनुसार जब जीव माया के आवरण से आवृत हो जाता है तब उसका स्वतंत्र होना एक दुर्लभ कार्य होता है। दूसरी ओर, यह प्रसंग बुद्धि का 'मन' के प्रति एक अटूट प्रेम को समक्ष रखता है जिसके लिए बुद्धि या परमात्मा भी व्याकुल है। अन्योन्य-संबंध का एक रहस्यमय संकेत इस समासोक्ति से लक्षित होता है।

(४) रूप-सौंदर्यपरक समासोक्तियाँ

ऐसी कुछ समासोक्तियों का संकेत परमतत्त्व तथा रूप वर्णन के अन्तर्गत हो चुका है। लौकिक रूपासक्ति की अर्थगर्भित व्यंजना का विस्तार इन समासोक्तियों का गुण है। पारसरूप का प्रतीकार्थ रूप-प्रतीकों में देखा ही जा चुका है। इसके अतिरिक्त 'भानु' की योजना मे भी ऐसी ही लोकोत्तर अनुभूति प्राप्त होती है। सूर्य अपने तेज अथवा दीप्ति के कारण परमात्मा के तेज एवं दीप्त का प्रतीक ज्ञात होता है :—

जैस भानु जग ऊपर तपा। सबै रूप ओहि आगे छपा॥[2]

जब 'परम-रूप' का प्रकाश विकीर्ण होता है तो उसके सामने अन्य रूप पृष्ठभूमि में चले जाते है। यही बात अन्तर्जगत् के लिए भी सत्य है। अंतर का अंधकार सत्य प्रकाश से तिरोहित हो जाता है और साधक का 'कविलास' मानों प्रकाशित हो जाता है—

भा निसि मैं दिनकर परगासू। सब उजियार भयेउ कबिलासू।[3]

इन रूपगत समासोक्तियों में नायिका का नखशिख वर्णन भी आता है जिन पर पीछे विचार हो चुका है। (साक्षी में) नायिका की सुन्दरता की व्यंजना

१—वही, पद्मावती नागमती विलाप खण्ड, पृ० ३००।

२—जा० ग्र०, स्तुति खण्ड, पृ० ७।

३—वही, जन्म खड, पृ० २३।

के हेतु कवि ने उसे नक्षत्रमाला से आवेष्टित चित्रित किया है। उसकी मधुर ज्योत्स्ना (चेतना) से सर्वत्र प्रकाश का साम्राज्य ही दृष्टिगत होता है—

पहिरे ससि नखतन्ह की माला।
धरती सरग भयेउ उजियारा ॥[1]

प्रसंग-कथाएँ और उनका प्रतीकार्थ

इंद्रावती में अनेक ऐसी प्रासंगिक कथाएँ मिलती हैं जो पूर्ण रूप से प्रतीकात्मक हैं। ये सभी कथाएँ न्यूनाधिक रूप में मूलकथा के प्रतीकार्थ में सहायता देती हैं और इस प्रकार प्रतीकार्थ की व्यापकता की ओर निर्देश करती हैं। जायसी में ऐसी प्रसंग कथाएँ नहीं प्राप्त होती हैं, केवल एक मूल कथा है। मुख्यतः ऐसी तीन कथाएँ हैं—

(१) जीव कहानी।
(२) मधुकर मालती कथा।
(३) मानिक हीरा कथा।

(१) जीव कहानी का प्रतीकार्थ

इस कथा को इंद्रावती ने पत्र द्वारा कुंवर के पास भेजा था और स्वयं कवि ने कहानी के अंत में कहा—

कहेउं सपूरन जीव कहानी। बूझै जो मानुष है ज्ञानी ॥[2]

यह कथन स्पष्टतया कथा के प्रतीकार्थ की ओर संकेत करता है। सामान्यतः कहानी के पात्रों का नाम ही उनके प्रतीकात्मक अर्थ की ओर संकेत करता है यथा मन, जीव, शरीर आदि। इन नामों से यह भी विदित होता है कि कवि के मस्तिष्क में कथा की पृष्ठभूमि में मनोविज्ञान तथा आध्यात्म का कोई न कोई रूप अवश्य रहा होगा। दूसरी बात यह भी स्पष्ट होती है कि कथा का प्रतीकात्मक अर्थ शरीर के अंदर ही ब्रह्मांड है—इस तथ्य की प्रतिध्वनि सा ज्ञात होता है। कथा का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है—

शरीरपुर का राजा जीव है जिसके बारे में स्वयं कवि ने कहा 'आइ पाट परि बैठा भा शरीर को राय'।[3]

१—वही, राघवचेतन देश निकाला खण्ड पृ० २३०।
२—इंद्रावती, जीव कहानी खंड, पृ० ६८।
३—वही, पृ० ६८।

एक अन्य राजा 'दुर्जन' भी 'शरीरपुर' में आधिपत्य जमाये हुए है। 'जीव' का एक मंत्री है जिसका नाम बुद्धि है। 'जीव' राजा का एक पुत्र है जिसका नाम 'मन' है। मन की यह बलवती इच्छा है—'मन चाहै रूपवंती नारी' और इस इच्छा को पूर्ण करने के हेतु उसने 'दुर्जन' नामक राजा की सहायता प्राप्त की। 'दुर्जन' ने 'कायापुर' के राजा दरस की पुत्री 'रूप' का नाम बताया जो 'मन' की इच्छापूर्ति कर सकती थी। सबसे प्रथम 'मन' और 'दुर्जन' 'दृष्ट' नामक दूत के द्वारा 'रूप' के पास एक संदेश भेजते हैं। इस प्रस्ताव को रूपवती नही मानती है, अतएव जीव कायापुर पर आक्रमण कर देता है। परन्तु युद्ध नहीं होने पाता है, क्योंकि जीव अपने 'बुद्धि' नामक मंत्री को 'रूप' का भेद लेने भेजता है। तब उसे पता चलता है कि 'रूप' एक सघन आवरण में निवास करती है। यहाँ पर कवि कहता है—

रूप रहै सो पट में तहां न पवन समाय।

इसके बाद 'जीव' लौट आता है परन्तु उसके दूत बुद्धि और 'बूझ' 'रूप' के यहाँ आते जाते हैं। एक बार 'रूप' फुलवारी में आती है जहाँ उसकी एक सेविका 'कटाच्छ' 'चितवन' को 'मन' के यहाँ भेजने का परामर्श देती है। इससे मन का प्रेम और भी बढ़ जाता है। परन्तु इसी समय दुर्जन मन को फिर विचलित कर देता है और उसे कायापुर ले जाता है। वहाँ साहस की सहायता से 'चितवन' से अपनी व्यथा का वर्णन करता है जिसे सुनकर 'रूपवती' और भी कुपित हो जाती है। फिर मन 'प्रीत' नामक चेरी को 'रूप' के पास भेजता है। एक दिन जब 'मन' 'रूप' की गली से निकलता है तो 'प्रीत' उस समय उसे रूप के दर्शन करा देती है। दोनों में प्रणय हो जाता है और 'दरसन' उनका पाणिग्रहण संस्कार कर देता है। 'मन' और 'रूप' दोनों शरीरपुर चले जाते हैं। उनसे दो पुत्र 'सुता और सुती' उत्पन्न होते हैं। इन दोनों शिशुओं से अत्यधिक रीझने के कारण जीव राजकार्य में उचित समय नहीं देता है। फलतः 'दुर्जन' का प्रभाव फिर बढ़ जाता है। इस विपन्नावस्था को देखकर 'बुद्धि' व 'साहस' एक तपी के पास जाकर जीव के उद्धार के लिए परामर्श करते है। तदनुसार बुद्धि और साहस प्रीतपुर के राजा 'छीपा' के यहाँ जाते हैं जो उन्हे अपने राजा 'सुखदाता' मे भेंट कराता है। अंत में, सुखदाता दया कर जीव को फिर 'शरीरपुर' का राजा बना देता है।

इस कथा को देखकर दो बातें स्पष्ट ध्वनित होती हैं। प्रथम तो कवि ने शरीर के अंदर 'जीव' एवं 'मन' के मनोवैज्ञानिक स्वरूप को मुखरित करने

के साथ-साथ आध्यात्मिक सत्य को भी सामने रखता है। इन दोनों तत्त्वों के समन्वय पर ही मानव जीवन के मानसिक धरातल का उन्नायक रूप स्पष्ट हो सकता है। इस समन्वय की आवश्यकता पर कवि पूर्ण रूप से सचेत है। दूसरा प्रमुख तत्त्व यह है कि जीव अपनी चंचल प्रवृत्ति के कारण अनेक प्रकार की आवृत्तियों एवं प्रपंचों में फँस जाता है। इस अधोगति में वही शक्तियाँ कार्य करती हैं जो अशुभ प्रवृत्तियों से युक्त होती हैं जिनका मानवी-करण कवि ने 'दुर्जन' के द्वारा किया है। परन्तु मन से भी सूक्ष्म तत्त्व है बुद्धि, जो मानसिक असंतुलित क्रियाओं को अधिकार में रखती है। इसी तथ्य का एक अत्यन्त विस्तृत रूप कवि ने 'अनुराग बांसुरी' नामक कथाकाव्य में रखा है। उस काव्य में 'मन' का पर्याय अन्तःकरण है और उसके तीन साथी 'बुद्धि', 'चिता' और 'अहंकार' है। यहाँ पर भी अंतःकरण 'स्नेहनगर' की राजकुमारी 'महामोहिनी' के प्रति आकर्षित होता है।[1] इन दोनों कथाओं के स्वरूपान्तर पर विचार करते हुए श्री परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि 'दोनों कहानियों में प्रथम अनर यह दीखता है कि जीव कहानी में जहाँ प्रेम के इस विवाद की चर्चा प्रसगवश की गयी है, वहाँ 'अनुराग बासुरी' में सूफी सिद्धान्तों के अनुसार की गई है।[2] परन्तु ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव कहानी प्रसंगवश होते हुए भी अपने मे पूर्ण है और मूलकथा के सूफी सिद्धान्तों को ही स्पष्ट करती है। सूफी काव्य की यह प्रवृत्ति है कि वह समन्वय की आधार-शिला पर अपने कथानकों एवं पात्रो का निर्माण करता है। इसमें नितान्त सूफी मत का ही आधिपत्य नहीं रहता है पर उसके साथ-साथ अन्य मतों तथा विचारों का भी यथोचित रूप प्राप्त होता है। प्रेम का उन्नायक रूप दिखाना दोनो कथाओं का ध्येय है तथा दूसरी ओर 'मन' और 'बुद्धि' की तारतम्यता पर दोनों कथाओं में समान निर्देश प्राप्त होते हैं। हो सकता है कि इनमें विशेष सिद्धान्त निरूपण की 'कुछ' प्रवृत्ति हो, पर इन कथाओं का महत्त्व सिद्धान्त से अधिक मनोवैज्ञानिक है। मेरे विचार से मनोवैज्ञानिक महत्त्व अन्य महत्त्वों से कम ऊँचा नहीं है क्योंकि जब तक मन शुद्ध बुद्ध नहीं होता है, तब तक जीव आध्यात्म की ओर अग्रसर नहीं होता है। यही कारण है कि नूर मोहम्मद ने इस कथा के द्वारा अध्यात्म एवं मनोविज्ञान का समन्वय करते हुए मनोविज्ञान को वह आधार माना है जिस पर अध्यात्म का प्रासाद

१—हिन्दी काव्य में प्रेम प्रवाह, द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १४७-१४८।

२—हिन्दी काव्य में प्रेम प्रवाह, द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १४९।

निर्मित होता है। 'रूप' की अवतारणा और उसके प्रति 'मन' का लोभ, जहाँ एक ओर मनोविज्ञान से संबंधित है वहीं उसके द्वारा 'मन', 'रूप' की सीमा को छोड़ अरूप के भी दर्शन कर सकता है। परन्तु यह 'अरूप' की अनुभूति उसी समय हो सकती है जब जीव शरीर का समुचित प्रबन्ध रखे और उसे भौतिकता के क्षेत्र में चंचल न होने दे जिससे वह दुर्जन के पाश में आ जाय। इस तथ्य को स्पष्ट करने के हेतु कवि ने कथा के अंतिम अंश को बढ़ाया है।

(२) मधुकर-मालती कथा

यह कथा भी प्रसंगवश आई है। इस कथा का जीव कहानी से मुख्य भेद यही है कि यह प्रेमपरक और आध्यात्मिक मिलन तथा विरह की ही कथा अधिक है। इसकी समानता इस दृष्टि से 'पद्मावती' काव्य ग्रंथ से भी की जा सकती है। इस कथा के नायक नायिका मधुकर-मालती एक प्रकार से प्रेम-परक प्रतीक है जो अपने कार्यकलापों के द्वारा तात्त्विक प्रेम की ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार की मूल प्रवृत्ति 'पद्मावति' एवं इंद्रावती में भी प्राप्त होती है। अतः यहाँ पर कवि कोई नवीन तथ्य या उद्भावना नहीं रखता है, केवल एक पिटी पिटाई कथा को एक अन्य नामकरण भर देता है। इस पृष्ठ-भूमि में कथा का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है—

'एक सखी इन्द्रावती को दुखकातर देखकर उसे एक कथा सुनाती है। एक वृक्ष पर दो सुआ आकर मिलते हैं। उनमें से एक सुआ चीड़ीमार के जाल में फँस गया था, वह उस जाल से किसी प्रकार मुक्त होकर अपने पुराने साथी से वृक्ष पर मिलता है। दोनों की वार्ता की दौरान में 'रूपनगर' की कन्या मालती का नाम आता है। उस समय मोहनपुर का राजा 'मधुकर' वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहा था। वह 'मालती' के रूप की प्रशंसा सुनकर प्रेम-वियोगी हो जाता है। इस प्रकार मधुकर उस सुआ को अपना गुरु बना लेता है। फिर 'मधुकर' का संदेश लेकर सुआ मालती के पास जाता है। इसके प्रत्युत्तर में मालती एक बनजारे के साथ सुआ को मोहनपुर भेजती है, मधुकर हाट से सुआ को मोल ले लेता है और मालती के वियोग में, राजपाट त्याग कर, उसे प्राप्त करने के लिए चल पड़ता है। परन्तु मार्ग में वह समुद्र में डूब जाता है, इस समाचार को सुआ मालती तक पहुँचाता है जिसे सुनकर मालती दुखी हो जाती है। इधर सुआ मधुकर को खोजने के लिए निकल पड़ता है और खोजते-खोजते वह 'मधुकर' को सैंरगपुर में प्राप्त करता है। इसके पश्चात् 'सुआ' 'मधुकर' को फुलवाड़ी में ले जाता है और उसे वहीं

छोड़ मालती को मधुकर के आने की सूचना देता है। इसे जानकर भी मालती प्रत्यक्ष रूप से मधुकर के सामने नहीं आती है। पहले वह केवल अपनी छायामात्र ही 'मधुकर' को दिखाना चाहती है। अतः इस ध्येय की पूर्ति के लिए सुआ मालती को फुलवारी की एक अटारी पर चढ़ाकर, मधुकर के हाथ में दर्पण देता है जिससे मधुकर 'उसका' प्रतिबिंब देख सके। इस छाया-रूप को देखकर मधुकर अचेत हो जाता है। अंत में, स्वयंबर के समय मालती मधुकर को जयमाल डालती है और दोनों प्रणय सूत्र में बँध जाते हैं।'

संक्षेप में कथा का यह रूप स्पष्ट करता है कि सुआ (गुरु) का स्थान कथा में मध्यस्थ का है। मालती और मधुकर का प्रेम विकास भी 'पद्मावत' की तरह ही है जिसका आध्यात्मिक रहस्य भी उसी प्रकार का है।[1] दर्पण में मालती का प्रतिबिंब देखकर, मधुकर के अचेत हो जाने का एक प्रतीकात्मक रहस्य है जिस पर प्रथम ही विचार हो चुका है।[2] अंत में आत्मा और परमात्मा (जीव और ब्रह्म) का मिलन, आध्यात्मिक मिलन का प्रतीक है। इस प्रकार कथा के स्वरूप, विकास एवं पात्र प्रतीकार्थ में कोई विशेष अंतर नहीं है (पद्मावती तथा इंद्रावती से) अंतर केवल इतना ही है कि इस कथा में शैतान तथा माया का व्यवधान नहीं है केवल एक स्थान पर मधुकर समुद्र में डूबता है।

(३) मानिक-हीरा कथा

इंद्रावती में यह तीसरी प्रतीकात्मक प्रसंग कथा है जिसे एक अन्य सखी इंद्रावती को सुनाती है। इस कथा का विस्तारक्रम 'पदुमावति' के उत्तरार्ध वाली कथा से भी समानता रखता है। इस कथा का भी ध्येय 'जीव कहानी' की भाँति जीव का 'आत्मा' के राज्य को छोड़ कर 'माया' के पाश में फँस जाना और अपने सत्य रूप के प्रति उदासीन होकर अपना अधःपतन कर लेना है। परन्तु अंत में जीव अपने को सुधार लेता है, और वह भी 'पवन' नामक दूत के द्वारा, जो 'आत्मापुर' के राजा का दूत है। इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में कथा का रूप इस प्रकार है—

'आतमपुर' का राजा 'आत्मा' है जिसके 'मानिक' नाम का एक पुत्र है। 'निर्मलपुर' की राजकुमारी 'हीरा' से उसका (मानिक) विवाह हो जाता है।

१—दे० दाम्पत्य प्रतीक के अन्तर्गत उप खंड 'ग' में।

२—दे० इसी उपखंड में प्रसगों के अंतर्गत (फुलवारी प्रसंग में)।

इसके पश्चात् मानिक 'राकस' के प्रलोभनों से 'मायापुर' के प्रपचजाल में फँस जाता है। अंत में राकस उसे एक फुलवारी मे ले जाता है जहाँ उसे रमा नामक राजकन्या के दर्शन होते हैं। मालिन के प्रयत्न के फलस्वरूप 'रमा' और 'मानिक' का विवाह हो जाता है। इस प्रकार मानिक 'मायापुर' की रूपराशि में बुरी तरह से फँस जाता है और उधर 'आतमा' मानिक को खोजने के लिए अनेक प्रयत्न करता है। अंत में वह पवन नामक दूत द्वारा 'हीरा' के चित्र के साथ मानिक को ढूँढने के लिए भेजता है। 'पवन' 'मानिक' को आखेट खेलते समय देखता है। इसके पश्चात् पवन के समझाने पर मानिक को बहुत पश्चात्ताप होता है। 'पवन' 'मानिक' को आतमापुर ले जाता है। और इस प्रकार हीरा और मानिक का पुनः मिलन हो जाता है।

इस कथा में दो बातें स्पष्ट है जो प्रतीकात्मक अर्थ की ओर संकेत करती हैं। एक है राकस (राक्षस) का चरित्र जो शैतान का रूप है। यहाँ पर जीव, शैतान, माया—इन तीन शक्तियो का स्पष्ट संघर्ष लक्षित होता है जिसमें जीव का आत्मलोक मानो नितात धूमिल पड़ जाता है और वह अज्ञानांधकार (माया) से आवृत्त हो जाता है। कवि का मन्तव्य स्पष्ट रूप से यहाँ पर 'जीव' की ट्रेजडी को दिखाना है। परन्तु कवि का ध्येय केवल ट्रेजडी तक ही सीमित नही है, वह ट्रेजडी के अंधकार से सुख तथा आनन्द का प्रकाश भी दिखाना चाहता है। इस हेतु उसने कथा में दूसरे तत्त्वों का समावेश किया है जो सम्पूर्ण कथा को एक तात्त्विक अर्थ प्रदान कर देता है। मानिक को माया के जाल से मुक्त करना और उसे फिर आतमा के राज्य में प्रविष्ट कराना—ये दोनों प्रमुख कार्य 'पवन' के द्वारा ही होते हैं। यह 'पवन', सूक्ष्म रूप से, शरीर के अंदर व्याप्त प्राणवायु है जो साधक को 'सहजावस्था' तक पहुँचाती है। अतः इस कथा का भी महत्त्व मनोवैज्ञानिक है जिसमें मन की अधोगति और फिर उसकी उन्नति का मार्ग प्रदर्शित किया गया है।

(ङ) पात्रों का प्रतीकार्थ

उपर्युक्त सभी उपखंडों के विवेचित प्रतीकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संपूर्ण सूफी कथाओं में प्रतीकात्मक पात्रों का एक विशिष्ट स्थान है जो कथाक्रम को एक तात्त्विक भावभूमि पर लाता है। इस कथा-रूपक में पात्रों की स्वतंत्र सत्ता भी है और साथ ही उनका एक सबल अन्योन्य संबंध भी। यह ठीक है

कि पात्र निरपेक्ष होते हुए भी सापेक्ष ही अधिक हैं, और उनके कार्यकलाप किसी लक्ष्य की ही व्यंजना करते प्रतीत होते हैं। यह लक्ष्य दो प्रकार के पात्रों की सृष्टि करता है। एक वे जो शुभ वृत्तियों के प्रतीक रूप हैं (जैसे रत्नसेन, पद्मावती, इद्रावती और कुंवर आदि) और दूसरे वे जो अशुभ प्रवृत्तियों के क्रियात्मक रूप हैं (जैसे अलाउद्दीन, राघव चेतन आदि)। तीसरे प्रकार के पात्र वे हैं जो इन दोनों वर्गों के मध्य में आते हैं (जैसे देवी, देवता, शुक आदि) जो शुभ पात्रों के मार्ग प्रदर्शक तो होते हैं परन्तु प्रथम उनकी परीक्षा लेते हैं। यह तथ्य केवल 'नायक' में ही अधिक विस्तार प्राप्त करता है, अन्य शुभ पात्रों के प्रति इस वर्ग के पात्रों का परीक्षात्मक दृष्टिकोण नहीं होता है। पात्रों के ये तीन वर्ग प्रायः सूफ़ी काव्य में प्राप्त होते हैं। इन पात्रों में अध्यात्म की गहनता है, (कुछ में) मनोविज्ञान का परिस्थितिजन्य घात-प्रतिघात है, इतिहास का पुट है (कुछ में), और कहीं-कहीं पर जीवन के कर्मक्षेत्र के पक्ष का सुंदर समाहार भी है। इन सभी तत्त्वों की मिली-जुली अभिव्यक्ति इन पात्रों के स्वरूप निर्माण में न्यूनाधिक मात्रा में देखी जा सकती है। इस तथ्य के प्रकाश में पात्रों के प्रतीकात्मक अर्थ-विस्तार में केवल कल्पना का ही आश्रय अधिक रहता है। अंग्रेज़ी लेखक प्रेसकोट का यही मत है जब वह कहता है—'पात्रों का बौद्धिक सृजन सदैव कल्पनाश्रित पात्रों से हीन ठहरता है—प्रथम स्वाभाविकता में और जीवन के सत्य में तथा द्वितीय, मौलिकता एवं महत्त्व की गहनता में।'[1] इस कथन में बौद्धिक पात्रों को सदा सर्वदा के लिए कल्पना से सृजित पात्रों से हीन एवं निम्नकोटि का कहा गया है। परन्तु मानसिक प्रक्रिया की दृष्टि से भी देखें तो किसी भाव तथा विचार की अभिव्यक्ति में, उसे वाह्य साकार रूप देने में, जहाँ एक ओर कल्पना की उन्मुक्तता कार्य करती है वहीं उसमें तत्त्व एवं तथ्य समावेश का कार्य बुद्धि ही करती है। अंत में, अनुभूति इन दोनों को समन्वित कर कवि की भावभूमि को आलोकित कर देती है। सत्य में, पात्रों का अनुभूतिपरक निर्माण ही उनके स्वरूप को स्थिर कर देता है जिसमें कल्पना एवं संवेदना का सलिल प्रवाह,

---

१—"But intellectually created characters will always be inferior and will betray its inferiority to the imaginatively created one—first in naturalness and truth of life and secondly in originality and depth of significance."

—The Poetic Mind by Prescott p. 187.

बुद्धि की संयमित भित्ति के द्वारा उच्छ्रंखल नहीं होने पाती है। अतः केवल कल्पना और भावना ही किसी पात्र के निर्माण के लिए आवश्यक नहीं है। उसके लिए बुद्धि की बागडोर भी अत्यन्त आवश्यक है।

अस्तु, सूफ़ी काव्य में प्रतीकात्मक दृष्टि से कल्पना, बुद्धि और अनुभूति इन तीनों का समन्वय तो प्राप्त होता है पर कहीं कहीं पर उनके पात्रों में कल्पना का अतिरंजित आग्रह हो जाता है। यह बात रत्नसेन तथा पद्मावती के विरह तथा रूप वर्णन में स्पष्ट लक्षित होती है। यहाँ पर मेरा यह मत नहीं है कि जायसी आदि कवियों का विरह तथा रूप वर्णन व्यर्थ का वितंडा है। उनका महत्त्व, जैसा कि संकेत किया जा चुका है, तात्त्विक तथा आध्यात्मिक ही अधिक है। परन्तु यहाँ पर प्रश्न कथानक तथा पात्र के विकास क्रम का है और उस क्रम में उस पात्र के प्रतीकात्मक अर्थ का। सत्य तो यह है कि इन पात्रों के विकास-क्रम में ऐसे प्रसंग-विस्तार उनके स्वाभाविक रूप को दबा देते हैं। यदि कवि इन प्रसंगों के विस्तार में, उनकी कल्पनात्मक अभिव्यक्ति में जरा संयम से काम लेता तो पात्रों के चरित्र-निर्माण में, उनके प्रतीकार्थ में अधिक गंभीरता एवं मुखरता का रूप स्पष्ट हो सकता। नूर मोहम्मद ने इंद्रावती में ऐसी उच्छ्रखल कल्पना से कम ही काम लिया है, परन्तु जायसी ने 'पद्मावत' में ऐसी कल्पना का अधिक विस्तार किया है। इद्रावती में ऐसी कल्पना की न्यूनता उसे आध्यात्मिक अर्थ देने में ज़रा भी बाधक नही हुई है अपितु उस अर्थ को अधिक गंभीरता दे सकी है। फिर भी, आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, ये पात्र अधिकांशतः किसी धारणा तथा भाव के ही प्रतिरूप हैं। इसी से उनका प्रतीकार्थ सुरक्षित है।

'पद्मावत' और 'इंद्रावती' की कथाओं की प्रतीकात्मकता पर समान रूप से कहा जा सकता है कि दोनों कथाओं का ध्येय मानसिक तथा आध्यात्मिक सत्य का उद्घाटन करना है। दूसरी वस्तु जो पदमावत में ही प्राप्त होती है, वह है कथा की आंशिक ऐतिहासिकता। अतः इन कथाओं के पात्रों (प्रतीकरूप) पर विचार करते समय इन सभी तत्त्वों को ध्यान में रखना आवश्यक है, क्योंकि पात्रों के प्रतीकात्मक अर्थ में इन सभी तत्त्वों का न्यूनाधिक समावेश प्राप्त होता है।

पद्मावत के कवि ने कथा-काव्य के अंत में जो कोष दिया है, वह पात्रों के प्रतीक रूप को भी स्पष्ट करता है।

'चित्तौड तन का प्रतीक है जिसका राजा रत्नसेन मन है। सिंघल हृदय है, पद्मावती बुद्धि है, नागमती दुनिया धंधा है, सुआ गुरू है और राघव तथा अलाउद्दीन क्रमशः शैतान और माया के प्रतीक हैं।'[1]

इस कोष के सम्यक् अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि पूरी कथा मूलतः मनोवैज्ञानिक है जिसे कवि ने आध्यात्मिक भावभूमि पर सुन्दरता से घटित किया है। इस कोष को बहुत से विद्वान प्रक्षिप्त मानते हैं।[2] डा० कमल कुलश्रेष्ठ इसे निरर्थक ही घोषित करते हैं। उनका कहना है कि मन के दो प्रतीक हैं—रत्नसेन और सिंघल, तथा माया के तीन प्रतीक हैं—नागमती, अलाउद्दीन और राघव चेतन। अतः कथा के पात्रों के और इस कोष में दिये पात्रों के प्रतीकार्थ में काफ़ी अंतर दृष्टिगत होता है जो कोष को बरबस प्रक्षिप्त तथा निरर्थक ही घोषित करता है।[3]

संक्षेप में कथा-पात्रों की प्रतीकात्मकता के प्रति तथा कोष के प्रति विद्वानों में मतभेद तो है ही, पर इसके साथ साथ 'पद्मावत' की प्रतीकात्मकता के प्रति (आध्यात्मिक) सभी समालोचक एकमत हैं। यह दूसरी बात है कि वे जायसी द्वारा दिए गए कोष को अमान्य ही क़ुबूल दें। दूसरी ओर इंद्रावती के पात्रों में इस प्रकार का मतभेद नहीं है, क्योंकि यहाँ पर पात्रों की संख्या भी कम है और जो भी पात्र हैं वे स्वतंत्र रूप से किसी एक ही विचार के वाहक हैं। दूसरी ओर इस अन्तर के होने के अतिरिक्त रत्नसेन तथा पद्मावती मूलतः वे ही अर्थ-व्यंजना करते हैं जो हमें इंद्रावती तथा कुँवर में प्राप्त होते हैं। केवल परिस्थिति तथा विकास-क्रम में भेद माना जा सकता है, परन्तु वह भी अनेक स्थलों पर समान ही दृष्टिगत होता है। इन प्रमुख पात्रों का ध्येय तथा लक्ष्य भी मूलतः वहीं है जो 'इंद्रावती' और 'पद्मावत' के पात्रों को समान भावभूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं।

पात्रों के प्रतीकार्थ के लिए, जैसा कि प्रथम संकेत किया गया, अध्यात्म तथा मनोविज्ञान—दोनों दृष्टियों से देखना आवश्यक है। यह तथ्य प्रत्यक्ष रूप से स्वयं कोष से ही परिलक्षित होता है। उसमें चित्तौड़, सिंघल, रत्नसेन पद्मावती मानव शरीर एवं मन से ही संबंधित हैं। नागमती, राघव तथा अलाउद्दीन भौतिक जगत से संबंधित हैं जो मानव मन तथा बुद्धि के मार्ग में

१—जा० ग्र० 'उपसंहार' पृ० ३४१।

२—जा० ग्र० सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, भूमिका, पृ० १३।

३—मलिक मोहम्मद जायसी, द्वारा डा० कमल कुलश्रेष्ठ, पृ० ६८।

व्यवधान रूप से आते हैं। स्वयं जायसी ने उपसंहार वाले कोत्र में ये पंक्तियाँ आरम्भ में कही हैं जो पूरी कथा को शरीरान्तर्गत ही ठहराता है—

चौदह भुवन जो तर उपराहीं।
ते सब मानुष के घट माहीं ॥[1]

इस प्रकार जायसी ने मानव-शरीर तथा उसके बाहर की शक्तियों का अन्योन्य संघर्ष ही उपस्थित किया है। यह संघर्ष परम्परा से चला आता हुआ 'ऐतिहासिक' संघर्ष है। इसे व्यक्त करने के लिए कवि ने इतिहास का भी सहारा लिया है। परन्तु उसका ध्येय आध्यात्मिक ही माना जायगा और उस ध्येय की पूर्ति के लिए उसने केवल इतिहास-भावना का 'पुट' भर दिया है। दूसरे पक्ष में, आध्यात्मिक मनोविज्ञान से संबंधित ये पात्र एक तात्विक संदर्भ को ही आश्रय देते है। मन या रत्नसेन अथवा कुँवर ही मानसिक क्रियाओं की क्रमिक अवस्थाओं से होते हुए इस आध्यात्मिक क्षेत्र के परमोज्जवल प्रकाश की अनुभूति प्राप्त करते है। अतः मानसिक जगत का अनुभव ही क्रमशः आध्यात्मिक क्रिया मे अनुभूति का रूप ग्रहण कर लेता है। इस अभियान में मन के सम्मुख तीन व्यवधान आते है, प्रथम नागमती तथा उसके पश्चात् राघव और अलाउद्दीन। कवि ने यह अद्भुत योजना सोद्देश्य की है जिसका विवेचन अपेक्षित है।

कवि ने नागमती को गोरखधंधा का प्रतीक माना है। कवि ने उसे कहीं पर भी मन (रत्नसेन) के प्रयत्नों का बाधक चित्रित नहीं किया है जिस प्रकार राघव तथा अलाउद्दीन को। इसका प्रमुख कारण तीनों पात्रों की धारणा का सूक्ष्म अंतर है जिसे हृदयंगम किये बिना आलोचक इन तीनों पात्रों को 'माया' का प्रतीक मान बैठते हैं। नागमती तो रत्नसेन की 'पहिल-बियाही' पत्नी है, वह तो उसका (मन) एक अभिन्न अंग है। उसका प्रतीक रूप एक संयम का सुदर रूप है। लौकिक क्षेत्र में वह संसार-चक्र का प्रतीक है जो मन के साथ आरम्भ से लगी हुई है। अतः रत्नसेन से उसका जो भी संबंध कवि को मान्य है, वह संसार-सापेक्ष ही है। जीव के लिए संसार का रूप हेयपरक तथा व्यर्थ नही है क्योकि उसी की आधारशिला पर वह अनुभव तथा ज्ञान की भूमिका प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से 'नागमती' मन की एक प्रवृत्ति ही है जो प्रवृत्तिमूलक है, वह मन का एक अविच्छिन्न अंश है। स्वय कवि ने इस तथ्य का स्पष्ट संकेत किया है, जब वह कहता है—

१—जा० ग्र०, पृ० २४१।

धूप छाँह दोउ पीय के संगा।
दूना मिल रहहिं इक संगा॥
गंग जमुन तुम नारि दोउ, लिखा मुहम्मद जोग।
सेव करौ मिलि दूनौं, तो मानहु सुख भोग॥[1]

यहाँ पर कवि ने नागमती को मन की विषयवासनाओं तथा ससार का समन्वित प्रतीक ही माना है जो पद्मावती की सापेक्षता में एक अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यही कारण है कि सारी कथा में नागमती को एक आदर्श नारी का रूप दिया गया है, क्योंकि मानसिक अभ्युत्थान के लिए निम्न मानसिक स्तर (नागमती) के उन्नयन का आध्यात्मिक महत्त्व है नकि उसके तिरोभाव का। इसी से दोनों नारी पात्रों को कवि ने मिलकर एक साथ रहने की बात कही है। उपनिषद् की शब्दावली में कहें तो नागमती 'प्राण' की प्रतीक है जो इंद्रियों के संघात रूप का शब्द है। 'प्राण' में ही समस्त इंद्रियों की क्रियाओं का संयमन होता है, अतः मन ही प्राण है।[2] इसी से प्राणमय कोष के बाद ही मनोमय कोष का स्थान उपनिषदों ने दिया है। अतः प्राण शक्ति के द्वारा ही 'मन' की ऊर्ध्वरूपता दृष्टिगत होती है जो विज्ञानमय कोष (बुद्धि) के साथ आनंद (कोष) की चरम दशा तक मानव को ले जाती है। मेरे विचार से नागमती को कवि ने जो गोरखधंधा कहा है उसका मनोवैज्ञानिक रहस्य यही है। उसे हम माया का प्रतीक नहीं मान सकते हैं, यह ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है।

अब रहा माया और शैतान का पक्ष। कवि ने अलाउद्दीन को माया का और राघव को शैतान का प्रतीक माना है। मिलन के पूर्ण न होने में अलाउद्दीन तथा राघवचेतन दोनों का क्रियात्मक योग है। सत्य में, 'मन और बुद्धि' (आत्मा व परमात्मा) के मिलन के बाद इन शक्तियों का क्रियात्मक रूप कवि ने हमारे सामने रखा है। यहाँ पर शैतान का रूप सामी परंपरा से गृहीत हुआ है। सामी परम्परा में शैतान ईश्वर का अंश है जो आदम तथा हौवा को स्वर्ग से च्युत करता है। यहाँ पर राघव चेतन पद्मावती तथा रत्नसेन के मिलन हो जाने के बाद उनमें पार्थक्य का बीज डालने की कोशिश करता है, जिस प्रकार शैतान ने आदम तथा हौवा के संयोग में वियोग का बीज डाला था। शैतान को भारतीय परम्परा में

१—जा० ग्र०, नागमती पद्मावती खंड, पृ० २२५।

२—मन और प्राण के संबंध पर दे० अध्याय २ मनोवैज्ञानिक प्रतीकवादी दर्शन में।

'असुर' कहा जा सकता है जो देवों की शक्ति के विरुद्ध सदैव उद्यत रहते थे। राघवचेतन, शैतान का वह रूप है जिसे स्वयं कवि ने इन शब्दों के द्वारा अपरोक्ष रूप से शैतान कहा है—

> तू चेतन औरहिं समुझावै,
> चेतन तो कहँ को समुझावै।[1]

पद्मावत में शैतान को 'माया' का पूरक माना गया है क्योंकि वह अलाउद्दीन के कार्य को एक प्रकार से पूरा करने में सहायता प्रदान करता है। यहाँ हम यह कह सकते हैं कि अलाउद्दीन (माया) का क्रियात्मक रूप यह राघव चेतन (शैतान) है। अस्तु माया एक शक्ति है और इस शक्ति की सहायता से राघव चेतन पद्मावती तथा रत्नसेन में विछोह कराता है। अतः कवि ने इन दोनों पात्रों के द्वारा एक अत्यन्त सूक्ष्म अंतर को हमारे सामने रखा है और वह अंतर है माया तथा शैतान का जो सामी परम्परा की भारतीय परिणति ही मानी जा सकती है। ये तीनों पात्र—नागमती, राघव तथा अलाउद्दीन—माया के प्रतीक नहीं हैं वरन् उनका प्रतीकार्थ अपने में स्वतंत्र अर्थ की अवतारणा करता है।

कथा के उत्तरार्ध का रूप-विस्तार क्यों किया गया है इसका एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है तथा कर्मक्षेत्र-परक तथ्य है जिस पर मैं सूफी प्रतीकों के अंतर्गत साक्षी प्रसंग में पूर्ण विवेचन कर चुका हूँ।

इन पात्रों का प्रतीकार्थ आध्यात्मिक मनोविज्ञान की कसौटी पर ही आँका जा सकता है। आध्यात्मिक विकास में आत्मा को परमात्मा की अनुभूति कराने में 'गुरु' (सुआ) की आवश्यकता पर पहले ही संकेत किया जा चुका है। वह केवल मात्र संकेत भर देता है और सारा का सारा प्रयत्न स्वयं साधक को करना पड़ता है। परन्तु पद्मावत में सुआ केवल रत्नसेन को ही नहीं पर नायिका को भी सहायता देता हुआ प्रतीत होता है। अतः सुआ का जितना व्यापक प्रतीकार्थ 'पद्मावत' में प्राप्त होता है उतना इंद्रावती में तापस का नहीं। सुआ का जो व्यक्तित्व कवि ने चित्रित किया है वह मन और बुद्धि के मध्यस्थ का द्योतक अथवा आत्मा और परमात्मा के बीच की कड़ी है।

इस रूढ़ अर्थ के अतिरिक्त कवि ने सुआ को 'प्राण' का भी प्रतीक माना है, वह कहता है—

१—जा० ग्र०, राघव चेतन देश निकाला खंड, पृ० २३३।

हीरामन ! तू प्रान परेवा ।
धोख न लाग करति तोहि सेवा ।।[1]

अथवा कहीं-कहीं पर उसे आत्मा भी कहा है ।[2]

अतः सुआ की धारणा में तीन तत्त्वों का समावेश हुआ है—गुरु, प्राण तथा जीवात्मा । आध्यात्मिक दृष्टि से ये तीनों रूप समीचीन हैं । बाह्य रूप में वह गुरु है, आंतरिक रूप में वह प्राणवायु है और शरीरान्तर्गत वह जीवात्मा का प्रतीक है । जब यह कथा कोषानुसार शरीर-गत रूप में देखी जाती है तब सुआ के अदर प्राणवायु का प्रतीक सहज रूप में दृष्टिगत होता है । इस प्रकार मनस्तत्व की दृष्टि से अनेक पात्रों के प्रति अनेक भ्रान्तियों का निरा-करण हो जाता है और साथ ही पात्रों के व्यापक अर्थ का रूप भी स्पष्ट हो जाता है ।

इंद्रावती के पात्रों पर पूर्ण रूप से विचार दाम्पत्य प्रतीकों तथा साक़ी के अंतर्गत हो चुका है । उनका विकास एक सरल रेखा में ही होता है । इंद्रावती, कुँवर तथा बुद्धसेन का प्रतीकार्थ परमात्मा, आत्मा और माया से स्पष्टतया गृहीत होता है । पात्रो का प्रतीकात्मक अर्थ क्रमिक रूप से विकास प्राप्त करता है । यह विकास अपने में पूर्ण है ।

निष्कर्ष : सूफ़ी काव्य की उपर्युक्त प्रतीक योजनाओं की भावभूमि को ध्यान में रखकर हम कह सकते हैं कि उन्होंने समस्त क्षेत्रों में प्रतीकात्मक समन्वय ही करने का सफल प्रयास किया है । अनेक समालोचकों का मत है कि सूफ़ी प्रेम काव्य का एकमात्र ध्येय सूफ़ी सिद्धांतो का प्रचार करना था । इसी से उन्होंनें अपने मत को भारतीत जामा पहना कर एक अत्यंत चटकीले रूप में हमारे सामने रखा है । इस मत से मुझे कोई मतभेद नहीं है । परंतु प्रतीक-दर्शन का जहाँ तक प्रश्न है, यह मत मान्य नहीं हो सकता है । उन्होंने जिन भारतीय चितना पर आश्रित प्रतीको को ग्रहण किया है उन्हे उन्होने अधिकतर भारतीय रूप में ही चित्रित किया है । दूसरी ओर अपने सूफ़ी प्रतीकों को भी भारतीय वातावरण के अनुकूल रूपांतरित करने का प्रयत्न किया है । मेरे विचार से 'साक़ी' तथा 'सात मुक़ामो' में यह प्रवृत्ति अत्यंत मोहक रूप से उभर कर सामने आई है । यही नहीं, उनकी गाथाओ में जो भी पात्र हैं, वे सूफ़ी प्रभाव

१—जा० ग्रं०, जन्म खंड, पृ० २६ ।

२—वही, पृ० ३१ ।

से कहीं अधिक भारतीय प्रभाव के द्योतक हैं जिनका यथास्थान विश्लेषण हो चुका है। पात्रों के सम्पूर्ण विगत विवेचन के आधार पर यह तथ्य भासित होता है कि उनके प्रमुख पात्र अध्यात्म, मनोविज्ञान, इतिहास (कुछ में) तथा जीवन के कर्म-क्षेत्र के समन्वय के द्वारा ही अपने स्वरूप का विकास करते हैं और इस प्रकार किसी विशिष्ट धारणा मे स्थिर हो जाते हैं।

इसी समन्वयात्मक प्रवृत्ति का रूप हमें अन्य क्षेत्रों में भी प्राप्त होता है। उनके योग-परक प्रतीकों में भारतीय साधना एवं तत्त्व-दर्शन का ही अधिक स्पंदन है। उनके प्रेम प्रतीकों में भारतीय प्रणय-भावना तथा वस्तुएँ ही अधिक हैं। उनके तत्त्वनिर्देशों में वेदान्त, योग तथा सूफ़ी विचारधाराओं का समन्वय है और उनकी वर्णन शैली पर भारतीय प्रभाव ही अधिक है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि प्रतीक की धारणा में कभी कभी अनेक तत्त्वों का एक साथ समाहार प्राप्त होता है जैसा कि संत काव्य में दृष्टिगत होता है। इन सब कारणों के प्रकाश में हम कह सकते हैं कि सूफ़ी काव्य की प्रतीक योजना में समन्वय और सारतत्त्व ग्रहण की ही प्रवृत्ति अधिक है।

सूफ़ी प्रतीकों के अध्ययन से एक तथ्य और भी सामने आता है जो धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र से सम्बंधित है। अपने प्रतीकों—मुख्यतः योग-परक तथा सूफी भावधाराओं —के द्वारा उन्होंने तत्कालीन हिंन्दू-मुस्लिम प्रति-द्वन्द्विता को भी धार्मिक धरातल पर लाकर मिटाने का प्रयत्न किया। समाज तथा धर्म के लिए उन्होंने यह आवश्यक समझा कि प्रतीक की समन्वयात्मक भूमि ही उस द्वद को, उस संघर्ष को, मानव के भावात्मक धरातल पर शात कर सकती है। इसी से सूफ़ी कवियों ने अपने प्रतीकों के द्वारा प्रेम की गंगा बहाई, हिंदू तथा मुसलमानों के मतभेद को दार्शनिक भावभूमि पर लाकर मिटाने का प्रयत्न किया और उनके धार्मिक ज्ञान में समानताओं की ओर भी संकेत किया। अनेक प्रतीक (जैसे चार अवस्थाएँ, सात मुक़ाम, अल्लाह, शराब आदि) इस समानता को अत्यंत स्पष्ट रूप में रखते हैं। यह सिद्ध करता है कि दो धार्मिक मत भी अनेक प्रतीकों के द्वारा एक ही रेखा में आ सकते हैं। मेरे विचार से उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता को इन सूफ़ी कवियों ने अपने प्रतीकों के द्वारा पूरा किया है।

एक अन्य दृष्टि से भी सूफ़ी काव्य का एक अपना महत्त्व है और वह है प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में। उनका सम्पूर्ण काव्य आदि से लेकर अंत तक प्रतीकात्मक संदर्भों से भरा पड़ा है। उसमें प्रतीकात्मक प्रस्थापनाएँ

भी हैं जो भाषा के शब्द-प्रतीकों की तार्किक एकरूपता की ओर संकेत करती हैं। उसमें प्रतीकात्मक प्रसंग भी हैं जो कथा के अंग होने के साथ एक अपना स्वतंत्र प्रतीकात्मक व्यक्तित्व रखते हैं। और इनके साथ साथ प्रतीकात्मक मूल कथा भी है जिसका प्रत्येक पात्र एक धारणा का प्रतिरूप है जिसके द्वारा कवि तत्त्व निर्देश करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण सूफ़ी काव्य का कलेवर प्रतीकात्मक ही कहा जा सकता है।

षष्ठ अध्याय

राम-भक्ति काव्य में प्रतीक योजना

(क) पृष्ठभूमि

निर्गुण भक्ति काव्य में ब्रह्म के अव्यक्त अथवा निर्गुण रूप पर ही अधिक आसक्ति थी। सगुण धारा में ब्रह्म के साकार सगुण रूप की अभिव्यक्ति अपने चरम रूप में प्राप्त होती है। संतों और सूफ़ियों ने अपनी प्रेम-भावना को साकार रूप देते हुए भी उसे मूलतः निर्गुण ही रखा है। दूसरी ओर जब हम सगुण धारा के प्रतीकों का सिंहावलोकन करते हैं तो उनमें प्रेम-भक्ति की अंतः-प्रवाहिनी की उन्मुक्तता पाते हैं, उनमें उस गुरु गंभीरता एवं अस्पष्टता के कम ही दर्शन होते हैं जो निर्गुण काव्य के प्रतीकों में कभी-कभी प्राप्त होते हैं। सम्पूर्ण सगुण भक्ति काव्य की भावभूमि को ध्यान में रखकर उनके प्रतीकों के बारे में कहा जा सकता है कि कृष्ण काव्य में जो अनेक प्रसंगों का स्वतंत्र प्रतीकात्मक महत्त्व था वह रूप हमें रामकाव्य के प्रतीकों में प्राप्त नहीं होता है। रामकथा का एक अत्यन्त अर्थगर्भित रूप तो अवश्य है, परन्तु अंशों के रूप में नहीं है जैसाकि कृष्ण काव्य में स्पष्ट लक्षित होता है (लीलाएँ आदि), दूसरी ओर रामकथा का प्रतीकार्थ सारे संदर्भ को अपने अंदर समेटता है। सत्य तो यह है कि रामकथा को वह प्रतीकात्मक अर्थ देने की प्रवृत्ति ही नहीं रही जो हम कृष्णकाव्य को युगों से देते चले आ रहे हैं। यही कारण है कि रामकथा के प्रतीकार्थ की ओर बहुत ही कम कार्य हुआ है और जो हुआ है वह अत्यन्त अस्पष्ट है और स्वयं विद्वानों ने उसे मान्यता नही दी है। आगे के पृष्ठों में मैंने इस कमी को कुछ सीमा तक पूरा करने का पूर्ण प्रयत्न किया है।

सगुण काव्य की इस प्रतीकात्मक समान प्रवृत्ति में दूसरी समान प्रवृत्ति अवतारवाद की धारणा है। इस अवतार भावना ने भक्ति काव्य की आधार-

शिला को एक नवीन रूप प्रदान किया है। यही कारण है कि सगुण काव्य के प्रतीकों में अवतार के रहस्य की भावना का विकास प्राप्त होता है। इस अवतार की भावना ने लीला तत्त्व की अवतारणा की जो अपने निजी रूप में प्रतीकात्मक अर्थ से संयुक्त है। 'लीला' का अर्थ, तात्त्विक दृष्टि से, रस, आनंद और लीला के समन्वित रूप का द्योतक है जिस प्रकार अंग्रेजी भाषा के तीन शब्द 'मोशन', 'लाइफ़' और 'आर्ट' अर्थ समष्टि के परिचायक हैं।[१]

इस विहंगम दृष्टि से सम्पूर्ण सगुण भक्ति काव्य के प्रतीकों की पृष्ठभूमि हमारे सामने मुखर हो जाती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से इन दोनों भक्ति-धाराओं पर रामानन्द, वल्लभाचार्य, माध्वाचार्य आदि वैष्णव विचारकों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है जिसके कारण भक्ति 'रहस्यवाद' का सुन्दर विकास सम्भव हो सका। धार्मिक प्रतीकवाद की दृष्टि से इन भक्त कवियों ने ईश्वर की धारणा का विकास मानवीय अनुभव के व्यक्त संदर्भ में सफलता से सम्पन्न किया है। यदि यह ईश्वर या परमात्मा की भावना विविध प्रतीकात्मक रूपों में व्यक्त न हो सकी, तो उसका महत्त्व 'धर्मशास्त्र' के लिए कैसे हो सकता है? सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो धर्मशास्त्र का उद्देश्य परमात्मा नहीं है, पर उसका उद्देश्य परमात्मा के विविध रूपों के अभिव्यक्तीकरण में है। इस प्रकार यदि हम पाल जे० टिलिक के शब्दों में कहें कि 'धार्मिक प्रतीक मानवीय मन के स्तरों का उद्घाटन करते हैं और साथ ही परमतत्त्व (या सत्य) का रूपात्मक साक्षात्कार कराते हैं,[२] तो अत्युक्ति न होगी। राम तथा कृष्ण-काव्य इसी सत्य का उद्घाटन अपने तात्त्विक प्रतीकात्मक संदर्भों के अंतराल से करते हैं। सच तो यह है कि इन काव्यों का मुख्य सौंदर्य उनके काव्यगत 'रूप' के साथ-साथ उनके प्रतीकात्मक अर्थ-गरिमा में कहीं अधिक सन्निहित है। यदि हम उनके प्रतीकार्थ के प्रति नेत्र बन्द कर लेगे तो हो सकता है कि हम उनके सही अर्थ को कालान्तर में नितात विस्मृत कर दें। ऐसा दुर्भाग्यपूर्ण दिवस केवल राष्ट्र एवं मानव चेतना के लिए ही हानिकर न होगा वरन् इन पौराणिक कथाओं का मूल्य ही लुप्त हो जायगा।[३]

१—दे० कल्याण संख्या ६, मार्च १६४६ में लेख 'लीला रहस्य' द्वारा क्षेत्रलाल साहा, पृ० ६४७, गीता प्रेस गोरखपुर।

२—रिलीजस सिम्बालिज्म सं० एफ़० अर्नेस्ट जानसन में टिलिक का लेख 'थियेरी आफ सिम्बलिज्म पृ० १०६।

३—पौराणिक कथाओं तथा प्रतीकों के लिए दे० अध्याय प्रथम, उपखंड ख में।

अवतार भावना

पौराणिक कथाओं के प्रतीकार्थ की आधारशिलाएँ अवतार तथा लीला-भवनाएँ है। अवतार-भावना के महत्त्व-दिग्दर्शन के प्रकाश में रामकथा का प्रतीकार्थ भी अवलम्बित है।

अवतार-भावना का क्रमिक विकास ऋग्वेद से लेकर पुराणों तक प्राप्त होता है। ऋग्वेद में अवतार की भावना अत्यन्त अस्पष्ट है, क्योंकि वहाँ पर प्रकृति शक्तियों के प्रति एक जिज्ञासा एवं रहस्य-भावना के दर्शन होते हैं।[1] मानवीकरण की प्रवृत्ति ही अवतार-भावना का आदितम मूल है। परन्तु इस मानवीकरण में और अवतार में एक स्पष्ट अंतर है। अवतार में तात्त्विक अर्थ के साथ किसी शक्ति विशेष का प्रसार मानवीय धरातल पर होता है—वह यथार्थ की कसौटी पर आश्रित होता है। दूसरी ओर मानवीकरण में यह तत्त्व बहुत क्षीण रूप में प्राप्त होता है। इस दृष्टि से अवतार का रहस्य मानवीय जीवन में 'दिव्यात्मा' का प्रसार है—एक प्रकार से दिव्य चेतना का धरती पर अवरोहण है। इसी तथ्य की सुंदर अभिव्यंजना 'गीता' में इस प्रकार प्राप्त होती है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानीमीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभावाम्यात्ममायया ।।[2]

अर्थात् 'यद्यपि मैं अज और अपरिवर्तनशील हूँ और यद्यपि मैं समस्त भूतों का ईश्वर हूँ फिर भी मैं अपनी प्रकृति शक्ति के साथ और आत्म प्रकाश्य शक्ति के साथ अवतीर्ण होता हूँ।' स्पष्ट रूप से यही दिव्यात्मा का अवरोहण है जिसकी ओर गीता संकेत करती है।

इस दृष्टि से अवतार का तात्त्विक अर्थ वेदों की रहस्यात्मक प्रवृत्तियों का सामान्य मानवीय धरातल पर दिग्दर्शन कराना है। इसी से यह कहना नितान्त तार्किक होगा कि पुराण साहित्य में अवतारों के बहाने वेदों का रहस्य ही खोला गया है।[3] महर्षि अरविंद ने एक परम-चेतना का विकास ही द्रव्य से आत्मा तक माना है जिसे उन्होंने 'चेतन-शक्ति' की संज्ञा प्रदान की है। यही चेतना शक्ति मानसिक चेतना से उच्च स्थिति में उस समय हो जाती है

१—इस प्रसग का पूर्ण विवेचन अध्याय १, उपखड क में हो चुका है।
२—श्रीमद्भगवद्गीता, ज्ञानयोग श्लोक ६, पृ० १४१।
३—उपनिषद् चिंतन, द्वारा देवदत्त शास्त्री, पृ० ५३।

जब वह अति चेतना की दशा में पहुँचती है।[1] अवतार में भी चेतना शक्ति का अवरोहणात्मक विकास ही अवतार है जो ऊर्ध्व तथा निम्न स्तरों को एक सूत्र में अनुस्यूत करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि तात्त्विक दृष्टि से अवतार अक्षर पुरुष का क्षर रूप में विस्तार ही है। क्षर पुरुष की अवतारणा विविध रूपों में होती है और अक्षर पुरुष उसमें व्याप्त रहते हुए भी अलग रहता है। अक्षर पुरुष की पाँच कलाएँ मानी गयी हैं—ब्रह्मा, विष्णु, इंद्र, अग्नि और सोम। इन कलाओं का विकास ही 'वह' क्षर रूप में करता है जिसमें 'रस' की धारा अन्तर्व्याप्त रहती है।[2]

आधुनिक वैज्ञानिक दर्शन के प्रकाश में भी विकास परम्परा (Evolution) का क्रमिक रूप चेतना तथा भौतिक संगठन का अन्योन्याश्रित रूप है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर भारतीय अवतारों की दस अवस्थाएँ क्रमशः मानवीय विकास की रूपरेखा ही स्पष्ट करती है।[3] आधुनिक विकासवादी सिद्धान्त मानव का उदय अनायास नहीं मानता है वरन् उसका क्रमिक विकास मानता है। यह विकास की एकसूत्रता हमारे दस अवतारों में स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है। प्रथम अवतार 'मत्स्य' है जो नितान्त जल में रहने वाला जीव है। इसके बाद दूसरा कूर्म है जो अंशतः जल में और अंशतः पृथ्वी पर रह सकने में समर्थ है। इस कूर्म की दशा पर विकास का एक क़दम आगे बड़ा प्राप्त होता है जो वैज्ञानिक शब्दावली में 'Amphibian' की दशा कही जा सकती है। 'वाराह' अवतार तक आते-आते स्तनधारी जीवों (Mammals) का प्रादुर्भाव होता है जो धरती पर ही रहते हैं। चौथे अवतार में नरसिंह का नाम आता है, जो एक ओर 'नर' और दूसरी ओर 'सिंह' की मिश्रित अभिव्यक्ति है, ज यह तथ्य प्रकट करती है कि मनुष्य में पशु का अंश अब भी वर्तमान है जिसका उन्नयन होना अपेक्षित है। इसकी पूर्ति 'वामन' अवतार में आकर होती है जिसमें स्पष्ट रूप से 'मनुष्यत्व' का संकेत प्राप्त होता है। इस पर भी मानव में जो रक्त-पिपासा की पशु-वृत्ति जाग्रत होती है, उसी का मानवीकरण 'परशुराम' है। सातवाँ 'रामावतार' है जो परशुराम

१—डिवाइन लाइफ़—भाग प्रथम, द्वारा श्री अरविंद, पृ० १०३-१०४।

२—दे० कल्याण, सितम्बर १६३१ संख्या २ वर्ष ६ में श्री गिरधर शर्मा का निबंध, कृष्णावतार पर वैज्ञानिक दृष्टि, पृ० ५२४-५२५।

३—पुराणाज इन द लाइट आफ़ माडर्न साइंस, द्वारा के० एन० अय्यर, पृ० २०१।

की प्रवृत्ति का दमन करते हैं और मानव चेतना के ऊर्ध्वगामी आरोहण के सबल प्रतीक के रूप में 'पुरुषोत्तम' की संज्ञा प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर, विष्णु के कृष्णावतार में चतुर्मुखी व्यक्तित्व का विकास होता है, जिसमें 'बुद्धि-मानस' का सुन्दर विस्तार प्राप्त होता है। रामावतार में 'मनस्तत्व' का मोहक रूप प्राप्त होता है। नवाँ अवतार 'बुद्ध' का है जो प्रत्येक वस्तु को अनुभूति तथा बुद्धि की तुला पर तोलता है। इस अवतार में आकर मानव के भावी विकास का संकेत भी मिलता है जो 'कल्कि' अवतार में अपनी चरम परिणति में प्राप्त होता है। ये अंतिम दो अवतार भविष्य विकास की ओर संकेत करते हैं जिनमें मानव के आध्यात्मिक आरोहण का रहस्य छिपा हुआ है। ये अतिमानव (Superman) के दिव्य स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हैं जिसमें चेतना शक्ति मानसिक स्तर से ऊर्ध्व स्तरों की ओर आरोहण करती है।[1] यह तथ्य स्पष्ट करता है कि मानसिक चेतना केवल एक मध्यम स्थिति की द्योतिका है जिसके ऊपर चेतना-शक्ति ऊर्ध्वमन और अतिचेतन मन के स्तरों का स्पर्श करती है और दूसरी ओर अपने नीचे के भौतिक स्तरों—उपचेतन तथा अचेतन (सबकाशस एंड अनकांशस) को भी अपने संस्पर्श से आलोकित कर देती है। सत्य में, ये सब विभिन्न स्तर एक चेतना शक्ति के विविध रूप हैं। यही कारण है कि भक्त कवियों ने विष्णु के अवतारों को धर्म के ह्रास होने पर अंशों सहित अवतरित होने की जो बात कही है वह तात्त्विक दृष्टि से मानवीय चेतना के अति निम्न स्तरों के ऊर्ध्वीकरण की ओर ही संकेत कहा जा सकता है।

लीला और रूप

अवतार के उपर्युक्त तात्त्विक रूप के साथ 'लीलावाद' का एक अभिन्न स्थान भक्ति काव्य में प्राप्त होता है। यह हम संतकाव्य के अंतर्गत दिखा आये हैं कि वहाँ पर भी लीला-तत्त्व का एक विशद प्रतीकात्मक अर्थ प्राप्त होता है। परन्तु सगुण भक्ति काव्य में लीला का महत्त्व दो दृष्टियों से है—एक प्रकट तथा दूसरी अप्रकट लीलाओं से। अप्रकट लीला धरती से परे 'गोलोक' (परमपद) की लीला है जिसका प्रकट प्रसार धरती पर होता है। लीला में आकर ही अक्षर रूप ब्रह्म क्षर रूप में बहुमुखी विकास प्राप्त करता है। फिर वह मानवीय चेतना के विविध अभियानों की ओर अग्रसर होता है—अपने लौकिक एवं दिव्य कार्यों के द्वारा वह एक प्रकार से मानवीय शक्ति की ओर

१—'द लाइफ़ डिवाइन' द्वारा महर्षि अरविंद, पृ० १०८ (भाग १)।

ही संकेत करता है। इस प्रकार ब्रह्म अपने ही विस्तार को 'लीला' के द्वारा व्यक्त करता है और स्वयं ही लीला से मोहित होता है। इस वैष्णव मत का एक स्पष्ट रूप माण्डूक्योपनिषद् में इस प्रकार प्राप्त होता है—

> प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतोर्विकल्पितः।
> मायैषा तस्य देवस्य यथा संमोहितः स्वयम् ॥[1]

अर्थात् जो यह इन प्राणादि अनंत भावों से विकल्पित हो रहा है सो यह उस प्रकाशमय आत्मदेव की माया ही है, जिससे कि 'वह' स्वयं ही मोहित हो रहा है।

लीला की इस सृष्टिपरक भावना का मूल क्या है? भारतीय दर्शन में इसका एक अत्यन्त वैज्ञानिक रूप प्राप्त होता है। किसी भी प्रकार की सृष्टि के लिए मिथुन की आवश्यकता एक प्रकृति सत्य है। इसी से, उपनिषदों में प्रजापति तथा ब्रह्म के (ॐ) मिथुन परक रूप की अवतारणा की गयी है जिस पर हम प्रथम ही विचार कर चुके हैं।[2] उस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अपनी इच्छा के विस्तार के लिए प्रजापति ने (ब्रह्म-पुराणों में) स्त्री की अवतारणा की क्योंकि वह अकेले रमण नहीं कर सकता था।[3] यही रस-रूप ब्रह्म के बारे में भी सत्य है।[4] यह रस-रूप-ब्रह्म भी अकेला रस नहीं हो सकता है, उसके लिए अपने को उसने युग्म रूप में अवतरित किया। 'अकेला तत्व' चाहे कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, अकेले सृष्टि नहीं कर सकता है—लीला का प्रसार नहीं कर सकता है। इसी से युगल रूप का अभिव्यक्तीकरण लीला का केन्द्रबिन्दु है। वाक् और वाणी, नारायण और श्री, शिव और शक्ति, ब्रह्म और माया, प्रकृति और पुरुष, अवतार रूप राम और सीता तथा कृष्ण और राधा—ये सब रूप इसी मिथुनपरक तथ्य पर आश्रित हैं। आधुनिक वैज्ञानिक तत्ववेत्ता प्रो० आइंस्टीन ने अपने सापेक्षवादी सिद्धान्त (Theory of Relativity) में भी इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। उनका कथन है कि पदार्थ और ऊर्जा (Energy) मूलतः एक ही तत्त्व के दो रूप हैं जिनके द्वारा सृष्टि के विकास की रूपरेखा स्पष्ट होती

१—माण्डूक्योपनिषद्, वैतथ्य प्रकरण, पृ० १०७ श्लोक १९ (उप० भा० खंड २)।

२—दे० अध्याय प्रथम उपखंड 'ख' और 'ग'।

३—दे० अध्याय १, उपखंड 'ख' में।

४—तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली ३, षष्ठ अनुवाक, पृ० २२३ (उप० भा० खंड २)।

है।[1] यह दो तत्त्वों का एक तत्त्व से विभक्त होना बृहद् उपनिषदोंक्त 'पति-पत्नी' के युगल रूप का रूपान्तर है। इस युगल रूप का चतुर्दिक विकास भक्ति-काव्य में प्राप्त होता है। परन्तु यह रूप हमें राम-काव्य के रसिक-संप्रदाय में भी प्राप्त होता है जिसमें विष्णु और लक्ष्मी के पारस्परिक संबंध को सूर्य और उसकी किरण तथा समुद्र और उसकी लहर जैसा होना कहा गया है। यहाँ पर 'सीता' का वह रूप नहीं है जो राधा का राधावल्लभीय संप्रदाय में तथा कृष्ण काव्य में समान रूप से प्राप्त होता है। 'युगल किशोर' के स्थान पर इन रसिक संप्रदायों ने 'युगल सरकार' की भावना को अधिक प्रश्रय दिया है।

यह आनन्दमय रमणशील तत्त्व का युगल रूप में अथवा समस्त ब्रह्मांड में विकसित होना ही 'लीला' का रूप है जो समस्त भक्ति साहित्य का वर्ण्य-विषय रहा है। यह परम तत्त्व का आनंद रूप श्री अरविन्द के अनुसार गणितवेत्ता के पदार्थगत आत्मानन्द का द्योतक है।[2] यही आत्मानंद का मूल विकास परब्रह्म की लीला का स्रोत है और श्री, राधा, सीता आदि उसी मूल विकास की शक्तियाँ अथवा उस परमतत्त्व की अभिव्यक्तियाँ हैं। स्वयं तुलसीदास ने राम और सीता को भावनाओं में इसी तत्त्व का समाहार किया है, जब वह कहते हैं—

> वाम भाग शोभित अनुकूला।
> आदिशक्ति छबिनिधि जगमूला ॥[3]

सीता वह आदि शक्ति है, (ब्रह्म रूप राम की) जो कृपानिधान राम का 'रुख' पाकर सृजन पालनादि के महत् कार्यों को करती है। युगल भाव की यह अभिव्यक्ति केशव ने भी अपरोक्ष रूप से की है :—

> योगीश ईश तुम हो यह योग माया।[4]

इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि लीला और अवतार के प्रतीकार्थ के साथ तुलसी तथा केशव ने 'रूप' की भावना को भी महत्त्व दिया है। परब्रह्म को 'मनुज' के रूप में अवतरित होने के लिए 'रूप' की परिधि में आना ही

१—हिन्दुस्तानी (त्रैमासिक), लेख रामोपासकों का रसिक सम्प्रदाय, पृ० ६ भाग १६ अंक ३।

२—द लाइफ डिवाइन, भाग १, पृ० १२३।

३—रामचरित मानस, बालकाण्ड, पृ० १५८ तथा पृ० ४३४।

४—रामचन्द्रिका, २० प्रकाश, पृ० ३४० (प्रथम भाग), प्रयाग १६५०।

पड़ेगा, तभी वह मानव जीवन के कार्यों की सापेक्षता में दर्शनीय हो सकता है। इसी से सगुण धारा में रूप की महत्ता अवतार तथा लीला के साथ लगी हुई है। इसी रूप 'विन्दु' की ओर वाल्मीकि के ये वचन नितान्त सत्य हैं—

निदरहिं सरित सिंधु सर भारी।
रूप बिंदु जल होहिं सुखारी॥[१]

इसी रूपविन्दु की व्यजना के लिए कवियों ने अनेक प्रतीकों की योजना की है जिस पर यथास्थान विवेचन होगा। यहाँ पर यह संकेत कर देना पर्याप्त होगा कि तुलसी तथा केशव ने इस रूप तत्त्व के साक्षात्कार के लिए ब्रह्म रूप राम को कहीं-कहीं पर रघुवर, रघुनन्दन, मर्यादा पुरुषोत्तम, रघुराई, भानुकुल तिलक आदि नामों से अभिहित किया है। ये सब 'शब्द-नाम' राम के रूपगत प्रतीक ही हैं जो वंश के द्योतक न होकर संदर्भानुसार राम के प्रतीक हैं। उदाहरण स्वरूप—

नृपहिं प्रानप्रिय तुम्ह रघुबीरा।
सील सनेह न छाड़िहि भीरा॥[२]

अथवा

तिन के मन मंदिर बसहु, सिय रघुनंदन दोउ।[३] आदि

संतों के शब्द-प्रतीकों की परम्परा

अवतार तथा लीला की धारणाओं में तुलसी की समन्वय-वृत्ति के दर्शन होते हैं। इस समन्वयकारी प्रवृत्ति का सुंदर विकास उस समय प्राप्त होता है जब तुलसी और केशव अन्य मतों (शैव, संत) के शब्द प्रतीकों को अपने काव्य में स्थान देते हैं। अतः तुलसी की मंडनात्मक शैली में समन्वय वृत्ति ही अधिक है और इसका प्रमाण वे प्रतीक हैं। ऐसे कुछ परम्परागत शब्द-प्रतीकों की तालिका यहाँ पर विवेचित है—

निरंजन

संतों ने इस शब्द के अर्थ में एक अत्यन्त व्यापक क्षेत्र की व्यंजना प्रस्तुत की थी। इस शब्द को उन्होंने परमतत्त्व या ईश्वर के अर्थ में ग्रहण किया था जिसमें निषेधात्मक एवं निश्चयात्मक तत्त्वों का समाहार सुन्दरता से हुआ था। वहाँ

१—वही, अयोध्याकाण्ड, पृ० ४३६।

२—रामचंद्रिका द्वितीय भाग, २५ प्रकाश, पृ० ६६।

३—मानस, उत्तर कांड पृ० १०३।

पर इस निरंजन को सृष्टिकर्ता का भी बोधक माना गया था।[1] दूसरी ओर राम काव्य में इस शब्द का प्रयोग 'ब्रह्म' के पूरक अर्थ में किया है जिसमें अधिकतर निश्चयात्मक तत्त्वों का ही समाहार हुआ है। परन्तु इस 'निरंजन अलख' का 'रूपगत' प्रेम ही सगुण कवियों को मान्य था। इसी से तुलसी ने निरंजन के बारे में कहा है—

जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक
विरज अज कहि गावहीं।
करि ध्यान ग्यान विराग जोग
अनेक मुनि जेहिं ध्यावहीं।
× ×
सो प्रकट करुनाकंद शोभा
बृंद अग जग मोहई ॥[2]

अतः तुलसी की समन्वय प्रवृत्ति यहाँ पर भी कार्य कर रही है। जहाँ एक ओर ब्रह्म और निरंजन को ध्यान और ज्ञानादि से जानने के लिए मुनिगण प्रयत्नशील हैं, वहीं निरंजन 'ब्रह्म' अपने अंजन का विस्तार, भक्तों को आनंद प्रदान करने के लिए करता है। यहाँ पर 'निरंजन' को स्पष्ट रूप से अवतार एवं लीला की भावनाओं से गुंफित कर दिया गया है, क्योंकि तुलसी को निरंजन जैसे निराकार तत्त्व को भी सगुण भक्ति का आश्रय प्रदान करना था। इस प्रकार की नवीन धारणा का विकास तुलसी की अपनी नवीन उद्भावना है जो संतों में नहीं प्राप्त होती है। केशवदास ने निरंजन को एक परम ज्योति का रूप कहा है जिसकी 'इच्छा' का प्रसार यह सृष्टि है। यहाँ पर राम अपने स्वरूप का स्वयं स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

ज्योति निरीह निरंजन मानी।
तामहँ क्यों ऋषि इच्छ बखानी ॥[3]

निरंजन की भावना का एक अत्यन्त व्यापक रूप उस समय प्राप्त होता है जब तुलसी उसे शब्द की सीमित परिधि से बाँधना नहीं चाहते अपितु उसे एक व्यापक अर्थ समष्टि का रूप देते हैं। उनके लिए निरंजन एक होते हुए भी

१—देखो अध्याय चतुर्थ, उपखंड ग में निरजन शब्द।

२—रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ६३७।

३—रामचंद्रिका, द्वितीय भाग, २५ प्रकाश, पृ० ६१।

अनेक नामों एवं रूपों का विस्तार करनेवाला है। उसका केवल एक ही नाम विशेष नहीं है, वह नाम होते हुए भी 'अनाम' है। निरंजन सृष्टि के प्रथम अनाम ही है, पर सृष्टि प्रसार के समय वह अनेक नामों के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करता है—

तग्य कृतग्य अग्यता भंजन। नाम अनेक अनाम निरंजन।[१]

सहज

संतों और सूफ़ियों में सहज शब्द या तो स्वाभाविकता के अर्थ में या कहीं कहीं पर परमतत्त्व तथा प्रज्ञोपाय साधना (समाधि) के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[२] आलोच्य कविता में सहज को सामान्यतः स्वाभाविकता एवं सरलता के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है। केशव ने सिद्धि-समाधि को 'सहज' रूप में ही ग्रहण किया है—

सिद्धि समाधि सजै अजहूँ न कहूँ जग जोगिन देखत पाई।[३]

इस कथन में सिद्धि समाधि को प्रज्ञोपाय रूप में अत्यन्त धूमिल रूप से ही ग्रहण किया गया है। महाकवि तुलसी ने भी शैव तथा संत प्रभावों के कारण शिव समाधि को सहज रूप ही में चित्रित किया है—

संकर सहज सुरूप सम्हारा।
लागि समाधि अखंड अपारा॥[४]

इन उदाहरणों में सहज रूप समाधि का संकेत तो अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु फिर भी, 'सहज' का जो गहन एवं रहस्यात्मक अर्थ सिद्धों तथा संतों में प्राप्त होता है उसका यहाँ पर सर्वथा अभाव है। अधिकतर राम काव्य में 'सहज' को प्रेम भक्ति के संस्पर्श से स्वाभाविकता के अर्थ में ही ग्रहण किया गया है। यहाँ तक कि भगवान् के स्वरूप को सहज-प्रकाश 'रूप' भी कहा गया है, भक्त हृदय की मधुर तरलता के कारण एक अत्यन्त मोहक रूप में प्रकट होता है। यथा—

१—मानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ६०३।
२—दे० चतुर्थ अध्याय, उपखंड ग में 'सहज' शब्द।
३—रामचंद्रिका, भाग प्रथम, छठा प्रकाश, पृ० ८६।
४—मानस, बालकाण्ड, पृ० ८७।

सहज प्रकाश रूप भगवाना।
नहिं तहँ पुनि विग्यान विहाना ॥[1]

दूसरी ओर राम नाम को सहज स्वभाव के अन्तर्गत माना गया है जो सगुण भाव के सर्वथा अनुकूल है—

तुलसी जागे ते जाइ ताप तिहूं ताप रे।
राम नाम सुचि रुचि सहज सुभाव रे ॥[2]

ऐसा है वह सहज भगवान् 'तत्त्व' जहाँ विज्ञान तथा ज्ञान की पहुँच नहीं, वह तो केवल सहजानुभूति का विषय है जिसमें हृदय की प्रेमपूर्ण भक्ति ही अपेक्षित है। तुलसी के राम 'सहज' प्रेम से ही प्राप्त होते हैं जो भक्त के पूर्ण आत्म-समर्पण के द्वारा ही प्राप्य है।

मुद्रा

इस शब्द-प्रतीक का स्वरूप राम काव्य में स्पष्ट है। उसका वह रहस्यमय अर्थ नहीं है जो संतों तथा नाथों में किसी साधना विशेष से संबंधित था।[3] केशवदास ने मुद्रा शब्द को बाह्य आकृति अथवा कहीं-कहीं पर विशिष्ट यौगिक साधना के वाचक शब्द रूप में सम्मुख रखा है। राम काव्य में यह शब्द केवल मात्र एक पारिभाषिक अर्थ का द्योतक ही रह गया है। केशव ने एक स्थान पर इस शब्द के अर्थ में एक नवीन तत्त्व का समावेश किया है जो विजय का 'सिक्का' जमाने की लोकोक्ति के अर्थ में ग्रहण किया गया है, यथा—

मुद्रित समुद्र सात मुद्रा निज मुद्रित कै
आई दिसि दिसि जीति सेना रघुनाथ की ॥[4]

संतों के समान रामकाव्य में भी मुद्रा साधना के कुछ पारिभाषिक शब्द-प्रतीकों का संकेत प्राप्त होता है। ऐसे कुछ शब्द हैं जोगिनी, यक्षिणी आदि।

रामकाव्य में जोगिनों का प्रयोग अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है जिसके आधार पर उसके प्रतीकार्थ का स्वरूप भी मुखर हो जाता है। सिद्धों में जोगिनी शब्द का

१—मानस, बालकाण्ड, पृ० १३३।

२—विनय पत्रिका, तुलसी, सं० वियोगी हरि, पृ० १४६।७३।

३—दे० सन्तकाव्य उपखंड ग में चतुर्थ अध्याय।

४—रामचंद्रिका, द्वितीय भाग, ३५ प्रकाश, पृ० २४०।

साधनापरक अर्थ था, वह अर्थ यहाँ पर नहीं प्राप्त होता है। तुलसी ने शंकर की बारात के समय जोगनियों का नाम लिया है जो शंकर के 'गण' के समान प्रतीत होती हैं जो भयानक रूप की प्रतिरूप ही कही जा सकती है—

सँग भूत प्रेत पिशाच जोगिन विकट मुख रजनीचरा[१]।

जोगिनीं का इसी प्रकार का भयावह रूप राम-रावण युद्ध के समय तुलसीदास ने प्रयुक्त किया है—

जोगिन भरि भरि खप्पर संचहिं।
भूत पिसाच बधू नभ नंचहिं॥[२]

एक प्रकार से जोगिन शब्द का प्रतीकात्मक रूप राम काव्य में निम्न संदर्भ का वाचक शब्द ही ज्ञात होता है, जो अपनी परम्परागत दिव्यता की भावना को त्याग कर एक भयानक दिव्यता के रूप में अवतरित हुआ। इस शब्द का भाग्य-निर्णय आगे चलकर कृष्ण काव्य में हुआ जब उसके अर्थ में प्रेम भक्ति का समावेश किया गया जिस पर आगे विचार होगा।

अन्य नारी रूपों का संकेत बहुत ही कम है जो यह सिद्ध करता है कि जोगिन की ही परम्परा किसी न किसी रूप में भक्ति काव्य में प्रचलित रही, अपेक्षाकृत अन्य रूपों के। केवल एक स्थान पर केशव ने यक्षिणी का संकेत किया है जो लंका-वर्णन के प्रसंग में एक नारी प्रकार कही जा सकती है। परन्तु उसके स्वरूप का यथोचित रूप स्पष्ट नहीं होता है—वह यहाँ पर केवल शब्द-मात्र ही है यथा—

कहूँ यक्षिणी पक्षिणी लै पढ़ावै।
नगी कन्यका पन्नगी को नचावै॥[३]

अब रही पद्मिनी नारी की बात। तुलसी ने 'सीता' को एक प्रकार से पद्मिनी रूप में ही चित्रित किया है, परन्तु कहीं पर भी स्पष्ट रूप से सीता को पद्मिनी नहीं कहा है। केशव ने एक स्थान पर सीता को अवश्य पद्मिनी कहा है जो उनके रूप सौंदर्य का ही व्यंजक है। इसके अतिरिक्त केशव ने पद्मिनी को पुत्रवती रूप में भी माना है जो नितांत नवीन अर्थ का समावेश ही कहा जा सकता है—

१—मानस, बालकाण्ड, पृ० ११५।
२—मानस, लंका काण्ड, पृ० ८२४।
३—रामचंद्रिका, दूसरा भाग, १३ प्रकाश, पृ० २२६

सबै प्रेम की पुण्य की सद्मिनी सी।
सबै पुत्रिनी चित्रिनी पद्मिनी सी॥[1]

अतः नारी-रूपों के साधनापरक रूप का रामकाव्य में नितान्त अभाव है। यहाँ तक कि उनके रूपो के प्रति कवि सचेत नहीं है। प्रसंगवश अथवा रूढ़िपालन-वश ही उन्होंने इन नारी-रूपों का यदा-कदा वर्णन किया है। उन्हीं संकेतों में कहीं-कही पर नवीन अर्थों का भी सुन्दर समावेश हुआ है।

वज्र

मुद्रा के अतिरिक्त वज्र शब्द का प्रयोग राम काव्य में कहीं अधिक हुआ है, परन्तु उसका अर्थ सामान्यतः कठोरता और उसके पर्यायवाची शब्दों से ही अधिक है। तुलसी ने वज्र का प्रयोग इसी अर्थ में किया है—

वचन वज्र जेहि सदा पियारा।
सहस नयन परदोष निहारा॥[2]

केशव ने भी वज्र शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है।[3] कहीं पर वज्र को अस्त्र के अर्थ में भी ग्रहण किया है।

वज्र को अखर्व गर्व गन्यौ जेहि पर्वतारि।
जीत्यो है सुपर्व सब भाजै लै लै अंगना॥[4]

एक अन्य स्थान पर उसे 'अतिवेगवान्' के अर्थ में व्यंजित किया है—

हिंमाशु सूर सी लगै वात वज्र सो बहै।
दिशा जगै कृशानु ज्यों विलेप अंग को दहै॥[5]

उपर्युक्त उदाहरणों के द्वारा यही निष्कर्ष निकलता है कि राम काव्य में वज्र शब्द का सामान्य अर्थ कठोरता ही है। जो थोड़े बहुत नवीन अर्थों की प्रवृत्ति लक्षित होती है, वह सामान्य प्रवृत्ति नहीं कही जा सकती है।

वज्राग्नि की परम्परा संतों तथा सूफ़ियों में प्राप्त होती है जो प्रेम-विरह की अग्नि का रूप ही माना गया है। इसी प्रकार राम-काव्य में भी विरहाग्नि का

१—वही, २८ प्रकाश, पृ० १०८।
२—मानस, बालकाण्ड, पृ० ३५।
३—रामचंद्रिका, चौथा प्रकाश, पृ० ४४।
४—वही, पृ० ४६।
५—वही १२ प्रकाश, पृ० २०२ (प्रथम भाग)।

प्रयोग प्राप्त होता है जो योग साधना से संबंधित न होकर, हृदय की वस्तु ही अधिक है। मानस में तुलसी ने प्रजा के विरह-वर्णन के समय 'विरहाग्नि' का जो संकेत दिया है, वह हृदय एवं अंतरतम की प्रेमाग्नि ही है जो शोक, क्षोभ और प्रेम भाव की मीलित अभिव्यक्ति है—

सहि न सके रघुबर बिरहागी।
चले लोग सब व्याकुल भागी ॥[१]

इसी प्रकार सीता के विरह को भी विरहागी कहा है—

बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहिं सरीरा।
नयन स्रवहि जलु निज हित लागी। जरै न पाव देह बिरहागी ॥[२]

वज्राग्नि का स्पष्ट संकेत योगाग्नि में प्राप्त होता है जब शिव योग-अग्नि का प्रकटीकरण करते हैं—

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा।
भयउ सकल मख हाहाकारा ॥[3]

सुरति

संत तथा सूफ़ी काव्य में सुरति के अर्थ में परिवर्तन की प्रवृत्ति मिल जाती है। इस शब्द को जो साधनापरक रूप सिद्धों तथा नाथों में प्राप्त होता था वह संतों तथा सूफियों में क्रमशः तिरोहित होने लगा। इसका फल यह हुआ कि इस शब्द का प्रतीकार्थ स्मृति, ध्यान तथा कहीं-कहीं पर 'कामकेलि' के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा। राम काव्य में इस शब्द का प्रतीकार्थ, संतों की तरह, स्मृति और ध्यान ही रहा। स्मृति तथा ध्यान के अर्थ में तुलसी ने सुरति शब्द का प्रयोग किया है। यथा—

सहज बानि सेवक सुखदायक।
कबहुँक सुरति करत रघुनायक ॥[४]

सुरति का यही अर्थ एक अन्य स्थल पर भी है—

राम संग सिय रहति सुखारी।
पुर परिजन गृह सुरति बिसारी ॥[५]

१—मानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ४०१।
२—मानस, सुंदरकाण्ड, पृ० ७१२।
३—वही, बालकाण्ड, पृ० ६१।
४—मानस, सुंदरकाण्ड, पृ० ६६८।
५—वही, अयोध्याकाण्ड, पृ० ४४५।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण तुलसी के काव्य से दिये जा सकते हैं जो सुरति के इसी अर्थ की ओर सामान्यतः संकेत करते हैं। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि इस शब्द का मर्यादापूर्ण रूप ही राम काव्य में अपेक्षित है। अतः, सुरति का मिथुनपरक अर्थ जो कभी-कभी कृष्ण काव्य में परिलक्षित हो जाता है (देखिए कृष्ण काव्य में आगे) उस अर्थ का यहाँ नितान्त अभावहै।

अन्य गौण शब्द-प्रतीक

इन प्रमुख शब्द-प्रतीकों के अतिरिक्त रामकाव्य में अन्य शब्द-प्रतीक भी प्राप्त होते हैं जिनकी संख्या अत्यन्त अल्प है। इन प्रतीकों के द्वारा भी राम-भक्त कवियों ने उदार दृष्टि का परिचय दिया है। केशव ने ब्रह्मरंध्र का एक अत्यन्त अद्भुत प्रयोग किया है। इस प्रयोग का मूल कारण, मेरे विचार से, योगपरक अर्थ का एक सामान्य रूप ही है जो किसी शब्द की एक स्थानीय वाचकता के अतिरिक्त उस सम्पूर्ण स्थान का वाचक शब्द हो जाता है जिस स्थान विशेष के अर्थ में वह शब्द प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार ब्रह्मरंध्र की स्थिति मस्तिष्क के सहस्रधार कमल में मानी गयी थी जो क्रमशः मस्तिष्क एवं कपाल के अर्थ में राम काव्य में अवतरित हुई। केशव का ब्रह्मरंध्र शब्द इसी कपाल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जब कवि दशरथ की मृत्यु का संकेत करता है—

> ब्रह्मरंध्र फोरि जीव यों मिल्यो जु लोक जाय।
> गेह तूरि ज्यों चकोर चंद्र मैं मिलै उड़ाय ॥[1]

इसी प्रकार नवखंडों को नवलोकों के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है।[2]

इन शब्दों के अतिरिक्त सूफी साधना का एक शब्द सुरा का प्रयोग भी तुलसी ने किया है। जिस प्रकार सूफ़ियों ने प्रेम सुरा[3] की मान्यता अपने काव्य में दी है, उसी प्रकार तुलसी ने भी 'स्नेह-सुरा' का वर्णन किया है—

> करत मनोरथ जस जिय जाके।
> जाहि सनेह सुरा सब छाके ॥[4]

१—रामचंद्रिका, नवाँ प्रकाश, पृ० १४० (प्रथम भाग)।

२—वही, पाँचवाँ प्रकाश, पृ० ७२।

३—दे० अध्याय पंचम, सूफी साधना के प्रतीक उपखंड 'ख'।

४—मानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ५१२।

इन सब अल्प प्रतीकों की योजना केवल यही तथ्य सम्मुख रखती है कि उनका प्रयोग रामकाव्य में शब्दार्थ के तौर पर, परम्परापालन के रूप में, किया गया है। निर्गुण तथा यौगिक (सूफी भी) पंथों की गुरु गंभीरता एवं दुष्कर साधना प्रणाली की ओर भी उन्होंने प्रतीकात्मक शैली में व्यंजना प्रस्तुत की है। सत्य में, यह व्यंजना स्वयं उनकी प्रेम भक्ति की भावभूमि को भी स्पष्ट कर देती है। ऐसी दुर्लभ साधना मार्गों की जटिलता को तुलसी ने सिंहलद्वीप (सूफी में) का समष्टि प्रतीक रूप प्रदान किया है जिन्हे यदि ईश्वर की कृपा से प्रयाग की प्राप्ति हो जाय, तो उनका यह सौभाग्य ही समझना चाहिए। सूक्ष्म रूप से, तुलसी का प्रयाग सहज सुलभ भक्ति मार्ग का द्योतक शब्द है। दूसरी ओर जटिल साधनाओं के अनेक मार्गों का प्रतीक यह सिंघल शब्द है जो सूफी काव्य में एक अत्यन्त दुर्लभ प्राप्य स्थान माना गया है—

> भरत दरस देखत खुलेउ, मग लोगन्ह कर भागु।
> जनु सिंहल बासिन्ह भएउ, बिधि बस सुलभ प्रयाग ॥[1]

भक्त कवियों का आदर्श यही प्रयाग है न कि सिंहल।

रामकाव्य की इस सम्पूर्ण पृष्ठभूमि के प्रकाश में उनकी प्रतीक योजनाओं को निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(ख) रामकथा का प्रतीकार्थ,
(ग) तात्विक भावना के प्रतीक,
(घ) प्रेम भक्ति की प्रतीक योजना,
(ङ) रूप-सौंदर्य की प्रतीक योजना।

(ख) रामकथा का प्रतीकार्थ

रामकथा की प्रतीकात्मक व्यापकता का दिग्दर्शन कराने के लिए उसके तात्विक रूप की ओर दृष्टिपात करना अत्यंत आवश्यक है। अनेक विद्वानों ने रामकथा के कुछ पात्रों एवं घटनाओं का आदितम रूप ऋग्वेद में प्राप्त किया है। इन प्राप्त रूपों की ओर स्वयं उन विद्वानों ने अमान्यता प्रदर्शित की है।[2] इन विद्वानों ने रामकथा के इस प्रतीकात्मक अर्थ को न मानने में

१—मानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ५११।

२—पूर्ण विवेचन के लिए दे० मानस की रामकथा द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५६-६१ तथा रामकथा द्वारा डा० बुल्के, पृ० ४–२७ जिन पर हम यथास्थान विवेचन करेंगे, क्योंकि इन संकेतों के द्वारा रामकथा के प्रति एक प्रतीकार्थ अवश्य स्पष्ट होता है।

दूसरा आक्षेप यह लगाया है कि इससे रामकथा की ऐतिहासिकता पर आघात लगता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि यदि हम किसी ऐतिहासिक अथवा पौराणिक घटना का प्रतीकात्मक रूप में अवलोकन करते हैं, तब क्या हम उसके ऐतिहासिक रूप का तिरोभाव करते हैं अथवा उसे अधिक व्यापक रूप प्रदान करते हैं ? रामकथा को जाने भी दें तो क्या पौराणिक साहित्य, ब्राह्मण ग्रन्थों आदि की अनेक कथाओं को प्रतीकात्मक अर्थ नहीं दिया जाता है ? सत्य मे इन ग्रन्थों की अनेक कथाएँ प्रतीकात्मक ही हैं जिन पर हम पूर्ण रूप से विचार कर चुके हैं।[1] भगवान ईसा की कथाएँ, कृष्ण और ज्योराष्ट्र की कथाएँ ऐतिहासिक होते हुए भी प्रतीकात्मक हैं। उनमें मानव मन और आत्मा का चिरन्तन सत्य है—इसी से इनका प्रतीकात्मक महत्त्व सदैव सुरक्षित रहेगा। फिर हम रामकथा को ही प्रतीकात्मक अर्थ देने मे क्यो हिचकते हैं ? समर्थक कहेंगे कि कृष्ण लीलाओं में ऐसे प्रसंग हैं जो प्रतीकार्थ की ओर स्वयं संकेत करते हैं, वैसे प्रसंग प्रायः रामकथा में नहीं हैं। यदि हम थोड़ी देर के लिए इस दलील को मान ही लें, तो यह प्रश्न उठता है कि क्या एक ही प्रकार के प्रसंग प्रतीकात्मक हो सकते हैं अथवा प्रतीकार्थ किसी एक विशिष्ट अर्थ का ही व्यंजक होता है ? यह ठीक है कि रामकथा का वह रूप नहीं है जो कृष्णकथा को दिया गया है। इसका प्रमुख कारण यही है कि कृष्णकथाओं तथा लीलाओं की प्रवाहिनी में अनेक तत्त्वों का—स्वयं कवियों की मनोवृत्ति का इतना अधिक योग होता रहा है कि प्रत्येक ने उसे अपनी भावधारा के अनुकूल ग्रहण किया है। दूसरी ओर रामकथा का रूप सदैव से मर्यादित रहा है, उसमें आदर्श भावना का अत्यधिक आग्रह रहा है और कवियों की अबाध कल्पना का वह रंगस्थल नहीं रहा है जैसा कि कृष्ण काव्य में प्राप्त होता है। इन्हीं सब कारणों से रामकथा का वह रूप नही है जो कृष्ण-चरित्र का हो गया है। अतः यह कहना कि रामकथा का प्रतीकार्थ कृष्ण चरित्र के समान नहीं है, पर उसका भी अपना एक विशिष्ट प्रतीकार्थ है, अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है—अत्युक्ति न होगा। अतः रामकथा के प्रतीकात्मक अर्थ को हृदयंगम करने के लिए इस कथा को दो दृष्टियों से अवलोकन किया जा सकता है—

(१) विकासवादी एवं आध्यात्मिक—मानसिक दृष्टिकोण,

(२) भौतिक एवं आकाशीय दृष्टिकोण।

१—दे० अध्याय प्रथम, उपखंड ख में पौराणिक कथाओं का प्रतीकार्थ में।

(१) विकासवादी एवं आध्यात्मिक—मनोविज्ञानपरक दृष्टिकोण

अवतारों के वैज्ञानिक विश्लेषण से यह स्पष्ट हो चुका है कि अवतार मानवीय विकास के क्रमिक सोपान हैं और अंतिम चार अवतार (राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि) मूलतः मानवीय चेतना के उत्तरोतर उर्ध्वगामी आरोहण हैं। स्वयं महर्षि अरविंद और ड्ँ न ने इसी मानवीय चेतना के विकास को मानवीय भावी भाग्य का आधारविंदु माना है जिससे होकर ही मानव उच्चतम अभियानों का दिग्दर्शन कर सकता है।[१] इसी चेतना का विकास 'राम-चरित्र' का मूलाधार है जिसके द्वारा संसार एवं मानव हृदय का अंधकार, मोह एवं वासनाओं का उन्नयन होता है। स्वयं महाकवि तुलसी ने राम-चरित में इसी भाव का भक्तिपूर्ण समन्वय किया है। उनके राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं जो इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि मानवीय विकास की दृष्टि से ही वह पुरुषों में उत्तम हैं। 'राम' मानवीय 'चेतनआत्मा' के वह प्रकाश-पुंज हैं जो मानवीय भावी विकास की ओर संकेत करते हैं।

अवतारों के विश्लेषण से (देखो पृष्ठभूमि) यह बात स्पष्ट होती है कि आदितत्त्व 'नारायण' या 'हरि' प्रारम्भ में 'एक-यौन' (Homo-sexual) थे। पृथ्वी पर अत्याचार एवं देवों की निराशा को समाप्त करने के लिए उन्होंने अंशों सहित अवतार लिया। इसीलिए एक-यौन की परिधि का त्याग कर उन्होंने दो-यौन (Bi-sexual) की अवतारणा की। अतः उन्हें नारायण और श्री, विष्णु और लक्ष्मी में विभक्त होना पड़ा। तुलसी ने रामावतार के मूल में इस विकासवादी मिथुन-परक-सिद्धान्त को तात्त्विक रूप देने का सफल प्रयत्न किया है। उनके राम और सीता (विष्णु और लक्ष्मी) अव्यक्त और व्यक्त, निषेधात्मक एवं निश्चयात्मक तत्त्व ही हैं जो अपने अन्योन्य कर्मों से विश्व में स्पंदन एवं सृष्टितत्त्व का विकास करते हैं। इन्हीं के कार्यकलापों का सुंदर विकास और उनकी कलाओं का अभिव्यक्तीकरण ही रामायण का रंग-स्थल है। इसी दृष्टि से सीता राम की परमवल्लभा हैं और वह उसके प्रिय—

'सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्'[२]

इसे ही 'अगुन अरूप' से 'सगुन' में अभिव्यक्ति होना कहा गया है—

१—ड्ँ नूँ की पुस्तक 'ह्यूमन डेस्टनी' में मानवीय चेतना के विकास का वैज्ञानिक रूप प्राप्त होता है जो धर्म, दर्शन और कला के क्षेत्रों से भी सम्बन्धित माना गया है। यही दृष्टि-कोण प्रो० वाइटहैड ने अपनी पुस्तक 'साइंस एंड द माडर्न वर्ल्ड' में भी ग्रहण किया है।

२—मानस, बालकाण्ड, पृ० २९।

अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥[1]

अतः परमतत्त्व दिव्य भी है और मानवीय भी—यही उसकी महानता है। अँग्रेज़ी कवि टेनीसन की ये पंक्तियाँ इसी तथ्य की प्रतिध्वनि हैं, जब वह कहता है—

'तुम' 'मानव' और 'दिव्य' प्रतीत होते हो, 'तुम' उच्चतम, पवित्रतम व्यक्तित्व हो। हमारी इच्छाएँ हमारी हैं, पर कैसे, यह हम नहीं जानते, हमारी इच्छाएँ हमारी हैं केवल इसलिए कि वे 'तुम्हारी' हो जायँ'।[2]

इस विश्लेषण में मैंने जो जीव-विज्ञान (Biology) का सहारा लिया है, वह रामावतार के दिव्य रूप के अर्थ को 'हेय' नहीं बना देता है, पर सत्य में, 'वह' सृष्टि सत्य के मूल रहस्य को ही समक्ष रखता है। विकास-वाद की दृष्टि से भी हम इसे अमान्य नहीं मान सकते हैं।

रामकथा को इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विकास 'स्थिति' में समस्त पदार्थों एवं वस्तुओं का द्विविध रूप हो जाता है। रामावतार में पृथ्वी केवल एक भौतिक तत्त्व ही नहीं रह जाती है, पर उस पर एक देव या 'मनश्चेतना' का आधिपत्य होने लगता है।[3] राम और सीता के सभी कार्य इसी मनश्चेतना के पूरक अंग हैं।

जिस समय रामावतार हुआ था, उस समय उत्तराखंड में आर्यजाति निवास करती थी जो सात्विक तत्त्व या गुणों की प्रतीक थी। लंका उस समय असुरों एवं राक्षसों का निवासस्थल था जो तामसिक गुणों के प्रतीक थे। मानसिक चेतना के धरातल पर ये दोनों देश, भारत (कोशल) तथा लंका, मन के दो स्तरों—सात्त्विक एवं तामसिक—के प्रतिरूप हैं जिनका संघर्ष वाह्य रूप भी धारण करता है। ये ही वृत्तियाँ देवों, असुरों (सत्त्व एवं

१—मानस, बालकाण्ड, पृ० १३३।

२—इन मैमोरियम् द्वारा एल्फ्रेड लार्ड टेनीसन, पृ० ५—

Thou seemest human and divine.
The highest, holiest manhood, thou.
Our wills are ours, we know not how.
Our wills are ours, to make them thine.

३—सुमित्रानन्दन पंत ने 'स्वर्णकिरण' की एक सुंदर कविता 'अशोकवन' में सीता को पृथ्वी की चेतना का प्रतीक मानकर 'राम' को उस बंदी चेतना के स्वतंत्रकर्ता के रूप में चित्रित किया है, दे० पृ० १५२।

तम) के रूप में पुराणों में अवतरित हुई।[१] गीता में भी सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक गुणों का विवेचन प्राप्त होता है। वहाँ पर सत्त्व गुणों का प्रादुर्भाव उस समय कहा गया है जब समस्त इंद्रियों से ज्ञान-प्रकाश का आलोक उत्पन्न होता है[२] और तमोगुण का आधिक्य अज्ञान, अप्रवृत्ति, प्रमाद एवं मोह के द्वारा प्रादुर्भूत कहा गया है।[३] 'रामचरितमानस' नाम भी इसी ओर अपरोक्ष रूप से संकेत करता है। 'मानस' का प्रतीकार्थ यही है कि उसके अंदर रमनेवाला व्यक्ति अपने 'मन' में ही 'सत्य' का साक्षात्कार करता है—सात्विक गुणों की अनुभूति करता है और अपनी बुद्धि को विमल कर लेता है—

अस मानस मानस चख चाही।
भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही ॥[४]

मानस का रहस्य इसी 'मानस-तत्त्व' पर आश्रित है। यही रहस्योद्घाटन तत्त्वतः सभी पुराण कथाओं का ध्येय है। इस प्रकार पुराण-गाथाएँ रहस्यवाद की सर्वोत्कृष्ट भाषा हैं, यही सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है जिसके द्वारा मनुष्य जाति मानव सामान्य के आध्यात्मिक रहस्य को व्यक्त करती है।[५]

अस्तु, राम का व्यक्तित्व 'चेतन आत्मा युक्त सत्‌गुणों' का प्रतीक है। दूसरी ओर जितने भी उनके (राम) अंश हैं, वे अधिकतर सतोगुण के अंदर आते हैं। इस दृष्टि से अयोध्या से सम्बन्धित जितने भी पात्र हैं (दशरथ वंश), वे या तो उर्ध्व चेतना के या अपेक्षाकृत निम्न-चेतना के द्योतक हैं। दशरथ शब्द दो शब्दों की संधि है—एक 'दश' और दूसरा 'रथ' अर्थात् जिसके दस अंग (रथ) हों। ये दस अंग प्रत्यक्ष रूप से दस इंद्रियाँ हैं जो निम्न चेतना (तमोगुण से नहीं अर्थ है) का एक विकसित रूप है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दशरथ दस इंद्रियों के संघात रूप भौतिक शरीर के शासक हैं जिनके आत्मा रूप में 'राम' तथा अन्य पुत्रों का जन्म हुआ। परन्तु राम का जन्म कौशल्या या सौभाग्य (Prosperity) से हुआ। आत्मा का जन्म किसी व्यक्ति में सौभाग्य से ही होता है। कठोपनिषद् में भी शरीर को 'रथ'

१—दे० अध्याय प्रथम, उपखंड (ख) में पौराणिक गाथाओं के अंतर्गत।

२—श्री मद्भगवद्गीता, गुणत्रयविभाग योग, पृ० ४७४ श्लोक ११।

३—वही, पृ० ४७६ श्लोक १३।

४—मानस, बालकाण्ड, पृ० ७६।

५—कामायनी-दर्शन, द्वारा डा० फतेहसिंह, पृ० ४०१।

कहा गया है, आत्मा को रथी और बुद्धि तथा मन को सारथि और लगाम कहा गया है यथा—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥[1]

अतः शरीर, आत्मा और सौभाग्य इन तीनों का अन्योन्य सम्बन्ध है। जब आत्मा (राम) ही शरीर (दशरथ) को छोड़ देगी तब शरीर निर्जीव होकर मृत्यु का भागी हो जाता है। इस तथ्य का सुंदर स्वरूप राम का वनवास और तथाकथित दशरथ की मृत्यु है। स्वयं तुलसी ने दशरथ की मृत्यु को 'प्रान प्रिय राम' के वनगमन के समय चित्रित किया है और राम को दशरथ का 'प्रानप्रिय' कहा है—नृपति प्रान प्रिय तुम्ह रघुबीरा।[2] सत्य में, प्राणों (इंद्रियों) का परम प्रिय यह आत्मा ही है जिसके द्वारा प्राणों को जीवन प्राप्त होता है।[3] परन्तु 'सौभाग्य' (कौशल्या) तब भी अपने प्रारब्ध का भरोसा किये हुए चौदह वर्ष तक 'राम' की प्रतीक्षा किया करता है।

दशरथ की अन्य दो रानियाँ कैकेयी और सुमित्रा थी। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कैकेयी के 'कय' का अर्थ 'निम्न चेतना' से ग्रहण होता है जिससे मन अथवा उच्च बुद्धि (भरत, चक्र) का जन्म हुआ है। इसी प्रकार सुमित्रा का अर्थ—जो सबका सुमित्र हो, से ग्रहण होता है जिससे लक्ष्मण, जो शेषावतार (सर्प) माने जाते हैं, का जन्म होता है। शत्रुघ्न 'शंख' के प्रतिरूप हैं जो आकाश का प्रतीक माना जाता है। इस प्रकार, इस तालिका में चक्र, सर्प और शंख को क्रमशः भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न का रूप कहा गया है। इस तात्त्विक अर्थ को स्पष्ट करने के हेतु 'नारायण' के तीन पदार्थों की ओर ध्यान जाता है। नारायण में त्रिमूर्ति की धारणा सर्प, चक्र और शंख की सम्मिलित अभिव्यक्ति है।[4] यहाँ पर सर्प 'समय' का द्योतक है जो या तो अव्यक्त है अथवा व्यक्त। लक्ष्मण शेषावतार होने से प्रत्यक्षतः समय (काल) के प्रतीक रूप हैं। चक्र चिद् अथवा मन का प्रतीक है जो अपनी क्रियात्मक शक्ति से इतर प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करता है। यही कारण है कि पौराणिक

१—कठोपनिषद्, अध्याय १, बल्ली ३, पृ० ८५ श्लोक ३ (उप० भा० खंड १)।

२—मानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ३६० ।

३—प्राणों को इंद्रिय कहा गया है, दे० उपनिषदों में वर्णित प्राण का स्वरूप, अध्याय द्वितीय में—मनोवैज्ञानिक प्रतीकवादी दर्शन में।

४—पुरानाज इन द लाइट आफ माडर्न साइंस, अय्यर, पृ० १७१ ।

गाथाओं में विष्णु के चक्र के द्वारा इतर प्राणियों का ध्वंस होता हुआ दिखाया गया है। भरत का चरित्र भी इसी तथ्य का प्रतिरूप है जो उच्च मन का प्रतीक माना गया है। इस पर हम यथास्थान विचार करेंगे। शंख से ध्वनि का प्रादुर्भाव होता है जो महाभूत आकाश तत्त्व का प्रतीक है। इसकी अभिव्यक्ति रामकथा में शत्रुघ्न के द्वारा होती है। वैज्ञानिक दर्शनवेत्ता प्रो० आइंस्टीन ने समय और आकाश को अनंत न मान कर ससीम माना है और साथ ही दोनों को अपरमित भी कहा है।[1] दूसरी ओर न्यूटन ने समय तथा आकाश को अनंत माना था, इस युगों से मान्य धारणा को आइंस्टीन ने अमूल परिवर्तित कर दिया, और इस प्रकार उनका सापेक्षिक महत्त्व प्रदर्शित कर दार्शनिक क्षेत्र में एक क्रांति का बीजारोपण किया। भारतीय पुराणशास्त्र में आकाश और समय की अपरिमेयता का समष्टि रूप नारायण या हरि है और उनकी सीमाबद्धता का व्यक्त रूप किसी माध्यम के द्वारा (भरत व शत्रुघ्न) अभिव्यक्ति को प्राप्त होते हैं। शत्रुघ्न महाभूत आकाश का प्रतीक है। इस आकाश तत्त्व को उपनिषदों में परमतत्त्व 'ब्रह्म' या आकाश संज्ञक 'ब्रह्म' भी कहा गया है जिससे इस चराचर विश्व की सृष्टि हुई है। अतः तार्किक दृष्टि से आकाश तत्त्व पदार्थ का प्रतीक माना गया है जो प्रत्यक्ष रूप से शत्रुघ्न से सम्बन्धित है, अतः शत्रुघ्न पदार्थ का प्रतीक है। इस दृष्टि से परमात्मा (परमतत्त्व हरि) का अवतार इस पृथ्वी पर उनके तीन प्रमुख अंगों—समय, मन और आकाशीय पदार्थ के सहित हुआ है।

राम की अभिन्न अंश सीता हैं जो श्री या लक्ष्मी की अवतार मानी गई है। सीता को पृथ्वी की पुत्री भी कहा गया है। इन दोनों तत्त्वों का समाहार रामकथा की सीता में प्राप्त होता है। यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो सीता आत्मा की एक ज्योति किरण है जो स्वयं 'आत्मा' से ही उद्भूत हुई है। 'सीता' शब्द के 'सि' का अर्थ रेखा का बनना या झुर्रियों (Furrows) का पड़ना है। जब आत्मा की प्रकाश किरण 'सीता' आकाश तरंगों या पृथ्वी की रेखाओं (झुर्रियों) से उद्भूत हुई, तब अंत में उस 'किरण' का पर्यवसान अग्नि के द्वारा ही होता है और फिर 'वह' शुद्ध रूप में निखर उठती है। यह अग्नि का रूप स्वयं आत्मा की उद्भूत शक्ति है। यदि यहाँ पर हम रामायण की कथा से इसकी तुलना करें तो सीता का पृथ्वी से उत्पन्न होना, अग्नि में प्रवेश करना और फिर अपने शुद्ध बुद्ध रूप में निखर आना—इन सब

१—इस प्रसंग का विवेचन हो चुका है, दे० अध्याय दो, वैज्ञानिक प्रतीकवादी-दर्शन में।

घटनाओं का एक आध्यात्मिक समाधान प्राप्त हो जाता है। सीता-हरण के प्रथम राम ने सीता से कहा था कि अब 'मैं' अपनी लीला का विस्तार करूँगा, अतः तुम कृत्रिम सीता का रूप धारण कर लो। अग्नि-प्रवेश का प्रसंग यह तथ्य प्रकट करता है कि सीता का यह कृत्रिम रूप अग्नि की पवित्रदायिनी शक्ति से पुनः सत्य रूप में प्रकट हो जाता है। यही कारण है कि आत्मा की प्रकाश किरण 'सीता' अग्नि की शिखाओं को देखकर भयभीत नहीं होती हैं वरन् उसे देखकर कह उठती हैं—

पावक प्रबल देखि बैदेही।
हृदय हरष नहिं भय कछु तेही॥
जौं मन बच क्रम मम उर माहीं।
तजि रघुबीर आन गति नाहीं॥
तौ कृसानु सब कै गति जाना।
मोकहुँ होउ श्रीखंड समाना॥[1]

सीता की यह अन्तर्भावना क्या आत्मा के प्रति उसकी प्रकाश-किरण के एक-निष्ठ प्रेम की प्रतीक नहीं है? मेरे मतानुसार यहाँ पर आध्यात्मिक एवं ऐतिहासिक सत्य—दोनों का समान निर्वाह दृष्टिगत होता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि रावण सीता को लंका क्यों ले गया? जैसा कि प्रथम ही संकेत किया गया कि लंका निम्नतम तामसिक गुणों की प्रतीक है जिसका अधिनायक असुर 'रावण' है। सीताहरण का रहस्य यही है कि आत्मा की प्रकाश किरण (सीता) का विस्तार मन के विशाल क्षेत्र में अत्यन्त व्यापक है। 'वह' अपने आलोक से मन के प्रत्येक क्षेत्र एवं कोने को आलोकित करना चाहती है। परन्तु तमोगुण-युक्त वृत्तियाँ उस 'आलोक' (आत्मालोक) के विस्तार में बाधास्वरूप आ खड़ी होती हैं। सीता का तामसिक मन के निम्नतर स्तर 'लंका' में जाने का यही अर्थ है कि आत्मा की 'किरणें' उस क्षेत्र को प्रकाशित करना चाहती हैं और 'वह' उस अभियान में सफल भी होती हैं। इसी के प्रभावानुसार अनेक तमोगुणयुक्त व्यक्ति—यथा विभीषण, मंदोदरी, त्रिजटा आदि में सात्विक भावों का कुछ विकास दृष्टिगत होता है। प्रत्यक्ष रूप से, यह ऊर्ध्वमनश्चेतना (सतोगुणप्रधान) का तमोगुण युक्त चेतना-स्तर के उन्नयन का प्रयत्न है। दूसरे

१—मानस, लंकाकाण्ड, पृ० ८४६।

शब्दों में देवों की असुरों पर विजय है। यह संघर्ष राम-रावण का देवासुर संघर्ष है।

रामायण की कथा में भरत की भक्ति एवं प्रेम का एक अत्यन्त उज्ज्वल रूप दिया गया है। भरत का चरित्र जहाँ मानवीय प्रेम एवं श्रद्धा का उच्चतम रूप है, वहीं वह आध्यात्मिक क्षेत्र में अर्थगर्भित व्यंजन भी करताहै। भरत, जैसा कि प्रथम सकेत किया गया, मन का प्रतीक है। राम का वनवास और भरत का 'नंदीग्राम' में रहकर राज्य-शासन संचालित करना एक तात्त्विक अर्थ की व्यंजना करता है। मन और आत्मा जो क्रमशः स्थूल एवं सूक्ष्म मानसिक चेतना के प्रतीक हैं, वे एक साथ एक स्थान पर राज्य नहीं कर सकते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार 'मन' और 'आत्मा' मानव के दो आवश्यक पक्ष हैं। एक से 'वह' (मन) विचारों तथा भावों के जगत् का निर्माण करता है और दूसरे (आत्मा) से वह अनुभूति एवं अंतर्दृष्टि के द्वारा 'सत्य' का साक्षात्कार करता है (देखो अध्याय २ मनोवैज्ञानिक प्रतीक-दर्शन)। न्याय वैशेषिक दर्शन में मन को सुख-दु:खादि का अनुभव करनेवाला कहा गया है और उसे प्रत्येक आत्मा में नियत होने के कारण अनंत परमाणुरूप कहा गया है।[1] यहाँ पर भी मन को स्थूल तथा आत्मा को सूक्ष्म ही कहा गया है। महर्षि 'अरविंद ने इसे ही वाह्य आत्मा (मन) और आतरिक आत्मा की संज्ञा दी है। महर्षि ने आत्मा को आनन्द का सिद्धान्त माना है—और जब इस विस्तृत एव पवित्र मानसिक तत्त्व का प्रतिबिंब धरातल पर है तब हम किसी व्यक्ति को 'आत्मयुक्त' कहते हैं और जब इसका अभाव होता है तब वह आत्महीन ही कहा जाता है।[2]

आत्मा का क्षेत्र, इसी से अनुभूतिजन्य आनन्द का क्षेत्र है और मन का क्षेत्र ज्ञानमय वाह्य सुख का। इस दृष्टि से 'मन' और 'आत्मा' के एक स्थान पर शासन न कर सकने के कारण राम को चौदह वर्ष का वनवास होता है। इस वनवास के समय लक्ष्मण, जो ईश्वर का समय रूप में एक नियम है—सदा राम के साथ रहता है जिस प्रकार आत्मा की 'ज्योतिकिरण' (सीता) आत्मा के साथ ही रहती है। चौदह वर्ष तत्त्वतः भारतीय मनवन्तर हैं जिनमें आत्मा को संसार के भौतिक पदार्थों के मध्य से गुज़रना पड़ता है और अपनी आत्म

१—कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन द्वारा डा० द्वारकाप्रसाद, पृ० ३४१।
२—द लाइफ़ डिवाइन, द्वारा अरविंद, पृ० २६५-२६६ (भाग प्रथम)।

किरण के द्वारा उसे आलोकित करना पड़ता है। राम का अवतार इसी ज्योति प्रसारण के हेतु एवं अन्धकार के निवारण के लिए ही हुआ था। यही तो 'सत्य' एवं 'धर्म' की स्थापना है।[१]

मन और आत्मा अन्योन्य पूरक भी हैं। इसी तथ्य पर 'मानव' सत्य के स्वरूप का हृदयंगम करता है। इसके लिए आवश्यक है कि मन और आत्मा एक ही संगीत का सृजन करें अर्थात् समरसता का पालन करें। इसी भाव को टेनीसन ने इस प्रकार रखा है—'ज्ञान को अधिक से अधिकतम रूप में विस्तार प्राप्त करने दो, जिससे कि हम में अधिक भक्तिभाव का निवास हो सके। मन और आत्मा, पहले की तरह, एक संगीत का सृजन कर सकने में समर्थ हों।'[२] इसी हेतु रामकथा में मन (भरत) को सदैव राम (आत्मा) का एकाग्र प्रेमी ही चित्रित किया गया है। इसी से भरत का चरित्र आत्मा के प्रति एकनिष्ठ होने के कारण इतना उज्ज्वल है जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा तुलसी ने स्थान-स्थान पर की है। इस प्रकार भरत को उन्होंने एक आदर्शभक्त का रूप ही प्रदान कर दिया है। तुलसी ने भरत के प्रति कहा—

> जौं न होत जग जनम भरत को।
> सकल धरम धुर धरनि धरत को॥[3]

यही तो भरत का आदर्श-प्रतीकत्व है कि वह आत्मा के न रहने पर आत्मा की प्रेरणा (पादुकाओं) से ही राज्यकार्य संचालन करते हैं। परन्तु 'मन' के साथ शत्रुघ्न का सदैव साथ दिखाया गया है और दोनों—भरत तथा शत्रुघ्न—अयोध्या में ही रह जाते हैं। शत्रुघ्न पदार्थ का प्रतीक है (देखिए पीछे)। अतः मन और पदार्थ का एक साथ रहना यह सिद्ध करता है कि मानसिक भावों तथा विचारों का उद्भव एवं विस्तार भौतिक पदार्थों के बिंब-ग्रहण से होता है।[४] परन्तु राजकार्य 'पदार्थ' को नहीं सौंपा गया है। उसका सम्पूर्ण भार

१—मानस, बालकाण्ड, पृ० १३८

२—Let knowledge grow from more to more,
But more of reverence in us dwell;
That mind and soul, according well,
May make one music as before.
—इन मेमोरियम द्वारा टेनिसन, पृ० ६।

३—मानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ५१८।

४—दे० अध्याय प्रथम, उपखंड ख।

आत्मा ने 'भरत' या 'मन' को सौंपा है क्योंकि आत्मा की अनुपस्थिति में मन, भौतिक पदार्थ की सहायता से ही शासन कार्य चलाता है। अत्र प्रश्न है कि भरत नंदीग्राम में रहकर ही राज्य क्यों करते हैं, जबकि वे अयोध्या में रहकर भी राज्य कर सकते थे? इसका भी एक कारण था। योद्धा का अर्थ है विजयी होना, अतः अयोध्या का लाक्षणिक अर्थ हुआ जो मन (भरत) के द्वारा विजित न किया जा सके। दूसरी ओर अयोध्या केवल एक ईश्वर या आत्मा के द्वारा ही शासित हो सकती है। परन्तु 'नंदी' (नाद से) का व्यंजनार्थ 'प्रणव' है जो शब्द-ब्रह्म का स्थान है जहाँ से भरत शासन कार्य करते हैं।[1] अतः नंदीग्राम शब्द-ब्रह्म का स्थान है न कि स्वयं 'शब्द ब्रह्म'। इसी 'शब्द ब्रह्म' का सत्य रूप अयोध्या है जहाँ स्वयं ब्रह्म रूप 'राम' या परमात्मा शासन करते हैं। अतः अयोध्या का स्थान परमधाम के समकक्ष है जिस प्रकार कृष्ण काव्य में वृंदावन माना जाता है। जो व्यक्ति ऐसे स्थान पर रहकर शासन करेगा वह तो 'राज्यमद' से सर्वथा मुक्त ही रहेगा—वह लिप्त रहकर भी निर्लिप्त रहेगा। भरत का आदर्श-चरित्र इसी प्रकार का दृष्टिगत होता है जब तुलसी ने भरत के प्रति ये शब्द कहे—

> भरतहिं होइ न राजमदु, बिधि हरिहर पद पाइ।
> कबहुँ कि काँजी सीकरनि, छीर सिंधु बिनसाइ॥[2]

यही कारण है कि भरत का चरित्रांकन एक निर्लिप्त योगी की तरह किया गया है। यहाँ पर मानों गीता का 'निष्काम-कर्म योग' साकार हो उठा है। उनका मन तो 'आत्मा' से लगा हुआ है इसी से भरत राज्यपद को उसी आत्मा की विभूति मानते हैं न कि कोई अपनी निजी धरोहर। यदि हम यहाँ पर संसार के इतिहास का सिंहावलोकन करें तो प्रतीत होता है कि अनेक राज्य-क्रांतियाँ एवं विद्रोहों का मूल यही था कि वहाँ के शासकगण 'राज्य' को अपनी निजी धरोहर समझते थे और प्रजावर्ग पर मनमाना अत्याचारपूर्ण व्यवहार करते थे। फ्रांस की क्रांति एवं सोवियत रूस की अनेक क्रांतियाँ इसी तथ्य की प्रतिध्वनि ज्ञात होती हैं। अतः भरत का यह रामकथा का प्रसंग इस ओर संकेत करता है कि शासक को 'निष्काम' होना चाहिए, उसे प्रजा का सेवक होना चाहिए। यहाँ प्रतीकात्मक अर्थ मानों लौकिक अर्थ में एकीभूत हो गया

१—पुरानाप्र—इन द लाइट आफ़ माडर्न साइंस द्वारा अय्यर, पृ० २४३।

२—मानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ५१७।

है जो रामकथा को एक अत्यन्त उच्च संदर्भ का 'प्रतीक' बनाता है। आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भरत की राम के प्रति यह भक्ति 'मन' की 'आत्मा' के प्रति अटूट श्रद्धा है। जब तक 'मन' किसी उच्च ध्येय के ध्यान में निमग्न न होगा तब तक वह चंचल एवं संकल्प विकल्प की प्रवृत्तियों के मध्य अस्थिर रहेगा। इसी से रामकथा में भरत को जहाँ एक ओर भक्ति का आदर्श रूप दिया गया है, वहाँ उसे मननशील एवं संयमी भी चित्रित किया गया है। यह 'मन' जो फ्रायड के 'अचेतन मन' से कहीं महान् है, वह सत्य में मननशील चेतन मन ही है। भारतीय मनोविज्ञान में मन की एक मुख्य क्रिया मननशीलता है। यास्क ने 'मन्' धातु से मन की व्युत्पत्ति सिद्ध की है और उसका अर्थ मनन करना कहा है।[1] भरत के चरित्र में इन दोनों तत्त्वों का समाहार तुलसी ने सुन्दरता से किया है। इस मननशीलता की आधारशिला पर ही मन 'नीर क्षीर विवेक' की शक्ति को विकसित करता है। वह इस विवेकदशा में उसी समय पहुँचता है जब वह किसी अन्य 'उच्च ध्येय' या आत्मा की ओर एकाग्रचित्त होता है। इसी की प्रतिध्वनि तुलसी के इस कथन में साकार हो उठी है—

> भरतु हंस रविबंस तड़ागा।
> जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
> गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।
> निज जस जगत कीन्ह उजियारी॥
> कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ।
> प्रेम पयोधि मगन रघुराऊ॥[2]

रामकथा के इन पात्रों का एक अटूट सम्बन्ध बानर वर्ग से भी है जो उस कथा को गति प्रदान करते हैं। इनकी प्रवृत्तियाँ शुद्ध सात्विक नहीं हैं, पर राजसिक एवं तामसिक वृत्तियों के रूप में सामने आती हैं। इस निम्न चेतना के स्तर को ऊर्ध्व चेतना के क्षेत्र में उठाने के लिए ही आत्मा एवं उनके अंशों का इस बानर वर्ग से सम्बन्ध होता है। इसी सम्बन्ध के द्वारा सुग्रीव, हनुमान आदि सतोगुण वृत्तियों से युक्त होकर, आत्मा के सहायक होते हैं। विकास की दृष्टि से यह बानर वर्ग आदिमानव की वह शाखा थी जो मानवीय

१—कामायनी में काव्य, दर्शन और संस्कृति द्वारा डा० द्वारकाप्रसाद, पृ० २४८।

२—मानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ५१८।

धरातल की ओर क्रमशः अग्रसर हो रही थी। इस अभियान में उन्हें आर्य-जाति के सत्त्वगुणों का भी आश्रय प्राप्त हुआ था।

रामकथा में इन बानरों का एक रहस्यमय अर्थ है। सुग्रीव का अर्थ ज्ञान अथवा बुद्धि है। इसी प्रकार बालि का शब्दार्थ काम या काम से उद्भूत इच्छाएँ तथा वासनाएँ हैं। अतः 'ज्ञान' और 'काम' का संघर्ष सदैव का सत्य है। राम का अवतार धर्म-स्थापना के हेतु हुआ था। 'आत्मा' के साम्राज्य को स्थापित करने के लिए यह आवश्यक था कि वह 'ज्ञान' की निर्मल धारा को अबाध गति से प्रवाहित होने का मार्ग प्रशस्त करे। यही कारण था कि आत्मा रूप राम को बालि का संहार करना पड़ा, और सुग्रीव को राज्य देकर ज्ञान-युग का आवाहन करना पड़ा। इस दृष्टि से बालि की मृत्यु राम के चरित्र पर कलंक नहीं है। वह उनका एक आवश्यक कर्म था जिसके लिए ही उनका इस धरती पर अवतार हुआ था।

राम के प्रमुख सेवकों में हनूमान या पवनपुत्र का नाम आता है। उनका महत्त्व इतना अधिक बढ़ा कि वह राम के मुख्य भक्तों के रूप में पूज्य हो गए। पवनपुत्र नाम ही यह सिद्ध करता है हनूमान 'पवन' के प्रतीक हैं जो सारे विश्व में व्याप्त है। उसी का रूपांतर 'प्राणवायु' के रूप में शरीर में भी व्याप्त है। इस प्राणवायु का शरीर में और वायु का विश्व-वातावरण में समान महत्त्व है। इस अर्थ के अतिरिक्त रामकथा में पवनपुत्र एक ऐसी चेतन प्राणवायु का प्रतीक है जो 'भरत' को 'राम' की सूचना देता है (मन-तथा आत्मा), स्वयं आत्मा को उसकी आत्मकिरण (सीता) की सूचना देता है, ऊर्ध्वमन को निम्नमन (भारत तथा लंका) से मिलाता है, ज्ञान-शक्ति (सुग्रीव) को राम (आत्मा) की ओर उन्मुख करता है और लक्ष्मण (समय) के मूर्छित हो जाने पर (गतिहीन होना) उन्हें जीवन रूप संजीवनी का वरदान देकर उन्हें चेतनायुक्त करता है। ये सब कार्य पवनपुत्र हनूमान के प्रतीकात्मक संदर्भ की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं जो रामकथा के विभिन्न पात्रों के बीच मध्यस्थ का कार्य करते हैं। हनूमान की यह प्रतीकात्मक व्यापकता यह सिद्ध करती है कि प्राणवायु की पहुँच मन की अतल गहराइयों में एवं विश्व के विशाल प्रांगण में समान रूप से है। वह एक ऐसी शक्ति है जो गहन से गहन मन की परतों को भेद कर प्रकाशकिरण एवं मन (सीता तथा भरत) को आत्मा के समीप लाती है। इसी कारण से स्वयं राम ने हनूमान से कहा था—

सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना॥[१]

जो आत्मा का इतना कार्य करे, वह समय (लक्ष्मण) से भी अधिक प्रिय है, क्योंकि उसने तो समय तक को गतिहीनता का गति प्रदान की है।

राम अथवा बानरों की सम्मिलित सेना लंका की ओर प्रयाण करती है और उनके सामने महोदधि को पार करने की समस्या आती है। तब 'सेतुबंध' के द्वारा समुद्र को पार किया जाता है। यहाँ पर लंका और साकेत (भारत) के मध्य सेतु का निर्माण एक प्रतीकार्थ की ओर संकेत करता है। जैसा कि प्रथम ही संकेत किया जा चुका है कि साकेत या भारत और लंका ऊर्ध्व तथा निम्नतम मानसिक स्तरों के प्रतीक हैं। इन दो स्तरों का एक सूत्र में सम्बन्ध होना चाहिए, तभी मानसिक जगत का कार्य सुचारु रूप से चल सकता है। यही कार्य रामकथा में 'सेतु' करता है जो मन के दो क्षेत्रों को मिलाता है। इस प्रकार इस ऐतिहासिक घटना को एक प्रतीक का रूप प्राप्त होता है। यह मेरे इस कथन की पुष्टि करता है कि रामकथा में ऐतिहासिकता एवं प्रतीकात्मकता का समान निर्वाह हुआ है।

मानसिक जगत के सात्त्विक एवं राजसिक गुणों का यह विवेचन अपूर्ण ही रहेगा जब तक उसके तामसिक स्तर की ओर दृष्टिपात नहीं किया जायगा। मानसिक संगठन में इन तीनों गुणों का समान महत्त्व है। गीता में इसी से सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक ज्ञानों का विवेचन किया गया है। सात्त्विक ज्ञान में एक अविभक्त तत्त्व का साक्षात्कार समस्त भूतों में होता है। राजसिक ज्ञान में सर्वभूतों में नानात्व ही दिखाई देता है। तामसिक ज्ञान में किसी पदार्थ का ही महत्त्व रहता है जो अहेतु, असत्य एवं अज्ञान के द्वारा आवृत्त रहता है।[२] लंका से सम्बन्धित करीब करीब सभी पात्र तामसिक मनोवृत्तियों से युक्त हैं जो अज्ञान एवं असत्य के प्रति विशेष आकृष्ट हैं। इन गुणों का प्राचुर्य होने से एक ज्ञानी पुरुष रावण भी अहंकारी एवं अज्ञानी ही दिखाई देता है। रामकथा में रावण का चरित्र इसी प्रकार का है। मानसिक विकास की दृष्टि से 'वह' तामसिक एवं राजसिक वृत्तियों के मध्य में दर्शित होता है। इनकी समष्टि अभिव्यक्ति रावण के एक अन्य वाचक शब्द 'दसग्रीव' के

१—मानस, किष्किन्धा काण्ड, पृ० ६५६।

२—श्रीमद्भगवद्गीता, मोक्ष योग, पृ० ५६४–५६६, श्लोक २०–२२।

अर्थ में समाहित है। यहाँ पर दसो इंद्रियां एवं उनके गुण मस्तिष्क में ही केंद्रित हैं। इसी से 'रावण' सदैव इन इंद्रियों की तृप्ति की ही सोचा करता है जबकि दशरथ उनके (इंद्रियों) उन्नायक रूप के प्रति ही अधिक सचेत रहते हैं। इसी कारण रावण में अहंकार की चरम परिणति प्राप्त होती है जो लंकाकाण्ड में, स्थान स्थान पर, मंदोदरी तथा रावण के वार्त्तालाप प्रसंगों में दृष्टिगत होती है। यहाँ तक कि रावण इस चराचर विश्व को भी अपने अधिकार में करना चाहता है यथा—

सो सब प्रिया सहज बस मोरे।
समुझि परा प्रसाद अब तोरे॥[1]

रावण का यह 'अह' भाव तामसिक वृत्ति का एक स्वाभाविक विकास है। तामसिक वृत्ति के दो अंग होते हैं—अवर्ण और विक्षेप। अवर्ण 'अहं' का वह शक्तिशाली रूप है जो केन्द्र से सम्पूर्ण परिधि को आच्छादित कर लेता है। यह 'अहं' का विस्फोट एवं उसका परिधि में विस्तार ही 'विक्षेप' है।[2] इन दोनों तत्त्वों का समाहार स्पष्टतया रावण के व्यक्तित्व में प्राप्त होता है। इस 'अहं' विस्तार का कारण मनोवैज्ञानिक भी हो सकता है जैसा कि चिदाम्बर अय्यर ने विश्लेषित किया है।[3]

अस्तु, रावण का व्यक्तित्व तामसिक मन का अहंपूर्ण विस्तार था। इसके विपरीत कुंभकर्ण तामसिक मन का केंद्रीभूत (Centripetal) व्यक्तित्व था।

१—मानस, लंकाकाण्ड, पृ० ७५४।

२—पुरानाज-इन द लाइट आफ माडरन साइंस, द्वारा अय्यर, पृ० २४४।

३—श्री पी० आर० चिदाम्बर अय्यर ने एनल्स आफ भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वाल्यूम २३ (१९४१) में रावण के व्यक्तित्व का सुन्दर विश्लेषण नवीन मनोविज्ञान के प्रकाश में किया है। लेखक रावण के व्यक्तित्व को एक मानसिक विघटन का उदाहरण मानता है जो उन्मुक्तता (Insanity) की दशा तक नहीं पहुँचता है। सत्य में उसका यह रूप उसके वातावरण एवं पैतृक-संस्कारों (Heredity) के प्रभावों के कारण ही था। वह एक राक्षस नारी और देव ऋषि के द्वारा उत्पन्न हुआ था। इसी कारण उसके व्यक्तित्व में दोनों का एक अद्भुत मिश्रण था। उसके दस सिर तथा बीस हाथ माता की किसी संवेदनात्मक एवं भावनात्मक असंतुलन का फल था जो गर्भावस्था के समय उसके ऊपर पड़े होंगे। इसी से रावण में अमर्ष भाव तथा हीन-ग्रंथि (Inferiority Complex) का विकास भी सम्भव हो सका। अतः वह एक स्नायुपीड़ित (Neurotic) व्यक्ति के रूप में सामने आता है (पृ० ४६-५८)। स्पष्ट रूप से यह वैज्ञानिक, यौनिक एवं संस्कारजनित कारण उसके 'अहं' विस्तार के कारण हो सकते हैं, और किसी सीमा तक यह सत्य भी है।

एक में सब कुछ पर अधिकार करने की वेगवान लालसा थी, तो दूसरे (कुंभकर्ण) में प्रत्येक वस्तु को अपने अंदर ही सुप्तावस्था में रखने की अकाट्य इच्छा थी। एक में यदि विस्तार का बवंडर था तो दूसरे में समस्त वस्तुओं का निजी केंद्रीभूत संकुचन था। इसी से कुंभकर्ण को निद्रामग्न कहा गया है। 'मेघनाद' तामसिक वृत्ति का वह वेगवान एवं गुरुगम्भीर मेघ रूप था जिसके सामने 'समय' (लक्ष्मण) के रूप में, ईश्वर का 'विधिवाक्य' भी एक बार अस्तव्यस्त हो गया था। इसी प्रकार शूर्पणखा जो 'वासनापूर्ण काम' की प्रतीक है, वह अपनी तृप्ति के लिए किसी ओर भी उन्मुख हो सकती है। पंचवटी का अर्थ पाँच वृक्ष से ग्रहीत होता है जो पाँच इंद्रियों का प्रतिरूप है। कोई भी व्यक्ति आत्मा का प्रकाश उसी समय पा सकता है जब वह इन पंचइंद्रियों से ऊपर उठकर आत्मानुभूति की ओर प्रयत्नशील होता है। शूर्पणखा पंचवटी में इन इद्रियों के ऊपर उठने की कोशिश तो करती है पर अपनी कामवासना के अत्यावेग के कारण 'आत्मा' (राम) के निकट नहीं पहुँच पाती है। इसी बीच में ईश्वर का विधि नियम 'लक्ष्मण' उसे कुरूप कर देता है। इस प्रसंग से यही अर्थ ग्रहण होता है कि कामवासना के उद्दाम वेग से व्यक्ति की बुद्धि तथा मन नितात अज्ञानाधकार में रहने के कारण, अपनी तामसिक वृत्तियों का खुलेआम प्रदर्शन करता है। यह प्रदर्शन इतना अमर्यादित हो जाता है कि वह व्यक्ति अपने 'नाक कान' भी गँवा देता है। इसी प्रकार मारीच, जो अपनी माया के कारण हिरण में परिवर्तित हो गया था, भ्रमपूर्ण मृगतृष्णा का ही प्रतीक है जिसके ऐंद्रजालिक प्रभाव में राम, सीता तथा लक्ष्मण भी आ गए थे।

(२) भौतिक तथा आकाशीय दृष्टिकोण

अनेक पौराणिक गाथाओं का मूलस्रोत वैदिक साहित्य है। इस दृष्टि से वैदिक साहित्य का और भी महत्त्व बढ़ जाता है। रामकथा का एक विशिष्ट संकेत हमें वैदिक साहित्य में बिखरा हुआ प्राप्त होता है। इसी के आधार पर श्री परशुराम चतुर्वेदी जी का यह मत है कि वैदिक साहित्य में रामकथा के अनेक पात्रो के नाम अवश्य पाये जाते हैं किन्तु उनका पारस्परिक सम्बन्ध कहीं पर भी स्पष्ट नहीं है।[1] यह ठीक है कि इन पात्रों का अन्योन्य सम्बन्ध नितांत स्पष्ट नहीं है पर उनके कार्यकलापों अथवा घटनाओं का एक प्रतीकात्मक निर्देशन वहाँ अवश्य प्राप्त होता है। आदिरामायण और वाल्मीकीय

१—मानस की रामकथा, द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५६

रामायण के कुछ अंशों का संकेत वैदिक साहित्य में भी प्राप्त होता है जिस पर यथास्थान विचार किया जायगा। दूसरी ओर हमें रामकथा के स्वरूप को ध्यान में रख कर यह भी मानना पड़ेगा कि उसके विशृंखलित रूप को एक सूत्र में अनुस्यूत करने का काफ़ी श्रेय जन जीवन के आख्यानों, वाल्मीकि रामायण तथा पुराणों की कल्पना को भी है। यह प्रवृत्ति केवल रामकथा के लिए ही नहीं पर 'कृष्ण चरित' तथा अन्य पौराणिक गाथाओं के लिए भी समान रूप से सत्य है।

राम

वैदिक साहित्य में 'राम' शब्द का संकेत बिखरा हुआ प्राप्त होता है जिस के आधार पर राम शब्द की रूपरेखा को स्थिर किया जा सकता है। इसके हेतु हमें वैदिक देवता 'इन्द्र' की धारणा का भी सहारा लेना पड़ेगा क्योंकि एक तार्किक दृष्टि से देखने पर इन्द्र की स्वरूपधारणा में विष्णु, सूर्य, चन्द्रमा सभी के न्यूनाधिक तत्त्व वर्तमान हैं। विष्णु का अवतार रूप राम हैं। अतः इन्द्र से राम तक के एक विकास सूत्र का अनुसन्धान राम की धारणा का स्थिर रूप कहा जा सकता है।

वैदिक साहित्य में इन्द्र को परमात्मा, आत्मा, वीर, विद्युत्, विभीषण आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी टीका में इन्द्र को इन्द्रियों का शासक कहा गया है। इन्द्र से ही इन्द्रियों को शक्ति मिलती है, ज्ञान मिलता है, अतः इन्द्र यहाँ आत्मा है।[1] एतरोयोपनिषद् में इन्द्र की व्युत्पत्ति 'इंद्रेन्द्र' से मानी गयी है जो परमात्मा का नाम है। लोक में ईश्वर 'इन्द्रेन्द्र' नाम से प्रसिद्ध हैं पर ब्रह्मवेत्ता उसे परोक्ष रूप से (व्यवहार में) इन्द्र कह कर पुकारते हैं।[2] इसी प्रकार, इन्द्र को असुरहन्ता, प्राण, महाबली, प्रजास्वामी आदि विशेषणों से अभिमित किया गया है। समष्टि रूप से देखने पर इन्द की भावना का आध्यात्मिक रूप 'परमात्मा' का था, वही आधिदैविक दृष्टि से 'देव' था और आधिभौतिक दृष्टि से एक महान् योद्धा था। इन तीनों तत्त्वों का समाहार विष्णु में भी प्राप्त होता है जब स्वयं वेदों में इन्द्र का स्थान विष्णु ने ग्रहण किया। इन्हीं गुणों का एक स्पष्ट रूपान्तर विष्णु रूप राम में भी प्राप्त होता है। यही नहीं, शतपथ ब्राह्मण में इन्द्र को 'सूर्य' का

१—वैदिक सहित्य, द्वारा रामगोविन्द त्रिवेदी, पृ० ३७८-३७९ (काशी, सं० २००८)।

२—एतरेयोपनिषद् अध्याय, १ खण्ड ३, पृ० ६२ श्लोक १४ (उप० भा० खंड २)।

नाम भी दिया गया[1] है जो इन्द्र, सूर्य और विष्णु की समानता एवं अर्थ-साम्य की ओर संकेत करता है। अतः राम के व्यक्तित्व मे इन्द्र के तीन प्रधान गुणों—असुरसंहारक, परमात्मतत्त्व, और देव गुणों का एक समष्टि रूप प्राप्त होता है। डा० याकोवी का मत है कि इन्द्र, जो वेदों का एक प्रमुख देवता था, कृषकों के लिए 'राम' बन गया।[2] परन्तु इस निष्कर्ष में इन्द्र के अन्य उपर्युक्त गुणों को नितान्त छोड़ दिया गया है जो राम की विकास-धारणा में अत्यन्त आवश्यक तत्त्व हैं।

इस स्थिति में आकर राम का जो भी आरोप रूप वैदिक साहित्य में बिखरा हुआ प्राप्त होता है वह एक सूत्र में बांधा जा सकता है। 'राम' ऋग्वेद में एक राजा भी है। 'वह' वहाँ पर एक ऋषि भी है जो असंग्रह यज्ञ के समय अन्य आचार्यों के समान एक व्याख्याता आचार्य है।[3] इसके अतिरिक्त राम का प्रयोग ब्राह्मण के अर्थ में अनेक स्थानों पर हुआ है। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है, 'मैंने दुःसीम, पृथवान् बेन, एवं राम असुर यजमानों के लिए यह प्रवचन किया है। इन्होंने पांच सौ रथ और घोड़े जुतवाये जिस कारण मेरे प्रति अनुग्रह चारों ओर विदित हो गया।'[4] शतपथ ब्राह्मण में राम को एक तत्त्वज्ञानी भी कहा गया है।[5]

इन सभी वर्णनों में न्यूनाधिक रूप से राम का रूप मुखर हो जाता है जो आगे चल कर संस्कृत साहित्य में और यहाँ तक कि आदिरामायण में एक स्थिर अवतारी रूप हो जाता है। इस परिवर्तन का मूल कारण पुराणों की अवतार तथा लीला-भावनाएं हैं जिन पर हम प्रथम ही विचार कर चुके हैं। वेदों के राजा का भी समाहार 'राम' में सम्पन्न हुआ। शतपथ के तत्वज्ञानी रूप का भी एक व्यापक स्वरूप राम में प्राप्त होता है। ऋग्वेद १। ८०।७ में इंद्र को मायावी राक्षस माया मृग को मारने वाला कहा गया है जिसका रूप राम का मारीच मृग को मारना है। विष्णु ने राजा 'बलि' को बांधा था तो राम ने 'बालि' (बलि) को मारा। राम ने विभीषण को राज्य दिया था, तो ऋग्वेग में इंद्र को विभीषण भी कहा गया है।[6] करीब करीब इन

१—वैदिक साहित्य, पृ० ३७६।

२—दे० रामकथा द्वारा डा० कामिल बुल्के, पृ० १०४।

३—वही, पृ० ६ से उद्धृत।

४—वही, पृ० ६।

५—वैदिक साहित्य में देखें, पृ० २६६-२६७।

६—हिंदू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ, द्वारा त्रिवेणी प्रसाद सिंह, पृ० ६५।

सभी तत्त्वों का समष्टि रूप तुलसी के राम हैं, इसमें कोई भी संदेह नहीं है। यह समष्टिगत विकास हमें केवल 'राम' में ही नहीं पर अन्य अवतारों में भी प्राप्त होता है। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि उसके प्रमुख अवतारों का एक क्रमिक विकास आदितम स्रोत में खोजा जा सकता है। प्रतीकार्थ की दृष्टि से यह विश्लेषण एवं संश्लेषण अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसी पद्धति के द्वारा हम किसी आदर्श-चरित्र की धारणा को हृदयंगम कर सकते हैं।

डा० बुल्के ने राम-रावण युद्ध का आदिम रूप ऋग्वेद के इंद्र एवं वृत्रासुर संग्राम का विकसित रूप माना है।[1] जैसा कि प्रथम संकेत किया गया कि ऋग्वेद में इंद्र असुरसंहारक भी है। कदाचित् इसी रूप को स्पष्ट करने के लिए इस प्रसंग की अवतारणा की गयी हो। इंद्र इस 'अहि' (ऋग्वेद में अहि वृत्र को भी कहा गया है) को मारते हैं और पर्वतो में रोके हुए पानी को मुक्त कर देते हैं। सायणाचार्य के अनुसार वृत्र का अर्थ 'मेघ' भी है जिसमें जल रोका जाता है।[2] इंद्र जो वर्षा का भी देवता है, वह रोके हुए पानी को प्रवाहित करने के हेतु वृत्र (रावण) का वध करता है। यही राम अथवा रावण युद्ध का भौतिक अर्थ है। इस प्रकार, इंद्र अपनी पत्नी (सीता—पृथ्वी की प्रतीक—आगे देखिए) की उर्वराशक्ति को कुंठित करने वाले वृत्र राक्षस का नाश करते हैं और इस कार्य में उन्हें 'मारुत' (पवन-पुत्र) की भी सहायता मिलती है। इस कथा का विकसित रूप वाल्मीकीय रामायण का उत्तरार्ध है (सीताहरण से रावण बध तक)। अतः रामकथा का रहस्य एक वैज्ञानिक प्राकृतिक घटना का प्रतिरूप-सा प्रतीत होता है। पृथ्वी, मेघ, पवन तथा इन्द्र (सूर्यरूप) के अन्योन्य सम्बन्ध तथा पृथ्वी के लिए जल वृष्टि की क्रिया का एक वैज्ञानिक संकेत प्राप्त होता है। यह ठीक है कि ऋग्वेद की यह कथा अपने रूप में एक संकेतमात्र है। परन्तु प्रतीकात्मक दृष्टि से एक संकेत ही पूरी कथा का, पूरे प्रसंग का भाग्य-निर्णय कर देता है। प्रतीकार्थ केवल व्यंजना करता है न कि किसी तथ्य या अर्थ को नितान्त स्पष्ट रूप से रख देता है। दूसरा तत्त्व यह भी प्रतिभासित होता है कि इस संकेत-कथा का भविष्य में कवि कल्पना का, पुराणों का और अन्य लौकिक माध्यमों का प्रभाव पड़ता रहा जिसके फलस्वरूप उसमें अर्थ गांभीर्य का क्रमशः विकास होता गया। आगे

१—रामकथा डा० बुल्के, पृ० ११३।

२—वैदिक साहित्य, द्वारा रामगोविंद त्रिवेदी, पृ० ६४।

चल कर, इसी कारण, जब पुराणों में इंद्र विष्णु के पद पर आसीन हो जाते हैं तब उनके अवतारी रूप राम के साथ सीता, रावण, हनुमान का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद के इंद्र, शतपथ ब्राह्मणादि के विष्णु और सूर्य, उपनिषदों के सूर्य तथा विष्णु एवं पुराणों के अवतार रूप विष्णु का एक क्रमिक विकास 'राम' की धारणा में प्राप्त होता है। पुराणों में रामावतार अंशों के सहित होता है। अतः सुग्रीव सूर्य के, नल विश्वकर्मा के, नील द्विविद के, मयंद अश्विनी के, तारा बृहस्पति के, शरभ पर्जन्य के तथा हनूमान मारुत के अवतार होकर विष्णु रूप राम के सहित पृथ्वी पर अवतरित होते हैं।[1] ये सब तथ्य प्रकट करते है कि राम कथा का प्रतीकार्थ एक व्यापक प्राकृतिक-तत्त्ववादी दृष्टिकोण सामने रखता है।

सीता

राम के समान सीता की धारणा का विकास-सूत्र वैदिक साहित्य से ग्रहण किया जा सकता है। वैदिक साहित्य में सीता के दो रूपों का संकेत प्राप्त होता है—एक कृषि प्रधान देवी का और दूसरा प्रजापति की पुत्री का।

ऋग्वेद मंडल १५६ में पृथ्वी या द्यावा को देवी का रूप प्रदान किया गया है। आगे चल कर शुक्ल यजुर्वेद में हल द्वारा चिह्नित भूमि रेखा का नाम 'सीता' कहा गया है।[2] ऋग्वेद के सबसे प्राचीन अंशों में (२७ मंडल) केवल एक ही सूत्र में कृषि सबंधी शब्दों का प्रयोग मिलता है। यहाँ पर सीता की भावना में देवत्व का आरोप किया गया। उसे उर्वरा शक्ति से सम्पन्न भी चित्रित किया गया, यथा अच्छा फलवाला, बहुत सुख देने वाला, चिकना मूंठवाला, हल, गौ, भेड़, शीघ्रगामी रथ और हृष्ट-पुष्ट सुन्दरी उत्पन्न करो।[3] यह प्रारम्भिक सीता का देवी रूप जो पृथ्वी और उसकी उर्वरा शक्ति के तत्त्वों से समन्वित था, उसका पूर्ण देवी रूप ऋग्वेद के गृहसूत्रों में विकसित होता है। सीता के प्रति अनेक प्रार्थनाएँ की गयी हैं—'सौभाग्यवती सीता हम तुम्हारी पूजा करते हैं तुम हमें धन और सुंदर फल दो। पूषा सीता को नियमित करे और उसका अनुसरण करे।[4] अथर्ववेद के कौशिक गृहसूत्र के तेरहवें अध्याय की १०६ वीं काण्डिका में सीता-पूजन या यज्ञ की विधि का सविस्तार वर्णन प्राप्त होता

१—मानस की रामकथा, द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ६०।

२—मानस की रामकथा, द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ६०।

३—वैदिक साहित्य, पृ० ६६।

४—रामकथा द्वारा, डा० बुल्के, पृ० १५ व पृ० १८।

है। वहाँ स्तुति करते हुए कहा गया है—हे सीते ! तू सर्वांग शोभिनी है, तू उर्वरा है, तू पर्जन्य की पत्नी है।[१] तू अभिजित अर्थात् वर्षा ऋतु के नक्षत्र अथवा विष्णु की पत्नी अमिजिता है। तू कालनेत्री अर्थात् अग्नि की अधिष्ठात्री देवी है।[२] वेदों के अन्य सूत्रों में सीता के प्रति ये भी सकेत प्राप्त होते हैं—'वह (सीता) इंद्र के साथ आती है और पूषा द्वारा अनुसरण की जाती है। वह अरण्य के मध्य भाग में पूजी जाती है।' कौशिक सूत्रोक्त सीता पूजन में सीता के चतुर्दिक् परिधि या रेखा खींची जाती है। ऋग्वेद में सीता के सहायक इन्द्र तथा वायु हैं। ऋग्वेद में तडित की देवी वाक् ने रुद्र के धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाई थी।[३] उपर्युक्त वैदिक सीता के प्रति जितने भी संकेत प्राप्त होते हैं उनका रूप हमें रामकथा में भी प्राप्त होता है। सीता का जन्म रामकथा में हल से जोती जाने वाली पृथ्वी से ही हुआ था। अतः वह पृथ्वी की उर्वरा शक्ति की प्रतीक है। सीता पूजन विधि में उसे पर्जन्य की पत्नी तथा विष्णु की भार्या भी कहा गया जो रामकथा में सीता को राम की पत्नी के रूप में अवतरित कर सका। वेदों में सीता इंद्र के साथ आती है और पूषा द्वारा अनुसरण की जाती है जो रामकथा में 'राम' के साथ आती है, और लक्ष्मण द्वारा अनुसरण की जाती है। अरण्य के मध्य भाग में पूजी जाने वाली सीता, राम कथा में भी वन को जाती है। (राम के साथ) सीता के चारों ओर जो रेखा खींची जाती है वह राम कथा में सीताहरण के प्रथम लक्ष्मण द्वारा अरण्य में खींची जाती है। ऋग्वेद में सीता के सहायक शुनासीर अर्थात् इन्द्र और वायु हैं जो रामकथा में राम तथा हनूमान हैं। ऋग्वेद में तडित देवी वाक् ने रुद्र की प्रत्यंचा चढ़ायी थी तो रामकथा में सीता ने महादेव जी के धनुष को उठाकर रखा था। सीता की इस उर्वरा शक्ति को क्षीण न होने के लिए इन्द्र को वृत्रासुर का वध करना पड़ा था जिसकी ओर प्रथम ही सकेत हो चुका है (देखो राम में)। इन समस्त बिखरे हुए महत्त्वपूर्ण संकेतों का एक सुसम्बद्ध रूप राम कथा के प्रमुख कथानक की एकसूत्रता में दृष्टिगत होता है। सीता का यह वैदिक रूप अपने में 'सीता' की धारणा का एक विशिष्ट संकेत करने में समर्थ है। केवल ऋग्वेद में ही नहीं, पर सीता का यह रूप हमें महाभारत के द्रोण पर्व में भी प्राप्त होता है। वहाँ पर कहा गया है कि कृषि की देवी,

---

१—वैदिक साहित्य, पृ० ६६।

२—हिन्दू धार्मिक कथाओं का भौतिक अर्थ, पृ० ६१।

३—वही, पृ० ६२।

सब बीजों को उत्पन्न करने वाली 'सीता' की हम वंदना करते हैं। परन्तु यही नहीं महाभारत के युद्ध पर्व में सीता को 'श्री' का अवतार भी कहा गया है।[1] रामरहस्योपनिषद्, रामोत्तरतापनीय उपनिषद् आदि में सीता-भक्ति का निरूपण भी प्राप्त होता है। यहाँ पर राम का परमपुरुष और सीता का मूल-प्रकृति का रूप प्राप्त होता है। यह सीता का शक्ति रूप आगे चल कर शाक्त प्रभाव के कारण और भी मुखरित हो गया। आदि रामायण में सीता की तैंतीस शक्तियों का वर्णन मिलता है। इसी रामायण में एक स्थान पर सहस्र स्कंध रावण का वध सीता द्वारा दिखाया गया है।[2]

वैदिक साहित्य में सीता के कृषि प्रधान रूप के अतिरिक्त एक दूसरा रूप प्रजापति की कन्या का मिलता है। यहाँ पर प्रजापति की दो पुत्रियाँ हैं—सीता-सावित्री और श्रद्धा।[3] उसी स्थान पर लिखा है कि सोम श्रद्धा से और सीता-सावित्री सोम से विवाह करना चाहती थी। फलतः प्रजापति की सहायता से सीता-सावित्री सोम राजा से विवाह करती है। यहाँ प्रजापति, सूर्य के रूप में है और सोम, चंद्रमा का द्योतक है। पंडित रामगोविन्द त्रिवेदी का मत है कि सीता और सावित्री जो ऋग्वेदीय संहिताओं में एक ही नाम था, वह आगे चल कर संस्कृत साहित्य में सीता तथा सावित्री में विभक्त हो गया और उनके रूप को लेकर दो उपाख्यानों का सृजन हुआ।[4]

सीता के इस रूप का सम्बन्ध पृथ्वी, वर्षा वाले प्रथम रूप से भी किया जा सकता है। स्वयं ऋग्वेद में एक स्थान पर अन्न को सोम की संज्ञा दी गई है (अन्नं वै सोमः) और प्राण को प्रजापति भी कहा गया है।[5] इसी प्रकार का एक संकेत छांदोग्योपनिषद् में भी प्राप्त होता है जहाँ कहा गया है कि यह चंद्रमा राजा सोम है। वह देवताओं का अन्न है, देवता लोग उसका भक्षण करते हैं।[6] अपरोक्ष रूप से सीता का यहाँ पर भी सम्बन्ध कृषि रूप से जोड़ा जा सकता है। अन्न की उत्पत्ति पृथ्वी से होती है और यह अन्न देवताओं (इंद्रियों) के द्वारा सोम रूप में भक्षण किया जाता है। अतः पृथ्वी और अन्न

१—रामकथा, द्वारा डा० बुल्के, पृ० २६।

२—वही, पृ० ४८७।

३—वैदिक साहित्य—यजुर्वेदीय तैत्तरीय ब्राह्मण २-३-१०, पृ० १३१।

४—वही, पृ० १३२।

५—वैदिक साहित्य, पृ० १३२।

६—छांदोग्योपनिषद् अध्याय ५ खंड १०, पृ० ५१२ श्लोक ४ (उप० भा० खंड ३)।

(सोम रूप में) का सम्बन्ध एक सत्य है जो मिथुनपरक है। यही सीता का राजा सोम से विवाह है। अतः यह संभाव्य है कि सीता की भावना तथा उस के विवाह में इस उपाख्यान का 'कुछ' प्रभाव पड़ा हो, पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि राम और सीता के विवाह में इसकी भावना का कहाँ तक सन्निवेश है।

दशरथ तथा जनक

वैदिक साहित्य में राम तथा सीता के जितने अधिक संकेत प्राप्त होते हैं उतने दशरथ तथा जनक के नहीं। परन्तु जितने भी थोड़े बहुत संकेत प्राप्त होते हैं, उनसे इन पात्रों के प्रति न्यूनाधिक धारणाओं का रूप प्राप्त होता है चाहे वह बहुत स्पष्ट न हो। ऋग्वेद १ मंडल, १२६ सूक्त ४ छंद में दशरथ को एक राजा कहा गया है—

चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः
सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयीन्त।[1]

इसके अतिरिक्त दशरथ का अन्य रूप भी प्राप्त होता है। वेदों तथा उपनिषदों में प्रजापति को दस दिशाओं में व्याप्त कहा गया है जो स्पष्ट रूप से दशरथ ही कहे जा सकते हैं। अतः प्रजापति का यह चतुर्दिक विकास सृष्टि का नियम है जिसका समन्वय उनके दस दिशाओं में व्याप्त दशरथ का पर्याय माना जा सकता है। इसके अलावा दशरथ शब्द का प्रयोग ऋग्वेदीय संहिताओं में वहाँ पर प्राप्त होता है जहाँ राजा भावयव्य के पुत्र स्वनय ने कक्षीवान् ऋषि को चार घोड़े वाले 'दशरथ' दान दिये थे (१।१२।१४)।[2] कदाचित् दस रथों के दान की उस समय परम्परा थी और जो भी राजा दस रथों का दान देता था उसे दशरथ कहा जा सकता था। इस प्रकार दशरथ शब्द का दानी अर्थ से भी सम्बन्ध हो गया। राम कथा में दशरथ ने दो वरों का दान दिया था। दूसरी ओर प्रजापति भी सृष्टि का राजा ही होता है और ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजापति को 'राजा' रूप में ही चित्रित किया गया है। इस प्रकार दशरथ की भावना में इन सभी तत्त्वों का समाहार प्राप्त होता है जो उसके प्रतीक रूप को भी स्पष्ट करता है।

१—मानस की रामकथा, द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५७।

२—धार्मिक हिन्दू कथाओं के मौतिक अर्थ, पृ० १३।

इस प्रतीक रूप का सुन्दर विकास 'दशरथ-जातक' की कथा में प्राप्त होता है ।[1] अतः प्राप्त संदर्भों की दृष्टि से इतना ही कहा जा सकता है कि दशरथ के सम्राट् रूप का बहुमुखी विकास दशरथ-कथा के कारण अपने पूरे विकास को प्राप्त हो सका । परन्तु इस रूप से यह भी स्पष्ट नहीं होता कि दशरथ का राम और सीता से क्या सम्बन्ध है ।

दूसरी ओर सीता का सम्बन्ध जनक से अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है । जनक नाम की पुनरावृत्ति चार बार शतपथ ब्राह्मण में हुई है और वहाँ पर उनका वर्णन याज्ञवल्क्य के साथ हुआ है । इसके अतिरिक्त जैमिन ब्राह्मण में जनक को ब्राह्मण, ज्ञानी और दानी भी कहा गया है ।[2] बृहद्उपनिषद् में भी एक स्थान पर जनक का नाम राजा रूप में आता है जो विदेहराज में शासन करते हैं । उसने एक बड़े दक्षिणा वाले यज्ञ द्वारा यजन किया । उसमें कुरु और पाचाल देशों के ब्राह्मण एकत्र हुए । उस जनक को यह जानने की इच्छा हुई कि इन ब्राह्मणों में अनुवचन (प्रवचन) करने में सबसे बढ़कर कौन है ? इसलिए उसने एक सहस्र गौएं गौशाला में रोक लीं ।[3] इस कथन में जनक का विदेह का राजा होना, दानी तथा ज्ञानी होना कहा गया है । इस प्रकार जनक का ज्ञानी रूप वाल्मीकीय रामायण, महाभारत तथा पुराणों में गृहीत हुआ जो रामकथा में भी उसी रूप में प्राप्त होता है । इन न्यून संकेतों के द्वारा जनक के प्रति इससे अधिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है । परन्तु ये संकेत जनक के प्रमुख तत्त्वों का स्पष्ट निर्देश कर देते हैं जिनका विकास राम कथा में प्राप्त होता है ।

हनूमान

'हनु' का अर्थ चिबुक अथवा दाढ़ा है । ऋग्वेद में अग्नि तथा इन्द्र दोनों को ही शिप्री, महाहनु अर्थात् हनुमान कहा गया है । ऋग्वेदोक्त अग्नि वर्णन में अग्नि भी देवदूत है तो हनूमान भी राम के दूत हैं । अग्नि ने दस्युपुरी को जलाया था, तो हनूमान ने लंका को भस्म किया था । वेदोक्त अग्नि में हनूमान के समान पर्वतों को उखाड़ने तथा वृक्षों को तोड़ने की शक्ति थी । हनूमान के कुछ गुणों को इन्द्र के कार्यों में अनुसंधान किया जा सकता है । इन्द्र ने उषा का रथ तथा सूर्य का चक्र तोड़ डाला था, तो हनूमान 'बालरवि'

१—मानस की राम कथा, पृ० ९५ ।

२—रामकथा, द्वारा डा० बुल्के पृ० ७ ।

३—बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय, ३ ब्राह्मण १ पृ० ६२० श्लोक १ (उप० मा०खंड ४) ।

भक्षण कर गए थे। महामहिम कीथ के अनुसार हनूमान बृष्टिकारक मौसमी वायु के अधिष्ठाता हैं जो दक्षिण दिशा में (लंका) सीता या कृषिवर्धन जल की खोज में जाते हैं। उनकी सहायता से विष्णु-राम जलनिरोधक शक्तियों पर विजय प्राप्त करते हैं जिससे जल स्वतंत्र हो सके। बीजारोपण के समय कृषि पुनः सीता की भाँति पृथ्वी गर्भ में चली जाती है।[1] अतः वेदों के अनुसार हनुमान में तीन तत्त्वों का समाहार प्राप्त होता है—अग्नि, इन्द्र तथा मारुत के कुछ गुणों का। इन्हीं की समन्वित अभिव्यक्ति राम कथा के हनुमान कहे जा सकते हैं।

राक्षस वर्ग

राक्षस वर्ग के अनेक पात्रों में केवल 'रावण' का ही उल्लेख वेदों में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अन्य राक्षसों का नाम वैदिक साहित्य में अत्यन्त अल्प है। इस वर्ग का एक समष्टिगत रूप हमें वेदों में प्राप्त हो जाता है। वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वहाँ पर अनार्य जातियो का यदा कदा संकेत मिल जाता है जो वृक्षों, पशुओं तथा अन्य मानवेतर वस्तुओं की पूजा करते थे। इनमें से अनेक जातियाँ उन्हीं नामों से पुकारी जाती थीं जिनकी वे पूजा करते थे। अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर रक्षस, राक्षस अथवा पिशाचों का वर्णन प्राप्त हो जाता है जिन्हें मानव का शत्रु भी कहा गया है।[2] इन अनार्य जातियों तथा आर्यों में एक संघर्ष तथा द्वन्द्व की भावना अवश्य थी। अतः यह कहा जा सकता है कि ये आर्येतर जातियाँ, अनिष्ट हानिकर एवं पापवृत्ति के प्रतीक बन कर, राम कथा तथा अन्य पौराणिक कथाओं में अवतरित हुईं हैं।

राम ने जिन राक्षसों का बध किया, वे मूलतः यज्ञ में विघ्न डालते थे। यज्ञों का अर्थ 'कर्म' है जिसे 'ऋतु' की संज्ञा भी दी गयी है। ये राक्षस कर्म में विघ्न डालते थे, अर्थात् इन विघ्नकारी प्राणियों को 'वृत्र' की संज्ञा दी गयी थी। राम ने सर्व-प्रथम राक्षसी को मारा था। ताटका पुरुषादी, महायाक्षी, विकृतानर्नी थी। वह बाहुओं को उठा कर राम पर गरजती हुई दौड़ी। बड़ी धूल उड़ाती हुई उस ताटका ने धूल के प्रभाव से उन दोनों राम लक्ष्मण को मुहूर्त भर

१—हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ, पृ० ६५।
२—रामकथा, पृ० ११८।

के लिए मोहित कर लिया।[1] झंझावात का यह राक्षसी अथवा राक्षस रूप आइसलैंड से लेकर बैबीलोन तक किसी स्त्री तथा पुरुष नामधारी राक्षस तथा राक्षसी के प्रभावों का फल माना जाता है। यहाँ तक कि आइसलैंड में 'कालियक' नाम की झंझावात-राक्षसी की मान्यता है।[2]

अब रही रावण की बात जिसके वृत्तासुर रूप पर प्रथम ही विचार हो चुका है। इसके अतिरिक्त रावण के एक अन्य रूप का भी संकेत प्राप्त होता है। रावण या दशानन 'ब्रह्मा' का पुजारी था। अथर्ववेद में दस शिर वाले एक ब्राह्मण का संकेत मिलता है जिसने सर्वप्रथम सोम रस का पान किया था (संहिता ४ । १ । ६१) 'ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः। स सोमं प्रथमः पपौ स चकरारस विषम।[3]' स्पष्टतया यहीं पर रावण को ब्राह्मण कहा गया है जो अपरोक्ष रूप से उसके ज्ञानी होने की ओर भी संकेत करता है।

रामकथा के इन विविध पात्रों के वैदिक स्वरूप पर विचार करने के पश्चात् यह कहना अत्युक्ति न होगी कि राम कथा के प्रमुख पात्रों का और प्रमुख घटनाओं (सीता-हरण से रावण बध तक) का एक स्पष्ट प्रतीकात्मक संकेत प्राप्त होता है। यह सारा संकेत एक प्राकृतिक घटना का प्रतीकात्मक रूप ही है। यह भी सत्य है कि रामकथा के अनेक अन्य कथानकों तथा पात्रों का वैदिक रूप नहीं प्राप्त होता है, और जिसके न प्राप्त होने से हम प्राप्य सामग्री को नितान्त व्यर्थ तथा भ्रममूलक भी नहीं कह सकते हैं।

(ग) तात्त्विक प्रतीक योजना

(ब्रह्म, माया, संसार आदि)

रामकाव्य में तात्त्विक चिंतन पर आश्रित प्रतीकों की संख्या अधिक नहीं है जो ब्रह्म, माया, जीव, संसार और जगत् के सम्बन्ध एवं उनके स्वतन्त्र रूप को स्पष्ट कर सकें। इसका प्रमुख कारण यही माना जा सकता है कि राम कथा के घटना-चक्र में ऐसी प्रतीक योजनाओं का कम ही क्षेत्र था, क्योंकि कवि अपने आराध्य के 'चरित्र' विकास के रूपों एवं लीलाओं की ओर कहीं अधिक केन्द्रित था। दूसरी ओर जहाँ पर कवि घटना पर ध्यान न देकर भावाभिव्यंजना

१—हिन्दू धार्मिक कथाओं का भौतिक अर्थ, पृ० ९७।

२—वही, पृ० ९७।

३—वही, पृ० ९४।

पर अधिक केन्द्रित है (जैसे विनयपत्रिका, दोहावली), उन स्थानों में ऐसे प्रतीकों का न्यूनाधिक रूप दृष्टिगत होता है। इतना होने पर भी, तुलसी के काव्य में यदा कदा जो भी प्रतीक प्राप्त होते हैं उनमें नवीन उद्भावनाओं के साथ-साथ रूढ़ि प्रतीकों का भी संकेत प्राप्त होता है।

रामकथा के प्रतीकार्थ पर विचार करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अन्तिम रूप में राम की भावना में परब्रह्म रूप का भी समाहार हो गया था। इस प्रकार राम को ब्रह्म तथा कार्य ब्रह्म का ही प्रतीक मान कर राम भक्तों ने उसके 'परमतत्त्व' रूप की स्थापना की है।

कार्य-ब्रह्म-प्रतीक

इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में तुलसी के काव्य में विश्व रूप ब्रह्म (कार्यब्रह्म-रामरूप) का परम्परागत प्रतीक 'वृक्ष' प्राप्त होता है।[१] इस प्रतीक के द्वारा संसार में व्याप्त एक 'परमतत्त्व' की अनुभूति होती है, वहीं यह प्रतीक स्वतन्त्र रूप से संसार के स्वरूप को भी स्पष्ट करता है। तुलसी ने भी 'संसार व्याप्त-ईश्वर' के विकास क्रम की ओर संकेत किया—

> अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
> षट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने।
> फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
> पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे॥[२]

इस वृक्ष-प्रतीक का प्रकट रूप तो व्यक्त है पर उस विस्तार का मूल क्या है, यह अव्यक्त है। यही अव्यक्त मूल 'सत्य' है। अब इस वृक्ष के विभिन्न अंगों को सृष्टिविस्तार का माध्यम बनाकर तुलसी ने अपरोक्ष रूप से 'ईश्वर' के स्वरूप एवं धारणा को ही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस वृक्ष की चार त्वचाएं (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष), छः तनें (षट्दर्शन), पच्चीस शाखाएं हैं और अनेक फलफूल हैं (वेदवेदांगादि)। इस वृक्ष में दो प्रकार के फल लगे हुए हैं जो दुख और सुख के प्रतीक हैं। इस संपूर्ण वृक्ष पर केवल एक ही बेल है जो माया की प्रतीक है। यहाँ पर बेलि को मूलशक्ति माया का स्वरूप प्रदान किया गया है जिसके द्वारा यह संसार-विटप अनेक प्रकार से विकसित होता है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो प्रकृति का नियम

१—देखो संत काव्य, अध्याय ४, तथा अध्याय प्रथम उपखंड ग में ब्रह्म।

२—रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ८८३।

परिवर्तन है और इसी परिवर्तन के द्वारा विश्व विकास सोपानों की ओर अग्रसर होता है। इसी तथ्य की प्रतिध्वनि तुलसी की निम्न पंक्ति 'पल्लवत फूलत नवलनित' है।

इस प्रकार तुलसी ने कार्य-ब्रह्म के प्रतीक 'वृक्ष' के द्वारा संसार-व्याप्त एक मूल शक्ति का चित्र खड़ा किया है। इसी प्रकार मूलशक्ति को तुलसी ने एक अन्य प्रतीक 'चितेरे' के द्वारा व्यक्त किया है। इस अनादि चितेरे ने संसार की सृष्टि (चित्र) शून्य-भित्ति पर ही की है जिस चित्र में सत्याभास तो होता है पर उसमें कोई भी सार नहीं है, वह क्षणिक है (रंग नहीं है)। अतः आदितत्व चितेरे ने 'शून्य' से ही सृष्टि का विस्तार किया है। यहाँ पर शून्यवाद (बौद्धों का नहीं) की प्रतिष्ठा अंग्रेजी शून्य-दर्शन (Philosophy of Nothingness) के समान प्राप्त होती है। इसी से तुलसी ने शून्य-भीति पर चितेरे के चित्रांकन का संकेत किया है। देखिए—

सून्य भित्ति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धाए मिटै न, मरै भीति, दुख पाइय इहि तनु हेरे॥[1]

यह चित्र सारहीन होते हुए भी धोकर मिटाया नहीं जा सकता है, क्योंकि उसका अस्तित्व तो किसी न किसी रूप मे सत्य है। परन्तु निरीह जीव इस भ्रममय जाल में फँसकर दुख ही प्राप्त करता है। केवल प्रभु राम की अनुकम्पा से ऐसे मोहजनित भ्रम-चित्र से बचा जा सकता है। यही तुलसी का मत है जिसकी ओर उन्होंने अनेक स्थानों पर संकेत किया है।

राम रूप ब्रह्मज्ञान की अनुभूति प्राप्त करना ही भक्तों का ध्येय होता है। परमतत्त्व के साक्षात्कार में 'ज्ञानात्मक अनुभूति' का विशेष हाथ रहता है। आत्मा में ही परमात्मा की अनुभूति होती है। जीव को यह अनुभूति वाह्य रूपराशि से नहीं प्राप्त होती है, वह तो उस समय प्राप्त होती है जब मानवात्मा बहिर्मुखी न होकर अंतर्मुखी होती है। इस सत्य के प्रतिपादन के लिए 'कुरंग' की उस प्रवृत्ति का सहारा लिया जाता है जो अपनी ही अन्तर्व्याप्त सुगंध (ब्रह्मज्ञान का) को बाहर खोजने का व्यर्थ ही श्रम करता है—

१—विनयपत्रिका, सं० वियोगी हरि, पृ० १५६।

ज्यों कुरंग निज अंग रुचिर मदमति
मतिहीन मरम नहीं पायो।
खोजत गिरि तरु लता भूमि बिल
परम सुगंध कहाँ धौ आयो ॥[1]

माया, जीव, संसार आदि के द्योतक प्रतीक

ब्रह्म रूप राम द्योतक इन सीमित प्रतीकों की अपेक्षा माया तथा संसारादि के बोधक प्रतीकों की संख्या अधिक प्राप्त होती है। भक्ति-संप्रदायों ने शंकर के अद्वैतदर्शन को भावात्मक रूप में ही ग्रहण किया है और भक्ति के आग्रह के कारण द्वैत भावना को भी प्रश्रय दिया है। इसी कारण उन्होंने माया और संसार को मिथ्या मानते हुए भी तिरस्कार नहीं किया है। अतः कवि मनोविज्ञान उनके प्रति उदासीन मनोवृत्ति का ही परिचय देता है। इसी प्रवृत्ति का एक सुंदर रूप इस पद में प्राप्त होता है—

रबिकर नीर बसै अति दारुन
मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर
पान करन जो जाहीं ॥[2]

इस समस्त माया जाल की मरीचिका (रविकरनीर) के विस्तार के अंतराल में एक दारुण रूप का मकर (काल) वर्तमान है जिसके मुँह तो नहीं है, पर वह अपनी शक्ति से चराचर को सदैव भक्षण किया करता है। यहाँ पर माया और संसार तथा उसमें व्याप्त 'काल' का अभिव्यक्तीकरण नितान्त-प्रतीकात्मक है। अतः यह संसार एक 'भ्रम की टट्टी' ही कहा जा सकता है और उसको विस्तार देने वाली शक्ति माया को मृगवारि, जेवरी के साँप आदि नामों से पुकारना तुलसी को अत्यन्त प्रिय है। यह व्यक्ति का भ्रम ही है कि वह माला में सर्प की अवतारणा करता है जो उपनिषद् के अनुसार भी एक विवर्त भावना ही कही जाती है। यह 'सत्य' का दृष्टिविभेद ही जीव को माया और संसार के सत्य स्वरूप को हृदयंगम नहीं करने देता है। इसी भाव की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति इस प्रकार की गयी है—

१—विनयपत्रिका, सं० वियोगी हरि, पृ० २६८।

२—विनय पत्रिका, पृ० १५६।

स्रग महँ सर्प विपुल भयदायक
प्रगट होइ अविचारे।
बहु आयुध धरि, बल अनेक करि
हारहिं मरहि न मारे।[1]

यह दृष्टि-विभेद का ही फल है कि जीव अज्ञानवश माला में सर्प का अवलोकन करता है। यह भ्रम ही है जो जीव को 'रविकर' (संसार) के स्थान पर एक विशाल समुद्र के दर्शन कराता है जिसे देखकर वह भयभीत हो जाता है। फिर, उसी सागर में डूब कर यदि कोई जहाज या नौका पर चढ़ कर पार जाना चाहे तो वह कैसे संसार से पार जा सकता है—

निज भ्रम ते रविकर सम्भव
सागर अति भय उपजावै।
अवगाहत बोहित नौका चढ़ि
कबहूं पार न पावै ॥[2]

इससे पार जाने के लिए केवल आत्मज्ञान एवं प्रभु की अनुकम्पा सम्बल है।

इस संसार की निस्सारता का बोध कराने के लिए तुलसी ने उपर्युक्त प्रतीकों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रतीकों की सुंदर व्यंजना प्रस्तुत की है। कहीं पर उसे 'धुआं कैसे धौरहर देखि तू न भूल रे'[3] कह कर धूम्रमेघ को संसार की अस्थिरता का वाचक शब्द बनाया है। कहीं पर उसकी निस्सारता को कदलीतरु (केला) का रूप देकर संसारी मनुष्यों को चेतावनी भी दी है—

देखत ही कमनीय कछू नाहिन पुनि कियो बिचार।
ज्यों कदलीतरु मध्य निहारत, कबहुँ न निकसत सार ॥[4]

ऊपर से तो कदली अत्यन्त मोहक लगती है पर उसके सारतत्त्व (गूदा) को प्राप्त करना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है। इसी प्रकार, संसार के विषय-भोगादि, उसका प्रपंच ऊपर से तो जीव को बड़ा मोहक तथा आकर्षित करने वाला होता है, परन्तु वह उस रूप राशि से अरूप या सार तत्त्व की अनुभूति

१—विनय पत्रिका, पृ० १४७।
२—वही, पृ० १४५।
३—वही, पृ० १०५।
४—वही, पृ० २८०।

नहीं कर पाता है। यही हाल चातक का भी होता है जो धूम्र समूह (संसार के विषयादि) को 'मेघ' समझ कर हर्षित होता है। वहाँ पर न तो उसे शीतलता मिलती है और न जल की बूँदें और ऊपर से उसके नेत्रों की ही हानि होती है।[1] जीव भी संसार की विषय वासनाओं के सेवन से, अंत में, इसी चातक की दशा को प्राप्त होता है। इसी प्रकार माया के जाल में सिमट कर अनेक जीवगण एक पास आ जाते हैं और बिना अपने नाश की भावी आशंका से एक दूसरे को भक्षण करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं। इसी तथ्य को व्यक्त करने के लिए इस प्रतीक रूप की अवतारणा की गयी है—

> जलचर वृंद जाल अंतरगत, होत सिमिट इक पासा।
> एकहिं एक खात लालच बस, नहिं देखत निज नासा ॥[2]

संसार को इस प्रकार भ्रम, मोह, विषय-वासना आदि का आगार दिखाना ही तुलसी का अभिप्रेत है। उनकी उपर्युक्त सभी प्रतीक योजनाएँ मूलतः इसी तत्त्व की ओर संकेत करती हैं। ऐसे संसार में जहाँ रोग, विषय, माया, काल आदि सब अपने अपने प्रभुत्त्व की घोषणा करने में प्रयत्नशील हैं, वहाँ हम भी उसे अपना घर (संसार) कहते हैं। सत्य तो यह है कि जिस संसार में इतने दावेदार एवं साझेदार हों, वह घर अपना कैसे हो सकता है? केशव ने एक कवित्त में इसी भाव को एक अत्यन्त अद्भुत विधि से रखा है। उन्होंने अनेक मानवेतर प्राणियों यथा मक्खी, मच्छर और चूहा आदि की योजना के द्वारा संसार रूपी घर का चित्र साकार कर दिया है। उस योजना में मक्खी, मच्छर और चूहा (मूषक) मूलतः विषय-वासनादि के प्रतीक हैं, बिल्ली, सर्प और बड़ा चूहा क्रमशः काल, माया और जीव के प्रतीक हैं और कीड़ा, कुत्ता, पक्षी, भिक्षुक और भूत—ये पाँचों इंद्रियों के प्रतीक रूप कहे जा सकते हैं। इन सब का अधिकार इस संसार में है—

> माछी कहै अपनो घरु माछरु मूसो कहै अपने घरु ऐसो।
> कोने घुसी कहै घूँसि घिनौनी बिलारि औ व्याल बिले महँ बैसो।
> कीटक स्वान सों पच्छि औ भिक्षुक भूत कहै भ्रमजाल है जैसो।
> हौ हुँ कहौं अपनो घरु तैसहि ता घरु सौं अपने घरु कैसो ॥[3]

१—विनय पत्रिका, पृ० १७२।

२—वही, पृ० १७६।

३—रामचंद्रिका, भाग दो, २४ प्रकाश, पृ० ६२।२६।

माया का प्रभाव केवल संसार पर ही नहीं पड़ता है, पर अपरोक्ष रूप से उसका प्रभाव संसारी जीवों पर भी पड़ता है। मानवीय शरीर से सम्बन्धित विषय-वासनादि काम और त्रिगुण आदि का प्रभाव मायाजनित प्रवृत्तियों का फल है। मनोविज्ञान की भी दृष्टि से मानव के अंदर अनेक प्रकार के शुभ एवं अशुभ मनोभावों तथा प्रवृत्तियों का स्थान रहता है। इसी भाव को (मनोवैज्ञानिक और तात्त्विक रूपों में) तुलसी ने शरीर रूपी खटोले के द्वारा व्यक्त किया है।

बाँस पुरान साज सब अटखट सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहिल करि कुटिल करम चंद मंद मोल बिनु डोला रे॥
विषम कहार भार मदमाते चलहिं न पाउँ बटोरा रे।
मंद बिलंद अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे॥[1]

यह शरीर और उसके विषयादि जीव को मायाजाल में फँसाने के लिए एक माध्यम ही है। इस शरीर को कर्मजनित खटोला का प्रतीक रूप प्रदान करते हुए उसके (खटोला) विभिन्न भागों को स्वतंत्र प्रतीक का रूप प्रदान कर एक समष्टि योजना को स्पष्ट करते हैं। शरीर रूपी खटोले को 'तिकोना' कहा गया है जिसका अर्थ शरीर या जीवात्मा की तीन अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त—का ग्रहण होता है। इन्हीं अवस्थाओं के द्वारा जीवात्मा की चेतनावस्था का क्रमिक विकास दृष्टिगत[2] होता है। उसके मानसिक जगत के गहन स्तरों की ओर यह 'तिकोना' शब्द संकेत करता है। परन्तु शरीर के साथ अनेक प्रकार के विषय-वासनादि (बाँसपुरान) लगे हुए हैं जो उसके रूप को अस्थिरता ही प्रदान करते है। यह शरीर की अस्थिरता उसका अटखट 'साज' है। इस शरीर को उसके विषयों की ओर आकर्षित करने वाले पाँच कहार हैं (पंच इंद्रियाँ) जो 'कामादि' से मदमत्त होकर सतोगुण, तमो व रजोगुणों की ओर (तीन पॉव) प्रयत्नशील होते हैं। इस प्रकार के जाल में मानव शरीर का आबद्ध होना 'कर्म' का ही फल है। तुलसी की यह प्रतीक योजना उनकी नवीन उद्भावना है जो एक सत्य की ओर संकेत करती है।

इन प्रतीकों की योजना के द्वारा यह तथ्य प्रकट होता है कि राम काव्य में जो भी न्यूनाधिक प्रतीकों की संख्या है, वे हमारे सामने मानव जीवन के 'सत्य' को साकार करने में पूर्ण सफल हैं। इनमें से कुछ प्रतीक सर्वथा नवीन

१—विनयपत्रिका, पृ० २८२।

२—दे० अध्याय दो, मनोवैज्ञानिक प्रतीकवादी दर्शन में।

हैं और कुछ रूढ़ि-परम्परा से गृहीत। इन प्रतीकों के द्वारा तुलसी के दार्शनिक विचारों का भी संकेत प्राप्त होता है। कवि माया, जीव और संसार को एक भ्रममूलक सत्ता मानता है। साथ ही उस भ्रमपूर्ण सत्ता को ब्रह्म रूप 'राम' का विस्तार भी मानता है, तभी तो वह 'सिया राम मय सब जग जानी' कह कर अपनी अद्वैत-भावना को भक्तिपूर्ण विधि से अभिव्यंजित करता है। उसके अनुसार मानव जीवन का ध्येय परमतत्त्व 'राम' का साक्षात्कार करने में होना चाहिए। 'सत्य' का स्वरूप इस संसार को न झूठ कहने से, न सच कहने से और न सत् या असत् कहने से हृदयंगम किया जा सकता है। वह तो आत्म-साक्षात्कार का विषय है, जहाँ आत्मा इन तीनों भ्रमों से उपर उठकर 'आत्म-संज्ञक ब्रह्म' (राम) की अनुभूति प्राप्त करती है—वही सत्य है, वही राम है—वही परमतत्त्व है।[१] यही तुलसीदास का तात्त्विक एवं दार्शनिक चिंतन पर आश्रित निष्कर्ष है जो 'तुलसी मत' की संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है। उनके प्रतीक इसी 'सत्य' को साक्षात्कार कराने में सहायक होते हैं जो हमें सत्य और प्रतीक के सम्बन्ध की ओर भी संकेत करते हैं।[२]

(घ) प्रेम भक्ति की प्रतीक-योजना

सगुण काव्य में प्रेम भक्ति का प्रस्फुटन अनेक रूपों में प्राप्त होता है। कहीं वह दास्य भाव के द्वारा प्रकट हुआ है (रामकाव्य), कहीं पर वह सखा तथा माधुर्य भाव (कृष्ण काव्य) के द्वारा और कहीं पर वात्सल्य, दैन्य, शांत आदि भावों के द्वारा व्यंजित हुआ है। रामकाव्य में भक्ति का स्वरूप मूलतः सेव्य-सेवक भाव का है। इसी से यहाँ पर मर्यादा का ही अधिक आग्रह है। ऐसी भक्ति में जो भी प्रतीक प्रयुक्त होंगे वे मर्यादित एवं संयमित ही अधिक होंगे। कबीर ने भी दास्य भावों के व्यंजक प्रतीकों की योजना की है। इसी प्रकार तुलसी ने भी अपने को 'राम' का गुलाम माना है और राम को 'साहिब।' इसके अनेक उदाहरण विनयपत्रिका आदि ग्रंथों में मिलते हैं। कबीर और तुलसी के इस दास्यभाव में नितान्त दृष्टिकोण का अंतर है। कबीर की दृष्टि निर्गुण एवं अरूप 'राम' की भक्ति में समाहित है, तो तुलसी की भक्ति सगुण और रूपमय राम में केन्द्रित है। एक की दृष्टि में राम और परब्रह्म समान हैं, तो दूसरे की दृष्टि से केवल 'राम' ही परब्रह्म है—यहाँ

१—विनयपत्रिका, पृ० १५६।

२—दे० अध्याय द्वितीय, तात्त्विक प्रतीकवादी दर्शन में।

तक कि 'राम' ब्रह्म से भी ऊँचा है। अतः दोनों के दास्य भाव के प्रतीकों में यही अंतर है जो उनके दृष्टिकोण एवं मत-विशेष का फल है।

यही नहीं वरन् तुलसी तथा केशव ने ऐसे पात्रों की सृष्टि भी की है जो दास्य भाव को साकार कर सकें, जो उनकी भक्ति को उस आदर्श रूप में केन्द्रित कर सकें। भरत, हनुमान, विभीषण कुछ ऐसे ही दास्य भाव के 'प्रतीक' माने जा सकते हैं।[1] तुलसी ने इन पात्रों के आदर्शीकरण के द्वारा उन्हें एक प्रकार से 'आदर्श-प्रतीकों' की कोटि में ही रखा है। आदर्शीकरण के द्वारा कोई भी 'पात्र' 'प्रतीक' का रूप धारण कर सकता है। इस दृष्टि से राम का चरित्र भी एक नित्य 'प्रतीक' है जो आदर्शीकरण की चरम परिणति है।

राम काव्य में प्रेम-भक्ति का स्वरूप दास्य भाव का होने पर भी कवियों ने कहीं कहीं पर शुद्ध प्रेम का भी परिचय दिया है। इन परम्परागत प्रतीकों में केवल चातक वृत्ति को छोड़कर किसी अन्य प्रतीकात्मक प्रवृत्ति की स्पष्ट व्यंजना नहीं मिलती है जो चातक वृत्ति के समकक्ष रखी जा सके। अन्य प्रतीक केवल प्रसंगवश आये हैं जिनमें किसी प्रवृत्ति विशेष का स्थान नहीं ज्ञात होता है। उदाहरण स्वरूप, प्रेम सम्बन्ध को व्यक्त करने में मृग रूप का सहारा लिया गया है जो व्याध की सापेक्षता में इस प्रकार चित्रित हुआ है—

आपु व्याध को रूप धरि, कुहौ कुरंगहि राग।
तुलसी जो मृग मन मुरै, परै प्रेम-पट दाग[2]॥

प्रतीकार्थ की दृष्टि से यह मृग का प्रेम परक आदर्श भक्ति के स्वरूप पर भी प्रकाश डालता है। साधक को अपने साध्य के प्रति मृग जैसी दास्य भावना को रखना चाहिए, तभी वह अपने स्वामी का साक्षात्कार कर सकता है, उसके हृदय पर 'प्रेम-चिह्न' अंकित कर सकता है।

प्रेम भक्ति भाव को व्यंजित करनेवाला सबसे प्रमुख प्रतीक जिसे तुलसी ने अपनी भक्ति का मानो 'प्रतीक' ही बना डाला है, वह है 'चातक'। कवि परम्परा से प्राप्त इस रूढ़ि प्रतीक के द्वारा कवि ने अपने हृदयगत भावों तथा संवेदनाओं की, अपनी अनन्य भक्ति की, अपनी एकाग्रता की और अपनी

१—दे० पीछे उपखड ख में राम-कथा का प्रतीकार्थ—आध्यात्मिक एवं विकासवादी दृष्टिकोण में।

२—तुलसी-ग्रन्थावली, दोहावली, पृ० १०८।३१४।

निरीहता की जितनी सुन्दर व्यंजना प्रस्तुत की है वह भक्ति साहित्य में अपना एक विशिष्ट प्रतीकात्मक महत्त्व रखती है। इस श्रेणी में चकोर तथा हारिल पक्षी भी होते हैं पर तुलसी की मनोवृत्ति उन पक्षियों में नहीं रम सकी। शायद इसका कारण यह रहा हो कि अनेक माध्यमों की अपेक्षा एक ही माध्यम के द्वारा भक्ति-भाव का जितना प्रगाढ़ रूप व्यंजित हो सकता है उतना अनेक माध्यमों के ग्रहण से नहीं। फिर, यह कवि की अपनी दृष्टि तथा अपना मनोविज्ञान होता है कि वह किस वस्तु को अपना आदर्श मानकर उसे प्रतीक का रूप देता है। प्रेम एवं भक्ति के तीव्रतम आत्मोत्सर्ग का प्रतीक ही यह चातक-बतीसी है, जो स्वयं तुलसी की साधना का प्रतीक कही जा सकती है।

चातक के द्वारा भक्ति भाव का क्रमिक विकास भी देखा जा सकता है। प्रथम स्थिति का उदय उस समय होता है जब साधक अपने को चातक का प्रतिनिधि रूप मानने की ओर अग्रसर होता है। इस भाव का उद्भव इस बात पर आश्रित रहता है कि प्रेमी-भक्त अपने आराध्य के प्रति परम जिज्ञासा और उसकी महानता को किस सीमा तक अपने हृदय में साकार कर सका है। यह जाग्रतावस्था तत्त्वतः अंतर्दृष्टि एवं साध्य के प्रति परम महत्त्व की भावना की एक मिश्रित अभिव्यंजना है। तभी तो कवि ने साधना-पथ का सिंहावलोकन करते हुए प्रार्थना की—

एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास।[1]

इस घन और चातक के अन्योन्य सम्बन्ध से प्रेम-भक्ति का प्रस्फुटन होता है। इस अवस्था में साधक (चातक) साध्यतत्त्व को प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत होता है। इस प्रस्तुतीकरण की आधारशिला नाम जप है जो साधक की मनोवृत्तियों एवं चंचल प्रवृत्तियों को एक बिन्दु की ओर केन्द्रित करती है। अतः नाम जप का महत्त्व रामकाव्य में स्थान स्थान पर प्रकट हुआ है। इसी 'नाम-जप' को चातक वृत्ति का अपरोक्ष रूप देते हुए तुलसी ने चातक वृत्ति में नामतत्त्व का सुन्दर समाहार इस प्रकार किया है—

राम जपु राम जपु राम जपु बावरे।
घोर भव नीर निधि नाम निज नाव रे।[2]

इस अहर्निशि रटन से चातक भक्ति की क्या दशा हो जाती है, इसकी ओर कवि की प्रतीकात्मक व्यंजना को देखिए—

१—तुलसी-ग्रन्थावली, पृ० १०५।
२—विनयपत्रिका, पृ० १०५ तथा पृ० १३३।

रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखि गए अंग।
तुलसी चातक प्रेम के, नित नूतन रुचि रंग ॥[1]

इस प्रस्तुतीकरण के उपरान्त साधक 'चातक-मत' की उद्‌भावना करता है जो भक्ति-विकास की दृष्टि से 'आराध्य-तत्त्व' तक पहुँचने का सोपान है। इस चातक-मत के तीन अंग माने गए हैं। एक स्वयं चातक का अपना 'मान' सुरक्षित रखना अर्थात् अपने निजत्व का अनुभव करना जो भक्ति की एक आवश्यक दशा है। दूसरा तत्त्व, अपने निजत्व से उद्‌भूत आराध्य से 'कुछ' मांगने की प्रबल कामना। यह कामना भौतिक जगत् से सम्बन्धित न होकर निष्काम भक्ति प्राप्त करने की याचना मात्र है। अंत में, केवल नव-नेह की एकमात्र अभिलाषा ही साधक का ध्येय हो जाता है—वह केवल मात्र उसी इच्छा के वशीभूत रहता है। इन तीनों भक्तिपरक विकास तत्त्वों का सुन्दर संकेत इस दोहे में प्राप्त होता है।

मान राखिबो, मांगिबो, पिय सो नित नव नेह।
तुलसी तीनहुँ तब फबै, जो चातक मतु लेहु ॥[2]

इस चातक वृत्ति की याचना का स्वार्थरहित रूप भक्ति का सबसे आवश्यक अंग है जो केवल एक स्वाति-बूंद के अतिरिक्त कुछ नही चाहता है—

तुलसी चातक मांगनों, एक सबै घन दानि।
देत जो भूभाजन भरत, लेत जो घूंटक पानि ॥[3]

यही एक घूंट की प्रबल आकांक्षा भक्ति-मनोविज्ञान का केन्द्र है। इस भक्ति के द्वारा मन उच्चतम अभियानों की अनुभूति प्राप्त करता है और सांसारिक सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है। स्वयं भगवान् कृष्ण ने गीता में इसे 'भक्ति-योग' की संज्ञा दी है, जहाँ साधक का मन, भक्ति धर्म से ही भौतिक जगत् के महत् 'भयों' से मुक्त हो जाता है।[4] तुलसी ने चातक वृत्ति के द्वारा भक्तियोग के इस स्वरूप का सुन्दर प्रतीकात्मक निर्देशन किया है। मेरे विचार से यहाँ पर तुलसी ने एक परम्परागत प्रतीक को एक मौलिक संदर्भ का वाहक बनाया है।

अतः इस एक घूंट के मधुर पान के लिए चातक क्या नहीं सह सकता है?

१—तुलसी-ग्रंथावली, सं० रामचन्द्र शुक्ल, दोहावली, पृ० १०५।२८०।

२—वही, दोहावली, पृ० १०६।२८५।

३—वही, दोहावली, पृ० १०६।२८७।

४—श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, सांख्य योग, पृ० ५६ श्लोक ४०।

इसी एकनिष्ठ प्रेम को 'अलख प्रीति' की संज्ञा भी दी गयी है।[1] इसी प्रेम भक्ति ने चातक को मोर, कोकिल, चकोर से महान् बना दिया है, तभी तो उसे 'धवल' सुजस का आगार माना गया है जिसका यश समस्त संसार में व्याप्त हो रहा है।[2] इस तथ्य को ध्यान में रखकर कदाचित् तुलसी ने केवल चातक को ही प्रेम-तृष्णा से परिपूर्ण माना है—

तुलसी के मत चातकहिं, केवल प्रेम पियास।
पियत स्वाति जल जानि जग, जाचक बारह मास ॥[3]

ऐसी है यह चातक-वृत्ति जो स्वातिजल को वर्ष के बारहों महीने में समान रूप से चाहती है। यही उसकी—प्रेमी साधक की—नित्य इच्छा है जो चिरन्तन है, सदैव नवीन है। इस प्रकार चातक के द्वारा तुलसी ने एक ओर स्वयं अपने मानस जगत् का विश्लेषण किया है, वहीं दूसरी ओर साधक के भक्तिपरक मनोविज्ञान का सुंदर निरूपण प्रस्तुत किया है। उनकी समस्त प्रेम भक्ति-भावना, आत्मसमर्पण एव ध्येय के महत्त्व की चेतना मानो चातक के प्रतीकार्थ में साकार हो उठी है।

(ङ) रूप-सौंदर्य के प्रतीक

लीला भावना एवं भक्ति के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि भक्ति तथा लीला के लिए रूप की परमावश्यकता एक सत्य है। राम काव्य में इस रूप-सौंदर्य की व्यंजना के लिए अधिकतर उपमानो का ही प्रयोग हुआ है जो उपमेय के साथ किसी अलंकार विशेष की शोभा बढ़ाते हैं। इन उपमानों का प्रतीकत्व रामकाव्य में अत्यन्त न्यून है। अलंकारगत प्रतीकों[4] का आग्रह तुलसी में न होकर केशव में कहीं अधिक है जो उन पर पड़े रीतिकालीन प्रभाव का स्पष्ट संकेत है। केशव की 'रामचंद्रिका' में ऐसे प्रतीकों का प्रमुख स्थान श्लेष वर्णन के अन्तर्गत प्राप्त होता है। तुलसी में इस प्रकार की प्रवृत्ति का नितांत अभाव है और उनके रूप प्रतीक स्वाभाविक तथा हृदयग्राही होते हैं जो केशव में नितान्त अप्राप्य हैं। उदाहरणस्वरूप विवाह के प्रसंग में सीता की माँग में सेंदुर देते हुए राम का वर्णन कवि ने प्रतीकात्मक शैली के द्वारा अत्यन्त मोहक रूप से प्रस्तुत किया है—

१—तुलसी ग्रंथावली, दोहावली पृ० १०६।२६१।

२—वही, पृ० १०६।२६६।

३—वही, दोहावली, पृ० १०३।२८६।

४—अलंकार तथा प्रतीक के लिए दे० तृतीय अध्याय।

अरुन पराग जलज भरि नीके।
सखहि भूप अहि लोभ अमी के ॥[1]

यहाँ पर एक-एक शब्द प्रतीक का कार्य कर रहा है जो लाक्षणिक अर्थ के द्वारा एक सुंदर भाव-चित्र को स्पष्ट करता है। यहाँ पर 'कमल' राम के करों का प्रतीक है। अरुण पराग, जो कमल में अच्छी तरह से भरा जाता है, सेंदुर का प्रतीक है (रंग सादृश्य है)। अहि या सर्प, सादृश्य के आधार पर, राम की श्याम भुजा का प्रतीक है और चंद्रमा जिसको अहि (भुजा) लोभवश अमृत की इच्छा से भूषित कर रहा है, सीता के मुख का प्रतीक है। दूसरी ओर जब हम केशव द्वारा वर्णित सौंदर्य का विश्लेषण करते हैं तो उनमें तुलसी की सहज उद्भावना के स्थान पर एक गुरुगभीर तथा कृत्रिम उद्भावना के ही दर्शन होते हैं। इसका कारण केशव के प्रतीकों का चमत्कारपूर्ण श्लेषगत अर्थ ही है जो शब्द तथा अर्थ की क्रीड़ा का परिचायक है। केशव ने भी सीता के रूप-सौंदर्य (मुख) को व्यंजित करने के लिए प्रतीकों की अवतारणा की है जो शब्द-परक अधिक हैं, जिसमें शब्द-विश्लेषण एवं अर्थविविधता के द्वारा 'चित्र' की साकारता प्रकट होती है। सीता के चंद्रमुख की प्रशंसा करते हुए कवि ने चंद्रमा की कलाओं को मुख की शोभा में स्थिरता प्रदान कर, शब्दों के यमक तथा श्लेषगत अर्थों के द्वारा प्रतीक का रूप दिया है—

वासौ मृग अंक कहै तोसौ मृगनैनी सबै,
वह सुधाधर तुहूँ सुधाधर मानिए।
वह है द्विजराज तेरे द्विजराज राजै वह,
कलानिधि तुहूँ कलाकलित बखानिए ॥

....

वाके अति सतिकर तुहूँ सीता सतकर
चन्द्रमा सी चंद्रमुखी सब जग जानिए ॥[2]

यहाँ पर सौंदर्य-चित्र, शब्दों के यमकगत अर्थ के द्वारा चंद्रमा तथा मुख में सादृश्यता व्यंजित करता है। चंद्रमा को मृग अंक (क्योंकि उसमें मृग का प्रतिबिंब पड़ता है) कहते हैं तो तेरे नेत्रों को मृगनयनी और यदि वह सुधाधर (अमृत का घर) है तो सीता का मुख भी सुधा का आगार है। यदि वह

१—मानस, बालकाण्ड, पृ० २०१।

२—रामचंद्रका, द्वारा केशवदास, नवाँ प्रकाश, पृ० १५५।

द्विजराज है तो तेरी भी दंत पंक्तियाँ (द्विजराजी) शोभित हैं और यदि चंद्रमा कलानिधि कहा जाता है तो तुझमें भी सौंदर्य-कला की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रकार शाब्दिक अर्थ-विविधता के द्वारा प्रतीक रूप की स्थापना की गई है।

अब एक ऐसा समिष्ट उदाहरण है जो सीता, राम और लक्ष्मण के रूप-चित्रों को रंग एवं वस्तु के सामंजस्य के द्वारा प्रतीक की स्थिति को स्पष्ट करता है। इन योजनाओं में रंग का प्रतीकत्व भी लक्षित है जो किसी रंग के भाव में किसी व्यक्ति तथा वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है। सामान्यतः देवी-देवताओं को किसी न किसी रंग-विशेष के द्वारा व्यंजित भी किया जाता है जो उसके तात्विक अर्थ की ओर भी संकेत करता है। उदाहरणार्थ कृष्ण का नीला या श्याम रंग है जिसका प्रतीकार्थ यही है कि कृष्ण का व्यक्तित्व आकाश (नीला) के समान गम्भीर एवं विशाल है जो ब्रह्म का प्रतीक है। इसी प्रकार केशव ने मेघ, मंदाकिनी एवं सौदामिनी को क्रमशः राम सीता तथा लक्ष्मण का प्रतीक रूप प्रदान किया है जो साथ ही उनके रंग की ओर भी संकेत करता है। राम का श्यामवर्ण, सीता का श्वेतवर्ण और लक्ष्मण का लाल रंग क्रमशः मेघ, आकाश गंगा, और सौदामिनी के प्रतीक हैं। दूसरे बंध में यमुना, श्याम रंग (राम) भागीरथी (श्वेतरंग सीता) और सरस्वती (लाल लक्ष्मण) रंग के वाचक शब्द हैं जो प्रतीक की दशा के द्योतक हैं। इस पूरी योजना में विचारोद्भावना की भी पूर्ण परिणति है—

मेघ मंदाकिनी चारु सौदामिनी रूप रूरै लसै देहधारी मनो।
भूरि भगीरथी भारती हंसजा अंश के हैं मनो भाग भारे मनो ॥[1]

केशव ने इन प्रतीकों के अतिरिक्त, श्लेष प्रतीकों की प्रचुर योजना की है। इस योजना में वर्षाऋतु की क्रियाओं एवं घटनाओं को नारी रूप देते हुए कवि ने श्लेषगत शब्दों के द्वारा वर्षा की भावना को कालिका के प्रतीक रूप में स्थिर कर दिया है। शब्द-वैशिष्ट्य एवं अर्थ-वैविध्य की चमत्कारिक शक्तियों पर अवलम्बित इन प्रतीकों का सृजन अवश्य ही कवि-कौशल का विषय है। अतः श्लेषगत प्रतीक का सम्पूर्ण सौदर्य शब्द की अभिव्यंजना शक्ति पर आश्रित है। इस अभिव्यंजना के द्वारा कवि ने वर्षा ऋतु का मानवीकरण कालिका रूप में इस प्रकार किया है—

१—रामचंद्रिका प्रथम भाग, नवाँ प्रकाश, पृ० १४३।

भौहैं सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर
भूखन जराय जोति तड़ित रलाई है।
दूरि करी सुख दुख सुखमा ससी की नैन
अमल कमल दल दलित निकाई है॥
केशोदास प्रबल करेनुका गगन हर
मुकुत सुहंसक सबद सुखदाई है।
अंबर बलित मति मोहैं नीलकंठ जू की
कालिका कि वर्षा हरष हिय आई है॥[1]

निम्न शब्दों का श्लेषात्मक अर्थ शब्द-विश्लेषण एवं अर्थ-विविधता के द्वारा वर्षा पक्ष को क्रमशः काली पक्ष की सादृश्यता में स्थिर कर देता है—

शब्द		वर्षा पक्ष	काली पक्ष
सुरचाप	(अर्थ विविधता)	धनुष (इंद्रधनुष)	भौहैं
पयोधर	,,	मेघ	कुच
भूख न	(शब्द विश्लेषण)	विद्युत	गहने (भूषन)
ससी	(अर्थ विविधता)	चंद्र	मुख-चंद्र
प्रबल करेनुका	,,	प्रबल जलधारा जो धूल को ले जाती है	मस्त हाथी सी गति
सुहंसक शब्द	,,	संदर हंसों की ध्वनि	बिछुए की ध्वनि

इसी प्रकार श्लेषालंकार के द्वारा चंद्रमा के वर्णन से नारद के प्रतीक रूप की स्थापना की गई है—

केशोदास है उदास कमलाकर सों कर
शोषक प्रदोष ताप तमोगुण तारिये।
अमृत अशेष के विशेष भाव बरसत
कोकनद मोद चंड खंडन विचारिये॥
परमपुरुष पद विमुख परुष रुख
सुमुख सुखद विदुषन उर धारिये।
हरि है री हिये में न हरिण हरिणनैनी
चंद्रमा न चंद्रमुखी नारद निहारिये॥[2]

१—वही प्रथम भाग, तेरेहवाँ प्रकाश, पृ० २१७।

२—रामचंद्रिका, दूसरा भाग, तीसवाँ प्रकाश, पृ० १५१।

राम सीता से कहते हैं कि हे चंद्रमुखी ! यह आकाश में चंद्रमा भासमान नहीं हो रहा है पर वह नारद का रूप है, क्यों ? इसलिए कि—

शब्दार्थ	चंद्रमा पक्ष	नारद पक्ष
है उदास कमलाकर सोकर (शब्द विश्लेषण)	जिसकी किरणें कमलों से उदासकारी भाव रखती हैं अर्थात् कमल संकुचित हो जाते हैं	लक्ष्मी जिसके हाथ उदासीन हैं (कमला करसों)
शोषक (अर्थ विविधता)	हरना या नाश करना	नाशक
प्रदोष ,,	संध्याकाल	बड़े या महान् दोष युक्त
ताप ,,	गरमी	त्रिताप
तमोगुण ,,	अंधकार	अज्ञान
अमृत अशेष	सुधा पूर्ण	अमर और पूर्ण (विष्णु)
भाव ,,	विभूति	चरित्र
कोकनद मोद	चक्रवाक-शब्दों का आनंद	कोकशास्त्र शब्दों का आनंद (विषय)
चंड खंडन	अच्छी तरह से खंडन करने वाला	प्रचंड खंडनकर्ता
परम पुरुष—परुख रुख	पति से रूठी हुई नायिका	ईश्वर (परमपुरुष) से जो विमुख है उन पर रुष्ट भाव प्रदर्शित करते हैं।
विदूषक उर धारिये	प्रवीण जन जिसे हृदय से चाहते हैं या उर में धारण करते हैं।	विद्वान जिन्हें चित्त में धारण करते हैं

इस प्रकार की अन्य श्लेषपरक प्रतीक योजनाएँ अन्य स्थानों पर भी प्राप्त होती हैं। प्रकृति के माध्यम के द्वारा किसी रूप-प्रतीक की स्थापना करना केशव की पाण्डित्यपूर्ण प्रवृति का द्योतक है। इसी प्रवृति के फलस्वरूप कहीं-कहीं पर उन्होंने किष्किन्धा पर्वत के वर्णन द्वारा शिव के प्रतीकत्व की स्थापना की है, कहीं पर उपवन वर्णन के साथ वन-कन्या के स्वरूप की स्थापना की है[१] और

१—रामचद्रिका, पहला प्रकाश, पृ० १५।

कहीं पर जनक नगरी की शोभा के वर्णन द्वारा किसी वासकसज्जा नारी के स्वरूप को मुखर किया है।[1]

विशेष तथा निष्कर्ष

संपूर्ण रामकाव्य की प्रतीक योजना को ध्यान में रखकर हम विशेष रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन प्रमुख प्रतीक योजनाओं में काव्यात्मक प्रतीकों के उदाहरण कम ही प्राप्त होते हैं। दार्शनिक प्रतीकवादी दृष्टिकोण के अनुसार रामकथा का प्रतीकार्थ एक आध्यात्मिक रहस्य और प्राकृतिक सत्य का उद्घाटन करता है। अतः काव्यात्मक प्रतीकों की न्यूनता होते हुए भी रामकाव्य के ज्ञान-क्षेत्र के प्रति किसी प्रकार की शंका नहीं उठ सकती है। काव्यात्मक प्रतीक ज्ञान के विशाल क्षेत्र के केवल एक अंशमात्र हैं। प्रतीक-दर्शन की दृष्टि से यहाँ पर यह स्वयं साध्य है कि ज्ञान और साहित्य का (कविता एक रूप है साहित्य का) अन्योन्य संबंध एक सत्य है।

रामकाव्य के क्षेत्र में अन्य प्रतीकों का भी यदाकदा संकेत प्राप्त होता है जो हमें नीतिपरक 'ज्ञान' की ओर आकृष्ट करता है। तुलसी के नीतिपरक प्रतीकों का महत्त्व जन-जीवन के आचरण एवं व्यवहार की सापेक्षता में देखा जा सकता है। ये प्रतीक रामकाव्य की प्रवृत्ति के द्योतक न होकर एक अपवादस्वरूप प्रवृत्ति के अन्दर ही आते हैं। काव्यांतर की दृष्टि से इन प्रतीकों को अन्योक्तिगतउपदेशों की श्रेणी में रख सकते हैं। तुलसी ने परम्परागत प्रतीकों के द्वारा एक मानव आचरण के सत्य की ओर संकेत किया है—

चरन साँच लोचन रँगो, चलो मराली चाल।
छीरनीर बिबरन समय, बक उघरत तेहिं काल॥[2]

यहाँ पर एक तीखा व्यंग्य भी है जो उन पुरुषों की ओर संकेत करता है जो बक (बगुला) के समान मिथ्यावादी एवं कुटिल प्रकृति के होते हैं। ऐसे व्यक्तियों की मिथ्या प्रकृति उस समय प्रकट हो जाती है जब नीर-क्षीर-विवेक का प्रश्न आता है। इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर तुलसी ने 'स्वारथ लागि करैं सब प्रीती' की उक्ति को एक प्रतीकात्मक शैली के द्वारा व्यक्त किया है—

१—वही दूसरा भाग, बत्तीसवाँ प्रकाश, पृ०। १८३।
२—तुलसी-ग्रन्थावली, दोहावली, पृ० १०६।३३३।

पाट कीट ते होइ, ताते पाटम्बर रुचिर।
कृमि पालै सब कोइ, परम अपावन प्रान सम ॥[1]

रेशम का कीड़ा कितना अपवित्र होता है पर उससे सुन्दर वस्त्र-तंतुओं की प्राप्ति होने से मनुष्य उसे अपने स्वार्थ-हेतु पालता है।

राम-कथा के प्रतीकार्थ-महत्त्व में मानव ज्ञान तथा अनुभूति का सुन्दर रूप प्राप्त होता है। इसी अनुभूति पर तात्त्विक अर्थों की भी व्यंजना सम्भव होती है। राम और रावण का युद्ध सात्विक तथा तामसिक वृत्तियों का ही संघर्ष रूप है। तामसिक तथा राजसिक गुणों एवं ज्ञानों का उन्नयन भी सात्त्विक गुणों एवं ज्ञान की शक्ति के द्वारा होता हुआ दिखाया गया है जब वानर वर्ग तथा राक्षस वर्ग आत्मा और उसकी आत्मकिरण का सान्निध्य लाभ करते हैं। राम-कथा के इन पात्रों के द्वारा यह भी ध्वनित होता है कि तामसिक एवं राजसिक जगत् में रहकर भी एक जीव अपना विकास सतोगुण के धरातल पर कर सकता है। राम-कथा यह घोषित करती है कि जब तक व्यक्ति अपने तामसिक एवं राजसिक मानस-स्तरों को सात्त्विक स्तर पर नहीं लाता है तब तक यह देवासुर संघर्ष चलता ही रहेगा।

इस प्रकार राम-काव्य का सम्पूर्ण कलेवर सूफ़ी काव्य की तरह प्रतीकात्मक है जिसमें मूलतः प्रतीकात्मक संदर्भों की भी सुन्दर अवतारणा प्राप्त होती है। तुलसी में समन्वय की सुन्दर प्रवृत्ति केशव से कहीं मुखर है। संतों के शब्द-प्रतीकों को उन्होंने जिस ख़ूबी से अपनी भक्तिपूर्ण भावना में समाहित कर लिया यह उनकी एक मौलिक शक्ति कही जा सकती है। जहाँ तक शब्द-प्रतीकों का सम्बन्ध है, उनके ग्रहण में उन्होंने मूलतः उदारता ही बरती है। यह उदारता भक्ति की परिधि के अंदर ही विकास प्राप्त करती है। तुलसी के साधना-मार्ग में उन प्रतीकों का एक निश्चयात्मक रूप ही प्राप्त होता है, और कहीं-कहीं पर निषेधात्मक भी। शैव मत और वैष्णव मत का समन्वय ही उनके अनेक प्रतीक घोषित करते हैं यथा निरंजन, शिव और अमृत।

राम-काव्य का प्रतीकात्मक महत्त्व जहाँ उपर्युक्त रूपों में दृष्टिगत होता है वहाँ उसका महत्त्व नवीन प्रतीक सृजन में भी है। यह सत्य है कि ऐसे नवीन प्रतीक कम ही हैं। परन्तु तुलसी तथा केशव के अनेक संसार तथा रूप सौंदर्य-

---

१—वही, पृ० ११२।२७०।

बोधक प्रतीक नितान्त उनकी नवीन उद्भावनाएँ हैं। तुलसी का 'खटोला' तथा केशव के मक्खी, मच्छर आदि और अनेक श्लेषपरक प्रतीक मूलतः नवीन उद्भावनाएँ ही कही जा सकती हैं। केशव के प्रतीक मूलतः पाण्डित्य-पूर्ण हैं जो श्लेषालंकार पर आश्रित हैं। इस प्रकार राम-काव्य के प्रतीकों में रीतिकालीन अलंकार प्रवृत्ति के भी यदाकदा दर्शन हो जाते हैं। राम-काव्य की सम्पूर्ण भावभूमि को ध्यान में रखकर उनकी प्रतीकात्मक अभिव्यंजना को एक स्वस्थ सृजनात्मक क्रिया की दृष्टि से देखा जा सकता है।

सप्तम अध्याय

कृष्ण-भक्ति काव्य में प्रतीक-योजना

(क) पृष्ठभूमि

कृष्ण-भक्ति काव्य में प्रतीक-दर्शन का विकास अपने चरम रूप मे प्राप्त होता है। कृष्णलीलाओं के प्रतीकार्थ में अवतार, लीला तथा रूप का समान आग्रह है जिस प्रकार राम-काव्य में विवेचित हो चुका है। फिर भी, कृष्ण-चरित के प्रकाश में इन तत्त्वों (अवतारादि) में कुछ विशिष्टताएँ भी हैं जिन पर विचार करना अपेक्षित है। वेदों तथा उपनिषदों के 'ब्रह्म' को पुराणों मे असंख्य नामों तथा रूपों में अभिव्यक्त किया गया है।[1] यही कारण है कि कृष्ण की ब्रजलीला के अनेक संदर्भ हमें यदा-कदा वेदों में भी प्राप्त हो जाते हैं जिन पर हम यथास्थान विवेचन करेंगे। इसी प्रकार पुराणों की अनेक गाथाओं का आदि स्रोत वेदों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में ढूँढ़ा जा सकता है।[2] इसी सत्य की प्रतिध्वनि स्वयं शुक भगवान के इन शब्दों के द्वारा प्रतिभासित होती है जो उन्होंने महाभागवत पुराण के प्रारम्भ में कहा है—

ओ ब्रह्म ! इधर सुनो, वेदान्त वन में परब्रह्म को ढूँढ़ते हुए तुम 'उसे' न पाकर बहुत दुखी और खिन्न हो रहे हो। इधर आओ मैं तुम्हें बतलाता हूँ—उस ब्रह्म को इन गोपिकाओं के गृहों में घुसकर ढूँढ़ो। यह देखो, यहाँ उपनिषद् का अर्थ उलूखल में बँधा हुआ है।[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्णलीलाओं का मूल यह 'ब्रह्म' का गोपियों के घर-घर में अनुसंधान करना ही है, जो प्रत्येक संसारी-जीव का परम ध्येय माना

१—कल्याण, अक्टूबर १९४४, संख्या १ पृ० ७ पर श्री अक्षयकुमार बंद्योपाध्याय का लेख 'वेदपुराणमयी सुर तरंगिनी'।

२—दे० प्रथम अध्याय, उपखंड 'ख'।

३—उद्धृत उपनिषद् चिन्तन से पृ० ७२ पर द्वारा देवदत्त शास्त्री।

जाता है। इसी कारण गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति अगाध प्रेम भौतिक सम्बन्धों के आवरण में जीवात्मा का परमात्मा के प्रति अनन्त मिलनेच्छा का प्रतीक है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति हमें ईसाई रहस्यवादियों के 'सोलोमान के गीतों' में भी प्राप्त होती है। वहाँ जीवात्मा अपने मुक्तिदाता (Redeemer) की ओर अगाध प्रेम भाव से एकाकार होने के लिए प्रयत्नशील होती है।[1]

प्रेम का यह आध्यात्मिक रूप वैष्णव उपासना तथा भक्ति का केन्द्र-विन्दु माना जाता है। इस प्रेम का विकास कृष्ण-काव्य और उससे सम्बन्धित राधा-वल्लभ सम्प्रदाय और बंगाल के सहजिया सम्प्रदाय में अपनी चरम अभिव्यक्ति में प्राप्त होता है। राधा के प्रतीकार्थ में अथवा लीलातत्त्व के प्रतीक रूप में इन सभी संप्रदायों का योग रहा है। इसका विवेचन राधा-कृष्ण की धारणाओं के प्रतीकात्मक विकास के अन्तर्गत किया जायगा।

राधाकृष्ण की इस नित्य लीला का एक अत्यन्त उन्नत रूप महाप्रभु वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत दर्शन का प्रतिपादन भी है। वल्लभ के अनुसार ब्रह्म का वही साक्षात्कार कर सकता है जो उस परमतत्त्व की ओर भक्तिभाव से आकृष्ट हो। ब्रह्म तीन रूपों में वर्तमान रहता है—सत्, चित् और आनन्द। अतः ब्रह्म अपने स्वयं रूप में इन तीन विग्रहों में समाहित रहता है।[2] श्रीकृष्ण इन्हीं रूपों के गोचर रूप हैं, वह परब्रह्म, रसरूप, अक्षर-ब्रह्म और अन्तर्यामी हैं। यही परब्रह्म आनन्द-रूप विग्रह से अक्षर धाम में अपनी इच्छानुसार अनेक लीलाओं का विस्तार किया करता है। अतः भक्तों के लिए यह अक्षर धाम ही गोलोक का प्रतीक है।[3] इसी कारण वल्लभाचार्य ने पुष्टि-भक्ति पर बल दिया है। इस पुष्टिमार्गीय भक्ति-भावना ने ही अनेक लीलागत एवं तात्त्विक प्रतीकों की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है। परन्तु वल्लभाचार्य ने कृष्ण-चरित्र को अत्यधिक अतिमानवीय संदर्भ का वाहक बना दिया था जिसमें महाकवि सूरदास ने एक महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन किया है। सूरदास ने इस अतिमानवीय रूप का 'कुछ' निषेध कर पुष्टिमार्गीय भक्ति को सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाया। यही कारण है कि न सूर वैष्णव अलंकारों के बन्धन में ही बँधे और

१—इंडियन थाट एंड इट्स डेवलपमेंट, द्वारा स्वीटजर, पृ० १७७।

२—ए हिस्ट्री आफ़ इण्डियन फ़िलासफ़ी, द्वारा एस० एन० दास गुप्ता, पृ० ३२८ वाल्यूम चतुर्थ।

३—अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, द्वारा डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ४०२, दूसरा भाग।

न उन्होंने भागवत का गुणगान किया और न वल्लभ द्वारा प्रतिपादित पुष्टि-मार्ग का विवेचन ।[1] परन्तु प्रतीक योजना की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि सूर के तात्त्विक प्रतीक वल्लभ के सिद्धान्तों पर ही आश्रित हैं, चाहे सूर ने उनका विवेचन न किया हो । सामान्यत: प्रतीक-दर्शन की भूमि किसी न किसी दार्शनिक आधार को ही लेकर काव्य की भावभूमि को आलोकित करती है । सूर का काव्य इसी चेतना का सुन्दर विकास है जिसमें प्रतीकात्मक दर्शन अपनी सर्वोत्कृष्टता में प्राप्त होता है ।

परम्परा के शब्द प्रतीक

कृष्ण-भक्ति काव्य की इस समन्वयात्मक प्रवृत्ति का एक अन्य रूप संतों के शब्द-प्रतीकों की परम्परा है । इनमें से कुछ प्रतीको का सूर ने एक प्रकार से निषेधात्मक प्रयोग भी किया है जो मेरे विचार से रूढ़ि परम्परा का पालन मात्र है । इसका एक अन्य कारण भी दृष्टिगत होता है । सूरदास के समक्ष सगुण का महत्त्व निर्गुण की अपेक्षा कहीं अधिक था । इसी से संतों अथवा सिद्धो के अनेक प्रतीकों के द्वारा उन्होंने उस मत विशेष को अपनी सगुण भावना में एक निषेधात्मक या व्यंग्यात्मक स्थान दिया है । परन्तु ऐसे प्रसंग कम ही हैं (यथा भ्रमरगीत) । अधिकतर सूर ने उनके प्रति उदार भाव ही ग्रहण किया है । दूसरी ओर मीरा को इन शब्द-प्रतीकों के प्रति विशेष मोह है । इसी कारण उसे आलोचक-गण संत मत की कवयित्री भी कहने लगते हैं । परन्तु किसी मत विशेष के विचार एवं प्रतीकों को अपनी विशिष्ट भावनानुसार परिणत कर लेना एक अत्यन्त कौशल का एवं अन्तर्दृष्टि का परिचायक है । यही बात मीरा और सूर के बारे में भी कही जा सकती है । मीरा का 'जोगी' शब्द ऐसा ही है । मीरा के जोगी का वह अर्थ नहीं है जो तांत्रिक साधना की परम्परा में प्राप्त होता है । मीरा का 'जोगी' साकार सगुण रूप है, वह उनका निकट आत्मीय है, उनका सर्वस्व है—तभी तो मीरा ने ये शब्द 'जोगी मत जा, मत जा, पाँव परूँ मै तेरो' कह कर अपनी प्रेमपूर्ण भावानुभूति को 'जोगी' के रूप में मानों पूर्ण तदाकार कर दिया है । 'जोगी' शब्द की भावना को मीरा ने अन्य वाचक शब्दों के द्वारा भी व्यक्त किया है जैसे गिरधर गोपाल, हरि अविनासी, गोविद, बिट्ठल आदि । इन सभी शब्दों की धारणा में केवल मीरा की हृदगत प्रेम की पराकाष्ठा ही दृष्टिगत होती है ।

१—सूर और उनका साहित्य, द्वारा डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ४१३-४१४ ।

इस 'जोगी' शब्द के अतिरिक्त अनेक अन्य परम्परागत शब्द-प्रतीकों का प्रयोग कृष्ण काव्य में प्राप्त होता है जिनमें से कुछ प्रमुख प्रतीकों का विवेचन निम्नलिखित है :

सुरति

कृष्ण काव्य में 'सुरति' शब्द का प्रयोग संतों तथा राम-भक्त कवियों के समान सामान्यत: ध्यान या स्मृति के अर्थ में ही हुआ है। सूर ने गोपी-विरह के प्रसंग के सुरति को इसी अर्थ में ग्रहण किया है यथा—

मेरौ मन वैसीये सुरति करै।
मृदु मुसकानि बंक अवलोकनि हिरदै ते न टरै।[1]

इसके अतिरिक्त सूर ने 'अंतर लगी सुरति की डोरी'[2] और 'सूरदास प्रभु गिरधर के संग सुरति समुद्र तरी।'[3] का भी प्रयोग किया है। 'सुरति डोर' तथा 'सुरति समुद्र' के प्रयोग के द्वारा कवि ने गोपी प्रेम एवं विरह की अगाधता में 'सुरति' की महत्ता के प्रति संकेत किया है। जहाँ तक मीरा का संबंध है उनका 'सुरत' शब्द अधिक भावमय है जो प्रेम संवेदना को अत्यन्त मुखर रूप प्रदान करता है। उनके सुरत में एक विरहिणी नारी की भावना समाई हुई है। सूर की गोपियों का एक मात्र सम्बल जो उनको जीवन दिये हुए है, यही सुरति है। मीरा में भी 'सुरत' की भावना में निजी वेदना या माधुर्यभाव स्पंदित प्राप्त होता है, जब वे कहती हैं—

पिया दूर पंथ म्हारो झीणा, सुरत झकोला खाइ।[4]

पिया के दूर चले जाने पर नारी की विरहजनित अवस्था का जो एकमात्र सम्बल यह 'सुरत' है वह भी पिया के न रहने पर झकोले खाने लगता है। तब प्रेम का समस्त केन्द्रीकरण किसी 'व्यक्ति' में न होकर उस 'व्यक्ति' की 'सुरत' में हो जाता है जो मीरा की उपर्युक्त पंक्तियों में साकार हो उठा है। यह प्रेम का ही आधिक्य है कि नाम और नामी का भेद मिट जाता है। और केवल 'सुरत' ही शेष रह जाती है। तब सुरति केवल 'राम' से ही लगती है—

१—सूरसागर, भाग २, पृ० १३७४।३२८१ सं० नन्ददुलारे वाजपेयी।

२—सूरसागर, पृ० ८२६।१६४३।

३—वही, खड, २ पृ० ११३४।२६५७।

४—मीराबाई की पदावली, सं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २४५।१५।

हेली सुरत सुहागिन नारि, सुरत मेरी राम लै लागी ।[1]

कृष्ण काव्य में सुरति का एक अन्य अर्थ भी प्राप्त होता है जिसका अभाव हमें संतकाव्य में प्राप्त होता है। वह नवीन अर्थ है प्रेमजनित 'केलि क्रीड़ा का' जो कभी कभी मिथुनपरक अर्थ की ओर भी संकेत करता है। यह मिथुन-परक अर्थ हमें सिद्धों का स्मरण दिलाता है। सिद्धों में इसका प्रयोग मूलतः साधनापरक ही था जब कि यहाँ पर 'सुरति' का प्रयोग केवल एक 'प्रेम युक्त-केलि' से ही गृहीत होता है। सूर ने 'साहित्य-लहरी' में सुरत के इसी अर्थ की ओर स्पष्ट संकेत किया है —

राधे रात सुरत रँगराती।
नंदनंदन संग कुंज भवन में मदन मोद मदमाती।[2]

दूसरे स्थान पर केलि अर्थ को इस प्रकार व्यक्त किया है, यथा—

सूरदास मनहरन रसिक बर
राधा संग सुरति रस भीनी।[3]

अतः निष्पक्ष दृष्टि से यह नहीं कहा जा सकता है कि 'सुरति' के रतिपरक अर्थ का सर्वथा अभाव कृष्ण-काव्य में प्राप्त होता है। इसी अर्थ का अत्य-धिक ग्रहण रीतिकाल में हुआ है, क्योंकि वहाँ श्रृंगार भावना का प्राबल्य होने से कवियों ने इस शब्द के रतिपरक (मिथुन भी) अर्थ का पूर्ण विस्तार किया है।

सहज

नाथों तथा संतों में सहज शब्द का प्रतीकार्थ परमतत्त्व अथवा साधना पद्धति के अर्थ में प्रयुक्त होता था (देखो संतकाव्य)। भक्ति काव्य में इस शब्द की परम्परा अत्यन्त बलवती रही है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि उसका मिथुनपरक एवं युगनद्धपरक अर्थ का यहाँ सर्वथा अभाव ही प्राप्त होता है। कृष्ण कवियों ने इस शब्द के प्रतीकार्थ में तीन तत्त्वों का विशेष समाहार किया है—

प्रथम, सहज के प्रतीकार्थ में स्वाभाविकता एवं सरलता का परम्परागत रूप भी प्राप्त होता है जो एक सामान्य प्रवृत्ति है, यथा—

१—वही, पृ० २४१।१।

२—साहित्य लहरी, पृ० ६ पद ५।

३—सूरसागर, भाग दो, पृ०१३६।१९९३।

सहज रूप की रासि राधिका, भूषन अधिक बिराजै।[1]

इस अर्थ के अनेक उदाहरण सूरसागर में भरे पड़े हैं जिनका विस्तार करना व्यर्थ है।

सहज शब्द के प्रतीक रूप में दूसरे अर्थ-तत्त्व का समाहार भक्तिपरक जीवन साधना से संबंधित है। इस अर्थ में इस शब्द का भाग्य-निर्णय अपने चरम रूप में प्राप्त होता है। प्रेम-भक्ति की तरलता में इस अर्थ की प्रेषणीयता अत्यन्त हृदयग्राही हो उठी है। गोपियों का परम प्रेम इसी सहज-साधना का ही अंग है—

देह दसा कुल कानि लाज तजि
सहज सुभाउ रह्यो सु घर्‌यौ।[2]

इस 'सहज सुभाउ' के कारण उनकी 'बान' भी सहज रूप की हो गई है।[3] स्वयं कृष्ण एवं राधा की प्रतीति भी इसी सहज-साधना का ही रूप है। कुछ इसी कोटि का सहज प्रेममय वैराग्य मीरा का भी है—

दासी मीरा लाल गिरधर
सहज कर वैराग।[4]

अस्तु, जहाँ पर भी सूर ने 'सहज समाधि' का प्रयोग किया है, वहाँ पर उनका मंतव्य योगपरक समाधि से नहीं है। उनका मंतव्य उस तल्लीनता एवं पूर्ण आत्मसमर्पण की दशा से है जहाँ पर साधक का मन, वचन एवं इंद्रियाँ अपने साध्य से एकाकार हो जाती हैं—

सहज समाधि सार बपु बानक
निरखि निमेष न लागत।
परम ज्योति प्रति अंग माधुरी
धरति यहै निसि जागत॥[5]

इसी प्रकाश में हम सिद्ध-समाधि को ले सकते हैं जो मूलतः योग साधना से

१—सूरसागर, पृ० १०६६।२४४५ दूसरा भाग (सभा) तथा पृ० ८८३।१६६६।
२—सूरसागर, प्रथम खंड, पृ० ७६२।१४५४।
३—सूरसागर, प्रथम खंड, पृ० ८८३।१६५६।
४—मीराबाई की पदावली, पृ० १३०।
५—सूरसागर, पृ० १४४८।३५३०।

संबंधित मानी गई है। इस शब्द का स्थान भक्ति साहित्य में बहुत सीमित ही है। जहाँ तक सहज के व्यापक अर्थ का, उसके मूल प्रतीक रूप का प्रश्न है कृष्ण-काव्य में उसका अर्थ योगपरक न होकर एक प्रकार से भक्ति साधना की तल्लीनतापूर्ण दशा का ही वाचक रह गया है।

तीसरा और अंतिन अर्थ तत्त्व जो इस शब्द-प्रतीक में प्राप्त होता है, वह है इस शब्द का 'परमतत्त्व' के रूप में यदाकदा प्रयोग। संतों ने भी 'सहज' का प्रयोग इसी अर्थ में किया है।[1] यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना अपेक्षित है कि सूर ने इस शब्द का प्रयोग सीमित ही किया है। मीरा के काव्य में इस अर्थ का अभाव ही प्राप्त होता है। सूर की एक पंक्ति में इस अर्थ की एक ध्वनि मात्र मिलती है—

अविनासी बिनसै नहीं सहज-जोति परकास।[2]

यहाँ पर 'अविनासी' और सहज-ज्योति शब्द निर्गुण परक होते हुए भी सूर में एक व्यक्त माध्यम की अपेक्षा रखते हैं। उनकी प्रवृत्ति निराकार पर अधिक देर तक ठहरती भी नहीं प्रतीत होती है। उन्हे तो निराकार की भी व्यंजना साकार माध्यम से करनी अभीष्ट है। यही कारण है कि सूर में 'सहज' का परमतत्त्व रूप भी व्यक्त माध्यम के आश्रय के कारण उनके आराध्य कृष्ण, गोपाल, नंदनन्दन आदि का वाचक रूप सा ज्ञात होता है। गोपी भाव की सहज-साधना का प्रेम रूप इसी तत्त्व की ओर संकेत करता है—

हम अबला मत की सब भोरी
सहज गुपाल उपासी।[3]

उपर्युक्त विवेचन से यह कहना समीचीन होगा कि कृष्ण काव्य में सहज शब्द का अर्थ इन तीनों अर्थ-तत्त्वों की एक मीलित अभिव्यंजना का ही द्योतक है जिसमें कवि की भक्ति भावना का भी यथोचित स्पन्दन प्राप्त होता है।

मुद्रा—

महामुद्रा साधना के तांत्रिक नारी-परक रूप की परम्परा का लोप मूलतः भक्ति काव्य में एक सामान्य प्रवृत्ति है। निष्पक्ष दृष्टि से मुद्रा शब्द के रूढ़ अर्थ का ह्रास यहाँ पर अवश्य हुआ है। परन्तु रूढ़ अर्थ के स्थान पर

१—दे० चतुर्थ अध्याय, उपखंड 'ख'।

२—सूरसागर, द्वितीय भाग, पृ० १६२४।४०६५।

३—वही खंड २, पृ० १५७०।३९२६।

नवीन अर्थ-तत्त्वों का भी समाहार किया गया है। हम कह सकते हैं कि भक्त कवियों ने मुद्रा के जटिल साधनात्मक रूप के स्थान पर उसके सहज एवं भक्तिपरक स्वरूप की प्रतिष्ठा की है। यही कारण है कि सूर की गोपियों ने इस शब्द का प्रयोग निर्गुण तथा तान्त्रिक अनुष्ठानों की सापेक्षता में अपने प्रेम परक साधना की उच्चता प्रदर्शित करने के लिए भी किया है, यथा—

मुद्रा न्यास अंग आभूषन, पतिव्रत ते न टरौं।
सूरजदास यहै ब्रत मेरे हरि पल नहिं बिसरौं॥[1]

यही नहीं, पर कहीं कहीं पर पूरी योग प्रणाली की वस्तुओं तथा अंगों की ओर भी संकेत प्राप्त होता है जैसे सीस, सेली, कंथा, केश, मुद्रा आदि।[2] इन सभी प्रयोगों में मुद्रा का अर्थ एक विशिष्ट बाह्य आकृति का द्योतक है जिसके सामने गोपियों का 'पातिव्रत' कहीं अधिक महान है। वे अपने प्रेम-धर्म को 'मुद्रा' की समकक्षता में बलिदान करने को प्रस्तुत नहीं हैं। कबीर में भी मुद्रा के प्रति एक प्रकार का विद्रोहात्मक असंतोष प्राप्त होता है,[3] परन्तु गोपियों में यह विद्रोह उतना स्पष्ट नहीं है पर वह अप्रत्यक्ष रूप में केवल उदासीनता का परिचायक है।

इसके अतिरिक्त कृष्ण काव्य में मुद्रा के प्रतीक रूप में एक रोचक अर्थ का भी समावेश किया गया है। इस प्रयोग को भी हम एक प्रकार से निषेधात्मक और व्यंग्यात्मक कोटि में रख सकते हैं। सूर ने समस्त ऐसी विचारधाराओं को 'माटी की मुद्रा' की संज्ञा दे डाली जो सगुण अथवा भक्ति भावना की उपासना-पद्धति के विपरीत पड़ती थीं। पंक्ति इस प्रकार है, जो उद्धव (मधुकर) के प्रति गोपियों का व्यंग्य ही कहा जा सकता है—

तिन मोहन माटी की मुद्रा, मधुकर हाथ पठायो।[4]

गोपियों को इस 'माटी की मुद्रा' के प्रति एक प्रकार का स्पष्ट असंतोष लक्षित होता है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि किस प्रकार किसी प्रतीक विशेष के द्वारा किसी 'मत' के प्रति एक व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है।

महामुद्रा-साधना की अनेक शब्दों की (नारीपरक) जो परम्परा सूफ़ी

१—सूरसागर, पृ० १४५५। ३५५१ तथा पृ० १६०४। ४०४० (सभा)।

२—वही पृ० १४११। ३६६४ : सभा :।

३—दे० चतुर्थ अध्याय उपखंड 'ख'।

४—सूरसागर, सार, सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १६२।

तथा राम काव्य में प्राप्त होती है, वह एक प्रकार से शब्द विशेष की परम्परा का प्रयोग ही माना जा सकता है। परन्तु कृष्ण काव्य में महामुद्रा साधना के उतने शब्द भी नहीं प्राप्त होते हैं जितने सूफियों अथवा संतो में प्राप्त होते हैं।[1] कृष्ण काव्य की भावभूमि को केवल दो शब्दों से विशेष मोह रहा है, एक योगिनी तथा दूसरा पद्मिनी। कम से कम योगिनी शब्द का प्रतीक रूप और उस शब्द का अर्थ विस्तार कृष्ण काव्य की मूल देन है जिसने परम्परा से त्याज्य (संतों तथा सूफ़ियों में ऐसी प्रवृत्ति यदा कदा मिल जाती है जो सामान्य नहीं है) एक शब्द को अपनी प्रेमपरक साधना में एक नवीन अर्थ का वाहक ही नहीं बनाया, पर उसके द्वारा एक आंतरिक मनोवृत्ति का मानवीकरण भी किया है।

इस शब्द की समस्त प्राचीन निषेधात्मक एवं साधनात्मक जटिल रूपों को तिलांजलि देकर मीरा ने प्रधान रूप से अपनी व्यक्तिगत साधना का, अपनी विरहजनित अवस्था का एवं अपनी चिरकालिक गोपी भावना का साकार रूप इस शब्द से मानों व्यंजित किया है। तभी तो, मीरा के ये शब्द जोगिन भावना के प्रतीक रूप कहे जा सकते हैं—

माला मुद्रा मेखला रे बाला, खप्पर लूँगी हाथ।
जोगिन होइ जुग ढूंढसूं रे म्हारा रावलियारी साथ ।।[2]

यह सम्पूर्ण योगिनी का वाह्य भेष केवल एक आंतरिक लालसा का प्रतीक रूप है जो प्रिय की मिलनातुर दशा के कारण हो गई है। इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति तो इन पंक्तियों में स्वयं फूट पड़ती है—

सावण आवण कह गया बाला
कर गया कौल अनेक।
गिणता गिणता घस गई रे
म्हांरा आंगलियारी रेख।
पीव कारण पीली पड़ी बाला
जोबन वाली वेस।
दासी मीरा राम भजिकै
तन मन कीन्हो पेस।[3]

१—दे० अध्याय ४, तथा ५ में योगिनी, यक्षिणी, पद्मिनी, हस्तिनी का विवेचन।
२—मीराबाई की पदावली सं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १३७। ११७।
३—मीराबाई की पदावली पृ० १३७।११७।

अतः मीरा का जोगिन भेष केवल वाह्य मुद्रा मात्र नहीं है, वह तत्त्वतः हृदय एवं अंतःकरण का दिव्य एवं भावपूर्ण भेष है। वह भेष ऊपर से दिखायी नहीं देता है पर राख के अन्दर छिपी चिनगारी की भाँति अव्यक्त रहता है जो प्रिय के मधुर स्पर्श से स्वयमेव प्रज्वलित हो उठता है।

सूर ने जोगिन के जगने का भी एक स्थान पर संकेत किया है, जो तान्त्रिक प्रभाव का फल है। लंकाकाण्ड में सिन्धु तट पर सुग्रीव अंगद आदि के आने पर जोगिनी का जाग्रत होना कहा गया है—

चले तब लषन, सुग्रीव, अंगद, हनू, जामवंत नील, नल सबै आयौ।
भूमि अति डगमगी जोगिनी सुन जगी, सहस फन सेस कौ सीस काप्यौ।[1]

यहाँ पर भी राम काव्य की तरह योगिनी का भयानक रूप ही दृष्टिगत होता है।

जोगिनी के अतिरिक्त पूर्ण सगुण काव्य में पद्मिनी का आदर्श कवियों ने ग्रहण किया है। सीता का रामकाव्य में और राधा का कृष्णकाव्य में पद्मिनी रूप अपनी चरम अभिव्यक्ति में प्राप्त होता है। सीता का पद्मिनी रूप जहाँ अधिक मर्यादित है, वहाँ राधा का उतना नहीं। सीता का रूप वर्णन, उनके हाव-भावों तथा रतिपरक क्रियाओं का उतना वर्णन नहीं प्राप्त होता है जितना सूर की पद्मिनी राधा में। इस दृष्टि से सूर की राधा में पद्मिनी रूप का जितना सुन्दर विकास हो सका उतना जायसी की पद्मावती में ही प्राप्त होता है। राधा के इस रूप पर राधाकृष्ण के प्रतीकार्थ विकास के अन्तर्गत विवेचन किया जायगा।

वज्र

कृष्ण काव्य में वज्र का प्रयोग सामान्यतः दो रूपों में ही प्राप्त होता है। एक तो कठोरता अथवा अस्त्र विशेष के अर्थ में और दूसरा वज्रागी अथवा अजपा जाप (वज्रजाप) के रूप में। दूसरे अर्थ में इस शब्द का अपरोक्ष वर्णन ही है। एक स्थान पर वज्रागी का प्रयोग हुआ है जो प्रसंगानुसार बलवान एवं भयंकरता का प्रतीक है—

चितवै मल्ल नन्द सुत कोधा। काल रूप वज्रागी जोधा॥[2]

१—सूरसागर, नवम स्कंध, पृ० २२७।५५ (सभा)।
२—सूरसागर, खंड दो, पृ० १३०६। ३०७०।

मेरे देखने में वज्राग्नि का विरह अग्नि के अर्थ में कहीं पर भी प्रयोग नहीं हुआ है। (सूर तथा मीरा में) जहाँ तक वज्रजाप का प्रश्न है उसका तांत्रिक रूप यहाँ पर सर्वथा अप्राप्य है। परन्तु यह भी कहा जा सकता है कि भ्रमर गीत के प्रसंग में अजपा जाप, षट्दल, द्वादस कमल (हृदय), त्रिकुटी ध्यान धारण आदि शब्दों का जो भी संकेत मिलता है, वह तान्त्रिक अनुष्ठान की हीनावस्था का ही द्योतक है। यहाँ तक कि गोपियों ने जहाँ पर भी इन शब्दों का प्रयोग किया है, वहाँ पर उनका साध्य निर्गुण ब्रह्म नहीं है, पर साकार बनमाली है—

षटदल द्वादसदल निरमल, अजपा जाप जपाली।
त्रिकुटी संगम ब्रह्म द्वार भिदि, यौं मिलिहैं बनमाली ॥[1]

अतः सूरदास में इन तांत्रिक शब्दों को भक्ति भावना में सुन्दरता से एकाकार कर दिया है। इसके अतिरिक्त 'वज्र' के जो भी अर्थ प्राप्त होते हैं वे अधिकतर कठोरता अथवा कुलिश (अस्त्र) के ही द्योतक हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

सुनि भयभीत वज्र के पिंजर
सूर सुरति रनधीर ॥[2]

अथवा

वज्र घातनि करौं चुरकुट, देउं धरनि मिलाइ।[3]

अनाहद

तांत्रिक अनुष्ठान में अनाहद शब्द ऐसी दशा में साधक को सुनाई पड़ता है, जब वह उन्मनि दशा में पहुँच जाता है। परन्तु कृष्ण काव्य में अनाहद का एक प्रेमपरक स्वरूप ही प्राप्त होता है, इसके साथ-साथ उसका परम्परागत रूप भी सुरक्षित है। अनाहद शब्द के प्रतीक रूप में सूरदास ने एक नवीन अर्थ तत्त्व का भी समन्वय किया है जब वे मुरली की ध्वनि की समकक्षता में अनाहद को स्थान देते हैं। सूरदास ने कहा—

मुरली अधर स्रवन धुनि सो सुनि, सबद अनाहद काने।
बरषत रस रुचि बचन संग सुख, पद आनन्द समाने।[4]

स्पष्ट रूप से, अनाहद का यहाँ पर रूपान्तर सगुण भावधारा की मनोवृत्ति के

१—सूरसागर सार, भ्रमरगीत, पृ० १७० ।
२—वही पृ० १०६ ।
३—सूरसागर प्रथम खण्ड, पृ० ५५६ । ८५२ ।
४—सूरसागर, दूसरा खंड (सभा), पृ० १४४८ । ३५३० ।

अनुकूल ही प्राप्त होता है। यह सूर की एक नवीन उद्भावना ही कही जा सकती है। परन्तु दूसरी ओर अनाहद का प्रयोग उसके पारिभाषिक तांत्रिक अर्थ में भी प्राप्त होता है, यथा—

हृदय कमल ते जोति बिराजै। अनहद नाद निरंतर बाजै।[१]

मीरा का 'अणहद' उनकी तल्लीनता पूर्ण प्रेम-भावना से परिपूर्ण है जो एक तरह से निरति दशा का भी द्योतक ज्ञात होता है—

बिन करताल पखावज बाजै, अणहद की झणकार रे।[२]

निरंजन

भक्ति काव्य की सगुण धारा में निरंजन शब्द का जहाँ पर भी प्रयोग हुआ है वहाँ पर या तो वह आराध्य के परमपद का शब्द है या 'परमादि तत्त्व' का वाचक शब्द है। सूरदास की यह पंक्ति इसका प्रमाण है—

आदि निरंजन निराकार, कोउ हुतौ न दूसर
रचौं सृष्टि विस्तार भई, इच्छा इक औसर।
पुनि सबकौ रचि अंड, आप में आपु समाये।[३]

निरंजन की यह धारणा बरबस जायसी के 'अल्लाह' का स्मरण दिलाती है जिनका परमतत्त्व सृष्टिकर्ता भी है और जो आप में 'आप' ही समाया हुआ है।[४] यह स्थिति ब्रह्म की भी है जो अपनी इच्छा से सृष्टि विस्तार करता है।[५] अतः यहाँ निरंजन निश्चयात्मक तत्त्व रूप है। प्रतीकार्थ की दृष्टि से निरंजन और ब्रह्म सगुण काव्य में समानार्थी शब्द हो गए हैं। निरंजन के परमतत्त्व रूप की धारणा अनेक स्थानों पर प्राप्त होती है यथा—'अकल निरंजन विविध वेष।[६] यहाँ ध्वनित होता है कि आदितत्त्व निरंजन अनेक रूपों में अवतरित भी होता है जो हमें अवतार भावना की ओर संकेत करता है। अतः सूरदास ने निरंजन शब्द के परम्परागत अर्थ को ग्रहण करते हुए भी उसकी भावना में अवतार तथा लीला तत्त्वों का एक हल्का-सा पुट प्रदान करने की चेष्टा की है।

१—वही, पृ० १६२१।
२—मीरांबाई की पदावली, पृ० २४४। १०।
३—सूरसागर, द्वितीय स्कंध, पृ० १२६। ३६७।
४—दे० अध्याय ५, उपखंड 'ख' में।
५—दे० अध्याय प्रथम, उपखंड 'ग' में।
६—सूरसागर, पृ० १२०७। २८५२।

प्रत्यक्षतः सूर के आराध्य 'कृष्ण' इसी निरंजन की भावना को भी अपने प्रतीक रूप में समेटे हुए हैं। मीरा ने तो स्पष्ट रूप से निरंजन की निर्गुणपरक व्याख्या में अपने प्रेम-भाव की सगुण परक व्याख्या को अत्यंत सुन्दरता से समन्वित कर दिया है। उनका साकार सगुण रूप 'साहिब' ही निरंजन है जिसके लिए वह 'वैरागिन' होना चाहती है। यहाँ पर निरंजन एक व्यक्तिगत सम्बन्ध के द्वारा सापेक्ष तत्त्व है, वह सूर की तरह निरपेक्ष नहीं है—

बाल्हा मैं वैरागिन हूँगी हो ।
जो जो भेष म्हारो साहिब रीझै, सोइ सोइ भेष धरूँगी हो ॥ टेक ॥
सील संतोष धरूं घट भीतर, समता पकड़ रहूँगी हो ।
जाको नाम निरंजन कहिए, ताको ध्यान धरूँगी हो ॥[1]

सम्पूर्ण विवेचन के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि सगुण काव्य में निरंजन का निश्चयात्मक स्वरूप ही प्राप्त होता है, संतों की तरह उसकी भावना में निषेधात्मक तत्त्वों का अभाव ही मिलता है। उन्हें तो निरंजन को अपनी सगुण प्रेमपरक भाव धारा के धरातल पर लाना था, उसके लिए वे कैसे निषेधात्मक रूप को स्वीकार कर सकते थे?

अमृत (हरिरस)

सगुण भक्त कवियों ने महारस, हरिरस, और अमररस जैसे शब्दों का भी प्रयोग किया है जो संतों की परम्परा को और भी आगे बढ़ाते हैं। कृष्ण-भक्त कवियों की भक्ति भावना के ही प्रतीक ये शब्द कहे जा सकते हैं। अधिकांशतः उनके ये अमृतवाचक शब्द-प्रतीक अगाध प्रेम-भाव के ही द्योतक हैं। उदाहरण स्वरूप महारस का यह प्रयोग लीजिए—

दूध नहीं दधि नहीं माखन, नहीं रीती माट ।
महारस अंग अंग पूरन, कहाँ घर कहाँ बाट ॥[2]

इसी 'महारस' को पीकर वे अपने तन मन की सुधि ही भूल जाती हैं। यहाँ तक कि श्याम के महारस रूप का पान करके वे किसी से भी भयभीत नहीं होती हैं। इसी प्रकार की परम-भावना का स्वरूप 'हरिरस' में भी प्राप्त होता है। हरिरस है तो अगाध और अगोचर, पर गोपियाँ उसे त्याग नहीं सकती

१—मीरांबाई की पदावली, पृ० २८८। ११।
२—सूरसागर, भाग दो पृ० ८२३। १६२४।

हैं। वे उसी रस में निमग्न होकर आनन्द का अनुभव करती है, अपने विरह को उस 'रस' में घुलाकर उसी रस में एकाकार हो जाती हैं—

> जो तुम कहत अगाध अगोचर,
> हरि रस तज्यो न जाई।[१]

इस प्रकार हरि तथा महारसों का स्वरूप मूलतः एक हृदयगत भावना का प्रतिरूप ही ज्ञात होता है। मीरा ने एक स्थान पर अमररस का जो प्रयोग किया है वह संत मत के अमृतपान की ओर संकेत करता है। अपरोक्ष रूप में उसमें सूफी 'मदिरा' का भी संकेत प्राप्त होता है—

> पिया पियाला अमर रस का
> बढ़ गई घूम घुमाय।[२]

इसके अतिरिक्त मीरां में अमृतवाचक अन्य शब्दों का प्रयोग नहीं प्राप्त होता है।

गगन मंडल

सगुण काव्य में गगन के स्थान पर एक ऐसे अर्थ का समावेश किया गया है जो भक्त के लिए एक दुर्लभ गंतव्य है, पर है उसका अभीष्ट। तंत्र-साधना में ब्रह्मरन्ध्र (गगन) तक पहुँचने के लिए षट्चक्रों का भेदन करना पड़ता है। परन्तु मीरां ने ऐसे दुर्लभ ध्येय को अपनी मधुर प्रेम साधना के द्वारा एक निजी भावपूर्ण 'पद' या 'देश' के रूप में स्वीकार किया है। मीरां ने इस स्थान (गगन) के अनेक पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग कर अपनी नवीन उद्भावना का सुन्दर परिचय दिया है। मीरा के 'वाही देस, अगम देस, ऊँची अटारी, अगम-अटारी ऐसे ही शब्द-प्रतीक हैं जिनकी पृष्ठभूमि में तांत्रिक भाव का क्षीण स्पंदन ज्ञात होता है, पर इससे कहीं अधिक मीरां की अपनी अनुभूति तथा मौलिक कल्पना का उनमें समाहार है। वह देश अगम है जहाँ काल की भी पहुँच नहीं है अथवा उस स्थान पर व्यक्ति अमृत या अमर रस का पान करता है—

> चालां अगम वां देश काल देख्या डरा।
> भरा प्रेम रा हौज हंस केल्या करा॥[३]

१—सूरसागर, भाग दो, पृ० १५७४। ३९३८ तथा पृ० १६०५। ४०४७।

२—मीराबाई की पदावली, पृ० १०९। ३।

३—वही, पृ० १५८। १९३।

इस अगम देश में सबसे प्रमुख वस्तु है 'प्रेम का हौज' जहाँ जीवात्मा रूपी हंस केलि किया करता है—आनन्द से परिव्याप्त रहता है। मीरां का साध्य यही 'अगम देश' है जहाँ प्रिय का सामीप्य प्राप्त होता है। यह उस स्थिति का वाचक शब्द है जिसे प्राप्त करने के लिए नारी (जीवात्मा) पूर्ण शृंगार करती है, क्योंकि वहाँ वह अपने प्रियतम से मिलेगी—

चालां वाही देस प्रीतम पांवा चालां वाही देस। टेक।
कहो कसूमल साड़ी रंगवां, कहो तो भगवा भेस।
कहा तो मुतियन मांग भरावा, कहो झिटकावा केस।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, सुण जीयो बिड़द नरेस ॥[1]

यह एक ऐसा एकान्त स्थान है जहाँ जीव और ईश्वर का एकान्त मिलन होता है। यह मिलन बिना ज्ञान और भक्ति के नहीं हो सकता है। तभी तो, इस अगम अटारी के लिए 'ग्यान दीपक' के बालने की बात मीरां ने कही है[2] जिससे 'इमरित' का पान होता है। दूसरी ओर मीरां ने 'ऊँची अटरिया' में निर्गुण सेज बिछाने का संकेत किया है पर उनकी वृत्ति उस निर्गुण सेज पर नहीं टिकती है। वे आगे की पंक्तियों में एक ऐसे सुहागरात का चित्र उपस्थित करती हैं जिसमें पचरंगा झालर, फूलों की सेज, बाजूबन्द, सिंदूर और सुमिरन-थाल का एक पूरा मोहक चित्र साकार हो उठता है जो उन्हें बरबस एक सगुण साकार 'साहिब' की ओर ही आकृष्ट करता है।[3] उनकी प्रेम-भावना अपने प्रियतम को निराकार नहीं रहने देती है, उसे वह साकार प्रतीक 'कृष्ण' के रूप में हृदयंगम करती है। यही कारण है कि उनकी अगम अटारी, अगम देस कोई निराकार 'पद' के वाचक शब्द नहीं हैं, पर सत्य रूप में उनका प्रतीकार्थ एक ऐसे व्यक्त एवं मूर्त स्थान का वाचक शब्द है जहाँ प्रिय का साक्षात्कार होता है, जहाँ जीवात्मा परमात्मा की अनुभूति प्राप्त करती है।

राधा-कृष्ण के प्रतीक रूप का विकास

कृष्ण-काव्य के उपर्युक्त संत शब्द-प्रतीकों की परम्परा पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि शब्द-प्रतीकों की धारणा में भी अनेक विचारों तथा

१—वही, पृ० १४६ । १५३ ।
२—वही, पृ० २४५ । १४ ।
३—वही, पृ० २४२ । ६ ।

अर्थतत्त्वों का एक साथ संगुंफन होता है। यही बात किसी आदर्श चरित्र या व्यक्ति के प्रतीकार्थ विकास में भी लक्षित होती है। राधा-कृष्ण की भावनाओं में युगों युगों से अनेक दार्शनिक, धार्मिक एवं सामान्य जन-जीवन के विचारों तथा तत्त्वों का क्रमिक योग होता रहा है जिन्होंने उनकी भावना को एक व्यापक रूप प्रदान किया है।

कृष्ण का प्रतीकार्थ-विकास

श्रीकृष्ण की धारणा का विकास अनेक भारतीय एवं अभारतीय तत्त्वों की मिलित अभिव्यक्ति है। प्रतीकात्मक अर्थ की दृष्टि से यह कहना अधिक समुचित होगा कि वैदिक साहित्य में इन्द्र तथा विष्णु की धारणाओं का भावी रूप ही कृष्ण की भावना के विकास-क्रम में सहायक हो सका। अतः प्रतीक की दृष्टि से कृष्ण भावना के विकास-क्रम को पाँच स्थितियों में अनुशीलन किया जा सकता है—

(१) वैदिक साहित्य के तत्त्व (वेद और उपनिषद्)
(२) महाभारत तथा गीता के तत्त्व (वैदिक साहित्य का ही अंग)
(३) आदिम जातियों के तत्त्व
(४) पुराणों के तत्त्व
(५) काव्य के तत्त्व (हिन्दी)

(१) वैदिक साहित्य के तत्त्व

वैदिक देवताओं में अग्नि, विष्णु तथा इंद्र प्रमुख देवता माने गए हैं। आरम्भ में इन्द्र की प्रधानता ही रही जो वेदों में देवाधिदेव की संज्ञा से विभूषित रहा। कालान्तर में जब इन्द्र की सापेक्षता में 'विष्णु' की प्रधानता होने लगी और विष्णु की भावना का तादात्म्य इन्द्र की भावना में क्रमशः समाहित होने लगा तब विष्णु का रूप मुखर हो गया। वेदों में ही इन्द्र तथा विष्णु की भावनाओं में आदान-प्रदान हो गया था। यही कारण है कि इन्द्र को कहीं विष्णु का सहायक माना गया, कहीं पर उससे समानता प्रदर्शित है और कहीं-कहीं पर तो विष्णु को इन्द्र से महान् भी कहा गया है।[1] कुछ भी हो, विष्णु की महत्ता वेदों में ही प्राप्त होने लगती है जो कृष्ण-भाव के अनेक तत्त्वों की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है।

१—वैष्णव धर्म, द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १३-१४।

वेदो में विष्णु को सूर्य भी कहा गया है। सूर्य का महत्त्व वेदों में ही नहीं उपनिषदों में भी बिखरा हुआ प्राप्त होता है। प्रश्नोपनिषद् में सूर्य को अमृत, अभय एवं परागति वाला माना गया है जहाँ जाकर कोई भी आत्मज्ञानी नही लौटता है।[१] एक अन्य स्थान पर छांदोग्य उपनिषद् में सूर्य को ब्रह्म भी कहा गया है।[२] इन उदाहरणो में सूर्य के अनेक तत्त्वों का समाहार विष्णु में भी प्राप्त होता है। विष्णु के अवतार 'कृष्ण' सूर्यवंशी ही थे जो 'सूर्य के समान अभय तथा अमृतवान थे। इसके अतिरिक्त विष्णु को परमात्मा भी कहा गया है। यह सूर्य के ब्रह्म रूप का रूपान्तर सा लगता है जिससे सूर्य के ब्रह्मत्व का विष्णु के परमात्मा में समन्वय भी सम्भावित है। कठोपनिषद् में स्पष्ट रूप से विष्णु को परमात्मा (परमपद) के समान अंकित किया गया है, यथा—

> विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
> सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।।[३]

अर्थात् जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धि-सारथि से युक्त और मन को वश में रखने वाला होता है, वह संसार मार्ग से पार होकर उस व्यापक परमात्मा विष्णु के परमपद को प्राप्त होता है। यह विष्णु का परमधाम मूलतः ईश्वरीय गुणो से युक्त प्रतीत होता है जो प्रकट रूप से 'गोलोक' का पर्याय लगता है। अतः विष्णु के उपर्युक्त गुणों और उनके परमधाम का एक विशिष्ट रूप कृष्ण की भावी धारणा में व्याप्त प्रतीत होता है।

कृष्ण का वर्ण श्याम माना गया है और श्याम वर्ण को ऋग्वेद में 'कृष्ण' भी कहा गया है। यजुर्वेद में भी अग्नि को कृष्ण वर्ण कहा गया है।[४] अतः कृष्ण वर्ण होने से 'कृष्ण' के नाम का स्थिर हो जाना और फिर कृष्ण का 'दावानल' पान करना भी अग्नि का कृष्ण में समाहार माना जा सकता है।[५]

कृष्ण भावना के इन तत्त्वों के अतिरिक्त विष्णु के एक अन्य तत्त्व का समाहार कृष्ण के प्रतीक रूप में प्राप्त होता है। ऋग्वेद १। २२। १२ में

१—प्रश्नोपनिषद् प्रश्न १, पृ० २२ श्लोक १० (उप० खंड १)।

२—छांदोग्योपनिषद् अध्याय ३, खंड १६, पृ० ३४३ श्लोक १ (उप० भा० खड ३)।

३—कठोपनिषद् अध्याय १, वल्ली ३, पृ० ६० श्लोक ६ (उप० भा० खड १)।

४—हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ, पृ० १००-१०१।

५—दावानल पान के प्रतीकार्थ का आगे विवेचन किया जायगा, उपखंड 'ख'।

स्पष्ट कहा गया है 'विष्णुगोपा आदस्यः' अर्थात् विष्णु का सम्बन्ध गायों के साथ भी है।[1] इसके अतिरिक्त इन्द्र के अनेक नाम तथा विशेषण जैसे हरि, केशव, कृष्ण, पति आदि विष्णु के विशेषण भी माने गए हैं। इन नामों का इन्द्र की उपाधियो से च्युत होकर विष्णु की उपाधियों में समन्वित हो जाना इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि विष्णु का परमदेवत्त्व वैदिक काल में ही क्रमशः विकसित हो रहा था। श्री परशुराम जी चतुर्वेदी का इसी से मत है कि तैत्तरीय संहिता में नारायण को 'हरि' कहा गया है जो पहले इन्द्र के लिए प्रयुक्त होता था, पर आगे चलकर यह विष्णु का वाचक शब्द भी हो गया।[2] अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि विष्णु के अवतार रूप 'कृष्ण' में इन सभी तत्त्वों का न्यूनाधिक आरोपण होता रहा है जो पुराणों में अपनी चरमसीमा को प्राप्त हुआ।

कृष्ण भावना के विकास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप का संकेत हमें उपनिषद् में प्राप्त होता है। वह श्रीकृष्ण का उपदेशक रूप है जो 'गीता' में साकार हो सका है। छादोग्योपनिषद् में एक श्लोक आता है कि—

"घोर आंगिरस ऋषि ने देवकी पुत्र कृष्ण को यह यज्ञदर्शन सुनाकर, जिससे कि वह अन्य विद्याओं के विषय में तृष्णारहित हो गया था, कहा—उसे अन्तकाल में इन तीन मंत्रों का जप करना चाहिए—(१) तू अक्षय है (२) अच्युत है और (३) अतिसूक्ष्म प्राण है। तथा उसके विषय में ये दो कथाएँ हैं।"[3] इस कथन में कृष्ण का वह रूप नितान्त स्पष्ट हो जाता है जो उन्हें देवकी का पुत्र घोषित करता है। कृष्ण ने यहाँ पर जो उपदेश या विद्यार्जन घोर ऋषि से ग्रहण किया था, वह यज्ञ-दर्शन था। वैदिक साहित्य में यज्ञ कर्म को भी कहते हैं। अतः कृष्ण ने जो 'कर्म दर्शन' घोर आंगिरस से ग्रहण किया, उसे ही उन्होंने महाभारत काल में अर्जुन को प्रदान किया। कृष्ण ने गीता में जिस दर्शन का प्रतिपादन किया है वह परमात्मा के अच्युत एवं सूक्ष्म रूप का दिग्दर्शन ही है। यह परमात्मा का अच्युत रूप 'कर्मयज्ञ' के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। मेरे विचार से कृष्ण के दार्शनिक रूप का एक स्पष्ट संकेत उपनिषद् के उपर्युक्त कथन में प्राप्त होता है।

अब रही कृष्ण के लीलाधारी रूप की बात, जिसका संकेत वेदों में यदा

१—भागवत सम्प्रदाय, द्वारा बलदेव उपाध्याय, पृ० ७८।

२—वैष्णव धर्म, द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १५-१६।

३—छांदोग्योपनिषद् अध्याय ३, खंड १७, श्लोक ६, पृ० ३३३ (उप० भा० खड ३)

कदा प्राप्त होता है। वेद यह भी घोषणा करता है कि षोडशी प्रभु—यह सोलह कलाओं वाला प्रजापति—प्रजा के साथ क्रीड़ा, रमण या खेल करता है। यजुर्वेद संहिता की पंक्ति है—

प्रजापतिः प्रजया संरराणः।[1]

बृहद्उपनिषद में भी प्रजापति को सोलह कलाओं वाला संवत्सर कहा गया है जिसके द्वारा वह सृष्टि करता है।[2] स्वयं वेद साहित्य में हमें ऐसे संदर्भ प्राप्त होते हैं जो बरबस कृष्ण लीलाओं (व्रज की) के भावी विकसित रूप का स्मरण दिलाते हैं। जहाँ तक व्रजलीलाओं का सम्बन्ध है, इन लीलाओं के अंतराल में कृष्ण का वह रूप सुरक्षित है जो असुर संहारक एवं प्रजापालक का है। उदाहरणस्वरूप ऋ० १०।१६५ में पूतना वध की घटना का संकेत इस प्रकार मिलता है—'पूतना रूपी यह वधकारिणी पक्षिणी (बकी) व्रजस्थ हम लोगों को अभिभव नहीं कर सकी, प्रत्युत उसने स्तनपान करवा कर शिशु की क्षुधा-निवृत्ति की चेष्टा करती हुई स्वमृत्युरूप कृष्ण तनु का स्पर्श किया।[3] 'इस कथन में शिशु का पर्याय कृष्ण ही है जो कृष्ण तनु (वर्ण) के द्वारा व्यंजित होता है। इसी प्रकार पूतना जो एक पक्षिणी रूप है वह आगे चल कर एक राक्षसी के रूप में अवतरित होती है। इसी प्रकार व्रज लीलाओं में शकट भंजन, यमलार्जुन उद्धार आदि का भी संकेत प्राप्त होता है।[4] इन लीलाओं का पूर्ण विवेचन कृष्ण लीलाओं के प्रतीकार्थ के अन्तर्गत यथास्थान किया जायगा।

अतः पुराणों की अनेक लीलाओं का आदितम स्रोत वेद-साहित्य ही है। इस प्रकार कृष्ण के परमात्मा रूप, उनके गोचारण रूप, प्रजापालक रूप आदि का एक स्पष्ट संकेत वेदों तथा उपनिषदों में प्राप्त होता है। यहीं से कृष्ण के ऐतिहासिक रूप का आरम्भ समझना चाहिए जो महाभारत काल में अत्यंत स्पष्ट रूप से मुखर हो सका है।

(२) महाभारत और गीता के तत्त्व

वैष्णव साधना में इन दो ग्रन्थों का विशेष योगदान रहा है जिसने कृष्ण

१—भारतीय साधना और सूर साहित्य से उद्धृत, पृ० २४६ द्वारा मुंशीराम शर्मा।

२—बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय १, ब्राह्मण ५ श्लोक १५ (उप० भा० खंड ४)।

३—कल्याण, मई १९४८, संख्या ५, पृ० ९४९ पर पं० नीरजाकान्त चौधरी देव शर्मा का लेख 'वेदों में व्रजलीला'।

४—वही, पृ० ९४७।

के प्रति एक व्यापक अर्थ का समन्वय किया। महाभारत में जिस भक्ति एवं उपासना का विस्तार श्रीकृष्ण के प्रति हुआ, उसी का संकेत हमें पांचरात्र में प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में पांचरात्र मत में 'वासुदेव' को 'परम परमेश्वर' अथवा ब्रह्म माना गया है। कृष्ण-वासुदेव की मिलित अभिव्यक्ति में 'परम परमेश्वरत्व' और भक्ति-भावना का समन्वय लक्षित होता है। उपास्य की यह भावना जब वासुदेव की भावना से समन्वित हुई तब वैदिक काल की कृष्ण भावना (विष्णु रूप में) के समस्त गुण 'वासुदेव-कृष्ण' पर आरोपित होने लगे।[1] इस प्रकार कृष्ण के प्रतीक रूप में और भी अर्थ-विस्तार सम्भव हो सका।

महाभारत में जिस भक्ति का स्थान है वह भावात्मक अधिक है। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि महाभारत के शान्ति पर्व में पाँचरात्र या सत्वत् मत का जो विवरण मिलता है उसमें वासुदेव और नारायण दोनों नाम आते हैं। अतः महाभारत में नारायण, वासुदेव-कृष्ण और विष्णु की समस्त धारणाएँ कृष्ण की धारणा में प्राप्त होती हैं जो प्रतीकात्मक दृष्टि से सर्वथा संभाव्य है। नारायण दो शब्दों 'नर-अयन' की संधि से निर्मित हुआ है जिसका प्रतीकार्थ यही है कि जो समस्त प्राणियों (नर) में अपना समान रूप से घर किए हुए है (अयन)। नारायण की यह सर्वव्याप्ति की भावना, विष्णु का समावय तत्त्व (Harmonizing Element) और वासुदेव का भक्ति-तत्त्व—ये सभी तत्त्व भावी कृष्ण की धारणा को स्थिर कर सके।

पांचरात्र में वासुदेव को 'परम अद्वय शक्ति' का रूप माना गया है। वह पृथ्वी, स्वर्ग तथा अंतरिक्ष है, इसी से वह दामोदर है। गो अथवा पृथ्वी को वह ऊपर ले गया, इसी से वह गोविन्द है। कृष्ण के ये सब वाचक शब्द-प्रतीक महाभारत के शन्तिपर्व में प्राप्त होते हैं। इस वासुदेव के विवेचन के आधार पर हम सर चार्ल्स इलियट का यह मत पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं कर सकते हैं कि पांचरात्र मत कृष्ण के उद्भव से सम्बन्ध रखता है और वह कृष्ण के प्रति भक्ति-भावना को मुख्य स्थान नहीं प्रदान करता है।[2] जहाँ तक कृष्ण के भावना-तत्त्वों के उद्भव का प्रश्न है, उनका आदितम 'मुख्य रूप' हमें वेदों तथा उपनिषदों में प्राप्त हो जाता है जिस पर हम प्रथम ही

१—सूर और उनका साहित्य, द्वारा डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० १८६।
२—हिंदूइज्म एंड बुद्धिज्म, द्वारा चार्ल्स इलियट, पृ० १६८।

विचार कर चुके हैं। जहाँ तक भक्ति का सम्बन्ध है वह पाचरात्र का एक मुख्य तत्त्व है। स्वयं पाणिनि ने 'वासुदेव' नाम को भक्तिपूर्ण तत्त्व का वाचक शब्द माना है और जो व्यक्ति वासुदेव देवाधिदेव की उपासना करते थे, उन्हें भागवत की संज्ञा प्रदान की जाती थी।[1] यहाँ तक कि 'गीता' में श्रीकृष्ण अपने को भागवत भी कहते हैं।

इस भक्ति का एक अंतर्दृष्टिपरक रूप हमें 'गीता' में प्राप्त होता है। वहाँ भक्ति केवल भावात्मक न होकर ज्ञानात्मक हो गई है। यही कारण है कि गीता में ज्ञान और भक्ति का समान महत्त्व है जिसे 'योग' की संज्ञा दी गयी है। इसके अतिरिक्त तीसरा तत्त्व कर्म है। इस प्रकार कृष्ण की भावना में ज्ञान, भक्ति और कर्म का सुन्दर विकास उनके दार्शनिक, भक्तवत्सल (माधुर्य) एवं कर्मयोगी रूपों में देखा जा सकता है। इतना होने पर भी कृष्ण ने भक्ति योग को प्रमुख स्थान दिया है जो सब विद्याओं तथा विज्ञानों में महान् है।[2] परन्तु कृष्ण द्वारा प्रतिपादित यह भक्ति योग ज्ञान की सापेक्षता रखता है। इसी से गीता में स्पष्ट कहा गया है कि सब इच्छाओं को त्याग कर एक मन प्राण से जो मेरी उपासना करता है, वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय होता है।[3] एक कर्मयोगी के लिए कर्म का महत्त्व भक्तिपूर्ण ही होता है, वह भक्तिमय तल्लीनता से कर्म करता है और फल की इच्छा से सर्वथा विलग रहता है।[4] अतः कर्म के लिए भी भक्ति की परमावश्यकता है। तभी समत्व भाव की परिणति होती है। इन सब तत्त्वों ने कृष्ण की भावना में एक क्रांति का समावेश कर दिया, और 'वह' एक दार्शनिक एवं कर्मयोगी के रूप में हमारे सामने अवतरित हुए।

कृष्ण की धारणा में अवतार तथा लीला के तत्त्वो के संकेत भी गीता में प्राप्त होते हैं। अवतार के वैज्ञानिक विश्लेषण के अन्तर्गत हम गीता के एक श्लोक के उदाहरण से यह दिखा आये हैं कि वहाँ पर अवतार की भावना (दिव्यात्मा का अवरोहण) का एक स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है।[5] गीता में

१—वैष्णविज्म, शैविज्म एंड माइनर सेक्ट्स द्वारा भंडारकर पृ० ३४।

२—गीता रहस्य द्वारा बालगंगाधर तिलक पृ० ५८१।

३—गीता, विज्ञान योग श्लोक १७, पृ० २२७।

४—वही, सांख्य योग, पृ० ६८ श्लोक ४८।

५—दे० अध्याय षष्ठ, उपखंड 'क'।

श्रीकृष्ण का स्वरूप इसी अवतार भावना के कारण एक साथ लौकिक और अलौकिक क्षेत्रों को अपने अन्दर समेटे हुए है। यही कारण है कि गीता में कृष्ण को पुरुषोत्तम' या 'भगवान्' भी कहा गया है जो अक्षर ब्रह्म तथा अक्षर पुरुष (परमात्मा) से भी महान् है। पुराणों की भावभूमि में कृष्ण के 'भगवान रूप' का एक सुन्दर प्रतीकात्मक निर्देश प्राप्त होता है। गीता का पुरुषोत्तम (भगवान)[१] रूप सत्य में कृष्ण को एक अत्यन्त उच्चतम क्षेत्र का प्रतीक बना देता है। यही नहीं गीता में श्रीकृष्ण ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि—

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।[२]

मै ही एक मात्र पुरुषोत्तम हूँ—वेदों और ब्रह्मांड में मैं ही भगवान रूप हूँ जिससे यह ध्वनित होता है कि श्रीकृष्ण की 'भगवान' भावना का विकास वेदों के अंतराल में ही हुआ है। कृष्ण के इस पुरुषोत्तम अथवा भगवान् रूप के साथ गीता में कृष्णवाचक अन्य शब्दों का भी स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। गोविन्द, वासुदेव और श्यामसुन्दर ऐसे ही शब्द हैं जो कृष्णवाचक माने गए है। अर्जुन ने एक स्थान पर कृष्ण को गोविन्द भी कहा है जो समस्त इन्द्रियों का स्वामी है।[३] एक स्थान पर कृष्ण ने अपने को 'श्यामसुन्दर' की भी संज्ञा दी है जो भक्ति साहित्य की एक मुख्य प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। वहाँ कृष्ण ने कहा है—

जो व्यक्ति मेरी योगमाया शक्ति से आवृत रहते हैं, उनके सम्मुख प्रकाशित नहीं होता हूँ। इसी कारण से इस संसार के पुरुष मेरी मायाशक्ति से अज्ञान में पड़े रहने के कारण, मेरे अव्यय चिर सुन्दर मानवीय श्यामसुन्दर रूप की अनुभूति प्राप्त नहीं कर पाते हैं।[४] इसी चिर सुन्दर मानवीय रूप की एक दिव्य भावना का विकास भक्ति साहित्य में सम्पन्न हो सका जो कवियों की भावभूमि को युगों-युगों से आन्दोलित करता आ रहा है। अस्तु, कृष्ण के प्रतीक रूप के प्रमुख तत्त्वों का एक समष्टि रूप हमें वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है जो निम्न तालिका के द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है—

१—वही, पुरुषोत्तम योग, पृ० ५०४ श्लोक १७।

२—वही, पुरुषोत्तम योग, पृ० ५०५, श्लोक १८।

३—श्रीमद्भगवद्गीता, अर्जुन विषाद योग, पृ० २० श्लोक ३२।

४—वही, पृ० २७० श्लोक २५।
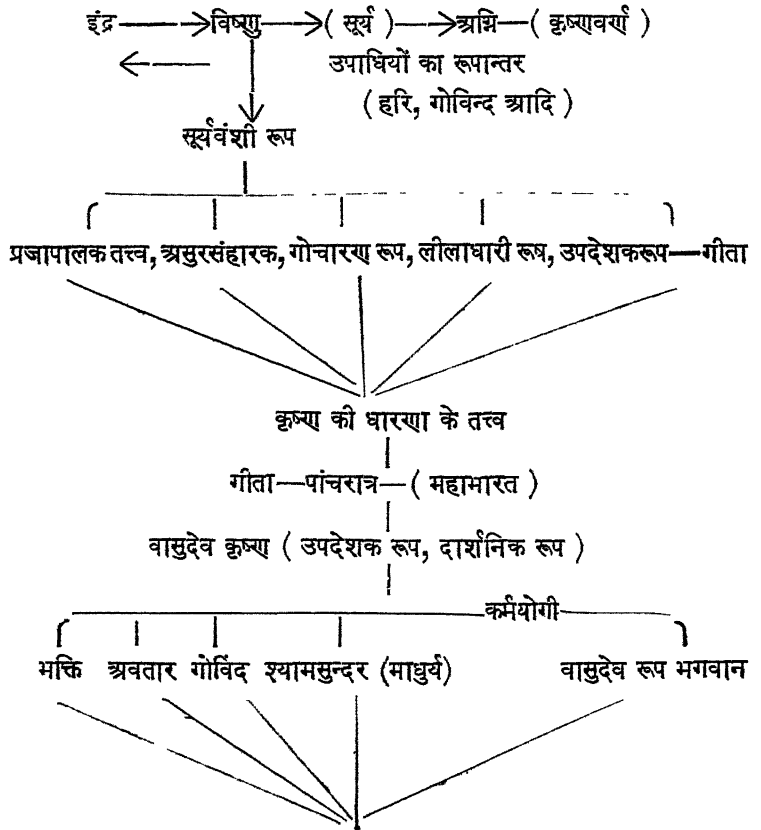
(३) आदिम जातियों के तत्त्व

कृष्ण के गोचारण एवं बाललीला रूप का विकास कुछ आदिम जातियों की कृष्ण के प्रति पूजा भावना के रूप में खोजा जा सकता है। इसी के आधार पर श्री भंडारकर ने वासुदेव कृष्ण और धेनुचारी कृष्ण में अन्तर माना है।[1] परन्तु उपर्युक्त वैदिक संदर्भों के प्रकाश में मेरा अपना यह विचार है कि लीलाधारी बालकृष्ण का जो वैदिक स्वरूप प्राप्त होता है, उसी का विकास भावी कालों में अनेक बाह्य प्रभावों के सम्मिश्रण से होता रहा है जो

१—वैष्णविज़्म, शैविज़्म एंड माइनर रिलीजस कल्ट्स, द्वारा आर० जी० भंडारकर, पृ० ३५-३६।

अंत में पुराणों एवं काव्यों में अपनी चरमावस्था में प्राप्त होना है। कृष्ण के इसी बाल लीलाधारी रूप का जो अद्भुत विस्तार प्राप्त होता है, उसमें 'कुछ' आदिमजातियों का भी योग माना जा सकता है। इस दशा का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि इन जातियों ने कृष्ण के बाल जीवन की परम दिव्यता को विकसित किया।

यह ठीक है कि बालक कृष्ण का न तो पंतजलि ने और न नारायणीय मत ने कहीं पर भी ज़िक्र किया है। परन्तु वासुदेव की धारणा के साथ यह भी संकेत प्राप्त होता है कि उनका अवतार कंस के संहार के लिए ही हुआ था। कहीं पर भी वासुदेव के उस रूप का संकेत नहीं प्राप्त होता है जो गोकुल में अनेक राक्षसों का वध करते हैं।[१] श्री भंडारकर जी का यह मत उसी सीमा तक सत्य माना जा सकता है जिस सीमा तक हम वासुदेव की भावना को वैदिक साहित्य से अलग करके देखते हैं। पूर्व विश्लेषित वैदिक साहित्य में हमें वासुदेव का संकेत मिल जाता है। यही नहीं, अनेक बाल-लीलाओं का भी स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। महाभारत में आकर वासुदेव का कृष्ण से तादात्म्य ही हो गया है। अतः यह बहुत सीमा तक सम्भव है कि बालकृष्ण की लीलाओं का विशद रूप उस समय न प्राप्त होता हो, पर उनकी परम्परा अवश्य किसी न किसी रूप में वर्तमान थी। तभी तो इन आदिमजातियों ने (आलावाड़ तथा आभीर) कृष्ण की बाल लीलाओं का, बाल गोपाल की उपासना का, एक अनुष्ठानिक रूप सामने रखा है। अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि बालकृष्ण की दिव्य भावना का चतुर्मुखी विकास अभीरों तथा आलावाड़ों की भक्ति भावना के कारण हो सका। इन जातियों में बाल कृष्ण को 'ईश्वर' के रूप में पूजा जाता था। कालांतर में बालक कृष्ण के दिव्य रूप का एकाकार वासुदेव कृष्ण की वैदिक परम्परा से क्रमशः हो गया। इस प्रकार भागवत धर्म के भक्तिपरक कृष्ण की धारणा का विकास सम्भव हो सका।

आभीरों के बालकृष्ण की भावना के साथ आडावारों का भक्ति-दर्शन भी कृष्ण के प्रतीक रूप को विस्तृत करने में सहायक हो सका। विष्णु को वासुदेव नारायण, भागवत पुरुष तथा लीलाधारी कृष्ण आदि नामों से सम्बोधित होना इन भक्तों में प्राप्त होता है।[२] यही नहीं, पाचरात्र में पंच देवोपासना

१—वैष्णविज़्म, शैविज़्म आदि, पृ० ३६।

२—अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, भाग १, पृ० ३८ द्वारा दीनदयालु गुप्त।

की जो महत्ता प्राप्त होती है, वही महत्त्व आडावारों में भी मिलता है। श्री वारदाचारी ने यह भी मत रखा है कि आडावार भक्तों ने वैदिक तथा आगम परम्पराओं का अपनी भावपूर्ण भक्ति में समन्वय प्रस्तुत किया है।[1] कृष्ण के प्रति व्यक्तिगत उपासना का रूप इन्हीं भक्तों की देन है। आडावार लोग मन्दिरों में उपासना नहीं करते थे। वे अपने गृहों में कृष्ण की छोटी सी मूर्ति के सामने भक्तिपूर्ण गीतों का गायन करते थे और कृष्ण की मूर्ति को अलंकृत भी करते थे। कृष्ण की इस मूर्ति रूप में वे दिव्य बालक की अनुभूति प्राप्त करते थे। इसके अतिरिक्त बालक कृष्ण और उनकी माता के प्रेम रूप का विस्तार भी इन्हीं भक्तो में प्राप्त होता है। इस प्रकार इन भक्तों ने कृष्ण के माधुर्यपूर्ण रूप का शिलान्यास किया जो पुराणों में विकास प्राप्त कर सका।

(४) पुराणों के तत्त्व

कृष्ण की धारणा के सभी तत्त्व जो वैदिक साहित्य में विकास प्राप्त कर रहें थे, वे सभी पौराणिक साहित्य में अपने ऐश्वर्यशाली रूप में प्राप्त होते हैं। इसी तात्त्विक रूप के कारण कृष्ण का 'ब्रह्मत्व' पुराणों में व्याप्त प्रतीत होता है। कृष्ण का यह पौराणिक रूप ही वैष्णव मत का 'साध्य' है।

श्रीकृष्ण का इष्टदेवत्त्व रूप भागवत में प्राप्त होता है। परन्तु उसका आदि रूप हमें महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में भी प्राप्त होता है।[2] दूसरी ओर बालकृष्ण के इष्टदेव रूप का आभास आभीरों में तथा आडावारों में भी मिलता है। अतः पुराणों में आते आते कृष्ण का यह 'इष्टदेव' रूप अपने पूर्ण विस्तार में प्राप्त होता है। महाभागवतकार ने इसी इष्टदेवत्त्व की भावना में 'परब्रह्मत्व' की भावना का भी समन्वय कर 'उसे' एक 'निरपेक्ष तत्त्व' तक पहुँचाने की कोशिश की। कवियों ने कृष्ण के इष्टदेवत्व के चित्रण में इसी दृष्टिकोण का आश्रय लिया है।

कृष्ण-चरित्र का सर्वांगपूर्ण विस्तार पद्म, हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त्त और भागवतपुराणों में प्राप्त होता है। ब्रह्म के तीन प्रकार के अवतारों का वर्णन मिलता है—गुणावतार, पुरुषावतार एवं लीलावतार। जहाँ तक पुराणों का सम्बन्ध है, उनमें श्रीकृष्ण के लीलावतार की ही प्रमुखता है। हरिवंश पुराण

१—एनल्स आफ़ भडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट वाल्यूम २३ पृ० ६२१ पर के० सी० वारदाचारी का लेख 'सम कान्ट्रीब्यूशन आफ़ आलावार्स'।

२—सूर और उनका साहित्य, द्वारा डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० १७६।

में कृष्ण को विष्णु के अवतार रूप मे ग्रहण किया गया। वहाँ पर श्रीकृष्ण के लौकिक एवं श्रृंगारी रूपों के ही अधिक दर्शन होते है।[१] इसके अतिरिक्त बाल गोपाल की अनेक लीलाएँ भागवत, ब्रह्मवैवर्त्त तथा पद्मपुराणों में प्राप्त होती हैं। इन पुराणों में कृष्ण लीलाओं का और स्वयं कृष्ण के आध्यात्मिक पक्ष का चित्रण हुआ है। कृष्ण के आध्यात्मिक पक्ष का सुन्दर विकास भागवत मे प्राप्त होता है जहाँ उनके परब्रह्म रूप के दर्शन होते हैं।[२] दूसरी ओर, विष्णुपुराण में जनार्दन देव को ही सृष्टि का रचयिता, पालनकर्त्ता एवं संहारक कहा गया है और वे ही स्वयं जगत् रूप माने गये है।[३] कृष्ण की धारणा में उनके परब्रह्म रूप में सृष्टिकर्ता आदि के तत्त्व भी समन्वित प्राप्त होते हैं।

कृष्ण का सबसे प्रमुख तत्त्व उनका लीलाधारी माधुर्यपरक रूप है। उनके इस रूप का भी पूर्ण विकास पुराणों में प्राप्त हो जाता है। इसी माधुर्य भाव के कारण उनका व्यक्तित्व भी आकर्षणपूर्ण चित्रित किया गया है। स्वयं कृष्ण शब्द की संधि करने पर दो अक्षर कृष्-ण प्राप्त होते हैं। 'कृष्' का अर्थ ही है 'आकर्षण से पूर्ण'। परन्तु यह आकर्षण-शक्ति ऐसी है जो अन्य लौकिक आकर्षणों का तिरोभाव कर देती है और केवल मात्र एक ही आकर्षण शेष रह जाता है।[४] यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो गोपियों का 'प्रेम' इसी आकर्षण के कारण केवल मात्र 'कृष्णमय' ही था जिन्होंने उसके सामने अन्य लौकिक प्रलोभनों तथा सम्बन्धों के आकर्षणों को नितान्त त्याज्य समझा था।

इस आकर्षण एवं माधुर्य भाव नें कृष्ण की धारणा में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व आनन्द का समावेश किया। ईश्वर का सत्य रूप, भागवत के अनुसार, 'आदि आनन्द तत्त्व' का रूप है जो परमानन्द तथा सुख का नित्य स्रोत है।[५] इसी से कृष्ण की नित्य लीला अनन्त आनन्द तत्त्व से युक्त है। इसी आनन्द को प्रसारित करने के लिए वह अपनी लीला को प्रकट करते हैं। यही रस

१—भारतीय साधना और सूर साहित्य, डा० मुशीराम, पृ० १५८।

२—हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य पर पुराणों का प्रभाव, द्वारा डा० शशि अग्रवाल, पृ० ५७ (थीसिस प्र० वि० १९५७)।

३—वही, पृ० ५३।

४—द फ़िलासफ़ी आफ़ वैष्णव रिलीजन, द्वारा जी०एन० मल्लिक, भाग १, पृ० १०८।

५—ए हिस्ट्री आफ़ इंडियन फ़िलासफ़ी, द्वारा दासगुप्ता, पृ० १४० भाग ४।

रूप ब्रह्म का स्वरूप है। कृष्ण की अधिकाश लीलाओं में ब्रह्म के इसी रस रूप का प्रतीकात्मक विकास दृष्टिगत होता है। पुराणों में कृष्ण लीलाओं का वर्णन भी इसी दृष्टिकोण से हुआ है जिसे कवियों ने भी ग्रहण किया है। भक्ति साहित्य में इस रतिभावजन्य आनन्द को मधुर रस कहते है और लौकिक पक्ष में इसे शृंगार की संज्ञा दी जाती है। मधुररस में आध्यात्मिक क्रिया का योग रहता है जबकि शृंगार रस में भौतिक या लौकिक पक्ष की प्रधानता रहती है। इसी से राधा तथा गोपियों को श्रीकृष्ण की आनन्दपूर्ण या रसपूर्ण सिद्धिया कहा गया है जिनका अन्योन्य सम्बन्ध ब्रह्म, आह्लादिनी शक्ति और जीवात्माओं का वह सत्य है जो दार्शनिक शब्दावली में अद्वैत-भावना की रसपूर्ण व्यजना करता है।

(५) काव्य रूप

भारतीय भाषा काव्यों में कृष्ण के माधुर्यपरक रूप का विस्तार (लीला) प्राप्त होता है। १३ श० से लेकर १७शताब्दि तक कृष्ण के माधुर्य एवं आनंदपरक रूपों की दार्शनिक परिणति अनेक धार्मिक संप्रदायों में (यथा रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्क, विष्णुस्वामी) प्राप्त होती है।

आचार्य बल्लभ ने कृष्ण के तीन रूपों का संकेत किया है। वे हैं—परब्रह्म रस रूप, अक्षर ब्रह्म, और अंतर्यामी ब्रह्म। अक्षर धाम ही उनका गोलोक है।[1] इसका विवेचन पीछे किया जा चुका है। सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण के इसी रूप का न्यूनाधिक चित्रण किया है। यही उनका प्रतीक रूप है।

भागवतकार को कृष्ण का अलौकिक रूप दिखाना ही अभीष्ट है। सूरदास अपने आराध्य को एक ऐसी शक्ति के रूप में चित्रित करना चाहते थे जो 'ब्रह्मत्व' एवं 'ईश्वरत्व' दोनों की भावनाओं को एक साथ व्यक्त कर सके—वह मानवीय धरातल पर जीवनसापेक्ष भी हो सके। सत्य में, सूर के कृष्ण इसी तथ्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। तभी तो सूर ने अपने 'प्रभु' को पर-ब्रह्म के साथ साथ सगुण रूप में भी ग्रहण किया है—

सूरदास प्रभु ब्रह्म सनातन, सो सोवत नँदधामहिं।[2]

इसके अतिरिक्त उनके श्याम रूप और अरूप दोनों से परे हैं—वे नामरहित है

१—अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय डा० दीनदयालु गुप्त, खंड २, पृ० ४०१—४०२।
२—सूरसागर सार, पृ० ४४, सं० धीरेंद्र वर्मा।

सुरूप रूप बिनु नाम बिना श्री श्याम हरी ।[1]

इस कथन में प्रथम अध्याय में वर्णित 'ब्रह्म' के रूप का सम्पूर्ण विवेचन प्राप्त होता है। वह आदि तत्त्व है, अविगत है, आदि-ओंकार है और सगुण निर्गुण से परे है। ऐसे अद्भुत 'प्रभु' का मर्म ही कैसे समझा जा सकता है ? तभी तो सूर अपने 'इष्टदेव' का मर्म नहीं समझ पाते हैं, वह तो जगत का सृजन, पालन और संहार सभी कुछ करते हुए प्राप्त होते हैं। 'उन्हीं' से समस्त सृष्टि पानी के बुलबुले के समान उद्भासित होती है और अंत में फिर 'उन्हीं' में निलय हो जाती है।[2]

कृष्ण की धारणा में इस ब्रह्म रूप के समाहार के अतिरिक्त दूसरा प्रमुख तत्त्व उनका आनंदपरक या रस-रूप 'केलि' का स्वरूप है। सूरदास ने परात्पर ब्रह्म को नित्य वृंदावन में लीला करने वाले कृष्ण के रूप में ही ग्रहण किया है। सूर ने ही क्या, सभी सगुण भक्ति कवियों ने कृष्ण के इसी 'रस रूप लीला' का सविस्तार वर्णन किया है। एक स्थान पर सूर ने कहा है—

अच्युत रहै सदा जलसाई। परमानन्द परम सुखदाई।[3]

लीला की भावना के साथ इसी आनंद रूप रस की पूरी परिणति प्राप्त होती है। इसी से सूर के श्याम पूर्ण 'रस-राशि' हैं—

श्याम सुख-रासि, रस-राशि भारी ।।[4]

श्याम का यह 'रस-राशि' रूप सूर का इष्टदेव है। इसी से डा० ब्रजेश्वर वर्मा का मत है कि सूर के इष्टदेव कृष्ण राधा के साथ इसी युगल रस रूप को सम्मुख रखते हैं।[5] परन्तु इस इष्टदेव के रूप में केवल प्रेम-भक्ति एवं माधुर्य भाव की ही परिणति है, उसमें किसी भी प्रकार के तात्त्विक संदर्भ की विद्यमानता नहीं है।[6] डा० ब्रजेश्वर वर्मा का यह अंतिम मत प्रतीक धारणा की दृष्टि से सर्वथा अमान्य है। कृष्ण के इस रस रूप इष्टदेव का स्वरूप मूलतः एक तात्त्विक अर्थ का द्योतक है। पीछे के पृष्ठों के विकास-क्रम से

१—सूरसागर (सभा), पृ० ३८।११५।

२—सूरसागर (सभा), दूसरा खंड, पृ० १७१३।४३०३।

३—सूरसागर (सभा), दशम स्कंध, पृष्ठ २५६।३।

४—वही (सभा), दूसरा भाग, पृ० ८७७।१८०३।

५—सूरदास, द्वारा डा० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० १४७।

६—वही, पृ० १४७।

यह स्वयं साद्य है कि परमानंद लीलाधारी कृष्ण की भावना की पृष्ठभूमि में वेदों, उपनिषदों तथा पुराणो की दार्शनिक परम्परा परिव्याप्त है।

तीसरा तत्त्व जो कृष्ण के प्रतीक रूप में मुख्य है, वह है उनका भक्तवत्सल रूप जिसे सभी भक्त कवियों ने ग्रहण किया है। उनका अवतार भक्तों के सुख के लिए ही होता है। हरि लीला का प्रमुख कारण भक्तों को सुख देना है और धरती पर अधर्म का नाश करना है। 'वह' भक्तों का दुख निवारण भी करते हैं, स्वयं सूर के शब्दों में—

सूरदास प्रभु ताप निवारन, हरत संत दुख पीर के।[1]

यह त्रिगुण ताप ही है जिसके निवारणार्थ 'प्रभु' का अवतार होता है। दासो तथा भक्तों के हेतु उन्होंने सब कुछ त्याग कर दिया, यहाँ तक कि बैकुंठ, गरुड और लक्ष्मी को भी।[2] यही मत मीरां का भी है जिनके अनुसार प्रभु ने 'भगत कारण' ही 'नर हरि' का रूप धारण किया है।[3]

अतः भक्तिकाव्य में कृष्ण के प्रतीक रूप में इन सभी तत्त्वों का समाहार प्राप्त होता है जो भक्त की मनोवृत्ति के लिए परमावश्यक है—प्रभु की पर-ब्रह्मता, उनकी माधुर्यपूर्ण लीला और उनका भक्तवत्सल रूप, जिसका न्यूना-धिक समन्वय अष्टछाप के प्रत्येक कवि ने कृष्ण की भावना में किया है।

राधा का प्रतीकार्थ-विकास

कृष्ण की धारणा के समान राधा भावना में अनेक अर्थ तत्त्वों का क्रमिक समाहार होता गया है। राधा धारणा के विकास में वेदों से पुराणों तक जो तत्त्व अन्तर्भूत होते रहे, उनका एक क्रमिक अनुशीलन करने का प्रयत्न यहाँ पर होगा। अतः विवेचन की सुविधानुसार हम राधा के विकास को निम्न दशाओं में विवेचित कर सकते हैं—

(१) वैदिक साहित्य के तत्त्व
(२) पांचरात्र के तत्त्व
(३) पुराणों के तत्त्व
(४) काव्य के तत्त्व

१—सूरसागर सार, मथुरा-गमन, पृ० १२१।
२—सूरसागर, पृ० ८।१०।
३—मीरांबाई की पदावली, पृ० १२०।६१।

(१) वैदिक साहित्य के तत्त्व

वेदों में राधा का वर्णन 'रेया' या 'राधस्' के अर्थ में प्राप्त होता है। 'राधस्' का अर्थ धन या अन्न होता है। अग्नि के अर्चन में पुरुष रेया या धन प्राप्त करता है। इसी से अग्नि को रयिपतियों में श्रेष्ठ कहा गया है।[१] उपनिषदों में भी रयि तथा प्राण का संकेत प्राप्त होता है, वहाँ पर कहा गया है—उससे पिप्पलाद मुनि ने कहा—प्रसिद्ध है कि प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा वाले प्रजापति ने तप किया। उसने तप करके रयि तथा प्राण का जोड़ा उत्पन्न किया, और सोचा कि ये दोनों ही मेरी अनेक प्रकार की प्रजा उत्पन्न करेंगे।[२] इस कथन में रयि और प्राण क्रमशः सोमरूप अन्न और भोक्ता अग्नि के प्रतीक हैं जो सृष्टि के मूलतत्त्व माने गये हैं। अन्न से वीर्य उत्पन्न होता है जो अग्नि के द्वारा क्रियाशील होता है। यही अग्नि और अन्न का मिथुनपरक तात्त्विक अर्थ है। एक अन्य स्थान पर रयि को चंद्रमा और प्राण को सूर्य कहा गया है।[३] प्रजापति को मास भी कहा गया है। उसका कृष्णपक्ष ही रयि है और शुक्ल पक्ष प्राण है।[४] इन सभी कथनों में अन्न और अग्नि (रयि और प्राण, चंद्र और सूर्य) का मिथुनपरक अर्थ ही स्पष्ट होता है। जब कि राधा को अन्न कहा गया है, तो अग्नि, जो कृष्णवर्ण है, उसे कृष्ण भी कहा गया है (देखो कृष्ण के प्रतीक में)। अग्नि मनोवाछित कामनाओं को बरसाने वाला वृष तथा भा अर्थात् ज्योतिर्मयी भानु है अर्थात् वृषभानु है। यही वृषभानु राधा का एक वाचक शब्द ही माना गया है।[५] कृष्ण की शोभा अग्नि की ज्वालाओं (राधस्) से होती है, क्योंकि रात्रि में अग्नि ही प्रकाश को प्रसारित करती है। इस दृष्टि से राधा और कृष्ण अन्योन्यपूरक तत्व हैं जो सृष्टि के आधारभूत तत्त्व माने जा सकते हैं। सृष्टि के मिथुनपरक तत्त्व होने के कारण रयि तथा प्राण 'शक्ति' के रूप भी हैं। सत्य में, अन्न ही वह शक्ति है जो वीर्य को उत्पन्न कर सृष्टि का कार्य चलाती है और अग्नि उस अन्न को क्रियात्मक रूप देता है। उपनिषदों में इसी से प्रजापति को सृष्टिकर्ता भी कहा गया है जो

१—हिंदू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ, पृ० १०२।

२—प्रश्नोपनिषद् प्रश्न १ पृ० १४ श्लोक ४ (उप० भाष्य, खंड १)।

३—वही, प्रश्न १, पृ० १५ श्लोक ५ (उप० भाष्य, खड १)।

४—वही, प्रश्न १, पृ० २५ श्लोक १२ (उप० भाष्य, खड १)।

५—हिंदू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ, पृ० १०२।

रयि तथा प्राण के द्वारा सृष्टि करते हैं। यही कारण है कि प्रमुख भारतीय देवताओं के साथ उनकी मूलशक्तियों (देवी) की भी कल्पना की गई है। विष्णु के अवतारों में भी इसी क्रिया-शक्ति का रूपांतर हुआ है और कृष्णावतार के साथ श्री का रूपांतर 'राधा' के रूप में माना जाता है। अतः यह 'शक्ति-तत्त्व' भारतीय दर्शन में इस प्रकार अन्तर्भूत है कि परम तत्त्व ब्रह्म की धारणा भी इस क्रिया-शक्ति के बिना अपूर्ण मानी जाती है। अतः राधा की भावना को हृदयंगम करने के लिए इसी 'शक्ति-तत्त्व' के रूप विकास का क्रम अपेक्षित है।

यह शक्ति तत्त्व का रूप हमें आर्येतर जातियों की 'देवी पूजा' में प्राप्त होता है। देवी-पूजा की भावना वैदिक मनीषा को शक्तिवाद के रूप में ग्रहण करनी पड़ी। ऋग्वेद का मातृसत्ता-युग इसी शक्तिवाद की आदिम प्रवृत्ति कहा जा सकता है।[1] इसका एक बिखरा हुआ रूप ऋग्वेद का 'देवी सूक्त' है जो मेरे विचार से शक्तिवाद का मूल बीज है। इसी देवी सूक्त के विवेचन में कहा गया है कि यह शक्ति ही परमामृता देवी है। यही नहीं, इस सूक्त में 'श्री' एवं 'विष्णु' के मिथुन रूप का भी संकेत प्राप्त होता है। सत्य में, यह श्री का शक्ति रूप महाभारत और वाल्मीकीय रामायण में भी प्राप्त होता है—'शोभायिष्यामि भर्तारं यथा श्रीविष्णुमव्ययम्'। सुन्दरकाण्ड में सीता को 'श्री' या 'लक्ष्मी' भी कहा गया है।[2]

(२) पांचरात्र में शक्ति तत्त्व

पाचरात्र में शक्ति का मानवीकरण श्री या लक्ष्मी के रूप में प्राप्त होता है। जैसा कि कृष्ण के प्रतीक रूप के अन्तर्गत कहा गया है, पांचरात्र में वासुदेव कृष्ण ही परम देव हैं—ब्रह्म स्वरूप हैं। इन्हीं वासुदेव के अंदर प्रथम शक्ति 'ईक्षण' का बीज उत्पन्न हुआ। यह वासुदेव की स्वशक्ति 'ईक्षण' ही शक्ति तत्त्व का द्योतक है। भगवान वासुदेव की क्रियात्मक शक्ति ही सुदर्शन है जो नारायणी का प्रतीक है। पाचरात्र में लक्ष्मी रूपा शक्ति को जगत् की योनि भी कहा गया है जो स्पष्ट रूप से लक्ष्मी के मिथुनपरक एवं सृष्टिपरक तथ्य की ओर संकेत है।[3] इसी प्रकार विष्णु की क्रियात्मक शक्ति को उन्मेष-

---

१—श्री राधा का क्रम-विकास, द्वारा शशिभूषण दास गुप्त, पृ० ८।

२—वही, पृ० २०—२१।

३—वही, पृ० २८।

हीन दशा में 'विदु' कहते हैं जो शब्द का पर्याय है। शब्द सृष्टिव्यापी, नानावर्णविकारिणी साक्षात सोम रूपा यह जो शक्ति है, वही लक्ष्मी या शब्दमयी पराशक्ति है। लक्ष्मी का यह रूप पांचरात्र में स्पष्ट है जो राधा की भावना में एक सबल योग प्रदान कर सका।

(३) पुराणों में राधा का स्वरूप

पुराण साहित्य अत्यन्त विस्तृत है, उसमें हमें देवी-शक्ति, श्री अथवा राधा के भी स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं। सूक्ष्म रूप में कहा जा सकता है कि पुराण साहित्य में राधा तत्त्व का समावेश एक समन्वयात्मक क्रम में प्राप्त होता है। मेरे विचार से राधा की धारणा को इनमें से किसी एक ही तत्त्व से नहीं जोड़ा जा सकता है, क्योंकि धर्मशास्त्र एवं जन-परम्परा से प्राप्त राधा का एक अपना दूसरा ही व्यक्तित्व है। यह कहना अधिक समुचित होगा कि राधा भाव के विकास-क्रम में इन सभी तत्त्वों का न्यूनाधिक समन्वय युगानुसार होता रहा।

ऋग्वेद के देवी सूक्त का एक दूसरा ही रूप पुराणों में प्राप्त होता है। मार्कण्डेय पुराण के ८१-९३ अध्यायों तक का विस्तार देवी माहात्म्य से भरा हुआ है। यहाँ पर जो देवी के स्रोत हैं उनका अधिकांश भाग उपनिषदों के समान ही प्राप्त होता है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का यह विश्लेषण है कि देवी माहात्म्य के वर्णन में जो प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं वे अधिकतर वैदिक सृष्टि विद्या की व्याख्या करते हैं। महामाया, महादेवी, महाकाली आदि सब शक्ति की ही प्रतीक हैं।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदों तथा उपनिषदों का शक्ति रूप ही पुराणों में विस्तार प्राप्त करता है। इन पुराणों में शक्ति के व्यंजनार्थ अनेक नारी रूपों की कल्पना भी की गई है। इसी से देवी शक्ति तथा महामाया आदि शक्तियाँ एक ही परमशक्ति के विविध रूप हैं। कुछ पुराणों में इसी शक्ति को श्री की संज्ञा दी गई है।

इस महामाया या श्री की भावना का समन्वय राधा-भावना में भी लक्षित होता है। पुराणों में कहीं कहीं पर पुरुष और प्रकृति को विष्णु शक्ति के अंतर्गत माना गया है। 'माया' विष्णु की अचिन्त्य अनन्त शक्ति है। प्रकृति उसी का एक विशेष रूप या विस्तार है। इसे ही श्री अरविन्द ने

१—हिन्दुस्तानी (त्रैमासिक) भाग १९, अंक १, पृ० २५ पर डा० अग्रवाल का लेख. मार्कण्डेय पुराण—एक सांस्कृतिक अध्ययन (दिसम्बर-फ़रवरी १९५८)।

(Cosmic Illusion) या विश्वभ्रम की संज्ञा दी है।[1] यही माया विष्णु की स्वरूप शक्ति है जिसे योगमाया भी कहते हैं। यही योगमाया कृष्ण की सम्पूर्ण प्रकट लीलाओं की आधारभूत तत्त्व है। यही कृष्ण की वेणु है जिसकी क्रियात्मक शक्ति से सृष्टि-रचना प्रारम्भ होती है। उपर्युक्त सभी उदाहरण यह स्पष्ट करते हैं कि पुराण साहित्य के विस्तृत प्रांगण में मूल-प्रकृति-शक्ति को ही राधा का नाम दिया गया है। दूसरे शब्दों में प्रकृति-शक्ति का मानवीकरण यह राधा तत्त्व है जिसमें श्री, महामाया, योगमाया और शिव-शक्ति आदि के तत्त्वों का समन्वय भी हुआ है। इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख ब्रह्मवैवर्तपुराण में प्राप्त होता है—

ममार्द्धांशस्वरूपा त्वं मूल प्रकृतिरीश्वरी।[2]

धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टि से राधा के विकास क्रम में अब उस 'तत्त्व' का समावेश दृष्टिगत होता है जिसने पुराणों में 'राधा' का एक स्पष्ट स्थान बना दिया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में 'राधा' का व्यक्तित्व अत्यन्त मुखर है। राधा के विकसित रूप का स्वतंत्र सूत्र इसी पुराण में प्राप्त होता है। दूसरी ओर हरिवंश और भागवत पुराणों में राधा नाम का अभाव एक प्रमुख संदेह को उत्पन्न करता है कि राधा का अन्य पुराणों में 'नाम' कहाँ से आया? परन्तु उपर्युक्त विश्लेषण के द्वारा यह ध्वनित होता है कि राधा तत्त्व का प्रादुर्भाव अनायास पुराणों में नहीं हो गया, पर उसके विकास में वेदों, उपनिषदों की एक बलवती परम्परा है। सत्य तो यह है कि स्वयं पुराणों में राधा के ऐसे तत्त्व प्राप्त होते हैं जो उसकी धारणा को साकार करने में सहायक होते हैं।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में राधा का रूप श्रृंगार एवं रसपूर्ण है। यह रूप राधा कृष्ण के लीला तत्त्व के माधुर्यभाव की परिपुष्टि करता है। एक स्थान पर स्वयं कृष्ण ने राधा से कहा है कि जब मैं तुमसे अलग रहता हूँ तो लोग मुझे केवल कृष्ण कहते हैं लेकिन जब तुम्हारे साथ रहता हूँ तो लोग मुझे 'श्री' कृष्ण कहते हैं।[3] यहाँ पर राधा का सम्बन्ध 'श्री' से या प्रकृति शक्ति से स्पष्ट है। दूसरा तथ्य यहाँ पर यह प्रकट होता है कि राधा का परिणीता रूप इस पुराण में साकार हो उठा है। इसी पुराण में राधा को कृष्ण की 'प्राणप्रिया' भी कहा

१—द लाइफ डिवाइन, द्वारा अरविन्द, भाग प्रथम, पृ० २१०।

२—ब्रह्मवैवर्तपुराण, ६६ श्लोक, श्री कृष्ण जन्म खंड, उद्धृत भारतीय साधना और सूर साहित्य से, पृ० १७४ से।

३—ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्ण-जन्म खण्ड, १५।५६-६४।

गया है। यह कृष्ण का राधा के प्रति आकर्षण स्वयं राधा नाम से ही व्यंजित होता है। 'राधा' में 'रा' वर्ण के उच्चारण से ही कृष्ण काम राग से स्फीत हो जाते हैं और 'धा' कहते ही 'राधा' के पीछे हो जाते हैं।[१] अतः कहा जा सकता है कि इस पुराण में राधा का माधुर्य भाव अपनी चरमावस्था में प्राप्त होता है जो कृष्ण की एक अभिन्न स्वरूप-शक्ति है। भगवान् की सब से उच्च प्रकृति अपने को आनन्द में पूर्ण रूप से उन्नयन कर लेना है और जो शक्ति इस उन्नयन में प्रमुख कार्य करती है, वह उनकी स्वरूप-शक्ति राधा है।[२]

इसके अतिरिक्त अन्य पुराणों में राधा का उल्लेख यदा कदा मिलता है। भवपुराण में राधा मूल प्रकृति है। पाताल खंड में राधाकृष्ण की लीला का संकेत प्राप्त होता है जिसमें अष्ट प्रकृति और सोलह आद्या-प्रकृति प्रधान वल्लभाओं का सविस्तार वर्णन है—

> प्रत्यंग स्पर्शांवंशः प्रधाना कृष्णवल्लभा।
> ललितायां प्रकृत्यांशः मूलप्रकृति राधिका ॥[३]

भागवत में राधा का नाम नहीं आता है, पर वहाँ पर भी एक प्रधान गोपी का उल्लेख अवश्य है जो कृष्ण की प्रधान प्रेमिका है। इस प्रधान-गोपी में स्वरूप-शक्ति एवं मूल प्रकृति का जो रूप है, वह राधा-भाव का ही प्रतिरूप लगता है। इसके अतिरिक्त अनेक विद्वानों ने राधा की उत्पत्ति ज्योतिष विद्या के नक्षत्र अनुराधा से मानी है जो ऋग्वेद के सप्तम मंडल में वर्णित है।[४] परन्तु जहाँ तक काव्य का प्रश्न है, उसमें राधा भाव का स्थान पौराणिक पृष्ठभूमि पर ही अधिक आश्रित है। इसी पौराणिक साहित्य की पृष्ठभूमि में

१—भारतीय साधना और सूर साहित्य से उद्धृत, पृ० १८६।

२—द फ़िलासफ़ी आफ़ वैष्णव रिलीजन, द्वारा जी० एन० मलिक, भाग १, पृ० १३६

३—भारत: साप्ताहिक १७ नवम्बर १९५७ में श्री कृष्ण बहादुर मिश्र का लेख 'पुराणों में राधा का विकास'।

४—योगेशचंद्र राय का मत है कि राधा नाम पुराना था और विशाखा का नामान्तर था। कृष्ण-यजुर्वेद में विशाखा, अनुराधा, चंद्रावली, ललिता आदि नाम नक्षत्रों के ही हैं। राधा के बाद अनुराधा का नाम है, अतः विशाखा नाम राधा का है। ऋग्वेद में वर्णित राधा का यह नक्षत्रीय रूप रासलीला के वैज्ञानिक रूप की ओर संकेत करता है जिस पर हम यथा स्थान विचार करेंगे। रास का वैज्ञानिक विवेचन इसी सूर्यनक्षत्र-मंडल की दृष्टि से किया जा सकता है जो पौराणिक कथाओं के प्रतीकार्थ को एक नवीन अंतर्दृष्टि भी प्रदान करता है।

कृष्ण की जिस सीमा तक प्रधानता है, उसी सीमा तक इस प्रधान गोपी राधा का भी स्थान है। इन सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों में राधा के प्रतीक रूप का बहुमुखी विकास हो चुका था। उसकी भावना में कृष्ण से समकक्षता, लीलाभाव एवं परमवल्लभा के तत्त्व समन्वित हो चुके थे जिसका एक काव्यात्मक विकास सम्भव हो सका।

(४) काव्य मे राधा

काव्य में राधा भाव की परिणति मूलतः पुराणों की 'राधा' पर ही हुई है। काव्य की राधा के प्रतीक रूप में मुख्यतः तीन तत्वों का समाहार प्राप्त होता है। एक भक्त संप्रदायों के आचार्यों का, दूसरा, लौकिक उपाख्यानों का और तीसरा, पौराणिक साहित्य का। इसके बाद राधा भाव की पूर्ण एकसूत्रता सहजिया एवं राधावल्लभ सम्प्रदायों आदि में प्राप्त होती है जहाँ पर 'वह' कृष्ण से भी महान् है।

वल्लभाचार्य तथा निम्बार्क ने राधा को कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति कहा है। इसी रूप में राधा भाव की अवतारणा बंगाल के रूपगोस्वामी ने भी की है। भागवत की स्वरूप-शक्ति (पराशक्ति) विष्णु पुराण के अनुसार ही सामघनी, सम्वित और आह्लादिनी शक्तियों में विभक्त होती है जिसे क्रमशः सत्, चिद् और आनन्द भी कहते हैं। आह्लादिनी शक्ति ही भागवत या कृष्ण की नित्य आनन्द शक्ति है। इसी आह्लादिनी शक्ति में अन्य दो शक्तियाँ भी अन्तर्भूत हैं। भगवान् इसी शक्ति के द्वारा अपनी वल्लभाओं (गोपी) तथा अंशों के सहित नित्य लीला में संलग्न रहते हैं।[1] निम्बार्क ने इस राधा तत्त्व का विकास रमा या लक्ष्मी से माना है जो यह स्पष्ट करता है कि ये सारी शक्तियाँ कृष्ण के ऐश्वर्य एवं क्रियाशीलता की अधिष्टात्री हैं और राधा तथा गोपी उनके माधुर्य भाव की रूपगत अभिव्यक्तियाँ हैं।[2] अतः राधा रसात्मक सिद्धि की प्रतीक है।

राधा के इन रसात्मक तत्त्वों का एक अत्यन्त मोहक रूप जन-गीतों एवं लौकिक उपाख्यानों में प्राप्त होता है। सम्प्रदायगत राधा की भावना में कवियों ने यहीं से अपनी कल्पना का रंग चढ़ाना आरम्भ कर दिया। इन्हीं प्रभावों के कारण राधा का रूप एक सहज काव्योचित तरलता एवं अल्हड़पन के साथ,

---

१—अर्ली हिस्ट्री आफ़ वैष्णव फ़ेथ एंड मूवमेंट इन बंगाल, द्वारा एस० के०, डे, पृ० २१२-२१३।

२—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय द्वारा दीनदयालु गुप्त, पृ० ४५ भाग १।

काव्य की भावभूमि को आलोकित कर सका। चौदहवीं शताब्दि में जब भागवत सम्प्रदाय का अपने नये रूप में विकास हुआ तब कृष्ण और राधा, उसी दृष्टि से, भावजगत के केन्द्रबिन्दु हो गए।

लौकिक परम्परा मे राधा का प्रमुख व्यक्तित्व आभीर जाति के लोक-गीतों, प्रेम गीतों और कुछ लिपियो में यदा कदा प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त दक्षिण की अलावार जाति के लोक गीतों में एक प्रधान गोपी नाफिन्नाह का विस्तार से उल्लेख मिलता है। इस लोक परम्परा की प्रधान गोपी के अनेक तत्त्व राधा भाव में समन्वित प्राप्त होते हैं। तमिल देश में 'वृष वशीकरण' की प्रथा का उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें युवकगण इस आशा से वृष को वश में करते थे कि वे कुमारियो के द्वारा पतिपद के लिये निर्वाचित हो सकें। यही प्रथा तमिल देश के लोक गीतों में कृष्ण को बृष-अधिकारी की पदवी देती है जो नाफिन्नाह को प्राप्त करने के लिए बृष को अधिकार में करते हैं। इस लोक परम्परा में राधा का वह रूप प्राप्त होता है जो कि एक तरह से साहित्य की राधा को जन्म दे सका।[1] श्री दासगुप्ता का यह मत पूर्ण रूप से सत्य नहीं कहा जा सकता है। हो सकता है कि राधा की धारणा में यह एक तत्त्व रहा हो, पर उसका सक्रिय योग नहीं माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि उत्तर भारत की साहित्यिक राधा की मूल प्रेरणा इन जातियों से ही सीधी सम्बन्धित नहीं है, पर उसका विस्तार वेदों से लेकर पुराणों तक एक क्रमिक रूप में प्राप्त होता है। अधिक से अधिक इस विकसित रूप को, इन लौकिक परम्पराओं ने अधिक व्यापक अर्थ देने में सहायता की है जो प्रतीकार्थ की दृष्टि से सर्वथा सम्भाव्य है। राधा का यह लोक-परम्परा का रूप केवल इन आदि-जातियों की ही देन नहीं है, पर उसका प्राचीन साहित्यिक रूप प्राकृत की गाहासत्तसई (ई० २००-४५०) एवं आठवीं सदी के भट्टनायककृत 'वेणी-संहार' में भी प्राप्त होता है। राधा के इस माधुर्य रूप की पूर्ण साहित्यिक अभिव्यंजना सबसे प्रथम जयदेव के गीतगोविन्द में प्राप्त होती है। (११शती) अतः राधा का साहित्यिक एवं कलात्मक रूप का विकास उपर्युक्त सभी स्रोतों की आधारशिला पर आश्रित है जिसने राधा के शृंगारपरक रूप को 'श्री' राधा में एकाकार कर दिया है। अतः कवियों ने राधा के पौराणिक रूप का साधारणीकरण कर 'उसे' रसपूर्ण व्यक्तित्व में इस प्रकार से ढाल दिया कि वह

१—श्री राधा का क्रम-विकास, पृ० ११६-११७।

लौकिक जगत् के लिए परम प्रतीक बन गई और उस प्रतीक में ही उसके तात्त्विक अर्थ का स्पंदन भी होता रहा। दूसरा प्रमुख तत्त्व जो राधा भाव में वैष्णव कवियों ने समाहित किया, वह है विरह की व्यापक व्यंजना। इसके पहले जो भी राधा का स्वरूप प्राप्त होता है (पुराणों से पहले) उसमें यह तत्त्व बहुत प्रमुख नहीं था। तीसरा प्रमुख तत्त्व है लीलावाद का। इसी के साथ राधा के प्रति भक्ति भाव की भी प्रधानता होती गई और वह कृष्ण के समान आराध्या भी बन गई। इस प्रेम-भक्ति का राधा की भावना में इतना अधिक विस्तार एवं विकास हुआ कि राधा केवल प्रेम रूप ही रह गई और यही उसका कमलिनी रूप (पद्मिनी रूप) है। महामुद्रा के नारी रूपों में पद्मिनी प्रकार को ही कवियों ने ग्रहण किया। आगे चलकर राधा-भक्ति की इतनी प्रमुखता बढ़ी कि राधा के द्वार पर ही कृष्ण के स्वरूपानन्द की चरमोत्कर्षकता प्राप्त होती है। राधा की प्रमुखता का यहाँ जो आभास प्राप्त होता है, वह सहजिया सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय आदि में अपनी चरम दशा में प्राप्त होता है। यहाँ पर राधा को कृष्ण के समान ही नहीं, पर कृष्ण को राधा का आराधक बन दिया गया है।

राधा के उपर्युक्त स्वरूप का संकेत सूरदास में भी प्राप्त होता है। सूर की राधा की धारणा मुख्यतः ब्रह्मवैवर्त्तपुराण से प्रभावित है। इसके अतिरिक्त परम्परा से प्राप्त गीतगोविन्द, विद्यापति की पदावली और चंडीदास की शृंगार-प्रधान राधा का भी रूप सूर ने ग्रहण किया है। ब्रह्मवैवर्त में राधा को तरुणी और कृष्ण को बालक के रूप में चित्रित किया गया है, परन्तु सूरदास ने ऐसे अस्वाभाविक रूप की कल्पना प्रणय प्रसंग में नहीं की है।[1] परम्परा से प्राप्त राधा के परकीया रूप को सूर ने भी ग्रहण किया है पर उनके इस परकीया रूप में केवल उस भाव का संकेत मात्र है। यही कारण है कि सूर ने राधा को प्रेम-विदग्ध दिखाते हुए भी उसके परकीया भाव को ही सुरक्षित रखा है। इस परकीया में राधा का वह रूप मुखर होता है जो उसे कृष्ण की आराधिका के साथ साथ उसके उज्ज्वल 'चरित्र' को भी सामने रखता है। उसमें वासना नहीं है, पर शुद्ध प्रेम का त्यागपूर्ण रूप ही अधिक है। अतः सूर की राधा में स्वकीया, परकीया, मानिनी (मानवती), कमलिनी एवं वियोगिनी—इन सभी रूपों का न्यूनाधिक संघटित रूप मिलता है। जहाँ

१—मध्यकालीन प्रेम साधना, द्वारा श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३०।

जयदेव तथा विद्यापति में राधा के विलासपूर्ण एवं लोकलाज से रहित स्वरूप के दर्शन होते हैं, वहा सूर की राधा में लोकलाज एवं मर्यादा पालन की प्रवृत्ति के भी संकेत मिलते हैं। उसका श्रीकृष्ण के प्रति स्वार्थहीन एवं गम्भीर प्रेम, अंत तक अतृप्त ही रहता है, पर फिर भी वह असफल नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उस प्रेम के द्वारा कवि ने एक प्रकार से 'राधा भाव' की पूर्णता ही सिद्ध की है।[1] सूरसागर के अंत में कवि ने राधा माधव के भेंट के द्वारा उसके अतृप्त प्रेम की सिद्धि ही व्यंजित की है—

> राधा माधव भेंट भई ।
> राधा माधव, माधव राधा, राधा माधव रंग रई ।[2]

यही वियोग उसे तप्त स्वर्ण का रूप दे देता है जो उसके 'स्वरूप' को एक आध्यात्मिक पुट ही नहीं देता है, परन्तु 'राधा-भाव' की उस अनुभूतिपरक मनोभूमि की ओर भी संकेत करता है जहाँ प्रतीक की भावना में 'तत्त्व' की अन्विति अपनी पराकाष्ठा में प्राप्त होती है ।

इस राधा भाव का एक दूसरा पक्ष भी है जो उसे संयोगावस्था में भी चित्रित करता है । यहाँ पर राधा के एक उल्लासपूर्ण रूप एवं उसकी आह्लादिनी शक्ति के दर्शन होते हैं । रासलीला के प्रसंग में राधा का शक्ति रूप अपनी सुन्दर अभिव्यक्ति में प्राप्त होता है । अन्य लीलाओं में 'वह' कृष्ण की 'प्रिया' के रूप में भी दृष्टिगत होती है । कृष्ण की अंशो सहित यह लीला सार्वकालिक है—नित्य है और इसी से राधा तत्त्व भी नित्य है और गोपी तत्त्व भी ।

> नित्य धाम वृन्दाबन श्याम
> नित्य रूप राधा ब्रज बाम ।[3]

राधा का यह नित्य रूप कृष्ण की 'प्रिया' के रूप में ही सुरक्षित है जिस रूप में वह प्रेमिका भी है, मानिनी है, अल्हड़ है और प्रेम गर्विता है । शायद इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए सूर ने एक गोपी द्वारा ये वचन कहलाये—

> नन्दनन्दन याही के बस है, बिबस देखि बेंदी छबि चोटी ।
> सूरदास प्रभु वै अति खोटे, यह उनहूँ तै अति ही खोटी ।।[4]

१—सूरदास द्वारा डा० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० २७५ ।

२—सूरसागर, भाग २, पृ० १७०७।४२६२ ।

३—सूरसागर सार, स० डा० धीरेंद्र वर्मा, पृ० ११४ ।

४—वही, पृ० ६३ ।

(ख) कृष्णलीलाओं का प्रतीकार्थ

राधा-कृष्ण के प्रतीक रूप के विकास क्रम से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण और राधा के अन्योन्य सम्बन्ध की पीठिका पर ही 'अधिकांश' कृष्ण-लीलाओं की तात्त्विक भूमि प्रस्तुत होती है। लीला के प्रतीकार्थ की व्यापकता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि उसके तात्त्विक रूप को हृदयंगम करने के लिए 'ज्ञान' के अनेक क्षेत्रों का आश्रय लेना पड़ता है। जहाँ तक कृष्ण लीलाओं का सम्बन्ध है, उनकी अधिकांश लीलाओं में आध्यात्मिकता, मनोवैज्ञानिकता, वैज्ञानिकता और धार्मिकता के ज्ञान क्षेत्रों का सहारा लेना पड़ता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कृष्ण की सभी लीलाएँ दार्शनिक अर्थ की व्यंजक हैं। यदि हमने खींचातानी करके किसी प्रकार से उनका अर्थ ग्रहण भी कर लिया, तो वह स्वाभाविक अर्थ न होकर केवल एक बौद्धिक व्यायाम ही कहा जायगा। इसके लिए आवश्यक है कि हम किसी विशिष्ट लीला के तत्त्वों का संकेत स्वाभाविक रूप से वेदों, पुराणों एवं उपनिषदों में प्राप्त करने के साथ-साथ उनका सम्बन्ध अन्य ज्ञान-क्षेत्रों से भी जोड़ें, तभी उनका एक व्यापक प्रतीकार्थ मुखर हो सकेगा। सत्य में प्रतीक एक लौकिक रूप है जिसमें किसी तात्त्विक धारणा का संकेत प्राप्त होता है। इस दृष्टि से प्रतीकवाद एक कला भी है। कृष्ण-लीलाओं की भावभूमि में कला एवं दर्शन (धर्म आदि भी) की एक मिलित अभिव्यक्ति ही प्राप्त होती है।

इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में कृष्ण-लीलाओं का विवेचन अपेक्षित है जिनमें ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों का सहारा लिया गया है।

(१) माखनचोरी

आध्यात्मिक पक्ष में 'माखन' वह आदर्श है जिसके कारण भक्तगण अपनी इच्छाओं तथा सुकृतों को अपने आराध्य को प्रदान कर देते हैं। वेदों में 'गो' का अर्थ 'इंद्रियाँ' भी माना गया है। अतः इंद्रियों की समस्त इच्छाओं का केंद्रीकरण किसी 'उच्च ध्येय' में करना ही 'माखन' का देना है। तभी तो सूरदास ने कृष्ण से कहलाया—

> **मन मैं यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर घर सब जाऊँ।**
> **गोकुल जनम लियो सुखकारन, सबकै माखन खाऊँ।**[१]

१—सूरसागर, पृ० ३५१ । २६८ ।

कृष्ण को गोपियों के सुकृतों एवं सुफलों को (पाप-पुण्य भी) ग्रहण करना ही था, क्योंकि उनका ध्येय था गोपियों के प्रेम की परीक्षा लेना। यही कारण है कि गोपियाँ माखन देती जाती हैं और कृष्ण उसे अपने पास एकत्र करते जाते हैं। कृष्ण का हृदय इतना विशाल है कि उसमें समस्त गोपियों के गोरस को (इंद्रियां, सुकृतां) स्थान मिल जाता है। केवल भक्त के समर्पण की शक्ति ही अपेक्षित है। इसी भाव को सूर ने इस प्रकार रखा—

> स्याम हृदय अति बिसाल।
> माखन दधि-विंदु-जाल।
> मोह्यो मन नंद लाल
> बाल ही बभैरी ॥[१]

यही आदान-प्रदान की सहज क्रिया का रूप माखनचोरी में साकार हो उठा है।

अब प्रश्न है कि कृष्ण को माखन इतना क्यों प्रिय था? माखनचोरी का रहस्य कृष्ण के इस रूप पर भी आश्रित है, क्योंकि इस रूप का स्पष्ट सम्बन्ध वेदों से है। ऋग्वेद में अग्नि को 'गोरस' का प्रिय कहा गया है, क्योंकि अग्नि की ज्वालाओं की वृद्धि गोरस के द्वारा ही होती है।[२] फिर, यज्ञ का सम्बन्ध अग्नि से अभिन्न है और यज्ञ का देवता विष्णु माना गया है। अतः यज्ञ की अग्नि को हर्षित करने वाले 'गोरस' के प्रति विष्णु का प्रेम स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। यही कारण है कि विष्णु के अवतार कृष्ण को गोरस इतना प्रिय था, जो गोपियों के द्वारा उन्हें प्राप्त होता था।

(२) गोचारण

कृष्ण गोपों के बीच ब्रज में 'गो' चराते हैं। ऋग्वेद में सभी देवों को 'गोपा' कहा गया है। अग्नि 'गोपा' (रक्षक) है, इसी से अग्नि को सभी पशुओं का 'गोपा' कहा गया है।[३] ऋग्वेद के इस प्रसंग में कृष्ण का 'गोपा' होना स्पष्ट है जो सभी पशुओं का रक्षक है। आध्यात्मिक दृष्टि से गोचारण का सुन्दर अर्थ उपनिषद् में प्राप्त होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है —वाक् रूप धेनु की उपासना करें। उसके चार स्तन हैं—स्वाहाकार,

१—वही, पृ० ३५३। २७५।

२—हिन्दू धार्मिक कथाओं का भौतिक अर्थ, पृ० १०३।

३—वही, पृ० १०३।

वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार। उसके दो स्तन स्वाहाकार और वषट्-कार के उपजीवी देवगण हैं, हन्तकार के उपजीवी मनुष्य हैं और स्वधाकार के पितृगण। उस धेनु का प्राण वृषभ है और मन बछड़ा।[१] मनुष्य के तीन प्रमुख अंग माने जाते हैं (उपनिषदानुसार) वाक्, प्राण और मन। उपर्युक्त कथन में तीनों का समाहार 'धेनु' में ही किया गया है। यह स्पष्ट करता है कि 'वाक्' का प्राण वृषभ है, क्योंकि प्राण के द्वारा ही वाक् प्रसव करती है। मन उसका वत्स है, क्योंकि मन से ही वह प्रसवित होती है। मन से आलो-चना किये हुए विषय में ही वाणी की प्रवृत्ति होती है, इसलिए मन वत्सस्था-नीय है। इस प्रकार वाक् प्राण और मन का उपासक या उनका रक्षक ब्रह्म भाव को ही प्राप्त होता है। जब तक मनुष्य इन तीनों का सामरस्य नहीं कर पाता है तब तक वह इनमें से किसी एक के 'वश' में रहता है। और जिसके 'वश' में रहता है, उसी के अनुसार वह विकसित होता है। श्रीकृष्ण के गोचारण में गायें, बछड़े तथा वृषभ तीनों थे जो स्पष्टतया वाक्, मन और प्राण के प्रतीक कहे जा सकते हैं। इस पूरे प्रसंग के द्वारा कृष्ण ने मानवीय धरातल पर यह व्यंजित किया है कि एक व्यक्ति भी अपने वाक्, मन और प्राण को अधिकृत कर 'आत्मज्ञान' की ओर उन्मुख हो सकता है। इस उन्नयन में 'मन' की अनेक तामसिक वृत्तियाँ बाधाएँ उपस्थित करती हैं जब तक मानसिक वृत्तियों का दमन नहीं होता है, मन और प्राण सात्विक धरातल का स्पर्श नहीं कर पाते हैं। यही कारण है कि गोचारण के समय अनेक राक्षसों अथवा मायावी शक्तियों का संकेत प्राप्त होता है जो गउओं को नष्ट करते हैं। कृष्ण उन शक्तियों (वत्स्य, अघासुर) को नष्ट कर सात्विक प्रवृत्तियों का पोषण करते हैं। प्रत्यक्षतः कृष्ण तथा असुरों का द्वन्द देवासुर संघर्ष का ही रूप प्रतीत होता है।

(३) कालिय दमन

प्रतीकात्मक दृष्टि से कालिय दमन लीला के तीन अर्थ ग्रहण होते हैं जो समष्टि रूप से कालिय दमन के अर्थ को एक अत्यन्त व्यापक रूप प्रदान करते हैं। प्रथम अर्थ वैदिक है, दूसरा आध्यात्मिक है और तीसरा वैज्ञानिक।

वेदों में इंद्र को 'अहि गोपा' की संज्ञा दी गई है, क्योंकि इंद्र ने जल-निवासी सर्पाकार अहि 'वृत्र' का बध किया था जिसके कारण वह 'अहिगोपा'

१—बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय ५, ब्राह्मण ८, पृ० १२०५।१ (उप०भा० खंड ४)।

कहलाया।[1] वास्तव में वेदों तथा उपनिषदों में यह रूप भी हिरण्यगर्भ का है। चंद्रमा के अट्ठाइस नक्षत्रों में एक नक्षत्र अश्लेषा या सर्प भी है जो पाश्चात्य ज्योतिष में जलनिवासी 'हाइड्रा' है। वैदिक काल मे वर्षारंभ में सूर्य का स्थान इसी नक्षत्र (सर्प) मे माना जाता था जो जल को रोके रहता था, क्योंकि वह वर्षा के द्वार पर ही स्थित है। सूर्य (इंद्र) जब अपने प्रकाड तेज से इसे जला देता है, तभी जल अवरुद्ध होता है।[2] अतः कृष्ण (इंद्र) ने जिस वृत्र (अहि) का वध किया था वह जल का ही निवासी था। वह जल को विषाक्त भी किये था और उसे रोके हुए भी था। इससे भी स्पष्ट संकेत ऋग्वेद के सप्तम मंडल के ५५ वें सूक्त में प्राप्त होता है—

कालिको नाम सर्पो नवनाग सहस्रबलः।
यमुना ह्रदेऽसौ जातो यो नारायण.वाहनः ॥[3]

अर्थात् जो सर्प विष के द्वारा यमुना जल को विषाक्त कर चुका था, उसक नारायण ने पीड़ित किया। वह पादहीन एवं हस्तहीन सर्प श्वास छोड़ता हुआ उनके साथ लड़ा था। इस कथन में यमुना का तो नाम आता ही है और जिसने उस नाग को अधिकार में किया था, उनका नाम (नारायण) भी आता है। इस प्रकार ऋग्वेद में कालिय दमन का इतना संकेत अवश्य प्राप्त हो जाता है जो उसके प्रतीकार्थ की ओर स्पष्ट संकेत करता है।

जहाँ तक कालियदमन लीला के आध्यात्मिक अर्थ का सम्बन्ध है, उसका रूप हमें ऋग्वेद के सप्तम मंडल के उपर्युक्त श्लोक में मिलता है। आध्यात्मिक दृष्टि से कालिय नाग उन समस्त तामसिक एवं अशिव वृत्तियो का प्रतीक है जो संसार रूपी यमुना के जल को विषाक्त करता है। सत्य में व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास उसी समय सम्भव है जब वह इस 'उरग' को अपने अधिकार में कर सके। जैसा कि मनोवैज्ञानिक-प्रतीकवादी दर्शन के अन्तर्गत संकेत किया जा चुका है कि मानसिक ऊर्ध्वारोहण उसी समय सम्भव है जब 'मन' स्थितप्रज्ञ हो जाता है।[4] ये ही निम्न मानसिक वृत्तियाँ इस लीला में 'उरग' हैं। स्वयं सूरदास के शब्दों में—

१—हिन्दू धार्मिक कथाओं का भौतिक अर्थ, पृ० १०४।

२—वही, पृ० १०४।

३—कल्याण, मई १९४८ संख्या ५, पृ० १००५ पर 'वेदों में ब्रजलीला' नामक लेख, द्वारा पं० नीरजाकांत चौधरी देवशर्मा।

४—दे० अध्याय दो, मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद, उपखंड ग में।

विष ज्वाला जल जलत जमुन कौ
याकै तन लागत नहिं तात ।[1]

यह सर्प एक ऐसी शक्ति है जो अपने प्रभाव से व्यक्ति के ऊपर 'काल' की अवतारणा करता है। मीरा ने इसी से इसे एक स्थान पर 'काल भुअंग' की संज्ञा दी है।[2]

अब प्रश्न है कि श्रीकृष्ण यमुना (संसार) में कूदने के प्रथम कदम्ब वृक्ष पर क्यों चढ़ते हैं ? धर्मशास्त्रों में वृक्ष ज्ञान (ब्रह्म ज्ञान) का प्रतीक माना गया है। अतः संसार के अतल तल में कूदने के प्रथम मानव को ज्ञान शक्ति की सहायता अपेक्षित है, तभी वह अपनी इतर प्रवृत्तियों पर विजयी हो सकेगा। इस नाग को अधिकार में करना बहुत दुर्लभ है, और मानवीय चेतना का विकास इसी कारण से इस धरातल पर रुक भी जाता है। इसी से प्रथम श्री कृष्ण उरग की आवृत्तियों में स्वयं फँस जाते हैं, परन्तु दूसरे ही क्षण अपना विस्तार कर सर्प को चकित कर देते हैं। कृष्ण का यह विस्तार मानवीय चेतना का ही विस्तार है जो अपने ज्ञान से निम्न प्रकृति को वश में करता है—

उरग लियो हरि को लपटाय।
सूरदास प्रभु तन बिस्तार्‌यो, काली बिकल भयो तब जाय।[3]

इस आध्यात्मिक अर्थ के अतिरिक्त कालिय दमन का एक वैज्ञानिक अर्थ भी है जो सर्प को 'काल' (Time) का प्रतीक मानता है।[4] ईश्वर या परमतत्त्व अपना विस्तार समय की सीमा के अन्दर ही करता है। इसी से वैज्ञानिक दर्शन में समय को ससीम कहा गया है पर साथ ही अपरमित। जब समय परमतत्त्व के साथ एकीभूत रहता है (सृष्टि के प्रथम) तब वह अपरिमित है। दूसरी ओर, जब परमतत्त्व अपना विस्तार करता है तब 'समय' सीमित होकर विश्व को १४ मन्वन्तरों में बाँध लेता है। अतः यहाँ पर सर्प सीमित समय का प्रतीक है और यमुना का जल नीला है जो विश्व के अभेद्य रहस्य का प्रतीक है। इस रहस्य को 'समय' अपनी सीमा-बद्धता के गुण से सीमित

१—सूरसागर, पृ० ४५०।५५४।
२—मीराबाई की पदावली, पृ० १५०।१६८।
३—सूरसागर, पृ० ४५१।५५७।
४—देखो राम कथा का प्रतीकार्थ, अध्याय छः, उपखंड ख।

करता है। श्रीकृष्ण परमतत्त्व हैं जो समय की अनियन्त्रित विपाक्त प्रवृत्ति को बढ़ता हुआ देखकर उसे अधिकार में करते है। यह समय परमतत्त्व का नियम (Law of God) है। जब यह नियम उसके अधिकार में नहीं रहता है तब परम-तत्त्व उसे दण्ड देकर अपनी अपार शक्ति का परिचय देते हैं। जब कृष्ण उरग की आवृत्तियों में से अपने को विस्तार देते हैं तब यही सूचित करते हैं कि समय से बढ़ कर उनकी अपनी विस्तार-शक्ति है। समय, आकाश, गुरुत्वाकर्षण शक्ति (Gravity), कार्यकारण, द्रव्य, आदि सब उसी परमतत्त्व के प्रसार हैं—सब उसी की चेतना से स्पंदित हैं।

(४) दावानल पान

कृष्ण के प्रतीकार्थ विवेचन के अंतर्गत कृष्ण का (वर्ण) समाहार अग्नि की भावना में किया जा चुका है। कृष्ण का श्याम वर्ण अग्नि का ही रूप है। परन्तु विश्लेषण करने पर दावानल पान का जो संकेत वेदों में इस रूप में मिलता है उसके द्वारा हम एक आध्यात्मिक 'रहस्य' का भी संकेत पाते है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानसिक स्तर का असंतुलन ही व्यक्ति के जीवन को विच्छृंखल कर देता है। अतएव दावानल, जो अग्नि के रूप में संसार में व्याप्त दुखों तथा विपत्तियों का समष्टिगत प्रतीक है, उसका 'पान' (अधिकार करना) श्रीकृष्ण ने अत्यन्त संयम से किया। स्वयं उन्हीं के वचनों मे—

> जिनि जिय डरहु, नयन मूँदहु सब
> हँसि बोले गोपाल।
> सूर अनल सब बदन समानी,
> अभय करे ब्रजबाल॥[1]

डा० मुंशीराम शर्मा ने 'आँख मूँदने' का अर्थ ग्रहण किया है: समक्ष आई विपत्तियों का जरा भी चिंतन न करना। क्रिया से प्रतिक्रिया उत्पन्न होकर कष्ट की निदारुणता को दूनी कर देती है। यदि क्रिया से प्रतिक्रिया उत्पन्न न हो तो वह एकांगी होकर नष्ट हो जाती है।[2] इस कथन में 'विपत्तियों का जरा भी चिंतन न करना और फिर उस विपत्ति का सामना करना—ये दो विरोधी बातें हैं। तथ्य तो यह है कि हमारा मानसिक संगठन ही इस प्रकार का है कि वह क्रिया के प्रकाश में किसी न किसी प्रकार की प्रतिक्रिया अवश्य करेगा।

१—सूरसागर, पृ० ४७०।५९७ (सभा)।

२—भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृ० ३१०।

बिना विपत्ति के प्रति सचेत हुए, और उसके प्रति चिंतन न कर हम उस विपत्ति पर पूर्ण विजय भी प्राप्त न कर सकेंगे। मेरे विचार से 'आँख मूँदने' का प्रतीकार्थ, संदर्भ के प्रकाश में वह अन्तर्दृष्टि है जो मनुष्य को वाह्य प्रभावों के फलस्वरूप चिंतन से प्राप्त होती है। मनुष्य की अन्तश्चेतना कहीं अधिक व्यापक है जो अपने बाहुओं में वाह्य जगत् के संकटों आदि को भी समेट सकती है। कृष्ण का दावानल पान मन के इसी आत्मिक तेज की ओर संकेत करता है।

इन विपत्तियों का आध्यात्मिक क्षेत्र में यही अर्थ है कि आसुरी शक्तियों का पराभव मानव की दैवी शक्तियों के विकास के लिए परमावश्यक है। कृष्ण ने कहा था—

सबहिं मूँदे नैन, ताहि जिताये सेन, तृषा ज्यों नीर दव, अंचै लीन्हौ।[1]

अतः 'दव' (आसुरी वृत्तियाँ) का पान कर लेना, उन्हें अपने अंदर उन्नायक रूप देना आध्यात्मिक चेतना के विकास का प्रथम चरण है। तथ्य में अवतार की भावना में ही शिव तत्त्वों का अशिव तत्त्वों की सापेक्षता में प्रतिष्ठापन है। अतः दावानल आसुरी शक्तियों के पराभव की कथा है जो समाज सापेक्ष भी चित्रित की गई है।[2]

(५) गोवर्द्धन-धारण लीला

ऋग्वेद में अग्नि रूपी कृष्ण ने आच्छादक 'वृत्र' से जगत् की रक्षा की थी। उपासकों के हित के लिए इंद्र पर्वत अर्थात् मेघ को परिचालित करते हैं।[3] इंद्र ने पर्वत (मेघ) धारण कर ही 'गो' अर्थात् जल अपहरण करने वाले वृत्र का गर्व नाश किया था। अतः इंद्र और अग्नि का मिलित रूप ही कृष्ण का पर्याय है जिन्होंने 'वृत्र' का दमन किया था। पर्वत को उठाने वाले इंद्र आच्छादक मेघ को नष्ट करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वृत्र-हन्ता 'इंद्र' का पुराण साहित्य में एक अद्भुत रूपांतर हो जाता है जो असम्भाव्य नहीं माना जा सकता है। पुराणों में वृत्रहन्ता इंद्र ही स्वयं वृत्र की भाँति आच्छादक हिंसाकारी शक्ति में अवतरित हो जाता है। जैसा कि प्रथम संकेत

१—सूरसागर, पृ० ४७३।५६६ (सभा)।

२—दावानल पान का समाज सापेक्ष रूप द्विवेदी युग के कवि श्री हरिऔध ने भी ग्रहण किया है—दे० अध्याय दस, उपखण्ड (क)।

३—हिंदू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ पृ० १०५।

किया गया कि वेदों में ही विष्णु की प्रधानता इंद्र की सापेक्षता में होने लगी थी (दे० कृष्ण के प्रतीकार्थ में)। वृत्रहन्ता इंद्र का तिरोभाव अग्नि रूपी कृष्ण के साथ हो जाने में और फिर इन सभी का विष्णु की भावना में समन्वित होकर प्रकट होना सत्य में कृष्ण के 'गोवर्द्धनधारी' रूप को स्पष्ट करता है। दूसरी ओर, वृत्र जो जल का अपहरण करता है, इंद्र की भावना को साकार कर सका, क्योंकि पुराणों में इंद्र का स्थान विष्णु (कृष्ण) की अपेक्षा निम्न ही माना गया है। इन दो समानांतर प्रवृत्तियों में विष्णु (कृष्ण) को गोवर्द्धनधारी रूप में और इंद्र को 'वृत्रासुर' रूप में चित्रित किया गया जो 'उपासना' के कारण (कृष्ण प्रति) हो जाना सम्भाव्य है। मेरे इस कथन का उस समय स्पष्ट आभास प्राप्त हो जाता है जब कि स्वयं वेदों में इंद्र तथा वृत्र को समान बलशाली असुर तक कहा गया है।[1] इसी समानता के कारण पुराणों की कथा-प्रवृत्ति ने एक शक्ति को दूसरे का प्रतिद्वन्दी दिखाकर एक रोचक कथा का प्रणयन किया है। फिर वेदों में सभी देवता गोवर्द्धन हैं अर्थात् गोधन की वृद्धि करने वाले हैं और इंद्र भी उनमें से एक हैं। इस प्रकार गोवर्द्धन लीला एक प्राकृतिक 'घटना' का प्रतीकात्मक रूप ही कही जा सकती है।

(६) चीरहरण लीला

इस लीला का लौकिक पक्ष अत्यन्त असामाजिक है। कृष्ण की कोई भी अन्य लीला, औचित्य की दृष्टि से, इतनी गिरी हुई नहीं है। अध्यात्म पक्ष में यहाँ पर जिन प्रतीकों को लिया गया है, उनका निर्वाह तो अत्यन्त तर्कपूर्ण है, पर लौकिक दृष्टि से एक 'अश्लील' भावना का प्रतिरूप है। आध्यात्मिक अर्थ में भी प्रतीकों के औचित्य का एक महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है, और इस औचित्य का यहाँ सर्वथा अभाव ही प्राप्त होता है। इस तरह चीरहरण लीला श्रेय तथा प्रेय का समुचित समन्वय नहीं कर पायी है। फिर भी चीर-हरण के आध्यात्मिक अर्थ का विवेचन अपेक्षित है।

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा था कि—

> धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
> यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥[2]

१—हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ, पृ० १०५।

२—श्रीमद्भगवद् गीता, कर्मयोग, पृ० १२७।३८।

जिस प्रकार अग्नि-ज्वाला धूम्र से आच्छादित रहती है, दर्पण धूल से और गर्भ उल्बेन .(Uterus) से आवृत्त रहता है, उसी प्रकार एक जीव का यथार्थ ज्ञान काम एवं अज्ञान से आवृत्त रहता है।

अतः जीवात्मा के आध्यात्मिक विकास के लिए काम तथा अज्ञान का तिरोभाव अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु इसी 'अज्ञान' के द्वारा ज्ञान का प्रकाश भी होता है। श्री अरविन्द ने अज्ञानजनित मोह (Ignorance) का क्रमिक पर्यवसान ज्ञानक्षेत्र में माना है। जगत एवं प्रकृति (जीव भी) का जो अज्ञानपरक रूप है—भ्रम है, वह अन्ततोगत्वा ज्ञान में परिणत होता है।[1] जग का अज्ञान ही वह सोपान है जिसके द्वारा 'जीव' ज्ञान का प्रकाश पाता है।

इस पीठिका के प्रकाश में चीरहरण का रहस्य हृदयंगम किया जा सकता है। यहाँ पर चीर अज्ञानजनित मोह का प्रतीक है। जब यह वस्त्र तिरोहित या उन्नयन की दशा में पहुँच जाता है, तभी आत्मिक अनुभूति होती है। गोपियाँ (भक्त) अपने आत्मविकास के लिए उससे विमुक्त होना ही चाहती है, तभी तो कृष्ण ने उनके चीर का हरण किया। वह भी सहेतु—

कृपानाथ कृपाल भये तब, जानि जन की पीर।
सूर प्रभु अनुमान कीन्हों, हरौ इनके चीर ॥[2]

इन पंक्तियों में आध्यात्मिक अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। श्रीकृष्ण ने गोपियों को मोहग्रस्त देखकर उनके झूठे एवं मिथ्या अज्ञान के निवारण के लिए, उनके चीर का हरण करने की ठानी। इसी कारण यह चीरहरण कृष्ण का वह प्रयत्न था जिससे जीवात्माएँ (गोपी) अपने आत्मिक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकें। जीव का कर्म स्थान है संसार, जो यहाँ पर यमुना है। संसार रूपी जल में जीवात्माएँ नित निमज्जित रहती हैं, उसके वाह्याकर्षणों एवं प्रलोभनों से आवृत्त रहती हैं। इसी कारण उनके चारों ओर अज्ञान एवं मोह का पर्दा या चीर पड़ जाता है।

अब प्रश्न है कि कृष्ण सब गोपियों के वस्त्रों को लेकर कदम्ब वृक्ष पर क्यों चढ़ गए? कदम्ब वृक्ष ज्ञान का प्रतीक माना जाता है और ज्ञान के स्वर्ण-प्रकाश के द्वारा कृष्ण रूप ब्रह्म का अनुभव हो सकता है। दूसरे शब्दों में,

---

१—द लाइफ़ डिवाइन, भाग २, द्वारा श्री अरविन्द, पृ० ५३१-५३२।
२—सूरसागर, पृ० ५२१।७८३।

परमतत्त्व का सामीप्य लाभ जीव को केवल ज्ञान एवं भक्ति से ही हो सकता है। यही कारण है कि कृष्ण वस्त्रों सहित कदम्ब पर चढ़ गये और निरावरण ही गोपियों को बुलाने लगे—

लाज ओट यह दूरि करौ।
जोइ मैं कहौं करौ तुम सोई, सकुच बापुरौ कहाँ करौ।[1]

इस स्थान पर उस स्थिति का संकेत प्राप्त होता है जब प्रेमी-भक्त अपने आराध्य के सम्मुख बिना किसी मोह अथवा संकोच के आत्मसमर्पण करने को प्रस्तुत होता है। जब गोपियाँ निरावरण दशा में जल से बाहर निकल आती हैं, तब यही आत्मसमर्पण का भाव मुखर हो उठता है। अन्त में कृष्ण उन्हें वस्त्र लौटा देते है और फिर अपने सामने शृंगार करने को कहते हैं।[2] यह वस्त्र का फिर से लौटाना यह सूचित करता है कि मोह-जनित अज्ञान जीव के लिए अन्त तक आवश्यक है, इस सत्य के साथ कि उसका उन्नयन श्रीकृष्ण की भक्ति में हो। दूसरा रहस्य यह भी है कि भौतिक प्रवृत्ति का मनुष्य नितात बहिष्कार नहीं कर सकता है। उसी प्रकृति के द्वारा वह चेतना के उच्च अभियानों का साक्षात्कार कर सकता है। चीर हरण लीला के द्वारा कृष्ण ने एक मानव 'सत्य' की ओर भी संकेत किया है कि भौतिकता एवं आध्यात्मिकता का अन्योन्य सम्बन्ध है—दोनों का मानव जीवन में न्यूनाधिक महत्त्व है।

(७) रास-लीला

रास परम्परा के अनेक प्रकार साहित्य में प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में इसका प्राचीनतम रूप हल्लीसक क्रीड़ा के रूप में प्राप्त होता है। वहाँ कहा गया है—

पद्यावारते पुरुरुपा वर्पूष्यूर्ध्वा तस्थौ त्र्यविरेरिहाणा।
विचारामि विद्वान महद्देवानाम् सुरत्वमेकम।[3]

अभिसारिणी गोपियों के अभिसार के योग्य इस कृपामूर्ति ने सौंदर्यविशिष्ट बहुत से रूप धारण कर लिये तथापि एक मूर्ति एक के मध्य में स्थित थी। वेद की यह हल्लीसक क्रीड़ा स्पष्ट ही रास का एक सुन्दर रूप कही जा सकती

१—सूरसागर सार, सं० धीरेंद्र वर्मा, पृ० ५४।

२—वही, पृ० ५४।

३—कल्याण, मई १९४८ संख्या ५, पृ० १००७ पर वेदों में ब्रजलीला, द्वारा नीरजाकांत चौधरी देवशर्मा।

है। इसमें प्रत्यक्ष रूप से आध्यात्मिक संकेत भी प्राप्त होता है। कृपामूर्ति कृष्ण (ब्रह्म) प्रत्येक जीवात्माओं (गोपी) के मध्य अनेक समान रूपों में विभक्त हो गए, परन्तु तत्त्वतः वे एक ही हैं। रास शब्द का यह रूप भावी युगों में अन्य तत्त्वों से समन्वित होता रहा। अभिनवगुप्त ने हल्लीसक की एक सीधी सी परिभाषा यह दी है कि मंडल में जो नृत्य किया जाय, वह हल्लीसक है। इसी प्रकार कामसूत्र में 'हल्लीसक क्रीड़नकैर्गायनैः' कह कर हल्लीसक या रास के साथ गायन एवं वादन का भी संकेत मिलता है।[1] अतः रास की परम्परा में दो तत्त्व प्रधानतया प्राप्त होते हैं—एक उपदेशमूलक और दूसरा आमोदमूलक। प्रथम तत्त्व रास के प्रतीकार्थ की व्यंजना प्रस्तुत करता है और दूसरा उसके रस रूप की ओर संकेत करता है। रास की इस प्राचीन परम्परा के अतिरिक्त रासलीला के तात्त्विक अर्थ में अन्य ज्ञान-क्षेत्रों का भी सुन्दर समन्वय प्राप्त हो जाता है। अतः रासलीला के प्रतीकार्थ को तीन दृष्टियों से हृदयगम किया जा सकता है—

(१) आध्यात्मिक दृष्टिकोण
(२) योगपरक दृष्टिकोण
(३) वैज्ञानिक दृष्टिकोण

(१) आध्यात्मिक दृष्टिकोण

विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि रासलीला आध्यात्मिक सत्य की एक नित्य लीला है। चीरहरण से रासलीला तक आध्यात्मिक क्रम का विकास लक्षित होता है जो गोपियों की मानसिक चेतना का क्रमिक ऊर्ध्वारोहण कहा जा सकता है। चीर-हरण में अज्ञान, मोह आदि का तिरोभाव होता है। रास में आकर वह शुद्ध बुद्ध आत्मा रसरूप होकर 'रास' की तन्मयता में एकाकार हो जाती है। इसी आध्यात्मिक रसानुभूति के हेतु चीर-हरण, वंशी-वादन, गोपियों का गर्व और फिर कृष्ण द्वारा उसका खंडन और अन्त में अपनी प्रकृति-शक्ति राधा के साथ 'रास' की नित्य लीला का प्रारम्भ करना—ये सभी दशाएँ जीवात्मा एवं चराचर प्रकृति को उस रस रूप परब्रह्म से एकात्म अनुभूति कराने के लिए नियोजित की गई हैं। इन समस्त दशाओं का अपना निजी अर्थ भी है जो एक समष्टि अर्थ के सहायक तत्त्व हैं—ये सब माध्यम हैं रास की पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करने के लिए।

१—हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ११ अंक २, पृ० २५-२६ पर श्री हरिशंकर शर्मा का लेख रास परम्परा और भरतेश्वर बाहुबली रास, अप्रैल-जून १९५८।

रासलीला के प्रथम कृष्ण ने वेणु-वादन किया था, इसका क्या रहस्य है ? वल्लभाचार्य ने अपने अणुभाष्य में 'वेणु' के महत्व पर प्रकाश डाला है। उन्होंने 'व' से उस ब्रह्म-सुख को ग्रहण किया है जिसके सामने 'ई' अर्थात् संसार का सुख 'अणु' के समान नगण्य होकर लुप्त हो जाता है।[1] इसी दिव्य रागिनी या शब्द के आध्यात्मिक सत्य की ओर टेनीसन की कुछ पंक्तियाँ नितान्त सत्य हैं। वह कहता है—

"मैं इसे 'सत्य' रूप में स्वीकार करता हूँ कि जो एक शुद्ध बीन पर दिव्य रागों का सृजन करता है जिससे मनुष्य अपनी मृत चेतना से क्रमशः उच्च वस्तुओं की ओर अग्रसर हो सके।"[2] इस शब्द के द्वारा भगवान चराचर विश्व को एक 'रस' में तल्लीन कर देते हैं। इसी भाव को सूर ने भी ग्रहण किया है—

सखा-अंशु पर भुज दीन्हैं, लीन्हैं मुरलि अधर
मधुर विस्व भरन।[3]

इसी शब्द की व्यापकता समस्त ब्रह्मांड में है, यहाँ तक कि उसका शब्द वैकुंठ तक पहुँच गया।[4] इसे नंददास ने 'योग-माया' की संज्ञा दी है[5] और 'नाद-ब्रह्म' भी कहा है जो समस्त सुखों का आगार है।[6]

अतः उपर्युक्त उदाहरणों में मुरली का शब्द वह आदितत्त्व है जो नाद ब्रह्म, योग माया, अनाहद आदि का समन्वित रूप है। वैज्ञानिक दर्शन के अनुसार भी 'शब्द' समस्त सृष्टि में व्याप्त है। इसी की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति कृष्ण की मुरली है। वेणु में 'ध्वनि' का एक सुन्दर प्रतीकात्मक निर्देश है। इसी से कृष्ण इस ध्वनि से शिक्षा भी प्रदान करते हैं। वेणु के द्वारा कृष्ण

१—महाकवि सूरदास, द्वारा नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १३१।

२—I held it truth; with him who sings
To one clear hard in divine tones,
That men may rise on stepping stones
Of their dead selves to higher things.

—इन ममोरियम द्वारा टेनीसन, पृ० ७।

३—सूरसागर, प्रथम खंड पृ० ४८२।६२३।

४—वही, पृ० ६२७।१०६८।

५—रास पंचाध्यायी व भँवरगीत, सं० डा० सुधीन्द्र, द्वारा नंददास, पृ० १०।

६—वही, पृ० १०।

स्वयं अपने को, प्रकृति को और विश्व को एक समान धरातल पर प्रतिष्ठित करते हैं।[१] यही समन्वय की समरसता गोपियों की तन्मयता है जहाँ पर उनकी समस्त विभिन्नताएँ 'सम' हो जाती हैं। इस शब्द या ध्वनि के प्रति स्वयं महाकवि मिल्टन ने 'पैराडाइज लास्ट' में लिखा है कि जब ईश्वर ने सृष्टि की कामना की तो उसने बिखरे हुए महाभूतों को संगीत की समन्वयकारी ध्वनि से एकत्र किया। ड्राइडन (Dryden) ने 'सेंट असीलिया' की प्रार्थना में यह लिखा है कि संगीत में सृजन करने की ही नहीं, पर लय करने की भी शक्ति है।[२] कृष्ण की मुरली भी 'सृजन और लय' दोनों की समन्वित अभिव्यक्ति है। गोपियों की समस्त आंतरिक एवं बाह्य वृत्तियाँ मुरली की ध्वनि को सुनकर एकात्म भाव की तल्लीनता में पहुँच जाती है।

कृष्ण का यह समरसतापूर्ण रास शरद् पूर्णिमा की ज्योत्स्नामयी रात्रि में होता है। सूर के शब्दों में—

'सरद निसि देखि हरि हरष पायो।'[३]

इसी हर्ष में मुरली की ध्वनि का विस्तार किया और महाभूतो में एक सामरस्य स्पंदित होने लगा। तथ्य में यह शरद की चंद्रिका भजनानंद से उत्पन्न वह आभा है जिसका प्रकाश भक्तो के हृदय में एक 'चेतना' का विस्तार करता है। इसी से चद्रिका को हम चेतनयुक्त विवेक का प्रतीक मानते हैं।

इस प्रकार आध्यात्मिक रूपक की दृष्टि से रासलीला आत्माराम कृष्ण की रसात्मक सामरस्यपूर्ण लीला है। दूसरी ओर, आत्मशक्ति के रूप में राधा हैं जो रसात्मक सिद्धि की प्रतीक हैं और गोपियाँ रसात्मक सिद्धि करानेवाली शक्तियाँ। और प्रकृति तो स्वयं रसमय है। इस प्रकार ब्रह्म (कृष्ण) मूल प्रकृति शक्ति (राधा), जीव (गोपियाँ) और प्रकृति—इन सभी का सामरस्य ही यह 'रास' है। इसी से वल्लभ ने 'रास' की व्याख्या इन शब्दों में की है—'अप्राकृत देहधारी रस रूप कृष्ण की अप्राकृत गोपियों के साथ की गई नृत्य लीला का जो रस समूह है, वह रास है।'[४] इसी कारण वल्लभ ने रास को मोक्ष के आनंद का उच्चतम रूप माना है। यहाँ पर उपनिषदो का आनन्द रूप ब्रह्म मानो प्रतीक रूप में साकार हो उठा है। ईशावास्योपनिषद् में आत्मा

१—द फ़िलासफ़ी आफ़ वैष्णव रिलीजन, द्वारा मलिक, पृ० ११६।

२—सूर और उनका साहित्य, द्वारा डा० हरवंश लाल शर्मा, पृ० ३१०।

३—सूरसागर (सभा), पृ० ६०२।८८५।

४—अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, द्वारा दीनदयालु गुप्त, पृ० ४१८ (दूसरा भाग)।

रूप ब्रह्म को 'स्वयंभू' कहा गया है[1] जिसकी व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि स्वयभू जो कि स्वयं होता है, अथवा जिनके ऊपर है और जो ऊपर है, वह सब स्वयं ही है, इसीलिए 'स्वयंभू' है।[2] रास में कृष्ण का यह 'स्वयंभू' (आत्माराम) रूप, उनका आनंद-रसात्मक रूप स्पष्ट ध्वनित होता है। यही कारण है कि ब्रज युवतीं रसराज कृष्ण के साथ पूर्ण अंतर्हित हैं—

ब्रज जुवती रस रास पगीं।
कियौ स्याम सबकौ मन भायौ, निसि रति रंग जगीं॥
जितनी नारि भेष भये तितने, भेद न काहूँ कीन्हीं।
सूर स्याम दूलह सब दुलहिन, निसि भाँवर हैं आई॥[3]

और दूसरी ओर रास से प्रकृति की क्या दशा है, इसे नंददास से सुनिए—

अद्भुत रस रह्यो रास, गीत धुनि सुनि मोहै मुनि।
सिला सलिल ह्वै चली, सलिल ह्वै रह्यौ सिला पुनि।[4]

परन्तु सूर का रास वर्णन शृंगारपरक होने के कारण परमानंद का द्योतक है। इस आनन्द का रस रूप होना यह सिद्ध करता है कि रास में अनेक रस एक ही 'महारस' में पूर्णरूपेण एकीभूत हो गए हैं। दूसरे शब्दों में, वंशी के तन्मयतापूर्ण नाद का प्रादुर्भूत होना, रास में गोपियों का भाग लेना, उनका कृष्ण केंद्र की ओर आकर्षित होना, चेतन-ज्योत्स्ना का विस्तार होना—ये सब तत्त्व एक ही लक्ष्य की ओर दौड़े चले जा रहे हैं, उनका गंतव्य 'अनंत' की मधुरिम छाया की ओर प्रयत्नशील है। स्वामी विवेकानंद के शब्दों में— 'श्री कृष्णावतार का मूल माधुर्य है यह रास लीला। और इस अंश में गीता का समस्त दर्शन भी इस उन्मांद माधुरी की समानता नहीं कर सकता— क्योंकि गीता में भगवान ने अपने प्रिय शिष्य को धीरे-धीरे बचाकर लक्ष्य की ओर बढ़ने का उपदेश दिया है, परन्तु यहाँ आनन्द का वह उन्माद, प्रेम की वह तन्मयता है जहाँ शिष्य, गुरु, उपदेश, ग्रंथ—ये सब एक हो गए हैं, भव, भगवान और स्वर्ग—सब उस एक में जाकर लय हो गए हैं।[5] इस स्थिति

१—ईशावास्योपनिषद्, मंत्र ८, पृ० २८ (उप० भाष्य खंड १)।

२—उपनिषद् भाष्य खंड १, पृ० ३०।

३—सूरसागर सार, पृ० ६३।

४—रास पंचाध्यायी व भँवरगीत, नंददास, पृ० ३६।

५—कल्याण (१९३७) वर्ष १२, पृ० १६८ से उद्धृत।

को हम ब्रह्म की 'पूर्ण' स्थिति कह सकते हैं। उपनिषद् में कहा गया है—'ॐ' वह परब्रह्म पूर्ण है और यह कार्य ब्रह्म (ईश्वर) भी पूर्ण है, क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है तथा (प्रलयकाल में) पूर्ण का पूर्णत्व लेकर (अपने में लीन करके) पूर्ण (परब्रह्म) ही बच रहता है।[1] ऐसा उपनिषद् का 'पर-ब्रह्म पूर्ण तत्त्व' है जो रास में इस पूर्णता के रूप की लौकिक अभिव्यक्ति करता है और अपनी पूर्णता का अंश कार्य ब्रह्म की सृष्टि में लयमान करता है। यही रासलीला का तात्त्विक रहस्य है जो समस्त दर्शन का निचोड़ है—सार अथवा मधु है।

(२) योगपरक दृष्टिकोण

आध्यात्मिक अर्थ में भी रसपूर्ण साधना का रूप मुखर है। इस दृष्टिकोण में साधना का रूप योगपरक है। 'लीला' शब्द ली+ल के संयोग से बना है जिसका अर्थ लय+लेना हुआ। दूसरे शब्दों में लीला का अर्थ उस क्रिया विशेष के द्वारा लक्षित होता है जिससे तद्रूपता तथा तन्मयता की प्राप्ति होती है। योग-दर्शन के अनुसार यह मान्यता है कि 'चिद्' जिस वस्तु की ओर केंद्रित होता है अथवा ध्यानावस्था से उस वस्तु के प्रति जो एकाग्रचित्त हो जाता है, वह अंत में उसी के रूप में पूर्ण तदाकार हो जाता है। अतः रास वह योगपरक प्रक्रिया है जिसमें गोपियों की संपूर्ण चित्तवृत्तियों के निरोध की अंतिम परणति पूर्णासक्ति के रूप में ब्रह्म रूप कृष्ण में होती है। योगशास्त्र का कहना है 'अभ्यास वैराग्याभ्यतन्निरोधः।[2] गोपियों का जहाँ तक प्रश्न है उनमें योग की इस निरोधात्मक प्रक्रिया का एक स्वस्थ रूप प्राप्त होता है। परन्तु यह कहना कि उनकी साधना का रूप योगपरक है, भ्रामक होगा। गोपियों की रागानुगा भक्ति है। वे माधुर्य तथा प्रेम भावों से ओतप्रोत होकर ही कृष्ण के स्वरूपानंद में निमग्न रहती हैं। इसी तदात्म्य पर उनकी प्रेम साधना टिकी हुई है जिसे हम 'प्रेम-योग' की संज्ञा दे सकते हैं। श्री कृष्ण ने गीता में जिस 'प्रेम-साधना' का निरूपण किया है, उसमें भी इसी तत्त्व का समाहार है। गीता कहती है—

> मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
> निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥[3]

१—ईशावास्योपनिषद्, पृ० ११ शांतिपाठ (उप० भाष्य खंड १)।

२—उपनिषद् चिंतन, द्वारा देवदत्त शास्त्री, पृ० ६८।

३—श्रीमद्भगवद्गीता, भक्ति योग, पृ० ४२३ श्लोक ८।

अर्थात् 'मेरे सुन्दर मानवीय रूप पर अपने मन को केंद्रित करो। अपनी शुद्ध बुद्धि को मेरी सेवा में लगाओ। तब निश्चय ही तुम मेरे नित्य सहयोग तथा शुद्ध प्रेम भाव को प्राप्त कर सकोगे जो 'साधना-भक्ति' का अंतिम लक्ष्य है।' इस प्रकार जब साधक इस निरोध प्रक्रिया के द्वारा 'साध्यतत्त्व' के ध्यान में निमग्न हो जाता है, तो उसे योगशब्दावली में 'धारणा' कहते हैं। रास में गोपिकाओं के द्वारा इन तीनों अवस्थाओं का क्रमिक विकास लक्षित होता है। रास के प्रथम वे कृष्ण के प्रति एकात्म भाव की दशा में निमग्न रहती हैं और रास के प्रारम्भ होने तक वे धारणा की परमावस्था तक पहुँच जाती हैं। इस स्थिति तक पहुँचने में उन्हें कृष्ण की 'मुरली' भी सहायता देती है जो यहाँ पर अनाहद नाद की प्रतीक है। गोपियाँ शरीर में व्याप्त नाड़ियों के समान हैं। राधा उस कुंडलिनी-शक्ति की प्रतीक हैं जो नाड़ी संस्थानों का भेदन अनाहद की ध्वनि पर करती हैं। रासलीला का स्थान वृंदावन ही सहस्रदल कमल है। दूसरे शब्दों में इसी सहस्रदलकमल के स्थान पर नाड़ियाँ, अनाहद, कुंडलिनी—सब एक रस हो जाती हैं और परब्रह्म की योगपरक अनुभूति होने लगती हैं। यही समाधि की दशा है जिसे प्राप्त करना गोपियों का ध्येय है।

गोपियों की अपरिमित संख्या शरीर में व्याप्त असंख्य नाड़ियों से समानता रखती है। जहाँ तक राधा की आह्लादिनी शक्ति और कुंडलिनी शक्ति का सम्बन्ध है, दोनों में एक विशेष अंतर है। कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति 'राधा' उनकी स्वरूप शक्ति है जिसका लीला में एक प्रमुख स्थान है। परन्तु कुंडलिनी तो एक सुप्तप्राय शक्ति है जिसे साधक जाग्रत करने का अनुष्ठान करता है। दूसरी ओर, आह्लादिनी शक्ति तो स्वरूप शक्ति है, और साथ ही गोपियाँ जो आ-ह्लादिनी शक्ति की अनेकानेक रूपगत अभिव्यक्तियाँ हैं—ये सब कभी भी सुप्ता-वस्था में या निष्क्रिय अवस्थाओं में नहीं दृष्टिगत होती हैं। इनका रूप मूलतः क्रियात्मक ही है। तभी तो रास की पूर्णता में उनका विशिष्ट अर्थ है। इसी प्रकार वंशी ध्वनि और अनाहद नाद में भी अंतर है। यहाँ अनाहद एक विशिष्ट जटिल योगपरक क्रिया से उत्पन्न वह नाद है जो इंद्रियों को ग्राह्य नहीं है। परन्तु वंशीनाद कृष्ण के 'रूप' का आश्रय लेकर समस्त ऐंद्रिय व्यापारों को क्षण भर में एकात्म कर लेता है और इस प्रकार तल्लीनता की पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है।[१] इन सब कारणों से हम रास लीला को शुद्ध यौगिक क्रिया

१—सूरदास, द्वारा डा० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० २०६-२१०।

नहीं कह सकते है। 'रास' को तो हम प्रेमयोग की संज्ञा दे सकते है जो हमारे भक्त कवियों को भी मान्य रहा है।

(३) वैज्ञानिक दृष्टिकोण

यौगिक तथा आध्यात्मिक दृष्टियों के अतिरिक्त 'रास' का प्रतीकार्थ वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी हृदयंगम किया जा सकता है। रास यहाँ पर एक विश्वजनीन वैज्ञानिक सत्य का प्रतीकात्मक उद्‌घाटन है। इस वैज्ञानिक (ज्योतिष) तथ्य का रूप हमें ऋग्वेद में प्राप्त होता है।

(१) सूर्यमंडल तथा परमाणु की रचना के अनुसार

वेदों में सूर्य को विष्णु कहा गया है[1] और कृष्ण इसी विष्णु के अवतार हैं। दूसरे शब्दों में कृष्ण, सूर्य का प्रतिबिंब हुआ या उसका एक प्रतिरूप। उपनिषदों में सूर्य या आदित्य का महत्त्व अत्यन्त मान्य है और उसे अमृत, अभय और परागति वाला भी कहा गया है।[2] यही नहीं, सूर्य का एक सुन्दर वैज्ञानिक रूप भी प्रश्नोपनिषद् में प्राप्त होता है, यथा—

पंचपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे
अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं
सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति।[3]

अर्थात् अन्य कालवेत्तागण इस आदित्य को पाँच पैरोंवाला, सबका पिता, बारह आकृतियों वाला पुरीषी (जलवाला) और द्युलोक के परार्ध में स्थित बतलाते हैं तथा ये अन्य लोग उसे सर्वज्ञ और उसे सात चक्र और छः अरेवालों में ही इस जगत को अर्पित बतलाते हैं। इस वर्णन में सूर्य की सर्वव्यापकता में वैज्ञानिक सत्य भी समाहित है। यह आदित्य संवत्सर रूप है जिसके पाँच चरण ही पाँच ऋतुएँ हैं। यहाँ पाँच ऋतुओं की कल्पना हेमंत और शिशिर को एक मान कर की गई है। सूर्य की किरणों (ताप) में, वनस्पति संसार तथा प्राणियों में जीवन देने की शक्ति है। साथ ही, उत्पत्ति के लिए भी उसके उचित तापमान की आवश्यकता प्राणि जगत को अपेक्षित है। इसी से सूर्य का पितृत्व है। बारह महीने उसकी आकृतियाँ हैं अर्थात् बारह महीनों के द्वारा उसका अवयवीकरण (विभाग) किया जाता है जो ज्योतिष

१—दे० पीछे कृष्ण के प्रतीकार्थ विकास में, उपखंड क।

२—प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न १, पृ० २२ श्लोक १० (उप० भा० खंड १)।

३—वही, प्रश्न १, पृ० २३ (उप० भाष्य खंड १)।

का सत्य है। उसकी स्थिति द्युलोक या अंतरिक्ष से ऊपर है और साथ ही वह जलवाला है। सूर्य में आधुनिक विज्ञान के अनुसार वाष्प के अतिरिक्त (Helium Gas) कुछ भी नहीं है जो जल का ही उच्च तापमान-वाला रूप है। कदाचित् इसी तथ्य का संकेत सूर्य को जलवाला कहकर संकेत किया गया है। सप्त अश्वरूप ही सात चक्र और षट्ऋतुरूप छः अरों वाला यह सूर्य निरंतर गतिशील रहता है अर्थात् संपूर्ण जगत् इसी रथ की नाभि में अरों के समान समर्पित है। इस प्रकार सूर्य की महत्ता का उत्तरोत्तर बढ़ना उसके प्रतीक रूप का ही विस्तार कर सका और रासलीला में सूर्य की इसी वैज्ञानिक स्थिति का संकेत प्रतीकात्मक विधि से प्रकट हुआ है।

सूर्य की रश्मियाँ अनन्त हैं जिसे वेदों में 'गोप' कहा गया है। अतः कृष्ण ही गोप हैं और गो-पी तारका हैं।[1] इसके अतिरिक्त वेदों में कृष्ण से सम्बन्धित अनेक ऐसे नक्षत्रों के नाम हैं जो या तो गोपियों के या प्रमुख महिषियों के ही नाम हैं। ऐसे नक्षत्र हैं—अनुराधा, रोहिणी, रेवती, सुभद्रा, तारका, ललिता, ज्येष्ठा, चित्रा और चंद्रावली आदि जिनका स्थान कृष्णलीला में प्राप्त होता है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक नामों को लेकर ही भावी कथाओं तथा अनेक पौराणिक व्यक्तियों के नामकरण हुए हैं। यह सत्य केवल मात्र रास-लीला के बारे में सत्य नहीं है। ब्रज से सम्बन्धित अनेक लीलाओं का किसी न किसी रूप से सम्बन्ध सूर्य के प्रतिबिंब, तारों तथा नक्षत्रों से जोड़ा जा सकता है।[2]

प्राचीनकाल में यह वैज्ञानिक धारणा अवश्य प्रचलित थी कि सूर्य का प्रकाश ही तारों तथा नक्षत्रों को प्रकाशित किये हुए है। सूर्य ही आकाशीय पदार्थों में वह केन्द्र है जो महत् तेज के द्वारा ब्रह्माड को आलोकित किये हुए है। इसके साथ साथ इस वैज्ञानिक धारणा का आभास भी प्राप्त होता है कि सूर्य की महत्ता का पूरा स्थान नक्षत्र-मंडल के उस स्थान का द्योतक है जो उसे केन्द्रस्थ मानता है। सूर्यमंडल में सूर्य ही वह केन्द्र है जिसके चारों ओर ग्रह परिक्रमा किया करते हैं। कवि ने इस कृष्ण-रवि को रासमध्यस्थ और गोपी-ग्रहों को मंडलाकार चित्रित कर यही तथ्य प्रकट किया है। सूर्य-मंडल की गतिविधि का प्रतीकात्मक प्रदर्शन ही यह रासलीला है। जिस प्रकार सूर्य एवं नक्षत्रों के अन्योन्याकर्षण से उनके मध्य में संतुलन रहता है जिससे कि समस्त

१—श्री राधा का क्रम विकास, पृ० १०१।

२—उपनिषद् चिन्तन, द्वारा देवदत्त शास्त्री, पृ० ५८-५९।

ब्रह्मांड की स्थित सम्भव है, उसी प्रकार रासलीला में कृष्ण ही वह केन्द्रस्थ शक्ति है जिसकी ओर गोपियाँ आकर्षित हैं। इस प्रकार, उनके मध्य गुरुत्वाकर्षण के कारण एक संतुलन प्राप्त होता है। जिस प्रकार रास में एक गतिबद्धता है उसी प्रकार सूर्यमंडल में, नक्षत्रों की परिक्रमा में एक गति है—एक तारतम्य है। यदि यह स्थगित हो जाय तो समस्त विश्व असंतुलन का भागी होकर विच्छृङ्खलित हो जाय जिस स्थिति को दार्शनिक भाषा में 'प्रलय' की संज्ञा दी गई है। जिस प्रकार राधा कृष्ण के वाम भाग में एक अंतरंग शक्ति के रूप में रहती हैं, उसी प्रकार सूर्य की 'तेजशक्ति' जिसे अग्नि-शक्ति भी कह सकते हैं, सूर्य का अभिन्न अंग है जिससे सूर्य का 'सूर्यत्व' है। यजुर्वेद में कहा गया है कि यह 'अग्नि-शक्ति' पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा द्युलोक में व्याप्त है। जो अग्नि अंतरिक्ष में व्याप्त है वह चराचर सृष्टि को जीवन तत्त्व का दान देती है।[1] यह अंतरिक्ष व्याप्त आग्नेय शक्ति ही राधा का प्रतीक है जो सूर्य की तेजस शक्ति है। सूर ने इसी वैज्ञानिक तथ्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया है जो उपर्युक्त विवेचन का प्रतिरूप सा ज्ञात होता है—

> ब्रज जुवति चहूं पास, मध्य सुन्दर स्याम,
> राधिका वाम, अति छवि विराजे।[2]

सौरमण्डल में सामरस्य कराने वाली शक्ति 'शब्द' ही है जो सम्पूर्ण चराचर सृष्टि में व्याप्त है। दूसरे शब्दों में, महाविस्तृत महाभूत आकाश तत्त्व (Space) में जिसे उपनिषदों ने 'ब्रह्म' तक की संज्ञा प्रदान की है, यह शब्द तत्त्व चिरन्तन रूप से व्याप्त है। सत्य में सौर-मण्डल को एक गतिबद्धता इसी ध्वनि 'शब्द' के द्वारा प्राप्त होती है जो एक सौरमण्डल को ही नहीं पर अनंत सौरमण्डलों को संचालित किए हुए है। प्रत्यक्ष रूप से रासलीला सूर्यमण्डल की इसी अनन्तता का प्रतीक है। यह ध्वनि-शब्द ही कृष्ण की वंशी है जिसकी ध्वनि से सम्पूर्ण सृष्टि तल्लीनता एवं गतिबद्धता को प्राप्त होती है। और यह जो महाभूत आकाश है वही वृन्दावन का प्रतीक है। इस प्रकार रासलीला एक वैज्ञानिक 'सत्य' का ही प्रतिरूप नहीं है, पर वह एक ब्रह्मांड का 'सत्य' है जो दर्शन की सीमा के अन्दर है।

इस महत् प्रतीक योजना के साथ रासलीला एक अन्य वैज्ञानिक सत्य का

१—उपनिषद् चिन्तन, पृ० ६२।

२—सूरसागर, स० डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ६७।

प्रतिपादन करती है, वह है परमाणु की सूक्ष्म रचना का 'सत्य'। परमाणु की रचना नितांत सूर्यमंडल की रचना के समान है। दूसरे शब्दों में सूर्य मंडल की एक प्रतिकृति यह परमाणु है। इस दृष्टि से परमाणु जो सृष्टि की सूक्ष्म इकाई है उसके अन्दर मानों ब्रह्माड ही अंतर्हित है। दार्शनिक शब्दावली में कहा जा सकता है कि परमतत्त्व की विभूति का प्रसार सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु में भी प्राप्त होता है। 'सत्य' एक है, चाहे उसके कथन के विविध रूप हों।[1] अतः रास जहाँ एक ओर सूर्यमंडल के 'सत्य' को साकार करता है, वहीं वह परमाणु के 'रूप' पर भी प्रकाश डालता है। परमाणु का केन्द्र, केन्द्रक (Nucleus) होता है जो यहाँ कृष्ण का प्रतीक है। उसके चारों ओर परिक्रमा करते हुए 'एलक्ट्रान' ग्रहों के रूप में गोपिकाएँ हैं। केन्द्रक के अन्तर्गत भी अनेक शक्ति तत्त्व निहित माने गए हैं जिन्हें प्रोटान, न्यूट्रान और पाज़िट्रान कहते हैं जिनकी सम्मिलित शक्ति ही यह राधा तत्त्व है। परमाणु की इस आंतरिक रचना में एक निश्चित क्रियाशीलता है, गतिबद्धता है। परमाणु का संगठन, एलक्ट्रान के कारण विस्फोटक शक्तियों को जन्म देता है। यही सृष्टि का रहस्य है जो रासलीला में 'राधा तत्त्व' की ओर भी संकेत करता है। परमाणु की यह विस्फोटक शक्ति एलक्ट्रान के क्रियात्मक रूप पर अवलम्बित है, उसी प्रकार कृष्ण की प्रसारिणी शक्ति (लीला) भी राधातत्त्व तथा गोपी नामक शक्तियों से विस्तार प्राप्त करती है। सृष्टि के लिए जो मिथुन परक सत्य का प्रतिपादन उपनिषदों में हुआ है उसका रूप इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण में अप्रत्यक्ष रूप से भी प्राप्त होता है। इस प्रकार रासलीला का वैज्ञानिक अनुशीलन उसे एक अत्यन्त व्यापक प्रतीकात्मक दर्शन की भावभूमि पर प्रतिष्ठित करता है।

(६) दान लीला

माखनचोरी में भक्त गोपियों का कृष्ण के प्रति जो दान आरम्भ हुआ था, वह चीरहरण और रासलीला में क्रमशः 'पूर्णता' की ओर उन्मुख प्रतीत होता है। माखनचोरी में वह दान सुकृतों तथा सुफलों का था, चीरहरण में अज्ञानजनित मोह का और रासलीला में आकर वह दान 'अहं' तथा अहंकार का था। दानलीला में आकर वह आत्मसमर्पण रूपी दान अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है। अहंकार एवं अज्ञान का जो किंचित शेष रूप रह गया था, वह दान लीला में पूर्ण तिरोहित हो जाता है। इसे ही हम ज्ञान-यज्ञ कह

१—देखो अध्याय २ में भाषागत प्रतीकवादी दर्शन में उपखंड 'घ'।

सकते हैं जो भक्ति पर आश्रित एक ऊर्ध्व चेतना का रूप है। इसी 'ज्ञान' की ओर गीता का यह कथन नितांत सत्य है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः काले नात्मनि विन्दति ॥[1]

अर्थात् इस लोक में ज्ञान जैसी कोई भी पवित्र वस्तु नहीं है, उसकी अनुभूति पुरुष को योग में पूर्णतः सिद्ध होने पर यथासमय आत्मा में होती है। इस प्रकार दान लीला में भक्ति-ज्ञान की अनुभूति आत्मपरक हो जाती है। इस दशा में आकर भक्त समस्त मानसिक एवं शारीरिक ग्रन्थियो का दान उच्च आत्मानुभूति के लिए देता है। इस तथ्य के प्रकाश में डा० ब्रजेश्वर वर्मा का यह मत समीचीन ज्ञात होता है—'दानलीला में कवि ने जिस आत्मिक मिलन एवं मानसिक अंगदान की अनुभूति का संकेत किया है, उसी को प्रकट रूप में फाग, वसंत आदि सुख लीलाओं के द्वारा प्रदर्शित किया है।'[2] सत्य में, फाग, वसंत, हिंडोला आदि में कवि ने उस उन्मत्त वातावरण का आयोजन किया है जहाँ भक्त या गोपियाँ अपने सम्पूर्ण मानसिक निलय के द्वारा कृष्ण से आध्यात्मिक मिलनानंद की अनुभूति प्राप्त करती है। विरह इस अनुभूति को और भी अधिक प्रसार एवं विस्तार देती है जो भ्रमरगीत में अपनी चरम-परिणति में प्राप्त होती है।

सूरदास ने दानलीला को इसी आध्यात्मिक अर्थ में ग्रहण किया है जो उनके अनेक संकेत-स्थलों से विदित होता है। स्वयं कृष्ण ने इसे लीला की संज्ञा दी है जो रस क्रीड़ा का रूप है—

अब दधि दान रचौ इक लीला।
जुवतिन संग करौ रस क्रीला ॥[3]

परन्तु, जब गोपियाँ दान देने में आनाकानी करती हैं, उलाहना देती है, तब कृष्ण के निम्न वचन, ईश्वर की व्यापकता एवं गोपियों से अपनी अभिन्नता का भाव इस प्रकार व्यंजित करते हैं—

गाउँ हमारो छाड़ि, जाइ बसिहौ किहि केरे।
तीनि लोक कौन जीव नाहिन जो बस मेरे ॥[4]

१—श्रीमद्भगवद्गीता, ज्ञान-योग, पृ० १७१ श्लोक ३८।
२—सूरदास, द्वारा डा० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० २८८।
३—सूरसागर, पृ० ७६४।१४६०।
४—वही, पृ० ७६६।१४६१।

इससे यह भी प्रतीत होता है कि स्वयं रस रूप ब्रह्म अपने आनंद के लिए जीवों से भी पूर्ण 'आत्मदान' की लालसा रखता है। यही कारण है कि कृष्ण गोपियों से केवल दधि और माखन (सुकृति, काम इच्छा आदि) का ही दान नहीं माँगते हैं, वह तो अपने भक्तों से मानसिक दान के अतिरिक्त उनके अंगों का (भौतिक पक्ष) भी दान चाहते हैं।

प्रथम जोबन रस चढ़ायौ, अतिहि भई खुमारि।
महारस अङ्ग-अङ्ग पूरन, कहाँ घर कहाँ बाट ॥[1]

यही नहीं, जब गोपियाँ सब कुछ देने को प्रस्तुत हो जाती हैं, तब भी वह अपने 'मन' को लौटाने की याचना कृष्ण के प्रति करती हैं। उस समय कृष्ण ने उनसे कहा—

मन भीतर है बास हमारौ।
हमको लै तहँ तुमहि छिपायौ, यह तो दोष तुम्हारौ ॥[2]

यह तो तुम्हारा ही दोष है कि तुमने अपने हृदय में मेरी मूर्ति को छिपा लिया है, तब 'वह' हृदय मैं कैसे तुम्हें लौटा दूँ? यह दोष ही गोपियों के लिए परम वरदान सिद्ध हुआ। दानलीला उसी वरदान को एक अत्यन्त भावात्मक रूप में पूर्ण आत्मसमर्पण की उन्नत दशा में पहुँचा देती है। इसी दशा में गोपियाँ प्रेम रूपी महारस में आत्मविमोर हो जाती हैं और सब कुछ देकर भी उसी 'रस' में मग्न रहती हैं। सत्य में यह ब्रह्म की आत्मानुभूति है जिसे गोपियाँ दान लीला के द्वारा प्राप्त करती हैं।

(१०) भ्रमरगीत

सूरदास और नंददास के भ्रमरगीतों में जिन तात्त्विक भावभूमियों के दर्शन होते हैं, वे मूलतः प्रेम-विरह की भक्तिपूर्ण पृष्ठभूमि में चित्रित हैं। भ्रमर-गीत नाम ही स्वतः इसी ओर संकेत करता है। भ्रमर वह व्यंग्य माध्यम है जिसके प्रति गोपियाँ अपने हृद्गत भावों का संवेदनीय रूप रखती हैं। साथ ही उस 'महत् ध्येय' की भी व्यंजना करती हैं जो सगुण भक्ति के प्रकाशन के लिए आवश्यक है। सूर ने गोपिकाओं के विरह चित्रण में समस्त भ्रमरगीत को ही मधुकर के व्याज से मानवीकरण का रूप प्रदान किया है। परन्तु यह भ्रमर केवलमात्र 'उद्धव' का ही प्रतीक नहीं है। इसके साथ-साथ वह कृष्ण

१—सूरसागर, पृ० ८२३।१६२४ (सभा)
२—वही, पृ० ८१४।१६१६ (सभा)।

की निष्ठुरता का, उन मतों का जो केवल मात्र ज्ञान को ही प्रश्रय देते हैं और उन अंधविश्वासों एवं संप्रदायों का जो ज्ञान और 'ब्रह्म' के स्वरूप को अज्ञान से, अंधकार से आवृत्त रखने का प्रयत्न करते हैं, इन सब तत्त्वों का समष्टि प्रतीक यह भ्रमर है जिसका उन्नयन करना ही सूर का ध्येय है, उसे तिरस्कृत करना नहीं। सूर ने जो भ्रमर का सामाजीकरण किया है, उसमें उसके व्यक्तित्व को तिरोहित नहीं किया है। भ्रमर व्यक्ति एवं समाज का एक समन्वित रूप ही प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार गोपियों की श्याम रंग या गात पर जो अनेक उक्तियाँ हैं, वे सब भ्रमर के व्याज से कृष्ण तथा उद्धव के प्रति आरोपित हैं। एक स्थान पर गोपी कहती हैं—

सखी री स्याम सबै इक सार।
मीठे बचन सुहाये बोलत, अंतर जारनहार।
भँवर, कुरंग काग अरु कोकिल, कपटिन के चटसार।[1]

इसके अतिरिक्त भ्रमर उद्धव तथा कृष्ण दोनों का प्रतीक है। उपर्युक्त उदाहरण में भी 'स्याम रंग' कृष्ण तथा उद्धव के प्रति आरोपित ज्ञात होता हैं। नंददास ने भी भ्रमर के प्रतीक रूप में इसी तत्त्व का समाहार किया है जब वे भ्रमर को कपटी तथा कुटिल कहते हैं, जो गोपियों का कृष्ण के प्रति व्यंग्य ही प्रतिभासित होता है।[2] यही बात सूर में भी लक्षित होती है जब वे मधुकर को 'उद्धव' और 'निरगुन' का वाचक शब्द बनाते हैं।

रहु रे मधुकर मधु मतवारे
कौन काज या निरगुन सों, चिर जीवहुँ कान्ह हमारे।[3]

यहाँ पर उद्धव की ओर संकेत स्पष्ट है। परन्तु साथ ही भ्रमर उस समष्टि भावना का भी द्योतक है जिसके प्रति गोपियाँ मर्यादापूर्ण विद्रोह करना चाहती हैं। नंददास इस समष्टि भावना को भ्रमर के द्वारा न चित्रित कर एक अन्य शब्द 'धूरि' के द्वारा व्यंजित करते हैं—

प्रेम पियूषै छाड़ि के, कौन समेटै धूरि
सखा सुन स्याम के।[4]

१—सूरसागर (भाग २), पृ० १५१६।३७४१।
२—रास पचाध्यायी और भँवरगीत, द्वारा नंददास, पृ० ५३ व ६४।
३—सूरसागर सार, पृ० १५४।
४—रास पंचा० भँवर गीत, पृ० ४८।

यहाँ पर 'धूरि' उन निरगुन एवं अन्य मतों आदि का प्रतीक है जिसका सापेक्षिक महत्त्व गोपियों के लिए न्यून है। उनमें प्रेम पियूष का ही अखंड रूप है। तभी तो दूसरी ओर गोपियों ने कहा कि एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकती हैं। जब हृदय साकार सगुण कृष्ण के रूप में लीन है, तब उस हृदय में 'निराकार' का स्थान कैसे हो सकता है ?[1]

इस प्रकार, भ्रमरगीत गोपियों की व्यक्तिगत साधना का रसमय प्रतीक है। इस साधना के द्वारा वे अपने साध्य को निकट ही अनुभव करती हैं। यह भाव निर्गुण उपासना के भी प्रति सत्य है जो बिना किसी साक्षात रूप या ध्येय के निराकार की उपासना करता है। इस दृष्टि से गोपियों का यह विरह-जनित प्रेम-भाव उस निर्गुण ब्रह्म से कहीं अधिक व्यापक है जिस पर योगी ध्यान लगाते हैं। गोपियों का उपास्य 'साकार' है और सदैव से साकार रूप की उपासना करनेवाली गोपियाँ अपने आराध्य की अनुपस्थिति में उसके 'परम-रूप' का ही ध्यान करती हैं। अतः आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का यह कथन नितांत सत्य है जब वे कहते हैं, वियोग में भी आनंद अप्रत्यक्ष ध्वनित है और यह उस कृष्ण के प्रति है जो पास में रहते हुए भी 'अदृश्य' हैं। कौन कह सकता है कि गोपिकाएँ उस अदृश्य की उपासिका नहीं थीं।[2] परन्तु उस 'अदृश्य' के प्रति पूर्णासक्ति होने पर भी उन्हें अपने व्यक्तित्व का पूर्ण तिरोभाव स्वीकार नही था। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर ने भ्रमरगीत के द्वारा व्यक्ति की महत्ता 'निराकार ब्रह्म' की सापेक्षता में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है।

सामाजिक दृष्टि से भ्रमरगीत का प्रतीकार्थ भी मान्य है। सूर के समय में जो अनेकानेक पंथ, संप्रदाय एवं हीन यौगिक अनुष्ठानों की प्रबलता थी, उनका एक प्रतीकात्मक रूप भ्रमरगीत का उद्धव-गोपी संवाद है। भ्रमर वह व्याज है जिसके द्वारा गोपियों का विक्षोभ व्यंजित होता है। गोपीरूपी जनता उनके भार से बुरी तरह से आक्रांत थी और उससे उबरने के लिए भक्ति का आश्रय ग्रहण करना चाहती थी। इसी से जब उद्धव अंत में कृष्ण के पास लौटते हैं, तब कवि ने उन्हें भक्ति के प्रभाव के कारण 'गोपी-प्रेम' का बखान करते हुए भी चित्रित किया है। इस प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि कवि धर्म एवं समाज की अनेक विघटनात्मक शक्तियों का उन्नयन चाहता है। उस उन्नयन

१—सूरसागर सार, पृ० १५६।

२—महाकवि सूरदास, द्वारा आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, पृ० १३७।

के लिए भक्ति से उत्पन्न श्रद्धा एवं विश्वास को आवश्यक मानता है। अंत में, कवि ने उद्धव का जो चित्रांकन किया है, वह इसी तथ्य की सूक्ष्म प्रतिध्वनि है—

सूरस्याम नित प्रति यह लीला
देखि देखि मन लागत।[1]

अथवा नंददास के शब्दों में—

रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै गई साँवरे गात।[2]

इनमें क्या उद्धव के मानसिक जगत का एक धूमिल परिवर्तन ध्वनित नहीं होता है? इसी से भ्रमरगीत हृदय-परिवर्तन की ओर संकेत करता है और यह घोषित करता है कि सामाजिक अधोगति का तिरोभाव केवल इसी हृदय-परवर्तन के द्वारा हो सकता है।

(ग) प्रेम-भक्ति की प्रतीक-योजना

गोपी-भाव

सूर आदि ने प्रेम भाव का आदर्शीकरण गोपी-भाव तथा राधा-भाव में किया है। उनका प्रेम माधुर्य भाव से परिपूर्ण होने के कारण कृष्ण के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। अंत में उनकी तद्रूपता 'कीट-भृंग' के समान परिलक्षित होती है। मीरा में व्यक्तिगत प्रेम-साधना के कारण गोपी भाव की चरम अनुभूति प्राप्त होती है। मीरा का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही मानों इसी गोपी भाव में पूर्ण तादाकार हो गया है। अतः मीरा की साधना का प्रतीक यह गोपी भाव ही है। यह गोपी भाव प्रेम भक्ति की वह परमावस्था है जहाँ नित्य आनंद का स्रोत प्रवाहित रहता है। यह आनंद परब्रह्म के प्रति दिव्य प्रेम से अनुप्राणित होने से 'प्रेम-भक्ति' के द्वारा जाना जाता है। इसी से मीरा का गोपी भाव और गोपियों का प्रेम भाव—दोनों ही उस मधुर प्रेम-साधना के रूप हैं जहाँ रतिपूर्ण प्रेम का उन्नयन मधुर भाव में क्रमशः होता है। सूर के 'गोपी भाव' का आलम्बन प्रत्यक्ष है, जबकि मीरा का आलम्बन अप्रत्यक्ष भावजन्य और अनुभूतिपरक विरह से कहीं अधिक ओत-प्रोत है। यही कारण है कि मीरा के गोपी भाव में एक विरह विदग्ध साधिका की टीस एवं तड़पन है। मीरा का गोपी भाव गोपियों की तरह उस तादात्म्य 'योग' का सुन्दर रूप है

१—सूरसागर सार, पृ० १८६।

२—रास पचाध्यायी और भँवरगीत, पृ० ७५।

जहाँ जैसे भी और जिस प्रकार 'हरी' रीझे, उसी प्रकार का बनाव 'सिंगार' करना चाहिए,[1] अथवा मीरा का 'मुरारी' 'हिरदा' में बसा हुआ है और जिसे वह हृदय में पल-पल 'दरसण' भी करती है।[2] और 'उससे दिन-रात' खेल कर 'रिझाने' का उपक्रम करती है, क्योंकि उनकी 'प्रीति पुराणी' है, 'जनम जनम' की है,[3] 'पूरब जनम' की है[4]—तभी तो मीरा का अपने 'साँवरिया' पर जन्मसिद्ध अधिकार है। मीरा का यह गोपी-भाव तन्मयता एवं परमात्मा के प्रति एकनिष्ठ प्रेम ही का माधुर्यपरक रूप है। टेनीसन ने भी ईश्वर पर विश्वास का समस्त आधार इसी प्रेम भाव की तन्मयता में माना है जो सृष्टि का आदि तथा अंतिम नियम भी है।[5]

मानवेतर प्रकृति के प्रतीक

प्रेम-भक्ति भावना को तीव्रतर करने के लिए इन सम्बन्ध-प्रतीकों के द्वारा कवियों ने अपनी आत्माभिव्यक्ति की तीव्रता ही व्यंजित की है। इन प्रतीकों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध ही दृष्टिगत होता है। फिर भी उनमें साध्य-साधक, विषय और विषयी एवं भक्त और भगवान् के विभेद सम्बन्ध में अभेदत्व की अंतः सलिल प्रवाहिनी बहती रहती है। सूर ने कमल और भौंरे के संबंध के द्वारा भक्ति की इसी मनोभूमि का प्रतीकात्मक निर्देश किया है—

> भौंरा भोगी बन भ्रमैं (रे)
> मोद न मानै ताप।
> सब कुसमनि मिलि रस करै (पै)
> कमल बँधावै आप॥[6]

जीव संसार के विषय-भोगों में कितना ही क्यों न लिप्त रहे, पर अंत में उसकी मनोवृत्तियाँ अपने साध्य तत्त्व 'कमल' के आकर्षण से अवश्य उन्मुख होंगी। इसमें साध्य और साधक की द्वैत-भावना के साथ अद्वैत की झलक भी

१—मीरांबाई की पदावली, पृ० १०५।१६।

२—वही पृ० १०५।१५।

३—वही, पृ० १०६।१६।

४—वही, पृ० १०१।२८।

५—Who trusted God was love indeed;
And love creation's final law.
—इन मैमोरियम, टेनीसन, पृ० ५०।

६—सूरसागर, भाग प्रथम, पृ० १०६।३२५।

प्राप्त होती है जो भक्ति भाव के लिए परमावश्यक है। इसी जीव को सम्बोधित करते हुए (भृंगी) सूरदास ने उसे अद्वयतत्त्व में ध्यान लगाने का उपदेश दिया है—

भृंगी री, भजि स्याम कमल पद
जहाँ न निसि को वास।[1]

हे आत्मा! उस परम साध्य के चरणों के निकट जा जहाँ पर अविद्या एवं अज्ञानांधकार (निसि) का वास नही है। सत्य तो यह है कि जो भौंरा कमल का प्रेमी है उसके सामने चंपक बन (संसार) की क्या महत्ता है? उच्च-ध्येय के सामने इतर ध्येयों का तिरोभाव एक सामान्य प्रवृत्ति है। जब मन साध्य के महत्त्व में एकाकार हो जाता है तो उसके सामने संसार के विषयादि (चंपक) केवल एक घटना मात्र रह जाते हैं। गोपियों की भी यही दशा है जब वे कहती हैं—

सूर भृंग जो कमल के विरही,
चंपक बन लागत चित थोरे।[2]

इसी प्रकार सूरदास ने एक अन्य स्थान पर चकई को सम्बोधित करते हुए कहा है—

चकई री चलि चरन-सरोवर जहाँ न प्रेम-बियोग।[3]

इन प्रतीकों का स्वरूप मुख्यतः परम्परागत ही है। फिर भी इन प्रतीकों में जो अनुभूतिजन्म एकात्म भाव की व्यंजना है, वह प्रतीकों को एक उच्च भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करती है। इन प्रतीकों के द्वारा भक्त कवियों ने जिस प्रेममयी भावभूमि का प्रस्तुतीकरण किया है, उसमें इन प्रतीकों का स्थान 'मनोवैज्ञानिक-अध्यात्मवाद'[4] की ओर ही संकेत करता है। उनकी समस्त मनोवृत्तियाँ उस समय एकरस होकर एक 'ध्येय' में निमग्न हो जाती हैं। सगुण कवियों ने ऐसे ही चित्त के द्वारा ब्रह्म रूप 'कृष्ण' का ज्ञान प्राप्त किया था। फिर उस ज्ञान को अनेक प्रतीकात्मक सम्बन्धों के द्वारा प्रकट किया था।

प्रेम-सम्बन्ध का दूसरा आदर्श चातक-वृत्ति है। तुलसी ने चातक के

१—सूरसागर, पृ० १०२।३३६।
२—वही, खंड २, पृ० १५४७।३८५१।
३—वही, पृ० १११।३३७।
४—दे० अध्याय द्वितीय, उपखंड ग।

क्रमिक विकास के द्वारा आध्यात्मिक रहस्य उद्घाटित किया था। परन्तु कृष्ण काव्य में चातक का उतना विस्तृत प्रतीकार्थ नहीं प्राप्त होता है। तुलसी ने चातक वृत्ति पर तो एक पूरे स्वतंत्र संदर्भ की अवतारणा की है। फिर भी, सूर ने चातक वृत्ति की एकनिष्ठ प्रेम भावना का, तुलसी की भाँति व्यंजित किया है—

सुनि परिमित पिय प्रेम की (रे) चातक चितव न बारि।
घन आसा सब दुख सहै, पै अनत न जांचै बारि॥[1]

अपने परम साध्य 'मेघ' की आशा में चाहे चातक रूपी प्रेमी-भक्त को कितने ही संकटों का सामना करना पड़े, पर उसे चाहिए तो केवल स्वाति बूँद। इसी चातक वृत्ति की एकनिष्ठ प्रेमाधार की व्यंजना, गोपियों ने स्वयं पर आरोपित की है—

सखी री चातक मोहि जियावत।
जैसहि रैनि रटति हौं पिय पिय तैसहिं वह पुनि गावत
अतिहि सुकंठ दाह प्रीतम के, तारू जीभ न लावत॥[2]

'तारू जीभ न लावत' में मानों चातक की वृत्ति भक्ति की वृत्ति से एकाकार हो गई है।

इसी प्रकार मीरा ने भी पपीहा के स्वतंत्र प्रयोग के द्वारा अपने विरह की जो अभिव्यंजना प्रस्तुत की है, वह प्रतीकात्मक ही अधिक है। पपीहा मानों उनके विरहपूर्ण हृदय का ही प्रतीक है जो उनके मनोभावों को साकार रूप प्रदान कर देता है—

पपइया म्हारा कब री बैर चितार्‌या॥टेक॥
म्हा सोवूं छी अपणे भवण मां पियु पियु करता पुकार्‌या।
दाध्या ऊपर लूण लगायां, हिवड़ो करवत सार्‌या॥[3]

कृष्ण काव्य में प्रेम भावना को कुछ अन्य प्रतीकों के द्वारा भी व्यक्त किया गया है जैसे चकई, जल-मीन, दीपक-पतंग और सरिता-तड़ाग। मीरा नें इन प्रतीक योजनाओं में दीपक और मीन के द्वारा जो प्रेम-भावाभिव्यंजना प्रस्तुत की है, वह भक्त कवियित्री के आनन्दपूर्ण प्रेम-विरह की भावना से ओतप्रोत है—

१—सूरसागर, पृ० १०६। ३२५ तथा पृ० १५४०। ३८३१।

२—वही, पृ० १३६०। ३३३४।

३—मीराबाई की पदावली, पृ० १२६। ८३ व ८४।

नागर नंदकुमार लाग्यो थारो नेह ।। टेक ।।
पाणी पीर ण जाणई, मीन तलफि तज्यो देह ।
दीपक जाण्या पीर णा, पतंग जल्या जल खेह ।
मीरां रे प्रभु सांवरे रे, थे बिण देह अदेह ।।[१]

अपनी दशा के प्रतीक रूप मीन और पतंग की एकनिष्ठ प्रेम-साधना में मानों मीरा की समस्त प्रणय भावना केंद्रीभूत हो गई है। इसी एकनिष्ठ प्रेम भावना को सूरदास ने भी दीपक-पतंग और जल-मीन के सम्बन्ध द्वारा प्रदर्शित किया है।[२]

गोपियों के विरह एवं प्रेम का विस्तार केवल अपने तक सीमित नहीं रहता है। वे अपने मनोभावों का विस्तार चराचर प्रकृति में भी करती हैं। तभी तो उन्होने प्राकृतिक घटनाओं एवं वस्तुओं को मानवीय क्रियाओं के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। सूरदास ने गोपी-विरह प्रसंग में समस्त भ्रमरगीत को ही भ्रमर के व्याज से मानवीकरण के रूप में चित्रित किया है। वहाँ पर गोपियो के मनोभावों का प्रकृति पर एक प्रतिक्रियात्मक रूप प्राप्त होता है। सूरसागर में ऐसे 'प्रतीकों' की (मानवीकरण) संख्या अत्यन्त अल्प है। एक स्थान पर गोपियाँ 'मधुबन' को मानवीय क्रियाओं से युक्त देखती है जो उनके मनोभावों का प्रतिरूप सा ज्ञात होता है—

मधुबन तुम कत रहत हरे ।
बिरह-बियोग नंदनंदन के ठाढ़े क्यों न जरे ।।
मोहन बेनु बजावत द्रुमतर साखा टेकि खरे ।।
मोहे थावर जंगम जेते मुनिगन ध्यान टरे ।
वह चितवन तू मन न धरतु है फिरि फिरि पुहुप धरे ।
सूरदास प्रभु विरह दवानल नख शिख लौं पसरे ।।[३]

इसी प्रकार गोपियों ने अपनी विरहावस्था का आरोप यमुना पर कर उसे मानवीय क्रियाओं से युक्त दिखाया है।[४] एक अन्य स्थान पर गोपियाँ कृष्ण

१—मीराबाई की पदावली, पृ० १३३ । १०५ ।
२—सूरसागर, पृ० १०७ । ३२५ ।
३—सूरसागर सार, पृ० १२८ ।
४—वही, पृ० १३१ ।

की अनुपस्थिति में काली रात्रि को नागिन के रूप में चित्रित कर उसे मानवीय संदर्भ में अवतीर्ण करती हैं—

> पिय बिनु नागिन कारी रात।
> जौ कहुँ जामिनि उदति जुनैया, डसि उलटी ह्वै जात ॥[1]

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि गोपियों के प्रेम-विरह के प्रतीक कालिंदी तथा यामिनी उनकी मानसिक भावनाओं के प्रतिरूप हैं।

साधनागत प्रतीकात्मक प्रसंग

इन सम्बन्धगत प्रतीकों का विवरण उस समय तक अधूरा रहेगा, जब तक भक्ति काव्य के अन्तर्गत उन प्रतीकात्मक संदर्भों का विश्लेषण न किया जाय जो प्रेम-साधना के स्वरूप को और उससे उद्भूत मिलन को स्पष्ट कर सकें। ऐसे प्रतीकात्मक प्रसंग साधक की उस मनोदशा से सम्बन्धित हैं जहाँ पर वह भक्ति साधना के मार्ग की कठिनाइयों एवं व्यवधानों से क्रमशः गुजरता है और अंत में अपने परमाराध्य के मिलनानन्द की अनुभूति प्राप्त करता है। इस प्रसंग में सूफी काव्य के साधनात्मक रूप का अभाव प्राप्त होता है। यहाँ पर कठिनाइयों का एक माधुर्यपरक प्रतीकात्मक रूप ही अधिक है। इस दृष्टि से सूरसागर में द्वारका चरित्र के अन्तर्गत विरह-विदग्ध गोपियों के निम्न वचन एक साधनापरक प्रसंग को प्रतीक रूप में रखते हैं—

> हौं कैसे के दरसन पाऊँ।
> बाहर भीर बहुत भूपनि की, बूझत बदन दुराऊँ।
> भीतर भीर भोग भामिनि की, तिहि हौं काहि पठाऊँ ॥[2]

अपने प्रिय या आराध्य का किस प्रकार से दर्शन प्राप्त किया जाय? एक ओर बाह्य संसार के अनेक प्रलोभन, विषयादि आकर्षित करते हैं। दूसरी ओर, स्वयं हृदय में अनेक भोग वृत्तियों की प्रचुरता है, जो प्रिय के साक्षात्कार में बाधा स्वरूप है। इस माधुर्यपूर्ण उक्ति में जहाँ एक ओर प्रेम साधना के पथ की दुर्लभताओं का संकेत हैं, वहीं उस वर्णन में गोपियों की रागानुगा भक्ति भी व्यंजित होती है। इसी साधना के मार्ग का माधुर्यपूर्ण रूप मीरा की निम्न पंक्तियों में साकार हो उठा है—

१—सूरसागर सार, पृ० १३५।
२—वही, पृ० १६५।

जोगिया जी निसि दिन जोऊँ बाट ।। टेक ।।
पाँव न चालै पंथ दूहेलो, आड़ा औघट घाट।
नगर आय जोगी रम गया रे, मो मन प्रीत न पाइ ।[१]

साधना मार्ग कठिनाइयों से भरा हुआ है जिसमें अनेक 'औघट घाट' है । इस 'औघट-घाट' के द्वारा मीरा ने उन समस्त वाधाओं का केन्द्रीकरण कर दिया है जो भक्ति मार्ग की कठिनाइयों का प्रतीक है । इन वाधाओं के द्वारा अज्ञान का उदय हो जाने से जोगी संसार में (नगर) आकर भी, मीरा के हृदय में स्थान न पा सका । इसका कारण था कि मीरा के हृदय में 'प्रेम' का वह सबल रूप मुखर न हो सका जो उसके 'जोगी' को अन्यत्र न जाने देता । कितना दुर्लभ है उस जोगी को हृदय की सीमा में बाँधना जब कि अंतःकरण 'औघट-घाट' और 'दुहेला पंथ' के वात्याचक्रों से ही नहीं छूट सका है !

मीरा ने प्रत्यक्ष रूप से वाधाओं को प्रतीक रूप देने की चेष्टा अन्य स्थलों पर भी की है । सत्य में, राणा का सांप की पिटारी भेजना, विष का प्याला आदि भेजना और मीरा के सामने उन सबका अमृतमय रूप में परिवर्तित हो जाना एक प्रतीकात्मक अर्थ की ओर संकेत करता है । ये वस्तुएँ जो मीरा के सम्मुख आती हैं, वे भक्ति मार्ग की बाधाओं को ही स्पष्ट करती हैं जिन पर मीरा विजय प्राप्त करती हैं । यहाँ पर सर्प 'काल' का प्रतीक है और विष सांसारिक विषय वासनाओं का । यदि हम इन ऐतिहासिक घटनाओं को प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण करें तो, मेरे विचार से, इतिहास के साथ साथ एक ऐसे प्रतीकार्थ का हृदयंगम हो सकेगा जो मीरा को अभीष्ट रहा हो । ये प्रसंग ऐतिहासिक प्रामाणिकता पर कुठाराघात नहीं हैं, पर उनका अर्थ-विस्तार ही हैं ।

साधना पथ की इस यात्रा का पर्यवसान उस समय होता है जब साधक अपने परम साध्य से एकात्म अनुभूति प्राप्त करता है । इस एकात्म अनुभूति से मिलन के आनन्द की अनुभूति भी होती है । इस आनन्द को व्यक्त करने के लिए कवियों ने प्रतीकों का आश्रय लिया है । इस प्रकार के प्रतीकात्मक अर्थ मीरा के काव्य में सुन्दरता से आयोजित हुए हैं । कवियित्री ने झिरमिट खेलने की लालसा में 'सांवरे' को प्राप्त करने का जो उपक्रम किया है, वह पूरे संदर्भ को एक प्रतीकात्मक रूप प्रदान कर देता है—

१—मीरांबाई की पदावली, पृ० ११५।४४ ।

म्हां गिरधर रंग राती, सैयां म्हां ।। टेक ।।
पचरंग चोला पहर्‌या सखी म्हां, झिरमिट खेलण जातीं ।
वां झिरमिट मां मिल्यो सांवरो, देख्या तण मण रातीं ।[१]

यहाँ पचरंग चोला ही पंचतत्त्व से निर्मित शरीर का प्रतीक है जिसके द्वारा साधिका 'झिरमिट' खेलने जाती है। यह खेल साधक एवं साध्य, प्रेमी और प्रेमपात्र का वह स्थल है जहाँ 'नित्य-मिलन' की अनुभूति प्राप्त होती है। एकांत झिरमिट में ही 'सांवरे' के दर्शन होते हैं। मीरा के बारे में यह और भी सत्य है कि उसके प्रेम का सम्बन्ध एक आध्यात्मिक प्रतीक 'झिरमिट' की अवतारणा करता है। इसी से 'झिरमिट' का आध्यात्मिक अर्थ व्यक्तिगत साधना का वह रूप मुखर करता है जो साधक में मिलन-इच्छा को और भी तीव्र करता है। इस मिलन की लालसा में विरहिणी मीरा का 'विरह' क्रमशः आशा और सुख की मिश्रित अभिव्यक्ति के रूप में, अनेक प्रतीकों के द्वारा व्यक्त होता है। उनका घर ही मानों शरीरगत हृदय है जिसमें उनका 'ओलगिया' आनेवाला है जिससे कि उनका विरह ताप, सुख एवं आनन्द में परिणत हो सके। उनके प्राण (मोर) ही मानो आनन्द-वर्षा (मेघ) के अनुभव मात्र से पुलकित हो गए हैं। प्रेम की चेतना किरणों (चन्द्र-ज्योत्स्ना के उदय से उनका मन प्रफुल्लित (कमल के समान) हो गया है। उनका रोम-रोम प्रेमभाव से परिपूर्ण हो गया है, क्योंकि अब तो उनका 'मोहन' उनके हृदय रूपी 'आंगन' में प्रवेश कर चुका है—

म्हारो ओलगिया घर आज्यो जी ।
तणरी ताप मिट्यो सुख पाइया, हिलमिल मंगल गाज्यो जी ।
घणरी घुण सुण मोर मगण भया, म्हारे आगण आज्यो जी ।
चंदा देख कमोदण फूला, हरख भयां म्हारे छाज्यो जी ।
रुम रुम म्हारो सीतल सजणी, मोहन आंगण आज्यो जी ।
मीरा विरहण गिरधर नागर, मिल दुख दन्दा छाज्यो जी ।।[२]

मीरा ने अपने प्रिय से मिलन का चित्र प्राकृतिक व्यापारों एवं मानवेतर प्राणियों के 'प्रतीकवत्' प्रयोग से भी व्यंजित किया है। यहाँ आंतरिक जगत का वाह्य जगत से एकाकार हो गया है। दादुर, मोर, पपीहा आदि का बोलना,

---

१—मीरांबाई की पदावली, पृ० १०७-१०८।२३ ।
२—वही, पृ० १३८।११६ ।

उनके हृदयगत भावों एवं प्रवृत्तियों के प्रतिरूप से ज्ञात होते हैं। दूसरी ओर, 'इन्द्र' (मेघ) का स्वागत करने के हेतु धरती का नव उल्लासपूर्ण अभिसारिका रूप मानों मीरा के तल्लीनतापूर्ण अभिसार का प्रतीक है। मिलन का माधुर्य से भरा चित्र जितनी सजीवता से इन प्राकृतिक वस्तुओं के द्वारा अभिव्यंजित हुआ है, वह परोक्ष रूप से, मीरा के हृदय की, उसकी भावनाओं एवं वृत्तियों की एक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है—

सुण्या जी म्हारे हरि आवांगा आज ॥ टेक ॥
म्हैला चढ़ चढ़ जोवां सजनी अब आवां महाराज।
दादुर मोर पपीहा बोल्या, कोइल मधुरा साज।
उमग्या इन्द्र चहूँ दिसि बरसां, दामण छोड्या लाज।
धरती रूप नवां नवां धड्या, इन्द्र मिलण रे काज।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर, बेग मिल्यो महाराज ॥[1]

अतः मीरा ने मिलनानंद को व्यंजित करने के लिए उपर्युक्त व्यापारों को एक सबल प्रतीकात्मक रूप दिया है। इनके द्वारा कवयित्री ने अपने प्रियसाध्य का आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया है। मीरा ने 'सावन की वदरिया' का जो संकेत किया है वह आनंद की एक आध्यात्मिक वर्षा ही है—

बरसा रौ वदरिया सावण री, सावण री मन भावन री ॥ टेक ॥
सावन माँ उमंग्यो म्हारो मण री, भणक सुण्या हरि आँवन की।
उमड़ घुमड़ घण मेघा आयाँ, दामण घण झर लावण री ॥
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर, वेला मंगल गावण री। [2]

इसी प्रकार 'होली' का वर्णन भी एक आध्यात्मिक प्रतीक है। इसमें लाल रंग अनुराग का प्रतीक है।[3]

सूर की गोपियाँ भी ऐसी ही आनंदानुभूति की दशा में उस समय दिखाई देती हैं जब वे फाग एवं वसंतलीला की रस वृष्टि का अनुभव करती हैं। यहीं पर मिलन की चरम परिणति प्राप्त होती है। मीरा की मिलनावस्था गोपियों की मिलनावस्था से सर्वथा भिन्न है। मीरा का मिलन व्यक्तिगत है जो निजी अनुभूति का विषय है। परन्तु गोपियों का मिलन विरह की अवतारणा ही

१—मीराबाई की पदावली, पृ० १४४।१४३।

२—वही, पृ० १४४।१४६।

३—वही, पृ० १४५।१४८।

करता है जो अंत में कृष्ण से द्वारका में मिलती तो हैं पर वे वहाँ पर मिलकर भी पूर्ण रूप से मिल नहीं पाती हैं। गोपियो का यह 'दुखांत-मिलन' न तो दुखांत है और न सुखांत। वह तो दोनों से परे एक चिरन्तन मिलन है जो नितांत आध्यात्मिक है। शेक्सपियर ने रोमियो और जूलियट की मृत्यु के द्वारा दुखांत की अवतारणा की है तो सूर ने गोपियो को जीवित रखते हुए भी दुखात की सृष्टि की है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार महाकवि कालिदास ने 'अभि-ज्ञान-शाकुन्तल' में शकुंतला की ट्रेजडी का चित्रांकन बिना उसकी मृत्यु के ही चित्रित किया है जो सम्पूर्ण रचना में व्याप्त है। भारतीय महाकाव्यों की ट्रेजडी मृत्यु की ट्रेजडी नहीं है, पर वह तो जीवन एवं जगत की कलुषता की ट्रेजडी है। सूर की गोपियाँ भी इसी ट्रेजडी को सुन्दरता से व्यंजित करती हैं।

(घ) दृष्टिकूटों की प्रतीक योजना

कृष्ण काव्य का चरम कलात्मक विकास कूटपदों में प्राप्त होता है। परन्तु उनके अर्थ को ग्रहण करने में यदा-कदा जो मानसिक एवं बौद्धिक व्यायाम करने पड़ते हैं, वे काव्य की रसानुभूति में विघ्न ही उपस्थित करते हैं। इस पर भी यह कहा जा सकता है कि जब उनका अर्थ स्पष्ट हो जाता है तब उनका काव्यात्मक सौंदर्य, अर्थसौंदर्य की पुष्टि ही करता है। कूटों का आधार शब्द-शक्ति ही है। शब्दों के चयन एवं उनके विविध अर्थ गर्भित प्रयोगों की परिणति ही 'कूटों' का क्षेत्र है। यह दूसरी बात है कि कहीं-कही पर कुछ विशिष्ट शब्दों की अनेक बार आवृत्ति हो भी जाय, पर उस पुनरावृत्ति में भी भाव-सौंदर्य को देखा जा सकता है। शब्द की इन विविध अर्थ-शक्तियों का सुन्दर विकास 'शब्द-प्रतीक' की स्थिति को ही स्पष्ट करता है। अतः कूट के प्रति यह दृष्टिकोण रखना कि उनका अर्थ शब्दों की भूलभुलैया में छिपा रहता है[1] नितांत भ्रामक शब्द प्रयोग है। 'भूल भुलैया' शब्द एक हीन भावना को ही जन्म देता है। कूट में शब्दो की एक ऐसी सबल योजना प्राप्त होती है जो किसी विशिष्ट अर्थ को ही व्यक्त करती है। वह हमें वात्याचक्र में डालने के लिए नहीं होती है। दृष्टिकूट का अर्थ ही है जो गूढ हो (कूट) और जिसे हम प्रत्यक्ष रूप से देख न सकें। जन-भाषा में कहें तो दृष्टिकूटों का अर्थ 'तिल की ओट पहाड़' अथवा 'देखने के आगे पहाड़ हो जाना है।' शब्द के पीछे अर्थ गम्भीरता का, उसके

१—सूर के सौ कूट, सं० चुन्नीलाल 'शेष', भूमिका, पृ० २।

व्यंग्यार्थ का जितना अधिक आग्रह कूट में प्राप्त होता है उतना कदाचित् किसी अन्य काव्य माध्यम में नहीं। शब्दों की इस क्रीड़ा में उनका प्रतीक रूप भासित होता है। संस्कृत साहित्य के विशाल प्रांगण में ऐसे कूट शब्दों की एक अच्छी खासी परम्परा प्राप्त होती है। वेदों तथा उपनिषदों के अनेक ऐसे दृष्टांत हैं जिनमें शब्द-कूटों की यदाकदा योजना प्राप्त होती है। यहाँ तक कि पुराणों में भी इन कूट शब्दों पर अर्थ-व्यंजना का रहस्य निहित रहता है। सत्य तो यह है कि जब मानव वाणी किसी महान तत्त्व या रहस्य को भाषा के द्वारा व्यक्त नहीं कर पाती है तब वह इन कूट शब्दों के प्रतीकवत् प्रयोग के द्वारा उस रहस्य या तत्त्व का संकेत करती है। इन्हीं कूट-शब्दों को भागवत में कूट-रचनाओं के अंतर्गत रखा गया है जिन्हें स्वयं हर्यश्व जी सुनकर हतप्रभ हो गए थे—

तन्निशम्याथ हर्यश्वा औत्पत्तिकमनीषया।
वाचः कूटं देवर्षेः स्वयं विममृशुर्धिया॥[1]

'अर्थात् हर्यश्व जन्म से ही विद्वान् थे, वे देवर्षि नारद के इन वाचक कूटों को सुनकर विचार करने लगे।'

इन कूटों का आदितम रूप ऋग्वेद में भी प्राप्त हो जाता है। वहाँ एक स्थान पर कहा गया है कि वरुण लोक में एक सोमवृक्ष है जिसकी किरणों की जड़ें ऊपर हैं तथा जिसकी किरणें ऊपर से नीचे फैलती हैं।[2] सत्य में यह ब्रह्म के सृष्टिप्रसार का कूटात्मक शैली में अभिव्यक्तीकरण है। इसी प्रकार कठोपनिषद् में ऊपर की ओर मूल और नीचे की ओर शाखाओं वाला वृक्ष दृष्टांत[3] भी कूटात्मक शैली का सुन्दर उदाहरण है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी अश्वत्थ वृक्ष का सृष्टिपरक दृष्टांत भी प्राप्त होता है।[4]

इन कुछ कूट-शब्दों के द्वारा स्पष्ट होता है कि कूट शैली का प्रयोग एवं उसकी परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। उसी परम्परा का पालन हिन्दी साहित्य के आदिकाल में भी प्राप्त होता है। 'विद्यापति से सूरदास तक ऐसे कूट-पदों की संख्या अल्प ही है, क्योंकि दृष्टिकूटों का प्रयोग सभी कवि कुशलता से नहीं कर सकते हैं। विद्यापति में इन कूटों की संख्या सूरदास की

१—भागवत, ६।५।१०।

२—उद्धृत सूर के सौ कूट से, पृ० ४।

३—दे० प्रथम अध्याय, उपखंड 'ग' में 'ब्रह्म'।

४—श्री मद्भगवद्गीता, पुरुषोत्तम योग, पृ० ४६०।१।

अपेक्षाकृत कम ही है। विद्यापति के प्रथम चारणकाल में इन कूटों का सर्वथा अभाव है। भक्तिकाल में परमानंददास में केवल एक कूट पद ही प्राप्त होता है।[1] इस प्रकार केवल कबीर ही रह जाते हैं जिनकी उल्टवासियों के प्रति यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि उन्हें क्या कूट के अन्तर्गत रखा जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर आश्रित है कि कूट तथा उल्टवासी में एक स्पष्ट एवं स्वाभाविक अंतर है। उल्टवासियों में प्रत्येक वस्तु का प्रयोग इस प्रकार से होता है कि वे उल्टी रीति से किसी अर्थ का अभिव्यक्तीकरण करती हैं। परन्तु कूटों में यह कोई सामान्य नियम नहीं है। सूर के कूटों में किसी भाव अथवा विचार को, किसी सौंदर्य चित्र को व्यंजित करने के लिए परम्परागत उपमानों की या किसी विशिष्ट शब्द की अर्थ विविधता की सहायता ली जाती है। इसमें अर्थ की व्यंजना शब्दों के क्रमानुसार रूप से प्रकट होती है। परन्तु उल्टवासियों में ऐसे शब्दों का सर्वथा अभाव होता है। वहाँ तो एक अक्खड़ प्रवृत्ति के द्वारा ऐसे उल्टे संदर्भों की अवतारणा प्राप्त होती है जो मस्तिष्क को एक अनहोनी घटना सी लगती है। दूसरी ओर कूटों में इस प्रकार की अनहोनी घटनाओं का प्राप्त होना कोई नियम नहीं है। काव्य कला की दृष्टि से कूटों और उल्टवासियों में एक स्पष्ट अंतर है। कूट एक साहित्यिक रूप है जब कि उल्टवासी अपेक्षाकृत साहित्य का उतना मनोमोहक रूप नहीं कहा जा सकता है। सत्य तो यह है कि उल्टवासियों की भी एक प्राचीन परम्परा संस्कृत साहित्य में भी प्राप्त होती है जिस प्रकार कूटों की परम्परा।[2] इस दृष्टि से भावाभिव्यंजना के लिए कवियों ने प्राचीन काल से दोनों शैलियों का आश्रय ग्रहण किया है। मेरा विचार है कि साहित्य के लिए दोनों शैलियों का समान महत्त्व है जहाँ तक प्रतीकात्मक अभिव्यंजना का एवं शब्द-प्रतीक के अर्थ-विस्तार का प्रश्न है। अतः प्रतीक योजना की दृष्टि से सूर के कूटों को निम्नांकित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) शाब्दी कूटों के अन्तर्गत यमक अथवा श्लेषगत प्रतीकों की योजना।

(२) आर्थी कूटों के अन्तर्गत रूपकातिशयोक्ति, साग रूपक आदि में प्राप्त प्रतीकों की योजना।

(१) शाब्दी प्रतीक

इस वर्ग के अंतर्गत उन शब्द-प्रतीकों का स्वतंत्र प्रयोग प्राप्त होता है जो

१—सूर के सौ कूट, चुन्नीलला 'शेष', पृ० ११।

२—दे० अध्याय ४, उल्टवासियों में प्रतीक योजना उपखण्ड ड।

अपनी विशिष्ट भावभंगिमा के कारण एक या अनेक अर्थों की व्यंजना करते हैं। इन उदाहरणों में प्रतीक की वह कोटि स्पष्ट होती है जो भारतीय काव्य शास्त्र में शब्द-शक्तियों की संज्ञा से विभूषित है। इस दृष्टि से कूटों में प्रयुक्त कुछ ऐसे शब्द प्राप्त होते हैं जो अपनी विशिष्ट व्यंजना के कारण एक या अनेक अर्थों में स्थिर होकर किसी भाव की व्यंजना समष्टि रूप से करते हैं। सूर के कूटों में ऐसे शब्दों की संख्या बहुत तो नहीं है, पर कम भी नहीं है। इन शब्दों में सब से अधिक मोह सूर को 'सारंग' शब्द से है जो संदर्भानुसार 'प्रतीक' की श्रेणी तक पहुँच गया है। सारंग शब्द के अतिरिक्त 'दधि', 'हार', 'हरि' और 'घर' शब्दों का कहीं-कहीं पर प्रतीकवत् प्रयोग भी प्राप्त होता है।

विवेचन की सुविधा को ध्यान में रखकर सारंग शब्द के प्रयोगो को दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। एक तो वे अर्थतत्व हैं जो पौराणिक नामों के प्रतीक है, और दूसरे वे हैं जो रूप एवं प्रेम के भावों के व्यंजक हैं। सारंग शब्द की पौराणिक अन्विति निम्न कूट में स्पष्ट होती है—

हरै बलबीर बिना को पीर।
सारंगपति प्रकटै सारंग ते, जानि दीन पर भीर॥
सारंग बिकल भयो सारंग में, सारंग तुल्य सरीर।
पर्‌यो काम सारंगबासी सौं, राखि लियो बलबीर॥
गहै दुष्ट द्रुपदा की सारंग, नैननि बरसत नीर।
सूरदास प्रभु अधिक कृपा ते, सारंग भयो गंभीर॥[1]

इस कूट में सारंग शब्द की अनेकावृत्ति में नवीन अर्थों की विविधता प्राप्त होती है जो उपर्युक्त पद में क्रमानुसार कृष्ण, 'आकाश तत्व' हाथी (गजेंद्र), सरोवर (ग्रह), मेघ और चीर के अर्थों को स्पष्ट करती है। ये सब अर्थ मूलतः कृष्ण के भक्तवत्सल भाव को व्यंजित करते हैं। इस प्रकार सारंग शब्द के द्वारा सूर ने जो महत् कार्य लिया है, वह समष्टि रूप से सारंग के प्रतीकत्व की ओर स्पष्ट संकेत करता है। इस पद में केवल काव्य सौंदर्य ही नहीं है पर उस सौंदर्य के साथ सारंग शब्द की भावात्मक एवं विचारात्मक अन्विति भी है जो एक विशिष्ट भाव जगत का निर्माण करती है। यहाँ सारंग एक महत्-प्रतीक कहा जा सकता है।

सारंग के इन पौराणिक अर्थों के अतिरिक्त इस शब्द का प्रयोग अधिकतर

१—सूर के सौ कूट, पृ० ४५, कूट संख्या १।

प्रेम अथवा रूप सौंदर्य की समष्टि व्यंजना के हेतु हुआ है। इस शब्द-प्रतीक का प्रयोग जहाँ पर भी हुआ है, वह एक साथ इन दोनों क्षेत्रों (रूप तथा प्रेम) की लाक्षणिक व्यंजना प्रस्तुत करता है। अस्तु, सारंग शब्द के द्वारा सूर ने 'रति' एवं रूप की मिश्रित अभिव्यक्ति एक कूट में की है। यथा—

सारंगरिपु की ओट रहे दुरि, सुन्दर सारंग चारि।
ससि, मृग, फनिग, ध्वनिग, द्वै अंग अंग सारंग की अनुहारि।
तामै एक और सुत-सारंग, बोलत बहुरि बिचारि।
परकृत नाम एक है दोऊ, किधौं पुरुष किधौं नारि।
ढाकति कहा प्रेमहित सुन्दरि, सारंग नेकु उपारि।
सूरदास प्रभु मोहै रुपहिं, सारंग बदन निहारि ॥[1]

इस कूट में वैसे तो सारंग शब्द द्वारा रूप-सौन्दर्य का आग्रह कहीं अधिक है,पर उसमें प्रेमभाव की एक सुन्दर अन्तर्निहिति भी प्राप्त होती है। सौन्दर्य की अभिव्यंजना के लिए कवि ने सुन्दर चार सारंगों (शशिमुख,मृग-लोचन, फनिग-केश और कोयल-वाणी) की जो योजना प्रस्तुत की है, वह सारंग मुख के रूप-सौन्दर्य को और भी मुखर कर देती है। यही नहीं, मुख की सुन्दरता ही व्यर्थ हो जाती है, यदि दुर्भाग्यवश 'स्वर' सुन्दर न हुआ। इसी से सूर ने सुत-सारंग (कोयल -शिशु-वाणी) के द्वारा मधुरवाणी की व्यंजना की है जो सारंग शब्द का एक सुन्दर व्यंग्यार्थ कहा जा सकता है। अब नायिका की जो वेणी है, उसके प्रति कवि ने यह संदेह प्रकट किया है कि वह सर्पिनी है अथवा सर्प (पुरुष या नारि)। अतः हे सुन्दरी प्रेम के लिए अपने मुख पर से आवरण को (सारंग-रिपु) हटा, जिसे अवलोक कर स्वयं प्रभु भी मोहित हो जायँ। रूपासक्ति के साथ साथ प्रेमासक्ति का समन्वय सारंग शब्द के द्वारा एक अन्य कूट में भी प्राप्त होता है। राधा की शोचनीय दशा को देखकर एक सखी दूसरी सखी से सारंग शब्द के द्वारा एक ओर राधा की दशा का और दूसरी ओर मेघ (सारंग) और घनश्याम (सारंग) की सादृश्यता की व्यंजना करती है। नायिका (सारंग) का प्रेम-श्रृंगार भाव (काम सारंग) मानो थक कर बैठ गया है और इसी से उसका हृदय समुद्र (सारंग) के समान विकल एवं उद्वेलित हो गया है। दूसरी ओर आकाश (सारंग) पर झूमते हुए मेघों

१—सूर के सौ कूट, पृ० १३८-१३९, कूट ४८। यही कूट सूरसागर खंड २, पृ० ११६८ ।२७७१ पर भी है।

के झुण्ड (सारंग पर सारंग) चले आ रहे हैं। ऐसे सुहावने समय में कृष्ण की अनुपस्थिति (सारंग) नायिका में क्रोध का विक्षोभजनित संचार कर रही हैं।[1] इस उदाहरण में सूर ने सारंग शब्द के द्वारा मेघ की भावना में कृष्ण की भावना को स्थिर कर दिया है। दूसरी ओर मेघ में 'घनस्याम' का अध्याहार नायिका के हृद्गत एकात्म भाव की भी व्यंजना करता है। परन्तु कहीं कहीं पर सूर ने सारंग शब्द के द्वारा रतिकेलि का काफ़ी स्पष्ट संकेत किया है, जो असंयमित सा ज्ञात होता है—

राधा वसन स्याम तनु चीन्हीं।
सारंग बदन बिलास बिलोकत, हरि सारंग जानि रति कीन्हीं।
सारंग बचन कहत सारंग सौं, सारंगरिपु दे राखत झीनी।
सारंगपानि कहत रिपु सारंग, सारंग कहा कहति लियो छीनी॥[2]

क्रमानुसार सारंग शब्द के अर्थ हैं चंद्र (मुख), रात्रि का प्रहर, सखी, वस्त्र, कृष्ण, वस्त्र और राधा। इनके अर्थ से ध्वनित होता है कि यह वर्णन रति की वीभत्सता का ही संकेत करता है। उपर्युक्त कूटों की तुलना में यह कूट रूप एवं प्रेम में समुचित समन्वय नहीं कर सका है।

सारंग शब्द की इस बहुमुखी अर्थ-विविधता के अनन्तर 'हरि' शब्द को लिया जा सकता है। कूट पदों में 'हरि' शब्द का प्रतीकवत् प्रयोग एक स्थान पर कृष्ण के प्रेम को व्यंजित करने के साथ साथ, राधा के प्रणय-भाव से मिश्रित मिलन की इच्छा का सुन्दर संकेत करता है। सखी नायिका से कहती है—

सुनि री हरि पति आजु बिराजै।
हरि गति चलत मंद भयो हरिबल, बल करि हरि-दल साजै।
हरि की चाल चली चंचल गति, हरि को हरि दुख छाजै।
सूरदास हरि को भज इकु दिन, बिरह ताप तन भाजै॥[3]

हे राधा! तेरी प्रतीक्षा में कृष्ण (हरिपति) कुंज में विराज रहे हैं। इस समय तेरी गज गति (हरि गति) से सूर्य (हरिबल) का तेज भी क्षीण हो गया है अर्थात् सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है और तू ऐसे समय में यहाँ

१—सूर के सौ कूट, पृ० १५६, कूट ६० ।
२—वही, पृ० ७७, कूट १५ ।
३—वही, पृ० २१४, कूट १०१ ।

पर बैठी हुई क्या कर रही है ? इसके अतिरिक्त कामदेव ने अत्यन्त परिश्रम से अपने दल (धनुष, प्रत्यंचा, वाणादि) को सजा लिया है अर्थात् कामकेलि के लिए उपयुक्त समय की अवतारणा कर ली है। अतः तू निडर हो, समस्त प्रलोभनों को छोड़कर, हाथी की मंद चंचल गति से चल, अथवा हरि का अर्थ ग्रहण करने वाला जिस प्रकार हरि की चाल दूसरों के दुखों का हरण कर लेती है, उसी प्रकार, हे राधा ! तू भी उन्हीं के पद-चिह्नों पर चलकर श्याम के दुःखों का हरण करो। इस प्रकार हरि शब्द से सूरदास ने आध्यात्मिक मिलन के प्रथम प्रयत्न का एक सांकेतिक वर्णन किया है जिसमें लौकिक पक्ष का भी समान निर्वाह हुआ है।

एक अन्य चित्र है, नायिका के अमर्ष मिश्रित प्रणय भाव का। इसमें दूती नायिका से क्रोध निवारणार्थ प्रार्थना करती है। सत्य में, इस कूट का ध्येय नायिका का मान-वर्णन ही है जिसे दधि, हार और धर शब्दों के द्वारा व्यंजित किया गया है—

दधिसुत वदनी, दधिहि निवारौ।
दधिसुत दृष्टि मेलि दधिसुत में
दधिसुत-पति सौं क्यों न बिचारौ।
हार पहिरि करि, हार पकरि करि,
हार गोवरधन नाथ निहारौ ॥[१]

यहाँ पर एक सखी मानिनी चंद्रमुखी (दधि सुत वदनी) नायिका को सम्बोधित कर कहती है कि तू अपने क्रोध (दधि) का त्याग कर। तेरी यह दृष्टि जो क्रोधरंजित है, वह जालधर राक्षस (दधिसुत) सी प्रतीत होती है। उसे तू अपने चंद्रमुख से सम्मिलित कर ले और इस प्रकार, अपने क्रोध को कृष्ण (दधिसुत-पति) के प्रति न्यून करो। पृथ्वी (भौतिक संसार) को छोड़कर (धरहि), अपनी टेक पर अडिग (धरहि) होकर, वल्कल धारण कर (धरहु) घनश्याम को प्राप्त करने का प्रयत्न करो और हार पकड़कर, पूर्ण समर्पण भाव से कृष्ण का दर्शन लाभ करो। इस प्रकार ये तीनों शब्द, प्रतीक रूप में, उस भावभूमि को स्पष्ट करते हैं जो कृष्ण के प्रति मानिनी नायिका के आकृष्ट होने की व्यंजना करते हैं।

१—सूर के सौ कूट, पृ० १२८ कूट ४१।

(२) आर्थी कूटों के प्रतीक

इन शब्द प्रतीकों के अतिरिक्त अन्य वर्ग ऐसे प्रतीकों का है जिनकी समष्टि योजना रूपकातिशयोक्ति के अन्तर्गत प्राप्त होती है। इनमें अधिकतर वे प्रतीक प्राप्त होते हैं जो मानवेतर प्रकृति से लिये गये हैं जिसमें जड़ तथा चेतन दोनों वस्तुओं तथा प्राणियों की योजना मिलती है। 'ये उपमानगत प्रतीक' इतने रूढ़ हो गए है कि वे कवि-परिपाटी के अंतर्गत माने गए है। इनमें अत्यधिक रूढ़िवादिता होने के कारण, ये प्रतीक एक निश्चित प्रतिनिधि अर्थ या वस्तु की व्यंजना करते हैं जिनमें उपमेयों की व्यंजना लाक्षणिकता पर आश्रित रहती है।

दृष्टिकूटों में बाल सौंदर्य के व्यंजनार्थ कुछ उपमानगत प्रतीकों की योजना दृष्टिगत होती है। यथा—

देखौ सखि, अकथ रूप अतूथ।
एक अंबुज मध्य दिखियत, बीस दधिसुत जूथ॥
एक सुक तहं दोऊ जलचर, उभै अर्क अनूप।
पंच वारिज एक ही ढिग, कहौ कौन सरूप।
भई सिसुता माहि शोभा, करौ अर्थ विचारि।
सूर श्री गोपाल की छबि, राखिये उर धारि॥[१]

इस पद में बाल कृष्ण का रूप-सौंदर्य अनेक प्रतीकों के द्वारा व्यक्त किया गया है। कृष्ण के मुख का प्रतीक अंबुज है जिसके ऊपर बीस नखों से (बीस दधिसुत अर्थात् चंद्रमाओं के आकार के नख) युक्त दोनों कर है। एक नासिका, दो आँखे, कर्णफूल, एक मुख पर दो हाथ और दो पैर क्रमशः शुक, जलचर, अर्क और पंच वारिज के प्रतीक हैं। इन्हीं प्रतीकों के द्वारा ही शिशुता में शोभा का बिस्तार सम्भव हो सका है जो भक्तों के हृदय को आत्मविभोर कर देता है। एक अन्य कूट में कवि ने कृष्ण के माखन खाने का संकेत इस प्रकार किया है—

देखो माई, दधिसुत में दधि जात।
एक अचंभौ देखि सखी री, रिपु मैं रिपु जु समात॥

१—सूर के सौ कूट, पृ० १७७, कूट ७३।

दधि पर कीर, कीर पर पंकज, पंकज कै द्वै पात ।
ये शोभा देखत पशु-पालक, फूले अंग न समात ॥[1]

यहाँ दधिसुत, मुखचंद्र और दधि माखन के वाचक शब्द हैं। रूप सौन्दर्य के प्रतीक हैं—दधि (मुखचंद्र), कीर (नासिका), पंकज (नेत्र) और द्वै पात (कान) जिनकी अपूर्व शोभा देखकर गोपगण आनन्द मग्न हो रहे हैं।

समष्टि योजना की दृष्टि से यौवन काल के प्रतीकों में वे प्रतीक आते हैं जो रूप सौन्दर्य तथा श्रृंगार वर्णन से समन्वित हैं। एक रूप-चित्र लीजिए। इसमें नायिका को बाग की संज्ञा देकर, बाग के अंशभूत पदार्थों के द्वारा, सादृश्य के आधार पर, नायिका के अंगों की समष्टि सुन्दरता व्यंजित की गई है। दूती वचन है—

अद्भुत एक अनूपम बाग ।
जुगल कमल पर गजबर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग ।
हरि पर सरवर, सर पर गिरवर, गिर पर फूले कंज पराग ।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग ।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर सुक पिक मृगमद काग ।
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर एक मनिधर नाग ।[2]

इस योजना में केवल वस्तुओं का परिगणन मात्र है। इसमें प्रतीकों को परम्परा के अनुसार सजा देना ही ध्येय ज्ञात होता है। इन प्रतीकों से प्रत्येक अंग का जो घनीभूत सौन्दर्य व्यंजित होना चाहिए, वह यहाँ पर अप्राप्य है। इसका कारण यही ज्ञात होता है कि कवि ने प्रतीकों की एक श्रृंखला बाँधकर एक समष्टि भाव को ही सामने रखा है। चरण, गति, कटि, नाभि, कुच, हस्त, ग्रीवा, चिबुक, अधर, ओष्ठ, नासिका, वाणी, कस्तूरी, नेत्र, भृकुटी, भाल और शीश फूल-सहित वेणी—इन सब अगों तथा वस्तुओं को क्रमशः कमल, गज, सिंह, सरवर, गिरवर, कंजपराग, कपोत, अमृतफल, पुहुप, पल्लव, शुक, पिक, मृगमद, काग, खंजन, धनुष, चन्द्रमा तथा मणिधर नाग के द्वारा व्यंजित किया गया है। इन प्रतीकों की योजना कुछ उसी प्रकार की है जिस प्रकार 'पैरामिड' (Pyramid) का क्रमशः नीचे से ऊपर आरोहण प्राप्त

१—सूर के सौ कूट, पृ० ५१, ३।

२—वही, पृ० ६२, कूट २३ तथा सूरसागर सार में पृ० १०२ पर भी यही कूट।

होता है। इन प्रतीकों में रूढ़िवादिता इतनी अधिक है कि कोई कोई प्रतीक 'वस्तु' का प्रतीकीकरण पूर्ण सफलता से नहीं कर पाता है। उदाहरणस्वरूप सिंह को कटि का, सरवर को नाभि का और पल्लव को ओष्ठ का प्रतीक बनाने में प्रतीक और वस्तु की पूर्ण तदाकारिता नहीं प्राप्त होती है। इसी प्रकार जघाओं को कदली से उपमा देना भी वस्तु तथा प्रतीक की समानता में व्यवधान उपस्थित करता है। ऐसा ज्ञात होता है कि कवि ने परम्परा से प्राप्त प्रतीकों को केवल ग्रहणमात्र कर लिया है और काव्य चमत्कार में उसके औचित्य पर भी पूरा ध्यान नहीं दिया है। इसी प्रकार का एक अन्य कूट है जहाँ मान भाव और रूप सौंदर्य की मिलित अभिव्यक्ति हुई है। इन प्रतीकों में औचित्य का ध्यान कहीं अधिक है, जिससे भाव तथा वस्तु का रूप भी मुखर हो जाता है—

बिधु मैं देखे बहुत प्रकार।
जलरुह कनकलता ता ऊपर, उदयौ ढिग मोतिन के हार।
कीर, कमठ, अलि, मृग, मनमथ धनु झलकत हेम तुषार।
बिंब, अनार-बीज, तडि-दुति-मिलि, कोकिल शब्द उचार।
मनिधर सिखर, रक्त रेखा जुत, बिबिध कुसुम सिंगार।
मध्य प्रवाह स्वच्छ सुरसरि कौं, चितवत तजत बिकार॥
सुन कै तुम चकि चितवत मोहन, मन में करत बिचार।
उदित भयो ससि सूर स्याम हित, श्यामा बदन उघार॥[१]

सखी नायक से नायिका की सुन्दरता, उसके अग-प्रत्यंग को न कह, केवल मुख-सौंदर्य का वर्णन प्रतीको की योजना के द्वारा करती है। इस योजना में विधु, जलरुह और कनकलता क्रमशः मुखचंद्र, कुच और शरीर के प्रतीक है। इन प्रतीकों की सादृश्यता से मुखसौंदर्य का चित्र साकार हो उठता है। इसी से कीर, कमठ, अलि, मृग, मनमथ धनु और हेमतुषार—ये सब प्रतीक मुख से लेकर ग्रीवा तक ही केंद्रित हैं। कीर नाक का, कमठ नेत्र पलकों का, अलि केशों का, मृग नेत्र की चपलता का, धनु भौहों का और हेम तुषार बेसरहार का प्रतीक है। इसी प्रकार की समष्टि प्रतीक योजना उस समय भी प्राप्त होती है जब कृष्ण अंगों के दान देने की बात गोपियों से कहते हैं। वहाँ केवल उपमानगत प्रतीकों के द्वारा अंग विशेष की व्यंजना प्रस्तुत होती है। यहाँ पर भी मत्तगयंद गति का, सिंह कटि का, कनक कलश

१—सूर के सौ कूट, पृ० २०५ कूट ९६।

कुच का, कपोत ग्रीवा का, कोकिल, कीर, खंजन क्रमशः शब्द, नासिका और नेत्रों के और सायक चाप कटाक्षों के प्रतीक हैं।[1]

निष्कर्ष

कृष्ण-काव्य की समस्त प्रतीक योजनाओं के विश्लेषण से यह ध्वनित होता है कि प्रतीक-दर्शन की दृष्टि से, प्रतीक का धारणात्मक, भावात्मक एवं विचारात्मक (दार्शनिक रूप) पक्ष तथा कलात्मक पक्ष—दोनों का सुन्दर निर्वाह कवियों ने यथाशक्ति किया है। इस दृष्टि से हम कृष्णकाव्य की भावभूमि में प्रतीकात्मक दर्शन का एक सुन्दर विकास पाते हैं। यह काव्य साम्प्रदायिक होते हुए भी सम्प्रदाय की चहरदीवारियों में बँधा नहीं है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कृष्ण काव्य की प्रतीक योजनाएँ मूलतः भक्तिपरक हैं और साथ ही उनका विस्तार चतुर्दिक है। उन्होंने अपने प्रतीकों को परम्परा से, नवीन धाराओं से तथा स्वयं अपनी सृजन शक्ति से काव्य में संजोया है। इस विस्तार का यदि किसी भी काल से साम्य उपस्थित किया जा सकता है तो वह छायावाद तथा संत काव्य ही हो सकता है। दोनों युगों की कविताओं ने अपने अपने दृष्टिकोण से 'प्रतीक-दर्शन' का विस्तार ही किया है।

कृष्ण काव्य के दार्शनिक एवं धार्मिक पक्षों का सुन्दर स्वरूप शब्द-प्रतीकों, लीलाओं तथा राधा कृष्ण के विकास क्रम में देखा जा सकता है। इन सभी क्षेत्रों में प्रतीक का धारणात्मक स्वरूप, कवि की अनुभूति से प्रांजल एवं मुखर हो उठा है। परन्तु इस काव्य में कृष्ण लीलाओं के शृंगारपरक रूप पर जितना आग्रह प्राप्त होता है उतना कृष्ण के अन्य रूपों पर नहीं। यही कारण है कि कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण चरित का एक 'सीमित' दृष्टिकोण ही ग्रहण किया है, परन्तु वह दृष्टिकोण अपने में पूर्ण ही नहीं, पर अद्वितीय है। यदि दार्शनिक दृष्टिकोण से लीलाओं का अर्थ हृदयंगम किया जाय तो मेरे विचार से, उसकी सीमित शृंगारिकता एवं लौकिकता का सर्वथा तिरोभाव ही दृष्टिगत हो जाता है। लीलाओं में जो तत्त्व-दर्शन समाहित है, ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों का जो समन्वय अन्तर्हित है और इन सब से ऊपर कवि की अपनी अनुभूति तथा अंतर्दृष्टि का जो समावेश है, वह 'लीला' की भावना को केवल 'क्रीड़ा' ही नहीं मानने देता है, वरन् उसे एक

१—सूरसागर, पृ० ७१५। १५४९।

विस्तृत तत्त्व-दर्शन के संदर्भ का वाहक भी बनाता है। चीर-हरण में चाहे औचित्य का कुछ अंश न ज्ञात हो, पर अन्य लीलाओं में हमारे तात्विक चिन्तन का 'निचोड़' एवं 'मधु' ही भरा हुआ है। इन लीलाओं का महत्त्व एक अन्य दृष्टि से भी हो सकता है, वह है उनका सामाजिक रूप। अनेक लीलाएँ (गोवर्द्धनलीला, दावानल पान, राक्षसवध) इस सामाजिक पक्ष को लेकर भी चलती हैं जिनमें तात्त्विक अर्थ का भी समान निर्वाह होता चलता है। परन्तु लीलाओं का यह पक्ष पृष्ठभूमि में ही प्राप्त होता है जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति हिन्दी काव्य में हरिऔध के द्वारा सम्भव हो सकी। इससे यह स्पष्ट होता है कि कृष्ण लीलाएँ युग के अनुसार तथा नवीन ज्ञान के प्रकाश में भी रूपांतरित हो सकती हैं। रासलीला, कालिय-दमन लीला नवीन वैज्ञानिक ज्ञान के प्रकाश में भी अपने प्रतीकार्थ को स्पष्ट करती हैं।

इसके अतिरिक्त जब हम शब्द-प्रतीकों की परम्परा को लेते हैं, तो यह निष्कर्ष निकलता है कि इनमें तत्त्व-दर्शन का स्वरूप मूलतः समन्वयात्मक ही है जो भक्ति भावना पर आश्रित है। मीरा का योगिन शब्द, सूर का निरंजन शब्द, सहज तथा सुरति शब्दों आदि में इसी दार्शनिक समन्वय की परम्परा का विकास लक्षित होता है। इस प्रकार भाषागत प्रतीक-दर्शन के सबसे प्रमुख तत्त्व का पालन हुआ है। वह तत्त्व यह है कि शब्द-प्रतीक की परम्परा में, उसकी धारणा में, अनेक नव संदर्भों अथवा अर्थों का समाहार होता रहता है। यह समाहार ही उस शब्द के 'प्रतीकार्थ' को अधिक व्यापक क्षेत्र का व्यंजक बनाता है। इसी 'धारणा' का रूप हमें राधा कृष्ण के अर्थ तत्वों में क्रमशः परिलक्षित होता है। उनका 'प्रतीक रूप' एक युग का नहीं, पर अनेक युगों का अर्थ विस्तार है जो वेदों से लेकर अब तक चलता जा रहा है। इन अर्थ-तत्त्वों के समाहार ने उनकी धारणाओं का जो तात्विक रूप समक्ष रखा है, वह प्रतीक के इतिहास में एक अद्भुत घटना ही कही जा सकती है। अस्तु, कृष्णधारणा में वैदिक साहित्य के इन्द्र तथा विष्णु के तत्त्वों का क्रमिक भावी विकास गीता और महाभारत के वासुदेव-कृष्ण से होता हुआ, आदिम जातियों के पूजाभाव तथा बाल गोविन्द की लीलाओं से परिपक्व हो, पुराणों में आकर परब्रह्म तथा माधुर्य भावों से विभूषित होकर, अंत में, काव्य की भावभूमि में इन सभी तत्त्वों को लेकर अनुभूति तथा संवेदना के साथ अवतीर्ण हो सका। इसी प्रकार राधा भाव का विकास वैदिक साहित्य के शक्ति तत्त्व तथा मिथुन तत्त्व को ग्रहण करता हुआ, पाँचरात्र की श्री भावना को समाहित करता हुआ, पुराणों के परमदैवी

रूप में रूपातरित हो, काव्य की भावभूमि में माधुर्य भाव से युक्त होकर हमारे साहित्य का एक उज्ज्वल 'रत्न' हो गया ।

यह तो दार्शनिक एवं धार्मिक निष्कर्ष हुए जो प्रतीक विश्लेषण से ध्वनित होते हैं । परन्तु कृष्ण काव्य की विशाल भूमि में काव्य-कला का भी सुन्दर निर्वाह तत्त्वचिंतन के साथ हो सका है । मैं तो यह कहूँगा कि कवियों ने काव्य तथा दर्शन का सुन्दरतम रूप अपने प्रतीकों के द्वारा व्यजित किया है । कला की दृष्टि से कूटों, प्रेम-भक्ति तथा रूप के प्रतीकों का विशेष महत्त्व हैं । कलात्मक सौंदर्य तथा भावों का जितना सुन्दर समन्वय इन प्रतीकों में प्राप्त होता है वह वस्तु, भाव अथवा विचार का एक समन्वित रूप भी है । कूटों के प्रतीक तात्त्विक न होकर (जिस प्रकार प्रेम भक्ति के हैं) केवल वस्तु तथा भाव (चित्र भी) के ही व्यंजक हैं । सत्य में, कूट के प्रतीकों का एक अतिकलात्मक रूप प्राप्त होता है जो कहीं कही पर मानसिक व्यायाम की अत्यधिक अपेक्षा रखता है । रति एवं काम, रूप एवं प्रेम पर आश्रित भावों तथा मनोवृत्तियों की साकारता इन प्रतीकों के द्वारा मूलतः व्यंजित होती है । इससे यह भी ध्वनित होता है कि सूर के समय में रीतिकालीन परिपाटियों का प्रारम्भ हो गया था । सूर जैसे कवि भी, जिनमें स्वाभाविकता का अत्यधिक आग्रह है, वह भी 'अतिकलात्मकता' से बच नहीं सके । परन्तु समष्टि रूप से देखने पर और सूर के समस्त प्रतीकों को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि कवि की प्रवृत्ति मूलतः 'अति' की नहीं थी । सत्य में, सूरदास की महानता केवल काव्य रूप एवं शिल्प की प्राजलता पर ही आश्रित नहीं है, पर उनकी सच्ची महानता उस समन्वित रूप में प्राप्त होती है जहाँ उन्होंने काव्य सौष्ठव और प्रतीक-दर्शन का एक साथ निर्वाह किया है । यही नहीं, इसके साथ साथ उन्होंने पौराणिकता की मर्यादा को भी बनाए रखा । मीरा के काव्य-प्रतीकों में कला का चाहे कितना ही अभाव क्यों न हो, पर उसके 'प्रतीक' उसकी अनुभूति से, उसके विरह से और उसके प्रणय से इतने 'निजी हो गये हैं कि स्वयं कवयित्री ही उनमें समाहित हो गई है । प्रतीक ही मानों मीरा के सम्पूर्ण जीवन के आधार हैं जिनका सम्बल लेकर वह साधना-पथ पर अग्रसर होती है ।

अतः कृष्ण काव्य के प्रतीकों से यह स्पष्ट होता है कि उनका सम्पूर्ण जीवन-दर्शन भक्तिपरक था । प्रतीक उस दर्शन के तथा भक्ति के माध्यम थे, उनके सर्वस्व थे, क्योंकि 'रूप' तथा भक्ति का उनमें सबसे अधिक आग्रह है ।

अष्टम अध्याय

रीतिकालीन काव्य में प्रतीक योजना

(क) पृष्ठभूमि

कृष्णकाव्य के आलंबन राधा, कृष्ण और गोपियों का जो तात्त्विक अर्थ प्रचलित था, उस धारणा में एक प्रकार की 'क्रान्ति' का समावेश रीतिकाल में प्राप्त होता है। युगों से मान्य उनकी अलौकिक धारणा में लौकिकता का समाहार जो क्षीण रूप से कृष्णकाव्य में प्रारम्भ हुआ था, उसका एक विकसित रूप ही हमें रीतिकाव्य में प्राप्त होता है। इस दृष्टि से देखने पर रीतिकाल की भावभूमि को केवलमात्र 'कामुकता' से ओतप्रोत कह देना सत्य के प्रति आँख मूँदना ही कहा जायगा। रीतिकाव्य के आलंबन रूप ये व्यक्तित्व किस रूप के थे, इस पर हम यथास्थान विचार करेंगे।

काम तथा रति

रीतिकाव्य की भावभूमि में इन आलम्बनों का महत्त्व मूलतः शृंगारपरक एवं शोभापरक ही है इसी कारण से उनके स्वरूप का यथोचित विश्लेषण उसी समय हो सकता है जब शृंगार रस के प्रमुख तत्त्वों का विवेचन किया जाय। भारतीय काव्य-शास्त्र में शृंगार रस और अन्य रसों का प्रतीकात्मक विवेचन तृतीय अध्याय में हो चुका है। उसके प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि रीतिकाल के कवियों ने लौकिक शृंगार-भावना का जो विशद चित्रण किया है, वह मूलतः परम्परा से ही ग्रहीत है। वे अधिकतर राज्याश्रय के कवि थे। अतः उनका शृंगार भी उसी साज-सज्जा के साथ काव्य में प्रकट हुआ। इसी ध्येय की पूर्ति के लिए उन्होंने परम्परा से प्राप्त प्रतीकों का भी चयन किया और उन प्रतीकों को उसी भावभूमि का वाहक बनाने का सफल प्रयत्न किया। रीतिकाव्य में अलंकरण-प्रवृत्ति ने ज़ोर पकड़ा और कविता-कामिनी के बनाव-

शृंगार के हेतु कवियों ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी। इसी अलंकरण प्रवृत्ति ने उनके प्रतीकों को भी अलंकारों से सुसज्जित कर दिया।

रीतिकाल की शृंगार-भावना में प्रतीकों की स्थिति मूलतः शृंगार रस के दो तत्वों—काम तथा रति—पर आश्रित है। शृंगार का स्थायी भाव 'रति' माना गया है और 'काम' उसका प्रेरक तत्त्व। काम और रति की भावना में जो भाव-विचार का सगुफन प्राप्त होता है, वह अपने में एक अर्थ को लिए हुए है।

'काम' का स्वरूप वैदिक साहित्य में भी प्राप्त होता है। वहाँ पर 'काम' की धारणा का विश्लेषण एक अनादि शक्ति के रूप मे दृष्टिगत होता है।[1] यह सृष्टि रूप काम मानो आत्मा या ब्रह्म का एक अविछिन्न अंग है। इससे यह प्रकट होता है कि काम एक अचेतन शक्ति है जो अपना विस्तार बाह्य चेतना के रूप में करता है। इस शक्ति को युंग ने लीबीडो की संज्ञा दी है,[2] जिसका विवेचन मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद के अन्तर्गत हो चुका है। यही क्रियात्मक लीबीडो-शक्ति जब उन्नायक दशा को पहुँच जाती है तो वह 'काम' के अर्थ को स्पष्ट करती है। ग्रीक पुराण में इसी शक्ति को इरास (Eros) की भी संज्ञा दी गयी है। भारतीय काम शक्ति और पाश्चात्य काम-शक्ति (मनोविज्ञान) में एक मूल अंतर है। पाश्चात्य मनोविज्ञान ने काम को यौनरूप में मान्यता दी है, जबकि भारतीय आध्यात्मिक-मनोविज्ञान ने उसके उन्नायक अथवा आध्यात्मपरक रूप की प्रतिष्ठा की है। भारतीय विचारधारा में काममय पुरुष की कल्पना की गयी है जिसमें सम्पूर्ण कार्यकारण रूप संघात का परायण होता है। यह काम समस्त सृष्टि का आदि रूप माना जाता है जिससे कि यह चराचर विश्व उद्भूत हुआ है। यही काम का रूप शरीरधारी मानव में भी प्राप्त होता है जिसका आयतन ही काम शक्ति है, हृदय लोक है और मन ज्योति है। उस पुरुष को जो भी सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरण समूह का परायण जानता है वही ज्ञाता है। यही पुरुष काममय पुरुष है। इस याज्ञवल्क्य के कथन पर शाकल्य ने यह प्रश्न किया कि 'इसका कौन देवता है?' तब याज्ञवल्क्य ने कहा—'स्त्रियाँ।'[3] यहाँ पर स्त्रियो को जो काम की अधिष्ठात्री

१—द्र० अध्याय प्रथम, तथा द्वितीय मे क्रमशः उपखड 'गंभैब्रह्म तथा मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद में 'काम' प्रतीक।

२—साइकालाजी आफ द अनकांसेस द्वारा डा० सी० जी० युंग, पृ० ८१।

३—वृहदारण्यकोपनिषद् पृ० ७१७। श्लोक १३, तृतीय अध्याय नवम ब्राह्मण, (उ० भा०, खंड।

बताया गया है, वह एक प्रकार से 'रति' का ही रूप है। भारतीय विचारधारा में 'काम' पुरुष के रूप में और 'रति' नारी के रूप में परिकल्पित की गयी है। इसी से काम शक्ति को प्रसाद ने 'मूल शक्ति' की संज्ञा दी है जिसके जागृत होने पर 'परमाणु-बाल' सृष्टिकार्य के लिए उन्मुख होने लगते हैं।[१]

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मुख्य प्रतीक सृजन और नाश के होते हैं। सृजन के प्रतीक विकासशील एवं प्रसन्न होते हैं और नाश के प्रतीक गुरु-गम्भीर एवं स्थिर। इस दृष्टि से काम के प्रतीक सृजन और नाश दोनों प्रकार के होते हैं। उपर्युक्त काम के स्वरूप से उसके सृजनात्मक पक्ष का स्पष्टीकरण होता है। डा० नगेन्द्र के अनुसार यही आध्यात्मिक काम-रति की क्रिया लौकिक काव्य में उभर कर आई। उसकी तीव्रता आत्मविस्तार की तीव्रता है, उसका सुख आत्मविस्तार का सुख है। आत्मविस्तार के इसी मूलगत प्रयत्न प्रजनन का सहकारी भाव शृंगार या रति है।[२] यह रति काम पर आश्रित भाव विशेष है जो सृष्टि-क्रम में आकर्षणयुक्त अनादिवासना का रूप है। यही नर और नारी में काम तथा रति का रूप है जिसके द्वारा वे एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। इस रति-भावना को रागयुक्त एवं मधुमय भी कहा गया है।[3] यदि काम मानव-मन में तृष्णा का आविर्भाव करता है तो रति उस तृष्णा के तृप्त का मार्ग प्रदर्शित करती है।[४] सत्य में, काम और रति का यह रंगस्थल ही प्रेम-कला का क्षेत्र है जिस पर हमारे रीति कवियों ने अपना काव्य-चमत्कार प्रदर्शित किया है। उनके अधिकांश प्रतीक इसी 'प्रेम-कला' को व्यंजित करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। काम प्रतीकों का दूसरा पक्ष नाशपरक है जब वे उच्छृङ्खल एवं अमर्यादित हो जाते हैं। काम का यह रूप सृजनपरक रूप की सापेक्षता में हीन ही ठहरता है। साहित्य में काम अथवा रति का यह रूप वीभत्सता की सृष्टि तो करता ही है पर उसके साथ साथ काम के उन्नायक रूप के प्रति उदासीन हो जाता है। काम अथवा रति की भावना में श्रद्धा अथवा विश्वास का लोप हो जाने से उनका महत्त्व केवल ऐन्द्रिय तृप्ति के वात्याचक्र में ही रह जाता है। हमें रूप तो चाहिए पर उस रूप में पाप की भावना नहीं, हमें काम अथवा रति तो चाहिए, पर उस काम अथवा रति में पाप की भावना

१—कामायनी द्वारा जयशंकर प्रसाद, काम सर्ग, पृ० ७२।

२—रीतिकाल की भूमिका द्वारा डा० नगेन्द्र पृ० ८१।

३—कामायनी द्वारा प्रसाद, काम सर्ग, पृ० ७४।

४—वही, पृ० ७४, काम सर्ग।

नहीं होनी चाहिए। रीतिकालीन कवियो की सौंदर्य तथा प्रेम की भावनाओं में इस 'पाप' की भावना का मिश्रण अत्यन्त न्यून है। इस काव्य में यदा-कदा उच्च रति का वर्णन भी प्राप्त होता है। सत्य रूप में, काम वृत्ति या यौन वृत्ति मानव में इतनी अधिक प्रबल होती है कि वह किसी भी दशा में उसका पूरा तिरोभाव नहीं कर सकता है। 'वह' तो एक अनादि वासना एवं चिरंतन रूप से मानव की सृजनात्मक शक्तियों में अन्तर्व्याप्त है। अतः काम और रति का अन्योन्याश्रित संबंध ही कहा जायगा, वे केवलमात्र वासना के उद्गम स्रोत नहीं कहे जा सकते हैं। उनके समुचित सम्बन्ध से मानव में 'समरसता' का संचार होता है। एक ऐसी तृप्ति का आलोक उदित होता है जिसमें 'जड़-देह' और गरल सौंदर्य के स्थान पर परमदेह तथा सौंदर्य का साक्षात्कार होता है। सत्य में, प्रणय-भावना का ध्येय इसी जड़ देह की परिधि से ऊपर उठना है तभी तो मन (मनु) पूर्णकाम की स्थिति तक पहुँच सकता है।[1] इसी कारण से, मानव में काम से उद्भूत अनेक कुंठाओं का आविर्भाव होता है। इन कुंठाओं का स्थान रीतिकाव्य में भी मिल जाता है। परन्तु इन कुंठाओं को रीतिकवि बिना किसी हिचक के अपने काव्य में स्पष्ट रूप प्रदान कर देते हैं।

कवि परिपाटी के प्रतीक

काम रति के इस विश्लेषण के प्रकाश में रीति काव्य की वह पृष्ठभूमि प्रस्तुत होती है जिस पर रीति कवियों ने रससिक्त एवं ध्वनियुक्त सुन्दर प्रतीकों का सृजन किया है। रस एवं ध्वनि में प्रतीक का क्या स्वरूप होता है इस पर हम प्रथम खंड के तृतीय अध्याय में पूर्ण विवेचन कर चुके हैं। लाक्षणिक प्रयोगों की आधारशिला पर प्रतीकों का अर्थ ध्वनित होता है। रीति कवियों ने ऐसे ही प्रतीकों का प्रयोग किया है। कवि समय की अनेक परिपाटियों का पालन इन कवियों ने प्राचीन रूढ़ अर्थ को सामने रखकर किया है। परन्तु कहीं कहीं पर उन परिपाटियों को नवीन अर्थ देने का भी प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि इन कवि-प्रसिद्धियों का प्रयोग रीतिकालीन कविता में अत्यधिक प्राप्त होता है। इन प्रसिद्धियों में अनेक ऐसी भी प्रसिद्धियाँ हैं जो प्रतीक की श्रेणी तक पहुँच जाती हैं। इस पर हम विस्तारपूर्वक यथास्थान आगे विवेचन करेंगे।

१—कामायनी, इड़ा सर्ग पृ० १६२-१६३ पर दिये हुए काम के निषेधात्मक स्वरूप से निश्चयात्मक निष्कर्ष का उपर्युक्त विवेचन है।

इन परिपाटियों (यथा हंस, कोयल, भँवरा, कमल, चंपक आदि) के अधिकतर दो वर्ग प्राप्त होते हैं। एक ऐसी प्रसिद्धियाँ है जो वनस्पति संसार से ग्रहण की गयी हैं जैसे वृक्ष, पौदे एवं लताएँ। दूसरे प्रकार की प्रसिद्धियाँ प्राणि-जगत् से ली गयी हैं जिनमें पशु अथवा पक्षी प्राणी हैं। इन दो वर्गों की अनेक प्रसिद्धियाँ न्यूनाधिक मात्रा में प्रतीक के समान भी प्रयुक्त हुई है। उदाहरण-स्वरूप हंस एवं चातक को ले सकते हैं। हंस का नीर-क्षीर विवेक सत्य है अथवा मिथ्या, कहा नहीं जा सकता है। हंस की यह शक्ति कवि परिपाटी तो अवश्य है और अनेक कवियों ने हंस को इसी रूप में ग्रहण किया है। एक प्रकार से कवियो ने हंस आदि प्राणियों को आदर्श की कोटि तक भी पहुँचा दिया है जो उनके भावों एवं कल्पनाओं को स्थानान्तरित कर, किसी विशिष्ट पदार्थ के द्वारा अपनी आत्माभिव्यंजना प्रस्तुत कर सकें। सामान्य रूप से कवि परिपाटियों में यही प्रवृत्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार चातक वृत्ति भी एक सत्य है। कवियों ने इस प्रसिद्धि को प्रतीक का रूप प्रदान किया है। चातक का 'पिउ पिउ' रटना और समय-असमय का ध्यान किये बिना प्रियतम का स्मरण दिला देना—ये दोनों तत्त्व नायिकाओं के प्रेमवियोग की गहनता को द्विगुणित कर देते हैं। कुछ पक्षी-विशेषज्ञों के अनुसार पपीहे (चातक की एक जाति) की रटन प्रणय की पुकार है जो प्रजनन काल की समाप्ति के बाद भी जारी रहती है। चातक को बेचैनी का कारण जो वह स्वातिबूँद के प्रति अनुभव करता है, इसका कारण अभी तक पक्षी-विशेषज्ञो की समझ में नहीं आ सका है।[1] शायद यह चातक की एक प्रवृत्ति ही मानी जा सकती है जिसका सहारा कवियों ने प्रेम-प्रदर्शन के लिए अत्यधिक लिया है।

अलंकार एवं प्रतीक

प्रसिद्धियों की आधारशिला पर प्रतीक निर्माण की प्रक्रिया रीतिकालीन काव्य में ही नहीं, पर आधुनिक तथा भक्ति काव्य में भी मिल जाती है। रीतिकाल में इन प्रतीकों का कभी-कभी प्रयोग अलंकार के आवरण मे भी होता है। उस दशा में इनका रूप स्वतंत्र न होकर अलकार की भंगिमा से युक्त कहीं अधिक हृदयग्राही हो जाता है। अलकारगत प्रतीको मे कहीं कहीं पर बौद्धिक व्यायाम की भी आवश्यकता पडती है। श्लेष, यमक और रूपका-

---

१—भारत के पक्षी द्वारा राजेश्वर प्रसाद नारायणसिंह पृ० ४७ सूचना मंत्रालय, दिल्ली। १६५८।

तिशयोक्ति ऐसे ही अलंकार हैं।[1] रसानुभूति में अलंकारों का योग हो सकता है। इसी से भारतीय काव्यशास्त्रों में अलंकार और रस का अन्योन्य संबंध माना गया है। रसानुभूति और प्रतीक की स्थिति पर तृतीय अध्याय में विचार किया जा चुका है। अलंकारगत प्रतीकों को यदि 'रूप' की संज्ञा प्रदान की जाय और उनके द्वारा जो रस एवं ध्वनि का प्रकटीकरण हो उसे 'तत्त्व' के अन्तर्गत रखा जाय, तो मेरे विचार से, भारतीय काव्य-शास्त्र में तत्त्व और रूप (Content and Form) का एक अत्यन्त व्यापक रूप प्राप्त होगा। इस तत्त्व एवं रूप के सम्बन्ध पर हम द्वितीय अध्याय में 'काव्यात्मक प्रतीक-दर्शन' के अन्तर्गत विचार कर चुके हैं।

नायिका भेद में प्रतीक रूप

भारतीय काव्य शास्त्र में नायिका भेद का जो विस्तारपूर्ण विवेचन मिलता है उसे केवल मात्र विडम्बना एवं व्यर्थ की वस्तु कह देना उदासीनता का परिचायक है। भारतीय साहित्य के आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक नायिकाओं का किसी न किसी रूप में अवश्य स्थान रहा है। नायिका भेद की पृष्ठभूमि में स्त्री प्रकृति, अवस्था तथा मनोविज्ञान का सुंदर विश्लेषण प्राप्त होता है। उनके भेदों में अनेक ऐसी मनोवृत्तियो, भावनाओं का सम्मिश्रण दृष्टिगत होता है जो सयोग एवं वियोग की अवस्थाओं और काम की अनेक दशाओं पर आधारित हैं। संयोग-वियोग, काम, मनोवृत्तियों, अवस्थाओं और भावनाओं की मिलित अभिव्यक्ति ही नायिका-भेद के अंतराल में प्राप्त होती है। यहाँ पर 'प्रतीक' की स्थिति का पूर्ण स्वरूप नहीं प्राप्त होता है। अधिक से अधिक, उसका उपर्युक्त रूप ही एक प्रकार से नायिका के प्रतिनिधि रूप का प्रतीक कहा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप अभिसारिका के भेद को ले सकते हैं जो संयोगावस्था के मनोभावों का एक स्वाभाविक विकास कहा जा सकता है। इस भेद में नारी मनोवृत्तियों का वह स्वरूप प्राप्त होता है जब वह अपने प्रिय की मिलनेच्छा के वशीभूत हो, अपना शृंगार कर, अभिसार के हेतु प्रस्तुत होती है। इस समय नायिका की भावनाएं तथा मनोवृत्तियां तरल हो जाती हैं। वह एक प्रकार से उन्माद एवं उत्साह की तरंगों पर झकोले लेने लगती है। यह उन्माद और उत्साह काम का ही रूप कहा जा सकता है जो एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मतिराम का यह दोहा इसी भाव को काव्यात्मक रूप में इस प्रकार रखता है—

१—अलकारों में प्रतीक की स्थिति का पूर्ण विवेचन तृतीय अध्याय में हो चुका है।

जोबन मद्गज मंद गति, चली बाल पिय गेह।
पगनि लाज-आदूं परी, चढ्यो महावत नेह।।[1]

अभिसारिका की दशा लाज एवं प्रेम के दो छोरों के मध्य में प्राप्त होती है। साधना पथ में अभिसारिका उस आत्मा का भी प्रतीक मानी गयी है जो परमात्मा से मिलने की इच्छा के सामने मार्ग की अनेक कठिनाइयों को भी पार कर लेती है। लौकिक धरातल पर इसी साधना पक्ष को बिहारी ने एक अत्यन्त सहज रूप में रखा है जहाँ प्रेम की दीपशिखा ही मानों नायिका के भाव की प्रतिरूप है—

सघन कुंज घन घन तिमिर
अधिक अंधेरी रात।
तऊ न दुरिहै श्याम यह
दीपशिखा सी जात।।[2]

सत्य में, नायिका भेद का दस विधि विभाजन (उत्कंठिता, वासकसज्जा, अभिसारिका, प्रवत्स्यत्पतिका, आगतपतिका, स्वाधीनपतिका, प्रोषितपतिका, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता और खंडिता) अवस्थानुसार माना गया है।[3] परन्तु प्रतीकात्मक दृष्टि से यह विभाजन पूर्ण रूप से मान्य नहीं है। इस बिभाजन में जहाँ एक ओर संयोग और वियोग की हृदगत भावनाओं एवं मनोभावों का स्वरूप प्राप्त होता है, वहीं पर नायिका का नायक के प्रति सम्बन्ध और परिस्थिति का भी संकेत प्राप्त होता है। इस विभाजन में एक नवीन भेद का समावेश डा० छैलविहारी गुप्त ने अपने प्रबन्ध में किया है जो संयोग की अंतिम स्थिति का प्रतीक है—वह है संयोग-आनंदिता या संयुक्ता।[4] एक नायिका इन भेदों में अनेक भेदों को पार कर लेती है। एक अभिसारिका, बासकसज्जा की दशा से गुजर कर संयुक्ता हो सकती है। एक स्वकीया उस समय अभिसारिका में परिवर्तित हो जाती है जब वह पति से मिलने के हेतु उसके कक्ष में प्रथम बार जाती है। अतः इन भेदों का एक दूसरे से घनिष्ट

१—मतिराम ग्रन्थावली, पृ० ४० दे० १६४ रसराज।

२—बिहारी सतसई, पृ० ११०।३०६ (सं० गिरीश)।

३—रसकलस द्वारा अयोध्यासिंह उपाध्याय, पृ० १३६—१५४।

४—स्टडीज इन नायक नायिका भेद, द्वारा, डा० छैलबिहारी गुप्त, पृ० ३५६ (प्रबंध—१९५२ प्र० बि०)

सबध है क्योंकि इनका विभाजन संयोग और वियोग की काम दशाओ तथा अवस्थाओं पर आश्रित है।

नायिका भेद के उपर्युक्त विभाजन से दो और उदाहरण लेता हूँ। एक संयोगावस्था से और दूसरा वियोगावस्था से। वासकसज्जा उस स्थिति का द्योतक है जब नायिका अपने कक्ष में शृंगार कर प्रिय की प्रतीक्षा करती है। उस समय उसके मनोभावों का प्रतीक्षात्मक उल्लास और संकोच प्राप्त होता है। एक अंग्रेज़ी कवि टी० लाज की निम्न पंक्तियाँ वासकसज्जा नायिका के रूप को स्पष्ट करती है—

'हे कमलसुन्दरी! तुम्हारा शरीर स्पर्श में कोमल और देखने में मधुर है। उसका शरीर मोती, मानिक, श्वेत संगमरमर और नीलम से ओतप्रोत है।'[1] वियोग से दुखी नायिका का सुंदर स्वरूप प्रोषितपतिका भेद में प्राप्त होता है, जब उसका नायक विदेश गमन कर देता है। उसकी अनुपस्थिति में दुख जनित आवेगो का जो स्वरूप मुखर होता है, उसी का परिचायक प्रोषितपतिका भेद है। मतिराम का यह वर्णन नायिका के विरह को कितने भावात्मक रूप से रखता है, जो एक मन की अवस्था को भी प्रकट करता है—

> पिय वियोग तिय दृग जलधि, जलत रंग अधिकाय।
> बरुनि मूल बेला परसि, बहुर्यो जात बिलाय॥[2]

इसी प्रकार अन्य भेदों के प्रति भी सत्य है जिनका वर्णन हमें किसी भी लक्षण ग्रंथ में प्राप्त हो सकता है। अतः यहाँ पर उसका विवेचन व्यर्थ का विस्तार होगा। प्रतीक की दृष्टि से उनका महत्त्व उपर्युक्त स्वरूप के अन्तर्गत आता है।

प्रतीकात्मक दृष्टि से दूसरा विभाग आदर्श की भावना से युक्त है। इसी आदर्श की प्रवृत्ति के कारण अनेक भेदों में स्त्री-प्रकार की उस भाव-

---

१—"With orient pearl, with ruby red,
With marble white, with sapphire blue,
Her body everyway is fed
Yet soft in touch and sweet in view,
Heigh ho, fair Rosaline."

—उद्धत रसकलस से पृ० ११२ द्वारा उपाध्याय।

२—मतिराम ग्रंथावली, 'रसराज', पृ० २३, दो० ११३।

भूमि के दर्शन होते हैं जो सिद्धों में भी द्रष्टव्य है। यह दूसरी बात है कि उनका प्रयोग किसी विशिष्ट साधना अथवा मत के प्रसंग में हुआ हो जिसके द्वारा साधक अपनी वृत्तियों को उस रूप में केन्द्रित कर सके। उदाहरण-स्वरूप पद्मिनी, चित्रिनी, शंखिनी और हस्तिनी में पद्मिनी और चित्रिनी को हम आदर्श रूप में ही ग्रहण करते हैं। जब हम भक्तिकाल में आते हैं तो इन नारी प्रकारों का वहाँ पर सर्वथा अभाव मिलता है। केवल राधा तथा गोपियों में पद्मिनी प्रकार की भावना का संकेत मिल जाता है। जैसा कि हम भक्ति-काव्य के प्रतीकों के अन्तर्गत दिखा आये है कि इनमें से कुछ नारी प्रकारों का रूप कृष्ण और राम-काव्य (सूफी में भी) में भी प्राप्त होता है। उनका स्वरूप वहाँ साधनापरक न होकर केवल शब्द का प्रयोग ही ज्ञात होता है। भक्तिकाल तथा रीतिकाल में आदर्श की भावना का पालन यदि किसी नायिका भेद के विभाजन में सम्भव हो सकता है तो वह स्वकीया और परकीया नायिकाओं के विभाजन में। स्वकीया, परकीया और सामान्या नायिकाओं का विभाजन सामाजिक सम्बन्धों पर आश्रित है। यह भेद नायक और नायिका के सबन्धों को समाज सापेक्ष दृष्टि से रखता है। राधा को भक्तिकाल में परकीया का जो स्वरूप प्रदान किया गया वह आदर्श की कोटि का था। हम चाहें तो कह सकते हैं कि राधा और गोपियाँ थीं तो परकीया, पर काव्य में उनका स्थान स्वकीया के समान ही चित्रित किया गया। देव और प्रभुदयाल मित्तल का यह मत है कि परकीया नायिका में हम एक समाजिक पाप (Evil) की अभिव्यक्ति पाते है।[1] हो सकता है कि इस भेद में पाप की भवना मिल जाय पर जहाँ तक रीति तथा भक्ति-काव्य का प्रश्न है, परकीया नायिका का आदर्श रूप ही दृष्टिगत होता है। सत्य तो यह है कि परकीया भी स्वकीया के समान एक आदर्श रूप है। वह किसी भी प्रकार के बंधनों को नही मानती है। राधा तथा गोपियाँ ऐसी ही नायिकाएँ है, जो बन्धनों का त्याग कर श्रीकृष्ण के प्रति पूर्ण रूप से आसक्त है। रीतिकवियों ने परकीया नायिका के माध्यम से रति एवं काम की दशाओं तथा अवस्थाओं का सुन्दर रूप प्रस्तुत किया है। मतिराम ने परकीया के स्वरूप पर एक अच्छी चुटकी ली है—

कंत चौक सीमन्त की, बैठी गांठ जुराय।
पेखि परोसनि कौ प्रिया, घूंघट में मुसकाय॥[2]

१—स्टडीज इन नायक नायिका भेद द्वारा डा० छैलबिहारी, पृ० ६० (थीसिस)।

२—मतिराम ग्रंथावली, रसराज पृ० १३ दोहा ६१।

गांठ तो बँधी है अपने पति से, पर प्रेम का सत्य स्वरूप तो उस समय ध्वनित होता है जब पास में बैठे अपने पड़ोसिन के प्रियतम को देखकर वह घूँघट की ओट से मुस्करा देती है। असल में सामाजिक प्रतिबंधों का यहाँ पर अतिक्रमण हो जाता है जो लौकिक धरातल पर हेय कहा जायगा। परन्तु यही प्रतिबन्ध जब तात्त्विक धरातल पर (भक्तिकाल में) अतिक्रमण करता है तो वह हेय नहीं कहा जाता। परकीया का स्थान केवल हिन्दी काव्य में ही सर्वमान्य नहीं रहा पर वह तो विश्व के सभी काव्यों में न्यूनाधिक रूप में मान्य रहा है।[1]

नायिका भेद का तीसरा वर्ग जिसका कुछ प्रतीकात्मक महत्त्व हो सकता है, वह है नायिकाओं का मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा में विभाजन। इस विभाजन में विनय, संकोच और लज्जा का नारीपरक विकास दृष्टिगत होता है। यह विकास वय:सन्धि से यौवन के परिवर्तन काल तक का भी सूचक है। सत्य में इस दशा में नारी के मानसिक जगत् में दो विपरीत घटनाओं का आविर्भाव होता है—यौनपरक सम्बन्ध की इच्छा और दूसरी लज्जा और संकोच की एक बलवती वृत्ति। मुग्धा नायिका की भावना में इन दोनों विपरीत तत्त्वों का असमान रूप प्राप्त होता है। यह विभाग इस ओर भी संकेत करता है कि अनेक स्त्रियों में यौन-प्रवृत्ति गुप्त तथा निष्क्रिय रहती है जिसको क्रियात्मक रूप एक प्रेमी या नायक ही दे सकता है। मतिराम का यह छंद इसी भाव का प्रतीक है—

एकहि भौन दुरे इकसंग ही अंग सो अंग छुवायो कन्हाई।
कंप छुट्यो घनस्वेद बढ़्यो तनु रोम उठ्यो अँखिया भरि आई।[2]

मध्या स्थिति में आकर यौन संबंध की इच्छा तथा संकोच का भाव एक दूसरे से तुल्यभारिता प्रकट करता है। अंत में जब यौन संबंध की इच्छा लज्जा तथा संकोच के ऊपर हावी हो जाती है तो नायिका प्रगल्भा (प्रौढ़ा) कहलाती है।[3] उदाहरणस्वरूप मतिराम का निम्न छंद प्रौढ़ा का सुन्दर स्वरूप रखता है—

प्रान पिया मन भावन संग, अनंग तरंगनि रंग पसारे।
सारी निसा 'मतिराम' मनोहर, केलि के पुंज हजार उघारे।

१—रसकलश, द्वारा अयोध्यासिंह उपाध्याय, पृ० १४७।

२—मतिराम ग्रंथावली, रसराज, पृ० ४ छंद १६।

३—द स्टडीज इन नायक नायिका भेद, द्वारा डा० छैलबिहारी, पृ० ३४१-४३।

होत प्रभात चल्यौ चाहै प्रीतम, सुंदरि के हिय मैं दुख भारे।
चंद सौ आनन, दीप सी दीपति, स्याम सरोज से नैन निहारे ॥[१]

इन नायिकाओं का रूप हमें जयदेव तथा विद्यापति में भी प्राप्त होता है। जयदेव की राधा परकीया होकर भी प्रगल्भा के समान आचरण करती है। विद्यापति की राधा परकीया होकर भी मुग्धा के समान दृष्टिगत होती है। सूरदास की राधा परकीया होकर भी मध्या के समान और कहीं पर मुग्धा के समान दृष्टिगोचर होती है।

इस प्रकार नायिका भेद के अनेक वर्ग किसी न किसी रूप में नायिका के मनोविज्ञान का, आयु, अवस्था, परिस्थिति तथा नायिका के संबंध का चित्रांकन करते हैं। नायिका भेद के द्वारा एक नायिका के समान मानसिक दशा का चित्रण अनेक प्रकार से कैसे व्यंजित किया जा सकता है, इसका बहुमुखी विकास नायिका भेद के वर्ग घोषित करते हैं। मनोभावों का आयुपरक विकास भी नायिका भेद का प्रमुख अंग है। अवस्थाओं को एक प्राकृतिक रूप में रखने का प्रयत्न भी नायिका-भेद का एक अंग है। अतः यह कहा जा सकता है कि अवस्था, मनोभाव, परिस्थिति तथा नायक से सम्बन्ध की दशा—इन सब तत्त्वों का एक अद्भुत मिश्रण ही नायिका भेद का आधार है जिसके द्वारा उसका प्रतीक रूप भी यदा-कदा प्रकट होता है।

राधा-कृष्ण का स्वरूप

रीति कवियों के लिए राधा ही नायिका भेद की आधारशिला है। भक्ति-काव्य के राधा-कृष्ण जो अलौकिक एवं तात्त्विक संदर्भों से युक्त थे, वे रीति-काल में लौकिक एवं भौतिक रूप में ही मान्य हुए। राधा-कृष्ण के लौकिक पक्ष की प्रधानता अपने में एक क्रान्ति का स्वर थी। इसी की आधारशिला पर भविष्य के महामानव कृष्ण की रूपरेखा स्पष्ट हो सकी। इस लौकिक भावना के फलस्वरूप राधा-कृष्ण का एक प्रकार से जन जीवन सापेक्ष महत्त्व और भी बढ़ गया। राधा-कृष्ण का सामान्यीकरण नायक नायिका के रूप में कभी-कभी अति की सीमा को स्पर्श कर लेता है। सत्य में यह राधा-कृष्ण के प्रतीकार्थ की अधोगति ही कही जायगी जब उनकी लौकिकता को अमर्यादित रूप देना आरम्भ किया गया। परन्तु ऐसे प्रसंग रीतिकाव्य में कम ही हैं। अतः इसे मैं एक प्रवृत्ति का रूप नहीं मानता हूँ।

१—मतिराम-ग्रंथावली, रसराज, पृ० ७ छंद ३४।

सत्य में, राधा-कृष्ण का जो सामान्य उन्नत रूप रीतिकाल में प्राप्त होता है वह जीवन के विभिन्न आयामों से एक चित्रकारी का ही रूप दृष्टिगत होता है। उसमें जीवन का वह रूप दृष्टिगत होता है जिसमें सुख, शोभा, सौंदर्य तथा छबि का एक साथ सगुंफन प्राप्त होता है। बिहारी, मतिराम, केशव, सेनापति तथा देव आदि कवियो में राधा-कृष्ण की भावना में इन तत्त्वों का न्यूनाधिक समाहार प्राप्त होता है। उनके सारे काव्य की धमनियों में जीवन के सौंदर्य तथा सुख की झाँकियाँ प्राप्त होती हैं। उनका लौकिक पक्ष भी एक माधुर्य भाव से ओतप्रोत है जिसमें प्रेम की मंदाकिनी मंथर गति से 'छबि एवं शोभा' के आयामों को स्पर्श करती हुई मन की गहनतम गहराइयों को झक-झोर देती है—आत्मा को आलोकित कर देती है। हमें आवश्यकता है रीतिकाल की भावभूमि को इस दृष्टि से देखने की, तभी उनके 'प्रतीक' हमारे सामने शोभा और सौंदर्य के प्रतिरूप से ज्ञात होंगे। इस दृष्टि से रीतिकाव्य को केवल मात्र 'कामकेलि' का रंगस्थल घोषित नहीं किया जा सकता है। मतिराम ने तथा अन्य कवियों ने 'काम' का जो भी रूप लिया है वह उपर्युक्त चार तत्त्वों में से एक या एक से अधिक तत्त्वों को अपने अंदर अवश्य समेटता हुआ प्रतीत होता है। मतिराम ने एक स्थान पर राधा का जो रूप चित्रित किया है, उसमें रूप-सौंदर्य तथा छबि का एक मिश्रित रूप इस प्रकार प्रकट हुआ है—

> का बिन मोल बिकाति नहीं
> मतिराम लहै मुसकानि मिठाई।
> ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि
> त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई ॥[1]

दूसरी ओर, बिहारी का काव्य तो ऐसे चित्रों से भरा हुआ है जिसमें व्यंग्य भी है तो उसके साथ साथ शोभा, छबि तथा सौंदर्य के अनेक चित्रो का आयोजन भी। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में चाहें तो कह सकते हैं कि बिहारी के रूप-चित्र एक ऐसे 'फ़ोटोग्राफ़' के रूप हैं जो किसी एक विशिष्ट भाव तरंग को, रूप को, उस फ़ोटोग्राफ़ में केन्द्रित कर देते हैं।[2] अतः बिहारी फ़ोटोग्राफ़

१—मतिराम-ग्रन्थावली, रसराज, पृ० २।६।

२—मुझसे रीतिकाल के विषय में विवेचन के समय पूज्य डा० साहब के कहे हुए वचन जो मेरे मन में स्थिर से हो गये हैं, उसी की पुनरावृत्ति यहाँ पर की गई है।

देने में अत्यन्त पटु तथा कुशल हैं, जो ध्वनि के आधार पर उस चित्र को एक अमित अर्थ प्रदान कर देते हैं। उदाहरणस्वरूप नेत्र के क्रियाकलापों का एक फ़ोटोग्राफ़िक चित्र लीजिए—

तिय कति कमनैती पढ़ी, बिन जहि भौंह कमान
चल चित बेझै चुकत नहिं, बंक बिलोकत बान ॥[१]

अब ऐसा चित्र लीजिए जिसमें कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का चित्रात्मक आभास प्राप्त होता है। वह एक ऐसी नारी का चित्र खड़ा करता है जिसमें बालापन तथा यौवन का एक अद्भुत मिश्रण है। यह वयः सन्धि की स्थिति का द्योतक है जिसमें यौवनावस्था तथा बाल्यावस्था धूप-छाँह की तरह शोभा तथा आभा को पैदा करती हैं—

छुटो न सिसुता की झलक,
झलक्यो जोबन संग।
दीपति देह दुहून मिलि,
दिपति ताफ़ता रंग ॥[२]

इस प्रकार बिहारी, मतिराम और देव आदि सौंदर्य तथा छबि, सुख तथा शोभा, प्रेम तथा रतिके ही कवि थे। उनका सारा काव्य इन्हीं तत्त्वों से भरा हुआ है। इस दृष्टिकोण के अतिरिक्त राधा-कृष्ण का शृंगारपरक रूप, भक्तिकालीन शृंगार भावना का कुछ परिवर्तित रूप तो अवश्य है। यदि हम चाहें तो कह सकते हैं कि भक्तिकालीन शृंगार का, नायक नायिका भेद के आवरण में, एक सुन्दर विकास रीतिकाल की अपनी एक निजी विशेषता है। यहाँ तक कि कृष्ण लीलाओं का नायक नायिका भेद की पृष्ठभूमि में एक प्रकार का 'विस्तार' भक्तिकाल में प्राप्त होता है। वल्लभाचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु दोनों ने कृष्णलीलाओं का नायिका भेद की सेटिंग में आराधना का माध्यम स्वीकार किया है। अतः रीतिकाव्य में एक ओर नायिका भेद का वैज्ञानिक विश्लेषण प्राप्त होता है तो दूसरी ओर कृष्ण का गोपियों के प्रति भाव प्रकट होता है। इन दोनों तथ्यों का समाहार नायिका भेद की पृष्ठभूमि में प्राप्त होता है। इस दृष्टि से राधाकृष्ण का रीतिकाल में जो भी रूप प्राप्त होता है वह सामान्यतः नायिका भेद की भावभूमि पर आश्रित है।

१—बिहारी सतसई, पृ० ६०।२५५।

२—वही, पृ० ३६।७०।

इस शृंगारपरक तथा सौंदर्य शोभादि रूपों के अतिरिक्त राधा-कृष्ण की भावना में, भक्ति-तत्त्व का भी समावेश रीतिकवियों ने किया है। इन सभी कवियों को केवलमात्र भौतिक शृंगारी कवि कह देना और उनकी भावभूमि से भक्ति तत्त्व का सर्वथा निषेध कर देना सत्य के प्रति आँख मूँद लेना है। यथार्थ में, भक्ति कवियों ने जिस गहनता से राधा-कृष्ण के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की है, उसी सीमा तक रीतिकाल के कवियों ने भी प्रेम-भक्ति की व्यंजना प्रस्तुत की है। रीतिकाल के प्रमुख कवि बिहारी के राधा-कृष्ण के भक्तिपरक दोहों में वही तल्लीनता प्राप्त होती है जो सूर और तुलसी में। उनका निम्न प्रसिद्ध दोहा क्या किसी भक्त कवि से कम है—

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई पड़े, स्याम हरित दुति होइ॥[1]

इस दोहे में दास्य तथा दैन्य भावों का समाहार प्राप्त होता है जो राधा के भक्तवत्सल रूप की ओर संकेत करते हैं। इसी प्रकार मतिराम, पद्माकर और केशवदास के काव्यों में हमें यदाकदा ऐसे उदाहरण मिलते हैं जो राधा-कृष्ण की भक्ति के प्रति अटूट आस्था के प्रतीक हैं। मतिराम के मतानुसार भक्ति का क्षेत्र परम्परागत धार्मिक रूढ़ियाँ नहीं हैं। परन्तु वह भक्ति के कहीं अधिक तात्त्विक अर्थ तक पहुँचे हैं। जीवन का कोई मूल्य नहीं है यदि वह राधा-कृष्ण की लीलाओं का चिंतन न करे।[2] अतः रीतिकालीन कवि इस संसार के भक्त थे। वे इस दुख सुख से व्याप्त संसार के बीच अपनी परमभक्ति का विकास करते थे। दूसरी ओर भक्तिकाल के कवि त्यागी भक्त थे, वे संसार और जगत् से परे रह कर भक्ति करते थे।[3] इस प्रकार राधा-कृष्ण की भवनाओं में लौकिक पक्ष के उन्नायक रूप के साथ भक्ति-भाव का भी समन्वय प्राप्त होता है जो उनकी भावनाओं को केवल शृंगारपरक ही नहीं होने देती है।

(ख) कवि परिपाटी के प्रतीक

उद्गम स्रोत

कवि-परिपाटियों की ओर हम 'क' खण्ड में कुछ संकेत कर चुके हैं। इन कवि प्रसिद्धियों के दो प्रमुख वर्ग हैं जिनका प्रयोग रीतिकवियों ने प्रतीक के रूप

१—बिहारी सतसई सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, पृ० १।

२—मतिराम सतसई, मतिराम ग्रंथावली, पृ० २०२।२११।

३—स्टडीज इन नायक नायिका भेद, द्वारा डा० छैलबिहारी पृ० ३०५ (थीसिस)।

में यदा कदा किया है। एक वर्ग है वनस्पति संसार का और दूसरा है जीव-धारियों का। इस प्रबंध के प्रथम अध्याय में वृक्ष-प्रतीकों का जो आदितम रूप विवेचित हो चुका है, उसी के प्रकाश में हमें वृक्ष-दोहद की भावना का उद्‌गम भी प्राप्त हो जाता है। इसके साथ साथ वृक्ष-प्रतीकों के रूप में पवित्र भावना का भी सन्निवेश प्राप्त होता है। इन दोनों तत्त्वों का समाहार कवि प्रसिद्धियों (वृक्ष, पौदे) में भी प्राप्त होता है। प्रथम वर्ग के अंतर्गत जिन प्रसिद्धियों का विकास सम्भव हो सका, उनका स्रोत आदिमानवीय ही था। अतः केवल मात्र वृक्ष दोहद की भावना को ही इन प्रसिद्धियों का स्रोत नही माना जा सकता है जैसा कि डा० हजारीप्रसाद का मत है।[1] कविप्रसिद्धियों के विकास में वृक्ष दोहद के साथ साथ पवित्र भावना, चेतनारोपका भी विशिष्ट योग है। इसके अतिरिक्त परिपाटियों का उद्‌गम तथा विकास अनेक पौराणिक तथा धार्मिक स्रोतों से भी हुआ है। अनेक वृक्षों की प्रसिद्धियों, और साथ ही अनेक जीवधारियों के प्रति प्रसिद्धियों का उद्‌गम इन्ही पौराणिक तथा धार्मिक मान्यताओं पर आश्रित है।

वनस्पति संसार

वृक्ष और पौदों का साहित्य में एक विशिष्ट स्थान प्राचीन काल से रहा है। इसका कारण कदाचित् यही था कि वृक्ष और पौदों (फूल भी) की भावना में सचेतन क्रिया का आरोप किया गया। यही कारण है कि प्रकृति के विशाल प्रांगण से उनका अर्थ रूढ़ि होता गया और अंत में वे कवि-प्रसिद्धियों के रूप में काव्य के अंग बन गये।

वृक्ष दोहद की भावना का मूल अर्थ पुष्पोद्‌गम है। यह पुष्पोद्‌गम एक प्रकार से यौनपरक सम्बन्ध का फल है जो वृक्ष तथा पौदों में नर तथा मादा अंगों के संयोग से उत्पन्न होता है।[2] यह तो 'दोहद' का प्राकृतिक अर्थ हुआ, परन्तु 'दोहद' एक कृत्रिम क्रिया को भी कहते हैं। वैज्ञानिक शब्दावली में इसे 'कैस्ट्रेशन' कहते हैं जिसमें पुष्पोद्‌गम किसी कृत्रिम क्रिया तथा द्रव्य के द्वारा अकाल ही कराया जाता है। मेरे विचार से 'दोहद' शब्द का अर्थ दोनों अर्थों को अपने अन्दर समेटे हुए है। इस दोहद भावना पर अनेक वृक्षों तथा

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका, द्वारा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २२६।

२—वनस्पतिविज्ञान (Botany) में नर अंग एन्ड्रशियम और मादा अग को गाईनेशियम कहते है। ये अग या तो एक स्थान पर ही या अलग अलग होते हैं।

पौदों के प्रति प्रसिद्धियों का आविर्भाव लक्षित होता है। ऐसे कुछ वृक्ष हैं प्रियंगु, अशोक, बकुल, तिलक, कुरवक, मंदार, चम्पक, आम, नमेरू, कर्णिकार आदि। इन सभी वृक्षों के पुष्पित होने की बात स्त्रियों की विभिन्न क्रियाओं और अंगो के संस्पर्श से मानी गई है।

प्रश्न यह है कि दोहद की प्रवृत्ति का आरोपण नारी की क्रियाओं पर क्यों किया गया ? इसका विश्लेषण उसी समय हो सकता है जब हम आर्येतर जातियों में प्रचलित वृक्ष के प्रति विश्वास का विश्लेषण कर लें। फ़्रेज़र ने अपनी पुस्तक 'गोल्डन बाउ' में अनेक आदिम जातियों में प्रजनन क्रिया के प्रथम, अनेक वृक्षों से नारी के प्रजनन अंगों का स्पर्श करने की प्रथा का उल्लेख किया है।[1] इस प्रथा से यह समझा जाता था कि स्त्री की उर्वरा शक्ति का विकास उस विशिष्ट वृक्ष तथा पौदे के स्पर्श से सम्भव है। यह था तो एक अंधविश्वास, पर अनेक वृक्षों की उर्वरा शक्ति से स्त्री का घनिष्ट सम्बन्ध उत्तरोतर बढ़ता गया। अंत में स्त्री के अंगों के स्पर्श से वृक्षों का पुष्पित तथा विकसित होना एक प्रकार से कवि प्रसिद्धि में परिवर्तित हो गया।

आर्येतर जातियों में वृक्ष-पूजा की भी भावना प्रचलित थी जिसने वृक्ष के प्रति एक श्रद्धा तथा पावन भावना का सन्निवेश भी किया। पौराणिक शास्त्र में वर्णित यक्ष, गंधर्व और अप्सरा का भी अपरोक्ष संबंध वृक्ष की उर्वरा शक्ति से माना गया है। नागों तथा यक्षों का देवता वरुण माना गया है। वरुण जल का अधिपति है। वरुण से सम्बंधित यक्ष तथा यक्षणियाँ भी अपदेवता के रूप में रामायण तथा महाभारत में भी मान्य रहे।[2] इन यक्ष तथा यक्षणियों का सम्बंध वृक्ष की उर्वरा शक्ति से भी रहा। अतः उनकी भावना में उर्वरता का भी समावेश प्राप्त होता है। इसी से यक्ष तथा यक्षिणी को उर्वरता का प्रतीक माना गया जिनका सीधा सम्बन्ध वृक्ष से भी हो गया।

जिस प्रकार यक्ष और यक्षिणी उर्वरता के प्रतीक माने गए, उसी प्रकार गंधर्व और अप्सराएँ भी। वैसे तो गंधर्व तथा अप्सराएँ देवताओं से भिन्न ही माने गए थे। दूसरी ओर देवराज इद्र से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। गंधर्व जल या सोम का रक्षक है।[3] ऋग्वेद में सोम को देवताओं के पिता का सृजनकर्त्ता भी कहा गया है। यह सोम वृक्ष मूलतः पर्वतों पर प्राप्त होता है

१—गोल्डन बाउ, द्वारा फ़्रेज़र पृ० १३०-१३१।

२—हिंदी साहित्य की भूमिका, द्वारा डा० हजारीप्रसाद, पृ० २२६।

३—हिन्दू धार्मिक कथाओं का भौतिक अर्थ, द्वारा त्रिवेणीप्रसाद सिंह, पृ० ८८।

जहाँ गंधर्व रहते थे। वाक् देवी ने गंधर्व के पास जाकर इस सोम को प्राप्त किया था जिसको प्राप्त करने के हेतु देवताओं में द्वंद्व भी हुआ था।[1] दूसरी ओर, उपनिषदों तथा गीता में गंधर्व को अमानवीय जीव भी कहा गया है। यहाँ तक कि श्रीकृष्ण ने अपने को गंधर्वों में चित्ररथ की संज्ञा भी प्रदान की है।[2] इस प्रकार गंधर्व शब्द एक विस्तृत क्षेत्र की व्यजना करता है जिसका सम्बन्ध सोम वृक्ष, जल तथा अमानवीय रूप से माना गया है। इसी प्रकार अप्सराएँ भी जल से ही मूलतः सम्बंधित हैं जो उर्वरता की प्रतीक हैं। निरुक्त-कार ने अप्सरा की व्याख्या 'अपस्' अर्थात् जल में 'सरण' करने वाली नारीरूपिणी शक्ति से माना है। निघण्टु ने अपस् का अर्थ रूप भी दिया है। जल में रहनेवाली सुन्दर स्त्रियों की कल्पना साइरन, निम्फ़ या मरमेड के रूप में पाश्चात्य देशों में भी की गई है।[3] यह भी कहा गया है कि गंधर्व और अप्सरा के संयोग से आदिमानव यम और यमी की उत्पत्ति हुई। इन सब विवरणों से यह सिद्ध होता है कि यक्ष, यक्षिणी, गंधर्व और अप्सराएँ किसी न किसी रूप में जल तथा वृक्ष से सम्बंधित हैं। वरुण भी जल का अधिपति माना गया है। जब वरुण का स्थान इंद्र ने ग्रहण कर लिया तो वरुण के हाथ से गंधर्व और अप्सराएँ च्युत होकर क्रमशः इंद्र के राजदरबार के गायक हो गए। इसी से अनेक विद्वानों का मत है कि यक्ष और यक्षिणी तथा गंधर्व और अप्सराएँ एकार्थवाची शब्द हैं।[4] यहाँ तक कि कामदेव और यक्षाधिपति वरुण मूलतः एक ही देवता हैं जो उर्वरता के प्रतीक होने के कारण वृक्ष से सम्बन्धित हैं। कामदेव के प्रति उर्वरता की भावना ने उसके स्वरूप के प्रति अनेक प्रसिद्धियों को जन्म दिया जो श्रृंगारपरक (रति) भावना पर आश्रित हैं। जल का एक अन्य प्रतीक कमल भी है जिसमें वरुण और उसकी स्त्री वास करते हैं। भारतीय साहित्य में कमल जल का और जीवन का प्रतीक होने से अत्यंत मंगलमय माना गया है। कवि-प्रसिद्धियों के क्षेत्र में कमल का और कामदेव का प्रमुख स्थान है। कमल के प्रति जिस धारणा का विकास हुआ उसने साहित्य में इसे प्रतीकवत् रूप प्रदान किया। इसी प्रकार कामदेव जो समस्त प्राणियों का एक अविच्छिन्न

१—इपिक्स, मिथ्स एंड लिजन्ड्स आफ़ इंडिया, द्वारा पी० थामस, पृ० ८१।

२—दे० वृहद उपनिषद अध्याय ३ पृ० ६१२ तथा गीता, पृ० ३६२ विभूतियोग श्लोक २६।

३—हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ, द्वारा त्रिवेणी प्रसाद सिंह, पृ० ८८।

४—हिन्दी साहित्य की भूमिका द्वारा डा० द्विवेदी पृ० २३१।

अंग है, उसके प्रति शस्त्र (वाण या धनुष) सम्बंधी प्रसिद्धियों का प्रयोग काव्य का विषय रहा है।[1] कवि-प्रसिद्धि के क्षेत्र में अप्सरा तथा यक्षिणियों का प्रयोग अधिकतर सुन्दरता अथवा उर्वरता के अर्थ में होता रहा है। इस प्रसंग में जिन कल्पित रूपों की अवतारणा की गई है, उनका प्रयोग कवि परिपाटी के रूप में संस्कृत साहित्य से लेकर हिन्दी साहित्य तक प्रचलित रहा।

प्राणी जगत्

इस वर्ग के अंतर्गत उन प्रसिद्धियों का समावेश है जो जीवधारियों से सम्बंधित हैं। इनमें जो सबसे अधिक प्रसिद्धियाँ हैं, वे पक्षी विषयक हैं। कुछ प्रसिद्धियाँ पशुओं तथा कीटभृङ्गों से भी सम्बन्धित हैं (कामधेनु, भँवरा आदि)। अब प्रश्न यह है कि कवि कल्पना में इन प्रसिद्धियों का क्यों महत्त्व हुआ ?

मानव नामधारी प्राणी एक चेतनयुक्त जीव है और उसके अन्दर रहस्य भावना का उदय अपनी तृप्ति भी चाहता है। आदिमानवीय दशा में भी पशु पक्षी की उपासना प्रचलित थी। इस प्रवृत्ति ने जीवधारियों के जगत् के प्रति एक पवित्र भावना का भी समावेश किया। इसके साथ साथ पौराणिक तथा धार्मिक कथाओं में इन जीवधारियों का महत्त्व बढ़ता ही गया। लोक साहित्य में तो इनकी क्रियाओं एवं व्यापारों को मानवीय संवेदना से युक्त प्रदर्शित किया गया। मेरे विचार से कवि-प्रसिद्धियों में यह संवेदनात्मक तत्त्व अपने उच्चतम रूप में विकसित हुआ है। तभी तो 'हारिल की लकडी' एकनिष्ठ प्रेम का चक्रवाक मिथुन वियोग एवं विप्रलंभ भाव का और चकोर निष्फल प्रेम भाव का प्रतीक बनकर काव्य की रसानुभूति में सहायक हो सके। अब यह प्रश्न उठता है कि ये प्रसिद्धियाँ सत्य हैं अथवा असत्य। 'पक्षी विज्ञान' तथा 'जीव-विज्ञान' के अध्ययन से यह तथ्य ध्वनित है कि इनमें से अनेक प्रसिद्धियाँ उस पक्षी तथा जीव की क्रियाओं तथा प्रवृत्तियों से सादृश्य उपस्थित करती हैं जिनका पूर्ण विवेचन हम आगे यथास्थान करेंगे। इन प्रसिद्धियों का रूपांतर जो काव्य की भावभूमि पर हो सका, वह कवि तथा कलाकार की पर्यवेक्षण शक्ति का भी सूचक है।

प्रसिद्धियों की इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में यह संकेत करना आवश्यक है कि इन प्रसिद्धियों में सभी प्रतीक की श्रेणी में नहीं आते हैं। केवलमात्र किसी प्रसिद्धि तथा कवि परिपाटी का वर्णन भर कर देना, उसे प्रतीक की स्थिति का

१—काम के रूप पर इस अध्याय के उपखंड क में विवेचन हो चुका है।

सूचक नहीं बनाता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह प्रसिद्धि रूढ़ अर्थ के साथ किसी भाव तथा विचार का संवेदनात्मक रूप सन्मुख रखे। ये प्रसिद्धियाँ हमारी हृदय की तंत्रियों को, संवेदना की भीड़ से झकझोर कर, हमारी रागात्मक चेतना को और भी विस्तृत कर दें। डा० हजारीप्रसाद का पक्षियों के प्रति निम्न कथन प्रसिद्धियों की रागात्मक पृष्ठभूमि का प्रतिबिंब है। उनका कथन है—पक्षी हमारे विनोद का साथी था, रहस्यालाप का दूत था, भविष्य के शुभाशुभ का द्रष्टा था, वियोग का सहारा था, संयोग का योजक था, युद्ध का संदेशवाहक था और जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं था, जहाँ वह मनुष्य का साथ न देता हो।[1] इन्हीं कारणों से प्रसिद्धियों का विकास भी सम्भव हो सका, और अंत में वे रूढ़ होकर किसी अर्थ में स्थिर हो गए।

वनस्पति संसार की प्रसिद्धियाँ

रीतिकाल के कवियो ने अनेक वृक्षों तथा फूलों को अपनी भावाभिव्यंजना का माध्यम बनाया है। साथ ही उनके प्रति जो परम्परागत धाराणाएँ प्रचलित थीं, उनका भी यथोचित समाहार अपने काव्य में किया है।

चम्पक

चम्पक के प्रति यह प्रसिद्ध है कि यह रमणियों के मृदु हास से मुकलित एवं पुष्पित हो जाता है। सत्य में, यह एक प्रसिद्धिमात्र है जिसे कवि कल्पना में अत्यंत मोहक रूप दिया गया। मेघदूत में ऐसी ही प्रसिद्धि चम्पक के प्रति प्राप्त होती है।[2] इस प्रसिद्धि का प्रयोग रीतिकाल में नहीं प्राप्त होता है, (मैने बिहारी, मतिराम, केशव, सेनापति के काव्य को ही अपने विवेचन का आधार बनाया है) परन्तु दूसरी ओर कवि की भावाभिव्यंजना में चम्पक का एक विशिष्ट स्थान प्राप्त होता है। बिहारी ने चम्पक को रूपसौंदर्य का अभिव्यंजक बनाया है, पर साथ ही उसे रूप की सापेक्षता मे हीन दर्शित किया हैं—

> केसरि के सरि क्यों सकै, चंपक कितक अनूप।
> गात रूप लखि जात दुरि, जातरूप कौ रूप॥[3]

अतः, बिहारी ने चम्पक की प्रसिद्धि को एक व्यापक अर्थ देने का प्रयत्न किया है। दूसरी ओर यही प्रवृत्ति मतिराम में भी प्राप्त होती है। उसने चम्पक और

१—भारत के पक्षी से उद्धृत, पृ० ३०।

२—हिंन्दी साहित्य की भूमिका, द्वारा डा० हजारीप्रसाद, पृ० २४५।

३—बिहारी सतसई, लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, पृ० ४२। १०२।

भौंरे के सम्बध के द्वारा नीतिपरक अर्थव्यंजना प्रस्तुत की है। उसने चम्पक को सद्गुण का और भंवरे को उस व्यक्ति का प्रतीक बनाया है जो सद्गुणों से युक्त वस्तु का त्याग कर देता है—

सुबरन, बरन सुबास जुत, सरस दलनि सुकुमार।
ऐसे चम्पक को तजै, तैं ही भौर गँवार ॥[1]

अशोक

अशोक एक अत्यंत रहस्यमय वृक्ष माना गया है। संस्कृत कवियों ने इसके गुच्छों तथा किसलयों का ही अधिक वर्णन किया है। इसका घनिष्ठ सम्बन्ध सुन्दरियों की क्रियाओं से है। ऐसी प्रसिद्धि है कि सुन्दरियों के वाम पदाघात से अथवा स्पर्श से ये खिल उठते हैं। राजशेखर तथा कालिदास ने अशोक वृक्ष की इसी प्रसिद्धि को अपने काव्यों में स्थान दिया है।[2] रीतिकवियों में मतिराम ने अशोक की इस प्रसिद्धि का इस प्रकार संकेत किया है—

तेरी सखी सुहागवर, जानत है सब लोक।
होत चरन के पास पिय, प्रफुलित सुमन अशोक ॥[3]

यहाँ पर अशोक की प्रसिद्धि का सहारा तो अवश्य लिया गया है, पर साथ ही अशोक सुमन का प्रफुल्लित होना नायिक के हृद्गत भावों का भी व्यंजक है।

मालती

इसका वर्णन कवि लोग बसंत तथा शरद ऋतु में नहीं करते हैं। रात्रि के आगमन पर इसका प्रफुल्लित होना माना गया है। रीतिकाल के कवि मतिराम ने इसका वर्णन किया है और कामदेव (अतनु) की फुलवारी का उसे एक वृक्ष माता है।

दिस दिस बिगसित मालती, निसि नियराति निहारि।
ऐसे अतनु-अराम में, भ्रम भ्रम भौंर निवारि ॥[4]

मालती का विकसित होना नायिका के विकसित होने का प्रतोक भी है जब वह पिय के मिलन मोद के वशीभूत हो जाती है। उस समय मानो मालती का

१—मतिराम सतसई, पृ० १७६। ७४।

२—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २३५।

३—मतिराम सतसई (ग्रंथावली से) पृ० २३७। ६५२।

४—मतिराम ग्रन्थावली, पृ० १८६। १७७।

आरोपण संयुक्तावस्था (नायिका भेद में देखो) की नायिका का भावात्मक रूप प्रस्तुत करता है। मतिराम ने इस प्रकार मालती की प्रसिद्धि को मिलनेच्छा का सुन्दर प्रतीक बनाया है—

सकल कला कमनीय पिय, मिलन मोद अधिकात।
बिलसित मालति मुकुल निसि, निसि मुख मृदु मुसक्यात ॥[1]

मन्दार

मन्दार के प्रति जो प्रसिद्धि प्राप्त होती है उसका प्रयोग मेरे देखने में उपर्युक्त कवियों में नहीं प्राप्त होता है। रीतिकाव्य में मन्दार का जो भी प्रयोग प्राप्त होता है, वह अपनी विशिष्टता लिये हुए है। वह किसी भाव विशेष की अभिव्यक्ति के हेतु प्रयुक्त हुआ है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि रीतिकवियों ने परम्परागत परिपाटी का भी उल्लंघन किया है और इस उल्लंघन के फलस्वरूप 'वस्तु' का अर्थ विस्तार ही किया है। मन्दार के बारे में यह पूर्ण सत्य है। इसके प्रति यह प्रसिद्धि है कि यह रमणियों के नर्म वाक्यों से कुसमित होता है और इद्र के नंदनकानन का एक पुष्प है।[2] इस प्रसिद्धि में कल्पना का ही आश्रय अधिक है। परन्तु रीतिकवियों ने उसमें यथार्थ दृष्टि का भी सुन्दर काव्यात्मक समावेश किया है। विहारी का निम्न दोहा मेरे कथन की पुष्टि करता है जहाँ पर उसने आक (मन्दार) को मानवती नायिका का रूप दिया है—

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि।
आक कली न रली करै, अली, अली जिय जानि ॥[3]

कवि परिपाटी में भौंरे को प्रेमी माना गया है। आक के प्रति यह सत्य धारणा है कि वह ग्रीष्म में भी फूला रहता है। बिहारी ने एक स्थान पर इस तथ्य का सहारा लेकर मन्दार वृक्ष को एक ऐसे निराश्रित एवं त्याज्य व्यक्ति का प्रतीक बनाया है जो संसार में किसी का भी दयापात्र नहीं है। फिर भी, वह विपरीत दशाओं में अस्तित्व के लिए द्वन्द्व करता है।

जाकै एकाएक हूँ, जग ब्यौसाइ न कोय।
सौ निदाघ फूलै फरै, आक डहडहो होय ॥[4]

१—मतिराम ग्रथावली, पृ० २२७। ५४२।
२—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २५०।
३—बिहारी सतसई, पृ० २४। ६८।
४—वही, पृ० १११। ४६६।

बिहारी की अंतर्दृष्टि का कितना सुन्दर स्वरूप मन्दार के प्रयोग में दृष्टिगत होता है।

चन्दन

चन्दन वृक्ष का महत्त्व काव्य के क्षेत्र में अत्यन्त व्यापक रहा है। इसके प्रति जो प्रसिद्धि काव्य में प्रचलित हुई, वह कवि कल्पना की अनेक भावभूमियों में समान रूप से ग्रहण की जा सकी। कहीं पर तो उसे कवि-समय के अनुसार वर्णन किया गया और कही पर वह कवि की प्रतिभानुसार अन्य भावक्षेत्रों का वाहक भी बना। रीतिकाव्य में हमें वे दोनों प्रवृत्तियाँ समान रूप से प्राप्त होती हैं। कवि-समय के अनुसार चन्दन वृक्ष में फल फूल होते है, पर सत्य में चन्दन में किसी भी प्रकार के फल अथवा फूल की प्राप्ति नहीं होती है। अतः यह प्रसिद्धि केवलमात्र एक कल्पना ही है। चन्दन के प्रति दूसरो प्रसिद्धि यह है कि यह केवल मलय पर्वत पर प्राप्त होता है और सर्पों से वेष्टित रहता है। जहाँ तक सर्प का सम्बन्ध है, यह सत्य है, पर इसका मलय पर्वत पर ही प्राप्त होना कल्पना है। अतः चन्दन के प्रति कहा जा सकता है कि इसकी प्रसिद्धि में सत्य और कल्पना का सुन्दर समन्वय प्राप्त होता है। केशवदास ने चन्दन के फल फूल का वर्णन कवि-समयानुसार ही किया है—

केशवदास प्रकाश बहु, चंदन के फल फूल।

अथवा

वर्णत चंदन मलय ही, हिमगिरि ही भुजपात ॥[1]

केवल हिमगिरि पर ही भोजपत्र का वर्णन करना कवि-समय है, उसी प्रकार चंदन का केवल मलय पर्वत पर वर्णन करना भी प्रसिद्धि है।

इसके अतिरिक्त केशव ने चंदन को अंगराग का एक अंग भी माना है जिसे स्त्रियाँ अपनी सुन्दरता की वृद्धि के हेतु भी प्रयुक्त करती है।[2] मतिराम ने मुख सौंदर्य का सादृश्य चंदन से किया है—

उजियारी मुख इंदु की, परी कुचनि उर आनि।
कहाँ निहारति मुगधि तिय, पुनि पुनि चंदन जानि ॥[3]

१—कविप्रिया, द्वारा केशवदास, पृ० ३६ तथा ३९।

२—वही, पृ० ३८।

३—मतिराम ग्रंथावली, पृ० १२२। १७१।

कमल और भौंरा

कमल की प्रसिद्धि का विस्तार भारतीय साहित्य में अनेकानेक दिशाओं में प्राप्त होता है। संस्कृत साहित्य में पद्म का एक अत्यंत उच्च प्रतीकार्थ रहा है। कवि प्रसिद्धि है कि पद्म के सात प्रकारो में 'कुमुद' केवल जलाशयो में ही प्राप्त होते हैं। पौराणिक क्षेत्र में पद्म का प्रतीकार्थ एक प्रसिद्धि के तौर पर प्रचलित ज्ञात होता है। विष्णु के लिए श्वेत पद्म तथा शक्ति के संकेतार्थ रक्तपद्म का प्रयोग प्रचलित था। पुराणों में विष्णु के छः पद चिह्नो में एक पद्म भी है जो ध्यान करनेवाले के मन-भ्रमर को लुब्ध करता है।[1] इसी प्रकार पद्म की तरह नीलोत्पल का नदी और समुद्र आदि में वर्णन न होना चाहिए। नीलकमल का वैष्णव साहित्य में भी वर्णन है। असल में, यह कही भारतवर्ष में होता है या नहीं, इसमें विद्वानों को संदेह है। नीलोत्पल दिन में नही खिलता है, ऐसी प्रसिद्धि है, पर पद्म दिन में ही खिलते हैं और उनके मुकुल ही होते हैं।[2]

इन प्रसिद्धियों में कमल या पद्म (सरोज, कंजादि) का संकेत रीतिकाव्य में यदाकदा मिल जाता है, परन्तु प्रसिद्धि के तौर पर बहुत ही कम वर्णन मिलते हैं। मेरे देखने में कमल की प्रसिद्धि का निषेधात्मक रूप ही मिला है। सरोज का सरोवर में प्रफुल्लित होने का वर्णन सेनापति ने निषेध रूप में ही किया है—

> दामिनी ज्यों भानु ऐसे जात है चमकि, ज्यौ न
> फूलन हूँ पावत सरोज सरसीन के।[3]

इसी प्रकार, नीलोत्पल की यह प्रसिद्धि कि वह रात्रि में ही खिलता है और दिन होने के साथ कुम्हलाने लगता है—इसका भावात्मक चित्रण मतिराम ने इस प्रकार किया है—

> दुहूँ अटारनि में सखी, लखी अपूरब बात।
> उतै इंदु मुरझात है, इतै कंज कुम्हलात।[4]

इन प्रसिद्धियों के अतिरिक्त कमल को कवि कल्पना ने अन्य संदर्भों तथा भावों का वाहक बनाया है। कहीं उसे नयन के प्रफुल्लित होने का, कहीं उसे

१—कल्याण संख्या २, फ़रवरी १९५०, वर्ग २४ में 'हिन्दू संस्कृति और प्रतीक' नामक लेख पृ० ९४० लें० प्राण किशोर जी स्वामी।

२—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २४७।

३—कवित्त रत्नाकर, सं उमाशंकर शुक्ल, पृ० ९७।४७।

४—मतिराम ग्रंथावली, पृ० १९३।२१७।

मुख की शोभा का, कहीं उसे चरण का और जल तथा जीवन का प्रतीक बनाया गया है। यही नहीं वह प्रेम-प्रणय का प्रतीक बना। सत्य में यह कमल की व्यंजनाशक्ति ही है कि वह एक साथ इतने विभिन्न संदर्भों को अपने विशाल हृदय में स्थान दे सका। शायद कोई भी वस्तु काव्य में इतने विस्तृत भावभूमि को अपने अंदर समेट नहीं सकी है।

कमल को एक साथ दो संदर्भों का वाहक बनाना जहाँ एक ओर कवि कौशल का चमत्कार है, वहीं वह कमल के भावात्मक प्रयोग का सुन्दर रूप है। केशवदास ने ऐसा ही किया है। उन्होंने कमल के द्वारा वियोगिनी नायिका के नीर भरे नेत्रों और वियोगग्रसित लटके हुए मुख का भाव नीर भरे कमल को उलटा करके व्यंजित किया है। दूसरी ओर, उसी कमल को श्रीकृष्ण द्वारा कली बनाकर लौटाने का अर्थ यही है कि जब रात्रि में कमल संकुचित हो जाते हैं, तब मैं तुमसे मिलूँगा। सत्य में, भाव सवेदना तथा प्रेम के मिलन-सुख का जितना सुन्दर प्रतीकात्मक निर्देशन इस रूप में मिलता है, वह सूक्ष्म पर्यवेक्षण का फल है। यहाँ पर कमल, अपरोक्ष रूप से, प्रेम का भी प्रतीक है। साथ ही साथ उसके प्रति इस प्रसिद्धि का भी इसमें समावेश है कि कमल रात को नहीं फूलते हैं—

सखि सोहति गोपसभा महिं गोबिंद, बैठें हुते द्युतिकौ धरि कै।
जनु केशव पूरण चंद्र लखै, चित चारु चकोरनि को हरिकै॥
तिनकों उलटो करि आनि दियो, केहुँ नीर नयो भरिकै।
कहि काहे ते नेकु निहारि मनोहरि, फेरि दियो कलिका करिकै॥[1]

रीतिकाल तथा अन्य कालों में कमल को आदर्श प्रेम सम्बन्ध का प्रतीक बनाया गया है। स्वयं अंग्रेजी कवि कीट्स ने कमल को प्रेम, शांति और अनुराग का द्योतक माना है। वह कहता है—

हे मित्र वेल्स ! जब तुम्हारे भेजे हुए गुलाब मुझे मिले, जब उनकी कोमलता से मेरी इंद्रियाँ शराबोर हो गईं, उन्होंने स्फुट तथा कोमल स्वर से शांति, प्रेम तथा मित्रता को फुसफुसाया।[2]

१—कविप्रिया, पृ० २०० । ४६ ।

२—द प्योटिकल वर्क्स आफ जॉन कीट्स सं० गैराड, सॉनट सं० ५, पृ० ४१ ।

But when, O' Wells ! thy roses came to me
  My sense with their deliciousness was spell'd :
Soft voices had they, that with tender plea
  Whisper'd of peace, and love, and friendliness
    unquell'd.

प्रेम सम्बंध को कवि प्रसिद्धि की तरह भँवरा तथा कमल के द्वारा भी प्रदर्शित किया जाता रहा है। बिहारी का प्रसिद्ध दोहा प्रेमी तथा प्रेमिका के प्रेम भाव का (असमय में) सुन्दर चित्रण करता है जो संयोगावस्था की व्यंजना प्रस्तुत करता है—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु,
नहिं विकास, यहि काल।
अली कली ही सो बंध्यौ
आगे कौन हवाल ॥[1]

ऐसा ज्ञात होता है कि बिहारी की यह योजना, अतृप्त पिपासा की परिचायिका है जिसका अवसान उन्माद की उत्ताल तरंगों में होता है। बिहारी के संयोग पक्ष में विलास की भावना, वियोग में उसकी स्मृति और यदि पूर्वराग हुआ, तो इंद्रिय अतृप्ति—बस इन्हीं के अन्दर बिहारी की प्रेम भावना परिक्रमा किया करती है। कमल तथा भँवरा उनकी इस प्रवृत्ति का माध्यम सा लगता है।

इसी भाव की परिणति एक अन्य दोहे में देखने को मिलती है—

सरस कुसुम मंडरात अलि, न झुकि झपटि लपटात।
दरसत अति सुकुमार तन, परसत मन न पत्यात ॥[2]

मतिराम ने यौवन प्राप्त नायिका को चटकती हुई कली का प्रतीक बनाकर, भँवरे रूप नायक या प्रेमी को अपनी ओर बुलाने की सुन्दर प्रतीकात्मक व्यंजना की है—

फूलति कली गुलाब की, सखि यह रूप लखैन।
मनो बुलावति मधुप को, दे चुटकी की सैन ॥[3]

प्राणी जगत्

इन जीवाधारियों के प्रति भी प्रसिद्धियाँ सत्य तथा मिथ्या दोनों प्रकार की हैं।

१—बिहारी सतसई, पृ० ३०। ३८।
२—वही, पृ० ६२। ३६८।
३—मतिराम ग्रंथावली, पृ० २३८। ६५६।

हंस

हंस के प्रति दो प्रसिद्धियाँ हैं। प्रथम यह कि इनका वर्णन केवल सरोवरों में होना चाहिए और राजहस का वर्णन मानसरोवर में। श्रुति का यह वचन है कि हंस के समान निर्लेप रहकर बिहार करने वाला योगी, प्राण के संयमन में कुशल होता है।[1] दूसरी प्रसिद्धि यह है कि इसमें नीर-क्षीर को अलग करने की शक्ति है और यह केवल दूध तथा मुक्ता चुँगता है। यह प्रसिद्धि कहाँ तक सत्य है, कहा नहीं जा सकता है। वैसे कालिदास ने मेघदूत में नीर-क्षीर विवेक का संकेत किया है। परन्तु पक्षी-विज्ञान अभी तक इस रहस्य के प्रति अन्धकार में है।

रीतिकवियों में केशव तथा मतिराम ने इस प्रसिद्धि का प्रयोग किया है। केशव ने हंस का सरवर में ही वर्णन किया है।

> जहँ जहँ वर्णत सिंधु सब, तहँ तहँ रत्ननि लेखि।
> सूछम सरवरहूँ कहै, केशव हंस विशेखि॥[2]

इसी प्रकार अन्योक्ति के आवरण में मतिराम ने तालाब में ही हंस का संकेत किया है—

> अब तेरो बसिबो इहाँ, नाहिन उचित मराल।
> सकल सूखि पानिप गयो, भयो पंकमय ताल॥[3]

चक्रवाक

अनेक विद्वानों का मत है कि चक्रवाक के जोड़े का रात्रि के समय अलग होना केवल कवि कल्पना है।[4] चक्रवाक का निवास-स्थान भारत नहीं है, वह तथा इस जाति के और पक्षी उत्तर दिशा से शरद् ऋतु में यहाँ आते हैं और वसंत के आरम्भ में फिर अपने देश लौट जाते हैं। जोड़े का बिछुड़ना यह कवि कल्पना मात्र नहीं है, परन्तु अनेक पक्षी-विशेषज्ञों के अनुसार एक सत्य है। 'डक्स एंड देयर अलाईज' के लेखक मि० स्टुअर्ट का कथन है—"रात्रि में दाने चुगते समय ये पक्षी एक दूसरे से अलग हो जाते हैं तथा एक दूसरे को

१—भारत के पक्षी, द्वारा राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह, पृ० १८७।

२—कविप्रिया, द्वारा केशव, पृ० ३६। ६।

३—मतिराम ग्रंथावली, पृ० १८७। १६१

४—देव और बिहारी, द्वारा कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० ३१३ (लखनऊ, सं० १९८२)।

पुकारते हुए से प्रतीत होते हैं।"[१] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये पक्षी रात के समय दाना चुँगते हुए एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। इन अलग हुए पक्षियों के वियोग का वर्णन एक लेखक ने (स्माल गेम शूटिंग इन बंगाल) इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"शीतकाल की रात में नदी से सफर करते हुए थोड़ी थोड़ी देर पर 'कांको' 'काको' की ध्वनि वहिर्गत होते किसने नहीं सुनी ? ऐसा लगता है कि नदी के एक तट से यह आवाज़ आती है और दूसरे तट से कोई उसी ध्वनि मे प्रत्युत्तर देता हुआ प्रतीत होता है।[२] इन सब उदाहरणों से इतना तो असंदिग्ध है कि इन पक्षियों का रात्रि के प्रहर में बिछुड़ना एक सत्य है जो कवि कल्पना मे वियोग का एक उच्च प्रतीक बन सका।

कवियों ने इस सत्य प्रसिद्धि का प्रयोग वियोग भाव की अभिव्यंजना के लिए किया है। विहारी ने पावस की रात्रि में इनका हृदयग्राही रूप प्रस्तुत किया है—

पावस निसि अँधियार में, रह्यो भेद नहिं आनु।
रात द्यौस जान्यों परतु, लखि चकई चकवान॥[३]

रात अथवा दिन का भेद केवल चकई और चकवा के द्वारा ही जाना जा सकता है। जब इनका वियोग होगा तब ही रात का निविड़ अंधकार होगा जो वियोग को और भी उद्दीप्त कर देता है। दूसरी ओर, मतिराम ने इनका वर्णन शरद् ऋतु में किया है। वह कहता है कि शरद की चाँदनी किसके लिए प्रतिकूल हो सकती है ? पर वही चाँदनी कोक के हृदय में वियोग की ज्वाला के कारण प्रतिकूल सी लगती है।[४]

केशवदास ने केकी को वर्षा ऋतु में हर्षित होना कहा है।[५] अतः इन पक्षियों का वर्णन वर्षा तथा शरद् में ही प्राप्त होता है। यह कहाँ तक सत्य है, इसके बारे में इतना तो कहा जा सकता है कि शरद् ऋतु में इनका प्राप्त होना संभव है, क्योंकि ये शरद् ऋतु में उत्तर दिशा से आते हैं और वसंत तक फिर लौट

१—भारत के पक्षी, द्वारा राजेश्वर प्रसाद, पृ० १८५।
२—भारत के पक्षी, पृ० १८५।
३—बिहारी सतसई, पृ० ११४। ४८३।
४—मतिराम ग्रंथावली, पृ० १५९।३५१।
५—कविप्रिया, पृ० ३९।१४।

जाते हैं। हो सकता है कि वर्षा में भी इनका प्राप्त होना कवि कल्पना ही हो। इसका अभी तक पूर्ण हल नहीं हो सका है।

चक्रवाक मिथुन की यह भावात्मक अभिव्यंजना उस समय और अधिक हृदयग्राही हो जाती है जब उनके परस्पर वियोग का वर्णन कवि अपनी अनुभूति से करता है। उस समय ऐसा ज्ञात होता है कि वियोग की तीव्रता मानवीय संवेदनाओं से मुखर हो उठी है—

इत ते उत, उत ते इते, छिन न कहूँ ठहराति।
जक न परति चकरी भई, फिर आवति फिर जाति।[1]

यहाँ पर बिहारी ने किसी नायिका की प्रतीक्षा को 'चकई' के समान वर्णन किया है। नायिका के भावो को सीधे व्यंजित न कर, उसकी उत्कंठा एवं बेचैनी को न कहकर, चकई के द्वारा उसकी दशा का प्रतीकात्मक निर्देश किया गया है। यह व्यंग्य या ध्वनि काव्य का सुन्दर उदाहरण है। सेनापति ने भी इन पक्षिओं का वियोग-जन्य वर्णन किया है—

सीत तै सहसकर, सहस चरन ह्वै कै,
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौलो कोक कोकी को मिलत तौलो होति राति,
कोक अधबीच ही ते आवत है फिरि कै॥[2]

हारिल

हारिल ऐसा पक्षी है जिसके बारे में कहा जाता है कि यह पृथ्वी पर नहीं उतरता है। यदि कभी पानी पीने के लिए उतरता भी है 'तो पॉवों में एक लकड़ी का टुकड़ा लेकर'। हारिल को वृक्ष बहुत ही प्रिय है—टहनी ही मानो उसके जीवन का आधार है। जमीन पर पॉव न रखने की बात सही हो या ग़लत, पर है यह एक कवि प्रसिद्धि। श्री मिक रोज़नर ने इन्हें धरती पर उतरते भी कहा है।[3] अतः यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि यह पक्षी धरती पर उतरता तो है, पर बहुत कम और वह भी एक लकड़ी के टुकड़े के साथ जो उसका लकड़ी के प्रति अटूट प्रेम प्रदर्शित करता है। सूर की गोपिबाँ भी कृष्ण को अपनी सापेक्षता में हारिल की लकड़ी ही कहती हैं। प्रेमा-

---

१—बिहारी सतसई, पृ० ६२।२०६।

२—कवित्त रत्नाकर, स० उमाशकर शुक्ल, पृ० ६८, तीसरी तरंग।

३—भारत के पक्षी, पृ० ८३।

धिक्य की तीव्र व्यंजना 'हारिल की लकड़ी' से होती है। बिहारी ने भी हारिल के टेक की बात कही है—

गही टेक छूटे नही, कोटिन करो उपाय।
हारिल धर पग न धरै, उड़त फिरत मरि जाय ॥[१]

राधा के मन की दशा की व्यंजना का सुन्दर आरोपण हारिल की लकड़ी से मतिराम ने किया है। वह कहता है—

कवि मतिराम, कामरूप घनश्याम लाल,
तेरी नैन कोर ओर चाहे इकटक री।
हाहा के निहारे हूँ न हेरति हरिननैनी,
काहे को करत हठ हारिल की लकरी ॥[२]

कोकिला

कोकिल के प्रति कवि-समय यह है कि यह केवल वसंत में ही बोलती है। उसे मदन तथा वसंत दोनों का साधन स्वीकृत किया गया है। कोयल की चालाकी (अपने अंडों को काग के घोसले में छोड़ देना जिससे उनका पालन काग दम्पत्ति कर लेते हैं) को ध्यान में रखकर महाकवि कालिदास ने उसे 'विहगेषु-पंडित' की संज्ञा दी है। यजुर्वेद में कोकिल का नाम 'अन्यवाय' (अर्थात् दूसरे के घोसले में अंडा रखने वाली) भी है।[३] दूसरे के द्वारा पाले जाने के कारण कोकिल का दूसरा संस्कृत नाम परभृता भी पड़ा।

रीतिकाव्य में कोकिल की प्रसिद्धि का भी वर्णन है और साथ ही वह 'अन्योक्ति' की भी वाहक है। केशव ने कोकिल का मधुमास में बोलना कहा है।

कोकिल को कल बोलिबो, बरणत है मधुमास।[४]

मधुमास में ही रसाल में मञ्जरी निकलने लगती है और उस पर कोयल तथा भौंरे मंडराने लगते हैं। इसी समय मदन का भी प्रभाव अधिक हो जाता है। इसी की ओर यह दोहा संकेत करता है—

भौंर भाँवरे भरत हैं, कोकिल कुल मंडरात।
या रसाल की मंजरी, सौरभ सुभ सरसात ॥[५]

१—बिहारी सतसई, पृ० ५०।२३५।

२—मतिराम ग्रंथावली, पृ० ५०। २३५।

३—भारत के पक्षी, पृ० ४०।

४—कविप्रिया, पृ० ३९।

५—मतिराम सतसई (ग्रन्थावली से) पृ० २२९। ५६९।

इस प्रसिद्धि को अन्योक्ति के रूप में देखा जा सकता है कि जब अच्छे दिन आते हैं तो लोग उस व्यक्ति के चारों ओर चक्कर लगाने लगते हैं।

चातक

चातक की रटन और बेचैनी—ये दोनों तत्त्व कवि कल्पना को उद्दीप्त करते रहे हैं। चातक या पपीहे की रटन, अनेकों के अनुसार, प्रजनन काल के बाद भी जारी रहती है, जिसका कारण, जीव-विज्ञान के अनुसार, कुछ विशेष ग्रन्थियों की क्रिया है।[1] चातक की बेचैनी एक कवि प्रसिद्धि है जिसका कारण अभी तक नहीं ज्ञात हो सका है। शायद यह मिथुन के प्रति बेचैनी हो अथवा प्रणय के प्रति।

चातक का पीव-पीव रटना मानो मानवीय प्रेम का अटूट प्रतीक है। चातक की इस वृत्ति का सुन्दर काव्यात्मक संकेत रीतिकाव्य में केशव की इन पंक्तियों में प्राप्त होता है—

> चातक ज्यों पिव पीव रटै चढ़ि
> ताप तरंगिनि ज्यों अति गाढ़ी।[2]

उसकी रटन ताप की परिचायिका है जो उसके प्रेमाधिक्य की ही व्यंजना करती है। यही उसकी रटन का रहस्य लगता है। चातक की इसी रटन का एक रूप और भी मिलता है जो मेघों को देखकर स्वाति बूंदें प्राप्त करने की एक अटूट बलवती इच्छा है—

> सजनी सज नीरद निरखि, हरष नचत इत मोर।
> पीय पीय चातक रटत, चितवहु पिय की ओर॥[3]

चातक जिस प्रकार पीय पीय के द्वारा अपने प्रेम पात्र के प्रति प्रणय को प्रकट करता है, उसी प्रकार किसी नायिका से कवि प्रिय की ओर देखने को कहता है।

चकोर

चकोर के प्रति यह प्रसिद्धि मानी जाती है कि यह चंद्रिका का पान करता है। वह रह रह कर दिन में बोला करता है। परन्तु जैसे जैसे रात्रि का आगमन होने लगता है वैसे वैसे यह और भी मुखर हो जाता है। इस प्रकार

१—भारत के पक्षी, पृ० ४७—देखो पृष्ठभूमि 'क' में परिपाटी और प्रतीक।

२—कविप्रिया, पृ० १३६। ४२।

३—वही, पृ० २८५। ३।

के संकेत हमें अमरकोष तथा साहित्य-दर्पण नामक ग्रंथों में प्राप्त होते हैं।[1] इस मुखरता को हम उसके उत्साह का एवं चन्द्र के प्रति अगाध प्रेम का द्योतक मानते हैं। कवियों को जब निष्फल प्रेम की व्यंजना करनी होती है, तब वे इस प्रसिद्धि को ही प्रतीक बनाते हैं।

चकोर के प्रति दूसरी प्रसिद्धि यह मानी गई है कि यह या तो चंद्रिका का या अंगारों का पान करता है। 'भारत के पक्षी' के लेखक श्री राजेश्वर नारायण सिंह ने चकोर को अँगारे चुगते हुए स्वयं देखा है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि चकोर का अंगारे खाना एक सत्य है जो कवि प्रसिद्धि बन कर काव्य में रूढ़ अर्थ का व्यंजक बन गया है।

रीतिकाव्य में हमें ये दोनों प्रसिद्धियाँ अत्यन्त भावात्मक रूप में प्राप्त होती हैं। चन्द्र तथा चकोरी का वर्णन बिहारी ने एक अत्यन्त चमत्कारपूर्ण रूप में किया है। माघ के महीने में सूर्य का ताप इतना कम होता है कि चकोरी चन्द्रमा के धोखे सूर्य की किरणों को ही शीतल अनुभव करने लगती है। इस प्रकार वह दिन में ही रात्रि का अनुमान करने लगती है —

लगत सुभग सीतल किरन
निसि सुख दिन अवगाहि।
माह ससी भ्रम सूर त्यौं
रहत चकोरी चाहि।[2]

इसी भाव का चित्र एक अन्य स्थान पर बिहारी ने व्यंजित किया है कि सूर्य के उदित हो जाने पर भी चकोर अपने चारों ओर निश्चल दृष्टि से 'कुछ' देखा करता है। वह केवल चाँदनी की क्षीण होती हुई छटा का अवसान तृषित नेत्रों से ही देखता रहता है।[3] कितना भावात्मक चित्र है यह, जिसमें चकोर मानो एक टूटे हुए प्रेमी का रूप सा लगता है। चकोर की यह प्रवृत्ति यहीं पर समाप्त नहीं होती है, वह तो अङ्गार चुंगने में भी लक्षित होती है। अनेक ऐसे उदाहरण रीतिकाव्य में प्राप्त हो जाते हैं जिनमें यह प्रसिद्धि प्राप्त होती है। महाकवि केशवदास ने चकोर के अग्नि चुंगने का वर्णन इस प्रकार किया है—

१—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, द्वारा डा० हजारी प्रसाद, पृ० २४२।

२—बिहारी सतसई, पृ० ८७। ३४१।

३—वही, पृ० ७१। २५८।

बंचू चुगै अंगारन, जाको कर जिय जोर।
सोऊ जो जोरे हिये, कैसे जिये चकोर ॥[1]

चकोर का चिनगी चुंगने का एक अत्यन्त व्यथापूर्ण चित्र मतिराम में मिलता है। किसी नायिका के नेत्रों के कोर, जो अश्रु-विंदुओं से रक्त-रंजित हो गए हैं, का कारण प्रिय का चन्द्रमुख न देखना है। कवि इन नेत्रों के रक्त-रंजित होने पर उनकी समानता चकोर के अग्नि चुंगने से करता है। सारा संदर्भ चकोर के चिनगी चुंगने में नायिका के व्यथापूर्ण चित्र को साकार कर देता है—

विंदु लसत अँसुवानि के, लाल भये दृग कोर।
देखे बिन पिय चंद मुख, चिनगी चुगत चकोर ॥[2]

चकोर का यह अटूट निष्फल प्रेम उस समय और भी मुखर हो जाता है जब उसकी यह प्रवृत्ति यह ध्वनित करती है कि वह केवल अङ्गारे ही चुँगता है या केवल चन्द्रिका—इसके अतिरिक्त वह किसी दूसरी वस्तु पर आँख तक नहीं उठाता है। बिहारी का निम्नलिखित दोहा इसी भाव की प्रतिध्वनि है—

चितु दै देखि चकोर त्यों, तीजे भजे न भूख।
चिंनगी चुगै अंगार की, चुंगै कि चंद-मयूख ॥[3]

चकोर की इसी प्रवृत्ति का संकेत मतिराम ने भी किया है।[4]

कुछ अन्य प्रसिद्धियाँ

उपर्युक्त प्रमुख प्रसिद्धियों के अतिरिक्त जिनका प्रतीकात्मक महत्त्व हो सकता है, वे विविध क्षेत्रों से ली गई हैं। कुछ पौराणिक हैं, कुछ जीव संसार की हैं और कुछ वर्णनात्मक आदि हैं। इनमें से कुछ प्रमुख प्रसिद्धियों का निम्न रूप से वर्गीकरण किया जा सकता है—

कामदेव

कवियो ने 'काम रति' के प्रति अनेक प्रसिद्धियों का पालन अपनी कविताओं में किया है। काम के महत् क्षेत्र को ही ध्यान में रखकर शायद किसी अँग्रेज़ी

१—कविप्रिया, द्वारा केशव, पृ० ३०६। ३२।
२—मतिराम ग्रन्थावली, पृ० १८५। १३८।
३—बिहारी सतसई, पृ० १२५। ५४४।
४—मतिराम ग्रन्थावली, पृ० १२०। १४३।

कवि ने उसे 'विश्व का सम्राट्' तक घोषित कर दिया है जिसका एकछत्र राज्य सागर, पृथ्वी, वायु तथा जीवधारियो में अन्तर्व्याप्त है।[१]

कामदेव के प्रति दो प्रसिद्धियाँ प्रमुख है। प्रथम, अस्त्रों सम्बन्धी जिनमें बाण और धनुष प्रमुख हैं। कामदेव के पुष्पमय पंचबाणो मे अरविंद, अशोक, आम, नवमल्लिका और नीलोत्पल सन्निहित है। परन्तु पॉच बाणों पर मतभेद भी है। कुछ के अनुसार सम्मोहन, उन्माद, शोषण, तापन और स्तंभ, ये ही पाँच कामबाण हैं। इसके अतिरिक्त अनेक विचारकों के अनुसार पंचविषय (रूप, रस, गंधादि) ही कामबाण हैं।[२] काम के बाणों पर चाहे मतभेद हो, पर जहाँ तक काम के स्वरूप का प्रश्न है, उसमें सम्मोहनादि पॉच गुण उत्तरोत्तर बढ़ते ही जाते हैं जिनका परोक्ष अथवा अपरोक्ष सम्बन्ध विषयों से भी होता है। काम का सञ्चार नेत्रों की चपलता में भी माना गया है।

दूसरी प्रमुख प्रसिद्धि है काम का 'अतनु' तथा 'तनु' रूप में समान वर्णन करना। प्रजापति से शापित होने पर कि काम का नाश शिव के तीसरे नेत्र से होगा, रति ने घोर तपश्चर्या कर विष्णु से यह वर मांगा कि काम अमूर्त्त रूप (अतनु) से ही समस्त प्राणियो में व्याप्त रहें और द्वापर में श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में मूर्त रूप ग्रहण करें। तब से काम के अमूर्त तथा मूर्त दोनो रूपों का वर्णन कविजन प्रसिद्धि के तौर पर करते रहे हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से काम का अमूर्त रूप एक सत्य है, क्योंकि 'वह' एक शक्ति है जिसका कोई भी रूप नहीं है। परन्तु दूसरी ओर जब काम का संचार एवं विस्तार प्राणियों में होने लगता है तब वह अनेक रूपों में भासित होता है, यथा क्रियाओं, संवेदनाओं एवं मुद्राओं के रूप में। काम के इस अनङ्ग रूप का संकेतात्मक वर्णन केशवदास ने इस प्रकार किया है—

> बरज्यो हौं हरि, त्रिपुरहर (शिव) बारक करि भ्रूभंग।
> सुनौ मदन मोहनि मदन, ह्वैही गयों अनंग॥[३]

१—हिन्दू मैथालाजी से उद्धृत, पृ० ४६, ले० कोलमैन।

Whatever thy seat what'er thy Name
Seas, Earth and air thy reign proclaim
Wreathy smiles and roseate pleasures
Are thy richest, sweetest treasures
All animals to thee their tribute bring
And hail thee Universal King.

२—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, द्वारा डा० हज़ारी प्रसाद, पृ० २३७।

३—कविप्रिया, पृ० १५५। ३।

धनुष और वाण के प्रति प्रसिद्धि का प्रचार रीतिकाव्य का एक प्रमुख तत्त्व रहा है। कवियों ने इनका प्रयोग काम, रूप तथा शृंगार-भावना को व्यंजित करने के लिए किया है। कमान, प्रत्यंचा (कमनैती) और वाण का प्रतीकवत् प्रयोग बिहारी ने नायिका वर्णन के प्रसंग में किया है—

तिय कित कमनैती पढ़ी, जिन गहि भौंह कमान।
चलचित बेमैं चुकत नहिं, बंक बिलोकन बान॥[1]

सत्य में यह काम का मूर्त रूप है जो अमूर्त भाव से हृदय में स्थित रहता है। काम के बाणों का कार्य है हृदय को हनन करना जिसका संकेत मतिराम के इस दोहे में साकार हो उठा है—

वाके हिय के हनन को, भयो पञ्चशर बीर।
लाल तुम्हें बस करन को, रहे न तरकस तीर॥[2]

जुराफा, दीपक, मीन आदि

रीतिकाव्य में कुछ ऐसे प्रतीक प्राप्त होते हैं जो प्रसिद्धि के तौर पर प्रयुक्त हुए हैं। इनमें से कुछ प्रतीक तो नितान्त नवीन हैं और कुछ परम्परा से गृहीत है। सत्य में, इनका प्रयोग भी कवियों ने किसी भाव या संवेदना के प्रकाशनार्थ ही किया है। बिहारी का 'जुराफा' एक ऐसा ही जन्तु विशेष है जिसका चयन बिहारी ने एक नवीन दृष्टि से किया है। यह 'जन्तु' अफ्रीका में पाया जाता है जिसके प्रति यह प्रसिद्धि है कि इनके दम्पति एक साथ विहारादि करते हैं और फिर बिछुड़ जाते है। यहाँ पर बरबस चक्रवाक-मिथुन का ध्यान आ जाता है। बिहारी ने इस जीवधारी को माध्यम बना कर दाम्पत्य प्रेम में विरह की सुन्दर व्यंजना प्रस्तुत की है—

मिलि बिहरत बिछुरत मरत,
दम्पति अति रति लीन।
नूतन बिधि हेमन्त सब,
जगत जुराफा कीन॥[3]

रीतिकाव्य में सामान्यतः जहाँ पर भी प्रेम व्यंजना को प्रतीकात्मक रूप देना होता है, वहाँ कवि ऐसे ही उदाहारणों का चयन करता है। इसी कोटि की

१—बिहारी सतसई, पृ० ६८। ३५५।
२—मतिराम ग्रथावली, पृ० २२५।५१६।
३—बिहारी सतसई, पृ० १४४।४६४।

प्रेम व्यंजना मीन और जल के सम्बंध पर भी आश्रित मानी गई है, जिसे बिहारी ने प्रसिद्धि के रूप में ग्रहण किया है—

जाति मरी बिछुरी घरी, जल सफरी की रीति।
खिन खिन होति खरी खरी, अरी, जरी यह प्रीत ॥[1]

मीन का जल से वियोग उसकी मृत्यु है, और प्रीति की यह रीति बिहारी को यह कहने के लिए वाध्य कर देती है कि यह प्रीति रीति भी अद्भुत है- ऐसी प्रीति जल जाय तो अच्छा है। कितना हृदय विदारक प्रेम का प्रतीकात्मक निर्देश इस दोहे में प्राप्त होता है। प्रतीकात्मक अभिव्यंजना में किसी भाव को रूप के आग्रह में बाँधा जाता है। प्रेमाधिक्य की भावतरंगें ऐसी ही होती हैं जिनके आलोड़न से मानसिक जगत् उद्वेलित होने लगता है। निःस्वार्थ प्रेम का प्रतीक जो ऐसा ही उद्वेलन उत्पन्न करता है, वह है पतंग। मतिराम के शब्दों में—

देखत दीपति दीप की, देत प्रान अरु देह।
राजत एक पतंग में, बिना कपट को नेह ॥[2]

प्रेमगत मान का एक चित्र लीजिए। कवि प्रसिद्धि है कि चन्द्रकान्तिमणि चन्द्रमा की किरणों के पड़ने से पिघलने लगती है। इस प्रकार उससे जल निकलने लगता है। मतिराम ने इस प्रसिद्धि का प्रयोग रूपक-शैली में इस प्रकार किया है—

इन्दु-उपल उर बाल कौ, कठिन मान में होत।
देखै बिन कैसे द्रवै, तो मुख-इन्दु उदोत ॥[3]

नायिका का हृदय मान से कठोर होकर चन्द्रकान्तिमणि के समान हो गया है और बिना प्रिय के मुख-चन्द्र को देखे, वह किसी भी प्रकार से द्रवित नहीं हो सकता है।

(ग) अलंकारों में प्रतीक योजना

कवि परिपाटियों के विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रसिद्धियों का प्रतीकवत् प्रयोग कभी कभी अलङ्कारों के आवरण में भी हुआ है। अतः

१—बिहारी सतसई, पृ० ७५। २७७।

२—मतिराम ग्रन्थावली पृ० १२६। १६१।

३—वही, पृ० १८६। १४७।

अलङ्कार के क्षेत्र को ध्यान में रख कर हम कह सकते हैं कि प्रतीक और अलङ्कार का सम्बन्ध काव्य के लिए एक आवश्यक अंग है।[1] रीतिकाव्य में अनेक अलङ्कारों में ऐसे प्रतीकों की योजना प्राप्त होती है, जो अलङ्कारगत-प्रतीक की स्थिति को स्पष्ट करते हैं। अतः हम ऐसे ही प्रतीको का विवेचन निम्नलिखित वर्गों के अन्तर्गत कर सकते हैं—

१—श्लेषगत प्रतीक योजना,
२—यमकगत प्रतीक योजना,
३—रूपकातिशयोक्तिगत तथा अन्य अलङ्कारों में प्रतीक योजना,
४—अन्योक्तिगत प्रतीक योजना।

(१) श्लेषगत प्रतीक योजना

इस योजना के अन्तर्गत प्रतीकों की स्थिति मूलतः दो बातों पर आश्रित है। प्रथम यह कि कवि श्लेष के द्वारा किसी विचार की या भाव की उद्भावना किस सीमा तक कर पाया है ? द्वितीय, इस उद्भावना में दो वस्तुओं की तुलना समानता पर अथवा असमानता पर आश्रित है। कुछ ऐसे भी प्रसंग हैं जिनमें दो विपरीत वस्तुओं में समानता भी दिखाई गयी है, और वे अन्योन्याश्रित हैं। इनमें प्रतीक की स्थिति उसी समय मान्य होगी, जब इन दोनों अन्योन्याश्रित पक्षों में एक दूसरे की धारणा या भाव की समान व्यंजना होगी। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी प्रसंग हैं जिनमें एक 'शब्द' की संधि पर दो पक्षों की अवतारणा होती है। इस प्रकार एक पक्ष दूसरे पक्ष में स्थिर हो जाता है और प्रतीक की दशा को स्पष्ट करता है। अन्त में, कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें कवि ने स्वयं समानता की व्यंजना कर, शब्द विशेष को किसी अर्थ में स्थिर कर दिया है। श्लेषगत प्रतीकों का सौन्दर्य शब्दपरक है। अर्थ विविधता तथा शब्द विश्लेषण की सम्मिलित प्रक्रिया के द्वारा श्लेषगत प्रतीकों का अर्थ स्पष्ट होता है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत दो विपरीत वस्तुओं में कवि समानता के द्वारा 'प्रतीक' की अवतारणा करता है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि शब्द के विविध अर्थ यहाँ पर भी कभी कभी शब्द विश्लेषण के द्वारा व्यंजित होते हैं। सेनापति तथा बिहारी में इनका सुन्दर प्रयोग प्राप्त होता है। परन्तु सेना-

१—दे० अध्याय तीन, उपखंड ड 'अलङ्कार और प्रतीक'।

पति श्लेष वर्णन में जितने सिद्धहस्त हैं उतने कदाचित् अन्य रीतिकालीन कवि नहीं हैं।

जहाँ तक भावात्मक और लौकिक क्षेत्र की अर्थ-व्यंजना का प्रश्न है, उसमें दो विपरीत भावों और वस्तुओं में समानता दिखाकर प्रतीक की भावना को स्थिर किया गया है। सेनापति ने एक स्थान पर गोपियों के प्रेम को और दूसरी ओर कुब्जा के प्रेम को, जो मूलतः संदर्भानुसार दो छोर ही कहे जा सकते हैं, उनमें समानता की अवतारणा की है। एक ओर गोपियों का भाव कुब्जा के भाव का प्रतीक बन जाता है और दूसरी ओर कुब्जा का भाव गोपियों के लिए प्रतिरूप हो जाता है। इसमें जहाँ एक ओर काव्य चतुराई के दर्शन होते हैं, वहीं पर आन्तरिक भाव की व्यंजना होती है—

> कुबिजा उर लगाई हमहूँ उर लगाई
> पी रहे दुहूँ के तन मन वारि दीने हैं।
> ये तो एक रति जोग हम एक रति जोग
> सूल करि उनके हमारे सूल कीने है॥
> कुबरी यौं कल पैहै हम इहाँ कलपैहै
> सेनापति स्याम समुझै यौ परवीन हैं।
> हम वे समान ऊधौ! कहौ कौन कारन तै
> उन सुख मानै, हम दुख मान लीने हैं॥[१]

अर्थ स्पष्टीकरण के लिए दोनों पक्षों में जो शब्द समान प्रयुक्त हुए हैं उनकी तालिका निम्न है—

शब्द	गोपी पक्ष	कुब्जा पक्ष
उर लगाई	प्रेम किया	प्रेम किया
पी रहे दुहून के	प्रेमी	प्रेमी
रति जोग	योग	शृंगार योग
सूल करि	पीड़ा	गले में माला पहनाया
कल पैहै (विश्लेषण शब्द)	सुख पायेगी	दुखी होगी

इसी प्रकार एक अन्य छन्द में सूम और दानी की समानता प्राप्त होती है जो प्रतीकवत प्रयोग को स्पष्ट करता है। इसमें भी अर्थ विचित्रता और शब्द-विश्लेषण दोनों का समान प्रयोग हुआ है—

१—कवित्त रत्नाकर, सं० उमाशंकर शुक्ल पृ० २१। ६६, पहली तरङ्ग।

नाहीं नाहीं करैं थोरी माँगै सब दैन कहैं
मंगन कौ देखि पट देत बार बार हैं।
जिनको मिलत भली प्रापति की घटी होत
सदा सब जन मन भाए निरधार हैं॥
भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य
कन कन जोरैं दान पाठ पर वार हैं।
सेनापति वचन की रचना विचारौ जामैं
दाता अरु सूम दोऊ कीने इकसार है॥[1]

शब्द	दानी पक्ष	सूम पक्ष
नाहीं नाहीं करैं (अर्थ विविधता)	देने में नहीं नहीं करता	देने में नहीं करता है अर्थात् नहीं देता है।
सब दैन कहै (अर्थ विविधता)	सब देने को तैयार है	बोलता नहीं है (सबदै न कहै)
पट देत (अर्थ विविधता)	वस्त्र देता है	कपाट बन्द कर लेता है
प्रापति की घटी (अर्थ विविधता)	जिन्हें मिलते हैं उन्हें प्राप्ति का अवसर मिलता है।	जिन्हें मिलते हैं उन्हें आमदनी की कमी हो जाती है।
कन कन जोरै (शब्द विविधता)	सुवर्ण नहीं जोड़ते हैं	थोड़ा थोड़ा कर जोड़ते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से दाता के वर्णन से सूम भाव का स्पष्टीकरण होता है। विपरीत धारणाओं का यह शब्दपरक नृत्य श्लेषगत प्रतीक की कसौटी ही माना जाना चाहिए। जिस बात को सेनापति अत्यन्त विस्तार से कहते हैं, उसी बात को बिहारी सूक्ति-रूप में (दोहे) कहते हैं। सेनापति का काव्य-माधुर्य शब्दपरक अर्थ समष्टि है तो बिहारी का काव्य सौदर्य शब्द और ध्वनि से शासित अर्थ समष्टि का सुन्दर रूप है। एक उदाहरण लीजिए—

जोग जुगुति सिखये सबै, मनो महामुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता, कानन सेवत नैन॥[2]

इस दोहे में योगी और भोगी (नायिका) के विपरीत भावों की व्यंजना प्रस्तुत की गई है। यहाँ पर तीन शब्द श्लेषपरक हैं जो दो पक्षों के अर्थ को व्यंजित

१—वही पृ० पहली तरङ्ग पृ० १३। ४०।

२—बिहारी सतसई, पृ० २०।५४ सं० गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश' (प्रयाग १६३४)

करते हैं। योग शब्द का अर्थ योगी पक्ष मे योग है और नायिका पक्ष (भोगी) में संयोग सुख है, प्रिय का अर्थ एक पक्ष में प्रियतम है, तो दूसरे पक्ष में ईश्वर। अद्वैतता का अर्थ योगी पक्ष में ईश्वर से मिल जाना है, तो नायिका पक्ष में वह प्रिय से मिलन का प्रतीक है। कानन का एक पक्ष में अर्थ 'कानों' तक है तो दूसरे पक्ष में उसका अर्थ वन है। यदि सेनापति को इसका वर्णन करना होता तो वे एक लम्बी छन्द योजना प्रस्तुत करते, परन्तु बिहारी की सूत्र शैली में मानो गागर में सागर ही भर दिया है। भावाभिव्यंजना का जहाँ तक प्रश्न है, वह बिहारी में और सेनापति में समान रूप से प्राप्त होती है।

इन विपरीत योजनाओं में अनेक ऐसी भी योजनाएँ हैं जो पौराणिक अथवा धार्मिक देवों (व्यक्तियों) से सम्बन्धित हैं। इन देवों में अभिन्नता का समावेश अवश्य किया गया है, पर सत्य मं, उनकी धारणा का जहाँ तक प्रश्न है वे विभिन्न दृष्टिकोणों को स्पष्ट करते हैं। उदाहरणस्वरूप, सेनापति ने एक स्थान पर रामचन्द्र की भावना का आरोपण कृष्ण की भावना पर किया है। इस प्रकार, राम के द्वारा कृष्ण के प्रतीकार्थ का स्पष्टीकरण किया है।[१] प्रतीक की दृष्टि से पौराणिक व्यक्तियां का कोई न कोई प्रतीकात्मक अर्थ होता है। सेनापति के ऐसे उदाहरणों को हम प्रतीक के रूप मं, इसी दृष्टि से, ग्रहण कर सकते है। इसी प्रकार कुछ भावात्मक विपरीत सादृश्यता का आरोपपरक अर्थ अनेक ऋतुओं के वर्णन में प्राप्त होता है। एक ऋतु का वर्णन करते समय किसी अन्य ऋतु पर उसका आरोपण श्लेषगत शब्दों के अर्थ पर आश्रित रहता है। एक उदाहरण मेरे कथन को स्पष्ट करने में समर्थ होगा जिसमें ग्रीष्म का वर्णन वर्षा पर भी लागू होता है—

देखै छिति अंबर जलै है चारि ओर छोर
    तिन तरुवर सब ही कौ रूप हर्यौ है।
महा झर लागै जोति भादव की होति चलै
    जलद पवन तन सेक मानौ पर्यौ है॥
दारुन तरनि तरै नदी सुख पावै सब
    सीरी घनछाँह चाहिबौई चित धर्यौ है।
देखौ चतुराई सेनापति कविताई की जु
    ग्रीषम विषम वरषा की सम कर्यौ है॥[२]

१—कवित्त रत्नाकर, पृ० २२। ६६, पहली तरङ्ग।

२—कवित्त रत्नाकर, पहली तरङ्ग, पृ० ५६। १८।

झर	ताप झड़ी	: अर्थ विविधता
जोति	लपट प्रकाश	: अर्थ विविधता
माधव	दावाग्नि भादौ का महीना	: अर्थ विविधता
जलद, पवन	तेज वायु या लू मेघों की घटा	: अर्थ विविधता
सेक	सेंक जल सिक्त	: अर्थ विविधता
तरनि	सूर्य नौका	: अर्थ विविधता
घनछाँह	शीतल छाया मेघ	: अर्थ विविधता

इनमें सभी शब्द श्लेषपरक हैं जिनके द्विअर्थक तत्त्वों का सुन्दर समावेश प्राप्त होता है। इस प्रकार की अनेक श्लेषगत प्रतीक योजनाएँ सेनापति के काव्य में यदा कदा मिल जाती हैं। कहीं पर वे ग्रीष्म और हिमऋतु,[1] कहीं पर वर्षा और शिशिर[2] और कहीं पर ग्रीष्म और शीत पक्षों[3] की समानता प्रदर्शित करते हैं। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इन ऋतुओं का एक दूसरे पर आरोपण शुद्ध प्रतीक की श्रेणी में नहीं आता है। उन्हें हम प्रतीक के रूप में एक सीमित दृष्टि से ही देख सकते हैं। जिस प्रकार ऊपर के उदाहरणों में किसी भाव तथा धारणा का रूप मुखर होता है, उस प्रकार का भाव या विचार का प्रतिनिधित्व ये उदाहरण नहीं करते हैं। ये उदाहरण प्राकृतिक घटनाओं का 'रूप' भर स्पष्ट करते हैं और उसी 'रूप' की अभिव्यंजना के लिए वे श्लेषगत-शब्दों का प्रतीक रूप स्पष्ट करते हैं। मेरे विचार से इन सभी उदाहरणों का प्रतीकत्व इसी दृष्टि से लिया जा सकता है।

इस विपरीत योजना के अतिरिक्त एक शब्द के विश्लेषण अथवा अर्थ विविधता के द्वारा दो पक्षों की अर्थ समष्टि की एक साथ व्यंजना भी प्राप्त होती है। ऐसी योजनाएँ कभी किसी भाव की अथवा कभी किसी विचार की

१—कवित्त रत्नाकर, पहली तरंग पृ० ५६। ६२।

२—वही, पृ० १६–१७। ५१।

३—वही, पृ० १६। ५०।

(पौराणिक भी) दो पक्षीय व्यंजना करती हैं। उदाहरणस्वरूप एक पौराणिक उदाहरण लीजिए जिसमें 'उमाधव' शब्द के विश्लेषण करने पर दो पौराणिक व्यक्तियों—शिव और विष्णु—की अर्थव्यक्ति होती है—

सदा नन्दी जाकौ आसाकर है विराजमान
नीकौ घनसार हूँ तै बरन है तन कौ।
सैन सुत राखै सुधा दुति जाके सेखर है
जाकै गौरी की रति जो मथन मदन कौ॥
जो है सब भूतन कौ अंतर निवासी रमै
धरे उर भोगी भेष धरत नगन कौ।
जानि बिन कहै जानि सेनापति कहै मानि
बहुधा उमाधव कौ भेद छाड़ि मन कौ॥[१]

श्लेष शब्द	शिव पक्ष	विष्णु पक्ष
सदा नंदी (शब्द विश्लेषण)	नदी के साथ (वाहन)	सदा आनंदमय
आसाकर (”)	हाथ	वरदहस्त
घनसार (”)	कपूर सा सुंदर वर्ण है	कपूर सा वर्ण
सैन सुख (शब्द विश्लेषण)	योग में समाधिस्थ	क्षीरसागर में शयन का सुख (सयन सुख)
सुधा दुति (अर्थ विविधता)	जिनके मस्तक पर चंद्रमा-भासमान है 'शेखर'	सुधा वर्ण द्युति वाला शेषनाग
गौरी कीरति (शब्द विश्लेषण)	पार्वती का शृंगार (काम)	जिसकी उज्ज्वल कीरति है, जो मदों को नष्ट करता है (गौरी कीरति मथन मदन)
सब भूतन (अर्थ विविधता)	समस्त भूतों में	सब गणों के
रमै	व्याप्त है	रमा या लक्ष्मी
भोगीभेष धरै	जिसका भोगी भेष है	
धरत नगन को (अर्थ विविधता)	जो नग्न रहता है	जो पर्वत को धारण करता है (गोवर्द्धन)

सेनापति के काव्य चातुर्य में इस प्रकार के श्लेषगत प्रतीकों में 'घनश्याम'

१—कवित्त रत्नाकर, पृ० १२ छंद ३८, पहली तरङ्ग।

शब्द भी विशेष महत्त्व रखता है जो एक साथ मेघ और कृष्ण पक्षों का समान अर्थबोधक शब्द है। कवि मेघ वर्णन के द्वारा, मेघ की भावना का आरोपण कृष्ण पर करके, उसे कृष्ण के प्रतीकार्थ में स्थिर कर देता है। ऐसा लगता है कि 'वस्तु (मेघ) का क्रमिक अर्थ विस्तार 'कृष्ण' की भावना को अपने अंदर समेटता है। अंत में, श्लेष शब्दों के द्वारा उसकी भावना कृष्ण में नितान्त स्थिर हो जाती है।[१]

इसी प्रकार एक दोहा मतिराम का भी है जहाँ उसने मेघ को कृष्ण का प्रतीक बनाया है—

> बाल अलप जीवन भई, ग्रीषम सरित अनूप।
> अब रस परिपूरन करौ, तुम घनश्याम अनूप ॥[२]

यदि मतिराम और सेनापति ने मेघ के द्वारा कृष्ण अर्थ की अभिव्यक्ति की है तो मतिराम ने लाल (रत्न) के द्वारा कृष्ण-भाव की व्यंजना भी प्रस्तुत की है—

> ललित राग राजत हिये, नायक जोति बिसाल।
> बाल तिहारे कुचन बिच, लसत अमोलिक लाल ॥[३]

यहाँ पर रत्न और कृष्ण दोनों ही ललित हैं, कृष्ण हृदयानुरागी हैं (राग राजत हिये) तो रत्न का रंग वक्षस्थल पर शोभित है। यदि कृष्ण नायक रूप में दीप्तिमान (नायक जोति बिसाल) हैं, तो रत्न भी दीप्तिमान रत्नों में श्रेष्ठ है। यदि बाल के कुचों के मध्य (हृदय पर) अमूल्य 'लाल' शोभित है तो नायिका के हृदय में अनुपम कृष्ण विराजमान हैं। बिहारी ने भी एक स्थान पर मेघ और कृष्ण के अन्योन्य अर्थ की व्यंजना सुन्दरता से प्रस्तुत की है, यथा—

> बाल बेलि सूखी सुखद, इहि रूखी रुख धाम।
> फेरि डहडही कीजिए, सुरस सींचि घनस्याम ॥[४]

यहाँ पर बाल बेलि, डहडही और सुरस में श्लेषपरक अर्थ हैं जो क्रमशः मेघ के पक्ष में नव विकसित बेल, हरित या कुकलित और जल के अर्थ को और

१—कवित्त रत्नाकर, पृ० २५, पहली तरंग।
२—वही, पृ० २५। ७७।
३—मतिराम ग्रन्थावली, पृ० २४०। ६७८।
४—बिहारी सतसई, पृ० ६४। २१६।

कृष्ण पक्ष में गोपी या नायिका, प्रफुल्लित एवं प्रेम रूप रस के अर्थ की एक साथ व्यंजना कर मेघ की भावना को कृष्ण के रूप में स्थिर कर देते हैं।

श्लेषगत प्रतीक योजना का तीसरा और अंतिम वर्ग उन उदाहरणों का है जिसमें कवि ने स्वयं समानता की आयोजना की है। उनमें अनेक ऐसे भी उदाहरण हैं जो असमान वस्तुओं में सादृश्यता का दिग्दर्शन करते हैं। उपर्युक्त विपरीत योजना में जहाँ दो वस्तुओ में दो छोर की विपरीतता के दर्शन होते हैं (जैसे सूम और दाता), वहाँ इन उदाहरणों में नितान्त विपरीतता (Opposites) का सर्वथा अभाव है। इनके बारे में केवल यही कहा जा सकता है कि कभी कभी दो असमान वस्तुओं में सादृश्यता लाकर, एक वस्तु को किसी दूसरी वस्तु का प्रतीक बनाया जाता है। यह प्रतीकत्व कोई भावात्मक अथवा कोई पौराणिक रूप हो सकता है। पीछे श्लेषगत विपरीत योजना में जहाँ एक पौराणिक या धार्मिक व्यक्ति की धारणा को दूसरे धार्मिक व्यक्ति की धारणा मे समाहित करके प्रतीक रूप का स्पष्टीकरण होता था, वहाँ इन उदाहरणों में किसी विशिष्ट 'वस्तु' को किसी पौराणिक व्यक्ति के भाव में स्थिर कर दिया जाता है। यहाँ पर भी जिस 'वस्तु' की जिस व्यक्ति में स्थिरता की जाती है, उस वस्तु का भी रूप पूरे संदर्भ में समान रूप से संगुंफित रहता है। एक उदाहरण लीजिए जिसमें महाकवि केशव ने[1] वसंत की समस्त भावभंगिमा को शिव के समाज का प्रतीक बनाया है—

शीतल समीर शुभ, गंगा के तरंग युत
अम्बर विहीन वपु, बासुकी लसति है।
सेवत मधुपगण गजमुख परभृत
बोल सुन होत सुखी संत औ असंत है।
अमल अदल रूप मंजरी सुपद रज
रंजित अशोक दुख देखत नसत है।
जाके राज दिसि दिसि फूले हैं सुमन सब
शिव को समाज किधौं केशव बसंत है॥[2]

१—केशव के कुछ श्लेषवर्णन (रामचंद्रिका) राम काव्य में विवेचित हो चुके हैं जिनका कविप्रिया में भी समावेश है। अतः उनका यहाँ पर सन्निवेश नहीं है।

२—कविप्रिया, केशव, पृ० १०७। २८।

	वसंत पक्ष	शिवपक्ष
अम्बरविहीन वपु (अर्थ विविधता)	कामदेव (विहीनवपु) (अनंग)	वस्त्र रहित शरीर
वासुकी (अर्थ विविधता)	पुष्पहार	सर्प विशेष
मधुप (")	भँवरे	देवगण
गजमुख (")		गणेश
परभृत (")	कोयल	कार्तिकेय
अमल.... रज (")	अदल (सुपर्णा)	वह अमल निर्मल चरित्र-वाली अदल, (पार्वती)
	अशोक वृक्ष	जैसा रूप मंजरी के पदों की रज से लोग शोकमुक्त हो जाते हैं।
सुमन (")	फूल	देवता

पौराणिक एवं धार्मिक क्षेत्र के प्रतीकों का स्पष्टीकरण सेनापति ने मेघ के व्याज से गोपियों के द्वारा व्यंजित किया है। सन्दर्भानुसार शब्दों के अर्थ, व्यंजना की प्रतिष्ठा करते हुए स्थिर हो जाते हैं और मेघ (घनस्याम) की सादृश्यता श्रीकृष्ण (घनस्याम) के प्रतीकत्व में प्रतिष्ठित हो जाती है, यथा—

सारंग धुनि सुनावै, घन रस बरसावै,
मोर मन हरषावै, अति अभिराम है।
संपै संग लीन सनमुख तेरे बरसाऊ
आयो घनस्याम सखी मानो घनस्याम है ॥[1]

यहाँ पर श्लेषपरक शब्द सारंग, मोर, संपै तथा घनस्याम है। सारंग का मेघ पक्ष में अर्थ मेघ गर्जन है, और कृष्ण पक्ष में वेणु ध्वनि है, मोर का अर्थ क्रमशः मयूर और 'मेरा' है, सपै का अर्थ क्रमशः विद्युत् और ऐश्वर्य है और घनस्याम का मेघ तथा कृष्ण है। इस प्रकार शब्दों की अर्थ विविधता मेघ को कृष्ण का प्रतीक बना देती है। सेनापति ने कृष्ण के प्रतीक रूप को एक अत्यन्त अद्भुत 'वस्तु' के द्वारा व्यंजित किया है। वह वस्तु है कमान या धनुष जिसे कवि ने शब्दों के श्लेषगत प्रयोग के द्वारा 'कान्ह' के रूप में अंतर्हित कर दिया है—

और भयो रुख तातै, कैसे सखी ज्यारी होति,
विफल भये है बन्द कछू न बसाति है।

१—कवित्त रत्नाकर, पृ० ४।१२, पहली तरंग।

गोसे न मिलत कैसे तीर को संजोग होत
पहिली नवनि लही जाति कौन भांति है।
सेनापति लाल स्याम रंग चित चुभि रह्यौ
कैसे के कठिन रितु पाउस बिहाति है।
आवति है लाज करि गहै पंच लोगनि तै
कान्ह फिरि गए ज्यों कमान फिर जात है ॥[1]

मानों कृष्ण की निष्ठुरता एवं उनकी उदासीनता का प्रतिरूप यह कमान है जिसके गुणों का आरोप कृष्ण पर सफलता से होता है। इस सादृश-भावना को कुछ शब्द अपनी व्यंजना में गतिशील होकर दो अर्थों की अभिव्यक्ति करते हैं। 'ज्यारी' शब्द कमान के पक्ष में जारी है और कृष्ण पक्ष में साहस का अर्थ देता है। दूसरा शब्द 'गोसे' है जो कृष्ण पक्ष में एकांत का और कमान पक्ष में उसकी दोनों नोकों का द्योतक है। तीसरा शब्द 'तीर' है जिसका अर्थ क्रमशः वाण और संयोग है। इसी प्रकार एक पूरी पंक्ति दोनों अर्थों को व्यक्त करती है जो "पहिली नवनि—भांति है" है। इस पंक्ति का व्यंग्यार्थ कृष्ण पक्ष में यह है कि गोपियाँ कृष्ण के द्वारा जो सम्मान एवं प्रेम पहले पाती थीं, उसे अब वे कैसे प्राप्त करें जब कि कृष्ण निष्ठुर हो गए हैं और कमान पक्ष में इसका अर्थ हुआ कि कमान को पहले सा झुकाव कैसे प्राप्त हो?

इन श्लेष प्रतीकों में सादृश्य-भावना का दूसरा रूप उन उदाहरणों में प्राप्त होता है जिनमें किसी विशिष्ट भाव अथवा संवेदना को मुखर रूप दिया जाता है। इसी के अंतर्गत रूपगत व्यंजना के चित्र भी समाविष्ट हो सकते हैं। उदाहरणस्वरूप किसी स्त्री का सौंदर्यवर्णन हमारे भावों को सुखानुभूति की ओर उन्मुख करता है क्योंकि एक सुन्दर वस्तु सदा आनन्द प्रदान करने वाली होती है। कदाचित् इसी भाव को व्यक्त करने के लिए सेनापति ने नवग्रहों के वर्णन के द्वारा किसी नारी के सौंदर्य की सुन्दर व्यंजना प्रस्तुत की है—

अरुन अधर सोहै सकल बदन चन्द
मंगल दरस बुध बुद्धि कै विलास है।
सेनापति जासौं जिव जन सब जीवक है
कवि अति मंद-गति चलति रसाल है॥
तम है चिकुर, केतु काम की विजय निधि
जगत जगमगात जाके जोति जाल है।

१—वही पृ० ६।१०, पहली तरंग।

अंबर लसत भुगवति सुख रासिन को,
मेरे जान बाल नवग्रहन की माल है ॥[1]

इस कविता में नवग्रहों के श्लेष अर्थ में नारी के किसी न किसी रूप की व्यंजना होती है। अरुन सूर्य का वाचक शब्द है जिसे नारी पक्ष में कवि ने 'अधर' के अर्थ में प्रयोग किया है। अन्य ग्रहों के अर्थ निम्नांकित हैं—

वदन चन्द्र	चंद्र एक नक्षत्र है जो मुख की सुंदरता का उपमान है।
मङ्गल	एक नक्षत्र जो शुभ अर्थ में नारी पक्ष में प्रयुक्त।
बुध	एक नक्षत्र विशेष बुद्धिमत्ता का द्योतक है।
जुव जन	युवा नर (युवक) अथवा देवतागण।
जीवक है	जीव या बृहस्पति एक नक्षत्र है जो नारी पक्ष में जीवक या जीवनी शक्ति से युक्त।
कवि	शुक्र एक ग्रह है जिसका अर्थ नारी पक्ष में पंडित है।
मंद गति	मंदगति से परिक्रमा करने वाला नक्षत्र शनि है जो स्त्री के अर्थ में धीमी चाल से युक्त है।
तम है चिकुर	काले या तम रंगवाला राहु जिसका अर्थ काले केशों से भी ध्वनित होता है।
केतु कामकी	केतु एक ग्रह है जो स्त्री पक्ष में काम की ध्वजा के अर्थ में प्रयुक्त होता है।
अंबर	आकाश अथवा वस्त्र

इसी प्रकार का एक अन्य चित्र भी है जिसके द्वारा कवि ने अमरावती या इंद्रपुरी के वर्णन द्वारा नायिका (भावती प्रियतमा) के रूप-सौदर्य की व्यंजना की है।[2]

रीतिकाव्य की भावभूमि में प्रेम का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, और उनके अधिकांश प्रतीक प्रेम भाव की व्यजना के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रेम का एक आवश्यक अंश विरह भी है। इसी विरहजनित अवस्था का वर्णन करने के लिए कवि ऐसे प्रतीकों का चयन करता है जो विरहिणी के भावों की तीव्रतम व्यंजना कर सके। ऐसे कुछ जीवधारी हैं हरिनी, चकई, चकोर आदि जिन्हें कवियों ने विरहावस्था का प्रतीक ही बना डाला है। सेनापति में भी एक ऐसा ही उदाहरण प्राप्त है जो श्लेषगत प्रतीक की स्थिति को स्पष्ट करता है। कवि ने 'हरिनी' को किसी व्रज-विरहिणी का प्रतीक बनाया है—

१—कवित्त रत्नाकर, पृ० १० । ३१ ।

२—वही, पृ० ७।२२, पहली तरङ्ग

हरि न है संग बैठि जोबन जुगारति है
तिन ही कौ मन बच क्रम उमहति है।
जाकौ मन अनुराग बस ह्वैकै रह्यो मधु
बड़े बड़े लोचननि चंचल चहति है॥
सेनापति बार बार सिकार तहाँ
मदन महीप तातै सुख न लहति है।
कुंज कुंज छाँह तन तपति बरावति है
हरिनी ज्यों ब्रज की विरहिनी रहत है॥[1]

	हरिनी पक्ष	विरहिणी पक्ष
हरि न	(शब्द विश्लेषण) हरिन	हरि या कृष्ण नहीं है
तिन	(अर्थ विविधता) घास	उन्हीं को (कृष्ण)
मधु	(") पानी	प्रेम, भाव
लोचननि	(शब्द विश्लेषण) नेत्र	निश्चंचल या निश्चल
मदन	(अर्थ विविधता) गर्विष्ट	प्रेम काम

(२) यमक के प्रतीक

यमकालङ्कार में प्रतीक की स्थिति शब्द की विविध आवृत्तियों से ग्रहीत अर्थ-समष्टि का ही रूप होती है जिसका तृतीय अध्याय में विवेचन हो चुका है। उसी की आधारभूमि पर यहाँ यमकगत प्रतीकों का विवेचन अपेक्षित है।

रीतिकाव्य में यमक अलंकार का प्रचुर प्रयोग किया गया है। बिहारी, केशव, मतिराम में यमकगत प्रतीकों की यदाकदा योजना प्राप्त हो जाती है। रीतिकाव्य में ऐसे प्रतीकों की योजना मुख्यतः तीन क्षेत्रों में प्राप्त होती है—किसी भाव विशेष (प्रेम, विरह) को व्यंजित करने के लिए, किसी सौंदर्य चित्र को मुखर करने के लिए और किसी भक्ति विशेष भाव को उद्दीप्त करने के लिए।

रीतिकवियों ने प्रेमाभिव्यंजना के अन्तर्गत, प्रेम के दोनों पक्षों—संयोग एवं वियोग की व्यंजना, 'शब्द' विशेष के द्वारा सुन्दरता से की है। केशव नें 'बनमाली' शब्द के अनेक प्रयोगो के द्वारा अनेक अर्थों की व्यंजना की है। कहीं पर वह शब्द वनों से घिरे हुए, कहीं पर मेघ और कहीं पर श्रीकृष्ण के विविध अर्थों को स्पष्ट करता है। अतः बनमाली ही यहाँ पर प्रतीक हो गया

१—कवित्त रत्नाकर, २७।८४ पहली तरङ्ग।

जो अपने विविध अर्थों के द्वारा किसी गोपी के प्रेम विरह भाव को, श्रीकृष्ण के प्रति प्रकट करता है—

बनमाली ब्रज पर, बरसत बनमाली
बनमाली दूर, दुख केशव कैसे सहे ।।[१]

यह तो हुआ एक गोपी के प्रेमोद्गार का स्वरूप जिसे केशव ने एक 'शब्द' के द्वारा व्यंजित किया। दूसरी ओर महाकवि बिहारी ने किसी गोपी के व्यंग्य-गर्भित प्रेम-भाव को 'गोरस' शब्द के द्वारा व्यंजित किया है—

लाज गहो बेकाज कत, घेरि रहे घर जाहि।
गोरस चाहत फिरत हौ, गोरस चाहत नाहि ।।[२]

इस कथन में एक तीक्ष्ण व्यंग्य 'गोरस' शब्द के द्वारा प्रकट होता है जो रति अथवा कामपरक ही अधिक है। प्रथम गोरस का अर्थ इंद्रियों का रस है जिसे कृष्ण अपरोक्ष रूप से चाहते है। दूसरे गोरस का अर्थ दही मक्खन है जिसे कृष्ण केवल माध्यम रूप से व्यंजित करते हैं। अतः यह गोरस शब्द की शक्ति ही है जो उसे पूरे संदर्भ का वाहक बना देती है।

प्रेम की सुन्दर व्यंजना जहाॅ व्यंग्यगर्भित हो सकती है, वहीं पर उस प्रेम का स्वरूप अत्यन्त गंभीर भी हो सकता है। ऐसा ही गंभीर चित्र एक 'मुग्धा' का देखिए जिसमें मतिराम ने 'सजल जलद' शब्द के द्वारा अनेक अर्थों का प्रकटीकरण किया है—

तिय को मिलो न प्रानप्रिय,
सजल जलद तन मैन।
सजल जलद लखि के भये,
सजल जलद से नैन ।।[३]

यहाँ पर सजल जलद का क्रमशः अर्थ मेघ के समान कृष्ण, जल युक्त मेघ और नीर युक्त नेत्र से ग्रहण होता है। यहाॅ पर प्रेम की अभिव्यक्ति विरह एवं क्षोभ की समन्वित भावनाओं से युक्त प्रतीत होती है, तो 'लाल' शब्द द्वारा कवि नें किसी प्रेमिका के अगाध प्रेम की व्यंजना इस प्रकार की है—

१—कविप्रिया, द्वारा केशव, पृ० १३५।४१।
२—बिहारी सतसई, सं० गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश', पृ० ६।१५।
३—मतिराम ग्रन्थावली, पृ० ३०।१४८।

तू राखी करि लाल है, निज उर में बनमाल ।
तै राख्यो कटि लाल है, कंठमाल कौ लाल ।।[1]

यहाँ पर 'लाल' का अर्थ कृष्ण और रत्न विशेष से ग्रहण होता है ।

यह तो एक शब्दपरक अर्थव्यंजना पर आश्रित प्रतीक योजना का रूप हुआ । इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनमें प्रेमभाव की अभिव्यंजना एक साथ दो शब्दों के यमकगत प्रयोग से प्राप्त होती है । इसी प्रकार की योजना बिहारी ने 'जुदी' और 'बास' शब्दों के यमकगत प्रयोग के द्वारा प्रस्तुत की है जिसमें व्याज रूप में कृष्ण के प्रति अगाध प्रेम का स्पष्टीकरण होता है—

नेकौ उहि न जुदी करी, हरषि जु दी तुम माल ।
उर ते बास छुट्यो नहीं, बास छुटै हूँ लाल ।।[2]

नायक ने प्रसन्न होकर जो माला प्रेमिका को दी (जु दी) उसे पल पर के लिए भी वह अपने से अलग (जुदी) नहीं करती है । उस माला का स्थान (वास) हृदय से नहीं छुटा, यहाँ तक कि फूलो की सुरभि भी (बास) नितान्त लुप्त हो गयी । प्रेम-व्यंजना को दो शब्दों के प्रतीक रूप के द्वारा केशवदास ने भी व्यंजित किया है—

नही उरबसी उर बसी, मदत मदन वश भक्त ।
सुर तरुवर तरुवर तजै, नंद नंद आसक्त ।।[3]

'उरबसी' का अर्थ क्रमशः हृदय में बसी हुई और उर्वसी अप्सरा से है । सुरतरुवर कल्पवृक्ष का वाचक शब्द है और नंद नंद (नंद के पुत्र) कृष्ण के अर्थ की व्यंजना करता है । इस प्रकार यह संपूर्ण योजना काम प्रपीडित किसी नायिका या गोपी की प्रेम विदग्ध अवस्था का सुन्दर चित्र सम्मुख रखता है ।

यमकगत प्रतीकों का दूसरा रूप सुन्दरता के भाव को व्यंजित करने के लिए प्राप्त होता है । बिहारी ने राधा के सौन्दर्य चित्र को व्यंजित करने के लिए उरबसी का सुन्दर प्रयोग किया है जिसमें राधा की सुन्दरता का चित्र मानो आँखों के सामने केवल 'उरबसी' के द्वारा खड़ा हो जाता है । देखिए—

१—वही, पृ० ११०।१८६ ।

२—बिहारी सतसई, पृ० १०८।३०३ सं० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ।

३—कविप्रिया, द्वारा केशव पृ० २९१।१७ ।

तो पर वारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी, ह्वै उरबसी समान ॥[1]

उरबसी का यमकगत प्रयोग उरवसी को राधा का प्रतीक ही बना डालता है। यहाँ पर उरबसी के अर्थ क्रमिक रूप से, उर्वशी अप्सरा, हृदय में बसी हुई और एक गहना विशेष के अर्थ में ग्रहण होता है। सौन्दर्य दर्शन एवं सौन्दर्यानुभूति का क्षेत्र इतना व्यापक एवं गम्भीर है कि जो कोई भी सौन्दर्य को देखता है, चाहे वह किसी क्षेत्र का सौन्दर्य ही क्यों न हो, तो वह अपलक नेत्रों से उस सौदर्य को देखता ही रह जाता है। कुछ इसी प्रकार की दशा मोहन के नेत्रों की भी हो जाती है, जब वे राधा के अनमिष (तुलनाहीन) नेत्रों को देखते हैं। इसी भाव की प्रतिध्वनि 'अनमिष' शब्द की पुनरावृत्ति के द्वारा कवि ने इस प्रकार रखी है—

तौ मैं अनिमिष नैनता, मोहन मूरति मैन।
अनमिष नैन सुनैन ये, निरखत अनमिष नैन ॥[2]

शृंगार की इस परम्परा के साथ साथ रीतिकाव्य में प्रेम भक्ति की भी एक धारा अबाध गति से चल रही थी। यह भक्ति की भावना रीति काव्य की प्रवृत्ति कही जा सकती है। अनेक रीतिकालीन कवियों ने (यथा बिहारी, केशव, रसखान, और देवादि) भक्ति-भावना का प्रदर्शन किया है। इस दृष्टि से भी रीतिकाव्य में केवल शृंगार का ही एकमात्र आधिपत्य था—इसकी भी असत्यता भासित होती है।[3] जहाँ तक यमकगत प्रतीकों का प्रश्न है, उनके द्वारा भी कवियों ने भक्ति-भावना की सुन्दर व्यंजना प्रस्तुत की है। महाकवि बिहारी का यह दोहा इसका प्रमाण है—

भजन कह्यो तातैं भज्यौ, भज्यौ न एकौ बार।
दूरि भजन जातैं कह्यौ,सो तैं भज्यौ गंवार ॥[4]

इस संपूर्ण दोहे में 'भज्यौ' के द्वारा, चेतावनी के रूप में, कवि ने भक्तिपूर्ण प्रवृत्तिका परिचय दिया है। कवि कहता है कि जब तुझसे ईश्वर के 'भजन'

१—बिहारी सतसई, पृ० २७।१२५।

२—मतिराम ग्रन्थावली, पृ० ७१।३३८।

३—इस मत का डा० छैलबिहारी ने अपने प्रबन्ध में पूर्ण रूप से विवेचन किया है। स्टडीज इन नायक नायिका भेद, पृ० २०१-२०६।

४—बिहारी सतसई, पृ० ९३।३७०।

के लिए कहा जाता है तो तू उससे दूर भागता है (भज्यो)। इस प्रकार तूने उस ईश्वर का एक बार भी भजन अथवा नाम (भज्यो) नहीं लिया। दूसरी ओर जब संसार के विषयादि से भागने के लिए (भजन) तुझसे कहा जाता है तो ऐ मंदबुद्धि! तू उसी की ओर और भी आकृष्ट होता है। (सो तैं भज्यो-गंवार)। यह कैसी विडबना है? इस प्रकार कवि ने 'भज्यो' शब्द के विविध अर्थों के द्वारा उसे प्रतीक का रूप प्रदान कर दिया है, जिससे वह भक्ति-भाव का वाहक बन सके।

इसी भक्ति भाव का स्वरूप, मतिराम में विनय गर्भित रूप में प्रकट हुआ है। कवि 'मतिराम' शब्द की पुनरावृत्ति के द्वारा नवीन अर्थों की व्यंजना प्रस्तुत कर, उसके प्रतीकत्त्व को मुखर कर देता है—

> श्याम रूप अभिराम अति, सकल विमल गुन धाम।
> तुम निसि दिन मतिराम की, मति बिसरौ मतिराम ॥[१]

द्वितीय पंक्ति में प्रथम मतिराम शब्द कवि का स्वयं वाचक है जो आराध्य राम (अंतिम मतिराम का केवल राम शब्द) से प्रार्थना करता है कि राम उसकी बुद्धि (मति) से कभी भी विस्मृत (मति बिसरौ) न हों क्योकि राम का रूप अभिराम है और सभी निर्मल गुणो का आगार है।

भक्ति भाव में व्यक्ति का एक विशिष्ट स्थान होता है। एक भक्त का हृदय साधारण मनुष्यों के समान न होकर 'कुछ' असाधारण होता है, तभी तो वह हरि भक्ति में 'मीन' की तरह निमज्जित रहता है। इसी भाव की अभिव्यक्ति बिहारी ने 'मानसरोवर' शब्द के विश्लेषण एवं अर्थ वैविध्य के द्वारा सुन्दरता से व्यंजित किया है—

> मानसरोवर आपने, मानस मानस चाहि।
> मानस हरि के मीन का, मानस वरणे ताहि।[२]

यहाँ पर मानसरोवर के विभिन्न अर्थ शब्द विश्लेषण के द्वारा इस प्रकार प्रकट होते हैं। कवि कहता है, हे मानसरोवर (अर्थात् अहंकार के सरोवर मनुष्य) व्यक्ति! अपने मानस (मन) में मां (लक्ष्मी-धन) को नस (नश्य-चलायमान) ही समझ और उसके अहंकार में (धन) हरि रूपी मानसरोवर की मछली (हरिभक्ति) में डूबने वाले को तू मानस (साधारण पुरुष) व्यक्ति

१—मतिराम ग्रंथावली, पृ० २१८।४५०।

२—बिहारी सतसई, पृ० २६४।२७ स० गिरजादत्त शुक्ल।

न समझ। इस प्रकार कोष्ठक में दिये 'मानस' के विभिन्न अर्थों के कारण बिहारी ने उपदेशात्मक भक्ति भावना को स्पष्ट किया है।

(३) रूपकातिशयोक्ति में प्रतीक योजना

रीतिकाव्य में इस अलंकार के अंतर्गत दो प्रकार के प्रतीकों की योजना प्राप्त होती है। प्रथम ऐसे प्रतीक प्राप्त होते हैं जो प्रेमविरह के भाव को स्पष्ट करते हैं और दूसरे ऐसे हैं जो रूप-सौंदर्य की समष्टिगत अथवा स्वतंत्र व्यंजना करते हैं। रीतिकाव्य में अलंकार के अन्तर्गत (प्रतीक की दृष्टि से) कुछ तो परम्परागत रूढ़ि उपमान मिलते हैं। दूसरी ओर कुछ ऐसे प्रतीक (उपमान रूप) भी प्राप्त होते हैं, जो मौलिक हैं।

विरहयुत प्रेमाभिव्यंजना के लिए रीतिकवियो ने अनेक रूपकातिशयोक्तिगत प्रतीकों की योजना की है जो किसी वस्तु या भाव का प्रतिनिधित्व करते हैं। मतिराम ने 'काम' के क्रीडारूप और साथ ही, किसी गोपी (राधा) के विरह जनित दुःख की सुन्दर व्यंजना एक साथ प्रस्तुत की है। इस योजना में अग्नि की लपट 'विरहानल' का प्रतीक है, वर्षा अश्रुप्रवाह का और घनश्याम श्रीकृष्ण का प्रतीक है।

> इंद्रजाल कंदर्प को, कहै कहा मतिराम।
> आगि लपट, वर्षाकरै, ताप धरै घनश्याम ॥[1]

ऐसा काम रूप 'प्रेमकला' का स्वरूप है जिसमें विरहातप का एक अभिन्न स्थान है। यह समस्त प्रतीक योजना कवि की अपनी नवीन उद्भावना है। दूसरी ओर, बिहारी ने विरह की अकाट्य व्यंजना करने के लिए परम्परागत प्रतीक 'चकरी' को ग्रहण किया है और उसकी समस्त क्रियाओं को किसी विरहिणी नायिका का प्रतीक बना दिया है।[2]

रीतिकाव्य में विरह की व्यंजना के लिए (प्रेम की) कहीं कहीं पर अतिरंजित रूपों की भी अवतारणा प्राप्त होती है। इस दृष्टि से उन रूपों में प्रयुक्त प्रतीकों का स्वरूप भी अतिरंजित हो गया है। नेह-नगर की परम्परा का वर्णन करते हुए बिहारी ने कुछ सूफ़ियाना ढंग से ख़ूनी और क़ातिल की अतिरंजित प्रतीक योजना प्रस्तुत की है—

१—मतिराम ग्रंथावली, पृ० ११२।२।

२—बिहारी सतसई, पृ० ६२।२०६ देखो कवि परिपाटी में 'चकई'।

छुटत न पैयत छिनक बसि, नेह नगर यह चाल।
मान्यो फिरि फिरि मारिये, खूनी फिरै खुस्याल ॥[1]

प्रेम में प्रेमपात्र को तो बार बार मारा जाता है और मारने वाला (प्रेमी) उतना ख़ून करने पर भी सदा प्रसन्न ही दृष्टिगत होता है। यह दोहा और उसमें प्रयुक्त प्रतीक यह घोषित करते हैं कि बिहारी के समय में प्रेम का यह अतिरंजित रूप राज्य-वातावरण एवं युग के प्रभाव को मुखर करता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि कवि के कुछ प्रतीक युग-भावना का सुन्दर प्रतिबिंब खड़ा कर देते हैं जैसा कि बिहारी की उपर्युक्त प्रतीक योजना से स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार की अत्युक्तिपूर्ण प्रतीक योजना का रूप एक अन्य दोहे में भी प्राप्त होता है, यथा—

नित संसौ हंसो बचत, मनहु सु यह अनुमान।
विरह अगिनि लपटनि सकत, झपट न मीचु सिचान ॥[2]

किसी नारी के विरह की अग्नि इतनी तीव्र है कि उस नायिका के प्राणों (हंस) के समीप मृत्यु (मीचुसिचान) रूपी चील भी झपट नहीं पाती है। विरह क्या हो गया मानों एक खेलवाड़ जिसमें प्रतीक न रह कर केवल कवि की अनौचित्यपूर्ण उछृङ्खल कल्पना का माध्यम मात्र रह गया। दूसरी ओर, इन उदाहरणों के अतिरिक्त मतिराम के एक विरह वर्णन में 'कुछ' उच्छृंखल कल्पना प्राप्त होती है। परन्तु फिर भी, उपर्युक्त उदाहरणों की अपेक्षा इस वर्णन में प्रयुक्त प्रतीकों का उतना अत्युक्तिपूर्ण वर्णन नहीं है। यथा—

ग्रीषम हूँ रितु मैं मरी, दुहूँ कूल पैराउ।
खारे जल की बहति है, नदी तिहारे गाउ ॥[3]

विरह से उद्दीप्त खारे आँसुओं का प्रवाह ग्रीष्म ऋतु में भी सम्पूर्ण गाँव को आप्लावित किये हुए हैं। इतना अश्रुवाह वियोग एवं विरह से होना कहाँ तक कल्पना को भी मान्य है?

इस प्रकार के उपमान-गत प्रतीकों की योजना एक अन्य क्षेत्र में प्राप्त होती है। वह है रूप सौंदर्य के परम्परागत प्रतीकों (उपमान) एवं कुछ नवीन प्रतीकों का समष्टि अथवा स्वतंत्र वर्णन। कहीं कहीं पर रूपाभिव्यंजना में परम्परागत एवं नवीन प्रतीकों का एक साथ आयोजन भी प्राप्त होता है।

१—बिहारी सतसई, पृ० ८४।३२४।

२—बिहारी सतसई द्वारा गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश, पृ० १८३।५१५।

३—मतिराम ग्रंथावली, पृ० १७७।६१।

यह कवि की एक विशेष समन्वयात्मक प्रतिभा का परिचायक है। उदाहरण-स्वरूप केशव का यह छंद इसका प्रमाण है—

सोने की एक लता तुलसीवन
क्यों वरणौं सुनि (?) सकै छ्वै।
केशवदास मनोज मनोहर,
ताहि फले फल श्रीफल से वै॥
फूलि सरोज रह्यो तिन ऊपर
रूप निरूपम चित्त चलै च्वै।
तापर एक सुवा सम तापर
खेलत बालक खंजन कै द्वै॥[1]

इस प्रकार के परम्परागत रूप सौंदर्य के वाचक शब्दों (वस्तुओं) का प्रयोग सूरदास के दृष्टि-कूटों में बहुलता से प्राप्त होता है। इसमें विभिन्न अंगों के वाचक प्रतीकों (उपमानों) का परिगणनमात्र होता है। केशव ने किसी नायिका के रूप वर्णन के हेतु श्रीफल, कमल आदि उपमानगत प्रतीकों का प्रयोग किया है जो उपर्युक्त भावचित्र की सुन्दर व्यंजना करता है। सोने की लता, जो एक नवीन उपमानगत प्रतीक है, नायिका का वाचक है और श्रीफल, कमल, सुआ और बालक खंजन क्रमशः कुच, मुख, नासिका और नेत्रों के परम्परागत प्रतीक हैं।

(४) अन्योक्तिगत प्रतीक योजना

अन्योक्ति में प्रतीक का स्थान अत्यन्त स्वतन्त्र रहता है जो एक प्रकार से प्रतीकीकरण की सबसे प्रबल प्रवृत्ति कही जाती है।[2] इस अलंकार को रीतिकाल के कवियों ने नीति तथा उपदेश के लिए अधिकांशतः ग्रहण किया है। ये प्रतीक अधिकतर आरोपण क्रिया के अन्तर्गत आते हैं। इन प्रतीकों का मूल्य मानवजीवन सापेक्ष है।

अन्योक्तियों की प्रवृत्ति एक अत्यन्त बलवती प्राचीनतम प्रवृत्ति है जिसके द्वारा मानवीय मूल्यों का लौकिक धरातल पर अत्यन्त साधारण वस्तुओं के द्वारा दिग्दर्शन होता रहा है।[3]

अन्योक्तिगत प्रतीकों की यह प्राचीन परम्परा काव्य के विषय को और भी

१—कविप्रिया, केशव, पृ० २५०।१८।

२—देखो पूर्ण विवेचन के लिए अध्याय ३—अलंकार और प्रतीक।

३—इस प्रसंग का विवेचन उपखण्ड 'ख' में हो चुका है।

व्यापकता देने में समर्थ हुई है। कवि की संवेदना ने मानवेतर वस्तुओं को लाक्षणिक अर्थ प्रदान किया। अतः इस संवेदना के व्यापक क्षेत्र को हृदयंगम करने के लिए प्रतीकों को तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) मानवेतर जड़-प्रकृति (फल, फूल, वृक्षादि)
(ख) मानवेतर चेतन प्रकृति (पशु, पक्षी आदि)
(थ) तात्त्विक भाव के प्रतीक जिनमें किसी भी क्षेत्र से वस्तुओं का चयन हो सकता है।

(क) मानवेतर जड़ प्रकृति

कवि या कलाकार प्रकृति के व्यापारो तथा वस्तुओं को एक सचेतन सत्ता के रूप में देखता है। जड़ प्रकृति आधुनिक विज्ञान के अनुसार सर्वथा प्राणहीन नहीं है। यदि कवि इन 'जड़' कही जाने वाली वस्तुओं को स्पन्दनमय जीवन का रूप दे देता है तो वह स्पष्ट रूप से इसी वैज्ञानिक तथ्य को ही चरितार्थ करता है।

रीतिकाव्य में इन जड़ पदार्थों के द्वारा कवि ने मानव नीति तथा आदर्शों का चरित्रांकन किया है। इस वर्ग के अन्तर्गत हमे सामान्यतः दो प्रकार के प्रतीक प्राप्त होते हैं। प्रथम, वनस्पति संसार के प्रतीक और दूसरे अनेक जड़ वस्तुओं के प्रतीक रूप, जिनका अलग अलग विवेचन अपेक्षित है।

वनस्पति संसार के पुष्पों तथा फलों का मानवीय जीवन में एक विशिष्ट स्थान है। उसका महत्त्व मानव जीवन सापेक्ष है। दीनदयाल गिरि ने इन पुष्पों का एक विशद् प्रतीकात्मक चित्रण अपनी कुंडलियों में किया है। उन्होंने एक स्थान पर गुलाब के फूल को एक ऐसे धनी मानी व्यक्ति के रूपमें आरोपित किया है जिसके अच्छे दिन होने पर (प्रफुल्लित दशा में) भौंरे रूपी चाटुकारों की भी भीड़ लगी रहती है और बुरे दिन आने पर (मुरझाने पर) उन चाटुकारों की भीड़ भी कम होने लगती है—

नाहीं भूलि गुलाब ! तू गुनि मधुकर गुञ्जार।
यह बहार दिन चारि की, बहुरि कटीली डार ॥

....

बरनै दीन दयाल फूल जौलौं तो पाही।
रहे घेर चहुँ फेरि फेरि, अलि ऐहैं नाहीं ॥[1]

दूसरी ओर कमल तथा भौंरे के द्वारा एकनिष्ठ प्रेम की व्यंजना गिरि जी ने एक स्थान पर की है।[2] बिहारी ने भी गुलाब पुष्प के द्वारा एक प्रतीकात्मक अर्थ की सुन्दर व्यञ्जना की है। सबके दिन एक समान नहीं रहते हैं और आज जो बहार है, हो सकता है कि वह कल पतझड़ में परिवर्तित हो जाय। यही हाल मानव जीवन का भी है कि उसका अस्तित्व कभी स्थिर नहीं रह सकता हैं। उसमें परिवर्तन आता ही है, यही मानव जीवन का सत्य है—

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब मैं अपत कटीली डार ॥[3]

बिहारी के इस भाव के प्रतिकूल गुलाब का एक अन्य प्रतीकात्मक अर्थ प्राप्त होता है। गुलाब को एक ऐसे व्यक्ति का प्रतीक बनाया है जो गुणयुक्त है—मेधावी है। परन्तु दुर्भाग्यवश वह ऐसे व्यक्तियों के बीच पड़ जाता है जहाँ उसके गुणों को महत्त्व देने वाला कोई भी नहीं है—

वे न इहाँ नागर बढ़ौ, जिन आदर तौ आब।
फूल्यो अनफूल्यो भयौ, गँवई गाँव गुलाब ॥[4]

इस भाव के नितान्त विपरीत, गुड़हर के फूल द्वारा बिहारी ने ऐसे अभिमानी पुरुष का, जिसमें कोई भी गुण न हो और वह व्यर्थ के वाह्याडंबरों से अपनी महत्ता का प्रदर्शन करता हो—प्रतीक बनाया है। यह सब होते हुए भी उस व्यक्ति (फूल) की ओर कोई गुणग्राहक (भौंरा) नहीं आकर्षित होता है क्योंकि उसमें 'मधु' का सर्वथा अभाव होता है। अतः यह प्रतीक योजना मानव जीवन के एक तथ्य का ही प्रतिपादन करती है।

बहकि बड़ाई आपनी, कत रांचत मत भूल।
बिनु मधु मधुकर के हिये, गड़ौ न गुड़हर फूल ॥[5]

१—अन्योक्ति कल्पद्रुम, द्वारा दीनदयाल गिरि सं० रामदास गौड पृ० ११६, प्रयाग १६२५।

२—वही कु० सख्या ४६—भौंरे तथा कमल के स्वरूप पर दे० पीछे परिपाटियों में।

३—बिहारी सतसई, पृ० ७१।२५२।

४—वहीं, पृ० १०५।४३६ तथा १६६।२२३।

५—वहीं, पृ० ७६।२८२।

जिस प्रकार रीति कवियों ने पौदों तथा फूलों के द्वारा प्रतीकात्मक अर्थ की व्यंजना की है उसी प्रकार वृक्षों के द्वारा भी। दीनदयाल ने निम्ब वृक्ष को संदर्भानुसार परोपकारी व्यक्ति का प्रतीक बनाया है जो अपने ऊपर सूर्य के उष्ण ताप को भी सहन कर बटोही को शीतलता प्रदान करता है।[1] दूसरी ओर बिहारी ने तरुवर को सम्बोधित करते हुए उसे इस रूप में प्रयुक्त किया है—

> **नहि पावस ऋतुराज यह, तजि तरुवर चित मूल।**
> **अपतु भये बिनु पाइहै, क्यौ नवदल फल फूल।।[2]**

यहाँ पर यह व्यंजित होता है कि बिना नम्रता (अपतु बिन) के कोई भी पुरुष ऊँचा नहीं हो सकता है, वह नये गुणो का ग्राहक नही हो सकता है।

प्राकृतिक वस्तुओं में एक सबसे बड़ा वर्ग प्राकृतिक घटनाओं तथा अन्य वस्तुओं (यथा जल, भूतल, दिवाकर आदि) का है। प्राकृतिक घटनाओं यथा पावस, हेमन्त आदि ऋतुओ को किसी नीतिपरक आदर्श का वाहक बनाना और उसके द्वारा किसी 'तत्त्व' की व्यंजना करना, प्रतीकात्मक दृष्टि से अन्योक्ति का एक कौशलपरक रूप ही कहा जा सकता है। दीनदयाल गिरि ने पावस के जल को सांसारिक विषयो से गँदले जीवन का प्रतीक बनाकर, उससे केवल एक विरक्त तत्त्वज्ञानी (हंस) को ही उदासीन दिखाया है—

> **पावस ऋतु सुखदानि जग, तुम सम कोऊ नाहिं।**
> **चपलाजुत घनस्याम नित, बिहरत है तव माहिं।।**
> **बरनै दीनदयालु सकल सुख तो सुखमा-बस।**
> **एकै हंस उदास रहै काहे है पावस।।[3]**

प्राकृतिक घटनाओं में बादल, समुद्र और नदी को भी लिया जा सकता है क्योंकि इनका उद्गम एवं प्रादुर्भाव मूलतः एक प्राकृतिक घटना का वैज्ञानिक रूप ही कहा जाता है। बादल का प्रतीकात्मक संदर्भ अनेक तत्त्वों एवं अर्थों को अपने अन्दर परम्परा से समेटता चला आ रहा है। कहीं पर उसे एक ऐसे मूर्ख दानी का प्रतीक बनाया गया है जो अपनी सम्पत्ति का यथायोग्य वितरण नहीं करता है—

१—अन्योक्ति कल्पद्रुम, कु० १०६।

२—बिहारी सतसई, पृ० ११२। ४७२।

३—अन्योक्ति कल्पद्रुम, कु० ८।

बरखे कहा पयोद इत, मान मोद मन माहिं।
यह तो ऊसर भूमि है, अंकुर जमिहै नाहिं ॥[१]

बादल के इस रूप का वर्णन हमें स्वच्छन्दवादी काव्य में भी प्राप्त होता है जिसका संकेत यथास्थान किया जायगा। संदर्भानुसार मेघ को अन्य वस्तुओं का भी प्रतीक बनाया गया है। कही पर उसे लक्ष्मीवान् सज्जन पुरुषों का,[२] कहीं कृष्ण[3] का और कहीं उपदेशक का प्रतीक बनाया है।[४]

बादल के इस प्रतीकार्थ के समकक्ष समुद्र, नदी, जल आदि को रखा जा सकता है जिन्हें कविगणों ने अन्योक्ति का माध्यम बनाया है। समुद्र को परम्परा से संसार का प्रतीक माना गया है जिसे दीनदयाल जी ने भी एक स्थान पर इसी अर्थ में ग्रहण किया है। इसके साथ मरजीवा (गोताखोर) को एक ऐसे ज्ञानी पुरुष का प्रतीक बनाया है जो संसार रूपी भवसागर से तत्त्वज्ञान रूपी सीपियों को निकालने में समर्थ होता है।[५]

यह तो हुआ स्वार्थमय प्रेम का स्वरूप जिससे कि मानव को उपदेश ही दिया गया है। दूसरी ओर, मानवीय सम्बन्धों में निस्वार्थ की भी महत्ता है। इसी निस्वार्थ प्रेम की व्यंजना मीन और जल के सम्बन्ध से की जाती है जिसका आश्रय दीनदयाल जी ने भी लिया है—

हे जल वेग तरंग ते, करै विलग मति मीन।
ये तो तेरे विरह ते, ह्वैहैं प्रान विहीन ॥
बरनै दीनदयाल, नहीं जिन प्रेम किये पल।
ते किम जानैं पीर, वियोगीजन की हे जल ॥[६]

वैसे तो इस संसार में अनेक प्रकार के प्रलोभन एवं ऐश्वर्य हैं पर एक प्रेमी के लिए इनका कोई भी मुख्य महत्त्व नहीं है। उनके लिए महत्त्व का स्थान वही है जहाँ उनके प्रेम भाव को आश्रय प्राप्त हो। इसी भाव को बिहारी ने इस प्रकार प्रतीकात्मक रूप से रखा है—

१—अन्योक्ति कल्पद्रुम, कु० ३५।
२—वही, कु० २७।
३—वही, कु० २८।
४—वही, कु० ३०।
५—वही, कु० ३६।
६—वही, कु० १८।

अति अगाध अति औथरी, नदी कूप सर बाइ।
सो ताकौ सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय ॥[१]

अन्योक्तियों का प्रतीक रूप प्रकृति की अति सामान्य वस्तुओं को भी ग्रहण करता है। बिहारी का काव्य इन सामान्य वस्तुओं को एक अत्यन्त हृदयग्राही रूप में प्रयुक्त करता है। इन सामान्य वस्तुओं में कपूर, मोती, पायल आदि की योजना प्राप्त होती है। बिहारी ने अपनी पैनी एवं तीक्ष्ण दृष्टि से इन्हें महत् संदर्भ का प्रतिरूप बनाया है। उदाहरणस्वरूप एक स्थान पर बिहारी ने अमूल्य मणियुक्त पायल को ऐसे नीच व्यक्तियों का प्रतीक बनाया है जो लाख बने ठने रहने पर भी उच्च पद के भागी नहीं होते हैं। दूसरी ओर, अबरख की अति सामान्य बेंदी को ऐसे गुणयुक्त सरल एवं सादे व्यक्ति का प्रतीक बनाया है जो बिना किसी बाह्याडंबरो के भी मानव समाज में पूज्य होती है। इस पूरी अन्योक्तिगत प्रतीक योजना में बिहारी ने मानव जीवन के सत्य को अत्यन्त साधारण वस्तुओं के द्वारा हमारे सामने रखा है—

पाइल पाइ लगी रहै, लगौ अमोलिक लाल।
भोंडर हूँ की भासिये, बेंदिन भामिन भाल ॥[२]

गुणी जनों का एक अन्य प्रतीक 'मोती' भी प्राप्त होता है जिसमें सब गुणों के होने के अतिरिक्त भी उसके भाग्य में दूसरे के गले की शोभा वृद्धि करना ही लिखा है।[3] इसका उत्तर भी कवि ने दिया है कि मोतियों का हार गले में इसलिए पड़ा रहना चाहता है कि उसे कुचो के ऊपर उच्च पद का सौभाग्य प्राप्त होता है—

गहै न नेको गुन गरब, हँसौ सबै संसार।
कुच उच पद लालच रहै, गरे परै हूँ हार ॥[४]

यही हाल अनेक गुणसम्पन्न पुरुषों का भी होता है। वे लोभ या अन्य कारणों से उच्च पद की अभिलाषा से दूसरों की सेवा करते है। यह अनेक पुरुषों की प्रवृत्ति होती है कि वे अपनी आत्मा का हनन कर केवल लोभ अथवा उच्च पद की अभिलाषा के लिए दूसरों की हर प्रकार से उचित अनुचित चाटुकारिता करते हैं। अतः यहाँ पर गुण भी दुर्गुण में परिवर्तित हो जाता है।

१—बिहारी सतसई, पृ० ६२। ३६५।

२—वही, पृ० १०५। ४३७।

३—वही पृ० ६४। ३७५।

४—वही, पृ० ६४। ३७६।

बिहारी के नीतिपरक दोहे मानव जीवन सम्बन्धी अनेक उपदेशो से भरे पड़े है। इनके द्वारा मानव प्रकृति तथा मानव आचरण का सुन्दर काव्यात्मक विश्लेषण प्राप्त होता है। इसी प्रकार के एक गुणी व्यक्ति की व्यंजना के लिए बिहारी ने एक अति सामान्य वस्तु 'कपूर' को लिया है। यदि किसी पीनस रोगी (जिसमें सुंगध का अनुभव नही होता है) को कपूर दिया जाय तो उसमें घ्राण शक्ति का अभाव होने से वह उसे शोरा समझ कर छोड़ देगा। परन्तु, क्या उसके इस त्याग से कपूर की महिमा में किसी प्रकार की कमी आ जायगी ? यही हाल गुणी एवं ज्ञानी पुरुषो का भी होता है। यदि उनका आदर एवं महत्त्व अज्ञानी पुरुषों के समाज (जो पीनस के रोगी हैं) में नही होता है, तो उनका महत्त्व एवं ज्ञान क्या निर्मूल सिद्ध होगा ? कदापि नहीं। इस भाव का प्रत्यक्षीकरण बिहारी का यह प्रतीकात्मक आयोजन है—

> सीतलताऽरु सुवास कौ, घटै न महिमा सूर।
> पीनसवारें जो तज्यो, शोरे जानि कपूर ॥[१]

(२) मानवेतर चेतन प्रकृति

रीतिकाव्य में चेतन प्रकृति के जीवो तथा पशुओं का अन्योक्तिगत महत्त्व प्राप्त होता है। प्रतीक की दृष्टि से इसमें भी दो वर्गों का रूप प्राप्त होता है। एक तो पक्षियों का तथा दूसरे जीवधारियों का। परन्तु पक्षियों को जिस सीमा तक अन्योक्तियो का माध्यम बनाया गया है, उतना जीवधारियों को नहीं।

रीतिकालीन कविता में जिन पक्षियों को प्रतीक का स्वरूप दिया गया है, उनमें तोता, कबूतर, मराल, बक, कोकिल, चातक, मयूर, चकोर, उलूक, कौआ, बासा आदि प्रमुख हैं। इनमें से तोता या शुक ऐसा ही पक्षी है जिसमें रीति-कवियो ने प्रतीकत्व का सुन्दर विस्तार किया है। दीनदयालु जी ने तोते को एक ऐसे व्यक्ति का प्रतीक बनाया है जो नितान्त मंदबुद्धि है, जो सुन्दर वस्तु को छोड़ कर (दाड़िम) बेल जैसे दलित पदार्थ की ओर आकृष्ट होता है। इसका फल यह होता है कि उसकी हर प्रकार से दुर्गति होती है। व्यक्ति जब उचित गंतव्य की ओर न जाकर अज्ञान तथा मोहवश किसी निम्न एवं पतित वस्तु की ओर जाता है तो उसकी दशा शुक के ही समान हो जाती है। सद्गुणो के स्थान पर उसे दुर्गुणों का ही वरदान प्राप्त होता है—

१—बिहारी सतसई, पृ० ३४।५६।

तजि कै दाड़िम मूढ़ सुक, खान गयो कित बेल।
काँटन सो वेधित भयो, भूलि गयो सब खेल।।[1]

इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं जिनमें बेल के स्थान पर सैलूस, सेमल आदि का प्रयोग किया गया है (कु १९७,११८)। इसके अतिरिक्त एक स्थान पर सुआ को चेतावनी दी गई है कि वह दुर्जनों (कागों) का साथ न करे। समय आने पर ये दुर्जन उसकी चोंच को भी भंग कर देंगे। सज्जन भी दुर्जनों के मध्य में पड़कर उन्हीं के रंग में रँग जाता है, इसी की चेतावनी शुक के व्याज द्वारा व्यंजित की गयी है।[2] शुक के द्वारा एक सुन्दर अन्योक्ति केशवदास ने भी कही है। उन्होंने 'शुक' के द्वारा एक ऐसे व्यक्ति के प्रति संकेत किया है जो किसी साधन सम्पत्तिहीन, हृदयहीन व्यक्ति की सेवा (करील) व्यर्थ ही करता है, उसे उस सेवा का कोई भी मूल्य नहीं प्राप्त होता है।[3] इस प्रकार शुक पक्षी के अर्थ संदर्भ में एक प्रकार का विस्तार ही प्राप्त है जो उसके 'प्रतीक' रूप की व्यापकता की ओर भी संकेत करता है। एक अन्य पक्षी कौआ है जिसे कवि-कल्पना नें एक हेय एवं निम्नकोटि का जीव माना है। कोयल की सुमधुर पंचम ध्वनि की सापेक्षता में काग को निरादर की दृष्टि से देखा जाता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति अन्योक्तियो में अति सामान्य है। संदर्भानुसार, कवियों ने काग को कुटिल तथा कटुवाणी वाले व्यक्ति का और कोयल को शुभ एवं मधुरवाणी वाले व्यक्ति का प्रतीक बनाया है, यथा—

बायस तू पिक मध्य है, कहाँ करै अभिमान।
हैहै बंस सुभाव की, बोलत ही पहिचान।।[4]

किसी व्यक्ति के आचरण एवं स्वभाव से ही उसका चरित्र, उसका वंश जाना जा सकता है। काग के प्रति कही गयी इस अन्योक्ति से यह भी ध्वनित होता है। बिहारी ने 'काग' की इस प्रवृत्ति का लाभ नहीं उठाया है पर उसे एक अन्य अर्थ का ही वाहक बनाया है। बिहारी ने काग को एक ऐसे व्यक्ति का रूप दिया है जिसका आदर, समय अथवा परिस्थिति के कारण होता है और वह

१—अन्योक्ति कल्पद्रुम, कु० ११६, पृ० ७३।

२—वही, कु० १२०, पृ० ७४।

३—कविप्रिया, केशवदास, पृ० २२५।७।

४—अन्योक्ति कल्पद्रुम, कु० १३६, पृ० ८०।

समय तथा परिस्थिति निकल जाने पर उसका महत्त्व भी कम हो जाता है। अपरोक्ष रूप से यहाँ पर बिहारी ने यह भी व्यंजित किया है कि समय पड़ने पर, अपने स्वार्थ के कारण, लोग किसी वस्तु तथा मनुष्य से प्रेम आदर करते हैं, परन्तु, जब उनका स्वार्थ निकल जाता है, तो उन्हे कोई सरोकार नही रहता है—

दिन दस आदर पाइ के, करि ले आप बखान।
जौ लगि काग! सराध पखु, तौ लगि तव सनमान॥[१]

श्राद्ध पक्ष में ही लोग कागों का सम्मान करते हैं और जब पक्ष व्यतीत हो गया तब उसे मार कर उड़ा देते हैं।

अन्योक्तिगत प्रतीकों की योजना का एक अन्य पक्षी हंस है जिसे कवियों ने सज्जन एवं विवेकी व्यक्ति का प्रतीक बनाया है। मानसरोवर में ही उसका वास कहा है जहाँ सत्संग का आग्रह है। ताल के समान वहाँ पक्षियों, शूकर, बक, शंबुक (घोंघा) आदि की बुरी संगति नही है। अतः ऐसे कलुषित स्थान को छोड़ कर ही वे विवेकी पुरुष सत्संग का लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इसी भाव का एक उदाहरण लीजिए—

कीजै गमन सु मानसर, यह दुखदायक ताल।
हंस बंस अवतंस हो, मौन गहौ यहि काल॥[२]

मराल का यह प्रतीक रूप एक स्थान पर और भी व्यापक अर्थ ग्रहण करता है। उसे एक ऐसे विवेकी पुरुष का प्रतीक बनाया जाता है जो दुर्भाग्यवश कुसंग में पड़ कर 'मानस हितकारी' गुरु से विलग जा पड़ा है। उसके उद्धार के लिए फिर उसे 'मानस हितकारी' की सहायता चाहिए।

हितकारी मानस बिना, नहीं हंस चित चैन।
छिन छिन व्याकुल बिरह बस, सोचत है दिन रैन॥
बरनै दीनदयाल, मरालाहिं संकट भारी।
मानस और न चहै, बिना मानस हितकारी॥[३]

हंस के इस प्रतीकार्थ के विपरीत 'बक' (बगला) को लिया जा सकता है। यदि हंस साधु वृत्तियों को सामने रखता है, तो 'बक' असाधु दंभ वृत्तियों को।

१—बिहारी सतसई, पृ० १०४।४३२।

२—अन्योक्ति-कल्पद्रुम, कु० ६१, पृ० ४५।

३—वही, कु० ६४, पृ० ४७।

यही कारण है कि उसे ऐसे दंभी पुरुष का रूप दिया जाता है जो साधु संगति (मराल के गुणों का आरोप) में अपनी असलियत को छिपाने का प्रयत्न तो करता है, पर बुरे आचरणों को कहीं न कहीं प्रकाशित कर देता है और उसका असली स्वरूप सामने आ जाता है।[1]

कवि परिपाटी में चकोर, चक्रवाक, चातक आदि का विशिष्ट स्थान रहा है जिस पर हम प्रथम ही विचार कर चुके हैं। वहाँ पर इनके अन्योक्तिगत रूप पर भी संकेत किया गया था जिसका विस्तार हमें यहाँ पर प्राप्त होता है। चातक वृत्ति को दीनदयाल जी ने एकनिष्ठ प्रेमी साधक का रूप दिया है जो केवलमात्र स्वाति बूँद की अभिलाषा के सामने उपलपात की कठोरता को भी सहन कर लेता है।[2]

दूसरी ओर चकोर को संबोधित करके कवि कहता है कि कुछ ही दिनों की यह चाँदनी है, इसे तू सोकर क्यो गँवा रहा है, फिर तो अंधकार रूपी रजनी आ जाने पर तू सोच कर अत्यन्त दुखी होगा।[3] इस योजना का प्रतीकार्थ यही है कि समय को नष्ट करना और उसका दुरुपयोग सोकर अथवा उदासीन होकर करना व्यक्ति को दुखी बनाता है।

मानव प्रकृति के उपर्युक्त विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि उसके जीवन में अनेक ऐसे अवसर आते हैं जब वह किंकर्तव्यविमूढ़ता का परिचय देता है। उस समय उसकी प्रकृति में दो तत्वों का समावेश प्राप्त होता है—ऊपर से वह कुछ दिखाई देता है और भीतर से कुछ और ही होता है। मानव में इस तत्त्व के समावेश के कारण एक अद्‌भुत व्यक्तित्व का विकास हो जाता है। दीनदयाल जी ने मानव के इसी द्विविध रूप की ओर सफल संकेत मयूर के द्वारा किया है। उसकी वाणी तो मधुर है, परन्तु करता है वह भक्षण साँप का—नितान्त विपरीत गुणों का रूप प्राप्त होता है—

बानी मधुरी बास बन, परमा परम बिसाल।
बरही ऐगुन एक अति, भखत कुव्याल कराल॥
बरनै दीनदयाल, हाल गति यह तो जानी।
कित वह असन भुजंग, कितै यह मृदु वर बानी॥[4]

१—अन्योक्ति कल्पद्रुम, कु० ६६, पृ० ४८।
२—वही कुं० १२९ तथा १२८ पृ० ७७।
३—वही कुं० १३३ पृ० ७९।
४—वही, कुं० १३०, पृ० ७८।

संसार में बलवानों का अत्याचार सदैव निर्बलों पर रहा है जो नृशंसता का स्वरूप ही है। जब कोई शक्तिशाली व्यक्ति पराधीनता में पड़ जाता है, तब वह उस पराधीनता में भी निर्बलों को नहीं छोड़ता है। बाज पक्षी के द्वारा बिहारी ने इसी भाव का चित्रांकन किया है। बाज दूसरे के हाथ में पड़ कर अन्य बन्दी पक्षियों को ही मारने लगता है। जब व्यक्ति समान शक्ति वाले मनुष्य से नहीं जीत पाता, तो वह अपनी शक्ति का अपव्यय अपने से निर्बलों पर करता है—

स्वारथ सुकृति न श्रम वृथा, देखि बिहंग बिचारि।
बाज पराये पानि पर, तू पंछीनु न मारि॥[1]

हीन मानव प्रकृति की इन उपर्युक्त अन्योक्तियों का एक मात्र ध्येय यही लक्षित होता है कि मानव इन दुर्बलताओं से ऊँचा उठे, वह अपनी अंध एवं सीमित प्रकृति में ही आबद्ध न रहे। उलूक के समान वह नीच प्रकृति तथा स्वाभाव का वाहक न बने जो सूर्य के प्रकाश को (ज्ञान) भी अज्ञानता एवं अधदृष्टि के कारण अवलोकन नहीं कर सकता।[2]

रीतिकाव्य की सामाजिक एवं व्यक्तिगत इच्छाओं की पृष्ठभूमि अधिकतर लौकिक ही थी। कवियों ने लौकिकता का उन्नायक रूप ही यदाकदा सामने रखा है। लौकिक क्षेत्र में व्यक्ति का सुख तीन बातों पर निर्भर करता है। समाज शास्त्र की दृष्टि से व्यक्ति के पास वस्त्र तथा अन्न का होना, उसकी आवश्यकताओं में अत्यन्त महत्त्व रखता है। परन्तु रीतिकालीन कवि बिहारी को इन दो तत्त्वों के अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व की भी आवश्यकता है। वह है एक जीवनसंगिनी की। सुखी जीवन में इन तीनो आवश्यकताओं का समान महत्त्व बिहारी के लिए है। इसी तथ्य को ध्वनित करने के लिए कवि ने कबूतर का सहारा लिया है और उसके प्रति कही गई अन्योक्ति के द्वारा जीवन की आवश्यकताओं का लौकिक पक्ष इस प्रकार रखा है—

पटु पांखे भखु कांकरे, सदा परेई संग।
सुखी परेवा पुहिनि में, एकै तुही विहंग॥[3]

हे कबूतर! एक तूही जग में सुखी है, क्योंकि तेरे वस्त्र पंख हैं, कंकड़ भोजन है, और कबूतरी तेरे पास है।

१—बिहारी सतसई, पृ० ७६। ३००।
२—अन्योक्ति कल्पद्रुम, कु० १३५, पृ० ८०।
३—बिहारी सतसई, पृ० १३८।६१८।

मानवेतर जीवधारियों को भी नीति तथा मानव आदर्श के हेतु अन्योक्तियों में प्रयुक्त किया जाता है। इनमें से प्रमुख जीवधारी सिंह, हाथी, तुरंग, कुरंग, जंबुक आदि हैं। उदाहरणस्वरूप सिंह को बलवान् व्यक्ति तथा सत्ता का प्रतीक बनाया गया है। व्यापक प्रतीकार्थ की दृष्टि से सिंह उस राज्य शक्ति का प्रतीक माना जा सकता है जिसकी शक्ति क्षीण होने पर (टूटे नख रद) अनेक अनिष्टकारी शक्तियों का (जंबुक, ससक, लोमड़ी) स्वतंत्र विचरण या आविर्भाव हो जाता है। फलस्वरूप, राष्ट्र के जीवन में अराजकता का बोलबाला हो जाता है। इसी तथ्य को दीनदयाल जी ने इस प्रकार रखा है—

> टूटे नख रद केहरी, वह बल गयो थकाय।
> हाय जरा जब आइकै, यह दुख दियो बढ़ाय ॥
> यह दुख दियो बढ़ाय, चहूँ दिसि जंबुक गाजै।
> ससक लोमरी आदि, स्वतंत्र करै सब राजै ॥[1]

इस प्रकार शक्ति का महत्त्व केवल व्यक्ति के लिए ही नहीं, पर राज्य, साम्राज्य और नियम संचालन सबके लिए समान रूप से है। परन्तु उसका दुरुपयोग भी मानव समाज में होता आ रहा है। यही कारण है जहाँ पर शक्ति का दुरुपयोग होता है, वहाँ पर उसकी प्रतिक्रिया में अनेक अवरोधात्मक शक्तियों का प्रादुर्भाव भी होता है। इस प्रकार जब शक्ति का अपव्यय होता है तब अंत में वह शक्ति भी निरीह व्यक्तियों के (हाथी का जिन पर अत्याचार किया जाता है) विद्रोह से डांवाडोल हो जाती है। इसी भाव को मातंग के द्वारा व्यंजित किया गया है जो शक्ति क्षीण होने पर कलभ से ही डरने लगता है—

> भाजत है जिहि त्रास ते, दिग्गज दीरघ दंत।
> नाहर नहिं नेरे फिरे, देखि बड़ो बलवंत ॥
> बरने दीनदयाल, रह्यो जो सब पै गाजत।
> अहो सोइ गजराज, आज कलभन ते भाजत ॥[2]

कभी कभी ऐसा भी होता है कि शक्ति या बल शुभतत्त्वों अथवा उपकारी तत्त्वों को भी पनपने नहीं देती है। इस प्रकार प्रेम तथा मित्रता का भाव उस शक्ति के द्वारा सर्वथा तिरोहित हो जाता है। इसी से, कवि ने मातंग से शोभा को वृद्धि करने वाले तरुओं तथा फूलों को न तोड़ने की प्रार्थना की है। वह उन

१—अन्योक्ति कल्पद्रुम, कु० १३९, पृ० ८२।

२—वही, कु० १४०, पृ० ८२।

निर्बल वस्तुओं से प्रेम करने की याचना भी करता है जो मूल रूप से यही तथ्य ध्वनित करता है कि बलवान तथा निर्बल में प्रेम भाव होना सामाजिक स्थिरता के लिए अत्यन्त आवश्यक है।[१] यही शक्ति अनेक रूपों में धर्म में भी प्राप्त होती है। धार्मिक संस्थाएँ (यथा चर्च, महंत आदि) जब इस शक्ति का अपव्यय करती हैं तो वह कवि की लाञ्छना का विषय बन जाती हैं। कदाचित् अँग्रेज़ी कवि इलियट ने इसी धार्मिक शक्ति के केन्द्र 'चर्च' को 'गेंडे' का प्रतीक बनाया है जो रात्रि में शिकार खेलता है और दिन में सोता है। इसी प्रकार चर्च भी दिन में सोता है और रात को जागता है। इसका अर्थ यही है कि चर्च की शक्तियाँ प्रकाश तथा ज्ञान के प्रति सचेत न होकर अंधविश्वासों तथा रूढ़ियों की निशा को प्रश्रय देती हैं।[२]

(३) तात्त्विक अन्योक्तियां

इन प्रमुख नीति तथा आदर्शपरक मानवीय आचरणों से सम्बन्वित अन्योक्तिगत प्रतीक-योजना के अतिरिक्त ऐसी अन्योक्तियाँ भी कहीं गयी हैं जो तात्त्विक अथवा दार्शनिक क्षेत्र से सम्बन्धित हैं। अतः तात्त्विक अन्योक्तिगत प्रतीकों को हम विवेचन की सुविधानुसार दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(क) काल, जीव, संसार, माया की संबंध द्योतक तथा स्वतंत्र प्रतीक योजनाएँ

(ख) ब्रह्म आदि की द्योतक प्रतीक योजना

(क) काल, माया, जीव और संसार

मानव जीवन का मूल्य संसार सापेक्ष ही माना जाता है। कवियों ने जीव को संसार चक्र में फँसा हुआ देखकर उसकी दयनीय अवस्था के व्यंजनार्थ कुछ प्रतीकों की अवतारणा की है। जीव का संसार में अस्तित्व क्षणिक है। वह सदा ही 'काल' के भयानक आगमन से शंकित रहता है।

१—अन्योक्ति कल्पद्रुम, कु० १४१, पृ० ८३।

२— The Hippo' day
is passed in sleep,
at night he hunts.
God works in mysterious way
the church can sleep and feed at once.

कलेक्टेड पोयम्स, टी० एस० इलियट, पृ० ४६—५० कविता हिप्पोप्रोटमस।

प्रतीक की दृष्टि से एक सामान्य योजना है—माली तथा उपवन की कलियों तथा फूलों की। संदर्भानुसार माली काल रूप शक्ति है जो संसार रूपी उपवन में फूले हुए फूलों को समय असमय चुन लेता है। अतः जिस भौंरे रूपी व्यक्ति को इस विषय वासनापूर्ण संसार से कुछ भी सुवास आदि लेना है, वह शीघ्र ही सुवास लेकर हट जाय, नहीं तो न जाने कब काल उन खिले-अधखिले फूलों को कवलित कर ले—

> ले पल एक सुगंध अलि, अपनो जानि न भूल।
> लै है साँझ सबेर में, वह माली यह फूल॥
> वह माली यह फूल, कितै दिन लोढ़त आयो।
> फूले फूले लेत, कली सब सोर मचायो॥
> बरनै दीन दयाल, लाल लखि फंसे न है छल।
> लगी बाग में आग, भाग रे गंधहिं ले पल॥[1]

अतः यह संपूर्ण संसार विषय वासनाओं से (गुलाब का वास) परिपूर्ण है। व्यक्ति का उसमें पूर्णरूपेण (भौंरा) लिप्त होना मानो अपने अस्तित्व को नितान्त तिरोहित कर देना है। जीव का इन इच्छाओं तथा वासनाओं में तल्लीन होने का एक अत्यन्त दुखद अवसर उस समय आता है जब कुंजर (काल) उन दोनों (फूल और भौंरे) का एक साथ काम तमाम कर देता है। इसी दयनीय स्थिति से बचने के लिए कवि ने भौंरे, कमल और कुंजर को क्रमशः जीव, विषयवासनादि और काल का प्रतीक रूप प्रदान किया है।[2]

इस योजना के अतिरिक्त शशक (खरहा) को संसारी जीव का रूप देते हुए उसे यह चेतावनी दी गयी है कि उसके सामने काल रूपी बहेलिया, बाणों को लिए हुए, उसका आखेट करना चाहता है—

> बरनै दीनदयाल, कहा ह्वैहै दृग ढाँके।
> डर छुटिहै नहिं व्याध, लिये सर आवत बाँके॥[3]

अतः जीव की निस्सहाय अवस्था को व्यक्त करने के लिए दीनदयाल जी ने जो भी उपर्युक्त योजनाएँ की हैं, वे वस्तु तथा प्रतीकार्थ की सादृश्यता पर आश्रित हैं। जीव का स्थान शरीर में होता है। दूसरे शब्दों में, इसी से,

---

१—अन्योक्ति कल्पद्रुम, कु० ५५ पृ० ४१—४२।

२—वही, कु० ५४ पृ० ४१।

३—वही, कुं० १५०, पृ० ८६-८७।

शरीर की चेतना 'जीव' पर आश्रित है। सूफ़ी कवियों ने इसी से गढ़ को शरीर का प्रतीक माना है। दूसरी ओर दीनदयाल जी ने गढ़ को शरीर मानते हुए उसमें अवस्थित जीव को उसका मालिक या स्वामी माना है। जब यह शरीर रूपी गढ़ी ढहने लगती है, तब शत्रु की सेना (वृद्धावस्था) उस पर हावी हो जाती है और सफेद ध्वजाएँ (बाल श्वेत-बुढ़ापे की ओर संकेत) अपनी सत्ता की घोषणा करने लगती है। ये दशाएँ यह संकेत करती है कि अब तीनों लोकों में मृत्यु रूपी डंके का घोष हो रहा है जिसकी अवतारणा मृत्यु-चारण (नकीब) उच्च स्वर से कर रहे हैं। यह काल का आगमन यह सूचित करता है कि जीव (गढ़धनी) ऐसे दुष्कर समय में ईश्वर का स्मरण करे, जब कि उसके सब साथी उसे छोड़ कर चले गए हैं—

> साथी पाथी में सबै, गढ़ी ढहै चहुं ओर।
> आनि बसी अरि की अनी, धनी खोल दृग हेरि।
> धनी खोलि दृग हेरि, धवल धुज आय बिराजै।
> बोलन लगे नकीब, डंक अब तो तिहुँ बाजै।
> बरनै दीन दयाल, साजि अब अपनो हाथी।
> हरि को टेर सहाय, गए सब तेरे साथी॥[1]

अतः जीवात्मा इस भौतिक क्षेत्र से भाग कर उससे उद्धार प्राप्त नहीं कर सकती है। इसके लिए आवश्यक है कि वह इसमें कर्म करे। एक शतरंज के खिलाड़ी की तरह पंजाबिख (पंचविषयों) को अपने काबू में कर, बाजी (जीवन क्षेत्र) से अपनी दृष्टि को न हटाए, नहीं तो जुग की किसी भी गोट को फोड़ने की भूल कर बैठेगा। मानव शरीर अत्यन्त सौभाग्य से प्राप्त होता है (अच्छा दाँव पड़ा है)। अतः उसके प्रत्येक अंग को (गोटी को) लाल कर जिससे व्यर्थ ही उसकी कोई चाल न छूट जाय। सदा भगवान् को सामने रख। वहाँ से यदि तेरा ध्यान हटा तो तेरी बाज़ी भी कमजोर हो गयी, और यह बाजी तू अनेक बार मूढ़ खिलाड़ियों से हार भी चुका है। इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया गया—

> अहे खेलारी चूक मति, पंचाबिखे सम्हाल।
> परो दाँव तेरो खरो, करि लै सारी लाल।
> करि लै सारी लाल, लाल निज चाल न छूटै।
> सनमुख ही मुख राखि, देख जुग कहूँ न फूटै।

१—अन्योक्ति कल्पद्रुम, कु० १७१, पृ० ६७।

बरनै दीनदयाल, जाति बाजी इहि बारी।
हारी मूढ़न संग, बार बहु अहे खेलारी ।।[1]

अस्तु, जीव का इस संसार में आना एक पथिक के समान है जो कभी मार्ग में उलझ जाता है, कभी सो जाता है, और कभी अगाध जल में फँस जाता है। संसार में इस प्रकार के अनेक व्यवधान उसे प्रलोभित करने के लिए मार्ग में आया करते हैं। यह सब उस पर अपनी मोहिनी 'माया' का प्रभाव डालते हैं। इसी भाव को दीनदयाल जी ने अनेक रूपों में व्यंजित किया है और अपनी व्यंजना का माध्यम 'राही' को बनाया है। मार्ग में अनेक प्रकार के बटमार (ठग-विषयादि इंद्रिया, संसार के मोहादि) बाजादि डेरा डाले हुए पड़े हैं, जो तुझे लूटने के लिए प्रस्तुत हैं। अतः तू अपने धन की रक्षा (ज्ञान या भगवद्भक्ति) इन शक्तियों से कर—

मारे जैहो पथिक हे, या पथ हैं बटपार।
पार होन पैहो नहीं, मारि डारिहै वारि ।।[2]

ये सभी प्रतीकात्मक अन्योक्तियाँ उपर्युक्त तथ्य की प्रतिध्वनि ही हैं। जीव का संसार चक्र में फंसना माया का ही प्रभाव है। इसी अविद्या माया के व्यंजनार्थ कवि ने अन्योक्ति, मानवीकरण तथा रूपकातिशयोक्ति इन तीन अलंकारों का एक साथ प्रयोग किया है। वह अविद्या माया (संसार) को 'नारी' का रूप देता है और उसके अंग प्रत्यंगों के द्वारा संसार में फैले विभिन्न प्रलोभनों की ओर संकेत करता है। मेरे विचार से दीनदयाल जी की प्रतिभा का सबसे 'अद्भुत' रूप इन अन्योक्तियों में दर्शनीय है। इन अन्योक्तियों में भाव, विचार, कला और कल्पना का एक अद्भुत सम्मिश्रण है जो रीतिकालीन अलंकरण प्रवृत्ति को सामने रखती है। एक अन्योक्ति में नारी रूपी जंगल (संसार) में अविद्या माया (नारी) का प्रसार वर्णन किया है जिसमें अनेक प्रकार के भय व्याप्त हैं—

या बन में करि केहरी, कूप गंभीर अपार।
द्वै पहार की ओट में, बसत एक बटमार।
बसत एक बटमार, उभै धनु सर संधाने।
ता पीछे इक स्याह, नागिनी चाहति खाने।

१—अन्योक्ति कल्पद्रुम, कुं० १७२ पृ० ६७।
२—वही, कु० १६०, पृ० १०७-१०८।

बरनै दीनदयाल, इने लखि डरिये मन में।
पथी सुपंथ बिहाय, भूलि जनि जायो बन में ॥[१]

यह बटमार रूप नारी ही माया है जो संसार को अपने उभय काम नेत्रों एवं भृकुटियों से हनन किया करती है। उसके काले बाल (नागिनि) सम्पूर्ण संसार को भक्षण करने के लिए जैसे प्रस्तुत हैं। अंततः पंथी (जीव) तू इस भयावने वन में न जा, जहाँ तेरे अस्तित्व का तिरोभाव करने के लिए माया का विनाशकारी प्रसार व्याप्त है। इसी प्रकार, ससार को नारी रूपी 'विषवल्ली' का प्रतीक बनाकर, उसके अंगो को बेल की सादृश्यता में चित्रित कर, कवि ने पथिक को इस प्रकार चेतावनी दी है—

फूली है सुखमामई, नई लहलही जोति।
छई ललित पल्लवनि ते, लखि दुति दूनी होति ॥
लखि दुति दूनी होति, चपल अलि या पै दो हैं।
लगे गुच्छ द्वै बीच, वहै जन को मन मोहैं ॥
बरनै दीनदयाल, पथिक है कित मति भूली।
ये तो मारक महा, छली विषबल्ली फूली ॥[२]

यहाँ पर पल्लवादि नारी के हाथ पाव हैं, दो चपल अलि नारी के नेत्र हैं, और दो गुच्छे उसके स्तन हैं। इन श्लेषगत शब्दो के द्वारा विषबल्ली तथा नारी की सादृश्यता व्यंजित की गयी है। ऐसी ही रूपकातिशयोक्ति उपमानों की योजना के द्वारा वन को स्त्री का स्वरूप प्रदान करते हुए कवि ने मानव राही को किसी दूर गंतव्य की ओर जाने का उपदेश दिया है। एक प्रकार से मानव जीवन का ध्येय सीमा से असीम की ओर ही होना, उसे ऊर्ध्व स्तरों के प्रकाश के समीप ला सकता है। यहाँ पर अनेक प्राकृतिक वस्तुओं को प्रतीक का (परम्परा) रूप देकर, उनकी समष्टि योजना से नारी रूप उपवन को संसार का प्रतीक बनाया गया है। इसमें आराम (बाग) चंपक, कुंदकली, अवली बिंब, बसुजाम, कीर, खंजन तथा भौंरे को क्रमशः संसार (नारी) चंपक छबियुक्त, दन्तपंक्ति, ओष्ठ, आठ नासा, नेत्र एवं बालों का प्रतीक चित्रित किया गया है।[३]

१—अन्योक्ति कल्पद्रुम, कुं० २०९ पृ० ११५।
२— वही, कु० २१०, पृ० ११५।
३—वही, कु० २११, पृ० ११५-११६।

जीव का व्यक्त रूपराशि में ग्रसित होना माया की क्रियात्मक शक्ति का प्रभाव ही है। इससे मुक्त होना ही जीवात्मा का ध्येय माना गया है जिससे वह 'सत्य' के निकट पहुँच सके। कुरंग का मरुदेश में भ्रम रूप मरीचिका के पीछे दौड़ना जीव का संसार के विषयों की ओर दौड़ना है।[१] माया के इस प्रसार जाल से कोई नहीं छूट सकता है। उससे जितना भी छूटने का प्रयास किया जाता है, व्यक्ति दुर्भाग्यवश उतना ही उस 'जाल' में फसता एवं उलझता जाता है। कविवर बिहारी के शब्दों में—

को छूट्यो इहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यौं त्यौं उरझत जात॥[२]

(२) ब्रह्मज्ञान आदि

संसार और माया के प्रसार से जीव का कल्याण उसी समय हो सकता है, जब जीव 'आत्मज्ञान' के प्रकाश से आलोकित हो जाय। यही उसकी अपरोक्षानुभूति है जिसे हम 'ब्रह्मज्ञान' की संज्ञा देते हैं। इस 'ज्ञान' को प्राप्त करने के लिए केवल दो मार्ग ही हैं। एक तो व्यक्ति का स्वयं अकथनीय प्रयत्न एवं दूसरा अन्य ज्ञान प्राप्त व्यक्तियों का सान्निध्य। रीतिकालीन अन्योक्तियों में कुछ प्रतीक योजनाएँ इन दोनों मार्गों पर आश्रित हैं। उदाहरणस्वरूप दीनदयाल जी ने कुरंग को सम्बोधित करते हुए कहा है कि आत्मज्ञान रूपी सुगन्ध कहीं बाहर नहीं है, वह तो है कुरंग! तेरे पास ही है, उसे तू बाहर व्यर्थ ही खोज रहा है।[३] इसी प्रकार ग्वालिनी (जीवात्मा) दधि (ब्रह्म) के बदले इस संसार रूपी वारि को मथती है, तो उसे घृत (ब्रह्मज्ञान) कहाँ मिलेगा, घृत तो उस समय मिलेगा जब वह 'दधि' को बिलोवेगी—

वारि बिलोवै डारि दधि, अरी आँधरी ग्वारि।
ह्वैहै श्रम तेरो वृथा, नहिं पैहै घृत हारि॥
बरनै दीनदयाल, कहा दिन योंही खोवै।
पछतैहै री अंत, कत ढिग वारि बिलोवै॥[४]

व्यक्ति के प्रयत्न के फलस्वरूप जो भी ज्ञान प्राप्त होता है वह व्यक्ति को कुछ

१—अ० कल्पद्रुम, कुं० १४६, पृ० ८५।

२—बिहारी सतसई, पृ० १४७। ६७०।

३—अन्योक्ति कल्पद्रुम, कुं० १४७ पृ० ८५।

४—वही, कुं० १६६, पृ० ९२-९३।

ऊँचा अवश्य कर देता है। जीवन का और इस शरीर का महत्त्व इसी परमज्ञान की अनुभूति करना है। यदि मनुष्य अपने को ज्ञान से नही भरता है, तो उसकी स्थिति पनिहारिन के समान है जो हाथ में घड़ा (शरीर) लेकर तालाब को जाती है, लेकिन अंत में उसे रिक्त ही लाती है और अपनी प्रतिष्ठा को भी न्यून कर देती है।[1] मानव जीवन बार बार नही प्राप्त होता है। जब वह मिला है तो उसे ज्ञान गरिमा से पूर्ण करना ही मानवीय धर्म है। यदि मानव ऐसा नहीं करता है तो वह उस कृषक के समान ही माना जायगा जो समय पर अपने खेत को बिजोता (जीवन) नहीं है। और खेती न होने से हाकिम (ईश्वर) के माँगने पर लगान (सुकर्मों का रूप) भी नहीं दे पाता है।[2] यही भावना जौहरी के मणि परखने के दृष्टान्त से भी व्यंजित की गयी है।[3]

मनुष्य आध्यात्मिक ज्ञान की ओर ऐसे व्यक्तियो के सान्निध्य के द्वारा जा सकता है जो आध्यात्म ज्ञानी हो—जीवन्मुक्त पुरुष हो। ऐसे पुरुषों को संतों ने चंदन कहा है जो एक ओर अपनी सुगन्ध से वायुमंडल को सुगन्धित कर देते हैं और, दूसरी ओर, जिस वस्तु को स्पर्श करते है वह वस्तु भी उसकी सुगंध से सुगंधित हो जाती है। इसी भाव की पुनरावृत्ति कवि ने माली को सम्बोधित करते हुए एक नवीन विधि से रखी है—

माली तेरे बाग में, चंदन लगो बिसाल।
ताप करै किन दूरि तू, खोजत कितै बिहाल।
खोजत कितै बिहाल, तिहूँ गुन यामे देखो।
कटु अरु सीत सुगंध, भलौ बिधि करो परेखो।[4]

अस्तु, सत्संग की महिमा अपार है। उससे अनेकों का भाग्य निर्णय ही नहीं होता है, वरन् उसके द्वारा मनुष्य नवीन मानसिक अभियानों की ओर अग्रसर होता है। एक अज्ञानी पुरुष भी ज्ञानी या जीवनन्मुक्त पुरुष के सत्सग से ज्ञानी एवं गुणी हो जाता है। तुम्बिका (घूरी) जो घूरे में उत्पन्न होती है, वह गंगा के जल से मज्जित होकर सुरंगमय एवं कटुताहीन हो जाती है। यही दशा

१—अन्योक्ति कल्पद्रुम, कु० १६८, पृ० ६५।
२— वही, कुं० १७० पृ० ६६।
३—वही, कु० १७४, पृ० ६६।
४—वही, कुं० १५६, पृ० ६०—६१।

उन अज्ञानी एवं कुकर्मी व्यक्तियों की भी हो सकती है जो किसी सत्पुरुष के प्रभाव में आते हैं—

> एरी घूरी तूमरी, अहो धन्य तव भाग।
> मज्जति सुरसरि नीर में, साधु प्रसाद प्रयाग ॥
> बरनै दीनदयाल, छुटी कटुता सब तोरी।
> सुधरी संगति पाय, घूर की तुमरी एरी ॥[१]

इसी भाव की एक अत्यन्त सुन्दर व्यंजना कविवर बिहारी ने एक अत्यन्त सामान्य प्रतीक योजना के द्वारा प्रस्तुत की है। श्रुति या कान की निरन्तर सेवा करते रहने से भी तरौना (एक भूषण विशेष) अब तक तरौना ही बना रहा उसमें किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं हुआ। परन्तु, दूसरी ओर, बेसर (नाक का एक आभूषण) ने मुक्तायुक्त होकर नाक जैसे उच्चस्थान की शोभा-वृद्धि की यथा—

> अजौं तर्‌योना ही रह्यो, श्रुति सेवत इक रंग।
> नाक बास बेसरि लह्यौ, बसि मुक्तन के संग ॥[२]

यहाँ पर अनेक श्लेष शब्दों के अर्थ से यह ध्वनित होता है कि निरन्तर वेदों (श्रुति) की सेवा करने वाला एक व्यक्ति इस रूपात्मक संसार से नही तर सका (तर्‌यो ना, तरा नहीं) वहीं एक नीच व्यक्ति (बेसर) जीवन्मुक्त पुरुषों (मुक्तन) का साथ कर स्वर्ग का निवासी (नाकबास) हो गया। इस प्रकार बिहारी ने एक अत्यन्त चमत्कारपूर्ण विधि से नारी के आभूषणों के द्वारा एक तात्त्विक संदर्भ की अवतारणा की है।

इन सभी प्रतीकों में 'ज्ञान' एवं सत्संग के अन्योन्य संबंध की ओर संकेत प्राप्त होता है। उस ज्ञान की ऊर्ध्वगामी स्थिति उसी समय लक्षित होती है जब वह तात्त्विक क्षेत्र के विशाल प्रांगण में प्रवेश करता है। इसी परमज्ञान का पूर्ण पर्यवसान 'परमतत्त्व' की धारणा में प्राप्त होता है जिसे व्यक्त करने के लिए 'प्रतीक' का सहारा भी लिया जाता है। कार्य-ब्रह्म संसार व्यापी परम-तत्त्व का प्रतीक है[३] जिसे 'वृक्ष' के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। दीनदयाल जी ने भी अश्वत्थ वृक्ष वाले उपनिषद् प्रतीक का इस प्रकार वर्णन किया है—

१—वही, कुं० १०८, पृ० ६६।

२—बिहारी सतसई, पृ०। २६ २०१।

३—दे० अध्याय प्रथम, उपखंड ग में 'ब्रह्म' का विवेचन।

राजत है तरु एक, मूल ऊरध अध साखा ।
है खग तहाँ अचाह, एक इक बहु फल चाखा ।।[1]

उपनिषदों में ब्रह्म को 'आत्मासंज्ञक' भी कहा गया है जिसे आत्मरूप 'ब्रह्म' की संज्ञा दी गयी है । यही आत्मा का विस्तार ही समस्त चराचर विश्व है अथवा आत्मा ही इस विश्व को अपने रंग में रूपान्तरित करती है । अतः आत्मा रूप ब्रह्म एक चित्रकार के समान है जो अपनी तूलिका से 'चराचर चित्रों' का सृजन करता है । फिर उसी में अपने को भूल जाता है ।[2] आत्मा का यह चित्रकार रूप विश्व के चित्र-प्रपंच की ओर संकेत करता है । जहाँ वेदान्त दर्शन ने आत्मा रूप ब्रह्म का ही प्रपंच यह चराचर विश्व माना है, वही सांख्य दर्शन में यह प्रपंच प्रकृति तथा पुरुष के योग में सम्पन्न होता है । इस तथ्य की सुन्दर प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति कठपुतली के द्वारा व्यंजित की गयी है । इस प्रकार से यह सृष्टि के मिथुनपरक रूप की ओर भी स्पष्टतया संकेत है । बिना दो के (सूत्रधार तथा कठपुतली, प्रकृति तथा पुरुष) इस प्रपंच रूप विश्व की रचना संभव नहीं है—

तेरी है कछु गति नहीं, दारु चीर को मेल ।
करै कपट पट ओट में, वह नट सबही खेल ।।
वह नट सबही खेल, खेलि फिर दूर रहे हैं ।
द्वै बिन बनै प्रपंच, कहो को कूर कहैहै ।।[3]

निष्कर्ष

उपर्युक्त प्रतीक योजनाओं के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकालीन काव्य में प्रतीकों का कलात्मक रूप ही अधिक है । उनमें मानसिक व्यायाम की अपेक्षा है और भाव की अपेक्षा 'रूप' की महत्ता कहीं अधिक है। यह ठीक है कि रीतिकाव्य में रूढ़ि एवं परम्परागत पालन की प्रवृत्ति सामान्य है, पर उपर्युक्त प्रतीक योजनाओं के प्रकाश में यह भी कहा जा सकता है कि कवियों ने अनेक स्थानों पर नवीन प्रतीकों की उद्‌भावना की है । ये उद्‌भावनाएँ भी स्वाभाविकता की अपेक्षा कलात्मकता के साथ ही सामने आती हैं । अलंकारगत प्रतीकों में यह कलात्मकता अत्यन्त मुखर है जो रूपकातिशयोक्ति और श्लेष में अपनी चरम परिणति में प्राप्त होती हैं । जहाँ तक अन्योक्ति का संबंध है, उनमें प्रतीक योजनाएँ अन्य अलंकारों की अपेक्षा कहीं

१—अन्योक्ति कल्पद्रुम, कु० २०७, पृ० ११४ ।

२—वही, कुं० १७७, पृ० १०० ।

३—वही, कुं० १६४, पृ० ६३-६४ ।

अधिक स्वाभाविक तथा प्रतीकात्मक हैं। भावों तथा संवेदनाओं की दृष्टि से 'परिपाटीगत प्रतीक' कहीं अधिक हृदयग्राही एवं स्वाभाविक है। शब्द-प्रतीक की दृष्टि से श्लेष तथा यमक अपनी उन्नत दशा में दृष्टिगोचर होते है।

अतः प्रतीकों के इन कलात्मक रूपों के कारण रीतिकालीन प्रतीको में सामान्यतः विचारोद्भावना का वह स्वरूप नहीं प्राप्त होता है जिस सीमा तक उसका कलात्मक रूप। चमत्कार एवं कौतूहलता का इतना अधिक आग्रह दृष्टिगत होता है कि उसके बोझ से प्रतीकों की स्वाभाविकता में एक प्रकार का ह्रास ही प्राप्त होता है। इतना होने पर भी केशव, बिहारी, देव, सेनापति आदि कवियों में अलंकारगत प्रतीकों की जो भी योजनाएँ प्राप्त होती हैं, उनमें कभी कभी भावों की भी सुन्दर अन्विति प्राप्त होती है। सेनापति का श्लेष वर्णन, बिहारी तथा दीनदयालु गिरि का अन्योक्ति वर्णन, केशव तथा मतिराम के रूपकातिशयोक्ति तथा अन्य वर्णनों में, प्रतीको की स्थिति के अनुशीलन से यही तथ्य प्रकट होता है। सेनापति तथा अन्य कवियों के श्लेष प्रतीकों में मानवीय भाव जगत का व्यंजनात्मक रूप प्राप्त होता है। मानव जीवन के प्रति एक स्पष्ट आग्रह अन्योक्तिगत प्रतीकों में है। इनमें मानवेतर प्रकृति अपनी उच्चतम अर्थ व्यंजना के सहित साकार हो सकी है। इन प्रतीकों के अध्ययन से जीवन के प्रति आस्था के भी दर्शन होते हैं जो रीतिकालीन प्रवृत्ति का ही परम सूचक है। जीवन के यथार्थ पक्ष पर जितना सुन्दर आग्रह रीतिकालीन प्रतीकों के द्वारा प्राप्त होता है, वह सीमित होते हुए भी, अपने में अपूर्व है। कवियों ने अपने प्रतीकों के द्वारा जीवन को काव्यात्मक रूप में ही देखा है। इस दृष्टिकोण में सबसे प्रमुख तत्त्व प्रेम तथा सौंदर्य भावना है जिसने उनके काव्य में 'जीवनगत सत्य' को भी साकार किया है। यदि हम चाहें तो कह सकते हैं कि उनका जीवन-दर्शन प्रेम मूलक था जिसमें शोभा, सौंदर्य तथा सुख की रश्मियाँ विकीर्ण होती दृष्टिगत होती हैं। उनके अधिकांश प्रतीक इसी भावभूमि के वाहक हैं।

परम्परा की दृष्टि से रीतिकाल के परिपाटीगत प्रतीक हमारी प्राचीन परम्परा को कलात्मक रूप से रखने में समर्थ हुए हैं। संस्कृत तथा अपभ्रंश काव्यों की अनेक परिपाटियों, पौराणिक तथा धार्मिक मान्यताओं पर विकसित अनेक वस्तुओं का प्रतीक रूप और दिव्य व्यक्तियों (राधाकृष्ण) की मानवीय धरातल पर अवतारणा—प्रतीक की दृष्टि से हिन्दी काव्य को ये मुख्य रीतिकालीन देन कहे जा सकते हैं।

नवम् अध्याय

भारतेंदुकालीन काव्य में प्रतीक-योजना

(क) पृष्ठभूमि

भारतेंदु-काल आधुनिक हिन्दी साहित्य की आधारशिला है जिस पर नवीन चेतना का प्रासाद भावी कालों में निर्मित हो सका। दूसरी ओर, यह 'काल' प्राचीन परम्पराओं से भी पूर्ण मुक्त न हो सका था, उससे मुक्त होने का श्रम अवश्य कर रहा था। नवीनता तथा परम्परा का समान आग्रह इस काल की प्रमुख विशेषता है जिसने प्रतीकों के भाग्य निर्णय का कार्य भी सम्पन्न किया।

परम्परा का आग्रह एवं उसका रूप

एक ओर रीतिकाव्य की परम्परा का और दूसरी ओर भक्ति काव्य की परम्परा का तिल तन्दुल रूप भारतेंदुकालीन कविता में प्राप्त होता है। कवि परिपाटी, राधाकृष्ण की भावना, प्रेम भाव का स्वरूप और सूफ़ी प्रेम पर आश्रित भावों का एक विशिष्ट रूप भारतेंदु काल में प्राप्त होता है। इन परम्पराओं का पालन तो अवश्य हुआ है, पर उनमें भी कवियों का अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व ही दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने इन रूढ़ि परम्पराओं को अपने ऊपर नितांत हावी नहीं होने दिया है। कवियों ने उनको अपने देश, काल और समाज की सापेक्षता में ही अपनाया है। उनके अनेक परंपरागत प्रतीक-निर्वाचनों में इस प्रवृत्ति का विशेष स्थान है।

भरतेंदुकालीन कविता में हमें रीतिकालीन तथा भक्तिकालीन परिपाटियों का एक स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। भारतीय समाज तथा धर्म में इन प्रवृत्तियों की इतनी गहरी जड़ें चली गई थीं कि उनसे कवि एकदम अपने को मुक्त नहीं कर सकता था। यही कारण है कि इस धारा का उन्मुक्त प्रवाह भारतेंदु तथा अन्य कवियों में प्राप्त होता है। परन्तु इस प्रतीक-निर्वाचन में भी एक विशेषता

है जो हमें रीतिकाल में नहीं प्राप्त होती है। कवि परिपाटी के अनेक प्रतीकों का स्वरूप मूलतः अलंकार अथवा नायक नायिका के क्रियाकलापों में ही प्राप्त होता है। उसका वह स्थिर रूप इस काल में परिवर्तित होने लगता है। क्रमशः एक ऐसी मनोवृत्ति का उदय होता है जो उन प्रतीकों को एक स्वतंत्र रूप में अलंकारों के बोझ से मुक्त कर, एक विशिष्ट भावभंगिमा के साथ हमारे सामने रखता है। मेरे विचार से भारतेंदुकालीन काव्य में परिपाटीगत प्रतीकों का यह स्वरूप अत्यन्त मुखर है। भारतेंदु तथा प्रेमघन के अनेक प्रतीक इसी तथ्य की प्रतिध्वनि से लगते हैं जिन पर हम यथास्थान विचार करेंगे। इसके साथ हम यह भी कह सकते हैं कि इन प्रतीकों का स्वरूप मूलतः भक्तिकालीन प्रतीकों के समान है। जहाँ तक भावाभिव्यंजना का प्रश्न है, हरिश्चन्द्र के काव्य में इस प्रवृत्ति का सुन्दर विकास प्राप्त होता है।

परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता है कि इन कवियों में रीतिकालीन प्रवृत्तियों के दर्शन ही नहीं होते है। जहाँ तक भारतेंदु काव्य का प्रश्न है, उसमें हमें अनेक नायिकाओं के प्रकार, उनके हावभाव तथा शृंगार-परक भावनाएँ लक्षित होती हैं। नायिका भेद के अनेक रूप प्रतीकात्मक व्यंजना भी करते हैं जिन पर हम रीतिकाल के अन्तर्गत विचार कर चुके हैं।[1] भारतेंदु जी ने भी अनेक भेदों का यदा कदा संकेत किया है जो प्रतीक रूप की ओर संकेत करते हैं। उदाहरणस्वरूप वासकसज्जा का मनोहर रूप उन्होने इस प्रकार व्यंजित किया है जो एक मिलनातुर नारी की भावनाओं को साकार कर देता है—

आजु सिंगार के केलि के मन्दिर,
बैठी न साथ मैं कोऊ सहेली।
धाय के चूमैं कबौ प्रतिबिम्ब,
कबौ कहै आपहु प्रेम पहेली॥
अंक में आपुनें आपै लगै हरिचन्द
जूं सो करै आपु नवेली।
प्रीतम के सुख में प्रिय मैं भई,
आये तें लाल के जान्यौ अकेली॥[2]

१—दे० अध्याय अष्टम, उपखंड (क)।

२—भारतेंदु ग्रंथावली, "प्रेम माधुरी", पृ० १४९। १६, १७

इस प्रकार के अनेक पद उनके काव्य ग्रंथो से दिये जा सकते हैं। इस दिशा में केवल हम रीतिकालीन मनोवृत्ति से यही अन्तर पाते हैं कि भारतेंदु जी ने रीति-ग्रंथो के आधार पर अपनी काव्य रचना नहीं की। उन्होंने तथा अन्य कवियों ने अपनी भाव-प्रकाशन शैली में एक स्वतंत्र मनोवृत्ति का ही परिचय दिया है। यहाँ तक कि उन्होंने रीतिबद्ध नायिका भेद के क्षेत्र का विस्तार भी किया है और अनेक भेदोपभेदों को बढ़ाया भी है। उन्होंने परम्परा रूप से गृहीत स्वकीया, परकीया और सामान्या भेदों के अतिरिक्त दो अन्य भेदों—कन्यका और सामान्या बनिता—को बढ़ाया है।[1] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रतीक की दृष्टि से नायिका भेद का 'कुछ' विस्तार भारतेन्दु जी ने अवश्य किया है जो उन्हें रीतिबद्ध कविता का प्रेमी ही घोषित करता है। यही बात हावोंभावों, दूती, सखी, ऋतुवर्णन, शृंगार वर्णन आदि के बारे में भी सत्य है जिनका पालन कवियों ने न्यूनाधिक रूप में किया है। भारतेंदु की 'प्रेम माधुरी' रचना मे इनके अनेक उदाहरण सामान्यतः प्राप्त हो जाते हैं।

भारतेंदुकालीन भावधारा में राधाकृष्ण का शृंगारपरक रूप भी यदा कदा प्राप्त होता है। इस प्रेमभावाभिव्यंजना में कवियों की मनोवृत्ति परिपाटी का ही पालन करती रही है। परन्तु कहीं-कहीं पर रसों के अन्तर्गत विभावों की न्यूनता भी प्राप्त होती है जो सामान्यतः प्रकृति चित्रण के परम्परागत रूप के प्रति उदासीनता की परिचायिका भी है।[2] इस प्रवृत्ति का विकास प्रकृति के प्रति एक स्वतंत्र स्वस्थ दृष्टिकोण को जन्म दे सका जिसपर हम यथास्थान विचार करेंगे। इतना होने पर भी प्रेमभाव की व्यंजना के हेतु कवियों ने परिपाटी-जन्य प्रतीकों का ही चयन कर उन्हें अपने काव्य में यथोचित स्थान दिया है। इस दृष्टि से प्रेम को व्यक्त करने के लिए अनेक कवियों ने प्राचीन परिपाटियों का ही सहारा लिया है जो प्रतीकात्मक दृष्टि से प्रतीकों के रूढ़ि रूप को ही सामने रखता है।

जहाँ तक प्राचीन प्रेम भाव का प्रश्न है, उसके आलम्बन नायक नायिका रूप में राधाकृष्ण ही थे। भारतेंदु तथा कुछ कवियों ने राधाकृष्ण की क्रीड़ाओं का भक्तिमय वर्णन भी किया है जो हमें बरबस भक्तिकालीन तल्लीनता का दिग्दर्शन कराता है। परन्तु यहाँ पर यह संकेत कर देना भी आवश्यक है

१—भारतेंदु और अन्य सहयोगी कवि, द्वारा किशोरी लाल गुप्त, पृ० १४७-१४८।
२—हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण, द्वारा किरण कुमारी गुप्ता, पृ० २७०।

कि इस काल में दाम्पत्य प्रेम का वह रूप नहीं प्राप्त होता है जो भक्तिकाल तथा रीतिकाल में प्राप्त होता है। भक्तिकाल का दाम्पत्य प्रेम रीतपरक होने के साथ साथ आध्यात्मिक एवं अलौकिक था। परन्तु भारतेन्दु काल में इस तात्त्विक भावभूमि का स्पष्ट रूप नहीं प्राप्त होता है। इस दृष्टि से हम श्री परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में कह सकते हैं कि भारतेन्दु काल में दाम्पत्य प्रेम का अभाव या ह्रास ही प्राप्त होता है।[1] यह ह्रास भी मेरे विचार से पूर्ण रूप में ह्रास नहीं कहा जा सकता है। स्वयं भारतेन्दु ने शृंगारपरक भावना से मिश्रित अनेक दाम्पत्य भावों का चित्रांकन किया है। उदाहरणस्वरूप राधा का यह कथन इसी भाव की अभिव्यक्ति करता है—

> हम तो मदिरा प्रेम पिये।
> अब कबहूँ न उतरिहै यह रंग, ऐसो नेम लिये।
> भई मतवार निडर डोलत नहिं, कुल भय तनिक हिये।
> डगमग पग कछु गैल न सूझत, निज मन मान किये।
> रहत चूर अपने प्रीतम पै, तिन पै प्रान दिये।
> हरीचन्द मोहन छैला बिनु, कैसे बनत जिये॥[2]—

जिसमें भक्तिकालीन राधा का स्वरूप भी सुरक्षित है जो कृष्ण की वल्लभा होने के साथ उनकी अह्लादिनी शक्ति भी है। राधा-भाव का जो तात्त्विक रूप भक्तिकाल में अपने चरम रूप में प्राप्त होता है उसकी झलक भारतेन्दुकालीन काव्य में देखी जा सकती है। स्वयं भारतेन्दु ने 'तन्मय-लीला' की मौलिक उद्भावना से राधा और कृष्ण के एकत्व भाव की तात्त्विक व्यंजना प्रस्तुत की है। प्रेम का आधिक्य इतना हो जाता है कि राधा का विरह बढ़ता बढ़ता कृष्ण में तन्मय हो जाता है और वह स्वयं अपने को कृष्ण समझने लगती हैं। वह 'राधा राधा' कहकर बेजार हो जाती हैं और उसी समय उधर से श्रीकृष्ण निकलते हैं। तब कवि कहता है—

> तहाँ तब आइ गए घनश्याम।
> प्रेम मगन बोले नन्दनन्दन सुनि प्यारे मै आई।
> जो तुम राधा नाम टेरिकै बेनु बजाइ बोलाई॥
> सुनतहि नैन खोलिके देख्यो श्याम मनोहर ठाढ़े।
> कछुक प्रेम कछु सकुच मानि के प्रेम-वारि दृग बाढ़े॥

१— हिन्दी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह, द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०४।

२—भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रेम मालिका, पृ० ७२, पद ६६।

दौरि कंठ मोहन लपटाई बहुत बड़ाई कीनी।
करयो बोध प्यारी राधा को हृदय लाइ पुनि लीनी।
कर सो कर दै चले कुंज दोऊ सखियन अति सुख पायो।
रसना करत पवित्र आपुनी 'हरीचन्द' जस गायो ॥[1]

इस नवीन उद्भावना में जहाँ एक ओर दाम्पत्य प्रेम का स्वरूप सुरक्षित है, वहीं पर समस्त लीला का एक अपना विशिष्ट प्रतीकार्थ भी है। यहाँ पर राधा का रसात्मक सिद्धि वाला प्रतीक रूप और कृष्ण का रसपूर्ण ब्रह्म रूप लौकिक कार्यकलापों के द्वारा व्यंजित होता है। यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो कृष्ण लीलाओं की एक तात्त्विक परम्परा का धूमिल रूप अब भी सुरक्षित था। परन्तु जहाँ तक सामान्य प्रवृत्ति का प्रश्न है, प्रेमघन तथा हरिश्चन्द्र को छोड़-कर इस प्रतीक रूप का स्पष्ट संकेत कदाचित् अन्य कवियों में मुखर नहीं है।

नवीन चेतना का रूप

परम्परा पालन के स्वरूप-विश्लेषण से यह भी ध्वनित हो जाता है कि उसमें भी नवीन दृष्टकोण का संकेत मिल जाता है। जहाँ इस नवीन दृष्टिकोण के विस्तार ने कवि को नव-मूल्यों की ओर प्रेरित किया, वहीं पर उस प्रेरणा ने प्रतीकों को एक स्वस्थ एवं स्वन्त्र रूप में अवतरित किया। इस नव अभियान में मूलतः दो संस्कृतियों का संघर्ष था और साथ ही उस संघर्ष से उद्भूत समन्वयात्मक प्रवृत्तियों का उदय एवं विस्तार। पाश्चात्य प्रभावों का एक स्पष्ट रूप हमें भारतेन्दुकालीन काव्य में प्राप्त होता है। यह प्रभाव दो रूपों में, प्रतीक की दृष्टि से, अवतरित हुआ। एक 'काव्य-रूप' के कलेवर में परिवर्तन तथा दूसरा नवीन मूल्यों तथा नवीन काव्य विषयों का निर्वाचन।

'काव्य रूप' का नवीन आग्रह इस काल की प्रमुख विशेषता है जिसने 'प्रतीकों' की रूपात्मक व्यंजना में एक स्पष्ट परिवर्तन का श्रीगणेश किया। अभी तक हमारे कवियों का ध्यान् यथार्थ जगत् की ओर नहीं था। वे मूलतः राधाकृष्ण की लीलाओं तथा नायक नायिकाओं के केलिकलापों के मध्य कल्पना तथा भाव लोक की मधुरिम छाया में विचरण कर रहे थे। पाश्चात्य विचारों तथा भावों का यकायक धक्का खाकर उनकी चेतना ने प्राचीनता के पाशों से अपने को मुक्त करने का प्रयत्न शुरू किया। कविता-कामिनी को शताब्दियों से श्रृंगार एवं रति के रंग स्थल से मुक्त कर, उसे 'यथार्थ जगत्'

१—भारतेन्दु ग्रन्थावली, तन्मय लीला, पृ० ६५८ पद ७।

का एक सबल माध्यम भी बनाया । यही कारण है कि इस काल में काव्य के 'रूप' में एक सबल परिवर्तन के दर्शन होते हैं । अब कवियों को ब्रजभाषा का श्रृंगारपूर्ण आदर्श खटकने लगा, तभी तो 'ब्राह्मण' पत्रिका की एक कविता में इस आदर्श के प्रति एक व्यंग्यात्मक अवहेलना के दर्शन होते है—

जहं सिंगार रस महं कहहिं, रसिक सुकवि मतिमान ।
नारिन की भृकुटी धनुष, सूधौ चितवन बान ।।[1]

अथवा पंडित मदनमोहन मालवीय 'मकरंदलांछन' के शब्दों में—

सो सब दूरि रहे मकरंद
समै इन बातन में किहि कारन ।
होय सो होय इहां नहिं भूलिनो
'राधिका रानी' कदम्ब की डारन ।।[2]

स्पष्ट ही यह रूप की ही क्रांति थी जिसमें भावों के परम्परागत उपादानो के प्रति अवहेलना का भाव ध्वनित होता है। भारतेन्दु, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, श्रीधर पाठक आदि ने इस रूपात्मक क्रांति में सक्रिय योग प्रदान किया है। अब तक हिन्दी काव्य में प्रकृति का वर्णन उद्दीपन के अन्तर्गत ही होता रहा है जिसमें कविगण कुछ प्राकृतिक वस्तुओं को गिना भर दिया करते थे । उस वर्णन में प्रकृति के प्रति कवि के क्या अपने निजी भाव हैं और वह किस दृष्टि से प्रकृति के व्यापारों को मानव की सापेक्षता में देखता है, इसका स्पष्ट पता नहीं चलता था । परन्तु नई धारा के कवियों ने प्रकृति को राजमहलों के उपवनों से मुक्त कर स्वाभाविकता की ओर ले जाने का प्रयत्न किया । इसके फल स्वरूप उन्होंने प्राकृतिक घटनाओं तथा वस्तुओं को नायक-नायिकाओं के दुख-सुख के रंगों से प्लावित न कर‚ उनके प्रति एक स्वतन्त्र पर्यवेक्षण की प्रवृत्ति का परिचय दिया ।[3] वस्तुओं तथा पदार्थों के चयन में उन्होंने मानवीय जीवन की महत्ता पर, प्रेम तथा राष्ट्रीय भावों की व्यंजना पर, यदा कदा बल भी दिया है ।

काव्य के 'रूप' में एक अन्य तत्त्व ने भी क्रांति लाने में सहायता प्रदान की है । वह तत्त्व है ग्रामीण अथवा लोक गीतों की पपम्परा का । डा०

१—ब्राह्मण, खंड ५, संख्या ५, दिसम्बर, पृ० ४ । १८ (नेति) ।

२—उद्धृत आधुनिक हिन्दी साहित्य से, द्वारा डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ८७७ ।

३—आधुनिक हिन्दी साहित्य, द्वारा डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ३२८ ।

रामविलास शर्मा के मतानुसार ग्राम साहित्य में जन आन्दोलन का बीज छिपा रहता है।[1] भारतेन्दु काल में इस आन्दोलन का रूप लोक परम्परा में प्रचलित काव्य रूपों के ग्रहण में स्पष्टतया प्राप्त होता है। लावनी, होली, बरवा, अष्टपदी, कजली, बारहमासा, ग़ज़ल, रेख़ता आदि का प्रयोग इस काल की प्रमुख विशेषता है जो इस काल के साहित्य को 'सामाजिक' साहित्य ही घोषित कर देता है। इस प्रवृति के फलस्वरूव इस काल के काव्य में ऐसी ग्रामीण वस्तुओं का संकेत मिलता है जो प्रतीकात्मक रूप की ओर भी संकेत करती है। इस दृष्टि से भी प्रतीक का विस्तार और उसका सृजन ही इस काल में प्राप्त होता है। भाषा की दृष्टि से इस काल का काव्य लक्षणा शक्ति की वृद्धि के लिए अनेक दिशाओं की ओर अग्रसर हो रहा था, जैसे उर्दू पद्धति की ओर, ग्राम शब्दों की ओर और अंग्रेज़ी शब्दों की ओर। सत्य में, काव्य-भाषा के क्षेत्र में यह लाक्षणिक शक्ति का नवीन अभियान था जो आगे चलकपर छायावाद आदि में अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति को प्राप्त हुआ है। इन सब दृष्टियों से काव्यात्मक रूप का प्रतीकात्मक महत्त्व हमारे सामने स्पष्ट तथा अस्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है।

इस रूप क्रांति के साथ काव्य में नवीन विषयों तथा नवीन विचारों का अत्यधिक समावेश हुआ। विश्लेषण करके देखा जाय तो भारतेन्दु काल का रूप पक्ष उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना यह पक्ष। चेतना पुञ्ज के सप्त खण्डों का विविध रूप भारतेन्दुकालीन काव्य में मानों साकार हो उठा है और इसी साकारता का रूप हमें अनेक प्रतीकात्मक रूपों में भी दृष्टिगत होता है। कवि ने यथार्थ जगत् का साक्षात्कार किया, उसने अपने चारो ओर के समाज एवं राष्ट्र पर एक दृष्टि दौड़ाई, समाज की दलित एवं पतित दशा को सहानुभूति से देखा और पाश्चात्य आदर्शों एवं विचारों को पैनी दृष्टि से अपनी भावधारा में समन्वित किया—इन सब प्रवृत्तियो ने मिलकर भारतेन्दुकालीन प्रतीकात्मक क्षेत्र को एक नवीन चेतना के स्पंदन से भर दिया।

इस काल का कवि 'प्रेम' के व्यापक क्षेत्र में पदार्पण देता है। उसके सामने अब प्रेम का एक अत्यन्त विस्तृत रूप आता है। अब वह समाज तथा राष्ट्र प्रेम की विशाल भावाधारा को अपने काव्य में एक 'विषय' का रूप देने में अपना कर्तव्य समझता है। इस 'प्रेम' को व्यक्त करने के लिए उसने अनेक ऐसे काव्यों तथा पौराणिक तत्त्वो का सहारा लिया जो अप्रत्यक्ष रूप से देश

१—भारतेन्दु काल, द्वारा डा० रामविलास शर्मा, पृ० ६।

की राष्ट्रीय भावना को बल दे सके। इस काल की देश-भक्ति उच्च वर्ग तक ही सीमित नहीं थी। उसका विस्तार सामान्य धरातल पर कवियों के द्वारा हो रहा था। इसी देश-भक्ति के कारण उनकी प्रवृत्ति ने एक नवीन दिशा को ग्रहण किया। उन्होंने मध्यकालीन दरबारी संस्कृति और समाज के कुसंस्कारों के प्रति एक विद्रोह की आवाज़ बुलन्द की।[1] इसी की प्रेरणा से अनेक कवियों ने समाज की कुसंस्कारजनित रीतियों एवं धार्मिक आडम्बरों के प्रति एक क्षोभजनित भावना को जागृत किया। भरतेन्दु जी की प्रथम कविताओं में यह क्षोभ सिसकियाँ लेता हुआ प्रतीत होता है। उनकी इन कविताओं में 'राजभक्ति' का आग्रह होने से (मुँह दिखावनी, राजकुमार शुभागन, भारत भिक्षा आदि कविताएँ) राष्ट्रीय भावना पृष्ठभूमि में ही प्राप्त होती है। परन्तु इसके अतिरिक्त उनकी अनेक ऐसी कविताएँ भी हैं जो वर्तमान की दुर्दशा पर शोक भी प्रकट करती हैं जो भारतेन्दु की राष्ट्रीयता का एक प्रमुख अंग है। इस प्रसंग में हमें कुछ प्रतीकात्मक रूपों का भी संकेत प्राप्त होता है जिस पर हम यथास्थान विचार करेंगे। परन्तु भारतेन्दु के अतिरिक्त अन्य कवियों यथा प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र आदि में यह राष्ट्रीय भावना अधिक स्पष्ट है। उनका भारत की सामाजिक एवं धार्मिक दशा पर व्यंग्यात्मक क्षोभ अत्यन्त मुखर रूप से सामने आता है। प्रतापनारायण मिश्र की 'तृप्यन्ताम' रचना इसी प्रकार की है। एक उदाहरण मेरे कथन को स्पष्ट करेगा जिसमें सामाजिक, धार्मिक एवं भाषागत दशाओं पर कवि ने चुटकी ली है—

निजता निज भाषा निज गौरव निज कुल धर्म कर्म अभिराम।
कछु न सिखायो हमहि हाय तुम सबिधि बनायो उदर गुलाम॥
अनमिल व्याह अनवसर करि के सब सुबिधा कर दई हराम।
का सुख लहि कहि श्रद्धा सो हम कहैं पिता जू तृप्यन्ताम्॥[2]

यहाँ पर एक बात खटकती है कि भारतेंदुकालीन कवियों ने १८५७ के राष्ट्रीय विद्रोह का कहीं पर भी स्पष्ट संकेत नहीं किया है जो एक अद्भुत तथ्य ही लगता है। डा० वार्ष्णेय ने विद्रोह का कुछ रूप प्रतापनारायण मिश्र, 'प्रेमघन' के काव्य में प्राप्त किया है। दूसरी ओर जन जीवन में प्रचलित अनेक गीतों में उन्होंने १८५७ के विद्रोह को एक स्पष्ट झलक भी प्राप्त की

१—भारतेन्दु काल, द्वारा डा० रामविलास शर्मा, पृ० ६।

२—तृप्यन्ताम, द्वारा प्रताप नारायण मिश्र, पृ० १७। ६६ (पटना १६१५)।

है जो उनके विचार से राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण हैं।[1] कुछ भी हो, उस समय की कविता में राष्ट्रीय भावना का रूप अत्यन्त स्पष्ट है जो एक प्रकार से ब्रिटिश नीति की प्रतिक्रिया से भी विकसित हुआ था। सामान्य दृष्टि से हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु काल में राष्ट्रीय भावना को व्यक्त करने के लिए दो प्रमुख माध्यम थे। एक तो धार्मिक क्षेत्र और दूसरा कांग्रेस द्वारा राजनीतिक क्षेत्र। इन सब कारणों के द्वारा जनता तथा कवियों में स्वतंत्रता की भावना का एक प्रतिक्रियात्मक रूप उभर कर सामने आया जो कभी कभी अप्रत्यक्ष माध्यमो के द्वारा प्रकट हुआ।

इस नवीन चेतना के उदय में सुधारवादी आंदोलनों ने भी कवियों की दृष्टि को व्यापक रूप प्रदान किया। उन्होने सामाजिक तथा धार्मिक कुरीतियों तथा अंधविश्वासों को अपने काव्य का विषय बनाया। सुधारवादी आंदोलन का सूत्रपात पश्चिमी प्रभाव के अंतर्गत सर्वप्रथम बंगाल के ब्रह्मसमाज (१८२८) के द्वारा हुआ। इस आन्दोलन का सम्बन्ध हिन्दी प्रदेश से नहीं रहा। परन्तु आगे चलकर जब इन आदोलनों ने विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण अपनाना आरम्भ किया, इस दृष्टिकोण के विकास में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भारतीय साहित्य के अध्ययन और मनन का भी एक विशेष हाथ है। मैक्स-मुलर, कीथ, हडसन, प्रिन्सप और मैथ्यू आर्नल्ड प्रभृत विद्वानो ने भारतीय संस्कृति तथा धर्म पर अनेक खोजपूर्ण कार्य किये। इसी से भारतीय शिक्षित समुदाय पर अपने अतीत गौरव के प्रति एक श्रद्धा तथा आत्मगौरव के भावो का उदय हुआ। इसका सबसे विशुद्ध दृष्टिकोण, नवोत्थान की दृष्टि से, आर्यसमाज आन्दोलन था। इसका प्रभाव भारतेन्दु तथा परवर्ती कवियों पर अत्याधक पड़ा। अनेक कवियों ने आर्यसमाज की प्रेरणा के फलस्वरूप समाज सुधार के साथ साथ प्राचीन वैदिक संस्कृति तथा साहित्य के विशाल प्रांगण से प्रेरणा भी ग्रहण की। स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती का घनिष्ट सम्बन्ध हिन्दी भाषा और साहित्य से था। आर्यसमाज के कारण ही हिन्दी कवियों ने अनेक नये नये विषयो को अपने काव्य में स्थान दिया और भाषा के संस्कृत तत्त्व को प्रोत्साहन दिया।[2] समाजियों के प्रभावानुसार ही साहित्यिको ने अनेक सामाजिक कुरीतियों जैसे विधवा विवाह निषेध, अछूतोद्धार, बालविवाह, अनेक ब्राह्मण धर्मान्तिर्गत कर्मकाण्डों और अन्धविश्वासो

१—आधुनिक हिन्दी साहित्य, द्वारा डा० वार्ष्णेय, पृ० २८१-२८८।

२—आधुनिक हिन्दी साहित्य, द्वारा डा० वार्ष्णेय, पृ० १०४-१०५।

का विरोध करके विशुद्ध वैदिक धर्म के प्रचार की आवाज उठाई। वैदिक धर्म तथा संस्कृति को पुनर्जीवित करने का श्रेय एक अन्य स्रोत को भी है। वह स्रोत है अनेक विद्वान् महात्माओं का विदेशों तथा भारत में वैदिक विचारों का प्रचार। स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ तथा रामकृष्ण परमहंस ने इस दिशा में काफ़ी प्रयत्न किये। इन मनीषी महात्माओं के विचारों का सम्पूर्ण भारतीय साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा। इन्होंने केवल धर्म के क्षेत्र में ही नहीं, पर राष्ट्रीय चेतना के जागरण में समाजिक नवोत्थान में भी विशेष योग दिया। मेरा विचार है कि इन समस्त नवीन क्रियात्मक शक्तियों ने काव्य जगत् के विषयों में एक परम व्यापकता का समावेश किया। इन समस्त शक्तियों ने मिलकर काव्य की अनेक प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों में नवीनता का भी समावेश किया। अतः प्रतीको की व्यापकता में इस नवोत्थान काल का कम महत्त्व नहीं है चाहे उसमें 'प्रतीकों' का प्रयोग अधिक न हुआ हो।

अस्तु, भारतेंदुकालीन नवोत्थान युग की अवतारणा दो दिशाओं में प्राप्त होती है। एक की दृष्टि भूतकालीन गौरव की ओर थी, तो दूसरे की दृष्टि भविष्य की ओर आशा लगाए हुये थी। पूर्वी जगत् की क्रियात्मक शक्तियों का स्फुरण आध्यात्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से पूर्व तथा पश्चिम के बिचारों के मंथन के द्वारा हुआ। इन क्रियात्मक शक्तियों ने समाज को स्पष्टरूप से क्रान्तिकारी न बना कर, मौन रूप से, अपने सुधारों के द्वारा जन जीवन में 'क्रान्ति की मौन भावना' को जन्म दे रहे थे। डा० वार्ष्णेय के ये शब्द भारतेंदु-कालीन काव्य की प्रवृत्ति को साकार कर देते हैं—"भारतेंदुकालीन हिन्दी मनीषी एक बिल्कुल ही नया भवन खड़ा करने के स्थान पर, उसी प्राचीन दृढ़ नीव पर नये ज्ञान और अनुभव के प्रकाश में एक ऐसे भव्य प्रासाद का निर्माण करना चाहते थे जिसके साये में रहकर अपार भारतीय जनसमूह सुख और शांतिपूर्वक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन के ये चारों फल प्राप्त कर सकता—उन्होंने अपने नवीनतम ज्ञान और अनुभव का सम्बल लेकर भारतीय मंगल क्रान्ति के लिए शंखध्वनि की।"[१]

(ख) प्रेम-भावना के प्रतीक

भारतेंदुकालीन काव्य में (रहस्य भावना के भी) परम्परागत प्रेम-भाव

१—आधुनिक हिन्दी साहित्य, डा० वार्ष्णेय, पृ० ११०-१११।

की व्यंजना मिलती है। उस परम्परा में भी हमें यदा-कदा प्रेम के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण भी प्राप्त होता है। उन्होने अनेक प्रचलित परम्परा के प्रतीकों को अपने काव्य में यथोचित स्थान दिया है, पर एक नवीन भाव-भंगिमा के साथ।

भारततेन्दु, प्रेमघन तथा प्रतापनारायण मिश्र ने इस दिशा में विशेष प्रयत्न किये है। उनके काव्य में हमें ऐसे प्रतीकों की योजना मिल जाती है जो प्रेम-भाव को विविध संदर्भों में समक्ष रखते है। इन प्रतीकों को हम विवेचन की सुविधानुसार दो वर्गों में विभाजित कर सकते है—

(१) रहस्यवादी प्रेम-प्रतीक
(२) परम्परागत प्रेम-प्रतीक

रहस्यवादी प्रेम-प्रतीक

अधिकाश कवियों ने कुछ न कुछ स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रहस्यभावना का अवश्य संकेत किया है जिसमें परम्परा पालन भी है और नवीनता भी। भारतेन्दु के काव्य में प्रेम का एक अत्यन्त भक्तिपूर्ण रूप प्राप्त होता है जो हमें भक्तिकालीन रहस्य भावना की ओर संकेत करता है। प्रेमपरक रहस्यभावना को व्यंजित करने के लिए उन्होंने नवीन प्रतीको का एक स्वच्छन्दपरक रूप भी ग्रहण किया है, जिसमें जीवनगत रहस्यभावना का सुन्दर संकेत प्राप्त होता है—

कैसे नैया लागे मोरी पार खिवैया तोरे रूसे हो।
ओंड़ी नदिया नावरि झंझरी जाय परी मंझधार।।
देइ चुकी तन मन उतराई छोड़ि चुकी घर बार।
कहि 'हरिचन्द' चढ़ाइ नेवरिया करो दगा मति यार।।[1]

यहाँ पर किसी प्रेमिका के वचन (गोपी) अपने प्रियतम से ही कहे गए हैं। इसमें रहस्यवादी प्रवृत्ति का भी स्पष्ट संकेत होता है। जीवात्मा ही यहाँ पर नाव है, और संसार ही नदिया है जिससे वह 'पार' होना चाहती है। इस अभियान में वह 'परम प्रिय' की सहायता भी चाहती है। वह इस संसार के लौकिक सम्बन्धों को त्याग कर अपनी समस्त मानसिक प्रवृत्तियो को अपने परमप्रिय में केंद्रीभूत कर चुकी है। इसी से 'वह एक चतुर नाविक (प्रिय)

१—भारतेदु ग्रथावली, प्रेम तरंग, पृ० १८०।७ तथा इसी भाव का एक अन्य पद, पृ० ५६०।५३।

की अपेक्षा रखती है जो उसे इस गहरी नदिया से पार उतार सके। एक गोपी के वचन कृष्ण के प्रति हैं—

चतुर केवटवा लाओ नैया
साँझ भई घर दूर उतरनो।
नदिया गहिरी मेरो जिय डरपै,
अब मैं तेरी लेहु' बलैया।[1]

भारतेन्दुजी ने प्रेम की इस रहस्यात्मक अनुभूति को उपर्युक्त प्रतीकों के द्वारा व्यंजित किया है जो एक नवीन 'दृष्टि' का परिचायक है। इसमें 'आराध्य' के प्रति एक निकटतम संबंध की अवतारणा है जो प्रेम भाव पर आश्रित है। जगत् के अंतराल से इस प्रेम रूपी 'मानिक' को प्राप्त करना ही साधक का ध्येय होता है। वह अमूल्य 'मणि' इस संसार के द्वारा ही अनुभव होती है। उसे परखने के लिए एक ऐसे पात्र (जौहरी) की अपेक्षा होती है जो उस 'मणि' का ठीक मूल्याकन कर सके। प्रेमघन जी ने इसी भाव को इस प्रकार व्यंजित किया है—

ढूँढ़ जगत को पाया कैसे उसे प्रगटाऊँ।
बिन परखैया चतुर जौहरी किसको उसे दिखाऊँ॥
यह अमोल मानिक बिन मोलहिं मूढ़न संग गँवाऊँ।
कहो प्रेमघन प्रेम कहानी कैसे किसे सुनाऊँ॥[2]

प्रेम की यह दिव्यानुभूतिक हो जाने पर साधक को यह व्यक्त रूप-राशि नितान्त तुच्छ लगती है। वह प्रेम की दिव्य भावना के कारण केवल 'प्रिय' का ही 'रूप' इस व्यक्त रूपराशि के अंतराल में देखना चाहता है। श्री प्रतापनारायण मिश्र के शब्दों में—

जब से देखा प्रियवर! मुख चंद्र तुम्हारा।
संसार तुच्छ जँचता है हमको सारा॥
आहा! यह अनुपम रूप जगत से न्यारा।
संसार तुच्छ जँचता है हम को सारा॥[3]

जब 'प्रियवर' की अनुभूति से यह संसार तुच्छ लगने लगता है और केवल

१—वही, प्रेमतरंग, पृ० १६२।७०।
२—प्रेमघन सर्वस्व, भाग प्रथम, पृ० १८६।
३—मन की लहर, द्वारा प्रतापनारायण मिश्र, पृ० ११।१।

मात्र 'प्रिय' की अनुभूति रह जाती है, तब प्रेमी तथा प्रेमपात्र में अभेद हो जाता है। दोनों की सीमाएँ एक दूसरे से मिल जाती हैं। दार्शनिक शब्दावली में आत्मा और परमात्मा में अद्वैत दृष्टि आ जाती है।

इन रहस्यवादी प्रतीकों के अतिरिक्त दाम्पत्य प्रतीकों में भी रहस्यभावना के दर्शन हो जाते हैं। दाम्पत्य भाव पर आश्रित प्रतीकों का संकेत भारतेन्दु में अत्यन्त स्पष्ट ध्वनित होता है। उन्होंने इस दिशा में भक्तिपरक रहस्य-भावना का सुन्दर परिचय दिया है।

साधिका नारी मूलतः यहाँ पर गोपी ही है जिसके द्वारा भक्तिपरक रहस्य-भावना की सृष्टि की गई है। नारी-साधिका जब साधना पथ पर अग्रसर होती है तब सबसे प्रथम वस्तु जो उसे पथ पर अग्रसर होने का साहस प्रदान करती है, वह है विश्वास तथा अंतर्दृष्टि। चारों तरफ सूनापन व्याप्त है और जीवात्मा नितान्त अकेली है। उसे परम विश्वास है कि उसके 'प्यारे' अवश्य आयेंगे अर्थात् उसके हृदय में अपने आराध्य की अनुभूति अवश्य जाग्रत होगी—

> रिमझिम बरसत मेह भींजति मैं तेरे कारन।
> खरी अकेली राह देखि रही सूनों लागत गेह।
> आय मिलौ गर लगौ पियारे तपत काम सो देह॥
> हरीचन्द तुम बिनु अति व्याकुल लाग्यौ कठिन सनेह॥[1]

प्रिय द्वार पर है, और ऐसे समय में बिना 'अलख' को जगाये उसका साक्षात्कार कैसे हो सकता है—

> जोगनिया बन आई रे
> लाडिली केहि कारन। टेक॥
> सुन्दर कान बदन सुन्दर लट काली लटकाई रे।
> बद्रीनाथ यार द्वारहिं अलि भोरहिं अलख जगाई रे।[2]

इस विश्वास के उदय हो जाने पर, जीवात्मा साधना पथ पर अग्रसर होती है। मार्ग के अनेक संकटपूर्ण व्यवधान उसे 'प्रिय' के निकट आने नहीं देते है। सत्य में यह जीव की परीक्षा ही है जो उसके आत्मबल को बढ़ाती है। संकटों को झेलते हुए मनुष्य अपने जीवन को बल प्रदान करता है। किसी उर्दू कवि की यह उक्ति 'मुसीबतें इतनी पड़ीं मुझपे कि आसां हो गईं' साधना

१—भारतेंदु ग्रंथावली, स्फुट कविता, पृ० ८४१।४६।
२—प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग, पृ० ४५१।

पथ के लिए नितांत सत्य है। उपर्युक्त भाव को व्यंजित करने के लिए भारतेन्दु जी का यह प्रेमपूर्ण अवतरण चित्र को साकार कर देता है।

हरीचन्द अंगहूं हवाले परे रोगन के,
सोगन के भाले परे तन बल खसके
पगन में छाले परे, नाघिबे को नाले परे,
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के ॥[1]

परन्तु जीवात्मा अपने 'परम साध्य' के मिलन हेतु इन संकटों को पार कर अपनी इन्द्रियों का एक प्रकार से उन्नयन करती है। वह अपनी ज्ञानेंद्रियों (ननद) को सम्बोधित कर कहती है—

मोहि मत बरजे री चतुर ननदिया होरी खेलन जाऊँ।
फिर ये दिन सपने से ह्वैहैं पाऊँ कै ना पाऊँ ॥
ऐसो सगुन बताउ जो पिय को द्वारहिं पै गर लाऊँ।
'हरीचन्द' जनमन की प्यासी कछु तो प्यास बुझाऊँ ॥[2]

यह होरी आनन्दानुभूति की प्रतीक है जिसे प्राप्त करने के लिए 'विरहिणी' अपनी ज्ञानेन्द्रियों से प्रार्थना करती है कि ऐसा सगुन बताओ कि जिससे मैं उस आनन्द की अनुभूति को प्राप्त कर सकूँ। उस आनन्द की प्राप्ति के हेतु मैं 'घर' (शरीर या संसार) को भी त्याग दूँगी। लोक लाज को तिलांजलि दे दूँगी और इस प्रकार 'जनम का जो फल' है उसे प्राप्त करने में समर्थ हो सकूँगी।[3] आनन्द के केवल चार दिन ही किसी व्यक्ति के जीवन में आते हैं। यदि यह चार दिन भी अज्ञानान्धकार में व्यतीत हो गए और जीवात्मा अपने परमप्रिय से पूर्णरूपेण 'मिल' न सकी तो उसकी समस्त यातनाएँ, श्रम एवं प्रेम व्यर्थ हो जायेंगे। कवि के शब्दों में—

यह दिन चार बहार री, पिय सों मिलु गोरी।
फिर कित तू, कित पिय, कित फागुन यह जिय माँझ विचार।
'हरीचन्द' मति चूक समै तू करु सुख सौं तेहवार।[4]

सत्य तो यह है कि 'परमात्मा' से 'आत्मा' का एकान्त मिलन ही सत्य है

१—भारतेन्दु ग्रथावली, प्रेम माधुरी, पृ० १७० । १०४ ।
२—वही, होली, पृ० ३८२ । ५१ ।
३—वही, होली, पृ० ३८२ । ५३ ।
४—वही, मधुमुकुल, पृ० ४०० । २५ ।

जब आत्मा (जीव) समस्त सांसारिक सम्बन्धों, सखी-सहेलियों (इन्द्रियों के विषय) और यहाँ तक कि नैहर (संसार) को नितान्त त्याग देती है—

द्वारहि पै लुटि जायगी बाग औ
अतिसबाजी छिनै में जरैगी।
ह्वैहै विदा टका लै हय-हाथिहु
खाय पकाय बरात फिरैगी॥
दान दै मातु-पिता छुटिहैं,
'हरीचन्द' सखीहुँ न साथ करैगी।
गाय बजाय जुदा सब ह्वैहैं
अकेली पिया के तू पाले परैगी॥[1]

(२) परम्परा के प्रेम प्रतीक

अधिकांशतः प्रेमसम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए इस काल के कवियों ने परम्परा के प्रतीकों को ही ग्रहण किया है। इन प्रतीकों की संख्या भी बहुत कम है, क्योंकि कवियों ने अधिकतर उन्हें 'उपमान' के तौर पर ही प्रयुक्त किया है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि इस काल के कवियों के आगे 'प्रेम' का व्यापक अर्थ था जो समाज, राष्ट्र एवं जन-जीवन को भी अपने अन्दर समेटता था। फिर, दूसरी बात यह भी हो सकती है कि इनके दृष्टिकोण में केवल मात्र 'प्रेम' ही सब कुछ नहीं था अथवा केवल स्त्री-पुरुष का प्रेम ही एकमात्र काव्य का विषय नहीं था। इन्हीं कारणों से प्रेम-प्रतीकों की संख्या अत्यन्त न्यून हो गई है।

इन प्रतीकों में सबसे प्रमुख स्थान भौंरे तथा फूल का है जिसे भारतेन्दु जी ने प्रेम व्यंजना का माध्यम बनाया है। एक स्थान पर कवि ने किसी गोपी के व्यंग्यपरक भावों की व्यंजना भौंरे तथा फूल के द्वारा की है। यह योजना एक ओर प्रेम भाव के सम्बन्ध को स्पष्ट करती है, तो दूसरी ओर व्याजस्तुति के द्वारा भौंरे का मानवीकरण कृष्ण रूप (प्रेमी रूप) में करती है। व्यंग्य एवं प्रेम की मिश्रित अभिव्यंजना जितनी सुन्दरता से इस प्रतीक-योजना के द्वारा प्रकट हुई है, वह अत्यन्त हृदयग्राही है—

भौंरा रे रस के लोभी तेरो का परमान।
तू रस मस्त फिरत फूलन पर करि अपने मुख गान।

१—भारतेन्दु ग्रंथावली, बिनय-प्रेम-पचासा, पृ० ५४५। २२।

इत सों उत डोलत बौरानो किये मधुर मधु पान।
'हरीचन्द' तेरे फन्द न भूलूँ बात परी पहचान।[1]

व्यंग्यार्थ की दृष्टि से भौरे का प्रतीकत्व एक ऐसे पुरुष से भी व्यंजित होता है जो स्वार्थी प्रकृति का होता है। सन्दर्भ के अनुसार इस प्रतीक-योजना में भी किसी 'गोपी' का विदग्ध हृदय भौरे के व्याज के द्वारा एक प्रकार से कृष्ण या प्रेमपात्र की ओर ही संकेत करता है। और एक स्थान पर लोकगीत के वातावरण से युक्त भौरे को एक 'छलिया' का रूप भी प्रदान किया गया है—

दूर दूर चला जा तू भँवरवा।
आउ छली मत मेरे निअरवा।
'हरीचन्द' नाहक तू डारत प्रेम फांस अबलन के गरवा।[2]

इस प्रतीक योजना में प्रेम भाव का जो भी रूप प्राप्त होता है वह अधिकतर व्यंग्यात्मक ही है। परन्तु भारतेन्दु जी ने भौरे के द्वारा शुद्ध प्रेम भाव की भी व्यंजना की है जो स्वार्थ भाव को स्पष्ट रूप से नहीं रखता है, उसमें प्रेम सम्बन्ध का एक शुद्ध रूप ही प्राप्त होता है। ऐसा ही एक प्रेम-सम्बन्ध चम्पा और भौरे का है जिसकी सुगंध से भौरा रूपी प्रेमी उस चम्पे की ओर आकर्षित होता है। कवि के शब्दों में—

प्रेम सरोवर के लग्यो, चम्पाबन चहुँ ओर।
भंवर विलच्छन चाहिये, जो आवै या ठोर ॥[3]

इस प्रेम-सरोवर के निकट वही व्यक्ति आ सकता है जो विलक्षण हो, जिसके पास त्यागशील हृदय हो। इस प्रेम-सरोवर में दुख-सुख (कीचड़ छीला) का एक ही मूल्य है, क्योंकि प्रेम में दुख का उतना ही महत्त्व है जितना सुख का। प्रेम की विशाल भावधारा में दुख आंतरिक दृष्टि को जन्म देता है, तो सुख उसे आह्लादपूर्ण रूप में रखता है। व्यक्ति इन दुख-सुखों को पार कर, प्रेम पंथ पर अग्रसर होता है और प्रेम के शुद्ध रूप (उच्चतम) का (इनारु) अवलोकन करता है—

प्रेम सरोवर पंथ में, कीचड़ छीलर एक।
तहाँ इनारू के लगे, तट पे वृक्ष अनेक ॥[4]

१—भारतेन्दु ग्रंथावली, प्रेमतरंग, पृ० १६२। ६४ तथा पृ० ४२६ 'मधुमुकल'।

२—वही, होली, पृ० ३८३।५८।

३—वही, प्रेम सरोवर, पृ० १०४।६।

४—वही, पृ० १०४।१४।

इस प्रमुख प्रतीक योजना के अतिरिक्त अन्य परम्परा के प्रतीकों का प्रयोग यदा कदा प्राप्त होता है। इनमें भी मानवेतर प्राणियों तथा प्राकृतिक वस्तुओं की ही योजना प्राप्त होती है। प्रेमघन जी ने 'मयंक महिमा' नामक कविता में चकोर और चाँद के प्रेम सम्बन्ध के द्वारा एकनिष्ठ प्रेम भाव की व्यंजना प्रस्तुत की है—

> निज पिय मुख मंडल मधुरिमा मंजु अमीरस पीता है।
> औरों पर नहिं आँख उठाता देख उसी को जीता है ॥[1]

इसी प्रकार चक्रवाक मिथुन की जो कवि प्रसिद्ध है,[2] उसका भी एक प्रेमपरक रूप भारतेन्दु जी ने इस प्रकार व्यंजित किया है—

> कबहुँ होत नहिं भ्रम निसा, इक रस सदा प्रकास।
> चक्रवाक बिछुरत न जहँ, रमत एक रस रास ॥[3]

यहाँ पर चक्रवाक, अपरोक्ष रूप से, उस दाम्पत्य भाव का प्रतीक है जिसके जीवन में कभी भी विछोह की भ्रमनिशा नहीं होती है, सदा एकसा आनन्द ही रहता है। प्रेम की यह रीति ही है कि वहाँ मिलन भी है और बिछोह भी, त्याग भी है, वलिदान भी। प्रेमघन जी ने एक स्थान पर ऐसे अनेक प्रतीकों की एक साथ योजना प्रस्तुत की है जो प्रेम के उपर्युक्त रूप को व्यंजित करते हैं। चिराग और परवाना, चकोर और मयंक, नाद और मृग ऐसे ही प्रतीक हैं जो प्रेम के वलिदानपरक रूप के द्योतक है—

> देखो चिराग़ पर जलता है परवाना
> निरखत मयंक निज चतुर चकोर चकराना
> नित बीन सुना कर जाते हैं मृग मारे
> सब चतुर सयाने लोग जहाँ पर हारे ॥[4]

'प्रेम' भाव ही ऐसा है जहाँ पर सबकी बुद्धि हार जाती है। इसी से, प्रेम की व्यंजना करना एक दुर्लभ कार्य है। इसी दुर्लभता को कम करने के लिए अथवा अभिव्यंजना से परे भाव को, प्रतीकों की परिधि में बाँध कर ही व्यंजित किया जा सकता है। किसी खंडिता नायिका के क्षोभ एवं परिताप को व्यंग्य रूप में

१—प्रेमघन सर्वस्व, भाग १, पृ० ४०३।

२—देखो रीतिकाल में, उपखंड ख में।

३—भारतेंदु ग्रंथावली, प्रेम सरोवर, पृ० १०४।१६।

४—प्रेमघन सर्वस्व, भाग १, पृ०४८१।

व्यंजित करने में 'प्रेम' के इसी भाव की अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। श्लेष वर्णन के द्वारा खंडिता ने अपने क्षोभजनित प्रेम को 'मेघ' और 'घनश्याम' में समानता प्रदर्शित कर कृष्ण के प्रतीकत्व को स्थिर किया है—

प्रात क्यों उमड़ि आये कहाँ मेरे घर छाये
ए जू घनस्याम कित रात तुम बरसे।
गरजत कहाँ कोऊ डर नहिं जैहै भागि,
झुकि झुकि कहाँ रहै चलौ अटा पर से॥
सजल लखात मानो नील पट ओढ़ि आए,
कहौ दौरे दौरे तुम आये काके घर से।
'हरीचन्द' कौन सी दामिनि संग रात रहे
हम तो तुम्हारे बिना सारी रैन तरसे॥[१]

इस छन्द में 'कित रात तुम बरसे' का अर्थ यही ध्वनित होता है कि हे कृष्ण, 'तुमने रात्रि के समय किस स्थान को रससिक्त किया। 'चलो अटा पर से' के द्वारा खंडिता ने मेघ के माध्यम से कृष्ण को चले जाने की ओर ही संकेत किया है और 'कौन सी दामिनि सग रात रहे' के द्वारा किसी अन्य स्त्री संग की सुन्दर प्रतीकात्मक व्यंजना प्रस्तुत की है।

इन प्रतीकों के द्वारा इस काल के कवियो ने एक समन्वयात्मक धरातल की ओर संकेत किया है। इन प्रतीकों की परम्परा भारतीय काव्य में इतनी अधिक पैठ गई थी कि एक भारतीय कवि उससे प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता था।

(ग) तात्त्विक तथा नीतिपरक प्रतीक-योजनाएँ

प्रेमपरक रहस्यवादी प्रतीकों के विवेचन से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि उन प्रतीक योजनाओं का क्षेत्र तात्त्विक ही है, पर उसमें प्रेम-भावना का प्राबल्य होने से उनका स्वतंत्र तात्त्विक अर्थ पृष्ठभूमि में ही प्राप्त होता है। परमतत्त्व को निकटतम सम्बन्धों (तुम, प्यारे, साहब आदि) द्वारा व्यंजित करना उसे एक सापेक्षिक दृष्टि से देखना ही कहा जायगा। परन्तु, शुद्ध धारणात्मक तात्त्विक प्रतीक किसी 'वस्तु' के द्वारा तत्त्व चिंतन को एक स्वतंत्र रूप देता है जो उस धारणा को उस वस्तु में (प्रतीक) पूर्ण तदाकार कर देता है। ब्रह्म, माया, जीव और संसार के रूपों तथा धारणाओं को स्पष्ट करने के लिए जिन

१—भारतेंदु ग्रन्थावली, वर्षा विनोद, पृ० ५१८।८६।

प्रतीकों की स्वतंत्र आयोजना होती है, वे ही प्रतीक तात्त्विक सत्य के द्योतक माने जाते हैं। भारतेंदुकालीन काव्य में ऐसे प्रतीकों की संख्या भी कम है।

परमतत्व के द्योतक प्रतीको की संख्या बहुत ही कम प्राप्त होती है। फिर भी यदा कदा 'परमतत्त्व' के व्यंजनार्थ कुछ प्रतीकों का 'स्वरूप' प्राप्त होता है। कवि शकर ने एक चैतन्य शक्ति का आभास वस्तुओं (जड़) में भी अनुभव किया है जो अपरोक्ष रूप से 'परम तत्त्व' की ओर रहस्यात्मक संकेत ही कहा जा सकता है—

> **पारस की महिमा विदित, करत लोहे को सोन।**
> **चकमक पथरी मध्य कहु, अग्नि शक्ति यह कौन ?[1]**

यह 'अग्नि शक्ति' ही 'परम तत्त्व' है जिसे कवि 'कौन' के द्वारा व्यंजित करता है। ब्रह्म का यह शक्ति रूप उस समय और भी साकार हो जाता है जब उसकी सृष्टिकारिणी शक्ति को प्रकट किया जाता है। उस समय 'परमतत्त्व' एक सृष्टिकर्ता के रूप में हमारे सामने आता है। कबीर साहित्य में ऐसे सृष्टि-ब्रह्म को कुम्हार के प्रतीक द्वारा व्यंजित किया गया है,[2] उसी प्रकार की प्रवृत्ति 'ब्राह्मण' में प्रकाशित एक कविता 'वेदांत शतक' में प्राप्त होती है—

> **मृदा से रचत कुभरवा वस्तु अनेक।**
> **सबकौ अंत जो देखौ रूप है एक ॥[3]**

कुम्हार रचता तो है भिन्न भिन्न प्रकार के पिंडादि, पर उन विभिन्न प्रकारों में 'मिट्टी' की समानता रहती है। दूसरे शब्दों में, तत्त्व तो एक है पर उसके प्रकारों का विस्तार ही सत्य है। अनेकता में एकता की व्यंजना कुम्हार के प्रतीक द्वारा प्रकट होती है। 'वेदात शतक' कविता में एक अन्य स्थान पर ब्रह्म के प्रतीकत्व को प्रदर्शित करने के लिए 'प्रतिबिंबवाद' का भी आश्रय लिया गया है। जिस प्रकार एक शीशमहल में कोई 'व्यक्ति' बैठा हो तो उसका प्रति-बिंव अनेकों की संख्या में प्रतिभासित होगा, उसी प्रकार ब्रह्म का प्रतिबिंब समस्त प्राणियों (क्रत्व) में समान रूप से पड़ता प्रतीत होता है—

१—ब्राह्मण, संख्या ८, खंड ५, १५ मार्च, कविता 'जड़ में चैतन्य', पृ० २१५, सं० प्रतापनारायण मिश्र, (कानपुर १८८५)।

२—देखो अध्याय ४, उपखंड ख में तात्विक प्रतीकों में।

३—ब्राह्मण, फ़रवरी, संख्या ७, पृ० २७ पर 'वेदांत शतक' कविता।

सीसमहल में बैठे जैसे कोय।
एकै तन को अकसवा अगिनित होय ॥[१]

जायसी ने भी एक अन्य प्रतीक योजना के द्वारा इसी भाव को व्यंजित किया है जब वे सहस्र पानी भरी गगरियों में सूर्य के समान प्रतिबिंब पड़ने का उदाहरण देते हैं।[२]

इस परम तत्त्व का साक्षात्कार एक प्रकार से अज्ञान एवं माया के द्वारा नही होता है और जीव इस संसार की रूप राशि में ही भटक जाता है। वह अनेक रंगों के आवरण में फँस जाने से एक अनादि रंग 'श्वेत' की अनुभूति नहीं कर पाता है। वैज्ञानिक शब्दावली में कहे तो श्वेत रंग में ही सातों रंगों का समाहार है जो विश्लेषण (Spectrum Analysis) के द्वारा अनुभव किया जाता है। भारतेंदु जी ने इसी से एक स्थान पर नवीनतम प्रतीक 'सफेद चसमें' के द्वारा इसी तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया है—

लगाओ चसमा सबै सफेद।
तब सब ज्यौं का त्यौं सूझेगा जैसो जाको भेद।
हरी लाल पीरो और लीलो जो जो रंग लगायो।
सोइ सोइ रंग सबै कछु सूझत वासो तत्व न पायो ॥[३]

अतः संसार के सत्य रूप का अनुभव केवल अंतर्दृष्टि (सफेद चस्मे) से ही हो सकता है। जब मानव कृत्रिम दृष्टि से चराचर विश्व को न देखकर एक स्वाभाविक दृष्टि से देखेगा तभी वह संसार के अंतराल में 'एक तत्त्व' की अनुभूति कर सकेगा।

नेत्रों के ऊपर यह कृत्रिम आवरण पड़ जाने से 'सत्य' का स्वरूप हृदयंगम नहीं होता है। संसार एवं विश्व पर पड़े हुए इस आवरण का मूल स्रोत मायाजनित प्रसार ही है। यही बात 'जीवन' के लिए भी सत्य है, जो संसार की अस्थिरता एवं परिवर्तनशीलता के समकक्ष रखा जाता है। मानव जीवन और संसार के इसी तथ्य की ओर हमें अनेक प्रतीक योजनाएँ भारतेंदुकालीन काव्य में मिलती हैं। जहाँ तक व्यक्ति का सम्बन्ध है, उसके अन्दर भी मायाजनित विषय विकार घर किये रहते हैं जिसके प्रभाव में आकर जीव अपनी

१—ब्राह्मण, फ़रवरी, संख्या ७, पृ० २४ पर 'वेदांत शतक' कविता।

२—देखो अध्याय ५, उपखड 'ख' में।

३—भारतेंदु ग्रंथावली, जैन कुतूहल, पृ० १३७।१७।

अधोगति कर लेता है। इन गुप्त तत्त्वों को भारतेंदु जी ने 'चोर' की संज्ञा दी है और कहा है—

तेरी अंगिया में चोर बसैं गोरी।
इन चोरन मेरो सरबस लूट्यौ मन लीनों जोरा जोरी ॥[1]

ये विषय वासना रूपी चोर मनुष्य के अन्तर्जगत् को खोखला कर देते हैं और उसकी आत्मशक्ति को पंगु बना देते हैं।

इस प्रकार, भारतेंदु जी ने अपनी तात्त्विक मनोभूमि का परिचय उपर्युक्त प्रतीकों के द्वारा व्यंजित किया है। मानव जीवन तथा संसार की क्षणभंगुरता तथा अस्थिरता को व्यजित करने के लिए उन्होंने तथा कुछ अन्य कवियों ने अनेक सामान्य वस्तुओं को प्रतीक का रूप प्रदान किया है। प्रेमघन जी ने संसार की अस्थिरता को व्यंजित करने के लिए अनेक पतिवर्तनशील प्राकृतिक घटनाओं का सहारा लिया है और उन्हें एक प्रतीकात्मक रूप में चित्रित किया है।

रँग बदलत नित नये नये।
कहं ऋतु शिशिर हिमंत आय पतझार उजार कये।
फिर बनि विमल वसंत बात बन फूलन फल फलये ॥
शरद् चंद् दुति कभौं गिरीषम तापन तन तपये।
कबहूँ वर्षा की बहार घुमड़त घन सघन छये।[2]

कहीं पर तो दुख और विषाद (पतझर और ग्रीष्म) और कहीं सुख तथा आह्लाद (शिशिर हेमंत, वसंत) की आँखमिचौनी होती है जिससे यही व्यंजित होता है कि कवि प्रकृति के परिवर्तनशील 'रहस्य' के प्रति सचेत है। संसार तथा प्रकृति में व्याप्त इस अस्थिरता को देखकर कवि उस ईश्वर को 'निष्ठुर' तक की संज्ञा प्रदान कर देता है जो काँटों के बीच गुलाब जैसे पुष्प को उत्पन्न करता है।[3]

अतः यह संसार विचित्रता की खान है। इसको 'बनानेवाला' भी 'विचित्र' ही कहा जा सकता है। उसने सुख के साथ दुख की,प्रेम के साथ घृणा की सृष्टि की है। इसी से तो भारतेंदु जी ने इस अस्थिर संसार को एक ऐसे 'बाग' का

१—भारतेन्दु ग्रंथावली, स्फुट कविताएँ, पृ० ८४६।६६।

२—प्रेमघन सर्वस्व, भाग १, पृ० ४४७–४४८।

३—वही, भाग १, पृ० ४४६-४४७।

प्रतीक बनाया है, जिसमें बहार (सुख) के चार दिन ही रहते हैं और फिर केवल मात्र एक 'खाली बियाबां' ही शेष रह जाता है, क्योंकि उसके सब फूल (जीव जगतादि) समयानुसार मुरझा ही जाते हैं—

बागबां है चार दिन की बाग़े आलम में बहार।
फूल सब मुरझा गए खाली बियाबां रह गया ॥[१]

इस संसार में (चमन) बहार की समां भी क्या है कि उसमे भी सर्व (एक पौदा-सरो) को अपनी दुर्बलता के कारण अपने अस्तित्व को भी संदिग्धता की दृष्टि से देखना पड़ता है ! यही हाल उन निरीह प्राणियों का भी है जो अपनी दयनीय तथा निर्बल प्रकृति के कारण चमन के गुल की रफ़्तार (संसार की गति) के साथ, अपने क़दम बढ़ाने में असमर्थ रहते हैं—

देख लो रफ़्तार उस गुल की चमन में क्या सबां।
सर्व को मुश्किल क़दम आगे बढ़ाना हो गया ॥[२]

इसी प्रकार प्रतापनारायण मिश्र ने भी संसार को एक अन्य प्रतीक 'सरायफ़ानी' के द्वारा व्यंजित किया है। इसमें कुछ व्यक्ति तो आते हैं और कुछ जाते हैं—कोई भी सदा के लिये उस 'सराय' में टिकता नही है—

इस सरायफ़ानी में लाखों आते और गुज़रते हैं।
कुछ दिन पीछे लोग नहीं ज़िक्र तक उनका करते हैं ॥[३]

संसार तथा मानव जीवन की अस्थिरता एवं परिवर्तनशीलता को व्यंजित करने के लिए भारतेन्दु जी ने एक सुन्दर योजना की है। उन्होंने पक्षियों के उड़ने को जीवन की क्षणभंगुरता का प्रतीक बनाया है। आँधी को जीवन की अस्थिरता का, नौबत को मृत्यु का और जलते दिये के बुझाने को जीवन के असम्भाव्य अंत का प्रतीक बना कर उन्होंने संसार एवं मानव जीवन के 'सत्य' को समक्ष रखा है—

साँझ सबेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब इक दिन उड़ जायेंगे यह दिन चार बसेरा है।
आठ बेर नौबत बज बज कर तुझको याद दिलाती है।
जाग जाग तू देख घड़ी यह कैसी दौड़ी जाती है ॥

१—भारतेन्दु ग्रंथावली, स्फुट कविताएँ, पृ० ८४९।५।

२—वही, स्फुट कविताएँ, पृ० ८५०।६।

३—मन की लहर, प्रतापनारायण, पृ० ८।३।

आँधी चलकर इधर उधर से तुझको यह समझाती है।
चेत चेत ज़िन्दगी हवा सी उड़ी तुम्हारी जाती है॥
दिया सामने खड़ा तुम्हारी करनी पर सिर धुनता है।
इक दिन मेरी तरह बुझोगे कहता तूं नहिं सुनता है॥[1]

भारततेन्दु जी के इन सभी प्रतीकों में क्षणभंगुरता को एक उपदेशात्मक रूप में व्यंजित किया गया है। प्रेमघन जी ने भी एक अपनी कविता में पक्षियों के बसेरे लेने को जीवन की क्षणभंगुरता का प्रतीक बनाया है। इस थोड़े से जीवन काल में भी ये सब पक्षी (मानव जीवन) एक दूसरे को कटु बोल सुनाते हैं, एक दूसरे से डरते हैं और एक दूसरे को घेरे हुए हैं। चार दिन के जीवन में क्या मनुष्य की प्रकृति और इन निरीह पक्षियों की प्रकृति में समानता नहीं है? दोनों ही अपने बन्धुओं को परस्पर ग्रसित करना चाहते हैं। उन्हें कड़ुये बोल सुनाते हैं, उन्हें अनेक प्रकार से घेरते रहते हैं। अन्त में सबको एक ही भाग्य की प्राप्ति होती है। वे कड़ुये तीखे व्यवहारों को कर दिन में ही 'कूच' कर जाती हैं—उनका अस्थिर अस्तित्व ही शेष रह जाता है—

जग के दरख्त के ऊपर
घर चिड़ियों का न बसेरा है।
सब देस देस के पंछी,
अब एक ने एक को घेरा है।
एक एक के डर से डरती हैं
बोल बोल एक कड़ुई तीखी।
एक तीखी बैन सुनाय पथिक
दिन को हो गई रवाना है॥[2]

अतः इस संसार में यात्री-मनुष्य का रहना भी अनिश्चित है, वह संसार में कुछ दिन के लिए एक पथिक के समान आता है और फिर रुक कर चल देता है। यह 'आना' और 'जाना' किस शक्ति के द्वारा सम्भव होता है? मनुष्य का इस संसार से कूच करना जिस शक्ति के द्वारा सम्भव होता है, वह है मृत्यु। यहीं पर आकर मानव नामधारी प्राणी मानों उस शक्ति के सामने

१—भारतेन्दु ग्रंथावली, प्रेम प्रलाप, पृ० २९९।
२—प्रेमघन सर्वस्व, भाग १, पृ० ४४६-४४७।

नतशिर हो जाता है। मृत्यु के इस रूप को व्यंजित करने के लिए जिस प्रतीक का सहारा भारतेन्दु जी ने ग्रहण किया है, वह है डंके का बजना जो कूच का सूचक है--

डंका कूच का बज रहा मुसाफिर जागो रे भाई।
देखो लाद चले सब पंथी तुम क्यों रहे भुलाई ।।[1]

सब अपने अपने 'कर्मों' की 'लादी' अपने कधों पर रखकर कूच के डंके का अनुसरण कर रहे हैं। यह कूच का शब्द ही सत्य है जो सदा से बजता रहा है और बजता रहेगा। मृत्यु का यह प्रतीक (डंका) उसके सत्य स्वरूप का भी सूचक है, क्योंकि 'मृत्यु' और जीवन एक ही तथ्य के दो पहलू है। जीवन का अंतिम पर्यवसान मृत्यु में होता है और मृत्यु का उन्मेष जीवन की अरुण किरण में होता है। दूसरे शब्दों में, सृजन तथा नाश में जो अन्योन्य सम्बन्ध हैं, वही सम्बन्ध जीवन और मृत्यु में है। कवि के अनुसार भी जीवन के समस्त 'गुण' इसी मृत्यु रूपी 'डंके' की ध्वनि में समाहित हो जाते हैं। यह समाहार ही मृत्यु का रहस्य है जो जीवन का एक रूपातन्र (Transformation) ही माना जा सकता है। मृत्यु के इसी स्वरूप को एक अन्य प्रतीक 'चोर' के द्वारा भी व्यंजित किया गया है—

चेत चेत रे सोनेवाले सिर पर चोर खड़ा है।
सारी बैस बीत गई अब भी मद में चूर पड़ा है।।
देखु न पाप नरक में तेरा जीवन जनम सड़ा है।
'हरीचन्द' अब तो हरि पद भजु क्यों जग कीच गड़ा है ।।[2]

इस जग में जीवन के केवल चार दिन होते हैं, तो उन चार दिनों में मनुष्य को ऐसे 'कर्म' भी करने चाहिए जो उसके जीवन को समाज सापेक्ष बना सकें। यही कारण है कि मानव जीवन में परोपकार का इतना महत्त्व अनादि काल से चला आ रहा है। कवियों ने इस परोपकारी वृत्ति को प्रदर्शित करने के लिए अनेक प्रतीकों का भी प्रयोग किया है। भारतेन्दु जी ने परम्परा के एक प्रतीक 'मेघ' के द्वारा इस परोपकार भावना का साकार रूप समक्ष रखा है—

चातक को दुख दूर किया सुख दीनों सबै जग जीवन भारी।
हे घन आसिन लौ इतनो करि रीते भयेहू बड़ाई तिहारी ।।[3]

१—भारतेन्दु ग्रंथावली, विनय प्रेम पचासा, पृ० ५५१-५५२।४३।

२—वही, पृ० ५५३।४८।

३—वही, पृ० ४३९।

यही परोपकारी मनुष्य की महानता होती है कि वह अपना सर्वस्व दूसरों के लिए दान दे देता है और स्वयं 'रीता' ही रहता है। अतः कवियों ने इन सभी प्रतीकों के द्वारा न्यूनाधिक रूप में तात्त्विक संकेतों और उपदेशात्मक-प्रवृत्तियों का समन्वित रूप सामने रखा है। उपर्युक्त प्रतीक योजनाओ के प्रकाश में यह कहना अत्युक्ति न होगा कि अधिकाशतः इन प्रतीकों के द्वारा तत्त्व और नीति (उपदेश) का एक साथ निर्वाह हुआ है। प्रतीकों की आधार-शिला जीवन के कठोर सत्य पर आश्रित है। वह केवलमात्र आदर्श एवं कल्पना की उन्मुक्त उड़ान नहीं है। यथार्थ के प्रति यह आग्रह इस 'काल' की प्रमुख विशेषता है और उनके प्रतीक भी इसी यथार्थ जगत् के वाहक हैं।

(घ) सामाजिक तथा राष्ट्रीय प्रतीक

पिछले उपखंड में यह स्पष्ट हो चुका है कि तात्त्विक प्रतीकों का क्षेत्र भी यथार्थ जगत् की परिधि के अन्दर है। कवियों ने सामाजिक जीवन की दयनीय दशा पर, सम्पूर्ण राष्ट्र की अधोगति पर अपनी लेखनी उठाई और काव्य को कल्पनाप्रसूत आयामो से हटा कर यथार्थ जगत् की कठोर भूमि पर प्रतिष्ठित किया। इस महत् कार्य के लिए हमारे कवियों को उतनी स्वतन्त्रता भी नही थी कि वे खुलकर विदेशी नीति एवं विदेशी साम्राज्य के प्रति विद्रोह कर सकते। इस प्रवृत्ति को विस्तार देने के लिए उन्होंने अनेक अप्रत्यक्ष माध्यमों का आश्रय ग्रहण किया और उन माध्यमों से समाज, देश एवं राष्ट्र के प्रति अपने पुनीत कर्तव्य का परिचय दिया। मेरे विचार से भारतेन्दु-काव्य ने इस दिशा में जो भी नवीन प्रयोग किये, वे प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से काव्य के सम्मुख नवीन उपादानो का संकेत करते हैं। ऐसे विभिन्न प्रतीकों को विवेचन की सुविधानुसार निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) पौराणिक एवं ऐतिहासिक माध्यम के प्रतीक
(२) प्राकृतिक घटनाएँ तथा वस्तुएँ
(३) त्यौहार तथा पशु आदि

(१) पौराणिक तथा ऐतिहासिक माध्यमों के प्रतीक

भारतेन्दुकालीन काव्य में राष्ट्र, समाज एवं जनजीवन की दशाओं को व्यंजित करने के लिए ऐसे व्यक्तियों एवं देवी-देवताओं का आश्रय लिया गया है, जो सादृश्य के आधार पर देश की पराधीनता, विदेशी नीति एवं आन्तरिक कमज़ोरियों को सामने रख सकें। इन प्रयोगों को देखकर यह स्पष्ट

ध्वनित हो जाता है कि कवियों के मानस पटल पर देश एवं समाज की दशा का एक स्पष्ट चित्र अंकित था। दूसरी बात यह भी होती है कि कोई भी समाज और राष्ट्र अपने प्राचीन धर्म तथा संस्कृति से नीरक्षीर की तरह मिला रहता है। भारतेन्दु काल के कवियों ने इस तथ्य को हृदयंगम कर, समाज की चेतना को झकझोरने के लिए, उनके मृतप्राय जीवन को स्पंदित करने के लिए और उनकी कूपमंडूकता को दर्शित कराने के लिए, जन जीवन में व्याप्त पौराणिक तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं घटनाओं को अपने समय का वाहक बनाने का पूरा प्रयत्न किया है।

इस प्रकार की प्रवृत्ति का सुन्दर रूप हमें प्रतापनारायण मिश्र तथा भारतेन्दु आदि में प्राप्त होता है। भारतेन्दु जी ने देश की आन्तरिक 'कलह' एवं ऐसे व्यक्तियों को 'जयचन्द' का प्रतीक बनाया है जो देश प्रेम को तिलांजलि देकर केवल अपने स्वार्थ का ही ध्यान रखते हैं। कवि के शब्दों में—

काहे तू चौका लगाय जयचन्दवा।
अपने स्वारथ भूलि लुभाये,
काहे चोटी कटवा बुलाये जयचन्दवा।
अपने हाथ से अपने कुलकै
काहे तैं जड़वा कटाए जयचन्दवा॥
और नासि तैं आपो बिलाने
निज मुँह कजरी पुताय जयचन्दवा।[1]

जयचन्द के व्याज के द्वारा कवि ने मानों अपने ही समय की दयनीय दशा का प्रतीकात्मक रूप खड़ा कर दिया है। ऐतिहासिकता एवं प्रतीकात्मकता का यहाँ पर एक साथ निर्वाह हुआ है। 'चोटी-कटवा' भी अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेज़ जाति ही है जो भारतीय जीवन के रस को धीरे धीरे चूस रही है। एक अन्य स्थान पर कवि ने देश की दयनीय स्थिति एवं देश की रूढ़िपरम्पराओं के गिरते हुए रूप को 'सोमनाथ' के मन्दिर से सादृश्यता प्रदर्शित की है। यथा—

टूटे सोमनाथ के मन्दिर केहु लागै न गोहार।
दौरो दौरो हिन्दू हो सब गौरा करे पुकार।[2]

१—भारतेन्दु ग्रंथावली, वर्षा विनोद, पृ० ५०२। ४६

२—वही, वर्षा विनोद, पृ० ५०२। ५०।

स्पष्ट ही यहाँ पर 'गौरा' भारत माता की प्रतीक है जो अपने घर (भारत) को ढहता हुआ देखकर भारतवासियों से (हिन्दू) दौड़ कर आने की प्रार्थना करती है। यहाँ 'तुरुक' ही शोषित वर्ग अंग्रेज है।[१] यहाँ पर भारतमाता का दैन्य रूप ही अधिक मुखर है जिसके द्वारा कवि ने अपने अकाट्य प्रेम-भाव को व्यजित किया है। परन्तु प्रतापनारायण मिश्र में यह 'प्रेम भाव' 'व्यंग्य' के द्वारा ही सुन्दरता से व्यंजित होता है। भारत के प्रारब्ध पर राक्षसगण अपनी कालिमा का विस्तार कर रहे हैं जिससे देवगण निर्बल से लगते हैं। उनकी इस असहायता का लाभ उठा कर ये राक्षस उनकी सम्पत्ति का, उनके सुबरनपुर का, और उनके समस्त सुखों का अत्याचारपूर्ण अपहरण कर रहे हैं। स्पष्ट ही कवि ने इन राक्षसों को ब्रिटिश आतंकवाद का प्रतीक ही बनाया है—

जब लगि हरि अवतार लेत नहिं तब लगि सुरकुल निबल निकाम।
तब लगि सुबरनपुर सम्पति तुम्हरे ही आधीन तमाम॥
निज रुचि जेहि चाहौ तेहि त्रासौ सरबसु नासौ करौ अराम।
काज कहा हमरे कहिबे को हे राकसगण तृप्यन्ताम्॥[२]

इन पंक्तियों में कवि की विद्रोह भावना व्यंग्य के आवरण में पौराणिक माध्यम के द्वारा व्यक्त होती है। ब्रिटिश साम्राज्य की आर्थिक नीति को भी कवि ने व्यंग्य के द्वारा व्यंजित किया है। ऐसे शोषक वर्ग को कवि ने पिशाच की संज्ञा दी है जो भारतीय धन, धर्म एवं भाषा को एक एक रक्त-बूँद की तरह शोषण कर रहे हैं। इसी से भारतीय जीवन में, भारतीय समाज में एक 'मसान' की सी भयंकरता के दर्शन होते हैं—

ठौरहिं ठौर मसान परे हैं, भरे डरे हैं मृतक समान।
इनके शिर कन्दुक क्रीड़ा हित तुमहिं दिये शंकर सुखधाम॥
सुख सो खेलहु खाहु सजहु तन जो कछु मिलै हाड़ औ चाम।
लहौ जु एकौ बूद रकत तो बसि पिसाच कुल तृप्यन्ताम।[३]

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर कवि ने ब्रिटिश राज्य को 'वृकोदर' का प्रतीक बनाया है।[४] एक अन्य स्थान पर कवि ने भारत की निर्धनता को 'जब

१—वही, वर्षा विनोद, पृ० ५०२। ५०।

२—तृप्यन्ताम्, द्वारा प्रतापनारायण मिश्र, पृ० ७-८।२२।

३—वही, पृ० ८।२३।

४—वही, पृ० १६। ६६।

तन्दुल' के द्वारा भी प्रदर्शित किया है और अपनी सर्वस्व पूँजी की रिक्तता के द्वारा उस समय के निर्धन समाज का चित्र ही मानों खड़ा कर दिया है। यहाँ पर भी कवि ने अंग्रेज़ी सत्ता को स्पष्ट ही यक्षगण का प्रतीक बनाया है और इंग्लैंड को 'अलकापुरी' का जिसे छोड़ कर ये व्यापारी भारत की भूमि को 'पवित्र' करने के लिए पधारे हैं। निम्नांकित पंक्तियों में उपर्युक्त दशा के प्रति एक क्षोभ भरी व्यंग्यात्मक प्रवृत्ति के सुन्दर दर्शन होते हैं—

> अलकापुरी त्यागि इत आये बड़ी दया कीन्हीं परनाम।
> कछु धनपति ने दियो होय तो भोजन को कीजे इतमाम॥
> तुम्हें समर्पे कहा हमारी पूँजी में नहि एक छदाम।
> हाँ यह जल यह जब ये तन्दुल लेहु यक्षगण तृप्यन्ताम॥[1]

बालमुंकुद गुप्त जी ने भी भारत भूमि पर भूत पिशाचों के नृत्य के संकेत द्वारा विदेशी सत्ता के 'नृत्य' का ही वर्णन किया है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतापनारायण जी में देश की स्थिति के प्रति एक सचेतन अनुभव है। उन्होंने सुन्दरता से भारत की 'निर्बलता' तथा विदेशी साम्राज्य की 'कूटनीतिज्ञता' का जो संकेत किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। मेरे विचार से मिश्र जी की 'तृप्यन्ताम' एक ऐसी रचना है जिसमें अस्पष्ट रूप से, पौराणिक माध्यमों के द्वारा, भारतेन्दुकालीन भारत का एक प्रतीकात्मक संकेत प्राप्त होता है। जिस प्रकार सूफ़ियों ने कुरान पंथियों के प्रति अपने प्रतीकों के द्वारा विद्रोह का स्वर मुखर किया था,[3] उसी प्रकार मिश्र जी ने भी पौराणिक पृष्ठभूमि का सहारा ले, अपनी व्यंग्यात्मक शैली के द्वारा, भारतीय जीवन में एक 'क्रान्ति' की शंखध्वनि का सुन्दर प्रतीकात्मक निर्देश किया। अतः मिश्र जी में राजभक्ति का (विदेशी शासन) नितान्त अभाव है जो भारतेन्दु जी में यदा कदा मिल जाता है। प्रेमधन में भी राजभक्ति का संकेत मिलता है। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इन कवियों की राजभक्ति में भी असंतोष की भावना स्पष्ट रूप से ध्वनित होती है। भारतेन्दु जी की 'भारत-भिक्षा' कविता ऐसी ही है जिसमें कवि ने भारत-माता से राजकुँवर के आगमन की प्रार्थना की है। वहीं उस 'माता' की दयनीय दशा को भी समक्ष रखा है जो भारत की दशा का ही प्रतीक माना जा सकता है—

१—तृप्यन्ताम, पृ० ७। २१।

२—स्फुट कविता, बालमुकुन्द गुप्त, पृ० ३६। १२।

३—देखो अध्याय ५, उपखंड क।

सुनत सेज तजि भारत माई।
उठी तुरंतहिं जिय अकुलाई ॥
निविड़ केस दोउ कर निरुआरी।
पीत वदन की क्रांति पसारी ॥
भरे नेत्र असुवन जल धारा।
ले उसास यह वचन उचारा ॥
क्यों आवत इत नृपति कुमारा।
भारत में छायो अंधियारा ॥[१]

नेत्रो में आँसुओं का भरा होना और उसका अकुलाना भारत की दमित आत्मा का मानो अश्रुनिपात एवं अकुलाहट है जो उपर्युक्त 'मानवीकरण' के द्वारा कवि ने व्यजित किया है। आगे चलकर कवि ने पराधीनता की व्यंजना राजभक्ति के आवरण में इस प्रकार व्यंजित की है जो पिंजड़े में बन्द कीर के द्वारा साकार हो उठता है—

पालत पच्छिहु जो कुंवर, करि पिंजरनि महँ बन्द।
ताहू कहँ सुख देत नर, जामैं रहै अनन्द ॥[२]

(२) प्राकृतिक घटनाएँ तथा वस्तुएँ

पौराणिक तथा ऐतिहासिक प्रतीकात्मक संदर्भों के अतिरिक्त यदा-कदा ऐसे भी प्रतीकात्मक संदर्भ प्राप्त होते हैं जो प्रकृति की घटनाओ से और वस्तुओं से ग्रहण किये गये हैं। इन वस्तुओं के द्वारा कवियो ने देश तथा जाति की गिरी अवस्था को प्रत्यक्षतः व्यजित न कर, उसे एक प्रकार से लाक्षणिक अर्थ की परिधि में रखा है। भारतेन्दु जी ने 'वर्षा विनोद' रचना में वर्षा के समय 'कजरी' का सकेत किया है। यह कजरी उस कालिमा की, उस अज्ञान की प्रतीक है जो भारत के ऊपर आच्छादित है—

देखो भारत ऊपर कैसी छाई कजरी।
मिटि धूरि में सफेदी सब आई कजरी ॥
दुज वेद की रिचन छोड़ि गाई कजरी।
नृप गन लाज छोड़ि मुँह लाई कजरी ॥[३]

१—भारतेन्दु ग्रथावली, भारत भिक्षा, पृ० ७०७।४६-४७।

२—वही, भारत भिक्षा, पृ० ७०६।६५।

३—वही, वर्षा विनोद, पृ० ५०१।४५।

समस्त देश की सफेदी रूपी ज्ञान धारा धूल से मिलकर 'कजरी' के रूप में परिणत हो गई है। यही नहीं, ब्राह्मणों ने वेदों की ऋचाओं को त्याग इस कजरी को गाना प्रारम्भ कर दिया है। नृपों ने लाज को छोड़कर अपने मुँह पर कालिख लीप ली है, क्योंकि उन्हे देश तथा जाति का ध्यान न होकर केवल इस 'कजरी' के प्रति मोह है।

देश की इस दशा का एक अन्य रूप वसंत वर्णन के प्रसंग में भी व्यंजित होता है। प्रतापनारायण मिश्र ने एक व्यंग्यात्मक रूप से देश के ऊपर वसंत की प्रफुल्लता का संकेत कर, भौरों को आनंदित होकर रस चूसते दिखाया है। वसंत के बाद जो पीत रंग के पात होते हैं वे पतझर का संकेत देते हैं जिससे कवि ने देश एवं जाति के ऊपर पतझार के कोप की सूचना दी है—

मत पंचभूत छबि पर भुलाव।
कछु करहु भविष्यत को उपाव॥
निदरहु जनि लखि कोकिल निकार।
सुख रूप शब्द इनके उदार॥
तुमका लखि फूले नहीं समात।
चूसे तव सब रस मधुप जात॥
धन बल विद्या कहु नहिं दिखाय।
सब भाँति भई पतझार हाय॥[१]

वसंत के छबिमय मनोमोहक प्रसार पर न भूल कर भविष्य की ओर देखना ही श्रेयस्कर है। भविष्य का दूत देश की दयनीय दशा (पतझर) की ओर संकेत कर रहा है। भारतीय समाज तथा राष्ट्र की इसी दशा की ओर संकेत करने के लिए प्रेमघन जी ने एक अन्य माध्यम का आश्रय लिया है। वह माध्यम है कथा-काव्य का। कथा-काव्य के द्वारा समकालीन परिस्थितियों का चित्रांकन भारतेन्दु काल में भी प्राप्त होता है जिसका सुन्दर विकास स्वच्छंद-वादी काव्य (द्विवेदी युग) में हो सका है।[२] भारतेन्दु का 'भारत-दुर्दशा' नाटक इसी कोटि का है जिसमें भारत की समकालीन स्थिति का चित्रांकन विभिन्न प्रतीकों (मानवीकरण) के द्वारा व्यंजित होता है। परन्तु प्रेमघन जी

१—ब्राह्मण, १५ जनवरी १८८४, पृ० १२५, मिश्र जी की 'वसंत' कविता, संख्या ११ खंड १।

२—देखो आगे, अध्याय दसम।

ने 'जीर्ण-जनपद' नामक काव्य में देश की दुर्दशा की जो व्यंजना प्रस्तुत की है, वह प्रतीकात्मक ही अधिक है। इस कथा-काव्य पर गोल्डस्मिथ के 'डिज़र्टेड विलेज' का स्पष्ट प्रभाव है, परन्तु वह प्रभाव भारतीय वातावरण के अनुकूल ही अधिक है। कवि ने केवल स्फूर्ति ही ग्रहण किया है, पर जहाँ तक मौलिकता का प्रश्न है, वह कवि की अपनी कल्पना है, जो यथार्थ जीवन पर आश्रित है। यही कारण है कि कवि ने समसामयिक परिस्थितियों का, निर्धनता का एवं जन जीवन का जो चित्र इस काव्य में साकार किया है, वह देश की स्थिति का ही प्रतिरूप कहा जा सकता है। दत्तापुर गाँव एक विशिष्ट प्रतीक होते हुए भी सामान्य जन जीवन की व्यंजना करता है। स्पष्ट ही यह 'गाँव' समस्त देश का प्रतीक है। काव्य के अंत में कवि ने जो गाँव की अवनति का विश्लेषण किया है वह अप्रत्यक्ष रूप से देश एवं जाति की अवनति का ही विश्लेषण है, यथा—

रह्यो एक घर जब लौं सुख समृद्धि लखाई।
उन्नति ही सब रीति निरन्तर परी लखाई ।।[1]

इस प्रकार प्रेमघन का 'जीर्ण जनपद' देश की जीर्णावस्था का चित्र ही सम्मुख रखता है। भारतीय 'राष्ट्र' के जागरण के लिए आवश्यक है कि इस 'जीर्णता' का क्रमिक तिरोभाव हो सके। कवि तो यही चाहता है कि 'स्वदेशी' का ही प्रचार हो जिससे जाति तथा देश अपनी जीर्ण-शीर्ण दशा को सँभाल सके। यहाँ कवि पर गांधी जी के स्वदेशी आन्दोलन का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। इसी प्रभाव के द्वारा कवि ने 'चरखे' को राष्ट्रीय एवं स्वदेशी चेतना का प्रतीक बनाया है जो समष्टि रूप से आर्थिक, सामाजिक एवं स्वदेशी स्वतंत्रता का प्रतीक है—

चला चल चरखा तू दिन रात।
चलता चरख बनाता निस दिन ज्यौं ग्रीषम बरसात।
मन मन मंत्र जपा कर मन में सुन न किसी की बात।
कात कात कर सूत मैनचेस्टर को कर दे मात ।।
चलना तेरा बन्द हुआ जब से भारत में तात।
दुखी प्रजा तब से न यहाँ की अन्न पेट भर खात ।।[2]

१—प्रेमघन सर्वस्व, भाग १, 'जीर्ण जनपद', पृ० ५१-५२।

२—प्रेमघन सर्वस्व, भाग १, पृ० ६३२ पर कविता 'चरखा'।

(३) त्योहार एवं पशु—भारतीय समाज एवं राष्ट्र की दशा को व्यक्त करने के लिए भारतेन्दुकालीन कवियों ने पशुओं एवं त्योहारों को भी माध्यम बनाया है। देश की निस्सहायता, उसकी निर्बलता एवं उसके वासियों की अकर्मण्यता की व्यंजना इन 'प्रतीकों' के द्वारा सम्भव हो सकी है। भारतेन्दुकाल के कवियों ने इन प्रतीकों के द्वारा राष्ट्रीय चेतना के उस स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है जो निष्क्रियता की सीमा को स्पर्श कर रही थी। माता के दुख की उस समय सीमा नहीं रहती है जब उसके ही 'पुत्र' उसका ध्यान न देकर उसे दुख देते हैं। देश की इसी स्थिति का संकेत भारतेन्दु जी ने अपनी एक कविता 'बकरी विलाप' में किया है। बकरी के ब्याज के द्वारा उन्होंने 'भारत माता' की दीन हीन दशा को एक ओर और उसके पुत्रों की निष्क्रियता को दूसरी ओर व्यंजित किया है। बकरी एक स्थान पर कहती है—

घोर सरद सांपिनि समै, मोसो दुखिया कौन।
जाके सुत सब नासिहैं, बलिदायक अघ-मौन॥
माता को सुत सो नहीं, प्यारो जग में कोय।
ताकै परम वियोग में, क्यों न मरैं हम रोय॥[१]

परन्तु बकरी को यह प्रतीत होता है कि बल से हम 'स्वराज्य' की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं। उसके लिए तो 'अहिंसा' ही परम मार्ग है। कवि ने इस कथन के द्वारा गाँधीजी के अहिंसा रूप को देशवासियों के सामने रखा है। तभी बकरी कहती है—

सब धर्मन सों श्रेष्ठ है, परम अहिंसा धर्म।[२]

देश की दशा का प्रतीक एक अन्य पशु भी बनाया गया है और वह है गाय या पशु सामान्य। प्रतापनारायण मिश्र ने 'गाय' को भारतमाता का प्रतीक बना कर उसके द्वारा ईश्वर-प्रति यह प्रार्थना करवाई है कि उसकी दलित एवं पतित दशा को देखकर परमात्मा उसकी कातरता को न्यून करें। सम्पूर्ण कविता में एक दैन्य भाव के ही दर्शन होते हैं। मिश्र जी की उपर्युक्त कविताओं के समान इसमें व्यंग्य का पुट भी नहीं है, क्योंकि 'गाय' के द्वारा जो कुछ भी कहलाया गया है वह पतित अवस्था का ही अधिक द्योतक

१—भारतेन्दुग्रथावली, बकरी विलाप, पृ० ६६१। ६,१०।
२—वही, पृ० ६६२। २४।

है ।[1] इसी प्रकार की दीन दशा एक अन्य कविता 'पशु प्रार्थना' में प्राप्त होती है जिसमें पशु यह कहते हैं कि हमारी 'माँ' के दूध से तो अपना पेट भरते हैं और घासपात को हमारे सामने से समेट लेते हैं । इसमें स्पष्ट ही भारत के प्रति अंग्रेजों की शोषिक अर्थ नीति का संकेत है जो कवि ने अत्यन्त कुशलता से प्रकट किया है—

> दूध हमारी माय कर, भरहिं आपने पेट ।
> घास पात हम उदर हित, आगेहिं धरैं समेट ।।
> अतिशय निबल निबोल पर, छुरी चलावत हाय ।
> क्या फिर जगधर मिष्ठ बनि, दया दया चिल्लाय ।।[2]

इन कुछ पशुपरक प्रतीकों के अतिरिक्त देश की दुर्दशा एवं पराधीनता आदि को व्यंजित करने के लिए त्योहारों का भी माध्यम ग्रहण किया गया है । इन प्रसंगों में किसी विशिष्ट त्योहार के कार्यकलापों की सादृश्यता देश की दशा को भी समान रूप से व्यंजित करती चलती है । प्रतीक की दृष्टि से भारतेन्दु जी ने 'होली' को ऐसा ही माध्यम बनाया है । 'होली' को भारतीय समाज में व्याप्त 'फूट' का प्रतीक रूप प्रदान किया है । भारतीय समाज की दशा का संकेत इन पंक्तियों में मानों साकार हो उठा है, जहाँ पर भाग, अभाग और अपनी अपनी डफली अपना अपना राग का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है । ऐसा ज्ञात होता है कि कवि ने समस्त देश में अतारतम्यता एवं विचार विविधता की व्याप्ति की ओर संकेत किया है—

> भारत में मची है होरी ।
> इक ओर भाग अभाग एक दिसि, होय रही झकझोरी ।
> अपनी अपनी जय सब चाहत, होड़ परी दुहुं ओरी ।।
> दुन्द सखि बहुत बढ़ो री ।।[3]

कलह एवं विद्वेष रूपी 'दुन्द' समस्त देश पर काली 'छाया' के समान आच्छादित है । देश की दीन दशा से स्रवित जो आसूँ हैं वही मानों पिचकारी हैं जिनसे सब लोग भींज चुके हैं ।[4] वसंत में जो सुख एवं आनन्द का प्रवाह

१—ब्राह्मण, १५ जुलाई, सख्या १२, पृ० ५-६ पर 'गाय की दुहाई' कविता ।

२—ब्राह्मण १५ अगस्त, संख्या १, खंड ४, पृ० ४-५ । ५, २४ ।

३—भारतेन्दु ग्रंथावली, मधुमुकुल, पृ० ४०५ । ४७ ।

४—वही, पृ० ४०५ ।

होना चाहिए, उसके स्थान पर समस्त देश में 'पतझार' की दुखदायिनी वर्षा ही दृष्टिगत हो रही है। सब प्रजा के ऊपर 'पीलापन' का 'रंग' छाया हुआ है। स्वयं कवि के शब्दों में—

भइ पतझार तत्त्व कहुँ नाहीं, सोइ बसंत प्रगटो री।
पीरे मुख प्रजा दीन ह्वै, सोइ फूली सरसो री॥
सिसिर को अंत भयो री॥[1]

इस होरी ने देश की चेतना को, उसकी संस्कृति एवं धर्म को 'धूर' के समान कर दिया है—केवल अंधकार एवं अज्ञान ही शेष रह गया है।[2]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु जी ने होली को किस प्रकार भारतीय फूट एवं कलह का प्रतीक बनाया है। उसके द्वारा उन्होंने भारतीय समाज की अधोगति का जो चित्र अंकित किया है, वह अभूतपूर्व है—वर्णन तथा प्रतीक दोनो की दृष्टि से। जहाँ भारतेन्दु जी ने 'होली' को समाज की अधोगति का प्रतीक बनाया, वही प्रतापनारायण ने उसे प्रेम रंग का प्रतीक बनाया और उस रंग को समस्त मानव समाज पर पड़ने की प्रार्थना ईश्वर से की है।[3] प्रेम रंग से प्रत्येक मानव के हृदय पटल पर विश्वास एवं सहानुभूति के भाव विकसित हो सके, यही कवि की हार्दिक अभिलाषा है। यही उसकी एकमात्र राष्ट्रीय भावभूमि की प्रतीक भी मानी जा सकती है। भारतेन्दु-काल की यह विशेषता है कि वहाँ पर नवीन प्रतीकों का प्रयोग समाज एवं स्वदेश सापेक्ष है। इस काल के इन प्रतीकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रतीक' ऐसे संदर्भों के वाहक भी हो सकते हैं जो राष्ट्र एवं समाज की चेतना को आन्दोलित भी कर सकते हैं। भारतेन्दु-काल के प्रमुख कवियो ने प्रतीकों को द्वारा एक ऐसे क्षितिज का उद्घाटन किया है जो भविष्य का दूत बनकर हिन्दी काव्य में अवतीर्ण हुआ।

(ङ) रूप सौंदर्य के प्रतीक

पिछले उपखंडों में प्रतीकों की एक विशिष्ट नवरूपता के दर्शन होते हैं जिन्हें कवियों ने अपनी भावाभिव्यंजना का माध्यम बनाया है। ऐसी नवरूपता

१—भारतेंदु ग्रंथावली, पृ० ४०५।

२—वही, पृ० ४०७। ४७।

३—ब्राह्मण, १५ मार्च, संख्या ८, खंड ५, पृ० ४।१७ कविता 'होलिका पचीसी', द्वारा प्रतापनारायण मिश्र।

हमें रूप सौंदर्य के प्रतीकों में प्राप्त नहीं होती है। अधिकांशतः कवियों ने जो थोड़े बहुत प्रतीकों का निर्वाचन किया है, वे सब रूढ़ि परम्परा के ही प्रतीकगत उपमान हैं। सौंदर्य-वर्णन के प्रतीको का जो विशिष्ट अभाव दृष्टिगत होता है, वह कवियों की उस मनोवृत्ति का फल ज्ञात होता है जो परम्परा के प्रति एक स्पष्ट विद्रोह भावना को प्रश्रय देता है। फिर, कवियों के सामने समाज, राष्ट्र एवं अनेक ऐसे अन्य विषयो के नूतन आयाम थे जिन पर उनकी दृष्टि जमी हुई थी। वे केवल मात्र नारी के सौंदर्य की भाव-भंगिमा में अपने को बाँधकर नहीं रखना चाहते थे। इन्हीं सब कारणों से रूपगत प्रतीकों का एक विशिष्ट अभाव दृष्टिगत होता है।

सौंदर्य प्रतीकों का परम्परागत रूप क़रीब क़रीब सभी कवियों में प्राप्त होता है। वह भी बहुत ही कम। उपमानों को संख्या (रूपक, उत्प्रेक्षा आदि) कहीं अधिक है। उदाहरणस्वरूप भारतेन्दुजी ने केवल एक स्थान पर प्रतीकों का प्रयोग रूप-सौंदर्य के व्यंजनार्थ किया है, वह भी परम्परागत, यथा—

निरखति नन्दकुमार सखिन की दीठि बचाये।
एक पंथ द्वै काज करति मुख अलक छिपाये॥
छिप्यो चन्द 'हरिचन्द' सघन घन देह लुकंजन।
तहं सोहै उडुगन निरखत करि ढिग जुग कंजन॥[1]

यहाँ पर कवि ने प्रतीकों के द्वारा नायिका को गुप्त रूप से कृष्ण की ओर देखते हुए चित्रित किया है। 'चन्द' मुख का प्रतीक है जो काले बालों (सघन घन) के मध्य छिप गया है और इन्ही की ओट से दो आँखें (पलक उडगन) कृष्ण की ओर अपने दो हाथो (जुग कंज) को समीप कर एकटक देख रहीं हैं। इसी प्रकार प्रेमघन जी ने भी परम्परा का आश्रय लेकर एक नारी के सौंदर्य चित्र (अंगों) का सकेत इस प्रकार किया है जो रूपकातिशयोक्ति का ही उदाहरण है—

खम्भ खरे कदली के जुरे जुग
जाहि चितै चित जात लुभाई।
हेम पतौअन सों लदि कै
लतिका इक फैल रही छवि छाई॥

१—भारतेन्दु ग्रथावली, सतसई सिंगार, पृ० ३५०। ६२।

देखियै तो घन प्रेम नहीं पै,
खिले जुग कंज प्रसून सुहाई।
है फल विम्ब में दाड़िम बीज
दई यह कैसी अपूरबताई ॥[1]

उपर्युक्त कवित्त में कदली के दो खम्भ नारी की दो जंघाएँ हैं और लतिका पूरे शरीर की द्योतिका है। इसके अतिरिक्त अन्य परम्परा के प्रतीक कंज, बिम्ब तथा दाड़िम बीज हैं जो क्रमशः नेत्रों, दो अधर तथा दंत-पंक्ति के प्रतीक माने गए हैं। इस प्रयोग में भी कोई नवीनता नहीं ज्ञात होती है। यही बात कवि हरिशंकर के इस रूपकातिशयोक्ति अलंकार में भी द्रष्टव्य है—

केहरि पै सरिता लसै, है नागिन तेहि तीर।
दब्यो चहति गिर भार तें, राखि लेव जदुबीर ॥[2]

इस वर्णन में कवि ने केहरि को ' :क' का प्रतीक बना कर उस पर सम्पूर्ण ऊपरी शरीर को 'सरिता' की संज्ञा प्रदान की है जिसके आस-पास नागिन (केश) सुशोभित है।

निष्कर्ष—अस्तु, उपर्युक्त सभी प्रतीकों के विवेचन से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि कवियों ने परम्परा-पालन एवं नवीनता पालन—इन दोनों प्रवृत्तियों का समन्वय ही अपनी प्रतीक-योजनाओं में सहेतु किया है। इन कवियों ने यथार्थ जीवन एवं जगत् को भी अपने काव्य में एक विशिष्ट स्थान दिया है जिसके फलस्वरूप उन्होंने देशप्रेम पर आश्रित अनेक नवीन प्रतीकों का चयन किया है। नवीन चेतना का जो स्पंदन उनके प्रतीकों में प्राप्त होता है वह यथार्थ भावना का ही अधिक पोषक है। उनकी प्रवृत्ति, जहाँ तक उस प्रवृत्ति विशेष के प्रतीकों का प्रश्न है, प्रेम तथा सौंदर्य-भाव पर कम ही टिकी है। यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो एक अंतर्दृष्टियुक्त कवि, सौंदर्य के दोनों पक्षों—कलुषित तथा सुन्दर—का समान संकेत करता है। फिर आधुनिक जनजीवन के विशाल प्रांगण में, जहाँ द्वेष, निर्धनता, अत्याचार, जातीय विडम्बना और अनेक अंधविश्वासों का अबाध नृत्य नित्यप्रति हो रहा हो, तो कवि, उस समाज का प्राणी होने के नाते, कैसे अपने दामन को उस कलुषित जीवन से बचा सकता है ! हमारे कवियों ने कभी भी अपने दामन को इस कलुषित

१—प्रेमघन सर्वस्व भाग १, पृ० २११-२१२।
२—ब्राह्मण, संख्या ६, खंड ८, पृ० १४।१।

सौंदर्य से बचाने का प्रयत्न नहीं किया अपितु अपने प्रतीकों के द्वारा उस तथ्य का काव्यात्मक रूप ही जनसाधारण के सामने रखा है। इस दृष्टि से भारतेन्दु काव्य को 'जन काव्य' कहा जा सकता है। इस काव्य में जन-प्रतीकों की सबल परम्परा का सूत्रपात होता है जो काव्य में यथार्थवाद को जन्म दे सकने में समर्थ हुआ। इसी बिन्दु पर भारतेन्दु काव्य की महानता है और उनके प्रतीको का स्थायित्व भी।

भारतेन्दु काल में प्रकृति पदार्थों तथा वस्तुओं का स्वतंत्र प्रतीकत्व न्यून है। तो भी ये काव्य की रूपात्मक क्राति के अग्रदूत कहे जा सकते हैं। प्रकृति वस्तुओं के प्रति एक स्वतंत्र दृष्टिकोण का जो भी परिचय इस काल में प्राप्त होता है, वह प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। आधुनिक 'प्रतीकवाद' की एक अस्पष्ट आधारशिला इस प्रवृत्ति के अंत-राल में व्याप्त प्रतीत होती है।

भारतेन्दुकालीन रहस्य प्रतीकों के बारे में यह कहा जा सकता है कि उनका परम्परागत रूप ही सामान्यत: प्राप्त होता है। उसमें किसी प्रकार की नवीनता के दर्शन नहीं होते है। प्रणय-प्रतीकों की योजना एक सामान्य भावभूमि को ही रखती है। साथ ही रहस्य भावना पर सूफी प्रभाव भी दृष्टिगत होता है, जो अनेक सूफ़ी प्रतीकों के प्रयोग द्वारा स्पष्ट ध्वनित होता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि कवियों ने भक्ति एवं सूफी प्रेमपंथ का समन्वय अपने दाम्पत्य प्रतीकों में सफलता से किया है। समष्टि रूप से यही कहना उपयुक्त होगा कि सूफी प्रेम धारा का रहस्यात्मक स्वरूप भारतेन्दु काल में सुरक्षित था। कहीं कहीं पर उसमें ऐन्द्रियता का पुट अधिक हो जाने से उसका तात्त्विक रूप पृष्ठभूमि में चला जाता है। प्रतापनारायण मिश्र में यह प्रवृत्ति कुछ अधिक है, पर भारतेन्दु जी में अपेक्षाकृत कम।

इस प्रकार, भारतेन्दु काल में जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण का स्पष्ट आग्रह है। इसी से इस काव्य को यथार्थ जीवन का काव्य भी कह सकते हैं। उनका जीवन-दर्शन आदर्शोन्मुख यथार्थवाद पर आश्रित है, और उनके प्रतीक भी इसी भावभूमि को स्पष्ट करते हैं।

दशम अध्याय

स्वच्छन्दवादी काव्य में प्रतीक योजना

(क) पृष्ठभूमि

भारतेन्दुकालीन प्रतीक योजनाओं में नवयुग तथा नवीन प्रयोगों का जो सिंहावलोकन प्रारम्भ हुआ था, उसका एक प्रकार से विकास ही स्वच्छन्दवादी काव्य में प्राप्त होता है। इस नवीन मानसिक अभिनय में परम्परा तथा रूढ़ियों का प्रयोग भी नवीन 'चेतना' के स्पंदन से अधिक अर्थगर्भित रूप में सामने आता है। इस अर्थविस्तार में नव मूल्यो तथा नव आदर्शों का एक विशिष्ट स्थान है। इन सब नवीन तत्वों के समाहार से प्रतीको के सृजन में एक प्रकार की 'गति' आ जाना स्वाभाविक था। ज्ञान की वृद्धि को भाषा में बाँधने के लिए प्रतीकों के नवीन सृजन की आवश्यकता एक मानसिक एवं बौद्धिक सत्य है।[१] इसी सत्य के दर्शन आलोच्यकालीन कविता में प्राप्त होते हैं।

परम्परा का रूप और प्रतीक

इस काल में परम्परा का पालन कवियों के मानसिक लोक को संकुचित नहीं कर रहा था, पर उनकी चेतना को अधिक विस्तृत भावभूमि का वाहक बना रहा था। प्रतीक की दृष्टि से और उनके अनेक रूढ़ि प्रयोगों के आधार पर यह तथ्य भासित होता है कि कवि-परिपाटी तथा अनेक रूढ़ि-प्रेम तथा सौंदर्य प्रतीकों का स्थान इस काल में भी रहा है। प्रकरण के प्रकाश में अनेक प्रतीको का भाग्य-निर्णय काव्य के विविध रूपों के साथ भी होता हुआ प्रतीत होता है। इस काल की एक मुख्य प्रवृत्ति, महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण, भाषा तथा काव्य रूपों के शुद्धतम एवं विविध प्रयोगों में लक्षित होती है। भाषा के इस परिमार्जित रूप के कारण शब्द-प्रतीकों को भी

१—ज्ञान तथा प्रतीक के लिए दे० अध्याय द्वितीय, भाषागत प्रतीकवादी दर्शन।

एक शुद्धतम रूप दिया गया। यही कारण है कि इस काल में जहाँ एक ओर इतिवृत्तात्मक स्वरूप के दर्शन होते हैं जिनमें भाषा का एक सुसंगठित एवं संस्कृत गर्भित पदावलियों का विकास प्राप्त होता है, वहीं शब्द-शक्तियों की भी उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त होती है। प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से इस काव्य में व्यंजना एवं लक्षणा शक्तियों का वह रूप प्राप्त होता है जो काव्य भाषा के अनेक शब्दों को नवीन अर्थ प्रदान करता है। मुकुटधर पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त, जयशङ्कर प्रसाद में इस प्रवृत्ति के स्पष्ट दर्शन प्राप्त होते हैं। स्वच्छन्दवादी काव्य में हमारे प्राचीनतम शब्द-विज्ञान का नवीन संदर्भ के प्रकाश में पुनर्स्थापन किया गया है। प्रतीक का अर्थविस्तार इसी व्यञ्जना शक्ति पर (Suggestiveness) आश्रित होता है।[1] अतः डा० श्री कृष्ण लाल का यह कथन कुछ सीमा तक ठीक है कि स्वच्छन्दवादी काव्य में रस और अलंकार के स्थान पर ध्वनि तथा व्यञ्जना की मान्यता प्राप्त होती है।[2] यह ठीक है कि 'रस' की वहाँ पर न्यूनता हो, पर यह निष्पक्ष रूप से नहीं कहा जा सकता है कि इस काव्य में रस का अभाव प्राप्त होता है। सत्य तो यह है कि अनेक कवियों ने प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के द्वारा रसोद्रेक भी किया है और शब्द की ध्वन्यात्मक शक्ति की भी अभिवृद्धि की है। मेरे विचार से यदि यह कहा जाय कि इस काव्य में रसात्मक ध्वनि का विकास अपनी आरम्भिक दशा में प्राप्त होता है, तो अत्युक्ति न होगी।

स्वच्छन्दवादी काव्य में राजनीतिक एवं सामाजिक कुरीतियों एवं साम्राज्य-वादी शक्ति के प्रति एक असंतोष की भावना अन्योक्तियों के द्वारा हमारे सामने प्रकट होती है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति भारतेन्दुकालीन कविता में भी प्राप्त होती है। इस दृष्टि से, हम कह सकते हैं कि द्विवेदीयुगीन कविता में अन्योक्तियों के द्वारा सब कुछ कहा गया है।[3] उसमें क्या कहा गया है, इसे जानने के लिए एक प्रकार की अंतर्दृष्टि की अपेक्षा है जो प्रतीकात्मक अर्थ के ऊपर पड़े आवरण को धीरे से हटा सके और काव्य के सौंदर्य को, युग की माँग के

१—प्रतीक और शब्द शक्तियों के लिए दे० अध्याय ३ तथा अध्याय २ भाषागत प्रतीक दर्शन तथा काव्यात्मक प्रतीक दर्शन में।

२—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, द्वारा डा० श्री कृष्णलाल (प्रयाग—१९५२ तीसरी बार) पृ० ४०।

३—आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत, द्वारा केसरी नारायण शुक्ल, पृ० १४३ (काशी स० २००८)।

अनुसार, व्यंजित कर सके। इस प्रसंग का प्रतीकात्मक महत्त्व आगे यथास्थान विवेचित किया जायगा।

यदि विश्लेषण करके देखा जाय तो स्वच्छन्दवादी काव्य में पौराणिक प्रवृत्तियों का महत्त्व प्रतीकात्मक ही है। अलङ्कारों की शब्दावली में कहें तो अन्योक्तिपरक है। इस काल में पौराणिक काव्यों की ओर जो इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं, उसका एक मनोवैज्ञानिक कारण था। कवि का मानस लोक देश की पराधीनता एवं साम्राज्यवादी आतंकों से ग्रस्त था। उसकी अभिव्यक्ति कवि किसी न किसी माध्यम के द्वारा करना चाहता था, जो स्पष्ट रूप में ध्वनित न हो सके। इसके लिए उसने अनेक ऐसे पौराणिक कथानकों का निर्वाचन किया, जो उसकी प्राचीन परम्परा को पुनर्जीवित भी कर सके और देश की सोई हुई चेतना को एक बार झकझोर भी सके।

राम-कृष्ण रूप—पौराणिक व्यक्तियों का आग्रह भी इस काल में कम नहीं रहा है। परम्परा से गृहीत राम और कृष्ण की भावनाओं का पूर्ण प्रस्फुटन इस काल में भी प्राप्त होता है। विवेचन की सुविधानुसार मै इस काल के दो प्रमुख कवियों—श्री मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय—के काव्यों में गृहीत राम तथा कृष्ण के रूपों का विवेचन करूँगा।

श्री गुप्त जी ने राम की भावना में युग के अनुसार नवीन तत्त्वों का समन्वय किया है। गुप्त जी तथा हरिऔध जी ने ईश्वर की सत्ता समान रूप में मानी है। जहाँ मैथिलीशरण में उस सत्ता के प्रति भक्तिपरक रहस्य भावना का संकेत अधिक है, वहीं पर हरिऔध जी में बौद्धिक चेतना का कहीं अधिक आग्रह है। इसी से उन्होंने कृष्ण के चरित्र का बौद्धीकरण ही किया है। गुप्त जी ने भी राम के चरित्र को बुद्धि की तुला पर तोला तो अवश्य है, पर उनमें बुद्धि की अपेक्षा भावना तथा संवेदना का आग्रह कहीं अधिक है।

राम का आदर्श चरित्र गुप्त जी में पूर्ण अभिव्यक्ति को प्राप्त हुआ है। यहाँ पर उनकी समानता तुलसी से भी की जा सकती है जिन्होंने राम का आदर्शीकरण उनके मर्यादा रूप में चित्रित किया है। परन्तु गुप्त जी में राम का समाजीकरण है और उस समाजीकरण में राम के ब्रह्म रूप को भी सुरक्षित रखा है। स्वयं कवि ने इस भाव का समाहार इन पंक्तियों में किया है—

प्रस्थान वन की ओर,
या लोक-मन की ओर।

होकर न धन की ओर,
है राम जन की ओर।[1]

यही नहीं कवि के राम राष्ट्र नायक भी हैं जो 'व्यष्टि' को समष्टि के लिए बलिदान योग्य मानते हैं[2]—यह एक उच्च सामाजिक आदर्श है जो व्यक्ति को समाज के प्रति सचेत करता है। राम के आदर्श रूप में कवि ने एक अन्य तत्त्व का प्रतीकात्मक धारणा में समावेश किया है। वह तत्त्व है एक शान्तिपूर्ण क्रांतिकारी का जो अपरोक्ष रूप से उस समय के समाज में क्राति का ही आवाहन करता है, यथा—

सुख शान्ति हेतु मैं क्रांति मचाने आया।
विश्वासी का विश्वास बचाने आया॥[3]

यही नही, राम का अवरोहण इसलिए हुआ था कि उनके द्वारा आर्यों के आदर्श की पुनर्स्थापना हो सके[4] और मनुष्य अपने अन्दर देवत्व के गुणों का विकास कर सके।[5] अतः राम की भावना में कवि ने पौराणिकता एवं ऐतिहासिकता को सुरक्षित रखा है, तो दूसरी ओर सुप्तप्राय भारतीय जनता में उस आदर्श के द्वारा चेतना एवं क्रान्ति का बीजारोपण भी किया है। इस प्रकार गुप्त जी ने राम के चरित्र में अर्थविस्तार ही किया है और उसके प्रतीक रूप को एक व्यापक संदर्भ का वाहक बनाया है।

इसी सामाजीकरण की प्रवृत्ति का विकास कृष्ण की भावना में भी सन्निहित प्राप्त होता है। हरिऔध ने इसी कारण से कृष्ण का ही नहीं, पर कृष्ण लीलाओं का भी बौद्धीकरण कर उन्हें अधिकतर समाज सापेक्ष ही चित्रित किया है। उदाहरणस्वरूप दावानल पान को ही लीजिए। इस कृष्णलीला के तात्त्विक अर्थ को[6] कवि ने उतना महत्त्व न देकर उसे कृष्ण के ऐसे मानवीय कार्य के रूप में चित्रित किया है जो उनके सेवा भाव तथा कर्तव्य-भाव को, एक महामानव के रूप में, रखता है। कवि कृष्ण के द्वारा कहलाता है—

१—साकेत, द्वारा मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १२२ चतुर्थ सर्ग।
२—वही, पृ० २३२ अष्टम सर्ग।
३—वही, अष्टम सर्ग, पृ० २३३।
४—वही, पृ० २३३।
५—वही, पृ० २३३।
६—दे० अध्याय सप्तम, कृष्णलीलाओं का प्रतीकार्थ, उपखंड (ग)।

अतः सबों से यह श्याम ने कहा।
स्वजाति उद्धार महान धर्म है।
चलो करें पावक में प्रवेश औ'
सधेनु लेवें निज जाति को बचा।[१]

इसमें कृष्ण का वह उदात्त रूप मुखर होता है जो स्वाजाति उद्धार के हेतु अनेक महान् कार्यों को करते हैं। इसी प्रकार गोवर्द्धन-धारण लीला का सामाजिक बौद्धीकरण भी कवि ने सुन्दरता से सम्पन्न किया है। महावृष्टि से जनता को वचाने के लिए कृष्ण ने सबको गोवर्द्धन पर्वत के नीचे ले जाने का उपक्रम किया। जनता के प्रति इस अकाट्य प्रेम-भाव के कारण लोग उस 'नन्द के पुत्र' को कहने लगे कि—

सकल लोग लगे कहने उसे।
रख लिया उँगली पर श्याम ने।[२]

कृष्ण के इस महत् रूप के साथ कवि ने राधा का भी समाज सापेक्ष चित्रण किया है और उसे स्त्री जाति की शोभा[३] की संज्ञा तक प्रदान की है। कृष्ण के समान उसे भी कवि ने परदुःखकातर होते दिखाया है, यथा—

जन मन कलपाना मैं बुरा मानती हूँ।
परदुख अवलोक मैं न होती सुखी हूँ।[४]

यदि राधा स्त्री जाति की परमशोभा है तो कृष्ण भी मनुष्य जाति के रत्न हैं। कृष्ण की इस परम सेवा भाव की प्रवृत्ति के आगे सैकड़ों लालसाएँ तथा लिप्साएँ भी तुच्छ हैं, वे उन पर विजय प्राप्त कर राष्ट्र तथा देश की सेवा के लिए एक 'योगी' के समान हमारे सामने आते हैं।[५]

राम और कृष्ण के इस रूप में एक समान तत्त्व ध्वनित होता है। इस काल के कवियों ने धार्मिक आदर्शों को एक प्रकार से देश भक्ति के अर्थ में ग्रहण किया है। इस प्रकार राम, कृष्ण, अर्जुन, राणा प्रताप, चन्द्रगुप्त, आदि जितने भी आदर्श चरित्रों का स्वरूप स्वच्छन्दवादी काव्य में प्राप्त होता है, वे

१—प्रियप्रवास, द्वारा अयोध्यासिंह उपाध्याय, एकादश सर्ग, पृ० २५०।८४।
२—वही, द्वादश सर्ग, पृ० १६४। ६७।
३—वही, नवम सर्ग, पृ० १७। ११।
४—वही, चतुर्थ सर्ग, पृ० ४१। ३०।
५—प्रियप्रवास, चतुर्दश सर्ग, पृ० ११३। २२।

सब एक तरह से समाज के क्रांतिकारी एवं उग्रपथी नेताओं के प्रतीक है।[१] इस प्रकार यहाँ पर यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है कि परम्परा एवं धार्मिक क्षेत्र को किस प्रकार समाज एवं युग की मान्यता के अनुसार परिवर्तित किया जा सकता है। इस परिवर्तन में विकास की उस दशा के दर्शन होते हैं जो किसी भी आदर्श प्रतीक को मानवीय चेतना के विकास के साथ आगे बढ़ाता है।

नवीन चेतना का स्वरूप और प्रतीक

उपर्युक्त विवेचन से यह ध्वनित होता है कि स्वच्छन्दवादी काव्य में परम्पराओं का आग्रह भी नव चेतना के प्रकाश से स्पंदित है। इस नवीन ज्ञान-विज्ञान का चतुर्मुखी विकास अन्य नवीन काव्य-विषयों के समाहार में प्राप्त होता है। उसी नवीन विकास की परम्परा को इस काल के कवियों ने एक व्यापक रूप देने का प्रयत्न किया है। इस विस्तार में यथार्थ रूप का चित्रण करने के साथ साथ आदर्श की भावना को भी समान महत्त्व दिया गया है। मूलतः कवियों की वृत्ति यथार्थोन्मुख आदर्शवाद की ओर ही अधिक थी। इस यथार्थवाद का आग्रह पौराणिक कथानकों में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त मानवीय जीवन का यह यथार्थ स्वरूप अन्य क्षेत्रों में भी प्राप्त होता है। इस प्रवृत्ति के दर्शन हमें प्रकृति पर्यवेक्षण, प्रेम भाव की व्यंजना, रूप सौंदर्य और मानवतावाद के क्षेत्रों में समान रूप से प्राप्त होता है। इसके कारण प्रतीकों के चयन में एक अत्यन्त नवीनता के दर्शन होते हैं। उस समय का समाज क्रान्ति की दशा से गुजर रहा था। औद्योगिक क्राति का बीजारोपण भी हो रहा था। इस वैज्ञानिक प्रगति के अनेक स्तम्भ जैसे रेल, तार आदि भी कवि की कल्पना को नवीन अभियानों की ओर ले जा रहे थे। इसी से, स्वच्छन्दवादी काव्य में इन यांत्रिक वस्तुओं को भी प्रतीक का रूप प्रदान किया गया है।

इस नवीन बौद्धिक चेतना के कारण 'प्रेम' भाव का केवल शृंगारपरक रूप ही नहीं रह गया। अब प्रेम केवल रीतिकालीन नायक-नायिकाओं के रतिपरक अर्थ का द्योतक न होकर राष्ट्र, समाज और यहाँ तक कि समस्त मानवता को अपने विशाल बाहुओं में समेट चुका था। इस प्रकार प्रेम के अंतर्गत समाज एवं राष्ट्रप्रेम का भी समावेश कवियों ने अपने काव्य में किया

१—छायावाद युग, द्वारा शंभूनाथ सिंह, पृ० २०।

और उसकी व्यञ्जना के हेतु अनेक प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग किया है जिसका विवेचन यथास्थान होगा। यहाँ पर राष्ट्र तथा स्वदेश-प्रेम के अन्तर को हृदयङ्गम करना आवश्यक है। कवियों ने इन दो क्षेत्रों को एक दूसरे से मिलाया नहीं है। स्वदेश-प्रेम का विस्तार किसी देश की भौगोलिक अन्विति से प्रारम्भ होता है और राष्ट्रीय प्रेम का विकास वहाँ के जनसमाज के सांस्कृतिक एवं राजनीतिक एकता का आधार चाहता है। इसी के आधार पर श्री परशुराम जी चतुर्वेदी ने स्वदेश प्रेम को अधिक व्यक्तिगत भावुकता का क्षेत्र माना है, जब कि राष्ट्रीय प्रेम समस्त राष्ट्र को प्रभावित किये रहता है और उसे अधिकतर क्रियाशील भी बना देता है।[1] आलोच्यकालीन कविता में स्वदेश तथा राष्ट्र-प्रेम दोनों की अभिव्यक्ति हुई है। अनेक कवियों ने देश के अत्यधिक महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए देश का 'दैवीकरण' भी किया है और राष्ट्रीय जागरण को व्यक्त करने के लिए अनेक ओजपूर्ण रचनाएँ भी की है। इन कवियों ने समाज की दयनीय दशा को, उनकी निर्धनता को एवं सम्राज्यवादी आतंकों को भी अपने काव्य का विषय बनाया है। 'सनेही' पर इसी कारण आर्यसमाज का विशिष्ट प्रभाव पड़ा है। इस विस्तृत प्रेम-भाव को व्यक्त करने के लिए अनेक अप्रत्यक्ष माध्यमों का भी सहारा लिया गया है। कहीं पर वह धार्मिक आवरण में लिपटा रहता है, कहीं पर वह नेताओं तथा राष्ट्रनायकों के माध्यम के द्वारा व्यक्त होता है और कहीं पर वह प्रतीकों के द्वारा भी व्यंजित होता है। सम्पूर्ण रूप से हम कह सकते हैं कि 'प्रेम' का इस काल में ग्रहण जीवन के तत्त्व (Philosophy of Life) रूप में हुआ है। इसी तत्त्व-रूप को व्यंजित करने के लिए कवियों ने यदा कदा प्रतीकात्मक माध्यमों का आश्रय भी लिया है।

प्रेम का जीवन-दर्शन के रूप में उपर्युक्त ग्रहण स्वच्छन्दवादी काव्य की विशेषता है। प्रेम का तात्त्विक रूप भी इस काल में स्पष्ट हो रहा था। आधुनिक हिन्दी रहस्यवाद का सूत्रपात यहीं से होता है, जब पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन से और अपनी प्राचीन रहस्यवादी परम्परा से उद्भूत समन्वयात्मक प्रवृत्ति का आग्रह होने लगता है। इस आधुनिक रहस्यवाद में रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि का भी एक विशिष्ट प्रभाव पड़ा है। रवीन्द्रनाथ में इन दोनों प्रवृत्तियों का भारतीयकरण एक अपनी उच्चतम दशा में प्राप्त होता है। श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, बख्शी, बदरीनाथ भट्ट और प्रसाद में

१—हिन्दी काव्य धारा में प्रेमप्रवाह, द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १७९।

इस प्रवृत्ति का सुन्दर स्वरूप प्राप्त होता है। इस दृष्टि से, रहस्यवादी प्रतीकों का चयन कवियों ने सामान्य जन जीवन से तथा वस्तुओं से ग्रहण किया है जिनके द्वारा उन्होंने 'परमतत्त्व' के प्रेम संबंध की ओर संकेत किया है। दूसरी ओर उन्होंने प्रकृतिगत रहस्यवाद की भी सुन्दर अवतारणा की है। यहाँ पर सर्वात्म-दर्शन का सुन्दर विकास प्राप्त होता है। इस कारण प्रकृति के प्रति एक बौद्धिक दृष्टिकोण का उदय हुआ जिसने प्रकृतिगत रहस्यवाद को मानव चेतना का एक अभियान ही बना दिया। कवियों ने प्रकृति के अंतराल में एक अपने जैसे सचेतन को आभासित पाया, उसमें विगत कालों की तरह उस पर आध्यात्मिकता का एकमात्र आवरण नहीं चढ़ाया।[१] दूसरे शब्दों में प्रकृति के प्रति कवि का दृष्टिकोण अध्यान्तरिक (Subjective) अधिक हो गया। यही कारण है कि उनके प्रतीकों में एक 'निजत्व' का आरोपण अधिक है।

आधुनिक रहस्यवाद की एक प्रमुख विशेषता यह दृष्टिगत होती है कि उस रहस्यभावना में 'मानवता' का भी समाहार प्राप्त होता है, वह केवल मात्र आध्यात्मिक अथवा तात्त्विक ही नहीं है। स्वयं रवीन्द्रनाथ का सौंदर्यपरक रहस्यवाद दीन-दुखियों एवं मानव जाति के दुख-सुखों को भी अपने अन्दर समेटे हुए है। इस प्रकार के रहस्यवाद का बीज स्वच्छन्दवादी काव्य में भी प्राप्त होता है। आधुनिक 'रहस्यवाद' 'व्यक्तित्व-परिवर्तन' पर कहीं अधिक ज़ोर देता है। इस धरती के 'मानव' को स्वर्गीय मानव के रूप में रूपांतरित देखना चाहता है।[२] तभी तो इस प्रकार के रहस्यवाद में सृजनात्मक एवं बुद्धिपरक प्रतीकों का ही अधिक चयन होता है। इस तरह आधुनिक रहस्यवाद जीवन के यथार्थ क्षेत्र को अपने अन्दर समाहित करता हुआ व्यक्ति के आध्यात्मिक एवं मानसिक जगत् को उच्च अभियानों की ओर अग्रसर करता है। स्वच्छन्द-वादी काव्य की इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि नव-ज्ञान के क्षेत्रों का एक समन्वयात्मक रूप ही इस काल के प्रतीकों में प्राप्त होता है। उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियों के प्रकाश में सुविधानुसार हम इस काव्य की प्रतीक योजनाओं को निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) रहस्यभावना के प्रतीक,

(२) प्रेम तथा विरह भाव के प्रतीक,

१—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, द्वारा डा० श्री कृष्णलाल, पृ० ७० ।

२—मिस्टिसिज्म, द्वारा ई० अंडरहिल, पृ० १५२ ।

(३) रूप सौंदर्य के प्रतीक,
(४) राष्ट्रीय एवं सामाजिक प्रेम के प्रतीक,
(५) मानवीकरण (कुछ ही उदाहरण हैं),
(६) अन्योक्तिगत प्रतीकों की योजना,
(७) विशेष।

(ख) रहस्यवादी प्रतीक योजना

स्वच्छंदवादी काव्य में रहस्यवादी प्रतीकों का परम्परागत रूप भी प्राप्त होता है और आधुनिक भावभंगिमा के भी दर्शन होते हैं। इस दृष्टि से इस काल के मुख्य रहस्यवादी प्रतीकों को, विवेचन की सुविधानुसार, तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) प्रेमपरक रहस्यवादी प्रतीक,
(२) प्रकृतिपरक रहस्यवादी प्रतीक,
(३) परम्परागत दाम्पत्य प्रतीक, ।

(१) प्रेमपरक रहस्यवादी प्रतीक

रहस्यवाद की परम्परा भारतीय साहित्य की एक अति प्राचीन परम्परा है जिसे हम निर्गुण काव्य में भी पाते है। जिस प्रकार निर्गुण धारा में प्रियतम का रूप निराकार माना गया था, उसी प्रकार यहाँ पर भी परमतत्त्व का 'रूप' निराकार ही है। वह 'तुम', 'प्रिय', 'प्राणेश, 'वह' और 'स्वामी' आदि संबंधों के द्वारा व्यक्त हुआ है। इस अभिव्यक्तीकरण में उसके स्वरूप के प्रति आग्रह नहीं है। यही स्थिति हमें रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि में भी प्राप्त होती है जहाँ पर उनका प्रिय, स्वामी, 'वह' आदि निराकार होते हुए भी मानवीय सम्बन्धों के माधुर्यपूर्ण रूप में प्रकट होता है। श्री मैथिलीशरण भी पूर्ण रूप से रवीन्द्र से प्रभावित तो अवश्य हैं, पर उनका भक्तिपरक दृष्टिकोण कभी-कभी 'राम' के माध्यम से रहस्यात्मक सम्बन्ध की ओर संकेत करता है।

अपने साध्य से एकात्म भाव की अकाट्य लालसा ही साधक को प्रेमजनित आवेगो की ओर आकृष्ट करती है। वह अपने अन्दर 'प्रकाश' का भी अनुभव करता है। ऐसी दशा में 'भेद' का प्रश्न ही नहीं रह जाता है, केवल मिलनेच्छा से उद्भूत सुख की भावी ललसामात्र रह जाती है। हृदय के समस्त तार अनेक इतर रागों का सृजन न कर, केवल एक राग—मिलन राग—की

झंकार का सृजन करता है। श्री रूपनारायण पांडेय के शब्दों में इसी भाव का सुन्दर प्रतीकात्मक रूप प्राप्त होता है—

> उस प्रियतम से जा मिला, होकर एकाकार।
> यह उसमें है और वह, इसका है आधार॥
> हृत्तंत्री को छेड़ मन, गावे तज खटराग।
> वह मेरा है और मैं, उसका हूँ यह राग॥[1]

इसी प्रकार, श्री मैथिलीशरण गुप्त जी अपने हृदय के तार तार में 'उसकी' विभूति (तान) का विस्तार चाहते हैं—

> मेरे तार तार में तेरी तान तान का हो विस्तार।
> अपनी अँगुली के धक्कों से खोल अखिल श्रुतियों के द्वार॥[2]

इसी भाव के एक गीत की पंक्ति रवीन्द्रनाथ की भी है जिसमे उन्होंने 'उसके' हर्ष को अपने अन्दर व्याप्त पाया है—'तेरा आनन्द मेरे हृदय में परिपूर्ण है, इसीसे तू मेरे समीप आ गया है। ओ समस्त स्वर्गों के स्वामी, अगर मैं न हूँगा तो तुम्हारे प्रेम का क्या मूल्य होगा ?"[3]

आधुनिक रहस्यवाद की यह प्रमुख विशेषता है कि वहाँ पर रहस्यात्मक प्रेम व्यक्त माध्यम के प्रति होते हुए भी अव्यक्त ही रहता है। प्रसाद ने ऐसे ही रहस्यवादी प्रतीक प्राण तथा प्राणाधार के द्वारा समस्त भौतिक इंद्रियों, हृदतंत्री (वीणा) के तारो में एक सामरस्य की स्थापना की है—

> इंद्रियाँ दासी सदृश अपनी जगह पर स्तब्ध हैं,
> मिल रहा गृहपति सदृश यह प्राण प्राणाधार से।[4]

साधक का यह 'त्याग' उसकी मानसिक वृत्तियों को परमाराध्य में एकाकार ही नहीं कर देता है, पर उस एकाकारिता में वह अपना निजत्व भी ढूँढ़ता

१—सरस्वती, सितम्बर १९१२ में भक्त की भावना, द्वारा रूपनारायण पांडेय, पृ० ४०१

२—झंकार, द्वारा मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ८-९, (झांसी २००७ वि०)।

३—"Thus it is that Thy joy in me is so full.
Thus it is that Thou hast come down to me. O Thou Lord of all heavens, where would be Thy love if I were not."
कलक्टेड प्योम्स एंड प्लेज आफ़ रवीन्द्रनाथ, गीतांजलि, पृ० २८, लंदन, १९५०।

४—कानन कुसुम, मकरंद बिंदु कविता, द्वारा जयशंकर प्रसाद, पृ० ९३।

है। आत्मसमर्पण की यह पराकाष्ठा उस समय स्पष्ट हो जाती है, जब वह प्रत्येक वस्तु को अपने आराध्य के चरणों में न्योछावर कर देता है। अन्त में 'उस' आराध्य से पूछता है—

दूँगा सब मैं न्यारे न्यारे।
कुछ भी पास न रखूँगा मैं, तभी त्याग फल चक्खूँगा मैं।
बतला दो संकोच छोड़कर, 'तुम' किसमें प्रसन्न होगे?
मुझसे अपने को लोगे तुम, अथवा मुझको ही लोगे?[1]

कितना अधिक आत्म-समर्पण का भाव साकार हो उठा है। साधक के पास 'परम तत्त्व' की विभूति है जिसे वह 'उसे' दान देने की बात भी कहता है। निजी और निकटतम सम्बन्ध का यह सुन्दर रहस्यात्मक उदाहरण है जहाँ 'मैं' व 'तुम' एक होते हुए भी अपनी निजता में स्वतंत्र भी हैं। यह स्वतंत्रता सापेक्षिक है, निरपेक्ष नहीं। यह सम्बन्ध है जिसे कवि ने एक अन्य स्थान पर 'राम' के द्वारा भी व्यक्त किया है। मैथिलीशरण की भक्तिभावना ने यहाँ साकार के द्वारा निराकार की सुन्दर उद्भावना की है—

रमा है सबमें राम।
हुआ एक होकर अनेक वह, हम अनेक से एक।
वह हम बना और हम वह यों, अहा! अपूर्व विवेक।
भेद का रहे न नाम।
रमा है सबमें राम॥[2]

आत्मा और परमात्मा का एकांत मिलन रहस्यवाद की एक आवश्यक स्थिति मानी गई है। जब साधक परमात्मा के निकट पहुँचता है तब उसे एक प्रकार की लज्जा आती है। वह अपने 'नाथ' के निकट भीड़ लगी देखता है और उस भीड़ के छट जाने पर एकांत में ही अपने 'आराध्य' से मिलने की इच्छा करता है। मुकुटधर ने इसी भाव को एक प्रतीकात्मक रूप से इस प्रकार रखा है—

होने में तव सम्मुख आज, नाथ सताती मुझको लाज।
प्रांगण में है हुई जनों की भीड़ अपार।
भरा शंख रव से नभ का है हृदयागार॥

१—सरस्वती, कविता यथेष्ट दान, द्वारा मैथिलीशरण गुप्त, जनवरी १९१८, संख्या १, पृ० ३५-३६।

२—झंकार, द्वारा मैथिलीशरण गुप्त, पृ० २०।

सजता है पूजा का साज।
नाथ सताती मुझको लाज।
शून्य कक्ष में अथवा कोने में ही एक,
करूँ तुम्हारा बैठ यहाँ नीरव अभिषेक
सुनो न तुम भी वह आवाज।
नाथ सताती मुझको लाज ॥[1]

प्रतीक-योजना की दृष्टि से प्रांगण संसार का प्रतीक है और यह पूजा का साज अनेक वाह्य अनुष्ठान हैं जिसमें फँस कर जीवात्मा भ्रम में पड़ जाती है। और जब ये बाह्य आडम्बर समाप्त हो जाते हैं तो ईश्वर की अनुभूति हृदय के एक कोने में ही हो जाती है। अनुभूति प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं और इन अनेक मार्गों (साधना पद्धतियों) को देखकर साधक एक बार विभ्रमित होकर कह ही उठता है—

तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किससे होकर आऊँ मैं।
सब द्वारों पर भीड़ मची है,
कैसे भीतर जाऊँ मैं।[2]

सत्य तो यह है कि उच्च ध्येय तक पहुँचने के लिए व्यक्ति को संकटों आदि का सामना करना ही पड़ता है। साधना पथ के संकटों एवं प्रलोभनों की आयोजना अनेक प्रतीकों के द्वारा सूफी तथा संत काव्यों में (भक्ति काव्य में भी) प्राप्त होता है। उस प्रकार का साधनापरक रूप स्वच्छन्दवादी काव्य में प्राप्त नहीं होता है। इसका कारण यही है कि इस काल के कवियों में अपने तथा अपने आराध्य के मध्य एक भावात्मक तथा कुछ सीमा तक बौद्धिक सम्बन्ध ही था। यही कारण है कि सूफ़ी तथा संत काव्य के रहस्य-प्रतीकों में और आधुनिक प्रतीकों में रूप और तत्त्व का एक विशिष्ट अंतर है। इसका यह अर्थ नही कि इस काल के कवियों में साधना पथ में आनेवाले प्रलोभनों और संकटों की नितान्त न्यूनता है। उन संकटों का रूप विशिष्ट न होकर सामान्य ही है। इन संकटों की एक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति उपर्युक्त उदाहरणों में भी प्राप्त होती है जहाँ अनेक मार्गों की, भीड़ों की और द्वारपालों की योजना यही तथ्य प्रकट करती है। इसके अतिरिक्त संकटों की एक समष्टि

१—सरस्वती, अप्रैल १९२० संख्या ४, लज्जामस्त कविता, पृ० २२५।

२—झंकार, कविता स्वयमागत, मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १०८।

योजना गुप्त जी ने, एक अत्यन्त रहस्यवादी विधि से, इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

जो मुझसे हो सका, किया,
आगे पीछे, दायें बाँयें, छेड़ रही हैं सौ छायायें
नीचे वे विलीन हो जायें,
कर दो ऊँचा ठौर ठिया ।
जो मुझसे हो सका, किया ।[1]

साधक ने प्रेम रूप दीपक को तो प्रज्वलित कर दिया और उस दीपक को लेकर साधना-पथ पर अग्रसर हुआ । तब संसार में उसे चारों ओर से अनेक मृग-मरीचिकाएँ, प्रलोभनादि (छायाएँ) ने घेर लिया । इन्हीं बाह्य आकर्षणों एवं विषयों से परमात्मा पास आकर भी दूर चला जाता है । उसकी 'आहट' को जीव हृदयंगम नहीं कर पाता है, पहचान नहीं पाता है । 'उसका' निवास तो 'हृदय' में है, जहाँ 'वह' बार बार आता है, पर 'जीवात्मा' उसे पहचान नहीं पाती है । निदान 'जीवात्मा' उसे तब पहचानती है जब 'वह' चला जाता है, और उसके चले जाने पर 'वह' पश्चात्ताप भी करती है, पर सब व्यर्थ-

अब जो मै पहचानूँ तुझको
तो तू भूल गया है मुझको
मैं हूँ—जिसने तुझे भुलाया
बार बार तू आया
पर मैंने पहचान न पाया ।[2]

'उसका' यह आना और चला जाना साधक के अज्ञानान्धकार का ही कारण है । रवीन्द्रनाथ ने भी इसी भाव को एक अन्य प्रतीक योजना के द्वारा व्यंजित किया है, जहाँ निद्रा अज्ञान की प्रतीक है—

'वह आये और मेरे पार्श्व में बैठ गये, पर मेरी निद्रा नहीं टूटी । आह ! यह कैसी निष्ठुर निद्रा थी' ।[3]

१—झंकार, मैथिलीशरण गुप्त, कविता 'यथाशक्ति', पृ० १४७ ।

२—झंकार, मैथिलीशरण, कविता 'परिचय', पृ० १११ ।

३—He came and sat by my side but I woke not. What a cursed sleep it was, O miserable me .

कलक्टेड प्योम्स एंड प्लेज आफ़ रवीन्द्रनाथ, पृ० १३ ।

इन प्रेमपरक रहस्यवादी प्रतीकों की योजना के अतिरिक्त अन्य ऐसी योजनाएँ भी हैं जो प्रेम-भाव के किसी लौकिक सम्बन्ध पर आश्रित हैं। इनमें हमें मानवेतर वस्तुओं का रहस्यात्मक स्वरूप प्राप्त होता है। रहस्यवादी प्रवृत्ति में किसी चेतन शक्ति का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त प्रतीत होता है जिसे अनुभव तो किया जाता है, पर पूर्ण रूप से उसका साक्षात्कार नहीं होता है। सामान्यतः परम्परा से मृगमरीचिका को भ्रममय माया का प्रतीक माना गया है। उसी रूढ़ि प्रतीक के द्वारा गुप्त जी ने एक रहस्यवादी प्रतीक की सुन्दर अवतारणा की है—

कठिन धूप में दौड़ रहा है हरिण कहाँ तू ?
हाय! हाय! मर रहा व्यर्थ क्यों आज यहाँ तू ?
'जीवन धन के लिए सभी यह श्रम है मेरा'
'पर जीवन-धन कहाँ, अरे यह भ्रम है तेरा'।
'क्या कहा कि जीवन-धन नहीं
दौड़ा जाता हूँ जहाँ ?
वह न हो किन्तु आभास तो
मिलता है उसका वहाँ।[1]

यह जीवन-धन का अनुसन्धान एवं उसका आभास प्राप्त होना एक रहस्यवादी प्रवृत्ति है। इसी प्रकार, एक अन्य प्रतीक योजना में जीवात्मा रूप नमक की एक छोटी सी डली रहस्य रूपी अगाध सिन्धु की रहस्यमयता (थाह) को समझने के लिए एक अभियान के रूप में चलती है। तब, मुकुटधर के शब्दों में उस अणु रूप आत्मा की क्या अंतिम दशा होती है, इसे भी एक सुन्दर प्रतीकात्मक शैली में व्यंजित देखिए—

एक दिन की बात है, हे पाठको !
नोन की जब एक छोटी सी डली।
सिंधु के जलपूर्ण दुर्गम गर्भ की
थाह लेने के लिए घर से चली ॥१॥
किन्तु थोड़ी दूर भी पहुँची न थी।
और वह उसमें स्वयं ही घुल गई।
रंग से मद के अहो पूरी रँगी,
वे महाभ्रम पूर्ण आँखें खुल गईं ॥२॥

१—सरस्वती, जनवरी १९१६ संख्या १, पृ० ३२ पर अन्वेषक कविता, द्वारा गुप्त जी।

कर बड़ा साहस चली थी वह झपट
सिन्धु के तल का लगाने को पता।
खो सकल निज रूप गुण को ही अरे
हो गई उसमें स्वयं ही लापता ॥ ३ ॥[1]

यहाँ पर अद्वैत भावना की पूर्ण अन्विति प्राप्त होती है, क्योंकि आत्मा का पूर्ण तिरोभाव अगाध परम तत्व में हो जाता है। प्रतीक की दृष्टि से यह मानवीकरण (नोन का) का उदाहरण होते हुए भी एक तात्त्विक भावभूमि को एक अत्यन्त सरल एवं हृदयग्राही रूप में सम्मुख रखता है।

(२) प्रकृतिगत रहस्यवादी प्रतीक

इन प्रतीकों का स्वरूप प्रकृति से ग्रहण किया गया है जो मूलतः दो रूपों में व्यक्त हुआ है। एक रूप तो वह है जो समस्त चराचर प्रकृति में एक सचेतन सत्ता का अनुभव करता है। दूसरा वह रूप है जो प्रकृति, ईश्वर, आत्मा आदि में एकात्म भाव की अनुभूति प्रकृति के द्वारा करता है। प्राकृतिक वस्तुओं के प्रतीकात्मक संदर्भ के द्वारा कहीं कहीं पर एकात्म भाव की व्यंजना प्राप्त होती है। सिन्धु और उससे मिलने को उत्सुक नदी को, व्यक्ति और ईश्वर की मिलनेच्छा का प्रतीक बना कर श्री जयशंकर प्रसाद ने एक रहस्य भावना का संकेत इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

यह सही तुम सिंधु अगाध हो, हृदय में बहुरत्न भरे पड़े—
न घटते बढ़ते निज सीम से—तुम कभी,
वह वाड़व रूप की लपट में लिपटी फिरती नदी,
प्रिय तुम्हीं उसके प्रिय लक्ष्य हो,
जगत की नव कल्पित कल्पना, भर रही हृदयाब्धि गंभीर में,
तुम नहीं इसके उपयुक्त हो, कि यह प्रेम महान संभाल लो,
जलधि ! मैं न कभी चाहती कि तुम भी मुझ पर अनुरक्त हो,
पर मुझे निज वक्ष उदार में, जगह दो, उसमें सुख से रहूं [2]।

निस्वार्थ प्रेम में आत्मा की कोई भी इच्छा नहीं होती है, वह तो केवल 'प्रिय' के हृदय में एक छोटा सा स्थान भर चाहती है। परमाणु का महत्त्व इसी में है कि वह अणु (Molecule) में समा सके। इस एकात्म अनुभूति को

१—सरस्वती, जनवरी १९१७, संख्या १ पृ० ४१ पर दुस्साहस कविता, द्वारा मुकुटधर।
२—कानन कुसुम, द्वारा जयशंकर प्रसाद, पृ० ७५, कविता 'गंगासागर'।

उपर्युक्त प्रतीक योजना सुंदरता से व्यंजित कर रही है। इसी प्रकार प्रकृति, पुरुष और सौंदर्य (चिर सुन्दर नारी रूप) की समष्टि भावना ही एक 'परम सत्य' की अनुभूति कराती है। पुरुष जब प्रकृति को अपने में चिर सौंदर्य-भावना (स्त्री) के साथ एकाकार कर लेता है, तब पुरुष, प्रकृति और 'वह' (परमात्मा) सब एक हो जाते हैं। इसी भाव को प्रसाद जी ने अन्य प्रतीक योजना के द्वारा व्यक्त किया है जिसमें एक चिर सुन्दरी नारी को भक्ति या सौंदर्य का प्रतीक बनाकर पुरुष को प्रकृति की ओर उस नारी के द्वारा उन्मुख होते दिखाया है। किस प्रकार वह 'पुरुष' प्रकृति में ईश्वर की अनुभूति प्राप्त करता है, इसकी क्रियात्मक व्यंजना इस प्रकार प्रस्तुत की गई है। पुरुष कहता है—

आनन्द आसन पर सुख मंदाकिनी में स्नात हो।
हम और वह बैठे हुए हैं प्रेम पुलकित गात हो।
यह देख ईर्ष्या हो रही है सुन्दरी! तुमको अभी।
दिन बीतने दो, दो कहाँ फिर एक देखोगी कभी।
फिर वह हमारा, हम उसी के, वह हमी, हम वह हुए।
तब तुम न मुझसे भिन्न हो, सब एक ही फिर हो गए।[1]

यह एक लघुकथा रूप है जो अपने में प्रतीकात्मक अर्थ का स्पष्टीकरण करती है। जब तक प्रकृति और ईश्वर के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति का उदय नही होता है, तब तक प्रकृति के प्रति सौंदर्यानुभूति भी नहीं होती है। इस अनुभूति के बिना व्यक्ति, प्रकृति और ईश्वर में तादात्म्य भी स्थापित नहीं कर पाता है। कवि ने इसी सत्य का प्रतीकात्मक निर्देश उपर्युक्त कविता 'भक्ति योग' में किया है।

प्रकृति की वस्तुओ तथा स्वयं प्रकृति के प्रति इस रहस्य भावना का एक अन्य रूप भी प्राप्त होता है, जो अपरोक्ष रूप से किसी 'परम सत्ता' का आभास समस्त रूपराशि की पृष्ठभूमि में देता है। इसमें 'चेतन शक्ति' का स्पंदन प्रकृति के माध्यम से व्यंजित होता है। प्रकृति के व्यापारों एवं उसकी अनेक घटनाओं में जो पूर्व-स्थापितसामरस्य प्राप्त होता है, वह किसी न किसी 'शक्ति' का ही कार्य है। उषा की लालिमा, कली का खिलना, रवि-किरणों का विविध रंग और कुसुमों का द्रुम गुल्म आदि में खिलना—ये सब कार्य किसके संकेत से सम्पन्न हो रहे हैं? इसी संकेत को प्रतीक रूप देने के लिए उस चेतन शक्ति के 'कर में अनेक रंगों भरी तूलिका' की सुन्दर कल्पना की गई

१—कानन कुसुम, द्वारा प्रसाद, पृ० ३१-३२।

है। देखिए, मैथिलीशरण जी ने प्रकृति के कार्यों के पीछे एक 'परम चेतन तत्त्व' का आभास इस प्रकार व्यंजित किया है—

तेरे कर में हैं कौन रंग ?
रवि किरणों में है विविध वर्ण, कल राग पूर्ण है लोक कर्ण।
कुसमांकित हैं द्रुम गुल्म पर्ण, अर्णव-अचला में मणि-सुवर्ण।
सब में तेरा रस है अभंग।
तेरे कर में हैं कौन रंग ॥[1]

सत्य में यह 'रस' जो समस्त प्रकृति में अभंग रूप से व्याप्त है, वह सृष्टिकर्ता 'ब्रह्म' की ही विभूति है। इसी व्याप्त 'रस' को रवीन्द्रनाथ ने एक अन्य प्रतीक के द्वारा व्यजित किया है, और वह है उसके संगीत का परम प्रकाश जो समस्त संसार को आलोकित करता है। कवि के शब्दों में—तेरे संगीत का प्रकाश संसार को प्रकाशित करता है। तेरे संगीत का चेतन-प्राण आकाश से आकाश तक दौड़ रहा है। तेरे संगीत की पावन धारा समस्त पाषाणजनित अवरोधों को तोड़ती है और सदैव गतिशील रहती है।[2] एक परम तत्त्व की विभूति का अनुभव प्रसाद जी ने भी एक प्रतीकात्मक रूप से व्यंजित किया है। वह शक्ति है 'छायानट' जो अपनी छाया (माया संसार) के पीछे से अपनी विभूति का संकेत (सम्मोहन वेणु) देता है—

छायानट छवि परदे में, सम्मोहन वेणु बजाता।
संध्या कुहुकिनि अंचल में, कौतुक अपना कर जाता ॥[3]

(३) दाम्पत्य भाव के प्रतीक

प्रथम वर्ग के रहस्यवादी प्रतीक भी प्रेम भाव पर आश्रित है, पर वहाँ पर प्रणय रूप का सर्वथा अभाव है। संत काव्य, सूफी काव्य एवं कृष्ण काव्य में भी इन प्रतीकों का रतिपूर्ण तात्विक संकेत प्राप्त होता है। इस परम्परागत रूप को स्वच्छन्दवादी काव्य में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। उस परम्परा में भी

१—झंकार, कविता 'रंग ढंग', द्वारा मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १५३।

२—The Light of Thy music illuminates the world. The life-breath of Thy music runs from sky to sky. The holy stream of Thy music breaks through all stony obstacles and rushes on."

कलक्टेड प्योम्स एड प्लेज आफ़ रवीन्द्रनाथ, पृ० ४ गीताजलि।

३—आँसू, द्वारा प्रसाद, पृ० ३३।

नवीनता का समावेश प्राप्त होता है। परम्परा की दृष्टि से पति, पत्नी, नैहर और ससुराल की भी योजना मिलती है जो क्रमशः परमात्मा, आत्मा, संसार तथा 'परमपद' के प्रतीक माने गये हैं। संत काव्य की तरह इनका प्रयोग ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने भी इस प्रकार किया है—

आज चली साजन घर सजनी छोड़ विकल परिवार री।
असमय आज छोड़ पीहर को,
चली जा रही अपने घर को,
लाय पालकी पर बिठलाई,
ऊपर चादर लाल उढ़ाई,
'ईश्वर' सब लग पाय बिदाकर माँगन लगी सुहाग री ॥[1]

इसी भाव की एक अन्य प्रतीक योजना भी प्राप्त होती है जो नितांत नवीन है। ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने नटनी (आत्मा) को नटवर से (परमात्मा) मिलने को कहा है और नटनी को ज्ञान की बाती जलाने को, पीहर की सुरति को भुलाने को कहा है जिससे कि वह नटवर की अनुभूति प्राप्त कर सके।[2]

इस प्रकार इन प्रतीक योजनाओं के द्वारा दाम्पत्य भाव की उस स्थिति के दर्शन होते हैं जो तात्विक एवं आध्यात्मिक 'सत्य' के परिचायक हैं। नारी रूपी आत्मा का अभियान आध्यात्मिक दृष्टि से एक क्रमिक विकास है। इसी का बल लेकर वह साधना-पथ के अनेक अवरोधों पर विजय प्राप्त कर, मिलन की ओर अग्रसर होती है। श्री गुप्त जी ने साधना पथ के अनेक संकटों को घन, अंधकार, पारावार के द्वारा व्यंजित किया है। देखिए—

रोको मत, छेड़ो मत कोई मुझे राह में
चलती हूँ आज किसी चंचल की चाह में।
घहरा रहे हैं घन चिंता नहीं इनकी
अवधि न बीत जाय हाय! चार दिन की।
छाया है अंधेरा रहे लक्ष्य है समक्ष ही
दीप्ति मुझे देगा अभिराम कृष्ण पक्ष ही।
ठहरो, समक्ष ही तो क्षुब्ध परावार है
करना उसे ही अरे, आज मुझे पार है।

१—अन्योक्ति तरंगिणी, द्वारा ईश्वरी प्रसाद शर्मा, सप्तम तरंग, पृ० ६२।
२—अन्योक्ति तरंगिणी, द्वारा ईश्वरी प्रसाद शर्मा, सप्तम तरंग, पृ० ६५।

आपको न देखा आप मैंने कभी आप में।
डूबेगा विलाप आज डूबेगा मिलाप में।[1]

प्रणय भाव की कितनी सुन्दर प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें दाम्पत्य भाव की एक आध्यात्मिक परिणति है। इसी भाव का एक अन्य रूप भी है जो प्रिया और प्रियतम के मध्य एक 'केलि' के रूप में प्राप्त होता है। उस 'केलि' का स्वरूप भी नितांत नवीन प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। यह श्री गुप्त जी की अपनी उद्भावना है जो कदाचित् रवीन्द्रनाथ से प्रभावित प्रतीत होती है। वह केलि रूप है 'आँखमिचौनी' का। प्रतीकार्थ की दृष्टि से यह आँख मिचौनी आत्मा (जीव) और परमात्मा के मध्य उस स्थिति का द्योतक है जब जीवात्मा को परमात्मा का आभास कहीं पर मिलता है और वह 'उसे' पाने के लिए प्रयत्नशील होती है। लेकिन परम प्रिय फिर कहीं ओझल हो जाता है। इस प्रकार जीव और ईश्वर के मध्य यह 'क्रीडा' चला करती है। यह अनुसंधान उसी समय समाप्त होता है जब आत्मा बाह्य संसार में न भटक कर अपने हृदय-दर्पण में 'उसका' प्रतिबिम्ब देखती है, तब उसका 'परम प्रिय' उसी के निकट प्रतीत होता है—

आँखमिचौनी में तुम प्यारे
पलक मारते छिपे कहाँ ?
थक कर हार गई हूँ यह मैं
तुम्हें खोजकर जहाँ तहाँ ?
अपने को तो देखे दृग फिर, करें तुम्हारी चाह
दर्पण ओर उठी आँखें तो, उसमें तुम थे वाह।[2]

आत्मा और परमात्मा के इस नित्य 'लुक छिप' के खेल का संकेत रवीन्द्रनाथ ने अपने एक गीत में इस प्रकार रखा है—"आकाश पर 'मेरी' और 'तेरी' महान् लीला विस्तार प्राप्त कर चुकी है। 'तेरे' और 'मेरे' स्वर से समस्त युग 'तेरे' और मेरे लुकने और छिपने में व्यतीत होते जाते हैं।"[3] मैथिलीशरण

१—झंकार, द्वारा मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ३४-३५ कविता "यात्री"।

२—वही, पृ० १३२-१३३ कविता 'खोज, तथा 'आँख मिचौनी' भी।

३—"The great pageant of thee and me has overspread the sky. With the tune of thee and me all the air is vibrant, and all ages pass with the hiding and seeking of thee and me."
कलेक्टेड प्योम्स एड प्लेज़ आफ़ रवींद्रनाथ, पृ० ३४, गीतांजलि।

ने इसी नित्य क्रीड़ा को अपने मौलिक प्रतीकों के द्वारा व्यंजित किया है। भाव साम्य का यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने रवींन्द्रनाथ का नितांत अनुकरण किया है। सत्य तो यह है कि कोई भी कवि किसी अन्य कवि से स्फूर्ति भर ग्रहण करता है और उस ग्रहण किये हुए 'तत्त्व' को अपनी निजी प्रतीकात्मक शैली के द्वारा व्यक्त करता है।

तात्त्विक प्रतीक योजनाएँ

रहस्यवादी भावना की दृष्टि से द्विवेदी-युगीन कविता में कुछ ऐसी भी प्रतीकों की योजना प्राप्त होती है जो स्वतंत्र जीव, माया और संसार के सम्बन्ध को व्यक्त करती है। मुकुटधर पाण्डेय ने अपनी एक कविता में माया के फैले हुए शोभाकारी प्रसार को एक 'महान् मरुभूमि' का प्रतीक बनाया है जिसके ऊपरी रूप को देखकर जीव विभ्रमित हो जाता है। यथा—

> हुआ प्रथम जब दर्शन,
> गया हाथ से निकल तभी मन
> सोचा मैंने—यह शोभा की सीमा है प्रख्यात।
> मन तो मेरा और कहीं था, मुझको इसका ज्ञान नहीं था।
> छिपा हुआ शीतल किरणों में है मरुभूमि महान्।[1]

वाह्य सौंदर्य (किरण) की ओट में यह मरुभूमि (माया) ही जीव को विभ्रम में डाल देती है। तभी तो, प्रसाद ने भी पथिक (जीव) को मृगमरीचिका (माया) से बचने का आवाहन किया है जो एक परम्परागत प्रतीक ही है।[2] इसी प्रकार चातक (जीव) को सम्बोधित कर कवि ने उसे धुएँ के बादलो (संसार) पर न रीझने की चेतावनी दी है।[3]

इस प्रकार, इन परम्परागत प्रतीकों के द्वारा माया और संसार के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है जो उसकी अस्थिरता के प्रति व्यञ्जना भी करते हैं। इस अस्थिर रूपराशि में जीवों का आकर्षण स्वाभाविक है। परन्तु जीवात्मा का प्रारब्ध केवल इसी रूपराशि में आबद्ध होने से विकास के उच्च अभियानों का दिग्दर्शन नहीं कर सकता है। अपनी दीन दशा से उबरने के लिए वह

१—सरस्वती, मई १९१८ सख्या ५, पृ० २२५ पर "रूप का जादू" कविता, मुकुटधर।

२—कानन कुसुम, द्वारा प्रसाद, पृ० १२ कविता "करुणा कुज"।

३—अन्योक्ति तरंगिणी, द्वारा ईश्वरी प्रसाद शर्मा, तीसरी तरङ्ग, पृ० २६।

'ईश्वर' की शरण में भी जाता है। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने इसी दशा को एक प्रतीकात्मक रूप में रखा है। इसमें माया से आच्छादित संसार को मकड़े के जाल से व्यंजित किया है—

माल-तंतु डाल डाल।
था बुना विशाल जाल।
आप फँसा हा कपाल।
मकड़ जाल छाया
आया यह दीन आज चरण शरण आया।[1]

इसी प्रकार इस चराचर विश्व को इन्द्रजाल के द्वारा व्यंजित किया है और परम्परागत प्रतीक 'वृक्ष' को संसार की विचित्रता का भी रूप प्रदान किया है—

अच्छा इंद्रजाल दिखलाया।
खोलूँ जब तक पलक, कौतुकी
तुमने पेड़ लगाया।[2]

इसी मायाजनित प्रभाव के कारण व्यक्ति अनेक ज्ञान तंतुओं का निर्मूल सृजन करता है। अपने शरीर की (पिंजड़ा) शोभादि बढ़ाने के लिए, अनेक विहङ्गों (आत्मा प्राण भी) को मोहित करने के लिए ही वह जीव अनेक प्रकार के उपर्युक्त प्रयत्न करता है—

सौ सौ ज्ञान तंतुओं के मैं जाल निरंतर बुनता हूँ।
परन्तु फँसता नहीं विहङ्गम लाख लाख सिर धुनता हूँ।
पिंजर की रचना में कितनी।
दिखला रहा कला मैं।
करता हूँ इतना श्रम पंछी।
किसके लिए भला मैं ?
तुझे चुगाने को अच्छे से अच्छा चारा चुनता हूँ।
सौ सौ ज्ञान तंतुओं के मैं जाल निरंतर बुनता हूँ।[3]

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उस परम शक्ति की यह 'सृष्टि' अत्यन्त मोहक है, अत्यन्त विलक्षण है। उसके सत्य स्वरूप का अनुभव करना एक साधारण जीव के लिए अत्यन्त दुर्लभ है। यह समस्त प्रसार उस

१—झङ्कार, द्वारा मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ३८ 'कविता 'शरणागत'।
२—वही, पृ० १०२, कविता 'इंद्रजाल''।
३—झङ्कार, पृ० ८६-८७, कविता 'विहङ्गम'।

विराट् शक्ति की अनमोल 'वीणा' है जिसे वह सदैव 'बजाया' [illegible]) करता है। उसे श्रवण कर हम निरन्तर उसी के साथ 'नृत्य' किया करते हैं। अंत में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह 'क्रीड़ा' चिरन्तन है। कवि के शब्दों में—

तुम्हारी वीणा है अनमोल।
हे विराट्! जिसके दो तूँबे हैं भूगोल खगोल।
इसे बजाते हो तुम जब लौं,
नाचेंगे हम सब भी तब लौं,
चलने दो—न कहो कुछ कब लौं,
यह क्रीड़ा कल्लोल।
तुम्हारी वीणा है अनमोल॥[१]

यही है कवि के द्वारा व्यंजित 'विराट' की रहस्यमयता।

(ग) प्रेम तथा विरह की प्रतीक योजनाएँ

द्विवेदीयुगीन काव्य में प्रेम तथा विरह को व्यंजित करने के लिए एक सबल प्रतीकात्मक रूप के दर्शन होते है। कवियों ने अपनी प्रेमाभिव्यंजना में रीतिकालीन रुढ़ि परिपाटियों का त्याग कर, प्रेम भाव की एक स्वतन्त्र प्रतिष्ठा अपने प्रतीकों के द्वारा किया है। इस दृष्टि से इस काल के प्रतीकों का एक अपना विशिष्ट महत्त्व है, क्योंकि उन्हीं की आधारशिला पर भावी हिन्दी काव्य की प्रतीकात्मक अभिव्यंजना अपनी चरमावस्था में प्राप्त होती है। दूसरी प्रमुख विशेषता जो प्रेम-प्रतीकों में दृष्टिगत होती है, वह है प्रकृति के माध्यम से हृद्गत भावों की व्यंजना। प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह एक नितान्त नवीन प्रयोग कहा जा सकता है जिसमें कवि अपनी भावनाओं तथा संवेदनाओं से प्रकृति को अतिरंजित न कर, उनके द्वारा अपने विशिष्ट भावों तथा संवेदनाओं की व्यंजना प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दों में, उनके द्वारा कवि अपने मानस लोक का प्रतिबिंब खड़ा करता है जिसमें उसकी संवेदना घूँघट की ओट से, नेत्रों की तरह झाँका करती है।

भौंरा-कली

इन विशिष्टताओं के प्रकाश में स्वच्छन्दवादी काव्य के परम्परागत प्रेम प्रतीकों में अनेक मानवेतर सम्बन्धों की योजना भी प्राप्त होती है।

१—वही, पृ० ११, कविता 'विराट वीणा'।

इन प्रमुख सम्बन्ध-प्रतीकों में कली और भौरा का संबन्ध अत्यन्त मुखर माना गया है। इस संबन्ध के द्वारा प्रेम-विरह की भावना अप्रत्यक्ष रूप से साकार हो उठती है। साकेत की 'उर्मिला' अपना विरहोद्‌गार प्रत्यक्षतः वर्णित न कर, उसकी एक व्यंजनामात्र 'कली और भौरे' के द्वारा प्रस्तुत करती है—

भ्रमरी! इस मोहन मानस के
सुन, मादक हैं रस भाव सभी।
मधु पीकर और मदांध न हो,
उड़ जा, बस है अब क्षेम तभी।
पड़ जाय न पंकज बन्धन में
निशि यद्यपि है कुछ दूर अभी।
दिन देख नहीं सकते सविशेष,
किसी जन का सुख भोग कभी।[1]

एक अन्य स्थान पर उर्मिला कली और अली के प्रेम सम्बन्ध को एक निस्वार्थ कोटि तक पहुँचा देती है और यह निस्वार्थता उस समय साकार हो उठती है जब कली अपने अन्दर की धूल को भी अपने प्रिय भौरे के सामने निस्संकोच रख देती है। यहीं पर तो शुद्ध आत्मसमर्पण का भाव प्रतीकों के द्वारा साकार हो सका है, यथा—

मान छोड़ दे मान अरी।
कली, अली आया, हँसकर ले, यह बेला फिर कहाँ धरी॥
सिर न हिला झोंकों में पड़कर रख सहृदयता सदा हरी,
छिपा न उसको भी प्रियतम से यदि है भीतर धूल भरी।[2]

गुप्त जी ने परम्परा के इन प्रतीकों के द्वारा जो प्रेम भाव की परमोज्ज्वलता का रूप रखा है, उसमें प्रेम का उदात्तीकरण ही उर्मिला के ब्याज से व्यंजित होता है। प्रेम का गाम्भीर्य कहीं कहीं पर व्यंग्य के द्वारा और भी मोहक हो उठता है। एक स्थान पर उर्मिला अपने को कली और लक्ष्मण को भौंरे का प्रतीक बनाती है। यहाँ कली भौंरे का प्रतिकूल पवन में छोड़ कर चले जाने की सुन्दर व्यंजना साकार हो उठी है।

१—साकत, द्वारा मैथिलीशरण गुप्त, नवम सर्ग, पृ० २६६।

२—साकेत, नवम सर्ग, पृ० ३१७।

मुसका कर आलि, लिया उसको
तब लौं यह कौन बयार चली
'पथ देख जियो' कह गूँज यहाँ
किस ओर गया वह छोड़ छली ?[1]

इसी छलयुक्त प्रेम की ओर प्रसाद ने कली और भौंरे के सम्बन्ध द्वारा संकेत किया है—

कलियों को उन्मुख देखा
सुनते वह कपट कहानी।
फिर देखा उड़ जाते भी,
मधुकर को कर मनमानी ॥[2]

दीप-पतङ्ग—प्रेम के बलिदानपरक रूप की अभिव्यंजना इस प्रतीक-योजना के द्वारा प्राप्त होती है जिसमें नवीनता का स्पष्ट आग्रह है। इस प्रतीक-योजना पर सूफ़ी भावना का भी प्रभाव स्पष्ट है। दूसरी ओर दीपक और पतङ्ग उस भावभूमि को भी स्पष्ट करते हैं जिसमें अन्योन्य प्रेम की तीव्रता भी व्यंजित होती है। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत में उर्मिला के द्वारा इसी अन्योन्याश्रित प्रेम भाव की व्यंजना इस प्रकार की है—

दोनो ओर प्रेम पलता है,
सखि, पतङ्ग भी जलता है हाँ! दीपक भी जलता है।
सीस हिलाकर दीपक कहता—
बंधु, वृथा ही तू क्यों दहता
पर पतङ्ग पड़कर ही रहता
कितनी विह्वलता है।[3]

मानों पतङ्ग के व्याज से उर्मिला की विरहजनित प्रेम भावना का संकेत प्राप्त होता है जो दीपक की 'लौ' में केवल अपने को 'राख' करने के लिए ही जाता है, पर जाता है अवश्य, क्योंकि प्रेम की रीति यही है। प्रेमी और प्रिय के सम्पूर्ण क्रियाव्यापारों का वर्णन इन दो प्रतीकों के द्वारा किया गया है। उर्दू साहित्य में परवाना और शमां बहुत ही प्रिय प्रतीक रहे हैं। यदि माशूक़ा के

१—साकेत, नवम सर्ग, पृ० २६५-२६६।

२—आँसू, जयशकर प्रसाद, पृ० ७८।

३—साकेत, द्वारा मैथिलीशरण गुप्त, नवम सर्ग, पृ० २८०-२८१।

रूप की ज्वाला, उसकी संपूर्ण निर्दयता का प्रतीक है यह शमा, तो 'आशिक' की सच्चाई और त्याग का प्रतिरूप है यह 'निरीह' परवाना। श्री गुप्त जी ने दोनों का परम मिलन दिखाया है। किसी उर्दू कवि का कथन है—

ऐ किसकी जान के पीछे पड़े हो परवानों,
ये शमां रोज़ जलाई बुझाई जाती है।[१]

प्रसाद ने इस प्रसिद्ध प्रतीक के द्वारा त्याग और बलिदान की भावनाओं को प्रकट किया है। उनका पतङ्ग जलकर भी फूल के सदृश खिल उठता है, इस खिलने में ही मानों प्रेमी का समस्त व्यक्तित्व सार्थक हो उठता है। कवि के शब्दों में—

बलने का सम्बल लेकर
दीपक पतङ्ग से मिलता।
जलने की दीन दशा में
वह फूल सदृश हो खिलता।[२]

प्रेम में यह बलिदान एवं त्याग की व्यंजना एक अन्य माध्यम से भी व्यक्त होती है, वह है दीप का 'निर्वाण'। दीप उस त्याग का (पुरुष) प्रतीक है जो अंत तक किसी न किसी रूप में, अपनी ज्योति से कुटी को आलोकित किये रहता है और अपने निर्वाण में भी संसार को प्रकाश का वरदान दे ही जाता है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'दीप-निर्वाण' कविता इसी भाव को व्यक्त करती है। अधिक व्यापक अर्थ में कहे तो यह 'दीप' देश-प्रेमी के उस त्याग का प्रतीक है जो शहीद होकर भी अपने बलिदान की अमिट छाप देश के मानस पटल पर छोड़ जाता है। कविता इस प्रकार है, जब चंद्र का उदय हो जाता है और सूर्य का गमन, उस समय—

निष्प्रभ हुआ चंद्रमा लज्जित होकर किया प्रयाण।
थी कुटीर में क्षुद्र दीप की ज्योतिशिखा म्रियमाण॥
बढ़ाकर जीवन किसी प्रकार किया रवि का उसने सत्कार
प्राणों की आहुति से उसने किया जगत कल्याण।
निकली एक मलिन रेखा ही हुआ दीप निर्वाण॥[३]

१—उद्धृत 'प्रसाद का काव्य' से, पृ० १८७, द्वारा डा० प्रेमशङ्कर।

२—आँसू, द्वारा प्रसाद, पृ० ४४।

३—सरस्वती, अगस्त १९२०, संख्या २, पृ० ८० पर 'दीप निर्वाण' कविता।

दीपक का यह साधनापरक रूप प्रेम भाव का उज्ज्वलतम प्रतीक माना जाता है जो प्राणों की 'बत्ती' को स्नेह के तेल से प्रज्वलित किये रहता है।[1]

चातक चकोर आदि—जिस प्रकार दीपक और पतङ्ग में बलिदान भाव की मुखरता व्यंजित होती है, उसी प्रकार चातक वृत्ति का प्रयोग परम्परा से गृहीत रहा है। मीरा ने अपनी सम्पूर्ण प्रेम-भावना का, विरह का प्रतीक 'चातक' को बनाया है।[2] उसी प्रकार, उर्मिला ने भी अपनी विरहजनित अवस्था की प्रतिरूपता 'चातक' के द्वारा साकार कर दी है। चातक के ब्याज से मानो स्वयं उर्मिला के हृद्गत भाव साकार हो उठे हैं—

> चातकि, मुझको आज ही हुआ भाव का मान।
> हाँ! वह तेरा रुदन था, मैं समझी थी गान।
> झूम उठे हैं शून्य में उमड़ घुमड़ घन घोर,
> ये किसके उच्छ्वास से छाये हैं सब ओर।[3]

ये घन हृदयाकाश पर विरह के बादल हैं। कवि ने यहाँ पर चातक और घन के परम्परागत प्रयोग में एक नवीनता का समावेश किया है। वह यह कि चातक को अपनी भावाभिव्यंजना के माध्यम के द्वारा उसे प्रतीक का रूप भी प्रदान किया है। परन्तु कभी कभी ऐसा भी होता है कि प्रेमी को अपने प्रिय की निष्ठुरता को भी सहन करना पड़ता है। 'वह' तो अपने प्रिय से प्रेम तथा स्नेह का प्रतिदान चाहता है, पर दुर्भाग्य से उसे प्रिय से मिलती है—प्रताड़ना एवं घृणा। अयोध्यासिंह उपाध्याय के शब्दों में—

> पपीहा तज वसुधा का वारि।
> ताकता है जलधर की ओर।
> बरसकर बहुधा उपल समूह
> डराता है घन कर रव घोर।[4]

इन प्रमुख प्रतीक योजनाओं के अतिरिक्त परम्परा के सम्बन्ध-प्रतीकों में यदा-कदा अन्य उदाहरण भी मिलते हैं, जैसे मृग और नाद का, चन्द्र तथा चकोर का। प्रसाद ने चंद्र तथा चकोर के संबंध का प्रेमपरक रूप इस तरह रखा है —

१—साकेत, पृ० २८५ नवम सर्ग।

२—दे० अध्याय सात, उपखड 'ग' में।

३—साकेत, नवम सर्ग, पृ० २६०-२६१।

४—पारिजात, द्वारा हरिऔध जी, पृ० ३१६ तथा ५४ भी।

है चंद्र हृदय में बैठा, उस शीतल किरण सहारे।
सौंदर्य सुधा बलिहारी, चुगता चकोर अंगारे॥[1]

यहाँ पर कवि ने परम्परागत प्रतीक को भी एक नवीन भाव-भंगिमा में प्रकट किया है। उसके हृदय में किसी 'चंद्रमुख' की रूप सुधा का आवास है जिसका पान उसके चकोर रूपी प्राण (नेत्र भी) न कर अंगारों का पान करते हैं, यह सौदर्य का एक अद्भुत पक्ष ही है। इसी प्रकार मृग का नाद सुनकर आत्मविभोर हो जाना और उसी के जाल में फँस जाना प्रेम का एक अन्य अद्भुत रूप ही है जिसे मणिराम गुप्त ने ग्रहण किया है।[2] इस प्रकार इन प्रमुख प्रतीक योजनाओं के द्वारा यही स्पष्ट होता है कि कवि ने इन प्रतीकों के द्वारा प्रेम भाव का उदात्तीकरण, मानवीय संदर्भ में, करने का प्रयत्न किया है।

प्राकृतिक वस्तुएँ तथा घटनाएँ—स्वच्छन्दवादी काव्य में प्रेम तथा विरह के नवीन प्रतीकों का स्वरूप भी प्राप्त होता है। छायावादी काव्य में इस प्रवृत्ति का चतुर्मुखी विकास हो सका है जो इस काल मे एक प्रारम्भिक दशा में प्राप्त होता है। यहाँ पर एक नवीनतम प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं। वह यह कि अब कवि ऐसे प्रतीको (प्रकृति से) के अनुसधान में संलग्न हुआ जो उसकी भावात्मक सवेदना को नूतन विधि से व्यजित कर सके। बावरा के कथनानुसार कवि जब अपने निजी आनंद के लिए काव्य-सृजन करता है, तो वह स्वयं अपने लिए नवीन प्रतीको को खोजता है।[3] इस खोज में वह एक प्रकार का आत्म-विश्लेषण करता है। उस विश्लेपण के द्वारा उस अंतर्दृष्टि को जन्म देता है जो प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति को एक दार्शनिक धरातल पर भी प्रतिष्ठित करती है। अतः प्रतीकवाद अपने उद्गम में एक रहस्यात्मक काव्य ही है, जिसकी शिल्पविधि एवं दर्शन तात्त्विक भावभूमि को ही स्पष्ट करते है जो कवि के निजी मानस-लोक का प्रतिबिंब ही खड़ा कर देते हैं।[4] इस वर्ग के प्रतीको में हमें इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं जिसका सुन्दर विकास प्रसाद के 'आँसू' और गुप्त जी के 'साकेत' में प्राप्त होता है।

प्रेम भाव को प्रकृति के माध्यम से लाक्षणिक अर्थ प्रदान करना प्रतीक

१—आँसू, प्रसाद, पृ० ४३ तथा साकेत, पृ० २८० पर भी।
२—सरस्वती, रूप का जादू, पृ० ३२२ स० ६ पर।
३—हेरीटेज आफ सिम्बालिपम द्वारा सी० एम० बावरा, पृ० २ (लदन १९४७)।
४—वही, पृ० १०।

वाद का एक उज्ज्वल संवेदनात्मक पक्ष है। प्रसाद ने इसी संवेदना को 'रजनीगंधा' कविता में प्रकृति वस्तुओं को प्रतीक का रूप देकर व्यंजित किया है।

स्पर्श हुआ उस लता लजीली से विधुकर का,
विकसित हुई, प्रकाश किया निज दल मनहर का,
सौरभ विस्तृत हुआ मनोहर अवसर पाकर,
म्लान बदन विकसाया इस रजनी में आकर।[1]

मानवीय क्रियाओं का प्रकृति वस्तुओं पर आरोपण कर प्रेम-भाव की सुन्दर व्यंजना प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार, हरिऔध जी ने प्रियप्रवास में सूर्य और सूर्यमुखी के अन्योन्य व्यापारों द्वारा आकर्षण का चित्र प्रस्तुत किया है।[2] साकेत की प्रेम-विरह की भाव-भूमि में प्रकृति का अत्यधिक उदात्त रूप सामने रखा है। उन्होंने प्रकृति के द्वारा उर्मिला के विरह को, प्रेम को, और यहाँ तक कि विश्व-प्रेम को एक साथ व्यंजित किया है। प्रकृति के प्रति इस अंतर्दृष्टि का विकास साकेत की उर्मिला को जहाँ गाम्भीर्य प्रदान करता है, वहीं ऐसे प्रकृति-प्रतीको का निर्माण करता है जो कवि की अपनी प्रतीकात्मक नूतन प्रक्रिया ही कही जा सकती है। इसका एक सुन्दर रूप विटप और बल्ली (लता) के क्रिया-व्यापारों के द्वारा व्यजित होता है। ये प्राकृतिक वस्तुएँ एवं उनके कार्यकलाप विरहिणी उर्मिला के भाव को साकारता देते हैं—

अवसर न खो निठल्ली
बढ़ जा, बढ़ जा विटपि-निकट बल्ली!
अब छोड़ना न लल्ली,
कदम्ब-अवलम्ब तू मल्ली॥[3]

अपने ही वलिदान तथा अपनी निरीह अवस्था का प्रतीक 'पीतपत्र' को बनाकर उर्मिला ने एक संवेदना का प्रतीकात्मक रूप ही स्पष्ट किया है—

पाऊँ मैं तुम्हें आज, तुम मुझको पाओ,
ले लूँ अंचल पसार, पीतपत्र, आओ।

१—कानन कुसुम, द्वारा जयशङ्कर प्रसाद, पृ० ३४।

२—प्रियप्रवास, पचदश सर्ग, २२४।५३।

३—साकेत, नवम सर्ग, पृ० २६३।

तुम हो नीरस शरीर
मुझमें हैं नयन-नीर,
मुझको बतलाओ ।
लूँ मैं अंचल पसार, पीतपत्र, आओ ॥[1]

जिस प्रकार 'पीतपत्र' दीन दशा का प्रतीक है, उसी प्रकार अंतरिक्ष हृदय का प्रतीक है जिसमें विरह रूप काले बादल, पृथ्वी से (मन से) ही पानी ग्रहण कर, जगती को वरदान रूप में देते हैं । इस वैज्ञानिक घटना का काव्यात्मक रूप उर्मिला के विरह संकेत में प्राप्त होता है जो कवि की एक नितान्त मौलिक प्रतीकात्मक कल्पना है—

मेरी ही पृथिवी का पानी ।
ले लेकर यह अंतरिक्ष सखि, आज बना है दानी ।[2]

इन प्राकृतिक वस्तुओं तथा घटनाओं को प्रतीक का रूप देकर कवि ने अन्तर्जगत् की संवेदना को मुखर करने का प्रयत्न किया है । प्रेम का एक अन्य पक्ष निष्फल प्रेम भी होता है जो वियोग की भावना को जन्म देता है । प्रसाद ने 'आँसू' काव्य में इस निष्फल प्रेम की व्यंजना, समुद्र का अपने प्रिय चंद्रमा के निकट पहुँचने के निष्फल प्रयास से किया है—

देखा बौने जलनिधि का,
शशि छूने को ललचाना ।
वह हाहाकार मचाना
फिर उठ उठ कर गिर जाना ।[3]

परन्तु क्या इस अप्राप्य गंतव्य के न पाने पर समुद्र अपना प्रयत्न स्थगित कर देता है ? यह तो उसकी ही हार नहीं, पर प्रेम में वलिदान की हार है । तभी तो नदी की धारा अवाध गति से समुद्र की ओर चली जाती है, इस आशा से कि उसका मिलन समुद्र से तो होगा ही । ठीक उसी प्रकार उर्मिला की जीवन धारा इसी आशा से प्रवाहित है कि कभी उसे 'प्रिय' के दर्शन होंगे ही—क्योंकि प्रतीक्षा एवं प्रयत्न में एक बल होता है जो 'प्रिय' को अपनी ओर खींच ही लेता है—

१—साकेत, नवम सर्ग, पृ० २८८ ।
२—वही, नवम सर्ग, पृ० २९१ ।
३—आँसू, द्वारा प्रसाद, पृ० ७७ ।

पाया—अब पाया—वह सागर
चली जा रही आप उजागर
कब तक आवेंगे निज नागर
अवधि—दूतिका द्वारा
सखि, निरख नदी की धारा ।[1]

इन प्रतीकों में व्यक्तिगत अनुभूति किसी अन्य माध्यम के द्वारा व्यंजित होती है। परन्तु प्रसाद का 'आँसू' काव्य नितात व्यक्तिगत अनुभूति एवं आत्माभिव्यंजनात्मक शैली पर आश्रित एक विरह-काव्य है। इसमें प्रतीक—विधान का एक अत्यन्त व्यक्तिगत रूप प्राप्त होता है। आँसू के प्रतीक अपनी निजता में भी केवल आत्माभिव्यक्ति मात्र के व्यजक नहीं हैं, पर उनके द्वारा कवि ने एक व्यापक दर्शन का संकेत भी दिया है।[2] प्रतीक-दर्शन की दृष्टि से यह तथ्य 'आँसू' को केवलमात्र एक विरह काव्य ही नहीं घोषित करता है, पर उसमें कवि का बौद्धिक एवं मानसिक 'सत्य' भी है, जो एक जीवन-दर्शन की ओर ले जाता है। आँसू का प्रणय एवं विरह निवेदन एक रसात्मक 'कथा' का रूप कहा जा सकता है। एक प्रकार से, यह आत्मकथा प्रतीकों के द्वारा ही व्यंजित होती है। सत्य में, वासना से प्रेम, निराशा से आशा, निद्रा से जाग्रति और व्यक्ति से समष्टि का ग्रहण इसी वेदना के द्वारा सम्भव हो सका है। अतः कवि ने आँसू में जिन प्रतीकों को ग्रहण किया है, वे अधिकतर लौकिक तथा मानवीय हैं। सूफी कवियों की भाँति अलौकिक तथा अमानवीय नहीं हैं। इस दृष्टि से आँसू के अनेक प्रतीक चिन्तन तथा भावना के समन्वित आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित हैं। दूसरे शब्दों में, उसमें रागात्मिका वृत्ति तथा बौद्धिक चेतना का तिल-तंदुल रूप प्राप्त होता है।

इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में आँसू के प्रेम-विरह के प्रतीकों का सत्य स्वरूप हृदयंगम किया जा सकता है। इन प्रतीकों की पृष्ठभूमि का रहस्य स्वयं कवि के शब्दों में—

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति सी छाई।

१—साकेत, नवम सर्ग, पृ० ३०० ।

२—प्रसाद का काव्य, द्वारा डा० प्रेमशंकर, पृ० २६६ ।

दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आई ॥[1]

अतः 'आँसू' स्मृति के व्यक्त रूप हैं जो अनेक प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्ति को प्राप्त हुए है। यही कारण है कि आँसू के प्रतीक उसके भावोद्रेक एवं संवेदना को जीवित रखते हैं। जड़ प्रकृति में चेतना का आरोप, अन्योक्ति, लाक्षणिक व्यंजना—सभी तत्त्व सूक्ष्मता की ओर अग्रसर हैं। स्मृतियों का तरल होकर दुर्दिन में क्रियात्मक रूप धारण करना, हृदय तथा अंतःकरण में मंथन को जन्म देता है। कवि इन्हीं स्मृतियों को एक प्रतीक रूप में चित्रित करता है—

अवकाश असीम सुखों में
आकाश तरंग बनाता।
हँसता सा छायापथ में
नक्षत्र समाज दिखाता ॥[2]

यह नक्षत्र-समाज, जो हँसता सा दर्शित होता है, वह स्मृतियाँ ही हैं जो तरल हो गई हैं। हृदयाकाश भी भावपरिवर्तन के कारण सागर में परिवर्तित हो जाता है। यह सागर विस्मृति की लहरियों का प्रतीक है जिसके बारे में कवि ने कहा—

यह पारावार तरल हो
फेनिल हो गरल उगलता।
मथ डाला किस तृष्णा से,
तल में बडवानल जलता ॥[3]

सागर के अंतराल में (विस्मृति) सोती हुई बड़वाग्नि विरहाग्नि का प्रतीक है, जिसने सागर के अंतस्तल को मथ डाला है। इस मंथन से सागर के बुलबुलों का फूट जाना स्वाभाविक है और—

बुलबुले सिंधु के फूटे, नक्षत्र मालिका टूटी ॥
नभ-मुक्त-कुंतला धरणी, दिखलाई देती लूटी ॥[4]

आँसू का विरह-दर्शन एक ऐसे प्रतीकवाद को जन्म देता है जो जीवन

१—आँसू, पृ० १४।
२—वही, पृ० ४८।
३—वही, पृ० ४२।
४—वही, पृ० १०।

तथा विरह के समानान्तर रूपों को प्रकट करता है। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए टेनीसन ने भी 'इन मेमोरियम' में विरह को जीवन की सापेक्षता में ही देखा है। उसने विरह को 'पत्नी' के रूप में ग्रहण किया है।[1] इसी विरह का प्रतीक यह 'आँसू' है जो सीपी में एक रत्नाकर की तरह ज्ञात होता है—

> इस छोटी सी सीपी में, रत्नाकर खेल रहा है।
> करुणा की इन बूँदों में, आनन्द उड़ेल रहा है।[2]

यह सीपी ही नेत्र का प्रतीक है और रत्नाकर विरहजनित स्मृतियों का जो कवि को 'आनन्द' से भी ओतप्रोत कर रहा है। परन्तु वेदना का स्थान वहीं पर होता है, या वेदना अपना स्थान वहीं पर बनाती है जहाँ नितांत शून्यता का साम्राज्य हो। इसी शून्य हृदय में किसने किसने डेरा डाला, इसे भी कवि के शब्दों में सुनिए—

> झंझा झकोर, गर्जन था, बिजली थी, नीरद माला।
> पाकर इस शून्य हृदय को, सबने आ डेरा डाला॥[3]

वेदना के सभी तत्त्वों को कवि ने प्राकृतिक घटनाओं के द्वारा व्यंजित किया है। झंझा क्षोभ का प्रतीक है तो गर्जन तड़पन और पीड़ा का। दूसरी ओर बिजली हृदय में व्याप्त टीस की प्रतीक है और मेघमाला अंधकार का। इसी विरह वेदना को रजनी के तम के द्वारा भी व्यंजित किया है जिसमें स्मृतियाँ 'आलोक विंदु' (आँसू) के रूप में प्रकट होती हैं—

> रजनी की रोई आँखें, आलोक विंदु टपकातीं।
> तम की काली छायाएँ, उनको चुप चुप पी जातीं॥[4]

कितनी गहरी टीस है इन प्रतीको मे। यही विरह तो कवि के अनुसार 'काल

१—O sorrow, wilt thou live with me
No casual mistress but a wife
My bosom-friend and half of life
As I confess it needs must be.
इन ममोरियम, द्वारा टेनीसन, पृ० ५२।

२—आँसू, द्वारा प्रसाद, पृ० १५।

३—वही, पृ० ५७।

४—वही, पृ० ३७।

चादर' के समान है जिसका खुलना हम 'संध्या' के बाद देख नहीं पाते हैं।[१] इसी वेदना एवं क्षोभ से उद्भूत ये आँसू कवि टेनीसन के अनुसार धूमिल हैं जिनका रहस्य उसे ज्ञात नहीं है। किसी स्वर्गिक निराशा की गहराई से ये अश्रु हृदय में भर आते हैं और नेत्रों में साकार हो उठते हैं। लहलहाते हुए पतझर के खेतों को देखता हूँ तो उन दिनों की याद हो आती है जो अब नहीं रहे।[२] प्रसाद के 'आँसू' धूमिल एवं निष्क्रिय नहीं हैं, वे सक्रिय हैं, अपनी गति में वेगशील हैं। वेदना की गहनता में कवि की सूखी फुलवारी (हृदय) में पतझड़ तथा झाड़ (दुख-विषाद) खड़े हुए थे। ऐसे हृदय में उनका प्रिय किसलय नव-कुसुम के सहित मधुदूत होकर आभासित होता है।[३] जब प्रिय के इस प्रकार आगमन का आभास हो गया, चाहे वह स्मृति रूप में ही क्यों न हो, तब कवि के मानस लोक में एक विरहजनित हर्ष की साकारता होने लगी। कवि ने कहा—

हिलते द्रुमदल कल किसलय, देती गलबाही डाली।
फूलों का चुम्बन छिड़ती, मधुपों की तान निराली॥[४]

कवि के मानस लोक में कामना का सिंधु तो लहरा रहा है, और किसी शशि (प्रिय का मुख) की छवि शरद् पूर्णिमा की भाँति उसके हृदय पर आच्छादित है।[५] एक अन्य स्थान पर प्रियतम के आगमन का चित्र प्रस्तुत करते हुए कवि ने कहा—

घन में सुन्दर बिजली सी,
बिजली में चपल चमक सी।
आँखों में काली पुतली,
पुतली में श्याम झलक सी॥[६]

१—आँसू, द्वारा प्रसाद, पृ० ३७।

२—Tears, idle tears, I know not what they mean,
Tears, from the depth of some divine despair
Rise in the heart, and gather to the eyes
In looking on the happy autumn fields,
And thinking of the days that are no more.
द प्रिन्सेज, द्वारा टेनीसन, उद्धृत प्रसाद का काव्य से, पृ० १६८।

३—आँसू, पृ० १६।

४—वही, पृ० २६।

५—वही, पृ० ३३।

६—वही, पृ० ३८।

घन केश के प्रतीक हैं, तो बिजली रूप के आभा की प्रतीक है। प्रियतम की धूमिलता को ही यह सौंदर्य प्रकाश का दान देता है। इसका अभिव्यक्तीकरण कवि ने एक अत्यन्त सुन्दर प्रतीक-योजना के द्वारा प्रस्तुत किया है। गोधूलि (धूमिल) बेला में ही कोई अंचल के ओट में दीप जलाता है। आँखों में मिलन की प्रतीक्षा आभासित होती है। उधर अंबर में चंद्र का उदय होता है, इधर सुन्दरी का मुख शशि की छबि से पूर्ण है। अंचल का दीप झंझा में बुझ नहीं जाता, किन्तु वह छिप भी तो नहीं सकता। प्रियतम के हृदय का प्रेम (दीप) भी अनेक झंझाओं (क्षोभों) में गुप्त नहीं रह सकता है। प्रिय की जीवन धूमिलता (गोधूलि) को प्रकाश का दान इसी सौंदर्य ने दिया है। उस दिन कितना कुतूहल था जब इस दशा में 'प्रियतम' का आगमन हुआ, यथा—

> शशि मुख पर घूँघट डाले,
> अंचल में दीप छिपाये।
> जीवन की गोधूली में,
> कौतूहल से तुम आये।[1]

प्रियतम के इस आगमन पर कवि अपने प्रेम तथा विरह भाव को अनेक संबंध-प्रतीकों के द्वारा व्यंजित करता है (दीपक और पतंग, शशि और चकोर, ज्योत्स्ना और सागर आदि)। प्रियतम की यह विरह-जनित अनुभूति कवि की सर्वस्व है, क्योंकि उसके तममय अंतर में भी प्रिय के अतिरिक्त किसी अन्य का निवास नहीं है, उसकी पीड़ा ही उसमें निवास कर रही है—

> विभ्रम मदिरा से उठकर
> आओ तममय अंतर में।
> पाओगे कुछ न, टटोलो,
> अपने बिन, सूने घर में।[2]

परन्तु, कवि की यह विरह-वेदना और प्रियतम के प्रति एक आग्रह ही केवल कवि को मान्य नहीं है। वह तो विरह-वेदना के द्वारा एक ऐसे 'सत्य' को व्यंजित करना चाहता है जो विरह दर्शन की भावभूमि को स्पष्ट कर सके। इसके लिए उसने अपनी विरह-भावना का प्रसार व्यक्ति से समष्टि की ओर

१—आँसू, पृ० १६।

२—वही, पृ० ५१।

क्रमशः उन्मुख किया है। यही कारण है कि कवि के 'आँसू' की परिणति होती है उदात्त विश्व प्रेम की सर्वतोमुखी करुणा में। उसके विरह प्रतीक मानवीव प्रेम की वैयक्तिक भूमि से क्रमशः ऊपर उठते हैं, वैयक्तिक सौंदर्य और तज्जन्य अनुभूतियों से प्रभावित होते हैं, उन्हें परखते है और उनसे आगे बढ़ने का उपक्रम करते है। 'आँसू' की यही सार्थकता है कि वह किसी निराशा-जन्य जड़ता का कारण नहीं बन जाता। कालिमा धुल जाते ही कवि जीवन की गम्भीर समस्याओं पर विचार भी करता है। यही कारण है कि आँसू का स्वस्थ जीवन-दर्शन उसे दुखात काव्य होने से बचा लेता है। उसका कवि एक ऐसे स्वस्थ और विस्तृत रंगमंच पर खड़ा है जहाँ से उसका मानवतावाद स्पष्ट भासित होता है, क्योंकि—

सबका निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में,
बरसो प्रभात हिमकन सा
आँसू इस विश्व सदन में।[1]

(घ) रूप सौंदर्य के प्रतीक

द्विवेदी काव्य में रूप-सौंदर्य के प्रतीकों का स्वरूप मूलतः लौकिक धरातल पर ही है। इन प्रतीकों में परम्परा का और कुछ सीमा तक नवीनता का आग्रह प्राप्त होता है। जहाँ तक प्रतीको की संख्या का प्रश्न है, उनकी संख्या बहुत ही सीमित है। अधिकतर कावियों ने रूप-वर्णन में उपमानो की योजना अनेक अलंकारों के आवरण में यदा कदा की है।

परम्परा के अनेक प्रतीक यथा कमल, शशि, कलभ, हरि, दाड़िम आदि प्रयोग इस काल में बहुत ही सीमित है, और दूसरी ओर उनका उपमानगत प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक है। रामनरेश त्रिपाठी ने 'शशि' के प्रतीकत्व के द्वारा एक सौंदर्य-चित्र का भावात्मक निरूपण किया है। कवि ने 'शशि' को 'मुख' का प्रतीक रूप देकर नायक तथा नायिका के रूप-संकेत इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं—

सुन प्रणयी के इंदुवदन में,
मृदुल कौमुदी हास।

१—आँसू, पृ० ७६।

विकसित हुआ झुकाया उसने,
शशि को शशि के पास।[1]

एक अन्य स्थान पर कवि ने अनेक परम्परा के उपमानों को समष्टि रूप से नियोजित किया है, और उनको रूपकातिशयोक्ति के अंतर्गत प्रतीकों की स्थिति तक पहुँचा दिया है। सूर के कूटों में तथा रीतिकाल में ऐसी प्रतीक-योजनाएँ यदा-कदा मिलती है जिन पर हम विचार कर चुके है। उसी प्रकार एक गणनामात्र का रूप यहाँ पर भी ग्रहण किया गया है।[2] इस गणना मे कमल नेत्र का, सिंह कटि का, लता शरीर का, गिरि कुच का, कम्बु ग्रीवा का, शशि मुख का, प्रवाल ओष्ठ का, दाड़िम दंतपंक्ति का, पिक स्वर का, शुक नासिका का, मृग नेत्र की चपलता का, शुक्ति दाँतों का और अलिकुल केशों के प्रतीक है। इस योजना में किसी प्रकार की नवीनता के दर्शन नहीं होते हैं।

सौंदर्य-वर्णन में कवि अप्रस्तुतगत प्रतीकों की योजना को एक नवीन भावभंगिमा के साथ भी रख सकता है और प्रसाद के 'आँसू' में इस भाव-भंगिमा के सुन्दर दर्शन होते हैं। इस क्षेत्र में प्रसाद जी ने नवीन दिशा की ओर संकेत किया है। यहाँ पर सुन्दरता अत्यन्त सूक्ष्म एवं अशरीरी हो गई है। सुन्दरी का मुख अलकों से घिरा, काली जंजीरों में बँधे चंद्रमा की भाँति प्रतीत होता है जो प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से एक नूतन उद्भावना ही है। यथा—

बाँधा था विधु को किसने,
इन काली जंजीरों से,
मणिवाले फणियों का मुख,
क्यों भरा हुआ हीरों से।[3]

नीलम की प्याली में मदिरा की कुछ ऐसी ही दशा थी जैसे नेत्रों में झूमती हुई मादकता की। सूफ़ी कवियों के साक़ी में भी कुछ इसी प्रकार की मादकता के दर्शन होते हैं।

कवि सौंदर्य-संकेतों में परम्परा की ओर भी आकृष्ट है और इसका सुन्दर उदाहरण प्रियतम के इस वर्णन में साकार हो उठा है—

१—मिलन, द्वारा रामनरेश त्रिपाठी, प्रथम सर्ग, पृ० २।५।
२—पथिक, द्वारा रामनरेश त्रिपाठी, प्रथम सर्ग, पृ० १०।
३—आँसू, पृ० २१।

विद्रुम सीपी सम्पुट में
मोती के दाने कैसे ?
है हंस, न शुक यह, फिर क्यों,
चुगने को मुक्ता ऐसे ।[1]

सीपी में मोती के दानों के समान ही उसकी दंत-पंक्ति ओष्ठों के मध्य में थी। प्रियतमा के प्रथम दर्शन में कवि ने उसे नितान्त सौंदर्य युक्त दशा में अवलोकन किया, इसी रूप सुधा को कवि ने 'मधु राका के मुस्काने' से व्यंजित किया है।[2] इस प्रकार मुख के लिए कमल का प्रयोग भी कवि ने एक स्थान पर किया है। कमल के (मुख) समीप दो पुरइन रहते हैं। कमलपात पर जलविन्दु क्षण भर भी नहीं ठहरते। प्रियतमा के कमल मुख के ही निकटस्थ कर्णों (पुरइन) में भी प्रेमी की आर्त्तवाणी (जलविन्दु) न रुक सकी।[3]

इस प्रकार आँसू के इन रूप-प्रतीकों के द्वारा कवि ने भावाभिव्यंजना को भी मुखरता प्रदान की है। प्रत्येक प्रतीक सजीव एवं सप्राण है। नारी के नख-शिख वर्णन में नीलम की प्याली, चन्द्रमा, काली जंजीरें, मधुराका, क्षितिज, कमल, सीपी, मोती के दाने आदि जितने भी प्रतीकों का प्रयोग कवि ने किया है, उन सभी में भाव तथा रूप साम्य है। सबसे विलक्षण प्रतीकों का प्रयोग वहाँ पर कवि ने किया है जहाँ रूप संकेत और संभोग शृंगार का एक साथ निर्वाह किया है। कवि कहता है—

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा,
निश्वास मलय के झोंके।[4]

यहाँ कुंभ कुच का और मलय निश्वास के द्योतक हैं। परिरम्भ कुंभ की मदिरा तथा 'मुख' चन्द्र चाँदनी के प्रतीकों में कवि ने रूप तथा संभोग शृंगार का सांकेतिक चित्रण किया है। मिलन और विरह, सौंदर्य तथा निर्दयता, सभी का अंकन इन्हीं प्रतीकों के द्वारा किया गया है। निर्दयता की भावना और सौंदर्य की भावना का रूप इन पंक्तियों में साकार हो उठा है—

१—आँसू, पृ० २३।
२—वही, पृ० १७।
३—वही, पृ० २६।
४—वही, पृ० ३४।

हीरे सा हृदय हमारा,
कुचला सिरीष कोमल ने।
हिम शीतल प्रणय अनल बन
अब लगा विरह में जलने ।।[1]

विरोधाभास का यहाँ पर एक अत्यन्त हृदयग्राही प्रतीकात्मक रूप है। हीरे को कोमल शिरीष कैसे कुचल सकता है? किन्तु नहीं, सौंदर्य की सुकुमारता ने (शिरीष कुसुम) ही प्रेमी के हीरे रूप हृदय को पराजित कर लिया है। स्वयं शीतल हिम प्रणयाग्नि बन कर जल उठा, और यही तो है प्रेम का परिवर्तित रूप। इस प्रकार प्रसाद ने रूप-प्रतीकों को एक नूतन संदर्भ में प्रयोग कर उनके सापेक्षिक महत्त्व की ओर संकेत किया है। रूप प्रतीकों के उपर्युक्त विश्लेषण के प्रकाश में डा० प्रेमशंकर का यह कथन नितान्त सत्य है -. कवि ने अपने जीवन में जो अनुभव प्राप्त किये थे, उसीसे उसने आँसू की नारी का निर्माण किया। उसमें रूप, ताप सभी कुछ हैं। अपनी सम्पूर्ण मादकता को लेकर भी यह नारी केवल वासना और ऐन्द्रियता का प्रतीक बन कर नहीं रह जाती। अपने शारीरिक आकर्षण में भी वह गुणों से पूरित है। स्थूल सौंदर्य जीवन में वह क्रान्ति नहीं ला सकता जो आँसू की नारी प्रस्तुत कर सकी। प्रसाद की यह कल्पना योरुप में युगों तक प्रचलित रहनेवाली 'हेलन की सुन्दरता' के आगे बढ़ जाती है।[2]

(ङ) सामाजिक तथा राष्ट्रीय प्रतीक

इन प्रतीको में प्रेम का एक समष्टिगत रूप प्राप्त होता है जो अपनी विस्तृत परिधि के कारण देश, समाज, राष्ट्र एवं विदेशी सत्ता—सबको अपने अन्दर समेटे हुए है। पृष्ठभूमि 'क' में यह संकेत किया जा चुका है कि इस काल के कवियों ने अन्योक्तियों के माध्यम से उन्हें जो कुछ भी कहना अभीप्सित था, उसे उन्होंने अपने प्रतीकों के द्वारा व्यंजित किया है। अस्तु, इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में इन समस्त प्रतीकों को हम निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) पौराणिक तथा ऐतिहासिक (कथा काव्य भी)

(२) मानवेतर प्रकृति (चेतन तथा जड़)।

१—आँसू, पृ० ३०।

२—प्रसाद का काव्य, द्वारा डा० प्रेमशंकर, पृ० १६६।

(१) पौराणिक तथा ऐतिहासिक प्रतीक

द्विवेदीयुगीन काव्य में इस वर्ग के प्रतीकों की अत्यधिक संख्या है, क्योंकि सामान्यतः इस काल की प्रवृत्ति इतिवृत्तात्मक काव्यों की ओर अधिक थी। युगों से मान्य कृष्ण तथा राम को इस काल के कवियों ने उनके पौराणिक एवं धार्मिक स्वरूपों के साथ उन्हें समाज एवं राष्ट्रसापेक्ष रूप में भी ग्रहण किया।[१]

इसके अतिरिक्त हमें इस काल में अनेक अन्य पौराणिक आख्यानक-काव्य प्राप्त होते हैं जिनमें अप्रत्यक्ष रूप से देश तथा समाज प्रेम की झलक प्राप्त हो जाती है। कवियों ने इन काव्यों के द्वारा देश की सुप्त चेतना को जाग्रत करने के लिए प्रयत्न किया है।

ऐतिहासिक तथा पौराणिक आख्यानों में यह शक्ति है कि वह किसी भी संदर्भ में अपने पात्रों का उन्नयन एवं उदात्तीकरण कर सकती हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, सनेही, प्रसाद, लाला भगवानदीन, कामताप्रसाद, गुरु आदि कवियों ने इस दिशा में विशेष कार्य किये हैं। इस काल मे वीर काव्यों की बहुलता का एक मनोवैज्ञानिक कारण भी दृष्टिगत होता है। उस समय का मध्यवर्गीय समाज ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अत्याचार से आतङ्कित हो गया था। राजनीति के क्षेत्र में विदेशी सत्ता का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्रभाव देखकर उस वर्ग में एक असंतोष की भावना ने जन्म लिया। इस असन्तोष ने देश-प्रेम की भावना का बल पाकर एक सक्रिय रूप में काव्य के क्षेत्र में पदार्पण किया। उस समय के अधिकांश कवि मध्यवर्गीय समाज के थे जो देश की दशा को निकट से अध्ययन कर सके। उन्होंने देश की 'आत्मा' को पकड़ने का प्रयत्न किया, जिसके फलस्वरूप उन्होंने 'आदर्शजगत्' की अवतारणा पुराण तथा इतिहास के द्वारा सम्पन्न की। इस साम्राज्यवादी आतङ्क का, अत्याचार का, अर्थ-शोषण का, भाषा, भोजन और भेष का, दयनीय दलित रूपों का, उस समय सामना नेतागण ही कर रहे थे जो विभिन्न सुधारवादी आन्दोलनों एवं कांग्रेस के प्रतष्ठित पुरुष थे। इन नेताओं का आदर्शीकरण करने के लिए भी इन्होंने अनेक पौराणिक तथा ऐतिहासिक कथानकों का आश्रय लिया। मेरे विचार से पौराणिक कथानकों के द्वारा इस काल के कवियों ने उन्हें इसी रूप में 'प्रतीक' का स्वरूप दिया है जिसमें आदर्श-भावना की चरम परिणति है। यही इस काव्य का प्रतीकत्व है, जो अपरोक्ष है। पौराणिक देवी देवताओं को लेकर कवियों ने उपर्युक्त सत्य का ही प्रतिपादन किया

१—देखो पृष्ठभूमि 'क' में राम तथा कृष्ण के प्रतीकरूप में।

है। श्री मैथिलीशरण गुप्त जी ने इस दिशा में विशेष सफलता प्राप्त की है। यही नहीं, उन्होंने उर्मिला, यशोधरा, काली (शक्ति-काव्य) आदि नारी चरित्रों के द्वारा, एक प्रकार से, उनके सामाजिक एवं जातीय जीवन को ही मुखर किया है। 'भारत-भारती' में उनकी जो सास्कृतिक चेतना स्फुरित हो सकी, वह मानों समस्त भारतीय राष्ट्र की चेतना का, उसकी स्फूर्ति का 'प्रतीक' ही बन गई। नवजागरण का सांस्कृतिक पक्ष जितनी सुन्दरता से 'भारत-भारती' में व्यंजित हो सका, उसने उस ग्रंथ को राष्ट्रीय जागरण एवं ज्योति का एक प्रकाशपिंड ही घोषित कर दिया। इस दृष्टि से मैं 'भारत भारती' को राष्ट्रीय नवजागरण का एक 'प्रतीक-ग्रंथ' मानता हूँ। इसी प्रकार से अन्य पौराणिक अख्यानों का संकलन 'कविता-कौमुदी' तथा सरस्वती पत्रिका (१६०० १६२६) में प्राप्त होता है।

मैं अपने उपर्युक्त कथन को एक कथा-काव्य के द्वारा स्पष्ट कर देना चाहता हूँ—ऐसा काव्य है, श्री मैथिलीशरण का 'शक्ति' काव्य। 'शक्ति' काव्य में शक्ति (काली) का प्रादुर्भाव देवों की सम्मिलित शक्ति के द्वारा प्रदर्शित किया गया है—जिसने आसुरी शक्तियों का पराभव किया। प्रतीकात्मक दृष्टि से यह कथा देवासुर संग्राम का ही एक मानसिक रूप है। इसमें सद्वृत्तियों के प्रतीक देवगण हैं जिनकी एकत्र शक्ति का नाम 'शक्ति' है जो महिषासुर पर विजय प्राप्त करती है। कवि ने अत्यन्त कुशलता से इस प्रतीकात्मक कथा-काव्य में सामाजिक एवं राष्ट्रीय भावों का संगुंफन किया है। असुरों के भीषण अत्याचार के जो संकेत कवि ने दिये है, वे विदेशी सत्ता के प्रति भी लागू होते है, यथा—

दुष्ट दैत्यगण मचा रहे हैं दारुण अत्याचार।[1]

यही नहीं, कवि ने इन दैत्य-अंग्रेज़ों के प्रति यह भी कहा है कि वे लोग दया कर भारतीयों को स्वतंत्रता न दे देंगे—

भरी घोर हिंसा दनुजों में
जो हैं नीच निसर्ग।
लौटा देंगे वे न दया कर
हमें हमारा स्वर्ग॥[2]

१—शक्ति, द्वारा मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ७।

२—वही, पृ० ८।

यह स्वर्ग ही देवों की अमरावती है (भारत) जिसे केवल संघ शक्ति के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है—

सबकी एक प्रदीप्ति मूर्ति वह,
सबकी एक स्फूर्ति ।
सबकी वह सम्मिलित शक्ति थी,
महाशक्ति की मूर्ति ।[१]

यहाँ पर कवि भारतीय राष्ट्र की संघ शक्ति का आवाहन करता है, क्योंकि संगठित जाति की स्फूर्ति में एक हिमालय की सी दृढ़ता होती है। कवि ने महिषासुर मृत्यु के बाद देवों के द्वारा जो 'शक्ति' की वंदना करवाई है, वह मानों भारतीय राष्ट्र की शक्ति मूर्ति की वंदना है—

हम सब तुझमें, तू हम सबमें,
हम अनेक तू एक ।
तू ही एक हमारी मतिगति,
तू ही बुद्धि विवेक ।[२]

जो बात 'शक्ति' काव्य के बारे में सत्य है, वही अन्य पौराणिक काव्यों के बारे में भी। यह दूसरी बात है कि अन्य कवि गुप्त जी के समान राष्ट्रीय भावनाओं को अपने काव्यों में अन्तर्हित न कर सके हों, पर सभी ने न्यूनाधिक रूप से इसी प्रवृत्ति का विकास अवश्य किया है। जो बात पौराणिक आख्यानक काव्यों के बारे में समीचीन है वही 'सत्य' ऐतिहासिक कथाओं में भी दृष्टिगत होता है। लाला भगवान दीन ने 'वीरपंचरत्न' में राणा प्रताप आदि का जो चित्रांकन किया है, उसमें राष्ट्र-नायक के ही दर्शन होते है। कामताप्रसाद गुरु ने 'दुर्गावती' में शाह को एक विदेशी सत्ता के रूप में और रानी को नायिका रूप में राष्ट्र नेता का रूप प्रदान किया है।[३] इसी प्रकार सियारामशरण गुप्त ने 'मौर्य विजय' में चंद्रगुप्त को भी राष्ट्रनायक अथवा नेता के रूप में चित्रित किया है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति प्रसाद में भी अत्यन्त स्पष्ट है। उन्होंने प्राचीन वैभव का गान कर आधुनिक भारतीय दशा का चित्र अंकित किया है। उनकी अनेक कविताओं में राष्ट्रीय स्वर अत्यन्त स्पष्ट है। ऐसी ही एक कविता 'शिल्प सौंदर्य' है जिसमें प्रसाद भारतीय संस्कृति के ध्वंसावशेष को प्रतीक का

१—शक्ति, पृ० ११।

२—वही, पृ० २७-२८।

३—सरस्वती, फ़रवरी, १९१५, पृ० १११ पर 'दुर्गावती कविता'।

रूप प्रदान किया है। उन्होंने उस 'प्रतीक' को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न किया है।

> हे भारत के ध्वंस शिल्प ! स्मृति से भरे,
> कितनी वर्षा शीताताप तुम सह चुके।
> तुमको देख करुण इस वेष में,
> कौन कहेगा कब किसने निर्मित किया।
> शिल्पपूर्ण पत्थर कब मिट्टी हो गए,
> किस मिट्टी की ईंटें हैं बिखरी हुई।[1]

वर्षा, शीत और आतप—इनके द्वारा कवि ने भारत के ऊपर युगों-युगों से होते हुए वाह्य आक्रमणों एवं संकटों का ही चित्र खींचा है जो एक प्रतीकात्मक रूप है। यदि आज के अधोगामी भारत की सांस्कृतिक दशा को देखा जाय तो उसके शिल्पपूर्ण पत्थरों को पहचानना ही दुर्लभ हो जाय। अब ये शिल्पपूर्ण पाषाण (गौरव) मिट्टी के रूप में परिवर्तित हो गए हैं। उनका जीवन रस जो उन्हें स्फूर्ति प्रदान करता था, लुप्तप्राय हो गया है। इस प्रकार, प्रसाद ने एक प्रतीक (शिल्प पाषाण) द्वारा भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्र की दयनीय दशा का और उसके प्राचीन वैभव का चित्र एक साथ अंकित किया है। इसी प्रकार 'जन्माष्टमी' कविता में कंस के हृदय की दुश्चिन्ता सा व्याप्त अंधकार रूप घन देश के ऊपर विदेशी आतंक का, जातीय अज्ञानता का प्रतीक है। यही नहीं, कवि कृष्ण के आगमन को एक दिव्य ज्योति के रूप में ग्रहण करता है जो भारत भाग्य एवं विश्व-भाग्य पर पड़ी कालिमा को दूर कर सकेगा—

> उसे उजेले में ले आने को अभी,
> दिव्य ज्योति प्रकटित होगी सत्य ही।[2]

इन कविताओं में, स्पष्ट रूप से, प्रसाद की राष्ट्रीय भावना का एक भावात्मक रूप प्राप्त होता है। इसी भावना का आदर्शीकरण उन्होंने कुछ ऐतिहासिक चरित्रों के द्वारा भी किया है। 'महाराणा का महत्त्व' में राष्ट्र-प्रेम की भावना प्रताप के शौर्य तथा देश-प्रेम के द्वारा व्यक्त हुई है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति 'भरत' कविता में भी लक्षित होती है जिसमें राष्ट्रीय भावना की प्रबलता है। भरत भारत के गौरव का प्रतीक है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के मारीच ने भरत के

१—कानन कुसुम, शिल्प सौंदर्य, पृ० ११०।

२—कानन-कुसुम, जन्माष्टमी, पृ० १२३-१२४।

सर्वदमनकारी, सप्तद्वीप विजेता की भविष्यवाणी की थी और कहा था कि संसार का कोई भी वीर इसके सामने टिक नहीं सकेगा। यहाँ सभी जीवों की रक्षा करने के कारण इसका नाम सर्वदमन था। आगे यह संसार का भरण-पोषण करेगा, और भरत कहलायेगा।[1] प्रसाद ने भरत के इसी सर्वदमनकारी रूप का चित्रांकन किया है।

द्विवेदीयुगीन काव्य में प्राप्त अनेक ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यानकों का प्रतीकात्मक रूप इसी दृष्टि से हृदयंगम किया जा सकता है। इस प्रवृत्ति में प्रसाद का स्थान अन्य कवियों से सर्वथा भिन्न है। अन्य कवियों की भाँति प्रसाद की इन रचनाओं में इतिवृत्तात्मकता अधिक नहीं है। दूसरी ओर प्रसाद के आख्यानों में संकेत अधिक है जो उन्हे प्रतीकात्मक रूप भी दे देते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि कवि अपनी व्यक्तिगत अनुभूति और चिन्तन के आधार पर एक भावात्मक जीवन-दर्शन प्रस्तुत करना चाहता है। यही कारण है कि प्रसाद के आख्यानक काव्यों में भी कवि का आंतरिक संघर्ष भी देखा जा सकता है। रामनरेश त्रिपाठी और मैथिलीशरण गुप्त मे विस्तार और व्यवस्था अधिक है, उनमें आन्तरिक संघर्ष के कम ही दर्शन होते है। इस दृष्टि से प्रसाद के ये 'कथा काव्य' भावप्रधान आत्मनिष्ठ और व्यक्तित्व-निष्ठ होने से प्रतीकात्मक अधिक हो गए है।

इतना होने पर भी, जहाँ तक राष्ट्रीय भावना की अन्विति का प्रश्न है, उसका एक सबल रूप हमें गुप्त जी तथा त्रिपाठी जी में मिलता है। रामनरेश त्रिपाठी और श्रीधर पाठक ने लौकिक कथानकों को अपनी भावाभिव्यंजना का माध्यम बनाया है। इस प्रकार राष्ट्रीय एवं जातीय प्रेम भाव को प्रतीकात्मक रूप से व्यंजित किया है। सत्य में, इस प्रवृत्ति का प्रेरणा-स्रोत पाश्चात्य लौकिक आख्यानक गीतों का है जिसमें गोल्डस्मिथ के 'हरमिट', 'डेजर्टेड विलेज' और 'ट्रेवलर' का प्रमुख स्थान है। श्रीधर पाठक ने भी उसी के आधार पर 'ऊजड़ गाँव' की रचना की है जो एक अनुवाद है। यही उनके 'एकांत-वासी योगी' और 'श्रांतपथिक' के बारे में भी सत्य है। जहाँ तक मौलिकता का सम्बन्ध है, उसका तत्त्व रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन' तथा 'पथिक' काव्यों में अधिक है। अतः उन्हीं के आधार पर मेरा विवेचन अपेक्षित होगा। मौलिकता की दृष्टि से श्रीधर पाठक की 'भारत गीत' पुस्तक, राष्ट्रीय एवं

१—प्रसाद का काव्य, द्वारा डा० प्रेमशङ्कर, पृ० १५१।

जातीय प्रतीकों की दृष्टि से, एक मौलिक रचना है। इस पर यथा स्थान विवेचन होगा।

त्रिपाठी जी ने राष्ट्रीय एवं जातीय रूप का संकेत 'मिलन' काव्य में यदा-कदा दिया है। इस प्रेम-कथा के द्वारा कवि ने प्रणय-पथ के आवरण में भारतीय दशा एवं देश-प्रेम की भावना का एक कर्तव्य के रूप में चित्रांकन किया है। स्पष्ट ही, कवि ने प्रणय भाव को देश-प्रेम के भाव का पोषक ही माना है। अतः मिलन का 'प्रेम' एक व्यापक संदर्भ का वाहक है जिसमें 'राष्ट्रीय, जातीय एवं दाम्पत्य भावनाओं का समष्टि रूप प्राप्त होता है। विजया और आनन्द उस व्यापक प्रेम के प्रतीक हैं। आनन्द के निम्न वचन मेरे ऊपर के कथन को स्पष्ट करते हैं—

तुम रमणी सुकुमारमना हो
यह अब जाओ भूल।
पर-पद दलित स्वदेश भूमि को
चलो करें उद्धार।
हम मनुष्य होकर क्यों छोड़ें
निज पैतृक अधिकार।[1]

तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलनों का भारतीय जीवन में एक प्रमुख स्थान हो गया था। उसी आंदोलन की भावभूमि को स्पष्ट करने के लिए कवि ने एक ऐसी घटना की अवतारणा की है जो तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलनों का प्रतीक रूप सा ज्ञात होती है। अँग्रेज़ो के अत्याचार का और नवोदित भारतीय चेतना का संघर्ष भी नितात स्पष्ट है—

स्वतंत्रता के लिए प्रजा जब
उत्सुक हुई नितांत।
विजातीय शासकगण ने तब,
सुन पाया वृतांत।
वे अतीव क्रोधातुर धाये
दल बल सहित अपार।
करने लगे उठे हृदयों पर
भीषण अत्याचार।[2]

१—मिलन, द्वारा रामनरेश त्रिपाठी, पृ० ८-९।१९ प्रथम सर्ग।
२—मिलन, द्वारा रामनरेश त्रिपाठी, पृ० ६७-६८।२९ चतुर्थ सर्ग।

इस प्रकार, मिलन काव्य की भावभूमि में पौराणिक कथाओं की तरह जातीय एवं राष्ट्रीय भावना अंतःसलिला की भाँति प्रवाहित प्रतीत होती है। इस काल के कवियों ने इस प्रकार लौकिक और पौराणिक (ऐतिहासिक भी) माध्यमो के द्वारा ऐसे प्रतीकात्मक संदर्भों की अवतारणा की है जिनमें राष्ट्र एवं समाज के पक्षों का समाहार हुआ है। यह तत्कालीन समय की एक माँग थी जिसे कवि अवहेलना की दृष्टि से देख नहीं सकता था।

(२) मानवेतर प्रकृति और प्रतीक योजना

इस वर्ग के अन्तर्गत कवियों का देश तथा जाति-प्रेम अनेक प्राकृतिक वस्तुओं एवं जीवों के द्वारा व्यंजित हुआ है। प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रतीकों के चयन में परम्परा के भी प्रतीक हैं और अनेक नवीन भी। इसी के आधार पर, विवेचन की सुविधा के लिए, मानवेतर प्रकृति के प्रतीको को दो खण्डों में विभाजित कर सकते है—

(१) जड़ प्रकृति

(२) चेतन प्रकृति

प्राकृतिक घटनाएँ तथा जड़ प्रकृति

कवियों ने प्रकृति के व्यापारो तथा वस्तुओं को ऐसे प्रतीकात्मक संदर्भों का वाहक बनाया है जिनसे तत्कालीन देशीय तथा सामाजिक परिस्थितियो का चित्र साकार हो सके। किसी भी देश के लिए चेतन ज्ञान का प्रकाश अपेक्षित है जो वहाँ के 'तम' का नाश कर सकने में समर्थ हो। तभी देश के जीवन में एक क्रान्ति, एक जागरूकता के दर्शन हो सकते है। विश्व के इतिहास में जहाँ कहीं भी 'क्रान्ति' का स्वर मध्यवर्गीय एवं निम्नवर्गीय जनता से उठा है, वहाँ इस 'प्रकाश' की अवतारणा प्रथम हुई है। तभी तो, ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने तेजवान प्रभाकर का सिंहावलोकन करते हुए अंधकार में अनेक निशाचरों के अत्याचारों के नाश की प्रार्थना की है। ये निशाचर ही विदेशी सत्ता के प्रतीक हैं।[1]

इससे भी सुन्दर हृदयग्राही वर्णन पाठक जी ने भारत गगन पर 'रैन' (अंधकार-अज्ञान) के आच्छादित होने की घटना से किया है। भारत को एक ऐसी देवनारी का रूप दिया है जिसके किंकणि एवं नूपुर टूट कर गिर रहे

१—अन्योक्ति तरङ्गिणी, पृ० २६, द्वितीय तरङ्ग।

हैं जो भारत की दयनीय एवं दलित अवस्थाओं के द्योतक हैं। मानवीकरण के द्वारा कवि ने भारत की दशा का एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है—

मिलन प्रिय अभिसारि सुर-तिय,
चलत चञ्चल पगन।
छिटकि छूटत तार किंकनि,
टूटि नूपुर—नगन।
निरखहु रैनि भारत-गगन।[१]

जब देश पर पराधीनता की रैन है, तब एक अभिसारिका के भूषण भी टूट कर गिर जायँ तो असम्भव नहीं है, क्योंकि उसका अभिसार एक अन्य व्यक्ति (सत्ता) से ही होगा। कवि ने यहाँ पर एक परम्परा के प्रतीक (अभिसारिका) को भारतीय दशा का व्यंजक बनाकर अपनी मौलिक कल्पना का सुन्दर परिचय दिया है।

परन्तु देश एवं राष्ट्र का उद्धार निर्बलता से नहीं होता है, उसके लिए पौरुष एवं कर्त्तव्य भावना का होना अपेक्षित है। विश्व का इतिहास भी यही सिद्ध करता है कि निर्बल राष्ट्रों ने अपने श्रम, बल और अपने बलिदान से देश के भाग्य को बदल दिया है। इसी भाव को एक प्रतीकात्मक रूप देने के लिए श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने एक निरीह 'तारे' के बल पौरुष का चित्रांकन किया है—

इस विस्तीर्ण गगन मंडल का एक परम लघु तारा।
अगणित तारागण में यद्यपि छुपा रहा बेचारा॥
अपने बल पौरुष से अपना किया बुलन्द सितारा।
कभी सहस्र—किरन के आगे अपना कर न पसारा॥[२]

इस सितारे (भाग्य) को बुलंद करने के लिए किसी भी देश को सावधानी से कार्य लेना पड़ता है। किसी उच्च ध्येय को प्राप्त करने के लिए अनेक संकटों का सामना करना पड़ता है—अनेक औघट घाटों, नदियों, अंधड़ों को पार करना पड़ता है। अपनी खोई शक्ति का संचय कर (बेड़ा बनाना), अन्य लोगों पर अधिक आश्रित न होकर, अपने बाहुबल के द्वारा ही देश का भाग्य परिवर्तन हो सकता है। श्रीधर पाठक ने उपर्युक्त भाव को एक प्रतीक-योजना के

१—भारत गीत, पृ० ६२ 'भारत-गगन'।

२—सरस्वती, अप्रैल, १६१८ सख्या ४, पृ० १६६ पर 'तारा' कविता, द्वारा नवीन जी।

द्वारा व्यक्त किया है जिसमें सावधानी से महत् कार्य (देशोद्धार) में संलग्न होने की चेतावनी है—

तू प्यारे कहना मान, अभी मत चल रे।
गहरी दरिया, नाव पुरानी, चल रहा अंधड़ चढ़ रहा पानी,
औघट घाट, थाह अनजानी, केवट कर रहा आनाकानी,
मत होवै नादान, जिद्द से टल रे॥
थका हुआ है, कुछ सुस्ता ले, पता पार का कुछ पुछवा ले,
अपना बेड़ा आप बनाले, क्यों पड़ता गैरों के पाले,
होगा जल्द उतार आज या कल रे॥[1]

जातीय उद्धार के लिए व्यक्तियों का बलिदान भी अपेक्षित है। बलिदान तथा आत्मत्याग के द्वारा देश की चेतना, जो प्रस्तुत चिनगारी की तरह काली राख में पड़ी हुई है, उसे प्रज्वलित किया जा सकता है। यह चिनगारी (देश की चेतना) विदेशी सत्ता के कारण नितान्त कुचल दी गई है। उसी को पुनर्जीवित करने के लिए कवि ने इस प्रतीक का सहारा लिया है—

स्मृति अंकित रह गया चरित्र।
विस्तृत काली राख पड़ी है विगत विकास विचित्र।
कुचल दिया चिनगारी को, हो, कौलों ने एकत्र।
सुप्त दशा में सिसक रहा है, इसका प्राण पवित्र।
'ईश्वर' अब तो शीघ्र जगा दे, चलकर मारुत मित्र।[2]

यह काली राख प्राचीन वैभव की प्रतीक है। व्यक्ति और राष्ट्र का सम्बन्ध जहाँ इस 'राख' में दबी चिनगारी को प्रज्वलित कर सकता है, वहीं वह व्यक्ति के उस सम्बन्ध की ओर भी संकेत करता है जो तत्कालीन दशा से निर्मित हुआ है। यदि एक देशवासी देश के प्रति अन्य वाह्य प्रभावों के द्वारा अपने कर्तव्य को भूल जाय, तो वह समाज के प्रति उदासीन ही कहा जायगा। द्विवेदीयुगीन भारत की दशा कुछ इसी प्रकार की थी कि व्यक्ति पाश्चात्य प्रभावों के कारण अपने देश की सभ्यता एवं धर्म आदि को भूले जा रहे थे। श्रीकृष्णदास ने कदाचित् इसी दशा से बचाने के लिए, सीप और समुद्र की प्रतीक योजना का सहारा लिया है। इसमें सीप को एक ऐसे व्यक्ति का रूप

१—भारत गीत, कविता सावधानी, पृ० ७३-७४।

२—अन्योक्ति तरंगिणी, द्वारा ईश्वरी प्रसाद, पृ० ५६ षष्ठ तरंग।

दिया है जो घन से प्रेम करने के कारण अपना निवास तक छोड़ देती है, पर वह फिर लौट कर समुद्र को मोती का वरदान देती है। इसी प्रकार समाज में रहने वाला व्यक्ति चाहे थोड़ी देर के लिए समाज को छोड़ भी दे, पर अन्त में, अपने सापेक्षिक अस्तित्व के कारण, उसे समुद्र रूपी संसार में आना ही पड़ता है। व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह जिस देश समाज में पैदा हुआ है उसे 'मोती' से भर दे, अपनी 'सीप' का उन्नयन कर—

> पर है तेरा स्नेह दूर गगन स्थित घन से,
> स्थित से क्या, वह मिला हुआ जो है तव मन से॥
> उसके लिए निवास छोड़ देती तू अपना,
> ऊपर आती मग्न भाव सुख को कर सपना।
> प्रेम नीर की झड़ी लगा देता तब घन है,
> छक जाता बस एक बूँद में तेरा मन है।
> इस सुख से ही मत्त किन्तु क्या तू गृह तजती,
> नहीं नहीं फिर लौट उसे मोती से सजती।[1]

समस्त कविता की अन्तिम दो पंक्तियाँ ऊपर की पंक्तियों के अर्थ को एक प्रतीकात्मक रूप प्रदान करती हैं जो 'व्यक्ति' और देश के सम्बन्ध का एक सुन्दर रूप कहा जा सकता है।

इन उदाहरणों के प्रतीकात्मक संदर्भ यह स्पष्ट करते हैं कि कवियों ने दलित देश की अवस्था को सम्मुख रखा तो अवश्य है पर उनके सामने देश-जाग्रति का भावी सूर्य आलोकित होता हुआ दृष्टिगत होता है। उन्होंने देश की निराशाजनक स्थिति में भी आशा की, उत्साह की एवं त्याग की भावनाओं को अपने प्रतीकों के द्वारा व्यंजित किया है। कर्म-क्षेत्र में प्रत्येक मानव को अपना सर्वस्व त्याग कर देना होता है, तभी देश एवं जाति का उद्धार सम्भव होता है। शहीदों की एक एक रक्त बूँद स्वाधीनता की आधारशिला को प्रस्तुत करती है। जब प्रत्येक व्यक्ति देश, जाति एवं समाज के लिए एक सूखे पेड़ की तरह, इस आकांक्षा को अपने हृदय में जन्म दे सके कि उसकी अन्तिम 'राख' से भी देश एवं जाति का कल्याण हो, तभी देश का भाग्य विधाता जीवंत होकर क्रियाशील हो सकता है—

१—सरस्वती, जनवरी १६१८, सख्या १, पृ० १७ पर 'परिग्रह' कविता, द्वारा श्रीकृष्णदास।

जीर्ण शीर्ण यह अधम कलेवर
जलकर कर दे पर उपकार।
और हमारी सड़ी राख से,
गड़ी जाति का हो उद्धार ॥[१]

(२) मानवेतर चेतन प्रकृति

प्रकृति की प्राणवान् वस्तुओं एवं जीवों को प्रतीक का रूप देकर, उनके द्वारा देश एवं जाति की दशा को व्यंजित करना भी इस काल के कवियों की एक प्रवृत्ति थी। मैथिलीशरण गुप्त ने इसी प्रतीक के द्वारा पराधीनता की बेड़ियों (पिंजर) में भारतीय आत्मा को जकड़ा हुआ चित्रित किया है। यह 'कीर' अपने स्वामी (अंग्रेज) के द्वारा पिजर-बद्ध है जो दुर्भाग्यवश उसी के कर्मों का ही फल है। कवि के शब्दो में 'स्वर्ण का पिंजर तुझे यह निज गुणों से है मिला'।[२] सत्य तो यह है कि जब मनुष्य युगों युगो से पराधीनता में आबद्ध रहता है तो उसकी मनोवृत्ति 'दासतामय' हो जाती है। देश की इसी दुखद अवस्था को व्यंजित करने के लिए ईश्वरीप्रसाद ने भी इसी प्रतीक का आश्रय लिया है। पिजर-बद्ध पक्षी के पैरों में बेड़िया पड़ी हुई है, और उसके स्वामी ने उसके परों को काट भी डाला है। एक पराधीन व्यक्ति की यही दशा होती है, क्योंकि 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' एक सत्य है:

पैरों में पैजनियों के मिस वज्रनी बेड़ी भरना।
पिंजरबद्ध हुए पक्षी के पर को फेर कतरना॥
रहा अब और तुझे क्या करना।[३]

इसी प्रकार, कवि ने 'मधुकर' को आधीन होते और फिर अपने ज्ञान एवं विक्रम से स्वाधीन होते प्रदर्शित कर, इसी पराधीनता की बेड़ियों से ऊपर उठकर, स्वाधीनता की मनोहारिणी वायु में श्वास लेने की ओर एक अपरोक्ष संकेत किया है।[४]

१—सरस्वती, जनवरी, १९२० संख्या १, पृ० १५ पर 'हरे और सूखे पेड़ की बातें' द्वारा केशवप्रसाद मिश्र।

२—सरस्वती, अगस्त १९११ संख्या ८ पृ० ३५७ पर 'पिंजरबद्ध कीर', द्वारा मैथिलीशरण गुप्त।

३—अन्योक्ति तरंगिणी, पृ० ११, 'बद्ध पक्षी'।

४—वही, पृ० ८-९।

(च) मानवीकरण

स्वच्छंदवादी काव्य में मानवीकरण के प्रतीकों का एक स्वस्थ रूप तो प्राप्त होता है, पर उसका चतुर्मुखी विकास छायावाद में ही हो सका। मानवीकरण के विश्लेषण[1] से यह स्पष्ट होता है कि कवि इसके द्वारा प्रकृति तथा विश्व के पदार्थों एवं घटनाओ से अपना रागात्मक सम्बन्ध ही स्थापित नहीं करता है वरन् कभी कभी उस सम्बन्ध के द्वारा किसी भाव अथवा धारणा को मानवीय क्रियाओ के संदर्भ में भी देखता है। सत्य तो यह है कि मानवीकरण की परम्परा हिन्दी काव्य में अत्यन्त प्राचीन है, अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि अँग्रेज़ी साहित्य के प्रभावानुकूल इस प्रवृत्ति का चतुर्मुखी विकास आधुनिक हिन्दी काव्य में सम्भव हो सका।

द्विवेदीयुगीन काव्य में मानवीकरण के अत्यधिक उदाहरण प्राकृतिक घटनाओं तथा वस्तुओं के क्षेत्रों से प्राप्त होते हैं। जहाँ तक भावों तथा संवेदनाओं के मानवीकरण का प्रश्न है, उनके उदाहरण बहुत ही कम हैं। अयोध्या सिंह उपाध्याय में इस मानवीकरण के उदाहरण अधिक प्राप्त होते हैं, जो द्विवेदी-काव्य की प्रवृत्ति को सामान्यतः स्पष्ट कर देते हैं।

अयोध्या सिंह उपाध्याय ने ऊषा को एक नारी के रूप में चित्रित कर, उसे एक श्रृंगारमयी युवती का रूप इस प्रकार प्रदान किया है—

> अनुराग राग मय प्राची।
> कमनीय प्रकृति कर पाली।
> है राह देखती किसकी।
> रख मंजुल मुख की लाली।
> सिंदूर माँग में भर कर।
> पाकर लालिमा निराली।
> क्यों लोहित वसना आई।
> ले जन-रंजनता ताली।[2]

मुख की लाली, माँग में सिंदूर और लोहितवसना रूपों के द्वारा कवि ने ऊषा के प्राकृतिक दृश्य की सादृश्यता एक श्रृंगारमयी नारी से स्थापित की है। कवि

१—मानवीकरण और प्रतीक के लिए दे० अध्याय ३, उप खड ड।

२—पारिजात, द्वारा अयोध्यासिंह उपाध्याय, पृ० ३९।२,३।

ने प्रभात-कालीन सूर्य के आगमन से ऊषा-सुन्दरी को आकुल दिखाकर उसके द्वारा पूर्ण रूप से एक नारी के हृदयगत भावो की भी अस्पष्ट व्यंजना प्रस्तुत की हैं, जो अपने प्रिय से मिलनातुर है। इससे भी अधिक सुन्दर प्रकृति का मानवीकरण कवि ने तटस्थ होकर उस समय किया है, जब प्रभात का समय हो रहा है और रजनी का असित (काला) वसन क्रमशः धूमिल हो रहा है, उस समय कवि ने प्रकृति को एक बधू का रूप प्रदान किया है। उसका सित वसन पहनना, तारों के गहनों का उतारना और उसके अनुराग से गगन का रागयुक्त होना उन दशाओ की ओर संकेत करता है जो प्रभात को एक सद्य-स्नाता नायिका के रूप में अंकित करता है—

> प्रकृति-बधू ने असित वसन बदला सित पहना।
> तन से दिया उतार तारकावलि का गहना।
> उसका नव अनुराग नील नभतल पर छाया।
> हुई रागमय दिशा, निशा ने बदन छिपाया।
> आरंजित हो ऊषा-सुन्दरी ने सुख माना।
> लोहित आभा बलित वितान अधर में ताना।[1]

इसी प्रभातकालीन मानवीकरण की प्रक्रिया को, श्री मैथिलीशरण गुप्त ने, एक सूक्त रूप में अपने महाकाव्य 'साकेत' में इस प्रकार रखा है—

> अरुण पट पहने हुए आह्लाद में,
> कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में।[2]

आकाश का अरुणांचल ही प्रासाद है जिसमें उषा रूप बाला अरुण पट पहने हुए सुशोभित है।

प्रभात-कालीन प्रकृति के मानवीकरण के अतिरिक्त रात्रि का मानवीकरण भी द्विवेदी काव्य में प्राप्त होता है। रात्रि के स्वरूप का सादृश्य भी नारी के रूप से किया गया है। कहीं कहीं पर यह मानवीकरण किसी पात्र के मनोभावों के द्वारा भी सम्पन्न हुआ है। उस समय प्रकृति का मानवीय रूप उस पात्र का ही प्रतिरूप सा लगता है जो अपनी हृदय की संवेदना का आरोप प्रकृति की घटनाओं पर करता है। प्रियप्रवास की राधा ने अपनी विरह अवस्था को व्यंजित करने के लिए 'रजनी' को नारी रूप में अंकित किया है—

१—पारिजात 'प्रभात' पृ० ४८।१,२।

२—साकेत, प्रथम सर्ग, पृ० १०।

विकलता उनकी अवलोक के।
रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिष ओस के।
नयन से गिरता बहु वारि था।।[1]

प्राकृतिक वस्तुओं में नदी, पर्वत आदि का भी मानवीकरण द्विवेदी काव्य में प्राप्त होता है। यह प्रवृत्ति भी प्रकृति के प्रति एक तादात्म्य की भावना को स्पष्ट करती है। 'सरिता' को मानवीय क्रियाओं से युक्त दिखाकर, उसके द्वारा कवि ने 'जीवन' के प्रवाह का संकेत भी किया है। इस प्रकार मानवीकरण के साथ एक अन्य अर्थ-समावेश उस मानवीकरण को एक अर्थ प्रदान कर देता है जो 'प्रतीक' की स्थिति का सफल निर्देश है। उपाध्याय जी ने 'सरिता' कविता में इसी समन्वय को स्पष्ट किया है, यथा—

किसे खोजने निकल पड़ी हो।
जाती हो तुम कहाँ चली।
ढली रंगतों में हो किसकी।
तुम्हें छल गया कौन छली।
क्यों दिन रात अधीर बनी सी।
पड़ी धरा पर रहती हो।
कभी फैलने लगती हो क्यों।
कृश तन कभी दिखाती हो।[2]

'प्रिय प्रवास' में मानवीकरण का जो रूप प्राप्त होता है, वह मनोभावों की दशा पर अधिक आश्रित है। ये मनोभाव दुःखात्मक एवं सुखात्मक—दोनों प्रकार के हैं। परन्तु जहाँ तक 'प्रियप्रवास' का प्रश्न है, उसमें मानवीकरण का रूप दुःखात्मक अनुभूति पर ही अधिक अवलम्बित है। करुणा एवं विरह का प्रसार प्रियप्रवास का मूल भाव है जो कभी यशोदा के द्वारा कभी राधा और गोपियों के द्वारा व्यंजित होता है। अतः मानवीकरण की प्रक्रिया इसी संदर्भ में क्रियात्मक रूप धारण करती है। 'ब्रज की धरा' को एक विरहिणी का रूप देना इसी प्रवृत्ति का फल है—

विपुल नीर बहाकर नेत्र से
मिष कलिन्द-कुमारि प्रवाह के।

१—प्रिय प्रवास, द्वारा अयोध्या सिंह उपाध्याय, तृतीय सर्ग, पृ० ३५।८७।
२—पारिजात, 'सरिता', पृ० ८१–८२।

परम कातर हो रह मौन ही
रुदन थी करती ब्रज की धरा ।[1]

कृष्ण के प्रस्थान से केवल ब्रज के लोग ही दुखित नहीं थे। उनकी विरहावस्था का प्रतिबिंब कवि ने पादपों पर भी आरोपित किया है और उन्हें भी मानवीय क्रियाओं से युक्त दिखाया है—

सकल पादप नीरव थे खड़े, हिल नहीं सकता यक पत्र था।
च्युत हुए पर भी वह मौन हो, पतित था अवनी पर हो रहा ।[2]

विरह-विदग्धा राधा ने अपनी विरहानुभूति का प्रसार समस्त प्रकृति में किया है। इसके फलस्वरूप उसने अपनीं जैसी दशा का आरोप चमेली पर करते हुए, उसे मानवीय संदर्भ में चित्रित किया है।

हाँ ! बोली तू न कुछ मुझसे औ' बताई न बातें।
मेरा जी है कथन करता तूँ हुई तद्गता है।
तेरे प्यारे कुंअर तुझको चित्त से चाहते थे।
तेरी होगी न फिर दयिते ! आज ऐसी दशा क्यों ?[3]

अतः इस प्रकार राधा ने मानवीकरण के द्वारा अपने प्रेम-सम्बन्ध का और अपनी विरह-वेदना का आरोप प्रकृति पर किया है। प्रणय भाव को व्यक्त करने के लिए प्रकृति के रूपों का मानवीकरण उस विशिष्ट प्रेम भाव को एक साकारता प्रदान करता है। इसी प्रणय-भाव को व्यक्त करने के लिए 'साकेत' की 'सीता' भी मानवीकरण का आश्रय लेती हैं। छाया को उसने एक ऐसी ऊँघती हुई नारी का रूप दिया है जो आलस्य से संयुक्त चित्रित की गई है। उसे किरणों का लोल पुंज जगाना चाहता है, पर—

वहीं सहज तरुतले कुसुम शैय्या बनी
ऊंघ रही है पड़ी जहाँ छाया घनी।
घुस धीरे से किरण लोल छल पुंज में,
जगा रहा है उसे हिलाकर कुंज में,
किन्तु वहाँ से उठा चाहती वह नहीं
कुछ करवट सी पलट लेटती है वहीं ।[4]

१—प्रिय प्रवास, तृतीय सर्ग, पृ० ३५।८८।
२—वही, तृतीय सर्ग पृ० २१६।२०।
३—वही, पंचदश सर्ग, पृ० २१८।२०।
४—साकेत, पंचम सर्ग, पृ० १३६।

प्रकृति के इन मानवीकरण रूपों के अतिरिक्त, कुछ अन्य मानवीकरण भी द्विवेदी काव्य में प्राप्त होते हैं। सामाजिक राष्ट्रीय प्रतीको के अन्तर्गत शक्ति का और भारत माता के मानवीकरण पर प्रथम विचार हो चुका है। इसी प्रकार श्री मैथिलीशरण ने मातृ-भूमि का दैवीकरण किया है—

हे मातृभूमि तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।[1]

द्विवेदी काव्य में मानवीकरण के उस रूप का सर्वथा अभाव होता है जिनमें किसी मनोभाव या भावना को मानवीय क्रियाओं से युक्त दिखाया जाय। सत्य में, इस प्रवृत्ति का विकास छायावादी काव्य में ही प्राप्त होता है। कहीं कहीं पर प्रसाद में इस प्रवृत्ति का आभास अवश्य प्राप्त होता है। उदाहरणस्वरूप प्रसाद ने 'आँसू' काव्य में 'अभिलाषा' को मानवीय क्रिया करवट लेने से सम्बोधित किया है जो केवल एक सकेत मात्र है। यथा—

अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना।
भीगी पलकों का लगना
सुख का सपना हो जाना।[2]

इसी प्रकार, एक अन्य स्थान पर कवि ने वेदना भाव को एक सुहागिन का रूप दिया है जो वेदना की नित्यता की ओर सफल संकेत है—

इस व्यथित विश्व पतझड़ की,
तुम जलती हो मृदु होली।
हे अरुणे, सदा सुहागिन
मानवता सिर की रोली।[3]

(छ) अन्योक्तियों में प्रतीक योजना

विगत खंडों में यदा कदा अन्योक्तिगत प्रतीकों की ओर संकेत किया जा चुका है। इनका क्षेत्र मूलतः उपदेशात्मक ही है जो रीतिकालीन प्रवृत्ति का विकास ही ज्ञात होता है।

इन सब प्रतीकों का ध्येय है मानवीयजीवन के यथार्थ एवं नीतिपरक पक्षों

१—मंगल घट, द्वारा मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ६।

२—आँसू, पृ० ५१।

३—वही, पृ० ६१।

का प्रतीकात्मक उद्घाटन करना है। इस दृष्टि से अन्योक्तियों के प्रतीकों को निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) मानवेतर जड़ प्रकृति (वनस्पति संसार तथा प्रकृति घटना)
(२) मानवेतर चेतन प्रकृति (जीवधारी वर्ग)
(३) यांत्रिक प्रतीक (मोटर आदि का ही है)

(१) मानवेतर जड़ प्रकृति

बीसवीं शताब्दि के प्रथम दस वर्षों में अन्योक्तियों का परम्परागत रूप इतना अधिक विकास प्राप्त कर सका कि आश्चर्य होता है। उस काल में प्रकाशित 'सरस्वती' पत्रिका में इन अन्योक्तियों का छायानुवाद भी (संस्कृत से) अत्यधिक हुआ जो कवियों की उस मनोवृत्ति की ओर संकेत करता है जो उन्हे संस्कृत-गर्भित भाषा लिखने की ओर प्रवृत्त कर रहा था। उस समय की अन्योक्तियों में भाषा का एक क्रमिक पारिमार्जित रूप भी प्राप्त होता है। यह प्रवृत्ति सामान्यतः सभी अन्योक्तियो में लक्षित होती है।

वनस्पति संसार के वृक्षों-पौदों आदि को कवियों ने अन्योक्तियों का माध्यम बनाया है। मनुष्य के जीवन में गुणों का एक विशिष्ट स्थान होता है जो उसे जीवन में बल ही नही देता है पर उनके द्वारा 'वह' जीवन को ढालने का भी प्रयत्न करता है। परन्तु यह भी सत्य है कि मनुष्य में सभी सदगुण नहीं होते है, कोई न कोई कमी रहती है। यह कमी तो 'प्रेरणा' का स्रोत है। जब मानव अपने में कोई कमी अनुभव करता है तो वह उसके निवारणार्थ प्रयत्न भी करता है। इस भाव को 'कनेर' के द्वारा चित्रित किया है जिसमें शोभा का विकास तो प्राप्त होता है पर उसमें सुगन्ध का अभाव रहता है—

> शोभा सही है तुममें अपार, सुगन्ध है किन्तु न कर्णिकार।
> अहो तभी है यह बात ख्यात—नैकत्र सर्वो गुण सन्निपातः ॥[१]

सब गुण होने पर भी, एक सुगन्ध न होने से कनेर का महत्त्व आधा ही रह जाता है, उसी प्रकार सब गुण होने पर भी चरित्र के अभाव में, मनुष्य पशु के समान हो जाता है। मानव जीवन में छोटी से छोटी वस्तु का भी महत्त्व होता है, उनका अस्तित्व निर्मूल नहीं होता है। अतः निरीह वस्तुओं पर हसना व्यर्थ है। कभी कभी ऐसा होता है कि वे अपनी निरीहता में भी

१—सरस्वती, दिसम्बर, १९०७, पृ० ५०५ अन्योक्ति पुष्पावली, द्वारा मैथिलीशरण गुप्त।

अत्यन्त उपयोगी होती हैं। यदि फूल अपनी सुगन्ध तथा सुन्दरता में हृदयग्राही है तो उसके जीवन के लिए, उसकी सुरक्षा के लिए, काँटे का एक विशिष्ट स्थान है। इसी प्रकार जीवन में भी उच्च या बड़े व्यक्तियों का ही नहीं, पर छोटे एवं निम्न व्यक्तियों का भी समान महत्त्व है। यह समीचीन नहीं है कि अपनी उच्चता में हम अपने से नीचे पुरुषों पर हँसें। तभी तो, काँटे के ये वचन फूल के प्रति एक सत्य कथन है—

> हमें तुम क्यों हँसते हो फूल।
> तुम हमको बैरी समझे हो, करते हो यह भूल।
> हमसा यदि न सहायक पाते, तो उड़ जाती धूल।
> गाय भैंस बकरी चर लेतीं होते तुम निर्मूल।
> शूली कर त्रिशूल से बन कर रोके हैं तव शूल।[1]

इस अन्योक्ति का एक सामाजिक महत्व भी है। समाज के दो विपरीत वर्ग— निर्धन एवं धनवान्, मजदूर तथा मिलमालिक आदि का संघर्ष सदा से चला आ रहा है। इस से, निम्नवर्गीय जनता अपनी हीनता को 'काँटे' के द्वारा भी व्यक्त करती है और अपनी महत्ता पर प्रकाश भी डालती है। परोपकार एवं सत्कर्म से 'ओस' की निर्वाण-प्राप्ति भी होती दिखाई गई है जिसको व्यंजित करने के लिए मुकुटधर ने एक लम्बा वर्णन किया है। ओस का गुलाब के कोष में वास दिखाकर उस पर रजनी के अंधकार, काँटों की मार और ताराओं के परिहास का चित्राकन किया गया है। प्रातःकाल के समय समीर ने प्रफुल्लित 'ओस विन्दु' को पृथ्वी पर गिरा दिया, तब भी वह तृण का हार हो गया। लेकिन किसी जन्तु ने फिर पृथ्वी पर गिरा दिया और इस दशा में भी उसने पसीज कर पृथ्वी को सिक्त किया। यह दृश्य देखकर सूर्य ने अपनी किरणों के ताप से उसे अपने पास बुला लिया और इस प्रकार कवि ने 'ओस' की निर्वाण प्राप्ति का एक कथात्मक सकेत किया है।[2] इतने संकटों के पड़ने पर भी 'ओस' ने अन्तिम दम तक साहस नहीं छोड़ा और अपने सत्कर्मों से 'परम पद' तक की प्राप्ति की। इस सम्पूर्ण अन्योक्ति में व्यक्ति को यह उपदेश दिया गया है कि जीवन में अनेक संकटों के आने पर भी, परोपकार की भावना को, साहस को और कर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। यही

१—सरस्वती, सितम्बर १९१५, पृ० १२९ स० ३, "कांटा और फूल", द्वारा गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'।

२—सरस्वती, सितम्बर १९१७। पृ० १२५ 'ओस की निर्वाण प्राप्ति', द्वारा मुकुटधर।

सत्पुरुषों की महानता है। यही उसे बलिदान की ओर भी प्रेरित करता है जो 'ओस' के प्रतीकत्व के द्वारा व्यंजित हुआ है। सत्य परोपकारी की यह प्रवृत्ति होती है कि वह अपने हानि करने वाले के प्रति भी सहृदयता की भावना को रखता है; परन्तु दूसरी ओर ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो अपने हित करने वाले को हानि पहुँचाने में भीं नहीं हिचकते हैं। इसी तथ्य को मैथिलीशरण गुप्त ने एक संलाप-शैली के द्वारा प्रतीक रूप में व्यक्त किया है। यहाँ घन और सूर्य के वैज्ञानिक 'सत्य' का प्रतीकात्मक निर्देश भी प्राप्त होता है। सूर्य के ताप से ही जल वाष्प रूप में 'मेघ' का रूप धारण करता है—इसी सत्य का आश्रय लेकर कवि ने कहा—

घनमाला ने कहा सूर्य के सम्मुख आकर—
'तेरा सारा तेज देखती हूँ मैं आकर।'
बोला रवि मुँह फेर कि—यह उसका ही फल है,
स्वकरों से जो तुझे पिलाया मैंने जल है।[1]

परोपकारी पुरुष की भावना को श्री गुप्त जी ने चन्दन वृक्ष के द्वारा[2] और पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी ने कथन शैली के द्वारा निशा और चन्द्र के प्रतीकत्व के द्वारा परोपकारी और स्वार्थी पुरुषों की ओर ही संकेत किया है—

चंद्र हरता है निशा की कालिमा,
हृदय की देता उसे है लालिमा।
किन्तु होकर लोक निन्दा से अंशक,
निशा देती है उसे अपना कलंक।[3]

इस प्रकार परोपकार एवं सत्कर्म की महत्ता पर आश्रित अनेक प्रतीकों का चयन इस बात को सिद्ध करता है कि जीवन में इन गुणों का एक विशिष्ट स्थान कवियों को मान्य था। परन्तु परोपकारी व्यक्ति को इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वह अपने सेवा-भाव या दया-भाव को उन्हीं व्यक्तियों पर दान करें जो सत्य में उनके अधिकारी हैं। यदि व्यक्ति अपनी परोपकारी वृत्ति का समुचित प्रयोग न कर सका, तो उसकी दशा उसी 'मेघ' के समान समझनी चाहिए जो ऊपर भूमि पर 'मूसरचंद' की तरह 'मूसलाधार' पानी बरसाया करते हैं।

१—मंगल घट, द्वारा मैथिलीशरण गुप्त पृ० २७१।

२—सरस्वती, फ़रवरी १९०७, पृ० ६० अन्योक्ति पुष्पावली, द्वारा गुप्त जी।

३—सरस्वती, फ़रवरी, १९१६ सं० २, पृ० ११८ पर 'कृतघ्नता', द्वारा बख्शी।

संपत पूरे अधूरे विवेक के, दान के रूरे विधान भुलावे।
मूसरचंद ए मूसरधार, धराधर ऊसर पै बरसावै ॥[1]

इस प्रकार मानव जीवन में जिन सद्गुणों की अपेक्षा होती है, उनका प्रतीकात्मक रूप इन अन्योक्तियों में सुरक्षित है। जीवन एवं संसार के प्रति मानव उसी समय एक स्वस्थ दृष्टिकोण बना सकता है, जब वह जीवन के प्रति 'आस्था' रखता है। परन्तु दार्शनिक क्षेत्र में जीवन एवं संसार को क्षणभंगुर एवं अस्थिर कहा गया है। सत्य में, इस अस्थिरता में ही आस्था रखना और उससे निर्लिप्त रहना ही व्यक्ति को इस संसार के प्रति निष्काम बना सकता है। यथार्थ दृष्टि से, यह जगत् 'सत्य' प्रतीत होता है, पर आदर्श की दृष्टि से उसका अस्तित्व 'सत्याभास' की तरह ज्ञात होता है। संसार में जब व्यक्ति का जन्म होता है तब उसके आने पर अन्य लोग प्रसन्न होते हैं। वह फूल के समान इस जगती में आकर अपनी सुगन्ध का प्रसार करता है—

खिला है नया फूल उपवन में।
सुखी हो रहे हैं सब तरुवर, बेलें हँसती मन में।
रूप अनूठा लेकर आया, मृदु सुगन्ध फैलाई।
सबके हृदय प्रदेश में, अपनी प्रफुल्ल ध्वजा उड़ाई ॥[2]

मानव जीवन में उत्थान-पतन का चक्र चला ही करता है। जब व्यक्ति संसार चक्र में पड़ जाता है तब उसके जीवन में उतार चढ़ाव आते ही रहते हैं। यही जीवन का सत्य है जिसे व्यंजित करने के लिए बदरीनाथ भट्ट ने एक पत्ती को सम्बोधित कर कहा है—

जिस पर रहती थी सवार नित
घुल घुल कर बातें करती थी।
वही हवा अब धूल फेंकती
उलटा सारा ढंग हुआ है।
सबके सिर पर चढ़ी हुई थी,
अब सब पैरों तले कुचलते,
ऊँचे चढ़कर नीचा देखा
सभी रंग बदरंग हुआ है।[3]

१—सरस्वती, सितम्बर १९०३, पृ० ३०६, 'अविवेकी बादल', द्वारा राय देवीप्रसाद् 'पूर्ण'।
२—सरस्वती, जुलाई १९१५ सं० १, पृ० १, 'नया फूल', बदरीनाथ भट्ट।
३—सरस्वती, मार्च १९१५, पृ० १६७, 'समय का फेर', बदरीनाथ भट्ट।

अतः मानव जीवन का क्या ठिकाना, जब भी काल की छाया उस पर पड़ी, तभी उसका अस्तित्व संकट में पड़ गया। कभी तो उसके जीवन में 'मकरंद' का आवास रहता है और कभी उसका अनायास अन्त हो जाता है। प्रसाद ने इसी भाव को 'कली' के द्वारा व्यक्त किया है—

मत कहो कि यही सफलता, कलियों के लघु जीवन की।
मकरंद भरी खिल जाए, तोड़ी जाए बेमन की।[१]

इसी प्रकार, जीवन एवं मानव की अस्थिरता एवं उनका असमय निपात उस नक्षत्र के समान है जो कुछ देर पूर्व आकाश को शोभित कर रहा था और वही अनायास निपतित हो गया।[२] अतः जीवन एवं संसार की परिवर्तन-शीलता एक चिरन्तन सत्य है।

(२) मानवेतर चेतन प्रकृति

चेतन प्रकृति के द्वारा कवियों ने मानव जीवन के नीति-परक एवं यथार्थ जीवन की ओर प्रतीकात्मक सकेत दिये हैं। मनुष्य का सत्य मूल्यांकन उसी स्थान पर होता है जहाँ पर उसके गुणों को महत्त्व देने वाले व्यक्ति होते हैं। इसी भाव को व्यंजित करने के लिए कोयल तथा काग का आश्रय लिया जाता है। कोयल की मधुर वाणी का वे ही व्यक्ति आनन्द उठा सकते हैं जो उसकी ध्वनि की सरसता का अनुभव कर सकें—

हे मित्र! हैं जन सभी बहरे यहाँ पै,
इससे करै पिक! वृथा मृदु कूज क्यों तू?
ये मूर्ख हैं, गुण नहीं पहचानते हैं,
श्यामांग देख शठ काक बखानते हैं।[३]

सत्य तो यह है कि जब एक गुणी व्यक्ति अपने ज्ञान आदि का प्रसार करता है तो उसके सामने अज्ञान एवं कृत्रिम ज्ञान की पोल खुल जाती है। यही बात उन अनेकानेक पक्षियों के बारे में भी सत्य है जो अपनी शब्द चातुरी अनेक कृत्रिम रूपों से प्रदर्शित करते हैं। परन्तु जब एक पिक अपनी रसीली ध्वनि विस्तार करती है तब उन समस्त पक्षियों का स्वर पृष्ठभूमि में चला जाता है—

१—आँसू, द्वारा जयशंकर प्रसाद, पृ० ४४।
२—मंगल घट, द्वारा मैथिलीशरण गुप्त, पृ० २३५, 'नक्षत्र निपात'।
३—सरस्वती, सितंबर १९०३, पृ० ३०५, द्वारा कन्हैयालाल पोद्दार।

विहग सब सुनाते प्रायशः शब्द प्यारे,
विविध विधि दिखाते शब्द चातुर्य सारे।
कलरव गति सबकी भास होती बुरी है,
जब पिक दिखलाती शब्द की चातुरी है।[1]

इन गुणी व्यक्तियों के विपरीत अहंकारी एवं दुष्ट प्रकृति के भी मनुष्य होते हैं। द्विवेदी काव्य में ऐसे व्यक्तियों के प्रति यदा-कदा व्यंग्यात्मक प्रतीकों की अवतारणा प्राप्त होती है। इसका एक सुन्दर रूप 'सर्प' के द्वारा व्यंजित किया है—

तुमको जिसने दूध पिलाया।
जिसने दूध पिलाया तूने काट उसी को खाया।
तुमको जिसने दूध पिलाया।
तेरी चाल विलक्षण देखी, ज्ञात न होती माया।
दुहरी जीभ दुष्टता प्यारी, मुख में विष भर लाया।।
तुमको जिसने दूध पिलाया।[2]

संसार में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जिनके साथ भलाई करने पर भी, वे समय पड़ने पर, शत्रु के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। अतः ऐसे रंग बदलते व्यक्तियों के बारे में क्या कहा जाय? उनके प्रति केवल सहानुभूति एवं व्यंग्य-मिश्रित भाव का ही प्रदर्शन किया जा सकता है। यही रूप हमें ईश्वरी प्रसाद की इस अन्योक्ति में प्राप्त होता है। उन्होंने गिरगिट के रंग बदलने की क्रिया के द्वारा स्वार्थी पुरुषों की प्रवृत्ति का, उनकी अस्थिर मनोवृत्ति का सुन्दर प्रतीकात्मक संकेत किया है—

छोड़ दे रंग बदलती चाल।
सुवर्ण रूप बना कर पहनी पीताम्बर की शाल।
दुर्वृत्त दौड़ द्वार तक तेरी अंत काल के गाल
इससे रंग 'ईश्वर' के रंग में जो जग का प्रतिपाल।।[3]

यह अन्योक्ति उस जीव के प्रति भी सम्बोधित है जो संसार चक्र में अनेक

१—सरस्वती, अक्टूबर १९०४, पृ० ३२८ कोकिल, द्वारा पोद्दार तथा इसी भाव की एक अन्य अन्योक्ति सरस्वती, फ़रवरी १९०७, पृ० ५९ पर गुप्त जी की।

२—अन्योक्ति तरंगिणी, द्वारा ईश्वरी प्रसाद शर्मा, पृ० १४।

३—अन्योक्ति तरंगिणी, तृतीय तरंग, पृ० ३४।

वाह्यांडम्बरों का निरर्थक प्रदर्शन करता है। इस प्रकार का जीव मानों अपनी बुद्धि का ही नितांत त्याग कर देता है। जब मनुष्य अपने इस यथार्थ रूप को जान लेता है अथवा, दूसरे शब्दों में, वह सज्जनता की कोटि तक अपना विकास कर लेता है, तब उसके सामने संसार के कटु अनुभव भी एक प्रकार से तरल हो जाते हैं। उसके ऊपर उन अनुभवों का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है चाहे वे कितने ही क्रियात्मक क्यों न हो? इस तथ्य को व्यंजित करने के लिए बदरीनाथ भट्ट ने एक अत्यन्त मौलिक उद्भावना प्रस्तुत की है। उन्होंने सुजनसिंह को एक ऐसे सज्जन पुरुष का प्रतीक रूप प्रदान किया है जिनके स्वच्छ सफ़ेद वस्त्रों पर, एक बाजीगर के द्वारा, कोयले के घोल (कटु शब्द या अनुभव) पड़ने पर भी वह घोल सुजनसिंह के ऊपर 'फूल' के समान ही दृष्टिगत होता है। इसका प्रतीकार्थ यही है कि एक सज्जन के ऊपर लोग चाहे तो कितने ही कटु शब्दों एवं व्यंगों की झड़ी लगा दें, पर उसके सफ़ेद वस्त्रों पर उनकी 'कालिमा' प्रभाव नहीं डाल सकती है—

उत्सुकता की नदी दर्शकों में बढ़ी,
पर अचरज सागर में झट लय हो गई।
काले और कुरूप कोयले वे सभी,
सुजनसिंह पर अहो! फूल होकर गिरे।[1]

यह तो एक 'सुजनसिंह' का प्रतीकात्मक रूप है जिसके द्वारा मानव जीवन की कलुषता एवं उज्ज्वलता के दो पक्षों का सुन्दर संकेत प्राप्त होता है। मानव जीवन की कलुषता का एक रूप यह है जब उसका 'आदर' इस संसार में 'बैल' के समान होता है। जब तक वह अपने श्रम से मनुष्यों का हितलाभ करता है, तब तक लोग उसे, अपने स्वार्थ के कारण, आदर करते हैं। परन्तु जब वही बैल वृद्ध हो जाता है तो उसका सर्वत्र निरादर ही होता है। यही हाल क्या उस मनुष्य का नहीं होता है जो व्यर्थ हो जाता है, अपनी वृद्धावस्था के कारण या किन्हीं अन्य कारणों से। तब उसके सगे सम्बन्धी भी उसके प्रति उदासीन हो जाते हैं। यही तो संसार का नियम है, एक उसका कलुषित रूप—

देखो रे यह बैल बिचारा।
कर्मक्षेत्र में बैठ गया है आज अचानक हल का हारा।
साथी साथ नहीं है कोई हाँक ले गया सब हल हारा।

१—सरस्वती, फ़रवरी १९१५, पृ० १००, 'सज्जन और कटु शब्द', द्वारा बदरीनाथ भट्ट।

स्वार्थ सने जग में अब इसको कौन खिलाए दाना-चारा।
देखो रे यह बैल बिचारा।[1]

इससे तो यही ध्वनित होता है कि निर्बलता संसार में अभिशाप है, चाहे वह किसी भी क्षेत्र की क्यों न हो ? निर्बलता की इस भावभूमि पर संसार की सबलता सदैव से अत्याचार करती आ रही है। इसी निर्बलता का एक अन्य रूप मानव जीवन की वह दशा है जिसे हम वृद्धावस्था भी कहते हैं। सत्य में, यदि जीवन का ऊषाकाल यौवन है, तो वृद्धावस्था उसकी रात्रि। इसी अवस्था का एक दुखदायक रूप व्यंजित करने के लिए बदरीनाथ भट्ट ने 'लुटेरे' को इसका प्रतीक बनाया है। यह लुटेरा मनुष्य का संचित माल लूट ले जाता है—

लुटेरे ! लूट ले गया माल।
मोह नींद में हमें सुलाया मद का जादू डाल।
गिरी पड़ी झोपड़ी पड़ी है बिगड़ा हाल हवाल।
आग लग गई उसमें भी अब विस्मृत परदा डाल ॥[2]

संदर्भानुसार लुटेरा विदेशी सत्ता का प्रतीक हो सकता है जो देश की समस्त अर्थ शक्ति का अपहरण करता जा रहा है। इससे तो यही तथ्य प्रकट होता है कि सबके दिन एक से नही रहते हैं, परिवर्त्तन ही प्रकृति का नियम है। जो भौंरा एक दिन मदमत्त हो कञ्ज के रस सौरभ में निमग्न रहता था, वही कञ्ज के मुरझाने पर निम्बादि वृक्षों के मध्य निवास करता है।[3] यही नहीं, जीव रूपी भौंरा संसार की विषयवासनाओं में (पङ्कज कोष) अज्ञानान्धकार के कारण एक प्रकार से बन्द रहता है। मन ही मन यह सोचता रहता है कि अब की प्रातःकाल होने पर अवश्य इस 'रस कोष' का त्याग कर दूँगा जिसमें मैं बार बार बन्द हो जाता हूँ। दुर्भाग्यवश प्रातःकाल होने पर एक गज (काल) ने आकर उस नलिनी को उखाड़ डाला। इस प्रकार व्यक्ति सोचता ही रहा कि अबकी मैं विषय-वासना को छोड़ूँगा, परन्तु वह केवल सोचता ही रहा और इधर काल ने अपना प्रसार करना शुरू कर दिया—

१—अन्योक्ति तरंगिणी, प्रथम तरङ्ग, पृ० ४।

२—सरस्वती, अगस्त १९१५ संख्या २, पृ० ६५, 'वृद्धावस्था' बदरीनाथ।

३—सरस्वती, सितम्बर, १९०३, पृ० ३०५ 'अन्योक्ति शतक', कन्हैयालाल पोद्दार तथा सरस्वती, मई १९०५, पृ० १७० पर श्यामनाथ शर्मा की एक अन्योक्ति इसी भाव की।

बीते निशा समय भोर अवश्य होगा,
आदित्य देख बन पङ्कज का खिलेगा।
यों कोष भीतर मधुव्रत सोचता था,
कि प्रात मत्त गज ने नलिनी उखाड़ी।[1]

अतः जीव का संसार में आगमन काल के साथ ही होता है। इस दशा में आकर जीव कर ही क्या सकता है? मृग का बहेलिया के मधुर नाद से मुग्ध होना ही जीव का संसार के मनोमोहक रूपों में आकर्षित होना है।[2] इससे यही ध्वनित होता है कि काल एक शक्ति है। इस शक्ति को व्यंजित करने के लिए राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने करचोटिया (एक काला पक्षी) बाज, शिकारी और भालू को प्रतीक का रूप प्रदान किया है। दूसरी ओर, पूर्ण जी की ये प्रतीक योजनाएँ यह भी तथ्य सम्मुख रखती हैं कि बलवान् अपने से निर्बलों पर अनेक प्रकार के अत्याचार करते हैं। कवि ने करचोटिया पक्षी के द्वारा इसी भाव को समक्ष रखा है—

कहु लखी तितुली लतिकान में,
तरल मंजुल सुन्दरता भरी।
असन के हित आतुर ताहु पै
झपट चोट करी करचोटिया ॥[3]

इस प्रकार, 'काल' को व्यंजित करने के लिए मानवेतर प्राणियों की उपर्युक्त योजना, एक प्रकार से, मानव जीवन एवं संसार की क्षणभंगुरता की ओर ही संकेत करती हैं।

(३) यांत्रिक प्रतीक

उपर्युक्त प्रतीक योजनाओं के नितान्त विपरीत ये नवीनतम प्रतीक कहे जा सकते हैं। इनका क्षेत्र नवीनतम होने के साथ साथ इन वस्तुओं का प्रतीक रूप एक नवीन दिशा की ओर संकेत करता है। नवीन वैज्ञानिक अनुसंधानों ने ज्ञान के नूतन क्षितिजों की ओर संकेत किया था। उन्हीं को काव्य का विषय बनाना एक नूतन प्रवृत्ति ही कही जा सकती है। नवीन प्रगति के प्रतीक—रेल, मोटर, घड़ी आदि को प्रतीक का रूप प्रदान करना प्रतीक का एक नव-

---

१—सरस्वती, सितम्बर, १९०३, पृ० ३०५ 'अन्योक्ति शतक', कन्हैयालाल पोद्दार।

२—सरस्वती, जनवरी १९११, अन्योक्ति शतक, गुप्त जी, पृ० २४।

३—सरस्वती, अप्रैल, १९०४, पृ० ११७।३४, ३५।

प्रवृत्ति एवं एक नव क्षेत्र की ओर अङ्गुलिनिर्देश ही है। फिर भी, इस नवीन प्रयोग के उदाहरण अत्यन्त सीमित हैं। कवियो का मानस लोक इस क्षेत्र की ओर उतना उन्मुख नहीं प्रतीत होता है जितना अन्य प्रतीकों की ओर।

यान्त्रिक प्रतीकों के द्वारा भी 'जीवन' के यथार्थ रूप का चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है। द्विवेदी-कालीन इन प्रतीको के द्वारा यह स्पष्ट ध्वनित होता है। जीवन की गतिशीलता को व्यंजित करने के लिए 'रेल' की सादृश्यता को एक सुन्दर उदाहरण कहा जा सकता है जिसके क्रियाकलापों का आरोप मानव जीवन की विभिन्न क्रियाओं से किया गया है।

हमारे जीवन की यह रेल
इष्ट प्राप्ति को रुके ठगों को ठोकर से दे ठेल
अञ्जन अखिल निरञ्जन सत्ता, पञ्चतत्त्व मय मेल
हमारे जीवन की यह रेल।
क्षिति जल गगन पवन पावक पर चली जाय जगमेल
जलें ज्ञान की ज्योति जहाँ तक रहे तितिक्षा तेल।
हमारे जीवन की यह रेल।[1]

यहाँ पर अञ्जन (इंजन) बुद्धि का प्रतीक है जो पञ्चतत्त्व से निर्मित शरीर को अधिकार में रखता है। आगे कवि ने पञ्चतत्त्व के नाम भी लिए हैं (क्षिति गगनादि) जिनके द्वारा रेल में गति का समावेश होता है। परन्तु रेल का गंतव्य क्या है—ठीक समय पर डाक मेल से मिलान करा देना जो संदर्भानुसार जीवन का ध्येय—ईश्वर के समीप पहुँचने के समान है। कवि के शब्दों में—

यद्यपि स्पेशल चले, मिला दे ठीक डाक से मेल।
ईश्वर से मिल जाय सारथी दुख सुख झंझट झेल॥
हमारे जीवन की यह रेल।[2]

इसी प्रकार मानव जीवन की अनियन्त्रित गतिशीलता को एक ऐसी घड़ी का रूप दिया गया है जो कुघड़ी है—बिगड़ी हुई है—

यह कुघड़ी की घड़ी हमारी रही सदा बेचैन।
बिगड़ी फनर कूक कसने की चाबी ठीक मिलै न

१—अन्योक्ति तरंगिणी, पहली तरङ्ग, पृ० ३।
२—अन्योक्ति तरंगिणी, पहली तरङ्ग, पृ० ३।

बाल कमानी ऐसी बिगड़ी पहिया एक फिरै न
यह कुघड़ी.................................।[1]

घड़ी को इस प्रकार शरीर का प्रतीक बनाकर कवि ने मन, बुद्धि और मस्तिष्क के मध्य एक असंतुलन की व्यंजना प्रस्तुत की है जो स्पष्ट नहीं है। नवीन सभ्यता के अद्भुत रूपों का एक सुन्दर चित्र, मोटर के द्वारा भी व्यंजित किया गया है। व्यक्ति अपने आचरणों आदि से स्वयं अपने ही ऊपर धूल उड़ाता है। अनेक विषयवासनाओं से आक्रान्त होकर इतना निर्बल हो जाता है कि मानों उसमें पंचर हो गया हो। इस दशा में वह औरों के कंधो पर भार हो जाता है—

 री क्यों उलटी चाल चलावे ?
तेरी चाल अनोखी देखी ऊपर धूल उड़ावे
नई सभ्यता में असभ्यता ऐसी क्यों दिखलावे।
 री क्यों उल्टी चाल चलावे ?
जब पंचर हो जावे प्यारी हवा बिखर सब जावे,
तब तू ही आफत की गाड़ी गाड़ी में लद जावे।
 री क्यों उल्टी चाल चलावे।[2]

इस प्रकार इन प्रतीकों का सीमित क्षेत्र केवल मानव जीवन के यथार्थ क्षेत्र का व्यंजक है। इस काल के अन्य कवियों में इस प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव प्राप्त होता है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषण के प्रकाश में यह कहना अत्युक्ति न होगा कि भारतेन्दु-काल की नवीन चेतना का बहुमुखी विकास द्विवेदीकालीन प्रतीकों के द्वारा सम्पन्न हो सका। इस काल के समस्त प्रतीकों में न्यूनाधिक रूप से नवीन चेतना का स्पन्दन प्राप्त होता है। यहाँ तक कि परंपरा के प्रतीकों में भी नवीन अर्थों के भरने का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। इस काल की सबसे मुख्य प्रवृत्ति प्रकृति की वस्तुओं को प्रतीक का रूप प्रदान करना कहा जा सकता है जो अभ्यांतरिक भावनाओं को स्पष्ट कर सकें। जैसा कि संकेत किया गया कि रहस्यवादी तथा प्रेमप्रतीकों (नवीन) के क्षेत्र में, एक सबल क्रान्ति का आभास

१—वही, दूसरी तरङ्ग, पृ० १६।

२—अन्योक्ति तरंगिणी, द्वितीय तरङ्ग, पृ० २५।

प्राप्त होता है। वह छायावाद में आकर एक प्रवृत्ति का रूप धारण कर लेता है। छायावाद की स्पष्ट पृष्ठभूमि हमें द्विवेदी काव्य के प्रतीकों में प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार इन नवीन प्रतीकों में एक 'नव तत्त्व' का समन्वय ही नहीं प्राप्त होता है, पर उनमें 'रूप' के प्रति एक विशिष्ट आसक्ति भी है।

द्विवेदीकाल के कवि काव्य के क्षेत्र में चितन का भी पुट देते प्रतीत होते हैं। यह चिंतन छायावाद में आकर एक सक्रिय रूप धारण कर लेता है। चिंतन का रूप नितान्त दार्शनिक न होकर अधिकतर संवेदनात्मक ही है। इतिवृत्तात्मकता के कारण इस चिंतन प्रवृत्ति का अभ्यान्तरिक विकास सम्भव न हो सका। इसका यह अर्थ नहीं है कि इस काल के कवियों ने विवरणात्मक काव्य में चिंतन की सलिल प्रवाहिनी का योग नही दिया है। परन्तु यह योग बहुत ही हल्का है। केवल प्रसाद ने ही अपने विवरणात्मक काव्यों में भी भावात्मक चिन्तन का सफल समन्वय किया है। इस प्रवृत्ति का विकास आगे के काव्यों में सम्भव हो सका जिसकी चरम परिणति कामायनी में प्राप्त होती है।

इस काल की सबसे मुख्य प्रवृति है यथार्थ जगत् के प्रति एक सचेतन आस्था। इसी आस्था ने प्रतीकों की भावभूमि में एक सबल अर्थ-विस्तार किया। नवीन प्रतीकों की खोज भी आरम्भ हुई जिसमें नवीन वैज्ञानिक अनुसंधानों को भी न्यून आश्रय प्राप्त हो सका। पौराणिक चेतना को भी इसी यथार्थ भावभूमि का वाहक बनाया गया और समाज तथा राष्ट्र के प्रति एक बौद्धिक जागरूकता को बल दिया गया। यहाँ तक कि रहस्यवादी प्रवृत्ति में भी उनके प्रतीकों में भी, यथार्थ जीवन का स्पन्दन भरा गया। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि इस काव्य में पौराणिक चेतना का एक नवीनतम रूप दर्शित होता है। समाज एवं राष्ट्र के प्रति एक बौद्धिक जागरूकता के दर्शन होते हैं। काव्य रूपों के प्रति एक नव आग्रह का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। रहस्यवादी प्रवृत्ति के एक मानवतापरक एवं बुद्धिपरक रूप के दर्शन होते हैं और प्रकृति के प्रति एक मानवीय रूप निर्माण की प्रवृत्ति लक्षित होती है। इन सब प्रमुख प्रवृत्तियों ने 'प्रतीकवाद' का वह रूप हमारे सामने स्पष्ट किया है जो नवीन ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों को अपने अन्दर समेटता हुआ, भारतीय तत्त्व-चिन्तन की सलिल प्रवाहिनी में उसे समन्वित कर, एक उन्नत रूप में हमारे सामने आता है।

एकादश अध्याय

छायावादी काव्य में प्रतीक-योजना

(क) पृष्ठभूमि

स्वच्छन्दवादी काव्य में, जैसा कि प्रथम ही संकेत हो चुका है, छायावादी काव्य के कुछ तत्त्वों का रूप प्राप्त होता है। छायावादी युग, जहाँ तक प्रतीकवाद का प्रश्न है, एक नूतन अभियान कहा जा सकता है। कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति इंगलैंड के रोमांटिक काव्य में भी दृष्टिगत होती है। प्रसाद, पंत, निराला और डा० रामकुमार वर्मा के काव्यगत अभियानों में प्रतीकों का नूतन स्फुरण प्राप्त होता है जो कवि के मानस लोक का विश्लेषण करते प्रतीत होते हैं। प्रतीकों का यह आत्मविश्लेषणात्मक रूप इस काल की एक प्रमुख विशेषता कही जा सकती है।

परम्परा का रूप

इस नूतन अभियान के प्रकाश में छायावाद के प्रतीक-दर्शन में परम्परा का आग्रह धूमिल सा पड़ गया है। परम्परा के प्रतीकों के प्रति कवियों को कोई विशेष मोह नहीं है और यदि है भी तो अपरोक्ष रूप से। चंद्र, चकोर, सागर, लहर, चक्रवाक, दीपक, भौंरा, पतङ्ग, हंस आदि परम्परागत प्रतीकों में अनेक नवीन अर्थों का समाहार प्राप्त होता है। छायावादी 'प्रतीकवाद' में परम्परा का रूप इसी तथ्य पर आश्रित है।

परम्परा के इस आग्रह का एक स्वस्थ रूप छायावाद की दार्शनिक पीठिका में प्राप्त होता है। जहाँ तक इस काव्य की प्रतीक-योजनाओं का प्रश्न है, उनकी आधारशिला मूलतः भारतीय दर्शन पर आश्रित है और उस दर्शन में पाश्चात्य विचारों का भी सम्मिश्रण प्राप्त होता है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर में भी इसी प्रवृत्ति का विकास मिलता है। इस काव्य में कवि का दर्शन

स्पंदनशील मानव जीवन को लेकर चला है।[१] और उस दर्शन को अनुभूति एवं व्यक्तिगत भावनाओं से स्फुरित कर काव्य-दर्शन के रूप में अवतरित किया है।[२] इसी कारण हम इस काव्य को नितान्त पलायनवादी नहीं कह सकते हैं। वहाँ पर कवि का 'उस पार का जो भावमय लोक है' वह जीवन दर्शन का ऊर्ध्व चेतन लोक है जिसे 'परोक्ष' कह सकते हैं। जिन कवियों ने प्रतीकों का सहारा लेकर ऐसे लोक का संकेत किया है, वह उनका 'पलायन' नहीं कहा जा सकता है। यहाँ तक कि हम निष्पक्ष रूप से इंग्लैण्ड के रोमांटिक कवियो को भी पलायनवादी नही कह सकते है। शेली, वार्ड्सवर्थ तथा बाइरन ने यथार्थ जगत् को भी अपनी कविता में स्थान दिया है। हमारे कवियों की स्थिति यहाँ पर नितान्त फ्रेंच प्रतीकवादी कवियो से भिन्न है जिनके अनुसार प्रतीकवादी काव्य एक रहस्यवादी प्रवृत्ति है जो अतार्किक है और ऐन्द्रिय जगत् से परे है जिसमें अन्य भावो तथा विश्वासों का तिरस्कार भी है। उनका आदर्शवाद यथार्थ की अवहेलना पर आश्रित है।[३] परन्तु छायावादी काव्य में 'आदर्शवाद' की धारणा नितान्त इसके विपरीत है। प्रसाद, पंत और रामकुमार वर्मा के 'आदर्श' में यथार्थ का स्पन्दन है और भौतिक जगत् के प्रति उपेक्षा का भाव नहीं है। इस दृष्टि से प्रसाद की 'करुणा' और उनका बौद्धदर्शन, पंत का वैदिक-दर्शन, रामकुमार वर्मा का अद्वैतदर्शन और निराला का वेदान्त-दर्शन—सबमें कवि की आदर्श-भावना जीवन सापेक्ष है—वहाँ पलायन नहीं है।

नवीन चेतना का स्वरूप

परम्परा के उपर्युक्त स्वरूप में भी हमें नवीन चेतना का आभास स्पष्ट ज्ञात होता है। छायावादी काव्य में पाश्चात्य साहित्य के प्रभावानुसार कुछ नवीन तत्त्वो का समाहार प्राप्त होता है। इन तत्त्वों में प्रमुख स्थान प्रतीक सृजन की दृष्टि से सौंदर्यभावना, प्रकृतिदर्शन, रोमांटिक अवसाद और मानवतावाद माने जा सकते है जिनका न्यूनाधिक प्रभाव सभी कवियों पर पड़ा है।

सौंदर्य-भावना

छायावादी काव्य में सौंदर्य भावना का एक स्वस्थ रूप प्राप्त होता है।

१—छायावाद युग, द्वारा शम्भूनाथ सिंह, पृ० ६८।

२—दे० अध्याय दो, दार्शनिक प्रतीकवाद में।

३—हरीटेज आफ़ सिम्बालिज्म, द्वारा सी० एम० बावरा, पृ० ५।

कवियों ने चराचर प्रकृति के कण-कण में सौंदर्य का अनुभव किया और उस अनुभव को अनेक माध्यमों (प्रतीकों) के द्वारा व्यंजित किया। यही कारण है कि इस काल के कवियों ने शब्द की व्यंजना शक्ति पर प्रतीकों का सुन्दर सृजन किया, और उन्हें अपने अध्यांतरिक जगत् का 'प्रतीक' ही बनाने का प्रयत्न किया है।[1] छायावादी प्रतीक किसी प्रकार की सूचना नहीं देते हैं, पर वे एक हल्का-सा संकेत भर देते हैं जो पड़े हुए आवरण को हटा सके जिससे काव्य का सौंदर्य व्यंजनात्मक रूप से स्पष्ट हो सके। व्यंजना का जहाँ तक प्रश्न है, छायावाद काव्य के प्रतीक फ्रेंच प्रतीकवादी कवि मलार्मे के इस मत से भी साम्य रखते हैं कि काव्य का ध्येय स्पष्ट कह देना नही है, पर किसी वस्तु का संकेतमात्र है जो व्यंजना पर आश्रित होता है।[2]

सौंदर्य का आधार व्यक्ति का मन होता है। यह विचार फ़ीत्से तथा गेटे से भी मेल खाता है जिनके अनुसार सौंदर्य भावना अध्यातरित है, वह व्यक्ति के दृष्टिकोण का एक प्रसार है। फ़ीत्से का मत था कि दृश्य जगत् असत्य है, वह मनुष्य के चेतना जगत् की एक छायामात्र है।[3] प्लेटो के अनुसार यह आदर्श विचारों का लोक (World of Ideas) है जो कुछ सीमा तक भारतीय अद्वैतदर्शन से भी मेल खाता है। अतः कवि सौंदर्यभावना को वस्तु निरपेक्ष मानता है और मन उस सौंदर्य का सृजन करता है। मन की सृजन-शक्ति का एक क्रियात्मक रूप कवि की सौंदर्य चेतना कही जा सकती है। इस दृष्टि से, छायावाद की सौंदर्य चेतना में, उसके प्रतीकों में, एक सौंदर्य दर्शन का निर्देश मिलता है। कालरिज ने एक स्थान पर इसी सौंदर्य के बारे में कहा है कि जब सुन्दरता पर मनन, उसके मूलतत्त्व रूप में किया जाता है तब उसकी चेतना में अनेकता भी एकता के रूप में सम्मुख आती है।[4] इस प्रकार सौंदर्य भावना एक अंतर्दृष्टि का विषय है और कवि एक विशिष्ट अंतर्दृष्टि के द्वारा सौंदर्य की मधुरिम प्रकाश-किरणों का अनुभव करता है। इसी सौंदर्य को वह प्रतीकों के द्वारा एक रूप देता है जो उसके भावों, विचारों एवं संवेदनाओं को सुन्दरता से रख सके। बर्गसा ने एक स्थान पर कहा है कि प्रत्येक नवीन अभिव्यक्ति एक कविता है[5] और मैं यह कहूँगा कि प्रत्येक नई अभिव्यक्ति

१—व्यजना और शब्द शक्ति के विवेचन के लिये दे० अध्याय ३।

२—हरीटेज आफ सिंबालिज्म, द्वारा सी० एम० बावरा पृ० १०।

३—छायावाद युग, द्वारा शम्भूनाथ सिंह, पृ० १२१।

४—रोमांटिक साहित्य शास्त्र, पृ० १४६-१५०, द्वारा देवराज उपाध्याय।

५— वही, पृ० २३।

प्रतीकों के द्वारा एक सौंदर्यानुभूति का विकास है जो भारतीय-साहित्य शास्त्र में रसानुभूति का पर्याय माना जा सकता है। हमारे कवियों ने रस और सौंदर्य की मिलित अभिव्यंजना अपने काव्य में सुन्दरता से की है—इसी समन्वयात्मक भूमि पर प्रसाद, पन्त, रामकुमार के प्रतीकों का स्वस्थ रूप हृदयङ्गम किया जा सकता है। उनकी सौदर्यभावना मानों उनके प्रतीकों में ही अंतर्हित हो गयी है जो प्रकृति के विशाल प्रांगण से ग्रहण की गयी है। दूसरी ओर फ्रान्स का प्रतीकवादी आन्दोलन अपने साथ केवल 'सौंदर्यतत्त्व' (Aesthetic) को ही ला सका। उस सौंदर्यतत्त्व को जन-जीवन, मानव-नीति एवं मानवीय प्रेम के साथ समन्वित न कर सका। छायावादी काव्य में सौदर्य तत्त्व का यह एकांगी दृष्टिकोण नहीं प्राप्त है। हमारे कवियो ने सौदर्य भावना को एक विस्तृत भाव-भूमि का वाहक बनाया है जो जीवन के दोनों पक्षों—प्रकाश और अंधकार—दुख और सुख आदि—को समान रूप से हृदयङ्गम कर सका है। निराला में इसी सौंदर्य के दर्शन होते हैं और दूसरी ओर पन्त में इस सौंदर्य के कम ही दर्शन होते हैं, क्योंकि उनके 'सुन्दर जीवन' में कलुषता का तिरोभाव है, उन्नयन है, उसका चित्रांकन नहीं। इससे तो यही सिद्ध होता है कि सौंदर्य भावना के प्रसार मे एक चेतना और एक ध्येय का होना परमावश्यक है। बिना नियंत्रण के समरसता को प्राप्त करना असम्भव है। टेनीसन ने एक स्थान पर ऐसी ही सौदर्यभावना की ओर संकेत किया है—

'जब एक उच्छृंखल कवि, बिना चेतना अथवा ध्येय के क्रियाशील होता है, तब वह औचित्यहीन सौंदर्य की सृष्टि करता है।'[१]

प्रकृति-दर्शन

सौंदर्य-दर्शन की इस अनिर्वचनीयता का एक स्वस्थ आग्रह छायावादी प्रतीकों में प्राप्त होता है, जिसका सुन्दरतम विकास अप्सरा, ज्योत्स्ना आदि प्रतीकों के द्वारा व्यंजित हुआ है। हमारे कवियों ने इस सौंदर्य का प्रसार प्रकृति के अंचल से लेकर मानवीय भावों तथा संवेदनाओं तक एक ही सूत्र में अनुस्यूत करने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से छायावादी कवियो की

१—Fantastic beauty, such as lurks,
In some wild poet when he works
Without a conscience or an aim.
इन मैमोरियम, द्वारा टेनीसन, पृ० ४५।

आध्यात्मिकता सौंदर्यपरक ही अधिक है जो यदाकदा यथार्थ जगत् के कठोर सत्य से भी परिचालित प्रतीत होती है। निराला में इस आध्यात्मिकता का अत्यन्त सुन्दर रूप प्राप्त होता है। प्रसाद में इस आध्यात्मिकता का रूप भी करुणाजनक ही अधिक है। पन्त की आध्यात्मिकता में सौंदर्य भावना का उच्चतम विकास लक्षित होता है। डा० रामकुमार वर्मा में आध्यात्मिक चिन्तन, कल्पना पर अधिक आश्रित होने के कारण, ऐसे प्रतीकों के द्वारा व्यक्त हुआ है जो प्राकृतिक भावभूमि को भी साथ लेकर चलता है। छायावादी कवियो ने फ़ारसी कवियों की तरह हुस्नेबुतां के पर्दे में (प्रकृति खंड में) रब के जलवे (आध्यात्मिक ज्योति) का दर्शन किया है। जिस प्रकार रोमांटिक कवि प्रकृति घटनाओं के अति प्राकृत्य को एक क्षण के लिए अपने काव्य में स्थान देता है, उसी प्रकार छायावादी कवि भी घटनाओं की क्षणिकता में 'सत्य' का स्पन्दन भर देता है। अंग्रेज़ी साहित्य में कालरिज की 'एन्शंट मराइनर' (Ancient Mariner) ऐसी ही सुन्दर रचना है।[1] प्रकृति की समस्त घटनाएँ एवं व्यापार एक परोक्ष सत्ता की 'छाया' के रूप में ज्ञात होती है। प्रकृति से एक निजी सम्बन्ध होने के कारण वह कहीं पर सखी है, कहीं पर प्रिय है तो कहीं पर 'माँ' का रूप लेती है। यहाँ पर शिलिंग का प्रकृति-दर्शन अपने सुन्दर रूप में प्राप्त होता है। शिलिंग का प्रकृति-दर्शन मानवीय आत्मा तथा प्राकृतिक घटनाओं को प्रतीकात्मक विधि से एक साथ लेकर चलता है। वह कहता है—'हम जिसे प्रकृति कहते हैं, वह एक कविता है जो अद्भुत गुप्त लेखन में छिपी रहती है, यदि पहेली का स्पष्टीकरण हो जाय तो हम प्रकृति में 'आत्मा की ओडसी' का अनुभव प्राप्त कर सकते है।'[2] मेरे विचार से छायावादी कवि होने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह व्यक्त रूपराशि में अनन्त का स्पन्दन अपने प्रतीकों के द्वारा सफलता से कर सके। यहाँ पर अद्वैतदर्शन का एक अनुभूतिमय रूप प्राप्त होता है। छायावादी कविता में इस प्रकृतिगत अध्यात्मवादी प्रतीकों के सृजन की सबल प्रक्रिया प्राप्त होती है। ऐसा लगता है कि प्रकृति ही स्वयं प्रतीक बन गयी है—कभी कवि की मनोदशा

१—रोमांटिक साहित्य शास्त्र, पृ० १२६।

२—What we call nature is a poem that lies hidden in a secret wonderous writing; if the riddle could be revealed, we should recognise in nature 'the Odyssey of the Spirit.'

रूसो एन्ड रोमांटिस्ज़िम, द्वारा अरबिंग बैबिट, पृ० २६३।

एवं अनुभूति की और कभी आध्यात्मिक एवं रहस्यपूर्ण तत्वों की।[१] अतः जो बात रोमांटिक प्रतीकवाद (इंग्लैंड के बारे में कही जाती है कि वह मूलतः मनोदशा अथवा मूड का ही एक विशिष्ट प्रतीकीकरण है,[२] वह बात छायावादी काव्य के लिए नितान्त सत्य नहीं है। यह स्पष्ट है कि छायावाद में 'मूड' का स्थान तो अवश्य है पर उसे ही एकमात्र 'प्रतीकीकरण' की आधारशिला नहीं माना जा सकता है। यदि केवल 'मूड' को ही प्रतीक सृजन का केन्द्र मान लें तो यह भी सम्भव हो सकता है कि कल्पना एवं भावना का उच्छृंखल रूप प्रतीक में प्राप्त हो जो उसके औचित्य को ही संकट में डाल दे। समष्टि रूप से प्रकृति से प्रेरणा ग्रहण कर उसकी ज्योत्स्ना का प्रसार ही कवि अपने काव्य-प्रतीकों के द्वारा करता है। कीट्स की निम्न पंक्तियाँ छायावादी काव्य में प्रकृति के स्थान पर यथार्थ प्रकाश डालती है—

'कवि या महात्मा प्रकृति के स्वर्गिक प्रकाश की प्रेरणा से ही लिखता है।[3] सत्य में, प्रकृति-दर्शन का यही आध्यात्मिक रूप छायावादी प्रतीकों का प्रेरणा-स्रोत है।

रोमांटिक अवसाद

प्रकृति दर्शन के अतिरिक्त छायावादी काव्य के प्रतीकों में एक प्रकार की अवसाद-जनित खिन्नता के भी दर्शन होते हैं। मनुष्य इस संसार में सुख का अन्वेषी होता है। जब वह सुख एवं आनन्द प्राप्त करने की लालसा से परिश्रम करता है तो यदि उस श्रम के बावजूद भी उसे दुख, विषाद एवं निराशा ही हाथ लगती है, तो वह संसार के प्रति विक्षोभ एवं विद्रोह की भावनाओं से भर उठता है। यह खिन्नता एवं अवसाद ही वह प्रेरणास्रोत है जो कवि के अंतःकरण को, सत्य एवं स्वप्न के वैषम्य को, एक प्रतीकात्मक रूप से अभिव्यंजित करता है। कवि का आदर्श जब यथार्थ जगत् के आघातों से निराशा को जन्म देता है, तब वह अपने उस आदर्श (Ideal) को दोष न देकर

१—आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत, द्वारा डा० केशरीनारायण शुक्ल, पृ० १७३।

२—रूसो एंड रोमांटिसिज्म, द्वारा अरविंग बैबिट, पृ० २६४।

३—For what has made
the sage or poet write
But the fair paradise of Nature's light.
द प्योटिकल वर्क्स आफ़ जान कीट्स, सं० एच० गेराड, पृ० ७ 'प्योम्स'।

संसार को ही दोष देता है। कवि के मानस-लोक का यह प्रत्यावर्तन उसके आध्यात्मिक आनन्द का एक विच्छिन्न अंग हो जाता है। रेने ने, इसी से, एक स्थान पर कहा है कि एक महान् आत्मा अपेक्षाकृत निम्नात्मा से कहीं अधिक दुख की भावना से भरी होती है।[1] यही सत्य हमें छायावादी प्रतीकों के सृजन में यदा-कदा प्राप्त होता है। यहाँ पर यह संकेत कर देना भी आवश्यक है कि इस अवसाद और विषाद का आशाप्रद या स्वस्थ रूप ही काव्य के लिए हितकर हो सकता है। यह स्वस्थ रूप उसी समय प्राप्त हो सकता है जब वह अनुभूति के संस्पर्श से मधुरिम हो उठता है। जहाँ पर यह अनुभूति नही होगी, वहाँ महाकवि गेटे की यह उक्ति नितात सत्य घटित होती है, जब वह कहता है—इन कवियो (रोमांटिक) की रचनाओं से ऐसा ज्ञात होता हैं कि वे बीमार है और यह समस्त संसार एक बीमार गृह है। उनमें से हरेक अपने को दूसरे से अधिक 'शून्य' मानता है। मेरे विचार से यह कविता का दुरुपयोग है।[2] छायावादी काव्य के प्रतीको मे इस प्रवृत्ति का एक सामान्य रूप नहीं मिलता है जैसा कि कदाचित् इंग्लैंड के स्वच्छंदवादी काव्य में प्राप्त होता हैं। परन्तु फिर भी, इंग्लैंड के अनेक रोमाटिक कवियो मे इस अवसाद भावना का कलुषित रूप नहीं प्राप्त होता है। छायावादी काव्य में 'निराश-भावना' का अर्थ 'पलायन' भी नही माना जा सकता है। वहाँ पर यथार्थ जगत् की कठोरताओं के प्रति जो विक्षोभ है, विद्रोह है, वह समाज की दयनीय दशा एवं स्वयं कवि के ऊपर पड़ी विषमताओं का सूचक है। कवि की अनेक रचनाएँ इसी तथ्य को लेकर चली हैं। निराला, प्रसाद और पंत के अनेक प्रतीक इसी तथ्य की प्रतिध्वनि हैं जिन पर यथास्थान विवेचन होगा। इस प्रवृत्ति के दर्शन होमर में भी प्राप्त होते हैं, जिसका 'अवसाद' केवल अपने तक सीमित न रह कर समस्त मानव समाज को अपने बाहुपाश में लेना चाहता है।[3] प्रसाद का 'आँसू' काव्य इसी मानववादी वेदना भाव का प्रतीक रूप है जिस पर पिछले अध्याय में विचार हो चुका है। अतः मै अवसाद की इस सार्वभौमिकता को एक प्रतिभा का विषय मानता हूँ जिसमें कवि की संवेदना क्रमशः उसके दुख के क्षेत्र को पार करती हुई, सामान्य मानव जीवन के धरातल को समेटती हुई चलती है।

१—रूसो एंड रोमांटिसिज्म, द्वारा अरविंग बैबिट, पृ० ३०८।

२—वही, पृ० ३०६ से उद्धृत।

३—वही, पृ० ३१२।

मानवतावाद

समस्त मानव चेतना को एक सूत्र में बाँधने का जितना मुखर रूप छायावादी कवि पंत में प्राप्त होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कवि पंत की मानवतावादी चेतना का सूत्रपात एवं विकास हमें छायावाद में ही प्राप्त होता है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य में 'मानवतावाद' का एक ऐसा रूप प्राप्त होता है जो कवियों के मानस लोक को एक नवीन क्षेत्र की ओर उन्मुख कर सका। सत्य में, मानवतावादी प्रेम का एक स्वस्थ रूप करुणा के भाव पर ही आश्रित है जो रोमांटिक अवसाद भाव के सर्वथा विपरीत है। रोमांटिक अवसाद में कवि के अन्दर एक विक्षोभ भावना का आग्रह अधिक रहता है, पर मानवतावादी दृष्टिकोण में निराशा का उतना स्थान नहीं रहता है। कवियों के सामने एक 'स्वर्णकिरण' की आभा का चित्र रहता है, वह मानव जाति को ऐसे आलोक के निकट ले जाना चाहता है जहाँ अंधकार, अज्ञान और घृणा का सर्वथा उन्नयन हो। पंत का मानवतावादी प्रतीक रूप 'बापू के प्रति' कविता में अत्यन्त स्पष्ट है, जहाँ पर बापू नवयुग की चेतना के प्रतीक रूप में अवतीर्ण हुए हैं—

तुम विश्व मंच पर हुए उदित
बन जग-जीवन के सूत्रधार।
पट पर पट उठा दिए मन से
कर नर चरित्र का नवोद्धार।[1]

इसी नवयुग को लाने के हेतु कवियों ने अनेक प्रतीकों का सहारा लिया है। इसी मानव प्रेम का विस्तार एवं प्रसार समाज, राष्ट्र एवं विश्व के क्रमिक क्षेत्रों से होता हुआ अन्त में मानव-प्रेम की ऊर्ध्वभूमि तक पहुँचाता है। इसी क्षेत्र में आकर मानव नामधारी प्राणी का 'मानवपन' मुखर होता है। यही तो मानव का परिचय है जिसकी ओर कवि का स्पष्ट संकेत है—

देश काल हैं उसे न बंधन
मानव का परिचय मानवपन।[2]

इस विहंगम पृष्ठभूमि के विवेचन से छायावादी प्रतीकों का वह रूप स्पष्ट होता है जो मानव जीवन एवं प्रकृति के क्षेत्रो को एक उन्नायक रूप में

१—युगांत, द्वारा सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ५६।
२—युगान्त, पृ० ४८।

समक्ष रखता है। इस दृष्टि से इस काल की प्रतीक योजना को विवेचन की सुविधा के लिए, निम्न उपखंडों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) रहस्यवादी प्रतीक योजना

(२) तात्त्विक प्रतीक योजना

(३) प्रेमभाव के प्रतीक

(४) रूप सौंदर्य के प्रतीक

(५) मानस जगत के प्रतीक

(६) मानवीकरण

(७) यथार्थ जगत् के प्रतीक (ऐति० पौराणिक, सामाजिक, मानववादी प्रतीक)

(८) जीवन-दर्शन और निष्कर्ष।

(ख) रहस्यवादी प्रतीक योजना

पृष्ठभूमि के अन्तर्गत रहस्यवादी प्रवृत्ति पर संकेत किया जा चुका है। छायावाद में प्रकृतिगत रहस्यवाद का पूर्ण विकास प्राप्त होता है। छायावादी कवियों ने रहस्यवाद की अभिव्यंजना के लिए प्रकृति का उन्नयन (Sublimation) किया है, और उसके माध्यम से आध्यात्मिक चिंतन पर आश्रित ईश्वर, प्रकृति एवं मानव के अन्योन्य संबंध पर अनुभूतिगत विवेचना प्रस्तुत की है। इस प्रकार, कवियों ने ईश्वर और यथार्थ के सम्बन्ध की समस्या को, अपने प्रतीकों के द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया है। ई० अंडरहिल के मतानुसार रहस्यवादी प्रतीकों में, इसी से, एक व्यक्तिगत मनोदशा (मूड) का ही रूप प्राप्त होता है[1] जो किसी तत्त्वचिंतन पर आश्रित होने से एक दार्शनिक भावभूमि को, काव्यात्मक धरातल पर अभिव्यंजित करता है।

इस निरपेक्ष सत्ता को प्राप्त करने के लिए कवि एक आध्यात्मिक संबंध की अवतारणा करता है। इस आध्यात्मिक चेतना के उदात्त रूप के कारण कवि के अंतर्मन में एक मंथन होता है जो उसे आध्यात्मिक स्वर्ण के निकट लाता है। छायावादी कवियों ने सापेक्ष और निरपेक्ष को अपने प्रतीकों के द्वारा एक समतल धरातल पर लाने का सफल प्रयत्न किया है। यहीं पर उनका आध्यात्मिक स्वर्ण उनकी निम्न चेतना का उदात्तीकरण कर देता है।

१—मिस्टिसिज्म, द्वारा ई० अंडरहिल, पृ० १५२।

उनके लौकिक प्रतीक उसी उदात्तीकरण के कारण दिव्य (Divine) हो उठते हैं। अवरटस मैगनस ने एक स्थान पर कहा है—'यह आध्यात्मिक-'स्वर्ण' मानव का स्वर्ण रूप ही है, उसका एक पूर्ण सिद्धान्त है, क्योंकि मानव के अन्दर यह 'स्वर्ण' सर्वथा विद्यमान रहता है।'[१] छायावादी कवियों के रहस्यवादी प्रतीकों में इसी आध्यात्मिक चेतना का एक 'स्वर्णपरक' रूप प्राप्त होता है। इस सम्पूर्ण विवेचन के प्रकाश में, छायावादी रहस्य-प्रतीकों को सामान्यतः दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) प्रेम भाव के रहस्य प्रतीक

(२) प्रकृतिगत रहस्य प्रतीक।

(१) प्रेमभाव के रहस्य प्रतीक

छायावादी काव्य मे प्रेम या प्रणय भाव पर आश्रित रहस्यप्रतीकों में निजी सम्बन्ध का आग्रह अधिक है। अतः, परमतत्त्व या निरपेक्ष सत्ता को सापेक्ष सत्ता के रूप में रूपान्तरित करने का प्रयत्न 'प्रियतम' प्रतीक के द्वारा अभिव्यंजित होता है। कवियों का यह प्रियतम आध्यात्मिक लोक का ऊर्ध्व चेतन रूप ही कहा जा सकता है। इस अतिनिकट सम्बन्ध के अतिरिक्त 'तुम' या 'वह' सर्वनामों के द्वारा भी कवियों ने परमसत्ता को सीमा में बाँधने का प्रयत्न किया है।

रहस्यवादी प्रतीकों का आयोजन एक ऐसी मनःस्थिति का द्योतक है जहाँ कविसाधक, मन की परतों का क्रमशः उद्घाटन करता है और शनैःशनैः विश्वास एवं अंतर्दृष्टि के द्वारा परमतत्त्व का अनुभव प्राप्त करता है। छायावादी कवियों के मानसिक विकास में इन प्रतीकों का एक विशिष्ट स्थान है।

रहस्यवाद की दृष्टि से, कवि-साधक का ध्येय 'जग के पार' जाना होता है। उसे भौतिक जगत से ऊपर उठना होता है। निराला ने रहस्यभावना का एक प्रतीकात्मक रूप ही 'जग के पार' की कल्पना से प्रस्तुत किया है जो विश्वास एवं अन्तर्दृष्टि को जन्म देता है। कवि के शब्दों में—

> हमें जाना है जग के पार।
> जहाँ नयनों से नयन मिलें, ज्योति के रूप सहस्र खिलें।
> सदा ही बहती है रसधार, वहीं जाना इस जग के पार।[२]

१—मिस्टिसिजिम, द्वारा ई० अंडरहिल, पृ० १७१ से उद्धृत।

२—परिमल, द्वारा निराला, पृ० १०५ 'गीत'।

यह 'जग के पार' का क्षेत्र आध्यात्मिक क्षेत्र ही है जहाँ आध्यात्मिक आनन्द को व्यक्त करने के लिए कवि ने 'नव रस धार' और 'ज्योति के सहस्र रूपों' का प्रतीकवत् ही संकेत किया है।

कवि-साधक में विश्वास की दृष्टि उसी समय उदित होती है जब उसमें आध्यात्मिक चेतना का विकास होने लगता है। प्रसाद ने इसी भाव को इस रूप में सम्मुख रखा है। वे अपने साध्य को अगाध गंभीर पाते हैं और अपने को एक जलविन्दु के समान।[१] यही नहीं उनकी तो यह लालसा है कि वह प्रियतम के दृग में पुतली बन कर चमकते रहे।[२] यह पुतली का रूप कवि के अटल विश्वास एवं अंतर्दृष्टि का ही सुन्दर प्रतीक है। प्रसाद की अंतर्दृष्टि का रूप यहीं से मुखर होने लगता है जब वे एक स्थान पर अपने क्षितिज (हृदय) को उदार बनने की बात कहते हैं और 'मैं' और 'तुम' की परिधि को ही व्यर्थ समझते हैं।

> तुम हो कौन और मैं क्या हूँ, इसमें है क्या धरा सुनो।
> मानस जलधि रहे चिर चुंबित, मेरे क्षितिज उदार बनो।[३]

कवि की अपरोक्षानुभूति इसी अंतदृष्टि का विषय है जिसे रोमांटिक कवि शेली ने भी अभिव्यंजित किया है। वह एक स्थान पर कहता है—मैं वह आत्मा हूँ जो उसके हृदय के अन्तरतम प्रदेश में विचरण करती है और मैं उसकी संवेदना और विचारों के अनुभवों के द्वारा उसकी अन्तस्थ आत्मा से वार्तालाप करता हूँ।[४] छायावादी कवियों की भाँति यह प्रकृति में व्याप्त अन्तस्थ आत्मा से वार्तालाप कवि की एक कल्पनाजनित अनुभूति ही है। साधक को ऐसा ज्ञात है कि वह 'सत्ता' परिचित तो है फिर भी दूर है। वह परोक्ष और अपरोक्ष के मध्य भासित होती है। डा० रामकुमार वर्मा ने इसी

१—झरना, द्वारा जयशंकर प्रसाद, समर्पण पृष्ट।

२—झरना, द्वारा जयशंकर प्रसाद, पृ० ४४ 'प्रियतम'।

३—लहर, वही, पृ० १०।

४—I am a spirit who has dwelt
Between the heart of hearts,
And I have felt His feelings
And have thought his thoughts
And known the inmost converse of His soul.
प्योटिकल वर्क्स आफ़ शेली, स० एस० बी० फ़ारमैन पृ० १९२।

भाव को प्रतीकात्मक रूप से व्यक्त किया है, जब वे अपनी अनुभूति को 'अज्ञात ही मानते हैं—

देव मैं अब भी हूँ अज्ञात।
तुमसे परिचित होकर भी, तुमसे इतनी दूर
बढ़ना सीख सीख कर मेरी, आयु बन गई क्रूर।[1]

यहाँ पर परोक्ष सत्ता को कवि ने एक सौंदर्य सत्ता के रूप में ग्रहण किया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी अपने एक गीत में वर्षा ऋतु में उसके आने का संकेत इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'जुलाई के वर्षाकाल की गहन छाया में तुम दबे पगों से रात्रि के शांति प्रहर में, प्रत्येक देखने वाले से बचकर, चलते हो।[2] परम-सत्ता की इस अनुभूति का अन्तिम परिणाम यही निकलता है कि विरह एवं विषाद भी साधक के अंदर एक अंतरर्दृष्टि को जन्म देते हैं। छायावादी कवियो ने 'विरह' को केवल अपने तक ही सीमित न रख उसे सामान्य मानव तक भी विस्तार दिया है। छायावादी कवियों ने भी विरह की ज्वाला में अपने प्रिय को मुस्कराते हुए देखा है, उसकी मौन 'करुणा' की अनुभूति प्राप्त की है और उसे अपने तथा अन्यो के विषाद में खड़े हुए पाया है। निराला का यह दुखमूलक विषाद उनकी रहस्यभावना का मूलतत्त्व है। उन पर वाह्य जगत् की 'कड़ी मारें पड़ीं' जिसके फलस्वरूप उनके हृदय में (खेत में) एक अंतर्दृष्टि (आध्यात्मपरक) का भाव घर कर गया। यह अतर्दृष्टि ही उनका एक मात्र 'फल' (आध्यात्मिक शक्ति) है जिसके सहारे वे जीवन में बल प्राप्त करते हैं—

जब कड़ी मारें पड़ीं, दिल हिल गया
पर न कर चूँ भी कभी पाया यहाँ,
मुक्ति की तब युक्ति से मिल खिल गया
भाव, जिसका चाव है छाया यहाँ।
खेत में पड़ भाव की जड़ जम गई
धीर ने दुख नीर से सींचा सदा,
काल की ही चाल से मुरझा गए

१—चित्ररेखा, द्वारा डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १।

२—"In the deep shadows of the raining July, with secret steps, thou walkest, silent at night, eluding all watchers."
कलक्टेड प्योमस एण्ड प्लेज़ आफ रवीन्द्रनाथ टैगोर, गीतांजलि पृ० ११ गीत २२।

फूल, हूले शूल जो दुखमूल में ।
एक ही फल किन्तु हम बस पा गये
प्राण है वह, त्राण सिंधु अकूल में ।[१]

इस आध्यात्मिक ज्योति के स्फुरण के द्वारा हृदय के आधे खुले कपाट से 'सत्य' की अनुभूति प्राप्त होती है। हृदय पर पड़े हुए 'तम' (अज्ञान) का तिरोभाव हो जाता है। 'सत्य' का ऐसा ही सबल रूप है जो हृदय के समस्त अंधकार को हर लेता है। प्रसाद के शब्दों में—

आधी खुली हुई खिड़की की राह से
जीवन धन ! मैं देख रहा हूँ सत्य को।
दिखलाई पड़ता जो तम व्योम में
हिचको मत निस्संग न देख मुझे अभी।
तुमको आते देख स्वयं हट जायेंगे—
वे सब, आओ, मत संकोच करो यहाँ।[२]

यह 'सत्य' का आभास अंतर्दृष्टि का विषय है जो साधक और साध्य के अन्योन्य संबंध का भी सूचक है। तभी तो, जीव को ऐसा ज्ञात होता है कि वह 'उस प्रिय' के पास है, साध्य यदि सुमन है, तो साधक उसकी सुवास है।[३] इस समस्त कार्यव्यापार में साधक या प्रेमी को किसी न किसी रूप में अपने साध्य को प्राप्त करने के लिए 'प्रयत्न' करना ही पड़ता है। उस प्रयत्न में उसे अनेक विपरीत दशाओं अथवा परिस्थितियों पर विजय भी प्राप्त करनी पड़ती है।

रहस्यवादी प्रतीकों में साधनापरक प्रतीकों का एक विशिष्ट स्थान है। इस साधना में साधक सीमा में (साँस में) बँधना नहीं चाहता है, वरन् वह अपने साध्य में लीन होना चाहता है। इस भावना के उदय के कारण ऐसा ज्ञात होता है कि साधक अपने साध्य से दूर नहीं रह सकता है, परन्तु स्वयं साध्य ही उससे परिचित होने को लालायित रहता है। सत्य मे, रहस्यवाद में प्रयत्न का अन्योन्य रूप भी एक तथ्य है। प्रसाद ने इसी भाव का चित्रांकन इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

दूर हटे रहते थे हम तो आप ही
क्यों परिचित हो गये ?—न थे जब चाहते

१—परिमल, द्वारा निराला, पृ० १००-१०१ 'आध्यात्मिक फल'।
२—झरना, द्वारा जयशङ्कर प्रसाद, पृ० ५३ 'प्रत्याशा'।
३—आकाशगङ्गा, डा० वर्मा, पृ० ६२ 'साधना का स्वर'।

हम मिलना तुमसे ! न हृदय में बस था ।
स्वयं दिखाकर सुन्दर हृदय मिला लिया
दूध और पानी सा : अब फिर क्या हुआ ।[1]

प्रेमी-साधक की इस बलवती इच्छा का एक स्वस्थ रूप उस समय भी दृष्टिगत होता है जब वह अपनी समस्त 'गति' को अपने साध्य की 'आरती' बनाने में प्रयत्नशील होता है । इस 'आरती' के घूमने में क्षितिज (हृदय) का रंजित घेरा, अंधकार (अज्ञान) का तिरोभाव करने में सहायक होता है । तभी तो साधक की समस्त शक्तियाँ 'विनय की भारती' बन जाती हैं । साधना का यह एक उज्ज्वल रूप है जिसमें प्रतीकों की योजना साधक की एक अंतर्दृष्टि को सम्मुख रखती है ।[2]

आराध्य को प्राप्त करने का मार्ग चाहे कितना ही अपरिचित हो, पर आराधक अपनी मानसिक शक्ति का संबल लेकर साधना-पथ पर अग्रसर होता है । साधना पथ को तै करने के लिए भौतिक इंद्रियाँ एक प्रकार की बाधा ही उपस्थित करती हैं । अतः उन्हें वश में करना भी आराधक को आराध्य के निकट पहुँचाने में सहायक होता है—

मार्ग से परिचय नहीं है, किन्तु परिचित शक्ति तो है ।
दूर हो आराध्य चाहे, प्राण में अनुरक्ति तो है ।[3]

इस साधना को संसार की विषय-वासनाएँ एवं प्रलोभनादि भी धूमिल करने का प्रयत्न करते हैं । सामने जो ऊँचे महल की खिड़की है (परमाराध्य का स्थान) उस तक पहुँचने में ये समस्त बाधाएँ मार्ग में आती हैं । प्रसाद ने इन बाधाओं को रहते हुए भी अपनी 'नौका' (जीवन) को द्विगुणित वेग से उस गन्तव्य तक ले चलने का उपक्रम भी किया । परन्तु फिर भी, माया की छवि (मुख की छवि) उस नौका से लगी रहती है । इतना होने पर भी समस्त भौतिकता का उन्नयन ही कवि का अभीष्ट है । इसी से, संसार के मध्य में (नदी है बीच में) ही उसे अपने आराध्य के दर्शन होते हैं—

खिड़की उस ऊँचे महल की—
दूर दिखाई देती है, अब क्यों रुकें—

१—झरना, द्वारा प्रसाद, 'स्वभाव', पृ० ४० ।

२—आकाशगङ्गा, द्वारा डा० वर्मा, पृ० १ 'साधना संगीत' ।

३—आकाशगङ्गा, पृ० ६६ 'आत्म समर्पण' ।

नौका मेरी द्विगुणित गति से चल पड़ी।
किंतु किसी के मुख की छवि किरण घनी
रजत रज्जु सी लिपटी नौका से बही,
बीच नदी में नाव किनारे लग गई
उस मोहन मुख का दर्शन होने लगा।[1]

इस सरल प्रेम-साधना के द्वारा ही साधक एवं साध्य की दूरी भी कम होती है। प्रेम के प्रवाह में सीमाओं का बन्धन शिथिल पड़ जाता है। रहस्यवादी अंतर्दृष्टि एवं प्रयास के द्वारा इस 'सीमा' का असीम में लय हो जाता है। इस आध्यात्मिक-प्रगति में स्थूल तो रहता है, किन्तु प्रकृति का कोई भी रहस्य अपने को छिपा नहीं पाता है। इस रहस्य-भावना का पर्यवसान आत्मदृष्टि में ही होता है जिसके सहारे 'सीमा के संसार' का अतिक्रमण कर आत्मा एक असीम सत्ता का दिग्दर्शन करती है। इस 'यात्रा' की ओर संकेत करते हुए डा० रामकुमार की निम्नपंक्तियाँ एक चित्र ही खड़ा कर देती हैं।

मैं इतनी दूर चला आया
वह मुझे कभी स्वीकार न था।

....

दूरी की धूमिल नील रेख, बन रही दृष्टिपंथ की रेखा।
शशि के बढ़ते मंडल में, मैंने अपने को बढ़ते देखा।
मैंने सब बन्धन तोड़ दिये जिसमें जीवन संकीर्ण बना।
जब मैं इस सीमा पर पहुँचा, तब सीमा का संसार न था॥[2]

यह असीम का प्रयत्न-साधित साक्षात्कार सीमा के आयामों से ऊपर उठकर असीम के रूप का ही दर्शन है, जिसमें समय व आकाश का तिरोभाव होता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उपर्युक्त भाव को रूप के समुद्र और अरूप की मुक्ता के द्वारा इस प्रकार व्यंजित किया है—

'मैंने रूप के अतल समुद्र का गोता लगाया, इस आशा से कि मैं अरूप की पूर्ण मुक्ता का लाभ प्राप्त करूँगा। अपनी इस जीर्ण शीर्ण नाव से एक पोत-स्थान से दूसरे पोत-स्थान तक यात्रा करना अब व्यर्थ है।[3]'

१—झरना, द्वारा जयशङ्कर प्रसाद, पृ० ५५ 'दर्शन'।

२—आकाशगङ्गा, 'यह दूरी,' पृ० ८०-८१।

३—"I dive down into the depth of the ocean of forms, hoping to gain the perfect pearl of formless. No more sailing from harbour to harbour with this my weather beaten boat."

—कलेक्टेड पोयम्स एंड प्लेज़ आफ आर० एन० टैगोर, पृ० ४६।

इस अरूप की अनुभूति प्राप्त करना ही एक रहस्यवादी कवि की प्रेम-साधना का मूल है। इसी परिश्रम के द्वारा वह अपने प्रियतम से 'द्वार' खोलने की बात कहता है जिससे उसका अज्ञान मिट जाय (रजनी) और उसके जीवन में सुप्रभात (ज्ञान) का स्वर्णिम उदय हो। यह द्वार हृदय का ही द्वार है जिसे खोलने के लिए कवि प्रार्थना करता है।[1] इस प्रकार प्रियतम का द्वार खुलने पर आराधक आराध्य के निकट पहुँचता जाता है और मिलनानुभूति के आनन्द से सराबोर होने लगता है। रहस्यवादी भावधारा में आनन्दानुभूति ब्रह्मानुभूति का ही पर्याय है। इस मिलनानन्द को व्यक्त करने के लिए कवियों ने निजी प्रतीकों का ही अधिक आश्रय लिया है। प्रसाद ने अपनी एक कविता 'मिलन' में इसी आनन्द को व्यक्त करने के लिए स्वर्ग और मेदिनी के मिलन की व्यंजना प्रस्तुत की है। स्वर्ग और मेदिनी की विपरीत सीमाएँ सूक्ष्म और स्थूल की ही सीमाएँ हैं जो कवि के मानस लोक के विस्तार की ओर भी संकेत करती हैं। हृदयाब्धि में कोकिलों का स्वर, (प्राण स्वर) चंद्रिक (चेतना), मलयपवन, मधुप आदि की योजना के द्वारा कवि ने मिलन के आह्लादपूर्ण स्वरूप की ही व्यंजना प्रस्तुत की है। इस आनन्द के कारण दृष्टि के सम्मुख समस्त सृष्टि एक अलौकिक तेज से भासित होने लगती है। प्रसाद ने इस आनन्दानुभूति को प्रतीकात्मक विधि से इस प्रकार प्रकट किया है—

> इस हमारे और प्रिय के मिलन से
> स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल रहा।
> कोकिलों का स्वर विपंची नाद भी
> चंद्रिका, मलयज पवन मकरन्द औ
> मधुप माधविका कुसुम से कुञ्ज में
> मिल रहे, सब साज मिलकर बज रहे
> आज इस हृदयाब्धि में, बस क्या कहूँ ?
> दृष्टिपथ में सृष्टि है आलोकमय
> विश्व वैभव से भरा यह धन्य है
> हृदय वीणा कर रही प्रस्तार अब
> तीव्र पंचम तान की उल्लास से

१—झरना, द्वारा प्रसाद, 'खोलो द्वार', पृ० २१।

बेसुरा पिक पा नहीं सकता कभी
इस रसीली मूर्छना की मत्तता।[१]

इस आनन्दानुभूति में बेसुरा पिक (हृदय) पूर्ण आनन्द की प्राप्ति नहीं कर सकता है। उसी को पूर्ण आनन्द मिल सकता है जो अपने आराध्य से पूर्ण तादात्म्य कर सके। इस स्थिति में आकर 'मै' और 'तुम' की सीमाएँ भी समाप्त हो जाती हैं। केवल मात्र 'मैं' का ही ज्ञान रह जाता है। उसी में 'तुम' भी जाकर सीमित हो जाता है। निराला ने स्वामी विवेकानन्द की एक कविता का अनुवाद किया है जिसमें कवि ने इसी भाव की व्यंजना इस प्रकार की है—देखता हूँ 'तुम हो, मैं तुम बना, अथवा रूप तुम्हारा ही घट घट में वर्तमान[२]' जिसमें कवि की रहस्यानुभूति स्पष्ट लक्षित होती है। इसी आन की अभिव्यंजना रवीन्द्रनाथ ने भी एक स्थान पर की है—'इस प्रकार तुम मेरे पास आ सके हो। हे समस्त भुवनों के स्वामी! यदि मैं न होता तो तुम्हारा प्रेम कहाँ होता?'[३]

इसी आनन्द में आकर दो सीमाओं का अन्तर मिट जाता है। एक महा-स्वर में समस्त स्वरों का तिरोभाव हो जाता है। साधक की मिलनावस्था के समय यही इच्छा रहती है कि वह अपने प्रिय में पूर्ण रूपेण एकमेक हो सके—उसका स्वर बन सके—

प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूँ मैं
दो उरों के मिलन में
मिट जाय वह अंतर बनूँ मैं।
प्रिय तुम्हारा स्वर बनूँ मैं।
हों तुम्हारे ये लजीले प्रश्न तो उत्तर बनूँ मैं।[४]

मिलन के आनन्द को साधक उसी समय प्राप्त कर सकता है जब साध्य भी उसकी आनन्दानुभूति करने का इच्छुक हो। उसकी अपने प्रिय के प्रति यही

१—झरना, मिलन, पृ० ५६–५७।

२—अनामिका, 'गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को,' पृ० ९७।

३—Thus it is that Thy joy in me is so full. Thus it is that Thou hast come to me. O Thou lord of Heavens, where would be Thy love, if I were not."

कलेक्टेड पोयम्स एण्ड प्लेज़ आफ़ रवीन्द्रनाथ, पृ० २८, गीतांजलि।

४—आकाश गंगा, स्वर साधना, पृ० ३ व ४।

याचना है कि वह 'सूखी बालू की बेला' न बने। आत्मानुभूति में आत्मा 'परमसत्ता' से स्नेहहीनता नहीं चाहती है जिसमें साधक का समस्त प्रेमवारि सोखता हुआ चला जाय। वह तो अपने प्रिय से गलबाही डाल कर प्रेम रूपी प्याले को भर देने की इच्छा रखता है—यह गलबाहीं एकात्म भाव की वह अनुभूति है जो सीमाओं की परिधि के अन्त का प्रतीक है। एक आह्लादपूर्ण मनःस्थिति का द्योतक है—

> आने दो मीठी मीड़ों से नुपूर की झंकार रही
> गलबाही दे हाथ बढ़ाओ, कह दो प्याला भर दे, ला।
> निठुर इन्हीं चरणों में रत्नाकर हृदय उलीथ रहा
> पुलकित प्लावित रहो, बनो मत सूखी बालू की बेला॥[1]

प्रिय- आगमन पर केवल आत्मानुभूति ही शेष रह जाती है। सुख एवं आह्लाद का वसंत बहने लगता है। सब कुछ एक सत्य रूपी 'नीलिमा' में लयमान हो जाते हैं, क्योंकि नील रंग विशालता एवं गहनता का प्रतीक है जो सत्य की भावना को भी साकार करता है। ऐसी दशा में साधक को 'केवल मैं' की ही अनुभूति रह जाती है जो परमज्ञान (आत्मज्ञान) की पराकाष्ठा है। सृष्टि भी उसी 'आत्मज्ञान' में लीन हो जाती है। यही तो आनन्द का 'परब्रह्म' रूप है जिसकी ओर निराला ने संकेत किया है—

> वहाँ कहाँ कोई अपना ? सब सत्य नीलिमा में लयमान
> केवल मैं, केवल मैं, केवल मैं, केवल मैं, केवल ज्ञान।[2]

(२) प्रकृतिगत रहस्य प्रतीक

प्रेम-प्रतीकों के उपर्युक्त विवेचन में कवियों ने यदाकदा प्रकृति का भी सहारा लिया है। छायावादी काव्य में प्रकृति के अन्तराल में एक 'चेतनात्मा' या 'चेतनसत्ता' का स्पंदन प्राप्त होता है, जो दृश्य घटनाओं (Phenomenal World) की पृष्ठभूमि में व्याप्त प्रतीत होती है। शेली द्वारा प्रयुक्त किये हुए प्रतीक भी इसी तथ्य को सम्मुख रखते हैं कि दृश्य घटना किसी अदृश्य सत्ता का प्रतिबिंबमात्र है।[3] अदृश्य सत्ता को उसने अनेक प्रतीको के द्वारा व्यक्त किया है, जिस प्रकार पंत ने भी उस सत्ता को प्रतीकात्मक विधि से सम्मुख

१—झरना, बालू की बेला', पृ० ३२।

२—परिमल, वसंत समीर, पृ० ६०–६२।

३—हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव, द्वारा रवींद्रनाथ सहाय वर्मा, पृ० १६८।

रखा है। हमें यहाँ पंत पर मुख्य रूप से दो प्रभावों का संकेत प्राप्त होता है—एक वैदिक साहित्य का प्रकृतिवाद तथा दूसरा शेली का सर्वात्मवाद। जहाँ तक पंत के प्रतीकों का सम्बन्ध है, उनमें इन दोनों भावधाराओं का तिलतन्दुल रूप प्राप्त होता है।[1] इस दृष्टि से पंत का प्रकृति-दर्शन समन्वय की आधार-भूमि पर ही आश्रित है। पंत ने प्रकृति में करुणाकर की अदृश्य सत्ता का भी अनुभव किया है। इसी प्रकार उस अदृश्य सत्ता को 'माँ' की भी संज्ञा दी गई है—

> **तेरी ही छबि प्रतिबिंबित सी, मुझको उसमें मिली महान्।**
> **माँ, तू क्या लघु कण में भी है, तब क्या मैं ही थी अज्ञान॥**[2]

इस प्रकार यह सत्ता ही वह अन्तरात्मा है जो प्रकृति में व्याप्त है। इसे ही वर्ड्सवर्थ ने 'प्रकृति की आत्मा' की संज्ञा दी है—

> 'ओ श्रेष्ठ और स्वच्छ प्रकृति की आत्मा! जिसने मेरे साथ आनन्द मनाया और मैंने भी, यौवनकाल के आरम्भ से उसमें आनन्द का अनुभव किया है।[3]

वर्ड्सवर्थ तथा शेली ने प्रकृति को एक पदार्थवादी आयोजना के रूप में नहीं देखा गया है पर उसे एक सचेतन सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया है। पंत में भी इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। उन्होंने समस्त प्रकृति में एक आत्मा को, एक सत्ता को, रहस्यमय एवं जिज्ञासामय 'कौन' के रूप में देखा है। उनकी 'मौन निमंत्रण' कविता प्रकृति में व्याप्त एक आन्तरिक सत्ता को व्यक्त करने के लिए एक प्रतीक रूप भी मानी जा सकती है। ऐसा लगता है कि परम-सत्ता का मौन रूप उसके व्यक्त प्रसार में वाणी के द्वारा प्रकट हुआ है जिसे कवि अपने सौन्दर्य बोध के कारण एक रहस्यमय शक्ति के रूप में अवतरित करता है। उसे उस 'कौन' का आभास नक्षत्रों, ज्योत्स्ना, मेघों का गर्जन, चपला की चमक, कुसुमों का सौरभ, सिन्धु की लहरों, सुवर्ण मोर, खद्योतों की

१—दे० परिशिष्ट में पंत से इंटरव्यू।

२—वीणा, द्वारा सुमित्रानन्दन पंत पृ० २५।

३—"Oh, soul of nature, excellent and fair,
that did'st rejoice with me
and with whom I too
Rejoiced, through early youth."

—उद्धृत 'द कान्सेप्ट आफ़ नेचर इन नाइनटीन्थ सेन्चुरी इंगलिश प्योयटरी,' पृ० ४६।

चमक, ओस बिन्दुओं में और इस छाया-जग में प्राप्त होती है।[1] अन्त में, कवि इसी निर्णय पर पहुँचता है कि उस शक्ति के बारे में, उसके स्वरूप के बारे में, निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है—

न जाने कौन, अये द्युतिमान !
जान मुझ को अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान
फूँक देते छिद्रों में गान
अहे सुख दुख के सहचर मौन।
नहीं कह सकती तुम हो कौन।[2]

इसी 'कौन' की अभिव्यक्ति शेली में एक क्रियात्मक विश्व-सिद्धान्त (Active Principle of Universe) के रूप में प्राप्त होती है जो प्लेटो एवं न्यूटन के विचारों का एक प्रतिरूप माना गया है। शेली ने अपने प्रसिद्धतम हिम 'इन्टल्कुचुअल ब्यूटी' में इसी 'क्रियात्मक आदितत्त्व' को 'बौद्धिक सौंदर्य सत्ता' के रूप में भी ग्रहण किया है जो आदिकारण-तत्त्व को रचनाकार (Designer) के रूप में सम्मुख रखता है।[3] इसी "बौद्धिक-सौंदर्य-सत्ता" को शेली ने 'मांट ब्लेक' में विश्वात्मा (Universal Spirit) के रूप में भी चित्रित किया है, जब वह कहता है—

वस्तुओं की गुप्त शक्ति जो विचारों को परिचालित करती है और जो आकाश के अनन्त गुम्बद को शासित करती है, वह एक नियम है जो तुम में वास करता है।[4] पन्त का 'कौन' भी इसी नियम का पालन करता है जो एक 'सौंदर्य-सत्ता' के रूप में उनके सम्पूर्ण 'मौन निमंत्रण' का प्राण है। यह सत्य रूप 'कौन' रहस्यमय है। सत्य की अनुभूति तो बुदबुद ही प्राप्त कर सकने में समर्थ होती है, क्योंकि वह अपने ध्येय में पूर्णरूपेण एकाकार हो जाती है—

१—पल्लव, द्वारा सुमित्रानन्दन पन्त, मौन निमन्त्रण, पृ० ३८-३९।

२—वही, पृ० ४०।

३—द कान्सेप्ट आफ़ नेचर, द्वारा जोसेफ बीच, पृ० २२४-२२५।

४—The secret strength of things
Which governs thought and to the Infinite dome,
Of heaven is as a law, inhabits Thee."
—प्योटिकल वर्क्स आफ़ शेली, वाल्यूम दो, पृ० ३४९।

कँप कँप हिलोर रह जाती
है मिलता नहीं किनारा।
बुद्बुद् विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा।[१]

प्रेम-साधना का एक रहस्यात्मक रूप 'लहर' के द्वारा भी प्रस्तुत किया गया है जो अनेक प्रयत्नों एवं कष्टों को झेलते हुए भी अपने साध्य 'तट' से लिपट ही जाने को व्याकुल है—

लहर चक्राकार कितनी दूर बहती चली
तरलता के पृष्ठ पर इतिहास कहती चली
मैं मिटी, मिट कर बनी, सौ बार कट कर रही
किंतु तट के नमित उर से ही लिपट कर रही।[२]

इससे तो यही प्रतीत होता है कि इस विश्व में प्रत्येक 'वस्तु' अकेली नहीं है, सब में द्वयता की भावना है। वह द्वयता भी एकात्म अनुभूति के लिए लालायित रहती है। शेली ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'लव्ज़ फ़िलासफ़ी' में प्रकृति पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध के द्वारा रहस्यात्मक एकात्म अनुभूति की सुन्दर व्यंजना प्रस्तुत की है—

'संसार में कोई भी वस्तु अकेली नहीं है, प्रत्येक वस्तु एक दिव्य नियम के द्वारा एक 'आत्मा' से मिलती एवं एकीभूत होती है, तब मैं भी तुमसे क्यों न मिलूँ?'[३]

(ग) तात्त्विक प्रतीक योजना

(ब्रह्म, माया, संसार, जीव, काल)

रहस्यवादी प्रतीकों के विशाल अर्थ गाम्भीर्य में तात्विकता के दर्शन होते हैं, जो मूलतः संवेदनात्मक एवं भावात्मक अधिक हैं। तात्विक प्रतीकों में इस तत्त्व की अपेक्षा 'चिंतन' का भावात्मक रूप कहीं अधिक मुखर है। इन

१—गुंजन, द्वारा पन्त, पृ० ३१।

२—आकाशगङ्गा, आकांक्षा, पृ० १६।

३—Nothing in the world is single
All things by the Law Divine,
In One spirit meet and mingle,
Why not I with thine.

प्योटिकल वर्क्स आफ़ शेली, पृ० २०० 'लव्ज़ फ़िलासफ़ी'।

प्रतीकों के द्वारा कवियों ने भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों एवं विचारधाराओं को एक समन्वित भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया है।

ब्रह्म, सृष्टि आदि

परमतत्त्व का एक सापेक्ष रूप होते हुए भी वह निरपेक्ष भी है, उसकी विशालता में सापेक्ष एवं निरपेक्ष दोनों तत्त्वों के कारण वह सृष्टि भी करता है और सृष्टि को फिर अपने में निलय भी कर लेता है। हीगल और कांट का भी यही मत है। सुमित्रानन्दन पन्त ने परब्रह्म के इसी रूप को एक अत्यन्त सुन्दर प्रतीक के द्वारा व्यंजित किया है जिसे उन्होंने 'असीम-उल्लास' की संज्ञा प्रदान की है—

एक ही असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास।
विविध द्रव्यों में विविध प्रकार
एक ही मर्म मधुर झङ्कार॥[1]

यहाँ पर समस्त वेदान्त दर्शन का संकेत किया गया है जो कवि के तत्त्व-चिंतन पर आश्रित एक प्रतीक के द्वारा व्यक्त हुआ है। इसी भाव को टी० एस० इलियट ने मौन एवं शांति 'शब्द' के द्वारा भी अभिव्यक्त किया है जिसके चारों ओर यह समस्त जगत परिक्रमा करता है।[2] यहाँ पर उपनिषदोक्त 'शब्दब्रह्म' का स्पष्ट संकेत है जो कवि की एक सुन्दर काव्यात्मक अवतारणा है।

ब्रह्म के इन दो रूपों में जो उसका सापेक्षरूप है, वह कार्य ब्रह्म की विस्तार-शक्ति है। यह सम्पूर्ण सृष्टि उसी कार्य ब्रह्म का कार्य है। उपनिषदों में इस कार्य ब्रह्म के सृष्टि प्रसार को व्यंजित करने के लिए अश्वत्थ वृक्ष का प्रतीकत्व ग्रहण किया गया है।[3] छायावादी कवि पन्त ने इसी कार्य ब्रह्म के विस्तार को

१—पल्लव, द्वारा पन्त, "परिवर्तन" पृ० १०६

२—Against the world,
the unstilled world
still whirled,
About the centre of the silent;word.
कलक्टेड पोयम्स, द्वारा इलियट, पृ० १०० ।

३—दे० प्रथम अध्याय उपखण्ड ग में।

व्यंजित करने के लिए 'बीज' का प्रतीकत्व लिया है। उसके क्रियात्मक रूप को सृष्टि प्रसार का कारण मान कर कवि ने उस शक्ति की रहस्यमयता की ओर सफल संकेत दिया है। उस एक लघु बीज ने एक महत् विश्व की जो अवतारणा की है (फल, फूल, पादप, डाल, रूप रंग आदि) वह एक वट वृक्ष के समान है, बूँद में समुद्र के समान है :—

मिट्टी का गहरा अंधकार
डूबा है उसमें एक बीज-
उस छोटे उर में छिपे हुए हैं
डाल पात औ स्कन्ध—मूल
गहरी हरीतिमा की संसृति
बहु रूप रंग फल और फूल
वह है मुट्ठी में बन्द किये, वट के पादप का महाकार
संसार एक, आश्चर्य एक, वह एक बूँद सागर अपार।

....

उसका प्रकाश उसके भीतर
वह अमर पुत्र, वह तुच्छ चीज।[1]

अन्तिम पंक्ति में कवि ने स्पष्ट रूप से उस सृष्टि बीज के विस्तार एवं निलय के द्विविध सत्य को भी व्यंजित किया है जो 'उसका प्रकाश उसके भीतर' की पंक्ति से स्पष्ट है। यह समस्त दृश्यमान सृष्टि परमतत्त्व की इच्छा का ही प्रसार है। टेनीसन ने इसी सृष्टि के रहस्य का और परमतत्त्व ब्रह्म से उसके सम्बन्ध का संकेत इस प्रकार किया है—

वह ईश्वर जो सदा चिरन्तन है और सदा प्यार करता है, वह एक नियम है, एक तत्त्व है। एक अनन्त दिव्य घटना की ओर यह समस्त सृष्टि बढ़ती जाती है।[2]

१—युगान्त, सृष्टि, द्वारा पन्त, पृ० ४४।

२—That God, which ever lives and loves,
One God, One law, One Element,
And one far off divine event.
To which the whole Creation moves.
—इन ममोरियम, द्वारा टेनीसन, पृ० १२५।

इस प्रकार ब्रह्म सृष्टि के साथ है और उस सृष्टि का उच्चतम विकसित रूप 'मानव' में उसकी सत्ता का प्रभुत्व है। जब मानवीय चेतना ऊर्ध्व-अभियानों का साक्षात्कार करती है, तब उसे ज्ञात होता है कि 'शतदल का सजल सहास' उसके हृदय में विस्तार कर रहा है। संतों ने भी इसी आत्मानुभूति को 'सहस्रधार कमल' की स्थिति मानी है। उसी प्रकार, डा० रामकुमार वर्मा ने शतदल का एक भावात्मक रूप अंकित करते हुए, उसे ब्रह्मानुभूति का प्रतीक बनाया है जो 'विश्व का पुलकित प्यार है', क्योंकि विश्व की रूपराशि उसी से तो स्पंदित है—

शतदल सजल सहास
....
अमिट विकसित, सस्मित सुकुमार,
विश्व के विहसित पुलकित प्यार
तरंगित तन के कितने पास
कौन हो तुम ज्योतित साकार।[1]

ब्रह्म की अनुभूति हृदय के एकान्त कोने में हो सकती है, जो साधक की अपनी एक विशिष्ट चेतना के आध्यात्मिक आरोहण पर अवलम्बित है। परन्तु ईश्वर का साक्षात्कार संसार से परे भी हो सकता है और संसार के अन्तराल में डूबकर भी। सुमित्रानन्दन पन्त ने संसार के परे (तट) बैठकर ही उस परमतत्त्व रूपी 'मुक्ता-मछली' को देखने का प्रयत्न किया है। उन्हे भय है कि कही संसार-सागर मे डूब जाने से (विषयादि) तट की हलचल के द्वारा अपने पुलिनों (हृदय) पर उस 'मछली' के आने की आशा को न खो बैठें। इसी से तो वे लहरों के तट से उसकी छवि देखना चाहते हैं—

सुनता हूँ इस निस्तल जल में
रहती मछली मोती वाली।
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट का चल जल माली॥
आयेगी मेरे पुलनों पर
वह मोती की मछली सुन्दर।
मैं लहरों के तट पर बैठा
देखूँगा उसकी छवि जी भर॥[2]

१—चित्ररेखा, पृ० ११।
२—गुंजन, द्वारा पन्त, पृ० ७१।

इन सब उदाहरणों में किसी न किसी रूप से परब्रह्म की व्यापकता अनेक वाचक प्रतीकों के द्वारा व्यंजित होती है। ब्रह्म के नाद या शब्द रूप का सृष्टिपरक रूप 'अनाहद नाद' में भी प्राप्त होता है। यह अनाहद नाद ब्रह्म या परमतत्त्व का एक अविच्छिन्न अंग है। पाश्चात्य विचारधारा में इसे ही Shadows of Music कहते हैं जो सृष्टि में व्याप्त एक सत्य है। इस 'नाद' को डा० रामकुमार ने एक अत्यन्त सुन्दर प्रतीक 'नूपुरों का हास' से व्यंजित किया है। यह नूपुरों का हास 'ब्रह्म' की निष्क्रियता में गतिशीलता का वरदान देता है। उसका यह गतिशील 'बोलना' यह संकेत करता है कि वह उस परम-तत्त्व के समीप है, उसका एक अविच्छिन्न अंग है। जहाँ पर भी सृष्टि का तनिक भी आभास प्राप्त होगा, वहाँ पर उस 'नाद' का 'पूर्व-संदेश' अवश्य दृष्टिगत होगा। उसका उल्लास गति में ही समाहित है, गतिहीनता तो उसकी मौनता का सूचक है। कवि के शब्दों में—

मैं तुम्हारे नूपुरों का हास।
चरण में लिपटा हुआ, करता रहूँ चिर वास।
मैं तुम्हारी मौन गति में, भर रहा हूँ राग।
बोलता हूँ यह जताने, हूँ तुम्हारे पास।
हूँ तुम्हारे आगमन का, पूर्व लघु संदेश।
गति रुकी तो मौन हूँ, गति में अखिल उल्लास।[1]

माया, संसार आदि

ब्रह्म की सृजन शक्ति माया है। भारतीय दर्शन में इस सृजन शक्ति 'माया' को दो रूपों में अवलोकित किया गया है—एक अविद्या और दूसरी विद्या माया। यह विद्या माया एक अनन्त चेतना का प्रतीक है जो अनन्त—अस्तित्व तत्त्व का एक प्रकाशित सत्य है। महर्षि अरविन्द ने इसी माया शक्ति को 'दिव्य शक्ति' की संज्ञा दी है।[2] इसी सृजनात्मक अथवा रचनात्मक दिव्य-रूप को डा० रामकुमार वर्मा ने 'विमल रजनी' के द्वारा व्यंजित किया है—

यह विमल रजनी तुम्हारी।
विश्व जागृति पर बनी है, आवरण ले शान्त सारी।
प्रेम की श्यामा समाधि, विशाल भू पर स्थिर हुई है।

१—चन्द्रकिरण, द्वारा डा० रामकुमार वर्मा, परिचय, पृ० १२।
२—दी लाइफ़ डिवाइन, द्वारा अरविन्द, दे० अध्याय १३, पृ० १३८।

सूर्य का उत्ताप खोकर, वायु शीतल फिर हुई है।
या हमारी साँस तुमने, रजनि के तन में सँवारी।
यह विमल रजनी तुम्हारी ॥[१]

संत कवियों में इस रचनात्मक माया का प्रतीकात्मक संकेत प्राप्त नहीं होता है। उनकी वृत्ति सदा ही अविद्या माया की ओर ही लगी रही। छायावादी कवियों में भी इस प्रवृत्ति का विकास प्राप्त होता है। उन्होंने माया के इस रूप का संकेत अनेक प्रतीकों के द्वारा व्यंजित किया है। इस अविद्या माया को पन्त ने एक प्रतीक 'मकड़ी के जाले' से व्यंजित किया है।[२] माया के व्यजनार्थ मृगमरीचिका का प्रयोग भी एक परम्परागत रूप है जिसे भक्त कवियों ने भी प्रयुक्त किया है। पन्त ने इसी प्रतीक का आश्रय लेकर माया के भ्रमात्मक प्रसार की ओर संकेत किया है।[३]

इन उदाहरणों में माया की प्रसार शक्ति एवं उसकी भ्रमात्मक शक्ति का संकेत प्राप्त होता है। ऊमरख़ैयाम ने माया के इस रूप को ऐंद्रिजालिक छाया-चित्र (Magic Shadow Show) की संज्ञा दी है जो बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे चारों ओर व्याप्त है। इस खेल का प्रसार एक ऐसे बक्स में होता है जिसकी दीपशिखा सूर्य है जिसके चारों ओर हम छायाएँ आती तथा जाती हैं।[४] इस माया के द्वारा ही जीव भ्रमित होता है, क्योंकि वह उसके धरातल के रूपराशि को देखकर विमुग्ध हो जाता है। प्रसाद ने हरित कुसुमित द्रुमादि, चंद आदि के द्वारा इसी रूपराशि की ओर संकेत किया है—

हरित बन कुसमित हैं द्रुम वृन्द,
बरसता है मलयज मकरन्द,
स्नेहमय सुधा दीप है चन्द,
खेलता शिशु होकर आनन्द,

१—चंद्रकिरण, द्वारा डा० वर्मा, पृ० ११।

२—वीणा, द्वारा पन्त, पृ० ३१।

३—वही, पृ० ५३।

४—For in and out, above, about, below,
It is nothing but a magic shadow show,
Play'd in a box whose candle is the sun
Round which we phantom figures come and go.

रुबाइत आफ़ ओमर ख़ैयाम, अनु० फिट्ज़गेरल्ड, पृ० ४६।

क्षुद्र गृह किन्तु हुआ सुख मूल, इसी से मानव जाता भूल।[1]

कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति डा० रामकुमार वर्मा में भी प्राप्त होती है। वह माया के विभ्रमित रूप को देख अपने को भूला हुआ पाते हैं, क्योंकि उन्हें संध्या की नश्वरता, पथ में असंख्य तारों के चक्रव्यूह और कलियों के गौर-गात— ये सब माया के भ्रमात्मक रूप को प्रदर्शित करते हैं—

मैं तुमको पाकर गया भूल।
क्यों मुझे दृष्ट आया पथ में, इतने तारों का चक्रव्यूह।
भूला कलियों के गौर गात पर हाथ रखा चुभ गये शूल।
मैं तुमको पाकर गया भूल।

....

यह चलित विश्व आवर्त एक, जिसमें चक्रित गति है न कूल।[2]

अतः, विश्व की स्थिति नितात अस्थिर है। उसकी गति में चक्राकारिता है पर उसका कोई भी कूल नहीं है। इस क्षणभङ्गुरता को प्रदर्शित करने के लिए कीट्स ने विभिन्न प्राकृतिक घटनाओं तथा वस्तुओं की आयोजना प्रतीकवत् करते हुए संसार के परिवर्तनशील 'सत्य' की ओर संकेत किया है—

दिन चला गया और उसके साथ मधुसुख भी चले गये—मधु-स्वर, मधु-अधर, मधुकर और कोमल स्तन। कुसुम भी मलिन हो गये और उसका सब सौंदर्य लुप्त हो गया।[3]

पन्त का परिवर्तन-दर्शन संसार के इसी अस्थिर रूप को विविध आयामों से देखता है। उनकी 'परिवर्तन' कविता संसार के यथार्थशील परिवर्तन के विविध चित्रों को सम्मुख रखती है। 'परिवर्तन' कविता संसार के इसी यथार्थ रूप का एक कान्त कल्पना-चित्र है जो एक प्रतीकात्मक रूप से समस्त संसार के सुख दुखों, राग विरागों, क्रान्तियों-अत्याचारों, प्रेम-घृणा, विभीषिका-कलुषता आदि को रखती है। इस कविता के विभिन्न प्रतीकों का संकेत यथास्थान किया

१—झरना, द्वारा प्रसाद, असंतोष पृ० ४१।

२—चन्द्रकिरण, पृ० ३० विस्मरण।

३—The day is gone and all its sweets are gone,.
Sweet voice, sweet lips, soft hands......
and softer breast........
Faded the flowers and all its budden charms.
द वर्क्स आफ़ जान कीट्स, पृ० ४७२ पोयेटिकल।

जायेगा।[1] कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति उनकी एक अन्य कविता 'विश्व छवि' में भी प्राप्त होती है। उन्होंने 'गुलाब के फूल' के द्वारा बचपन से लेकर मृत्यु तक मानव जीवन एवं ससार की क्रमिक परिवर्तनशीलता की ओर संकेत किया है। अंत में, कवि एक सत्य को सामने रखता है—

> धूल धूसरित गुलाब के फूल—
> यही है पीला परिवर्तन—
> प्रतनु, यह पार्थिव परिवर्तन।
> नवल कलियों में वह मुसकान
> खिलेगा फिर अनजान,
> सभी दुहरायेंगी यह गान,
> जन्म का है अवसान,
> विश्व छवि से गुलाब के फूल
> करुण है पर यह परिवर्तन।[2]

कवि ने फूल के द्वारा एक तात्त्विक संदर्भ की जो सुन्दर अवतारणा प्रस्तुत की है, वह संसार के एक चिरन्तन सत्य की ओर संकेत भी है कि संसार की परिवर्तनशीलता में वस्तु का रूपान्तर है, न कि उसका समूल नष्ट हो जाना। यही तो सत्य 'विश्व की छवि है' जिसे गुलाब के फूल के द्वारा कवि ने व्यंजित किया है। उसके बचपन का सरल भोलापन क्रमशः यौवन के रंगीलेपन, जीवन के प्रमुदित रूप से होता हुआ, अन्त में, उसके मुरझाये रूप में अवसान लेता है। फिर उस अवसान में वह अन्य नवल कलियों को जीवन देता है।[3]—इस पूरी घटना के द्वारा कवि ने जीवन एवं जगत् के रूपांतरित परिवर्तन का प्रतीकात्मक संकेत किया है। यही प्रकृति का रहस्य है—उसकी परिवर्तनशीलता का तथ्य एवं मूलतत्त्व। संसार की व्यक्त रूपराशि, जो सुधा के समान है उसमें भी गरल का समावेश है। इस विश्व-छवि में भी 'गरल' का तत्त्व निहित है। यदि एक ओर सुख है तो दूसरी ओर दुख, यदि एक ओर प्रगति है तो दूसरी ओर अधोगति—इन्हीं के मध्य में संसार का, मानव-जीवन का चक्र चलता रहता है। संध्या के रागरंजित जीवन में भी यही तथ्य है कि वह भी स्थिर नहीं है, यथा—

१—दे० आगे यथार्थ जगत् के प्रतीको में।

२—पल्लव, 'विश्व-छवि,' पृ० ८५।

३—वही, पृ० ८४-८५।

(१)

सुधा में मिला दिया क्यों गरल ।
पिलाया तुमने कैसा तरल ॥

(२)

राग रंजित संध्या हो चली
कुमुदिनी मुकलित हो कुछ खिली
तारागण नभ प्रान्त,
क्षितिज छोर में चन्द्र था ।
फैला कोमल ध्वान्त
दीपक जल कर बुझ गए ।
हमें जाने की आज्ञा मिली,
राग रंजित संध्या हो चली ।[१]

संसार के इस करुण अवसान की ओर एक प्रतीकात्मक रूप से अभिव्यंना प्रस्तुत करते हुए शेली ने प्राकृतिक घटनाओं एवं वस्तुओं के द्वारा जगत् एवं मानव जीवन के 'सत्य' की ओर इस प्रकार संकेत किया है—

'तप्त सूर्य धूमिल हो रहा है, समीर गतिहीन सी हो रही है, नन्हीं सरल डालियाँ सिसक रही हैं, पीले कुसुम मर से रहे हैं, और वर्ष (शिशिर के समय) पृथ्वी पर मृत पड़े हुए पत्तों के मृत्यु-सेज पर पड़ा हुआ है।'[२] 'इस प्रकार यह सम्पूर्ण संसार ऋतुओं के परिवर्तन के समान ही परिवर्तनशील है। उसका जीवन उस 'तिरछे गगन' के समान है, जो कभी भी अपनी सत्ता में स्थिर नहीं है। उसके जीवन में, प्रातः की प्रभा में भी संध्या की काली छाया

१—झरना, द्वारा प्रसाद, सुधा में गरल, पृ० ८५।

२—The warm sun is failing,
The fleak wind is wailing
The fair boughs are sighing
The pale flowers are dying
And the year
On the earth her death bed
In the shroud of leaves dead;
is lying.

पयोटिकल वर्क्स आफ़ शेली, वाल्यूम २, पृ० ३२ 'आटम'।

न जाने कब दौड़ जानी है।'[1] प्रातः और संध्या जिस प्रकार दुख-सुख के प्रतीक हैं, उसी प्रकार पतझड़ और वसंत भी दुख-सुख के प्रतीक हैं, जो संसार में मिले हुए हैं—

> यह पतझड़ बसंत एकत्रित मिला हुआ संसार
> किसी तरह से उदासीन हो कट जाना उपकार।[2]

संसार की स्थिति की कल्पना बिना इस सुख दुख के सम्भव नहीं है। इस दुख सुख की भावना में जीवन की परिवर्तनशीलता भी निहित है।

इसी प्रकार एक अन्य प्रतीक योजना 'साँझ ऊषा' के द्वारा इसी सुखदुख की ओर संकेत किया गया है जो जग-जीवन में व्याप्त है। दुख-सुख के परस्पर संबंध घन में शशि का ओझल होने और दूसरी ओर शशि से घन का ओझल होने के समान है।[3] इसी प्रकार, इस संसार के विस्तार में दिवस और निशि का समान अधिकार है।[4]

संसार की इस अस्थिरता एवं क्षणिकता का समावेश 'काल-शक्ति' के द्वारा होता है। निराला ने 'काल' के स्वरूप पर (माली रूप) और उसके सामने मानव जीवन (फूल) की असहायता का चित्रांकन एक परम्परागत प्रतीक योजना के द्वारा किया है—

> पहचाना—अब पहचाना
> हाँ उस कानन में खिले हुए तुम
> चूम रहे थे भूम भूम—
> तुम्हारा इतना हृदय उदार, वह क्या समझेगा माली
> निष्ठुर-निरा गँवार स्वार्थ का मारा यहाँ भटकता
> फूटी कौड़ी पर विनोदमय जीवन सदा पटकता
> तोड़ लिया लचकाई ज्यों ही डाली
> पत्थर से भी कठिन कलेजे का है
> चला गया जो वह हत्यारा माली।[5]

१—चित्ररेखा, पृ० १८।

२—झरना, द्वारा प्रसाद, पृ० ११ 'विन्दु'।

३—गुंजन, द्वारा पंत, पृ० १६।

४—पल्लव, परिवर्तन, पृ० १०१।

५—परिमल, निराला, 'पहचाना', पृ० १२६–१३०।

इन पंक्तियों में उपर्युक्त अर्थ के अतिरिक्त एक सबल पुरुष का एक निर्बल के ऊपर अत्याचार की भी व्यंजना होती है जो निराला के व्यक्तिगत विक्षोभ की ओर भी संकेत करता है। इसी 'काल' की निष्ठुरता से ही मानव-जीवन की कली भी झर जाती है, जो संसार रूपी नदी की लहरों में ठेली जाती है—

झर गई कली, झर गई कली।
आती ही जाती नित लहरी
कब पास कौन किसके ठहरी,
कितनी ही तो कलियाँ फहरी
सब खेलीं, हिलीं, रहीं संभली,
खो आत्मा का अक्षय धन, लहरों में भ्रमित गई निगली।[1]

इस लहरी की रूपराशि से निदान कली (जीव) पूर्णरूपेण भ्रमित होकर ही निगल ली गई। यही तो निर्बल मानव जीवन की करुण कहानी है। संसार की इस विभ्रमित स्थिति में ही तो मनुष्य अपनी आत्मा के 'धन' को खो देता है। छायावादी काव्य में संसार और मानव जीवन के इस सकरुण सम्बन्ध की जितनी सुन्दर व्यंजना इस प्रतीक योजना के द्वारा होती है, वह परम्परा के प्रतीक को एक नवीन सदर्भ में अवतरित करती है। जीवन के इस रूप को व्यक्त करने के लिए शेली ने 'तारे' के जीवन को एक प्रतीक का रूप प्रदान किया है। वह कहता है—

'कमज़ोर मेघों से जो तारे आच्छादित रहते हैं, वे मेघ भी कूच कर जाते हैं और तारे ही शेष रह जाते हैं, पर वे भी अन्त में, हाँ, लुप्त हो जाते हैं।'[2] शेली और अन्य छायावादी कवियों में इस समानता के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि संसार एवं मानव जीवन के परिवर्तनशील, अस्थिर एवं प्रवहमान रूपों में जगजीवन की अनित्यता का ही संदेश प्राप्त होता है।

१—गुंजन, पृ० ३८।

२—Like stars in clouds
by the weak winds enwrought,
But that the clouds depart
and stars remain,
While they remain and ye,
alas, depart.

पयोटिकल वर्क्स आफ़ शेली, वाल्यूम २, पृ० १९३।

कवियों ने ससार के प्रति एक निराशाजनक दृष्टिकोण लेते हुए भी, अपने को उसी निराशा में तिरोहित नही किया है। उसके अन्तराल से शक्ति एवं बल का संचय किया है जिस पर यथास्थान विवेचन किया जायेगा।[1]

(घ) प्रेम एवं विरह के प्रतीक

छायावादी रहस्य एवं तात्त्विक प्रतीकों के विवेचन के अन्तर्गत यदाकदा प्रेम अथवा प्रणय भाव पर आश्रित प्रतीकों का विवेचन हो चुका है। अब जिन प्रेम-प्रतीकों का विवेचन होगा वे अधिकतर लौकिक प्रेम भावना के संबंध को ही स्पष्ट करते हैं। इन प्रतीकों में एक ओर तो परम्परा के रूढ़ प्रतीकों का पालन मिलता है तो दूसरी ओर, अनेक नवीन प्रेम-प्रतीकों की भी योजना मिलती है। इस विहंगम दृष्टि के प्रकाश में हम प्रेम-प्रतीकों को निम्न वर्गों में, विवेचन की सुविधा के लिए, विभाजित कर सकते है—

१—मानवेतर प्रकृति (जड व चेतन)

२—अन्य प्रतीक।

(१) मानवेतर प्रकृति के प्रतीक

इन प्रतीकों के द्वारा कवियो ने प्रेम और प्रणय भाव को व्यक्तिगत और अपरोक्ष रूप में व्यंजित किया है। जीवन के उतार-चढ़ाव मे और उसके अन्तरंग सौंदर्य में प्रेम भाव का वही स्थान है जो शिशु में सरलता के स्वाभाविक उन्मेष का है।

छायावादी काव्य में फूल-भौरे के संबंध का एक चतुर्मुखी विकास प्राप्त होता है जो उसे अनेक नवीन संदर्भों का वाहक बनाता है। प्रेम-भाव की बलिदान परक व्यंजना जिसमें रूप का भी धूमिल संकेत प्राप्त होता है, उसे पंत की ये पंक्तियाँ प्रकट करती है, जो एक सखी का नायिका के प्रति वचन है—

> एक दिन संध्या समय मैंने सखी,
> एक सुखमय दृश्य देखा—एक अलि,
> पद्मिनी का बिंब सर में देखकर
> डूबता है सलिल में मधुपान को।[2]

यह मधुपान ही प्रेमी का परम ध्येय होता है। यही बात उस समय भी दृष्टिगत

१—दे० आगे यथार्थ जगत् के प्रतीकों में।

२—ग्रंथि, द्वारा पंत, पृ० २०।

होती है जब फूल अपने मधु-प्यालों का परम यौवन ही मधुकर को सस्नेह पिलाते हैं—

देखता हूँ जब उपवन
पियालों में फूलों को
प्रिये ! भर भर अपना यौवन
पिलाती है मधुकर को ।[1]

पूर्ण यौवन प्राप्त पात्र का उसी समय महत्व है जब वह अपने प्रिय को आत्म-समर्पण करता है। इस आत्मसमर्पण में भी क्रय-विक्रय की, आदान-प्रदान की भावनाएँ अवश्य रहती हैं पर अन्योन्याश्रित। दूसरे शब्दों में, एक का स्वार्थ दूसरे के स्वार्थ पर ही आश्रित रहता है। प्रेम में स्वार्थ का यही रूप रहता है। इसी तथ्य की प्रतिध्वनि भौंरे के इस कथन में (फूल के प्रति) साकार हो उठी है—

सुनो अहा फूल, जब कि यहाँ दम है
फिर क्या रंजोग़म है ?
पड़ेगी न धूल
मैं हिला झुला झाड़ पोंछ दूँगा
बदले में ज्यादा कभी न लूँगा
बस मेरा हक़ मुझको दे देना
अपना जो हो, अपना ले लेना ।[2]

प्रेम के इस आदान-प्रदान में एक प्रकार की संरक्षता भी रहती है जो 'पड़ेगी न धूल' की पंक्ति से स्पष्ट ध्वनित होता है। प्रेम भावना में 'यौवन' के रूप के प्रति विशेष आसक्ति होती है। कलियों के शिथिल स्वप्निल पंख-ड़ियों का खुलना और भौंरों का गूँजना, ये दोनों कार्य प्रेम एवं रूप के भावों की एक मिलित अभिव्यंजना करते हैं।

पंत के शब्दों में—

शिथिल स्वप्निल पंखड़ियाँ खोल
आज अपलक कलिकाएँ बाल

१—पल्लव, द्वारा पंत, आँसू पृ० १५।

२—परिमल, द्वारा निराला, बदला, पृ० ७२-७३।

गूँजता भूला भौंरा डोल
सुमुखि, उर के सुख से वाचाल ।[1]

यहाँ पर भौंरा मन का प्रतीक है जो बाल-कलिकाओं की रूपासक्ति से आक्रान्त है। प्रेमभाव में यौवन काल का एक विशिष्ट स्थान माना गया है। डा० रामकुमार वर्मा ने इसी यौवनावस्था को शतदल के द्वारा भी व्यंजित किया है—

शतदल सजल सहास।
जगत के हे अभिनव आभास
सुरभि है अविरल जीवित साँस
रुचिर छवि है, यौवन है पास
और है जीवन का उल्लास।[2]

प्रेम भाव में जिस प्रकार यौवन का स्थान है उसी प्रकार 'काम' का भी एक विशिष्ट स्थान है। कमल और भौंरे के परस्पर सम्बन्ध से 'काम' का एक स्वस्थ विकास भी लक्षित होता है। संसार का कभी कभी यह भी नियम होता है कि एक व्यक्ति पूर्ण प्रेमभाव से किसी के पास जाता है, पर वह व्यक्ति उसके प्रेम भाव को समुचित न समझ सकने के कारण उसके प्रेम का निरादर करता है। यही बात तो उस मधुकर के लिए भी सत्य है जो निष्पाप होकर तरुवर पर उत्पन्न सुमन के पास जाता है, पर वह उसे काँटो से बेध देता है। यह भी तो प्रेम का करुण रूप है जिसकी ओर पंत ने संकेत किया है—

यही तो, काँटों सा चुपचाप
उगा उस तरुवर में—सुकुमार
सुमन वह था जिसने अविकार
बेध डाला मधुकर निष्पाप।[3]

प्रेम का यह अर्थ नहीं है कि वह स्वार्थ के पंकिल से बुरी तरह से भरा हो। उसकी भावना में त्याग एवं बलिदान का एक अपना निजी स्थान है। डा० रामकुमार ने भ्रमर को संबोधित कर यही व्यंजित किया है—

१—गुंजन, द्वारा पन्त, पृ० ५२।

२—चित्ररेखा, पृ० ११।

३—पल्लव, उच्छ्वास, पृ० ६।

भ्रमर तुम्हारा यह अभिसार।
व्यंजित करता है पृथ्वी की, नश्वरता से शाश्वत प्यार।
कलिकाओं के विविध लोक में,
हुए अवतरित हर्ष शोक में,
करना पड़ा विवश ही तुमको, अपने जीवन का गुंजार।[१]

विरह व्यंजक प्रतीक

प्रेम की भावना में विरह की तीव्रता उस भावना को एक व्यापकता प्रदान करती है। छायावाद में विरह का एक स्वस्थ रूप प्राप्त होता है, क्योंकि वहाँ पर 'विश्व का काव्य अश्रुकन' की परम्परा अपने उन्नत रूप में प्राप्त होती है। विरह वेदना का यह रूप अनेक प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों के द्वारा व्यक्त हुआ है। इनका प्रसार एवं उद्भव मानस के अस्थिर एवं सिसकते हुए अन्तराल से होता है जो उच्छ्वास एवं अश्रु के रूप में 'मानस की गहराई' को व्यक्त करते हैं। पंत की 'उच्छ्वास' कविता इसी मानस के उद्वेलित रूप की एक प्रतीकात्मक व्यंजना है। यही बात उनकी 'आँसू' कविता में भी प्राप्त होती है। दोनों कविताओं में पीड़ा की मर्माहत अनुभूति के दर्शन होते हैं। 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान' मानों वाल्मीकि की पीड़ा की ही प्रतिध्वनि है जो काव्य की भावभूमि में करुण-रस का उद्रेक करती है। इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का संकेत पंत ने इस प्रकार किया है—

सिसकते अस्थिर मानस में
बाल बादल सा उठकर आज
सरल अस्फुट उच्छ्वास।[२]

यह बाल-बादल वेदना का प्रतीक है जो उच्छ्वास को जन्म देता है। ये उच्छ्वास ही आँसुओं को अनुस्यूत कर, स्मृतियों के रूप (मेघ) में, पूरे हृदय रूपी आकाश को आच्छादित कर लेते है।[3] तभी तो ये आँसू 'अमूल्य मोती के साज' कहे गए और उच्छ्वास को 'मर्म पीड़ा के हास'[४] की प्रतीकात्मक संज्ञा प्रदान की गई। एक अन्य स्थान पर कवि पंत ने आँसू को 'नयनों के

१—चन्द्रकिरण, 'आत्मा के प्रति' पृ० ३६।

२—पल्लव, द्वारा पन्त पृ० ६ 'उच्छ्वास,।

३—वही पृ० ३।

४—वही पृ० ३।

बाल' की[1] संज्ञा दी है जिसके द्वारा उनके हृदय में, स्मृतियों की माला (मणियों की माल) अनजाने ही बिखर गई है।[2] इस दशा में उनकी प्राण रूपी वेदना अकेली ही मृदु आघात करती है—

अकेली आकुलता सी प्राण
कहीं तब करती मृदु आघात।[3]

इस प्रकार, पन्त की इन दोनों लम्बी कविताओं में वेदना भाव का जो चतुर्मुखी विकास प्राप्त होता है वही 'परिवर्तन' कविता में सामान्य मानव धरातल पर उतर आता है। इसी उद्वेलन के कारण अंतर का विक्षोभ एक तीव्र रूप धारण कर लेता है जिससे हृदय के (वीणा) तार टूटने लगते हैं—

एकाएक क्षोभ का अन्तर में
होते संचार,
उठी व्यथित उँगली से कातर एक तीव्र झंकार
विकल वीणा के टूटे तार।[4]

इस विकल वीणा के कारण ऐसा ज्ञात होता है कि हृदय के कोने में कोई अनजान छिपा हुआ है पर उसे श्वास अपनी क्रिया के द्वारा भी पूर्ण साक्षात्कार नहीं कर पाती है और विफलता ही हाथ आती है। इस विफलता के कारण विरह एवं वेदना का प्रादुर्भाव होता है, जिसकी अभिव्यक्ति रामकुमार जी ने अनेक प्रतीकों के द्वारा की है। काले बादल नेत्रों की गहनता का, वर्षा अश्रु-प्रवाह का, विद्युत वेदना तड़प का और चातक स्वर सम्पूर्ण विरह भावना का प्रतीक है—

छिपा उर में कोई अनजान।
खोज खोज कर साँस विफल भीतर आती जाती है।
पुतली के काले बादल में, वर्षा सुख पाती है।
एक वेदना विद्युत्-सी खिंच खिंच कर चुभ जाती है।
एक रागिनी चातक स्वर में, सिहर सिहर गाती है।

१—पल्लव, द्वारा पंत, पृ० ३ उच्छ्वास।

२—वही, पृ० ६।

३—पल्लव, द्वारा पन्त, आँसू, पृ० १५।

४—अनामिका, सतप्त, द्वारा निराला पृ० ४५।

कौन समझे, समझावे गान।
छिपा उर में कोई अनजान।[1]

प्रेम और विरह वह सुरभि है जिसे सम्पूर्ण आकाश अपने उर में भरना चाहता है। प्रेम-विरह मधुमय यौवन की पीर है जिसे कवि स्वयं अपने हृदय रूपी आकाश में भरने के लिए इच्छुक है—

फैला है नीला आकाश।
सुरभि तुम्हें, उर में भरने को, फैला है इतना आकाश।
तुम हो एक सांस सी सुखकर, नभ मंडल है एक शरीर।
यह पृथ्वी मधुमय यौवन है, तुम हो उस यौवन की पीर।[2]

इस विरह की व्याप्ति संसार में अछोर है। उसकी कोई भी सीमा नही है। वह द्रौपदी के दुकूल की तरह अनन्त है—इसी अनन्तता में उसकी महानता है। छायावादी प्रतीकों में विरह की महत्ता का दिग्दर्शन 'द्रौपदी के दुकूल' के द्वारा व्यंजित किया गया है—

खींच लो इसको, कहीं क्या छोर है?
द्रौपदी का यह दुरन्त दुकूल है,
फैलता है हृदय में नभ बेलि सा
खोज लो, इसका कहीं क्या मूल है?[3]

विरह का यह असीम रूप उस समय अपनी चरमावस्था में प्राप्त होता है जब प्रेमी अपने टूटे हुए हृदय (प्याली) को लेकर प्रिय को समर्पित करने की कामना करता है। परन्तु प्रिय उसकी 'प्याली' को निधरक ठुकरा देता है। तब उसके अम्बर में (हृदय में) जीवन रस के शेष 'कन' अश्रुकणों में परिवर्तित हो जाते हैं जो अखिल अश्रुप्रवाह (सावन घन) के रूप में वसुधा को हरियाली का वरदान देते हैं। इस विरह में, प्रत्यक्ष रूप से, इस धरती की 'हरियाली' की जो बात कही गई है, वह विरह के समाजीकरण की ओर भी संकेत करती है—

निधरक तूने ठुकराया तब मेरी टूटी मृदु प्याली को।
उसके सूखे अधर माँगते, तेरे चरणों की लाली को॥

१—चित्ररेखा, द्वारा डा० वर्मा, पृ० ४।

२—वही, पृ० १४।

३—पल्लव, उच्छ्वास, पृ० ६।

जीवन रस के बचे हुए कन, बिखरे अंबर में आँसू बन।
वही दे रहा था सावन घन, वसुधा की इस हरियाली को ॥[1]

(२) अन्य प्रतीक

प्रकृति के अतिरिक्त कवियों ने अन्य माध्यमों को भी प्रेम का प्रतीक बनाया है। सूफ़ी भावना का भी एक सुन्दर विकास छायावाद के एक प्रेम-प्रतीक में प्राप्त होता है और वह प्रतीक है सुरा या सुधा। सूफ़ियों ने 'सुरा' को प्रेम एवं रूप की मिश्रित अभिव्यंजना का प्रतीक माना था, पर सुरा के तात्त्विक अर्थ में उसे 'प्रेम सुरा' के रूप में ही ग्रहण किया था। प्रसाद ने अपनी एक कविता में सुरा के इसी अर्थ को ग्रहण किया है जिसमें रूप का एक हल्का-सा आभास प्राप्त होता है—

प्यास बढ़ती ही जाती थी, बुझाने की इच्छा थी बड़ी।
दिया उन हाथों ने प्याला, अचञ्चल चित्त हुआ उस घड़ी।
....
राग रञ्जित थी वह पेया, उसे पीते पीते रुक गये।
कहाँ व्याकुल हो मैंने भी तुम्हारे कोमल कर से वही।
चाहता पीना मैं प्रियतम, नशा जिसका उतरे ही नहीं।[2]

स्पष्टतया इस कथन में सूफ़ी सुरा का एक प्रभाव लक्षित होता है। हाफ़िज़ ने अपने दीवान में भी कहा है कि 'मदिरा' की तेजी व कड़वाहट उसके नशे के आनन्द के कारण सहन कर ली जाती है। नशा का उतरना उस आनन्द का कम होना है।[3] यही कारण है कि उस पेया को पीकर आनन्दानुभूति की वह अवस्था प्राप्त होती है जिसमे प्रिय की अनुभूति के अतिरिक्त अन्य अनुभवों का उन्नयन या तिरोभाव हो जाता है। इस सुरा को कहीं कहीं पर 'सुधा' की भी संज्ञा दी गयी है जो हीरक पात्र (हृदय) में भरी हुई है।[4]

प्रेम भाव के उन्नयन में आत्मा का निखरता हुआ रूप समक्ष आता है। दीप ऐसा ही ज्वलित एव उज्ज्वल आत्मा का प्रतीक है जिससे प्रेम-साधना का रूप मुखर होता है। इस प्रेम-साधना में प्रभा भी है और जलन भी, सिद्धि भी

१—लहर, द्वारा प्रसाद, पृ० ४२।
२—झरना, प्यास, पृ० ४७-४८।
३—ईरान के सूफ़ी कवि, पृ० ३६७।
४—झरना, पृ० ४५।

है और तपस्या भी। यह साधना ही प्रेम पर बलिदान होने का बल प्रदान करती है जिस प्रकार शलभ दीप पर न्योछावर हो जाता है। दीप रूपी आत्मा का ही यह प्रकाश है जो मानव को प्रेम एवं अनुभूति का प्रकाश देता है—

एक दीपक किरण कण हूँ।
नव प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ।
सिद्धि पाकर भी तपस्या साधना का ज्वलित क्षण हूँ।
शलभ को अमरत्व देकर प्रेम पर मरना सिखाया।
सूर्य का सन्देश लेकर रात्रि के उर में समाया।
पर तुम्हारा स्नेह खोकर मैं तुम्हारी ही शरण हूँ।[१]

इसी आत्मा के 'विधुर विधुर' जलने की बात पन्त ने भी की है। प्लाटिनस ने आत्मा के बिम्ब का अग्नि-रूप में एक ऐसे प्रज्वलित स्रोत से उद्भव माना है जो अपनी 'जलन' में भी जीवन एवं जगत् को प्रकाश का वरदान देता है।[२] पन्त और रामकुमार ने आत्मा के इसी रूप का चित्राकन किया है। इस प्रकार प्रेम के उदात्तीकरण में आत्मा का यह प्रज्वलित रूप मानवीय आध्यात्म-जगत् का एक उज्ज्वल स्वरूप कहा जा सकता है। उसका 'जलन' ही उसका अस्तित्त्व है, उसके सतम-भविष्य के क्रोड़ में ही जग का प्रकाशमय अस्तित्त्व भी निहित है। तभी तो, कवि रामकुमार वर्मा ने आत्मपीड़ा के प्रकाश में जग की क्रीड़ा करने की लालसा प्रदर्शित की है—

तुम्हें बुझाने का साहस क्यों करें, अरे साँसों की धारा,
तुम दीपक हो जलना ही तो जग में है अस्तित्त्व तुम्हारा।
यह तो है संसार, यहाँ पर तो जल जल कर मर जाना है,
सतम बना अपना भविष्य, जग को प्रकाशमय कर जाना है।[३]

स्पष्ट ही, कवि के मानस लोक में अवसाद से कहीं अधिक अपने विरह एवं विषाद में जग-कल्याण की भावना एवं आशा की ज्योति झलकती प्रतीत होती है। उसका विरह भी जीवन सापेक्ष है, वह नितान्त एकान्तिक नहीं है।

(ङ) रूप-सौंदर्य के प्रतीक

छायावादी काव्य में सौंदर्य का विस्तार लगभग सभी क्षेत्रों में आभासित

१—चन्द्रकिरण, किरण कण, पृ० १५।

२—द कान्सेप्ट आफ नेचर इन नाइनटीन्थ सेन्चुरी इंग्लिश प्योटरी, पृ० २६५।

३—चन्द्र किरण, 'दीपक से', पृ० २७।

होता है। विगत उपखण्डों के प्रतीकों में यह सौंदर्य-तत्त्व नितान्त स्पष्ट न होकर आवरण में छिपा हुआ है, तभी तो वह हृदयग्राही है। यही नहीं, नारी रूपों का मानवीकरण सौंदर्य भावना का एक सुन्दर प्रतीकात्मक रूप है जिस पर हम मानवीकरण के अन्तर्गत विचार करेंगे। रहस्यभावना, प्रेम तथा तात्त्विक प्रतीकों में भी सौंदर्य-भावना का एक सबल पुट प्राप्त होता है। यह बात सुरा, स्वर्ण, रजत, इन्द्रधनुष, कुसुम, कमल, शतदल आदि प्रतीकों में निहित अर्थ के द्वारा यदा-कदा प्राप्त होता है।

रूप सौंदर्य के उपर्युक्त स्वरूप की अपेक्षा छायावादी काव्य में कुछ ऐसे भी प्रतीकों की योजना प्राप्त होती है जो स्वतंत्र रूप से किसी रूप चित्र या भाव की व्यंजना प्रस्तुत करते हैं। इस दृष्टि से छायावादी रूप-प्रतीकों को दो कोटियों में विभाजित कर सकते हैं—

१—परम्परा के प्रतीक

२—नवीन प्रतीक।

(१) परम्परा के प्रतीक

इन प्रतीकों में परम्परा के पालन के साथ कहीं-कहीं पर नवीन अर्थों को भरने का प्रयत्न किया गया है। यही नहीं, छायावादी काव्य में अनेक रूढ़ि प्रतीकों के प्रति एक प्रकार की विक्षोभजनित उदासीनता के भी दर्शन होते हैं। फिर भी, कवियों ने परम्परा का नितान्त त्याग नहीं किया है। निराला ने परम्परा के रूढ़ि-प्रतीकों यथा दाड़िम (मसूढ़ा), कुंद (दंत), अरविंद (मुख, कर), कदली (जंघा), श्रीफल (कुच), मृग (नेत्र), शुक (नासिका), पिक (स्वर) आदि की प्राचीन परम्परा के प्रति एक विक्षोभजनित 'निराशा' का ही प्रदर्शन किया है। वह सूरदास के उपर्युक्त रूप-बाग[1] के प्रतीकों के बारे में कहते हैं—

> कहाँ सूर के रूप बाग के
> दाड़िम, कुन्द, विकच अरविंद
> कदली, चंपक, श्रीफल, मृगशिशु
> खंजन, शुक पिक, हंस मिलिंद।[2]

इस कथन में छायावाद की उस प्रवृत्ति का संकेत भी प्राप्त होता है जो रूढ़ि-

१—परिमल, द्वारा निराला, पृ० ५८।

२—दे० इन प्रतीकों के लिए अध्याय अष्टम—सूर के कूटों में, उपखंड ड।

परम्पराओं के प्रति एक क्षोभजनित विद्रोह का ही प्रदर्शन करते हैं। निराला का सम्पूर्ण काव्य-व्यक्तित्व एक विद्रोहात्मक तथ्य का प्रतीक ही माना जाता है। फिर क्या आश्चर्य कि उन्होंने सूर के 'रूप बाग' के प्रतीकों के प्रति एक अस्पष्ट 'विद्रोह' की व्यंजना उपर्युक्त पंक्तियों में प्रकट की है?

परम्परा के प्रति यह दृष्टिकोण होते हुए भी कवियों ने परम्परा के अन्य प्रतीकों का यदा-कदा प्रयोग अवश्य किया है। ऐसा ही एक प्रतीक कमल या कुसुम है जिसे कवियों ने रूप व्यजना का वाहक बनाया है। पंत ने एक स्थान पर विकसित नारी के बाल्यकाल के रूप को कली की प्रतीकात्मक व्यंजना से प्रस्तुत किया है—

जब मैं कलिका ही थी केवल,
नहीं कुसुम थी बनी नवल।
मैं कहती थी मेरा मृदु मुख,
शशि के कर खोले शीतल।[१]

यहाँ बालिका का प्रस्फुटित सौंदर्य कली और कुसुम के मध्य में व्यंजित होता है। इसे मानसिक भाषा में कहें तो यह मनोविज्ञान की 'एडोलेसेंस' स्थिति है, जब नारी का यौवन अपने विकास की प्रथम स्थिति पर होता है। इसी स्थिति की प्रतीकात्मक व्यंजना पंत जी ने 'कली' के द्वारा प्रस्तुत की है। इसी कली के विकसित होने पर कमल रूपी मुख पर दो नेत्र (खंजन) जो प्रथम फड़फड़ाना (चापल्य) नही जानते थे, वे अब अपनी चंचलता एवं चपलता का दिग्दर्शन करने लगे हैं।[२]

इन प्रतीको के अतिरिक्त कवि-प्रसिद्धियों का भी प्रयोग प्राप्त होता है जो अधिकांशतः वनस्पति ससार से ली गई है। इन कवि-परिपाटियों का महत्त्व मूलतः रमणी सापेक्ष है।[3] पंत ने इन कवि परिपाटियों का प्रयोग अपनी एक कविता में किया है जहाँ उन्होंने अशोक, प्रियंगु, कनियार, मंदार, सहकार, लवंग, किंशुक और चंपक का संकेत दिया है जो सौंदर्य भाव की व्यंजना प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणस्वरूप अशोक के बारे में यह प्रसिद्धि है कि वह रमणियों

१—वीणा, द्वारा सुमित्रानंदन पंत, पृ० १२।

२—ग्रन्थि, द्वारा पंत, पृ० १८।

३—दे० इसके लिए अध्याय अष्टम, उपखंड 'ख' में।

के पदाघात से प्रफुल्लित हो उठता है। इसी भाव को इस प्रकार रक्खा गया—

> तुम्हारे चल पद चूम निहाल,
> मंजरित अरुण अशोक सकाल,
> स्पर्श से रोम रोम तत्काल,
> सतत सिंचित प्रियंगु की बाल।[1]

इसी प्रकार चंपक का भी एक प्रयोग देखिए जो रूप सौंदर्य की व्यंजना प्रस्तुत करता है—

> स्वर्ण कलियों की रुचि सुकुमार,
> चुरा चंपक तुमसे मृदुबास।
> तुम्हारी शुचि स्मित से साभार,
> भ्रमर को आने दे क्यों पास।[2]

इसमें रूप तथा प्रेम भाव का सम्मिश्रण चंपक तथा भौंरे के संबंध के द्वारा किया गया है। इस प्रयोग के विपरीत परिपाटीगत प्रतीक की एक सुंदर नवीन उद्भावना निराला ने अपनी एक कविता 'तट पर' में प्रस्तुत की है। उन्होंने एक तरुणी के स्नान करते हुए चित्र का सौंदर्यपरक रूप प्रतीकों के द्वारा व्यंजित किया है—

> नग्न बाहुओं से उछालती नीर,
> तरंगों में डूबे दो कुसुमों पर,
> हँसता था एक कलाधर
> ऋतुराज दूर से देख उसे होता था अधिक अधीर।[3]

यहाँ पर दो कुसुम कुचों के प्रतीक हैं और कलाधर मुख का प्रतीक है।

(२) नवीन प्रतीक-योजना

इस काल के कवियों ने नवीन व्यक्तिगत प्रतीकों की भी योजना प्रस्तुत की है। इन प्रतीकों की संख्या वैसे तो अधिक नहीं है पर फिर भी उनकी उद्भावनाएँ कवि की मौलिक प्रतिभा की ओर सफल संकेत करती हैं। ऐसे ही सौंदर्यपरक प्रतीकों में स्वर्ण एवं रजत का प्रयोग छायावादी काव्य में

१—गुजन, द्वारा पंत, पृ० ५७।

२—वही, पृ० ५७।

३—परिमल, तट पर, पृ० ५०।

प्राप्त होता है। पंत में इस प्रतीक का सुंदर भावात्मक विकास देखा जा सकता है। उन्होंने 'स्वर्ण' को एक ऐसी दीप्तिमान मानसिक सत्ता का प्रतीक माना है जो मानस कमल को खिलाता है—

हे सुवर्णमय! तुम मानस में कमल खिलाते हो सुन्दर,
मेरे मानस में भी उसके विकसा दो पल-पद्म अमर ॥[1]

इसी प्रकार स्वर्ण को दीप्ति या कांति का और रजत को रूप या धवलता का प्रतीक भी बनाया गया है। कवि ने 'पल्लव' नामक कविता में पल्लव के सौंदर्य रूप की व्यंजना की है—

दिवस का इनमें रजत प्रसार,
ऊषा का स्वर्ण सुहाग।
निशा का तुहिन अश्रु शृंगार,
साँझ का निःस्वन राग।
नवोढ़ा की लज्जा सुकुमार,
तरुणतम सुंदरता की आग।[2]

इस उदाहरण में पल्लव के तरुण सौंदर्य को व्यक्त करने के लिए स्वर्ण और रजत का प्रयोग किया गया है। एक अन्य स्थान पर 'स्वर्ण किरण' का भी प्रयोग होता है जो स्वर्ण को दीप्तियुक्त प्रेम भाव का प्रतीक बनाता है। पंत जी ने कहा—

विहग विहग
किस स्वर्ण किरण का करुण कोर
कर गई इन्हें सुख से विभोर।[3]

इसी प्रकार डा० रामकुमार वर्मा ने स्वर्णपरी का एक स्थान पर प्रयोग किया है जो सौंदर्य चेतना की प्रतीक है जिस पर यथास्थान विचार होगा।[4]

इन उदाररणों में पंत की सौदर्य भावना का एक उज्ज्वल रूप प्राप्त होता है। इनके अधिकांश रूप समष्टि-भाव पर आधारित हैं जो किसी रूप-चित्र को सामने रखते हैं। इनका विवेचन अधिकांशतः मानवीकरण तथा भावादि में

१—वीणा, द्वारा पंत जी, पृ० २६।
२—पल्लव, द्वारा पंत, , पृ० २।
३—गुंजन, द्वारा पंत, पृ० ३२।
४—दे० आगे भावादि में।

होगा। एक प्रकृति का सौंदर्य-चित्र लीजिए जिसमें मानवीकरण का पुट व्याप्त है—

मुसकरा दी थीं क्या तुम प्राण,
मुसकरा दी थी आज विहान,
आज गृह बन उपवन के पास, लोटती राशि राशि हिमहास।
खिल उठी आँगन में अवदात, कुन्द कलियों की कोमल प्रात।[1]

यहाँ प्रकृति को प्राण कहा गया है जिसे नारी रूप में व्यंजित किया गया है। विहान (हास), हिमहास और कुंदकली (दंत) क्रमशः प्रकृति के सौंदर्य का नारीपरक रूप ही है जिसे कवि ने एक समष्टि रूप-चित्र की कोटि में रखा है। सम्पूर्ण योजना में प्रकृति का प्रफुल्लित एवं आह्लादकारी प्रातः रूप ही व्यंजित होता है।

कवि की कल्पना आँख की ओर अत्यधिक केन्द्रित रहती है और वह आँख की कोर में एक रहस्यात्मक भाव को साकार देखता है। पंत ने नेत्र की इसी गहनता एवं उसके रहस्यमय सौदर्य को व्यंजित करने के लिए 'आँखों का आकाश' की कल्पना की है जिसमें उनका मन रूपी खग खो गया है। आकाश एक ऐसा नवीनतम प्रतीक है जिससे नेत्र की गहनता एवं प्रांजलता का चित्र खड़ा हो जाता है—

तुम्हारी आँखों का आकाश,
सरल आँखों का नीलाकाश,
खो गया मेरा खग अनजान,
मृगेक्षिणि, इनमें खग अनजान।[2]

एक अन्य प्रतीक है बचपन का जिसे कवि ने नेत्र के साथ प्रयुक्त किया है। संदर्भानुसार वह सरलता एवं चंचलता की भावना को स्पष्ट व्यंजित करता है—

तुम्हारी आँखों का बचपन।
खेलता था जब अल्हड़ खेल,
अजिर के उर में भरा कुलेल,

१—गुंजन, द्वारा पंत, पृ० ४२।
२—गुंजन, द्वारा पंत, पृ० ४८।

हारता था हँस हँस कर मन,
आह रे, वह व्यतीत जीवन।[1]

पंत की कोमल भावना का सुंदर विकास बचपन और शिशु के रहस्यमय प्रतीकार्थ में समाहित प्राप्त होता है। निराला ने अपनी 'बादल राग कविता में बादल को' अनंत के चंचल शिशु सुकुमार'[2] कह कर सम्बोधित किया है। परन्तु इसमें कोमलता एवं सरलता के स्थान पर परुषता के ही अधिक दर्शन होते हैं। पंत में शिशु के प्रति एक रहस्य दृष्टिकोण का परिचय मिलता है जिस प्रकार ब्लेक के (Songs of Innocence) और वर्ड्सवर्थ के (Ode to the Intimation of Immortality) में प्राप्त होता है। पंत ने शिशु को 'कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम'[3] भी कहा है। कवि शिशु को एक ऐसी सरल, स्नेहसिक्त एवं अदृश्य सत्ता के रूप में विस्मित होकर देखता है कि वह विस्मय तथा सौंदर्य से मिश्रित एक प्रतीक का रूप धारण कर लेता है।

इन न्यून प्रतीकों में रूप-सौंदर्य की जो भी व्यंजना होती है वह अत्यन्त व्यक्तिगत है और पाश्चात्य रोमांटिक कवियों के प्रभाव का भी फल है। परन्तु यहाँ पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि सभी प्रतीक पाश्चात्य साहित्य से नहीं प्रभावित हैं, कुछ (स्वर्ण, रजत) तो कवियों की अपनी स्वयं की उद्भावनाएँ हैं। कुछ भी हो, इतना असंदिग्ध है कि छायावादी काव्य में इन प्रतीकों का सृजन एक नूतन प्रतीकीकरण की दिशा की ओर संकेत करता है।

(च) मानस-जगत् के प्रतीक

इन प्रतीकों का क्षेत्र मन के विभिन्न स्तरों से सम्बन्धित है। इन प्रतीकों के द्वारा, एक प्रकार से, मानव के अन्तर्मन का उद्घाटन भी होता है। प्रतीकों का यह मनोवैज्ञानिक रूप, चेतन और अचेतन दोनों ही स्तरों से उद्भूत प्राप्त होता है।[4] मानव जीवन केवल मात्र बाह्य संघातों का ही रूप नहीं है। उसके अन्दर एक ऐसा भी गुप्त एवं संवेदनात्मक रूप विद्यमान है जो कहीं अधिक शक्तिशाली एवं बलवान है। मानव मन का गहनतम क्षेत्र ही उसका आत्म क्षेत्र है। दूसरे शब्दों में कहे, तो मन से भी सूक्ष्म आत्मा है जो मानसिक

१—लहर, द्वारा प्रसाद पृ० २३।

२—परिमल, बादल राग, निराला, पृ० १८२।

३—पल्लव, शिशु, पृ० ६१।

४—दे० अध्याय द्वितीय, मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद के अंतर्गत।

चेतना का ऊर्ध्व रूप ही है।[1] छायावादी कवि ने अनेक ऐसे प्रतीकों का संयोजन किया है जो इस मानस जगत् की गहराई को उद्घाटित करते हैं। प्रसाद ने सम्बोधित कर कहा है—

> ओ री मानस की गहराई।
> हँस, झिलमिल हो लें तारागन,
> हँस, खिले कुंज में सकल सुमन,
> हँस, बिखरे मधु मरंद के कन,
> बन कर संसृति के नव श्रम कन
> —सब कह दें यह राका आई।
> ओ री मानस की गहराई।[2]

यह मानस की गहराई ही वह अन्तर्मन का क्षेत्र है जिसके विकसित (हँसने) होने पर संसार एवं मानसजगत् में आशा (तारा), मधु (आह्लाद) और सुमन (हृदय का सुख) का संचार संभव हो सकता है। इसी संचार से मन उस क्षेत्र में पहुँचता है जहाँ राका (चेतना) का साम्राज्य होता है। इस प्रतीकात्मक वर्णन में कवि ने अत्यन्त सुन्दरता से मानसिक भाव-जगत् का मानव जीवन एवं संसार सापेक्ष जो संकेत दिया है वह मानव की अनन्त शक्तियों का ही द्योतक है। मेरे विचार से छायावादी काव्य में जो मानस जगत् का प्रतीकात्मक उद्घाटन मिलता है, उसका सूत्र रूप प्रसाद की उपर्युक्त पंक्तियाँ हैं।

अस्तु, इसी मानस जगत् की 'गहराई' के अनेकानेक तत्त्व हैं जिनके समष्टि रूप से उस 'गहराई' को हृदयंगम किया जा सकता है। अतः इस काल के कवियों ने मनोविज्ञान के नूतन ज्ञान का आश्रय ले मानस जगत् के 'रहस्य' का अभिव्यक्तीकरण अनेक प्रतीकों के द्वारा किया है। इन प्रतीकों का ग्रहण मूलतः प्रकृति से ही किया गया है। मानस जगत् के अभिन्न तत्त्व भाव, संवेदना, कल्पना, सौंदर्य एवं आत्मचेतन आदि के स्वरूप को व्यंजित करने के लिए अनेक प्रतीकों का आश्रय लिया गया है।

मनादि के व्यंजक प्रतीक

'मन' ही वह शक्ति है जिससे भावनाओं, विचारों एवं धारणाओं का

१—मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद के अन्तर्गत।

२—लहर, द्वारा प्रसाद, पृ० ४३।

सृजन होता है। काव्य की संवेदना का प्रवाह एक मानसिक प्रक्रिया है जो प्रतीकीकरण का एक आवश्यक अंग[1] है। यही कारण है कि छायावादी कवियों ने मन की इसी सृजन-शक्ति को 'निर्झर' प्रवाह के द्वारा व्यंजित किया है। यह मन रूपी झरने का प्रवाह एक कल्पनातीत काल की घटना है, क्योंकि न जाने कब से मानव-मन उस 'घटना' को रूप देता आ रहा है! इस झरने से अनेक शैलों का कटना (बाधाओं) भी एक सत्य है—

(१)

मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी
बात कुछ छिपी हुई है गहरी।

(२)

कल्पनातीत काल की घटना
हृदय को लगी अचानक रटना।
देख कर झरना
प्रथम वर्ष से इसका भरना
स्मरण हो रहा शैल का कटना
कल्पनातीत काल की घटना।[2]

परन्तु कवि इस प्रवाह को उस समय तक निरर्थक मानता है जब तक कि उसका प्रवाह 'प्रेम की पवित्र परिछाईं में' और तापित जीवन को शान्त करने में नहीं होता है।[3] स्पष्ट ही कवि के सामने इस मन के, प्राण के अविरल प्रवाह का मूल्य उसी समय हो सकता है, जब वह काव्य या अन्य माध्यमों के द्वारा जीवन सापेक्ष हो सके। उस वीणा (हृदय) का भी उसी समय महत्त्व है जिससे मन का प्रवाह गतिवान हो सके, उसकी सुप्तावस्था का तिरोभाव हो सके।[4] यह हृदय का आवेग इसीलिए है कि उससे हृदय के (स्वर) भाव सजग हो उठते हैं। यह मन का झरना सोने का भी है जो 'चेतना' का एक सुन्दर प्रतीक है। वह तट (हृदय) को छू छू कर सरिता से मिलता है।[5]

मनोविज्ञान के अनुसार भी 'मन' एक सचेतन सत्ता है जो सागर की

१—दे० अध्याय प्रथम, उपखंड 'क' में।

२—झरना, द्वारा प्रसाद, पृ० १५।

३—वही पृ० १६।

४—गुंजन, द्वारा पन्त, पृ० १२।

५—परिमल, स्मृति चुंबन, पृ० २१२।

तरह अतलान्त है। उसके अचेतन, उपचेतन और अतिचेतन स्तरों का संघात रूप ही अतलान्त रूप कहा जा सकता है। जयशङ्कर प्रसाद ने ऐसे ही मानसिक जगत् को 'सागर' का प्रतीक बनाया है। लहरें उसकी भाव तरंगें हैं जो कभी भीषण रूप भी धारण कर लेती हैं—

हे सागर सङ्गम अरुण नील !
अतलांत महागम्भीर, जलधि,
तज कर अपनी वह नियति अवधि,
लहरों के भीषण हासों में,
आकर खारे उच्छ्‌वासों में,
युग युग की मधुर कामना के
बंधन को देता जहाँ ढील।
हे..................... ॥[1]

इन उदाहरणों में झरना की गति को सरल रेखा में नहीं दिखाया गया है। प्रसाद के 'झरना-गीतों' में मानसिक प्रवाह अनेकानेक रूपों में बिखरा हुआ प्राप्त होता है। उत्थान, पतन, आशा, निराशा सभी उसमें तिरोहित हो गए हैं। सत्य में, कवि अपनी अंतस्तल की प्रेरणा से ही काव्य-धारा बहा रहा है। यही बात विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के मन रूपी निर्झर के बारे में भी सत्य है जिनका निर्झर भी अंतर की अन्धगुहा में आबद्ध रहने के पश्चात् प्रबल आवेग से उमड़ता है।[2] प्रसाद और रवीन्द्रनाथ दोनोंमें 'अन्तराल' ही झरना बन गया है। प्रसाद का 'मानस' विश्व के नीरव निर्जन में चमत्कृत हो उठता है, और जब भी वह विश्वपति की प्रार्थना को प्रस्तुत होता है, 'कामना के नूपुर' झंकृत हो उठते हैं।' उस समय कवि का मानस एक आश्चर्य एवं तरलता से आप्लावित हो उठता है। उसके गीत एक 'निर्झर-गान' की तरह, कठिन उर के कोमल उद्‌घात के समान निःसृत होने लगते हैं। पन्त के शब्दों में—

सितारों के से गीत महान
मोतियों के से अमूल्य, अम्लान
फेन के अस्फुट, अचिर, वितान
ओस के सरल, चटुल, नादान

१—लहर, द्वारा प्रसाद, पृ० १५।

२—प्रसाद का काव्य, द्वारा डा० प्रेमशङ्कर, पृ० २१५।

कठिन उर के कोमल उद्घात
अमर है यह गांधर्व विधान ।[1]

मन और अन्तःकरण का यह गांधर्व विधान अमर है । हृदय ही वह मधु से पूर्ण बन है जिसमें प्रणय, प्रेम और विरह के अनेकानेक रूप सन्निहित रहते हैं । प्रकृति के सौंदर्य को देखकर हृदय रूपी मधुबन में 'आग' लग जाती है और अनार, कचनार, किंशुक में लालसा की 'लौ' उठने लगती है । पन्त की 'मधुबन' कविता हृदय की अतल गहराइयों को एक प्रतीकात्मक रूप से सम्मुख रखती है । इस प्रसंग के कुछ उदाहरण प्रेम-प्रतीकों के अन्तर्गत दिये जा चुके हैं ।

भावादि के व्यंजक प्रतीक

लहर-तरङ्ग—मन ही वह निर्झर है जिससे भाव रूपी लहरों का विविध प्रसार होता है । ये भाव लहरियाँ अनेकानेक दिशाओं में गतिशील होकर जीवन में आनन्द एवं उल्लास को भर देती हैं । छायावादी कवियों ने भावों की चपलता को व्यक्त करने के लिए लहर को उसका प्रतीक बनाया है । प्रसाद की 'लहर' उनके अंतरतम भावों की प्रतीक है । सागर (हृदय) के विशाल वक्षस्थल पर उठने वाली अगणित लहरें उनके अंतस्तल को छू लेती हैं । यदि 'झरना' मन के हलचल का सूचक है, तो 'लहर' मन और जीवन की शान्ति की प्रतीक है । डा० प्रेमशङ्कर ने, इसी से, प्रसाद की 'लहर' को उनकी आंतरिक दशा का प्रतीक माना है जिसमें उनकी शिथिल मनोवृत्तियों का विश्राम ही साकार हो उठा है ।[2] उनकी नित उठती-गिरती ये भाव-लहरियाँ उनके मन पर अपनी स्मृतियाँ बना जाती हैं । दूसरी ओर, वे हृदय के सूखे तट पर छिटक छहर कर सम्पूर्ण मानस जगत् को रससिक्त कर देती हैं । इसके अतिरिक्त वे सिकता की रेखाएँ (स्मृतियाँ) भी बना देती हैं ।[3]

कवि इन भाव लहरियों को उच्छृङ्खल रूप में नहीं देखना चाहता है, वह तो उनमें एक संयम, एक सूत्रता की अभिलाषा करता है । इसी से तो वह कहता है—

तू भूल न री पङ्कज वन में
जीवन के इस सूनेपन में

१—पल्लव, द्वारा पन्त, निर्झर गान, पृ० ५३ ।
२—प्रसाद का काव्य, द्वारा डा० प्रेमशङ्कर, पृ० २३३ ।
३—लहर, पृ० ६ ।

ओ प्यार पुलक से भरी ढुलक
आ चूम पुलिन के विरस अधर।[1]

पंत को भी ऐसा ही प्रतीत होता है कि जब जीवन में सूने पलों का आगमन होता है तब सब विश्रृंखलित सा लगता है और भाव लहरों का नर्तन भी बह जाता है—

बह जाता बहने का सुख, लहरों का कलरव नर्तन।
बढ़ने की अति इच्छा में जाता जीवन से जीवन।[2]

यह हिलोर (भाव तरङ्ग) जीवन की संगिनी हैं जो कठिन शिलाओं से भी परिचित हैं। उसके जीवन में तथा कवि के जीवन में एक प्रकार की समानता भी है। रामकुमार ने इन्हीं भावनाओं की हिलोर के प्रति कहा है—

जीवन संगिनि चञ्चल हिलोर
....
मैं भी तो तुमसा हूँ विचलित
कठिन शिलाओं से चिर परिचित
सुनें परस्पर सुख ध्वनियाँ हम
मैं न अधिक हूँ और न तू कम।[3]

ये ही भाव लहरियाँ शेली के लिए उबलती प्रतीत होती है। उनके हृदय (तट) में तूफ़ान (मानसिक आकुलता) का आवेश रात्रि के समय होता है जिसकी समता जीवन के उस प्रारम्भिक द्वन्द्व से है जो कवि के हृदय में 'भावनाओं' ने मचा रखी है।[4] कवि का यह भाव जगत् उसके जीवन का वीचिविलास ही

१—लहर, पृ० ६।
२—गुंजन, पन्त पृ० १३-१४।
३—चित्ररेखा, पृ० २६।
४—These boiling waves,
And the storm that raves
At night o'er their foaming crest,
Resemble the strife,
That, from earliest life,
The passions have waged in my heart.
पोयटिकल वर्क्स आफ़ शेली, वाल्यूम II, पृ० ४२४ 'टू द क्वीन आफ़ माई हार्ट'।

बन गया है। उसके फेनिल रूप में एक 'कोमल हास' का प्रादुर्भाव हो गया है। इन लहरियों की विस्तृत परिधि एवं उनका विस्तार आकांक्षाओं को जन्म देता है।[1] इस प्रकार इन लहरों का महत्त्व जीवन से अत्यन्त निकट का हो गया है।

खगादि

भावनाओं का एक अन्य प्रमुख छायावादी प्रतीक 'खग' है। खगकुल का रव केवल छायावाद में ही नहीं, पर अंग्रेजी रोमांटिक कवियों में भी प्राप्त होता है। विहगों का कलरव भावों का ही कलरव है जो उर के निकुञ्ज को रससिक्त कर देते हैं—

विहग विहग
फिर चहक उठे ये पुञ्ज पुञ्ज
कल कूजित कर उर का निकुञ्ज
चिर सुभग सुभग।[2]

इन भाव खगों से हृदय में प्रकाश (ज्ञान) का उदय हो गया। अपने कोमल पङ्खों से छूकर ये खग तन मन को पुलकित कर देते है और चुपके से मन की गुप्त बातें ये मन से क्षण क्षण कहते हैं।[3] यहाँ मन और भावों का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट है जो मनोवैज्ञानिक सत्य है। इन खगों को 'मन के सुन्दर स्वर्ण-विहग'[4] भी कहा गया है। अस्तु, पन्त के भाव-खग भी जीवन में सुख एवं आनन्द की ही लालसा रखते हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने भी इन विहगों का उल्लेख एक स्थान पर किया है। ये विहग उनके जीवन में मधुर रागों का प्रणयन करते हैं जिससे उनकी पृथ्वी का प्राचीर भी टूट गया है और वसंत-समीर (सुख) का सुख उनके जीवन में भर गया है। परन्तु फिर भी, मन में अविदित स्मृतियाँ (झींगुर) गूँजती प्रतीत होती हैं—

मेरा जीवन भरा हुआ है विहगों के मृदुरागों में,
हृदय गूँजता है झींगुर के अविदित बँधे विहागों में।

१—चन्द्र किरण, पृ० २३।

२—गुंजन, पृ० ३२ द्वारा पन्त।

३—वही पृ० ६६।

४—वही, विहग के प्रति, पृ० ८१।

ये पल्लव हिल उठे, कौन-सा सुख दे गया समीर ?
क्षितिज, तोड़ दो आज प्रेम से, मेरी पृथ्वी का प्राचीर।[१]

वर्ड्सवर्थ ने इन भाव-खगों का वसंत में गाना कहा[२] है। एक अन्य स्थान पर वर्ड्सवर्थ ने निद्रा के धूमिल विचारों में इन खगों के कोमल एवं मधुर संगीत को सुना है जो उनके आर्चर्ड वृक्ष से निःसृत हुई है। वहाँ से कुक्कू के प्रथम विषाद-स्वर का आविर्भाव हुआ है।[३] अतः वर्ड्सवर्थ के उपर्युक्त प्रतीक (कुक्कू विहग, वृक्ष) मूलतः उसकी अन्तर्भावना को ही स्पष्ट करते हैं। इसी अन्तर्भावना को प्राप्त करने के लिए कवि प्रयत्नशील रहता है, क्योंकि इसी आन्तरिक प्रेरणा के द्वारा वह सृजन कार्य में संलग्न होता है। डा० रामकुमार ऐसी ही सृजन शक्ति को ढूँढ़ने में प्रयत्नशील हैं जिसकी व्यंजना उन्होंने कोयल के स्वर से प्रस्तुत की है—

मैं खोज रहा हूं कोकिल स्वर।
बतला दो मेरे नील व्योम, मैं इस संसृति से हूं कातर।
प्रिय पीड़ा को भी कर सुखकर, पथहीन व्योम में रहा विचर।
ऐसे कोकिल स्वर के पाने को व्याकुल है मेरा अन्तर॥[४]

कवि का यह कोकिल के प्रति आग्रह उस स्थिति को स्पष्ट करता है जब उसका व्यक्तित्व और कोकिल का भाव एक हो जाता है। अंग्रेज़ी-काव्य के अनेक ओड्स, जैसे वर्ड्सवर्थ का 'टू द स्काईलार्क' 'टू द कुक्कू' और कीट्स का 'ओड टू नाइटेंगिल' कवि के मानस लोक के भावों का तादात्म्य उस विशिष्ट विहग से करते हैं। दूसरे शब्दों में, वे विहग मूलतः कवि के भावलोक की

१—चित्ररेखा, द्वारा डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ४२।

२—The showers of the spring rouse
the birds and they sing,
प्योटिकल वर्क्स आफ़ वर्ड्सवर्थ, वाल्यूम दो, 'स्ट्रे प्लेज़र्स', पृ० ४७।

३—I have thought of all by turns
and yet do lie,
Sleepless, and soon the small
birds' melodies,
Must hear, first uttered from
my orchard trees;
वही, टू स्लीप, पृ० २६४।

४—चित्ररेखा, द्वारा डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २८।

चेतना के प्रतीक ही होते हैं। स्काईलार्क के कवि ने भी यही इच्छा प्रकट की है कि उसका यह विहग उसे उस स्थान तक ले जाय जहाँ आकाश का शान्ति साम्राज्य है और जहाँ स्काईलार्क का मधुरिम संगीत है।[१] ये खग रूपी भावनाएँ कल्पनाएँ कवि की चिरन्तन निधियाँ हैं जो पंत के लिए भी चिरन्तन चेतना के स्रोत है। इस प्रकार इन खग-प्रतीकों के द्वारा कवियों ने अपने भाव जगत् का एक सुनहला एवं सुन्दर चित्र ही खड़ा किया है।

अन्य प्रतीक

इन प्रतीकों के अतिरिक्त मानसिक जगत् को व्यंजित करने के लिए कुछ अन्य प्रतीकों का भी आश्रय लिया गया है। निराला ने 'सितार' को एक ऐसे हृदय का प्रतीक बनाया है जिसके तारों (भावों) के संवारने से गीत रूपी 'परिमल' प्रवाहित होने लगते है और सर्वत्र बहार ही नजर आती है।[२] ये ही तार रामकुमार के लिए जीवनतन्त्री के तार हैं जो काम या प्रेम की पीड़ा से उद्वेलित हो उठते हैं। ये भाव रूपी मानस जगत् के तार अपने स्थल पर रह कर भी नभ के विस्तृत आगन (हृदय) को छूते हैं। सौंदर्य या कल्पना (बाल) के मधुरिम संयोग से ये भाव कुछ व्यक्त भी हैं और कुछ अव्यक्त भी। इनमें विरह की भीड़ भी समाहित है जिसमें सुख का स्वर्ग भी तड़प रहा है।[3]

इन जीवन तन्त्री के तारों का महत्त्व भी व्यक्तिसापेक्ष है। व्यक्ति का हृदय भी वह आयाम है जिसमें शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के भावों तथा संवेदनाओं का स्थान रहता है। व्यक्ति का जीवन शुभ तत्त्वों के संचयन में

१—Up with me, up with we, into the clouds ;
singing, singing ;
With clouds and sky about thee ringing ;
Lift me, guide me, till I find
that spot which seems to thy mind.
× × ×
Lift me, guide me high and high
to thy tranquiling place in the sky.

प्योटिकल वर्क्स आफ वडसवर्थ, ट् दी स्काई लार्क पृ० २२।

२—अनामिका, निराला, पृ० ७८, 'आवेदन'।

३—चित्ररेखा, पृ० ४०।

प्रकाश का ज्ञान प्राप्त करता है। तभी तो कवि पंत सबके उर की डाली को अवलोकन करना चाहते हैं और देखना चाहते हैं कि किसने इस छवि-उपवन (संसार) से क्या क्या फूल, किसलय और काँटे चुने हैं।[1] यही मानव का मधु संचय है जिसे प्राप्त करने के लिए मधुबन (हृदय) में प्राणों का स्पंदन होता है—

> रे गूँज उठा मधुबन में,
> नव गुंजन अभिनव गुंजन।
> जीवन के मधु संचय को,
> उठता प्राणों में स्पन्दन।[2]

यह गुंजन भावों के गुंजन का प्रतीक है। इसी गुंजन पर ही तो कुंज (हृदय) में मलयज और बसंत (सुख आनन्द) का आगमन सम्भव है। उसे प्राप्त करने के लिए कवि का मानस-लोक शताब्दियों से अपने मन (मिलिन्द) को क्यारी और कुंज के निर्माण में लगाता रहा है। इसी से, उसका मल्लिका-पुंज खिल सकेगा (प्रेम या चेतना-भाव) और अनंत फूलों (सुखों) से समस्त विश्व एकबारगी भर उठेगा—

> परिश्रम करता हूं अविराम,
> बनाता हूँ क्यारी औ कुंज।
> सींचता दृगजल से सानन्द,
> खिलेगा कभी मल्लिका पुंज।
> मूक हो मतवाली ममता,
> खिले फूलों से विश्व अनंत।
> चेतना बनें अधीर मिलिंद
> आह, वह आवे विमल वसंत।[3]

इस पूरे प्रतीकात्मक वर्णन में कवि के मानस जगत् का एक आलोडन व्यंजित होता है जिसमें उसके हृदय की तरलता प्रवाहित है। वह अपने एकांत क्षण के सृजन में किसी की बाधा नहीं चाहता है, क्योंकि उसके जीवन में मधुऋतु (सुख के दिन) दो दिन के लिए भूल कर आ गयी है। इसी से, वह

१—गुंजन, पृ० १७।

२—वही, पृ० २७।

३—झरना, द्वारा प्रसाद, 'वसंत' की प्रतीक्षा, पृ० २६।

अपनी छोटी-सी कुटिया (हृदय) में अपनी नई साथिन 'व्यथा' को प्रतिष्ठित करना चाहता है, जिसमें वह करुणा के भाव से ओतप्रोत हो जाय। उसके जीवन में जो पतझड़ के सूखे तिनके थे, अब वे भी भागने का मार्ग खोजने लगे हैं। मधुऋतु के आने पर 'आशा के अंकुर', भावों के पल्लव, किसलय का भाव, ज्ञान आशा की ऊषा, ये सब कवि के सुन्दर तत्त्व के सृजन के लिए ही मान्य हैं। तभी तो कवि ने कहा—

ओ, आ गई भूली सी
यह मधुऋतु दो दिन को।
छोटी सी कुटिया में रच दूँ
नई व्यथा साथिन को ॥[1]

आत्मा, कल्पना, चेतना के प्रतीक

मानसिक चेतना का उपर्युक्त भावपरक रूप क्रमशः मन के अन्य उच्च आयामों की ओर अग्रसर होता है। छायावादी काव्य के विस्तृत प्रांगण में इन प्रतीकों का विशिष्ट स्थान है। इन प्रतीकों के द्वारा कवियों ने अपनी कल्पना लोक एवं आत्मिक चेतना-लोक का सुन्दर प्रतीकात्मक संकेत दिया है। जीवात्मा का एक प्रतीक 'खग' भी है जो मन की चेतना को आत्मिक चेतना के समीप लाता है। पंत ने इस खग का एक स्थान पर इसी अर्थ में प्रयोग किया है—

तरु-शिखरों से वह स्वर्ण विहग उड़ गया,
खोल निज पंख सुभग
किस गुहा नीड़ में रे किस मग।[2]

इस आत्मा के स्वरूप का उद्घाटन तभी होता है जब व्यक्ति ऊर्ध्व चेतना का साक्षात्कार कर लेता है। यही कारण है कि छायावादी काव्य में आत्मिक साक्षात्कार एवं आत्मिक 'ज्योति' को अभिव्यंजित करने के लिए कुछ सुन्दर प्रतीकों की अवतारणा की गयी है। ऐसा ही एक सुन्दर प्रतीक 'रत्न' है जो संदर्भानुसार 'आत्मा' का प्रतीक है। इसी प्रकार 'तारा' भी निजत्व से पूर्णरूपेण एकनिष्ठ हो जाता है। इस दशा में वह किसी प्रकार के लौकिक बंधनों को नहीं मानता है और अपने स्वरूप में लीन रहता है। आत्मा की यह

१—लहर, द्वारा प्रसाद, पृ० ४०–४१।
२—गुंजन, 'एकतारा', पृ० ८५।

दशा उपनिषद् के आत्म-संज्ञक ब्रह्म की समकक्षता में रखी जा सकती है[1] जिसकी ओर कवि पूर्ण सचेत है। यही आत्मा की शुद्ध बुद्ध अवस्था है—एक सम अवस्था है—

चिर अविचल पर तारक अमंद।
जानता नहीं वह छंद बंध।
वह रे अनंत का मुक्त मीन, अपने असंग सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर नवीन।
निष्कम्प शिखा-सा वह निरुपम, भेदता जगत जीवन का तम,
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र, वह सम।[2]

ऐसी शुद्ध आत्मा ही जगत् के अज्ञान (तम) को दूर कर सकती है। यही आत्म-दर्शन है जो जग दर्शन में 'आत्मा' की पुकार को सस्वर कर देता है। इस दशा में नभ (हृदय) का आँगन आत्म-ज्योति से जगमगा उठता है—

जगमग जगमग नभ का आँगन
लद गया कुंद कलियों से घन,
यह आत्म और यह जग-दर्शन।[3]

कवि का यह आत्मदर्शन जग-दर्शन सापेक्ष है, परन्तु उस सापेक्षता में भी वह नक्षत्र-आत्मा की निरपेक्ष सत्ता को भी सुरक्षित रख सका है। पंत का यह आत्म-दर्शन, एक प्रकार से, चेतना का एक उच्च रूप ही है। इसी से उन्होंने आत्मा में भी सरिता रूपी चेतन जीवन का संकेत किया है जिससे यह जीवन भी जीवन है, भाव भाव है, उसकी गति गति है—

आत्मा है सरिता के भी
जिससे सरिता है सरिता।
जल जल है, लहर लहर है
गति गति, सृति सृति चिर भरिता।[4]

यह आत्म-चेतना ही मानव जीवन की 'मधुर साँस' है जिसे हम अँग्रेज़ी शब्दावली में (Breath of life) भी कहते हैं। जब मन इस आत्मिक

१—दे० अध्याय प्रथम, उपखंड 'ग' में 'ब्रह्म'।

२—गुंजन, एक तारा, पृ० ८६।

३—वही।

४—गुंजन, पृ० १४।

चेतना से पूर्ण परिप्लावित हो जाता है, तब वह रसानुभूति के क्षेत्र में पदार्पण देता है। यही मन की परम तृप्ति है जिसकी ओर डा० रामकुमार ने इस प्रकार संकेत किया है—

यह तो है परिचित मधुर साँस।
जिसमें अपने को विस्मृत कर
सोये हैं कितने दिवस मास।
मेरे तन को छू वह तरंग
है बैठ गई बन स्मृति स्वरूप।
वह भूले दिन की अवधि आज, लगती है कितने पास पास।
अब दुख पाने के लिए मुझे, करना पड़ता है अति प्रयास।[1]

इस आत्म-चेतना को ज्योत्स्ना की भी संज्ञा दी गयी है। इसके अतिरिक्त 'ज्योत्स्ना' शान्ति तथा प्रेम की भी प्रतीक है। डा० वर्मा ने ज्योत्स्ना का संकेत किया है, वह शान्ति तथा प्रेम के अतिरिक्त चेतना की भी प्रतीक है—

यह ज्योत्स्ना तो देखो,
नभ की बरसी हुई उमंग।
आत्मा-सी बन कर छूती है,
मेरे व्याकुल अंग।[2]

काव्य के लिए जहाँ आत्मिक-चेतना की आवश्यकता है, वहीं 'कल्पना' की भी अत्यन्त अपेक्षा है। कवि के मानस लोक में कल्पना के द्वारा ही चेतना का आभास प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में कल्पना का एक स्वस्थ रूप ही चेतना का अंग हो सकता है। यदि वह कल्पना उच्छृंखल हो जाती है तो वह चेतना के विकास में सहायक नहीं होती है, वह कुसुम रूपी हृदय की 'सुरभि' नहीं रहती है। डा० वर्मा ने ऐसी ही काव्य-कल्पना को सुरभि के प्रतीकत्व के द्वारा व्यंजित किया है। यह कल्पना उस भ्रमर (मन) के समान है जो गुलाब के गात को छूकर अपने गीतों का प्रसार करती है। इसी कल्पना रूपी बाला से कवि एकाकार होना चाहता है, तभी तो वह कहता है—

मेरे सुमनों की सुरभि अरी।
पंखड़ियों का द्वार खुला है आ, इस जग में मोद-भरी॥

१—चद्रकिरण, द्वारा डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १७।

२—चित्ररेखा, पृ० १।

मैं आया हूँ आज लिये, अपनी साँसों की माला।
उसमें निज अस्तित्व मिला दे, मेरी कोमल बाला॥
मेरे उर के स्पंदन में झूले तू, ओ स्वर्ण-परी॥[1]

सौंदर्य के अधिकतर मानवीकरण रूप ही प्राप्त होते हैं जिनका विवेचन यथा-स्थान होगा। कल्पना को स्वर्णपरी भी कहना एक प्रकार से मानवीकरण है, परन्तु यह मानवीकरण पूरे संदर्भ का नहीं है, अतः इसे यहाँ पर सम्मिलित किया गया है।

(छ) मानवीकरण

मानस जगत् के प्रतीकों का सृजन कवि की अपनी एक निजी अंर्तदृष्टि का विषय है। मानवीकरण की प्रक्रिया भी कभी-कभी मानस जगत् का भी उद्घाटन करती है। कवि अपने भाव जगत् एवं चेतना जगत् को नितान्त व्यक्त साकार रूप देने के लिए उसे मानवीय क्रियाओं एवं व्यापारों के संदर्भ में अवतीर्ण करता है। इस आरोपण क्रिया का मूलाधार मनोवैज्ञानिक भी है और जड़ में चेतना के स्पंदन को अनुभव करने में भी।[2] इसके अतिरिक्त, मानवीकरण की क्रिया का एक अन्य क्षेत्र है। कवि मूलतः तटस्थ होकर एक प्रकृति-चित्र को सम्मुख रखता है, जिसमें प्राकृतिक घटनाओं एवं वस्तुओ का पर्यवेक्षण मानवीय संदर्भ में प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु इस तटस्थता में भी, कभी-कभी, किसी विशिष्ट भाव की व्यंजना होती है। उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मानवीकरण में जब किसी भाव का संगुफन होता है, तो वह सत्य प्रतीकत्व के संदर्भ को स्पष्ट करता है। सामान्यतः छायावादी काव्य में मानवीकरण का प्रतीकत्व इसी तथ्य पर आश्रित है। इस दृष्टि से छायावादी प्रतीकात्मक मानवीकरण को निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

१—भावादि (प्रेम, विषाद, उल्लासादि) के मानवीकरण।
२—सौदर्य-चेतना, कल्पना के मानवीकरण।
३—प्रकृति के मानवीकरण (वस्तुओं का भी)।

(१) भाव आदि

छायावादी काव्य में भावों को अभिव्यंजित करने के लिए अनेक

१—चित्ररेखा, पृ० २५।
२—दे० अध्याय १, प्रतीक का उद्गम, उपखंड 'क'।

प्रकृति-वस्तुओं को मानवीय क्रिया-व्यापारों अथवा संवेदनाओं के संदर्भ में चित्रित किया गया है।

प्रसाद ने प्रेम भाव को 'अतिथि' के द्वारा व्यंजित किया है। उसके आने पर कवि का हृदय (घर) आनंद से परिव्याप्त हो गया है और वह (अतिथि) बाह्य तथा अंतर दोनो में समान रूप से अधिकार करने लगा है। ऐसा था उस अतिथि का आना—

> अतिथि आ गया एक, नहीं पहचाना।
> हुए नहीं पद-शब्द, न मैंने जाना।
> अतिथि रहा वह किन्तु, न घर बाहर था।
> लगा खेलने खेल, अरे नाहर था।।[१]

प्रेम की मदिरा ही ऐसी है कि उसके सामने समस्त इतर भाव धूमिल पड़ जाते हैं। ऐसे ही प्रेम को एक नवागंतुक नारी के रूप में चित्रित कर निराला ने उसे अपने कुटीर में धीरे-धीरे चरण बढ़ा कर आने की इच्छा प्रकट की है।

> मेरे कुञ्ज कुटीर द्वार पर आ तू।
> धीरे-धीरे कोमल चरण बढ़ा कर
> ज्योत्स्नाकुल सुमनों को सुरा पिला तू
> प्याला शुभ्र करों का रख अधरों पर।
> सकल चेतना मेरी होवे लुप्त
> और जग जाये पहली चाह।[२]

यह प्रेम की ही पहली चाह है जिसे कवि जगाने की प्रबल इच्छा करता है। प्रेम का यह जागरण जहाँ एक ओर उन्माद एवं आनंद की सृष्टि करता है वहीं वह विषाद एवं विरह की भी अवतारणा करता है। दुख, विरह, तथा अवसाद का एक अन्य उदाहरण प्रसाद में प्राप्त होता है जहाँ विरह तथा करुणा भाव का मानवीकरण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

> अपलक जगती हो एक रात
> सब सोये हों इस भूतल में
> अपनी निरीहता संबल में
> चलती हो कोई भी न बात।[३]

१—झरना, अतिथि, पृ० ८२-८३।

२—अनामिका, प्रगल्भ प्रेम, पृ० ३५-३६।

३—लहर, द्वारा प्रसाद, पृ० ३१।

एक विरह जनित विषाद का रात्रि भर जगना उसके उस रूप की ओर संकेत करता है जो विरह की तीव्रता को रात के समय द्विगुणित कर देता है। शेली ने भी दुख (Misery) को अपने सिरहाने बैठाने का निमंत्रण दिया है जो एक मौन-वधू (Silent Bride) है।[1] इस लम्बी कविता में कवि ने 'दुख' भावना को अपना साहचर्य प्रदान करते हुए, उसका जीवन से अभिन्न सम्बन्ध प्रदर्शित किया है। इस अभिन्न संबंध की अभिव्यंजना इन पंक्तियों में अत्यन्त सुन्दरता से व्यक्त हुई है—

"मुझे चुंबन करो, अरे, तुम्हारे ओष्ठ शीतल हैं, मेरे गले को तुम्हारे हाथ घेरे हुए हैं। वे हाथ कोमल हैं पर मृत और ठंडे। मेरे सर पर तुम्हारे अश्रु जमें हुए सीसे की बिन्दुओं की तरह जल रहे हैं।"[2]

इस प्रेम भाव के विविध पार्श्वों का मानवीकरण छायावाद की एक प्रमुख विशेषता है। प्रेम भाव मूलतः काम भाव पर आश्रित है जो प्रणय की आधारशिला है। पंत की 'अनंग' कविता इसी काम का मानवीकरण अनेक रूपों के द्वारा करती है। कहीं वह विश्व-अभिनय का नायक है, वहीं सूत्रधार है—

अहे, विश्व अभिनय के नायक,
सकल सृष्टि के सूत्रधार।
उर उर की कंपन में व्यापक
ऐ त्रिभुवन के मनोविकार।[3]

प्रेम भाव में जहाँ एक ओर विरह तथा वेदना है, वहीं उस भाव में एक आत्मिक आनंद है। यह उल्लास मन का वह तरल भाव है जो केवल मानव मन में ही नहीं, पर समस्त सृष्टि में व्याप्त है। सृष्टि रचना में भी यही 'उल्लास' अपनी अभिव्यक्ति करता है जो नाना रूपों में चरितार्थ होता है।

१—प्याटिकल वर्क्स आफ शेली, 'इनवोकेशन टू मिज़री', पृ० १७३।

२—Kiss me—oh, thy lips are cold
Round my neck thy arms enfold;
They are soft, but chill and dead;
And thy tears upon my head
Burn like points of frozen lead.
वही, पृ० १७४।

३—पल्लव, अनग, पृ० ३०।

जिस प्रकार तृण लघु होते हुए भी पृथ्वी के समीप है, उसी प्रकार यह 'उल्लास' समस्त प्रकृति में व्याप्त होते हुए भी उसके समीप है। इस तथ्य का एक उदाहरण डा० रामकुमार वर्मा ने उल्लास के मानवीकरण के द्वारा सुंदरता से व्यंजित किया है—

लो मैं आया।
क्या यह तृण? तृण लघु हैं, पर पृथ्वी के उर के हैं समीप।
निद्रा में है अंधकार, उतना विस्तृत जितना न व्योम
एक बार ही व्याप्त हुआ, जिसमें रजनी का रोम रोम।
मैं इसीलिए तो स्वप्न रूप हो उसमें आज समाया॥
लो मैं आया॥[1]

निद्रा में स्वप्न की स्थिति 'उल्लास' की ही स्थिति है, क्योंकि स्वप्न निद्रा के जगत् में मन का उल्लास ही व्यक्त करता है। इसी प्रकार विरह की शिला में उल्लास उस ओस-विंदु के समान है जो विरह की गहनता में सुख की तरलता भर देता है। सत्य में, उल्लास और आशा का स्थान प्रेम भाव में अत्यधिक है। प्रेम की विशाल भूमि में अनेक भावों का एक साथ संगुफन उपर्युक्त विविध मानवीकरणों से व्यंजित होता है।

प्रेम तथा अन्य भावों का प्रवाह एक निर्झर के समान है। यह निर्झरी अनेक भंगिमय भ्रुकुटियों के विलास (भाव लहरियाँ) से उपलों (हृदय) पर अनेकरंगी लास नृत्य करती है। पंत ने यहाँ पर भावों के प्रवाह का एक अत्यन्त सुन्दर मानसिक रूप, प्रतीकात्मक विधिसे, प्रस्तुत किया है। यह लास मानों भाव-लहरियों का मन से लास है जिससे लहरियाँ फेनिल हास को फैलाती हैं—

दिखा भंगिमय भ्रुकुटि विलास।
उपलों पर बहुरंगी लास।
फैलाती हो फेनिल-हास।
फूलों के कूलों पर चल।[2]

१—चंद्रकिरण, उल्लास, पृ० ४१।

२—पल्लव, द्वारा पंत, 'निर्झरी' पृ० ७३।

यह मन के भावों का निर्झर प्रवाह, कवि के मतानुसार, मूक आन्तरिक व्यथा का बाह्य रूप है जो बरबस उर के तट पर बहुरंगी लास करता है। एक स्थान पर कवि ने वीचिविलास को रंगिणि के रूप में चित्रित कर उसे अनेक मानवीय भावों अथवा क्रियाओं से सयुक्त दिखाया है। मानवीकरण करते हुए कवि इस वीचिविलास को 'छुई मुई' की तरह चित्रित करता है जो स्वयं अपना गात ही छूकर मुरझा जाती है। भाव-लहरियों का ऐसा ही स्वरूप होता है। ये भाव-लहरियाँ ही असमान इच्छाओं को उर में स्मृति-चिह्न के रूप में छोड़ जाती है और स्वयं न जाने कहाँ विलुप्त हो जाती है? स्पष्ट ही कवि ने इस कथन के द्वारा स्मृतियों के सृजन की ओर प्रतीकात्मक संकेत दिया है, जो मन के स्मृति-पटल पर शेष रह जाती हैं—

छुई मुई सी तुम पश्चात्।
छू कर अपना ही मृदु गात।
मुरझा जाती हो अज्ञात।
तुम इच्छाओं सी असमान।
छोड़ चिह्न उर में गतिवान्।
हो जाती हो अन्तर्धान।[1]

इन सभी उदाहरणों में भावतरंगों एवं लहरियों के मनोवैज्ञानिक रूप के दर्शन होते हैं। स्मृति का हृदय-पटल पर स्थिर हो जाना किसी अतीत 'घटना के सुप्त गान' सा प्रतीत होता है जिससे समस्त ध्यान ही मानो लुप्त हो जाता है। ये स्मृतियाँ जीवन में तिर तिर कर फिर उपचेतन में डूब जाती हैं, यही तो इनका भाग्य है। परन्तु जब इन स्मृतियों का उपचेतन से क्रियात्मक रूप में प्रस्फुटन होता है तब वह विगत घटनाओं से गुप चुप प्रेमालाप करती हैं। कवि ने स्मृति के इस मानसिक रूप को एक सखी का रूप देते हुए उसका उपर्युक्त भाव में चित्रांकन किया है—

जटिल जीवन नद में तिर तिर
डूब जाती हो तुम चुपचाप।
सतत द्रुतगतिमय, अयि फिर फिर
उमड़ करती हो प्रेमालाप,

१—पल्लव, वीचिविलास, पृ०२४-२५।

सुप्त अतीत के गान, सुना, प्रिय।
हर लेती हो ध्यान।[1]

इन्हीं स्मृतियों को शेली ने भूतात्माएँ कहा है जो अपना बदला लेती हैं। ये विगत स्मृतियाँ यह घोषित करती हैं कि जो सुख एकबारगी लुप्त हो जाता है वह पीड़ा है।[2] परन्तु जीवन में यह पीडा एवं निराशा, आशा एवं प्रेम की अपेक्षा रखती है। दोनों का संतुलन ही जीवन का सत्य है। इसी आशा एवं प्रेम रूपी 'किरण' का मानवीकरण कवि प्रसाद ने प्रस्तुत किया है। उस आशा से हृदय रूपी कुसुमों में सोये हुए वसंत (सुख, आत्मिक आनन्द) को जाग्रत होने की प्रार्थना की गई है। कवि ने इस किरण का जो नारीपरक रूप चित्रित किया है वह ऊषा सुन्दरी के कर का संकेत है और वह वेदना-दूती भी है। उसका सौंदर्य स्वर्ण-सरसिज किंजल्क के समान है और वह परमाणु पराग को उड़ाती है। ऐसी 'किरण' ही सुमन मन्दिर के द्वार खोलने में सफल होती है।[3] मानवीकरण का यह रूप कवि की सौंदर्य भावना का एक सुन्दर विकास है जिसमें उसकी सूक्ष्म दृष्टि स्पंदित प्राप्त होती है।

(२) सौंदर्य-चेतना-कल्पना के प्रतीकगत मानवीकरण

काव्य के इस नारी रूप में चेतना का जो संकेत किया गया है, कविता के क्षेत्र में उसका विस्तार अनेक रूपों में होता है। कहीं वह आत्मिक चेतना, कहीं काल्पनिक और कहीं सौंदर्य चेतना के रूपों में अभिव्यक्त होती है। छायावादी कवियों ने इस चेतना को व्यंजित करने के लिए अनेक प्राकृतिक घटनाओं का एवं काल्पनिक नारी रूपों का मानवीकरण किया है। इन मानवीकरणों में सौंदर्य-बोध अपनी पराकाष्ठा में प्राप्त होता है। सौंदर्य की स्वर्णिम चेतना व्यक्ति के मानस लोक को एक अमित प्रकाश से भर देती है। पंत के लिए यही सौंदर्य-चेतना एक अनुभूतिमात्र है जिसमें सारा जग व्याप्त है। ऐसी सौंदर्य-चेतना को व्यंजित करने के लिए चाँदनी का सहारा लेकर कवि ने उसे एक नारी का रूप प्रदान किया है—

वह शशि किरणों से उतरी, चुपके मेरे आँगन पर।
उर की आभा में खोई, अपनी ही छवि से सुन्दर।
अनुभूति मात्र सी उर में आभास शांत, शुचि, उज्ज्वल।

१—परिमल, द्वारा निराला, स्मृति, पृ० १०८।

२—पयोटिकल वर्क्स आफ़ शेली, पृ० १७२,।

३—झरना, द्वारा प्रसाद किरण, पृ० २८-२९।

वह है, वह नहीं, अनिर्वच, जग उसमें, वह जग में लय,
साकार चेतना-सी वह, जिसमें अचेत जीवाशय।[१]

इस मानवीकरण में जहाँ चन्द्रिका का सौंदर्य निहित है, वहीं सौंदर्य-चेतना का रूप भी स्पष्ट है। इसमें सौंदर्य के सभी तत्त्व वर्तमान हैं अर्थात् 'उर की आभा' रंग रूप रहित अनुभूति जिसका उज्ज्वल शान्त आभास प्राप्त होता है और उसकी जग में व्याप्ति। परन्तु जग की चेतना जब शिथिल, रुग्ण एवं बलहीन हो जाती है तब उसका दयनीय रूप भी चाँदनी के मानवीकरण के द्वारा कवि ने व्यक्त किया है। पंत के चेतना काव्य के मूल तत्त्व इन्हीं मानवीकरणों में स्पष्ट लक्षित होते हैं जिनका बहुमुखी विकास अरविंद-दर्शन के संस्पर्श से आगे विकसित हो सका। इस रुग्ण एवं दमित चेतना को कवि ने 'रुग्ण जीवन बाला' के रूप में स्वीकार किया है जो जग के दुख दैन्य के मध्य पड़ी हुई है। यह तापसी-बाला ही (चाँदनी) जीवन-चेतना का प्रतीक है—

वह स्वर्ण भोर को ठहरी, जग के ज्योतित आँगन पर
तापसी विश्व की बाला, पाने नव जीवन का वर।[२]

यह स्वर्ण-भोर आशा का ही रूप है जिसकी प्रतीक्षा वह तापसी बाला बड़े मनोयोग से कर रही है। इसी सौंदर्य चेतना को शेली ने एक 'अमर-देव' के रूप में चित्रित किया है, जिसका सिंहासन मानव-विचारों के अंतराल में है। वह उस 'चेतना' का सिंहावलोकन करता है जिसके फलस्वरूप आदमी जो कुछ भी है और जो नहीं है और जो हुआ है और होगा—सब उसी 'अमर देव' की माया है।[3] इन्ही सौंदर्य चेतना को वर्डस्वर्थ ने एकपूर्ण मानवी की संज्ञा दी है जिसका सृजन चेतावनी, सुख एवं आज्ञा देने के लिए हुआ है। इतना

१—गुंजन, चाँदनी, पृ० ६१।

२—गुंजन, चाँदनी, पृ० ३४।

३—O Thou immortal diety!
Whose throne is in the depth of human thought,
I do adjure thy power and thee,
By all that man may be, by all that he is not,
By all that he has been and
yet must be!

पेयोटिकल वर्क्स आफ शेली, फ्रेगमेंट्स आफ इनवोकेशन, पृ० २६७।

होते हुए भी वह एक शान्तिमयी आत्मा है जो किसी अप्सरा के प्रकाश से देदीप्यमान है।[1]

सौंदर्य का एक अन्य प्रतीक अप्सरा है जिसे छायावादी काव्य में पौराणिकता से ऊपर उठाकर एक विश्वजनीन अथवा काव्यात्मक चेतना का प्रतीक बनाया गया है। पुराणों में ही अप्सरा को सौंदर्य की पराकाष्ठा से युक्त दिखाया गया है जो स्वर्गिक प्राणी है। पंत ने इसी कल्पना का आश्रय लेकर अप्सरा को आधुनिक संदर्भ में अवतरित करने का प्रयत्न किया है। सत्य में, प्रतीकार्थ की दृष्टि से अप्सरा का अर्थ विस्तार ही छायावाद में प्राप्त होता है जिसमें पाश्चात्य निम्फ (अप्सरा) की भावना का कुछ पुट माना जा सकता है। दूसरी बात इस अप्सरा के प्रतीकत्व में यह दर्शित होती है कि वह 'विश्वचेतना' की प्रतीक है जिसके अनेक रूपाभास रचे जाते हैं। वह एक ऐसी शक्ति है जो समस्त विश्व को क्रियात्मक शक्ति प्रदान करती है। वह मानव हृदय से लेकर समस्त चराचर प्रकृति तक विकास को प्राप्त है। यही उसका विश्वजनीन रूप है। वह 'माँ' के समान है जो अबोध मानव-शिशु में स्वप्निल हास का विस्तार करती है जिससे वह शिशु विश्व के विचित्र इतिहासों को सुनकर उसी का अनेकानेक रूपाभास रचते हैं। कवि ने इसी सत्य को अपनी कांत कल्पना से मुखर कर दिया है—

नव शिशु के सँग छिपछिप रहतीं
तुम माँ का अनुमान।
डाल अँगूठा शिशु के मुख में
देती मधु स्मित दान।
दंतकथाओं से अबोध शिशु, सुन विचित्र इतिहास,
नवनयनों से नित्य तुम्हारा रचते रूपाभास।[2]

यह सौंदर्य-चेतना का विविध रूपाभास ही कवि की सृजन शक्ति का मूल है।

१—A perfect woman nobly planned
To warn, to comfort and command;
And yet a spirit
Still, and bright.
With something of angelic light.
पेयोटिकल वर्क्स आफ वर्ड्सवर्थ, द सिम्पिल पास, पृ० १०६।

२—गुंजन, अप्सरा, पृ० ६३।

इसी चेतना (कल्पना भी हो सकती है) को निराला ने 'बसंत की परी' के द्वारा अभिव्यंजित किया है जो 'छवि विभावरी' है (ज्योत्स्ना का रूप)। वही कवि के निस्तल तट की निर्झरी (भाव तरंग) का केन्द्र है। उसके आलिगन से कवि का मानसिक जगत् एक ऊर्ध्व चेतना से भर उठता है (उभार दे मन) और इस व्याप्ति में उसकी छोटी-सी तरी (जीवन) संसार सागर में तिरने लगती है—नृत्य करने लगती है। ऐसी 'परी' का आवाहन कवि करता है—

आओ, आओ फिर मेरे वसंत की परी, छबि विभावरी।
सिहरो स्वर से भर भर, अंबर की सुन्दरी, छबि विभावरी।
बहे फिर चपल ध्वनि, कलकल तरंग.......................।
शीतल सुख, मेरे तट की निस्तल निर्झरी, छबि विभावरी।[1]

इस सौंदर्य (कल्पना भी) चेतना को स्वर्गिक भी कहा गया है, क्योंकि ज्योत्स्ना 'नंदन बन की अप्सरा' है जो इस जग को निर्जन जान कर स-शरीर स्वर्ग से उतरी है। कवि निराला ने इस चित्र के द्वारा स्वर्गिक चेतना (ज्योत्स्ना) का अवरोहण धरती के निर्जन प्रदेश में किया है। परन्तु कवि इस अवरोहण से संतुष्ट नहीं है। वह तो पृथ्वी की चेतना का स्वर्गिक चेतना तक आरोहण चाहता है। अपनी 'नर्गिस' कविता में उसने नर्गिस को पृथ्वी की चेतना का प्रतीक बनाया है और ज्योत्स्ना को स्वर्गिक चेतना का। कवि ने ज्योत्स्ना को 'सृष्टि-स्वर्ग की खड़ी सशरीर ज्योत्स्ना' कहकर चेतना के स्वर्गिक भाव को व्यक्त किया है। इस चंद्रिका के आगमन से पृथ्वी यौवन भार से लद गयी है। उसके स्तनों पर कलियों की माला पड़ गयी है, इसी बीच में कवि ने नर्गिस को देखा--

मैंने फेर मुँह देखा, खिली हुई अभिराम,
नर्गिस, प्रणय के ज्यों नयन हों एकटक,
कहती ज्यों नर्गिस-आई जो परी पृथ्वी पर
स्वर्ग की, इसी से ही हो गई, क्या सुन्दरतर,
स्वर्ग झुक आये यदि धरा पर तो सुन्दर,
या कि यदि धरा चढ़े स्वर्ग पर तो सुघर ?[2]

१—अनामिका, वसंत की परी के प्रति, द्वारा निराला, पृ० १४४।

२—अनामिका, नर्गिस, पृ० १८६-१८७।

और अंत में, कवि ने, स्पष्ट रूप से नर्गिस की हवा बहने से जो सुगन्ध का प्रसार चित्रित किया है, वह इसी धरती की चेतना है जो स्वर्गिक चेतना में रूपांतरित हो रही है—

> बही हवा नर्गिस की, मंद छा गई सुगन्ध
> धन्य, स्वर्ग यही, कह किये मैंने दृग बंद।[1]

छायावाद का चेतना-दर्शन (सौंदर्य) जगत् सापेक्ष है जिसमें रवीन्द्र की 'उर्वशी' की झलक है। पंत तथा निराला के चेतना-प्रतीकों में यह तथ्य स्पष्ट रूप से प्रतिध्वनित होता है। यही बात काल्पनिक चेतना के लिए भी सत्य है। डा० रामकुमार वर्मा ने जुही के मानवीकरण के द्वारा (बाला) इसी तथ्य की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की है। इसी बाला का रूप नभ-दर्पण (हृदय) में प्रतिबिंबित होता है और उपवन (संसार) तथा नभ का (उर का) कोना-कोना उसकी माला को पहने हुए है अर्थात् उस 'जुही' की परम सुगन्ध सर्वत्र व्याप्त है। इस बाला का आगमन जलते हुए जग जीवन को शीतलता से भरने के लिए ही हुआ है।[2] इसी कल्पनात्मक सौंदर्य का मानवीकरण कीट्स ने भी किया है जिसे आरोहित प्रकाशवान् स्त्री का रूप दिया है जो इस नरक की छाया को छिन्न भिन्न करने में समर्थ है। ऐसी स्त्री के आश्चर्यजनक वक्ष पर वह अपनी आत्माको एकबारगी विश्राम कराना चाहता है। हे पीड़ा के माधुर्य! मुझे उन अधरों का वरदान दो। काफ़ी है!! यह मेरे लिए काफ़ी है कि मै तुम्हारा स्वप्न ही देखूँ![3]

(३) प्रकृति के मानवीकरण (वस्तुओं का भी)

उपर्युक्त अनेक मानवीकरणों में प्राकृतिक वस्तुओं का भी आश्रय लिया

१—अनामिका, नर्गिस, पृ० १८७–१८८।

२—चित्ररेखा, द्वारा डा० वर्मा, पृ० ६।

३—Step forth my lady bright
O, let me once more rest
My soul upon that dazzling breast!
O, the Sweetness of the pain!
Give me those lips again!
Enough! enough!! it is enough for me
To dream of thee!

द पेयोटिकल वर्क्स आफ़ जान कीट्स, 'फ्रेगमेंट', पृ० ५०४।

गया है। इसके अतिरिक्त प्रकृति के सम्पूर्ण रूप का मानवीकरण नारी रूप में भी किया गया है। नारी के विविध रूपों यथा देवि, मां, सहचरि, प्राण को प्रकृति के ही अर्थ में सामान्यतः कवियों ने प्रयुक्त किया है। इन मानवीकरणों में नारी के प्रति एक स्वस्थ तथा परम दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। अब नारी के प्रति कवि का दृष्टिकोण केवल 'लौकिक' नहीं है, पर उसकी भावना में वह प्रकृति तथा मानवीय चेतना का 'सत्य' देखता है। मेरे विचार से नारी के प्रतीकत्व का जितना सुन्दर विकास छायावाद में हो सका, वह अद्वितीय है। पंत की नारीभावना, जहाँ तक प्रकृति के मानवीकरण का संबंध है, इसी अंतर्दृष्टि पर आश्रित है। इसी से उन्हें नारी रूप प्रकृति के रोम रोम से प्यार है—प्रकृति के कण कण से प्यार है। उस नारी के गुण ही उनके गान हैं।[१] पंत का यह नारी रूप प्राण तथा अप्सरा की मिलित अभिव्यक्ति के द्वारा भी प्रकट हुआ है। यह प्रकृति निखिल छवियों की छवि है, छविहीन अप्सरा के समान है। उसका रहस्य अप्सरा के समान अज्ञात है, परन्तु अज्ञात होकर भी वह कवि की 'लघु लघु प्राण' है। इसी से कवि ने प्राण तथा अप्सरा दोनों का एक साथ वर्णन किया है—

> प्राण तुम लघु लघु गात।
> निखिल छवि की छवि! तुम छविहीन
> अप्सरी सी अज्ञात।[२]

प्रकृति के नारी रूप चित्रों में एक ऐसी नारी के दर्शन होते हैं जो फूल से युक्त 'फूलवाली' है। रामकुमार वर्मा में यह फूलवाली नारी रूप उनके सौंदर्य बोध को समस्त प्रकृति में चरितार्थ करती है। प्रकृति के विविध रूपों एवं घटनाओं का प्रतीक ही यह फूलवाली है जो सजीली प्रकृति का सुन्दर चित्र समक्ष रखती है। ऐसी सजीली प्रकृति के प्रति कवि रहस्योन्मुख होकर पूछता है—

> फूल सी हो फूलवाली।
> किस सुमन की साँस तुमने आज अनजाने चुरा ली?
> तुम सजीली हो, सजाती हो सुहागिनि ये लताएँ
> क्यों न कोकिल कंठ मधु ऋतु में तुम्हारे गीत गाएँ

१—पल्लव, द्वारा पंत, नारी रूप, पृ० ६६।

२—गुंजन, पृ० ७८।

जब कि मैंने यह छटा अपने हृदय के बीच पाली।
फूल सी हो फूलवाली।[1]

अपनी सजीली वृत्ति के कारण यह फूलवाली प्रकृति अनेक सुहागिन लताओं को सजाती है अर्थात् अपने सौंदर्य का प्रसार करती है। इस रूप को देख कर कौन सा कंठ (कोकिल कंठ) ऐसा होगा जो आनन्द में उसके (मधुऋतु) गीत न गुनगुना उठे। जब मानव मन अपने हृदय में इस सजीली प्रकृति के सौंदर्य को संजो लेता है, तब वह अपनी निधि को क्यों न अभिव्यक्त करे?

प्रकृति के इन उल्लासपूर्ण एवं सौंदर्यपूर्ण चित्रों के अतिरिक्त प्रकृति का वह भी रूप है जिसमें परिवर्तन एवं अस्थिरता है। यह भी प्रकृति का सत्य है कि उसका यह रूप एक ऐसी नर्तकी के समान है जो सदैव अपनी मुद्राओं, तालों, गतियों एवं दृष्टियो मे प्रकृति के परिवर्तन के विविध रूपों को साकार कर देती है। डा० रामकुमार की यह नर्तकी उनके प्रकृति-दर्शन की उच्चतम अभिव्यक्ति है जिसमें प्रकृति के बदलते हुए रूपों का प्रतीकात्मक संकेत है। इस परिवर्तनशील नृत्य में ही प्रकृति की नवीनता निहित है—यही उसका सत्य है। उसके इस अविराम नृत्य की विविध मुद्राओं आदि का सादृश्य कवि ने प्रकृति के व्यापारों से प्रस्तुत किया है जिसमें सूर्य तथा चंद्र का उदय-अस्त उसकी कर मुद्राएँ हैं किंकणी का रव सुख है, नुपूरों में दुख सिसकता है, दृष्टि में सृष्टि का विस्तार है, नृत्य की गति में समय (मन्वंतरों) की गतिबद्धता है।

चंद्र गिरता सूर्य उठता
नृत्य मुद्राएँ करों की।
विनय मैंने की कि सिखला दो मुझे ध्वनि अवसरों की,
सुख विहँसता किंकिणी में दुख सिसकता नूपुरों में,
दृष्टि में है सृष्टि, गति में नियति है मन्वन्तरों की,
आज मेरी लेखनी पर नृत्य वह भी कर रुकी,
यह नवीना नर्तकी।[2]

यह नृत्य अभिनय किसी अज्ञात मायाकर का ही कार्य है जो सूत्रधार की तरह

१—आकाशगंगा, फूलवाली, पृ० ३१—३२।

२—आकाशगंगा, पृ० १७–१८।

नर्तकी का नृत्य कराता चला जा रहा है। यह सूत्रधार ही परमतत्त्व है, ब्रह्म है।[1] इस प्रकार छायावाद में प्रकृति के मानवीकरण के द्वारा 'प्रकृति-दर्शन' का एक सुन्दर प्रतीकात्मक संकेत प्राप्त होता है। इन उदाहरणों में कवियों की अपनी निजी अनुभूति की दृष्टि है जिसमें एक विस्तृत संदर्भ का समाहार है। यह कवि की स्वतंत्र चिंतना का ही प्रतीक है।

प्रकृति वस्तुओं के मानवीकरण

प्रकृति चित्रों तथा घटनाओं के उपर्युक्त मानवीकरण के अतिरिक्त, छायावादी काव्य में प्रकृति की अनेक वस्तुओं का मानवीकरण किसी सौंदर्य चित्र अथवा किसी भाव-विशेष को मानवीय धरातल पर व्यंजित करता है। इनमें अधिकतर प्रकृति जगत् का वनस्पति-संसार है जिसे कवियों ने मानवीय क्रियाओं से युक्त दिखाया है। इस दृष्टि से निराला की प्रसिद्धतम कविता 'जुही की कली' अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। इसमें कवि ने जुही की कली तथा दूर देश के मलयानिल के परस्पर प्रेम के कार्य-कलापों के द्वारा प्रणय भाव का एक श्रृंगारपरक रूप साकार किया है। इस उदाहरण को मैं कवि के उपचेतन-प्रतीकीकरण का एक सफल प्रयोग मानता हूँ। इसमें कवि के मानस-जगत् में सुप्त प्रणय या काम भावना प्रतीकों के द्वारा एक मनोमोहक रूप में साकार हो उठी है। इस प्रणय भाव में कवि ने प्रेमी-प्रेमिका के अभिसार को इस प्रकार व्यंजित किया है कि वह उच्छृङ्खल नहीं हो सका है। उसमें दाम्पत्य-जीवन की एक सरल एवं निष्कपट तथ्य की ही व्यंजना होती है। ऐसे परस्पर क्रीड़ारत दाम्पत्य या प्रेमी प्रेमिका जीवन के मधुर प्रेम रस का आस्वादन कर सकते है, जिसे कवि अत्यन्त सधे हुए शब्द-चित्रों के द्वारा व्यंजित करता है। मलयानिल रूपी नायक दूर देश में अपनी प्रिया 'जुही' की याद आने पर विरह-विधुर हो 'गहन गिरि कानन, कुंज लता कुंजों को पार कर, पहुँचा वहाँ, जहाँ उसने की केलि, कली खिली साथ।' और कवि उस नायक का तथा नायिका का रतिपूर्ण वर्णन करता है—

> नायक ने चूमें कपोल
> इस पर भी जागी नहीं।
> निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की

१—पल्लव, परिवर्तन, पृ० ११०–१११।

कि झोकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
चौंक पड़ी युवती
हेर प्यारे को सेज पास, नम्रमुखी हँसी,–खिली
खेल रंग प्यारे संग ।[1]

निराला ने प्रणय-भाव को, इसी प्रेम रंग के खेल को, इसी ठठोली को, एक अन्य मानवीकरण के द्वारा व्यक्त किया है। वह है लता-तरु के अन्योन्य क्रियाकलापों से व्यंजित प्रणय भाव का एकनिष्ठ रूप। लता का तरुणी रूप और तरु का तरुण रूप—इन दोनों अवस्थाओं के प्रेममय भाव को इस प्रकार प्रस्तुत करता है--

घेर अंग अंग को
लहरी तरंग वह,
प्रथम तारुण्य की
ज्योतिर्मयी लता सी हुई मैं तत्काल
घेर निज तरु तन ।[2]

इसके बाद कवि इस मानवीकरण के द्वारा प्रेम के उस रूप को भी व्यंजित करता है जिसमें प्रियतमा तथा प्रेमी (लता और तरु) का अभिन्न संबन्ध, उनका एकात्म भाव दर्शित होता है। लता कहती है—

मिली ज्योति छबि से तुम्हारी
ज्योति छबि मेरी—
नीलिमा ज्यों शून्य से
प्रणय के प्रलय में सीमा सब सो गई ।[3]

इस प्रणय में सीमा का तिरोभाव हो जाता है तभी वह प्रेम स्वच्छ तथा उन्नायक रूप में आता है। यही प्रेम-भाव का उदात्तीकरण है जो केवल काम तथा यौन संबन्ध पर आश्रित नहीं है।

इसी प्रकार, भाव पर आश्रित एक अन्य मानवीकरण है। पवन इसी आशा से प्रियतमा शेफालिका के पास आता है कि वह उसके प्रणय में इस

१—परिमल, जुही की कली, पृ० १९२–१९३।

२—अनामिका, प्रेयसी, द्वारा निराला, पृ० १ तथा पृ० ३।

३—अनामिका, प्रेयसी, पृ० ४।

नश्वर संसार के शोक दैन्य को भूल जाय। यहाँ पर भी कवि, यौवन के मादक रूप का और रति का चित्र शेफालिका के मानवीकरण के द्वारा प्रस्तुत करता है—

> बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से
> यौवन उभार ने,
> पल्लव पर्यंक पर सोती शेफालिके।
> पार करना चाहता सुरभिमय समीर—
> शोक दुख-जर्जर इस नश्वर संसार की, क्षुद्र सीमा।
> पहुँच कर प्रणय छाये, अमर विराम के
> सप्तम सोपान पर।
> पाती अमर प्रेम धाम
> आशा की प्यास एक रात में भर जाती है।
> सुबह को आली, शेफाली झर जाती है।[1]

यह शेफाली का झरना संसार की नश्वरता का भी प्रतीक है जिसके क्षण भर के रूप को देखकर जीव विभ्रमित हो जाता है। संसार के इस नश्वर रूप को मानवीकरण के द्वारा प्रेम भाव के साथ व्यंजित करना उपर्युक्त कविता की विशेषता है। डा० रामकुमार ने 'कली की आत्मकथा' में कली के मानवीकरण के द्वारा संसार के सुखों की क्षणभंगुरता का संकेत किया है। इसके साथ वह कली के एकनिष्ठ प्रेम की भी व्यंजना करते हैं। इस दुख-दैन्य के जगत् में भी दो दिन के जीवन में, मनुष्य कली की तरह क्यों न अभिसार करे?—

> जग में कठोर कष्ट पीड़ा पाप छाया है,
> मैं तो दो दिन का अभिसार किए जाती हूँ।
> लतिका के बन्धन में वन्दिनी बनी हूँ मैं,
> हाँ, स्वतन्त्र होते ही, कहो क्यों कुम्हलाती हूँ।[2]

निराला के सभी मानवीकरणों में एक मादक एवं रसभरी माधुरी के ही दर्शन अधिक होते हैं। उस माधुरी में प्रेम तथा प्रणय भावों की प्रांजलता निहित रहती है। उसमें नायक-नायिका के भावों तथा संवेदनाओं का एक

१—परिमल, शेफालिका, पृ० १६७।

२—चन्द्रकिरण, 'कली की आत्मकथा' पृ० १५३।

सुन्दर विकास लक्षित होता है जिसमें अभिसार भी है, केलिक्रीड़ा भी है, त्याग भी है, उन्माद भी है, और प्रेम का सत्य भी है। उनके मानवीकरण इस विस्तृत संदर्भ का प्रतीकीकरण करते हैं।

निराला का जीवन, संघर्ष एवं विषाद, त्याग एवं तपस्या का जीवन था। उनकी काव्य चेतना का मुखर विकास जीवन के दुखों में, उसके आघातो में एवं दुखद परिस्थितियों में ही हुआ था। उनकी अनुभूति इसी दुखद संवेदना को लेकर ही यथार्थ धरातल पर अवतीर्ण हुई है। 'बन बेला' कविता में बेला का मानवीकरण कर कवि उसे अपनी काव्य-चेतना का प्रतीक ही बना देता है जो जीवन कर्म के दुस्तर दुःख क्लेश की प्राचीर को भेद कर जग में विकसित हुई है—

देखा फिर कर, घिर कर हँसती उपवन बेला
जीवन में भर—
भेद कर कर्म जीवन के दुस्तर क्लेश
आई ऊपर।

ऐसी बेला को इस निर्जन वन में कौन समझ सकता है, उसके गान को कौन हृदयंगम कर सकता है—

बोला मैं,—बेला, नहीं ध्यान,
लोगों का जहाँ, खिली हो बन कर वन्य गान।

परन्तु उसका यह वन्य विकास अपवित्र स्पर्श की अवहेलना करता है। उसे यह अपेक्षा है कि उसका दर्शन किया जाय, स्पर्श नहीं।[1]

फिर इसके बाद कवि बेला के द्वारा बाह्य जीवन के चमकते हुए मेले का वर्णन करता है। इस मेले में भी 'बेला' ही सत्य सुन्दर है जो जगत् के कठोर उपल-प्रहार में भी कवि के मानस-लोक की शुचि संचरिता शक्ति के रूप में निवास करती है। यदि यह 'काव्य-वेला' कवि के साथ है तो वह जगत् के प्रहारों को भी सरलता से झेल सकता है—

बोला मैं,—यही सत्य सुन्दर, नाचतीं वृंत पर तुम,
ऊपर होता जब उपल-प्रहार प्रखर,

१—अनामिका, 'बन बेला', पृ० ८७-८८।

अपनी कविता, तुम रहो एक मेरे उर में
अपनी छबि में शुचि संचरिता ।[1]

यह कवि की आत्मिक चेतना का बल ही है जो उसे प्रगति पथ पर अग्रसर करता है। और बेला एक ऐसी ही शक्ति की प्रतीक है।

इन प्रतीकगत मानवीकरणों में अधिकतर ऐसे ही मानवीकरण हैं जो प्रकृति का अथवा किसी भाव का मानवीकरण करते हैं। परन्तु मानवीकरण का एक अन्य क्षेत्र है, तात्त्विक संदर्भ का। ऐसा मानवीकरण है छाया का। छाया को कवि-कल्पना ने, मानवीय संदर्भ में चित्रित कर, उसे माया का प्रतीक माना है जो परोक्ष सत्ता की छाया है। इसके अतिरिक्त कवि पन्त ने छाया को कहीं पर परिहत वसना, वातहत लतिका, ब्रजवनिता, दमयंती, दुखविधुरा, सखि, अप्सरा आदि विशेषणों से विभूषित किया है।[2] पर जहाँ पर कवि उसे 'सखि' कह कर सम्बोधित करता है, वहाँ वह प्रकृति (माया) के रूप में ग्रहण की गयी है। इसी से कवि एक रहस्यात्मक विधि से उससे एक होने की बात कहता है और अन्त में उसे तम में और अपने को प्रियतम में अन्तर्धान होने की लालसा प्रकट करता है—

हाँ सखि, आओ बाँह खोल हम,
लग कर गले, जुड़ा लें प्राण।
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में,
हो जावें द्रुत अन्तर्धान।[3]

यहाँ पर सखि प्रकृति (माया) का, मैं आत्मा का और प्रियतम परमात्मा के प्रतीक हैं। छाया (माया) को तम में विलीन होने के संकेत से कवि यही व्यंजित करना चाहता है कि माया या प्रकृति को जब तक व्यक्ति 'तम' में विलीन नहीं कर देता तब तक वह प्रिय का साक्षात्कार नहीं कर सकता है। इसी से, कवि छाया को 'मायाविनि'[4] भी कहता है जो माया के विभ्रमित रूप की ओर संकेत करता है। अतः माया क्या है? वह सब कुछ है जो हमें विभ्रमित कर सके—नारी, अप्सरा, माया, तरु की छाया—ये सब उसके स्वरूप को ही व्यक्त करते हैं।

१—अनामिका, बन बेला, पृ० ९१।
२—पल्लव, छाया, पृ० ५५।
३—वही, पृ० ६०।
४—वही, पृ० ५८-५९।

वह अवगुंठनमयि है जिसके मुख पर घूँघट पड़ा हुआ है, वह ऐसी मायावनि है जो दृश्य तथा स्पृश्य होते हुए भी, स्पर्श तथा दृष्टि दोनों के द्वारा ज्ञातव्य नहीं है। उसका स्वरूप नितान्त अज्ञेय है। उस पर पट के पट पड़े हुए हैं, और उन पटों को हटाने पर भी उसका पार नहीं मिलता है। ऐसी माया के प्रति अन्त में कवि कह उठता है—

> तुम अतल गर्त, अविगत अकूल,
> फैली अनन्त में बिना मूल।
> अज्ञेय, गुह्य अग जग छाई
> माया मोहनि संग संग आई।
> तुम कुहुकिनि, जग की मोह निशा,
> मैं रहूँ सत्य, तुम रहो मृषा।[1]

माया जग की अज्ञान एवं मोह की निशा है जिसमें कवि आत्मा के सत्य रहने और माया को असत्य रहने का संकेत देता है। इस प्रकार सभी मानवीकरणों में माया के स्वरूप के प्रति एक आश्चर्य, एक रहस्यभावना होते हुए भी, उसके मिथ्यात्व के प्रति कवि सचेत है।

(ज) यथार्थ जगत् के प्रतीक

(समाज, राष्ट्र, मानवता)

विगत उपखंडों की समस्त प्रतीक योजनाओं में जीवन, जगत् एवं संसार के प्रति उदासीनता अथवा उपेक्षा का भाव कहीं पर भी नहीं ज्ञात होता है। यह दूसरी बात है कि कहीं कहीं पर इस विषाद एवं दुःखपूर्ण जगत् से एक प्रकार की अवहेलना दर्शित हो, पर कवि उसे ही जीवन का केन्द्र मानकर नहीं चला है। वह उस वीभत्सता में जीवन के सौंदर्य की खोज में प्रयत्नशील है। यथार्थ प्रतीकों की योजना से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि कवि का जीवन-दर्शन पलायनवादी नहीं है जैसा कि मैं पृष्ठभूमि 'क' में विस्तार सहित विचार कर चुका हूँ।

छायावाद की भावभूमि में इन यथार्थ-प्रतीकों का एक विशिष्ट स्थान है। इन प्रतीकों के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक, राष्ट्रीय एवं विश्व की दशाओं का अपरोक्ष संकेत प्राप्त हो जाता है। कवियों की चिंतना में भाव

१—परिमल, माया, पृ० ६८।

तथा यथार्थ का एक अद्भुत सम्मिश्रण प्राप्त होता है। इस दृष्टि से, यथार्थ प्रतीकों के द्वारा हम जीवन के वैषम्य एवं विषाद, रूढ़िवादिता के प्रति एक विद्रोह, फिर इन सब कलुषताओं से एक विप्लव तथा क्रान्ति की अंतर्दृष्टि जिसमें संहार एवं निर्माण की संभावनाएँ निहित हैं और अंत में मानव-चेतना के भावी विकास के प्रति एक आस्था—इन सभी दशाओं का प्रतीकों के द्वारा अध्ययन किया जा सकता है।

सामाजिक प्रतीक

जीवन के यथार्थ अंचल में विषमताओं तथा आपदाओं का स्थान एक तथ्य है। कवि जगत् की पीड़ा को देखकर अपने अंदर उस पीड़ा के साम्राज्य को बाह्य रूपों में अभिव्यक्त करता है। इस संसार में वसंत और पतझड़, अंधकार और प्रकाश, दिन और रात का चक्र अविराम गति से, एक ताल-बद्धता से, चला करता है। यही तो यथार्थ जगत् का सत्य है। पंत की 'परिवर्तन' कविता इसी यथार्थ जगत् के वैषम्य को अनेक प्रतीकात्मक माध्यमों से सामने रखती है। इन प्रतीकों के कुछ उदाहरण तात्विक प्रतीक योजनाओं में दिये जा चुके हैं। इस वैषम्य को देखकर कवि पंत सुख के सौरभ (मधुमास) को दुख (शिशिर) के शिशिर में सूनी साँस लेते हुए अनुभव करते हैं। जो डाली यौवन के भार से झुकी हुई थी वह अकिंचन हो सिहर उठती है।[1] यही हाल मानव जीवन का है जो सुख के वसंत में दुख की रेखा को देखता ही है। कहीं पर उलूकों के भग्न विहार हैं, तो कहीं पर झिल्लियों (स्मृतियों) की झंकार है।[2] इस प्रकार, पंत ने मानव जीवन की विभिन्न दशाओं का चित्रांकन प्रतीकों के द्वारा किया है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि इस जगत् के आघातों से यह मानव जीवन सदा जला ही करता है। इस जलन से जीवन की भूमि, तरु, आलबाल सब निर्जीव हो गए हैं। हृदय का गुंजन (आनन्द) ही मानो लुप्त हो गया है। कवि निराला के शब्दों में—

जला है जीवन, यह
आतप मे दीर्घकाल,
सूखी भूमि, सूखे तरु
सूखे सिक्त, आलबाल।

१—पल्लव, द्वारा पंत, परिवर्तन, पृ० ६६।

२—वही, पृ० ६८।

बन्द हुआ गूँज, धूमिल
धूसर हो गये कुंज,
किन्तु पड़ी व्योम उर
बन्धु, नील मेघ माल।[1]

लेकिन इन सब दुखों के कारण हृदय में स्मृतियों एवं विषादों की मेघमाला घर कर गई है। इसी से तो जीवन में अंधकार व्याप्त हो जाता है जिसमें दुख बार बार तड़पता रहता है। जीवन (नभ) में इस दुख के कारण काले काले धब्बे पड़ जाते हैं जो उसके भाग्य अंक हैं। इन्हीं भाग्य अंकों से एक माँ अपने मृत-शिशु पर केशों के अंधकार को रखती है। जगत् के इस दुख-दैन्य के कारण कवि को अपनी अश्रुधार भी भार रूप लगती है। इसी से तो उसके हृदय (नभ) में टीस (बिजली) का अनुभव होता है—

मेघों का यह मंडल अपार
जिसमें पड़ कर तम एक बार ही कर उठता है चीत्कार।[2]

इस सम्पूर्ण कविता में जगत् के दुख दैन्य से उद्भूत कवि के व्यक्तिगत उद्गार हैं जो समाज-सापेक्ष हैं। यही कारण है कि कवि के सामने वेदना का एक सबल रूप 'दीप' के प्रतीकार्थ में सुरक्षित है। दीप का जलना ही उसका निर्वाण है, जिस प्रकार जीवन का कष्टों में निरन्तर घुलना ही उसका निर्वाण है। प्राणों का यह तप ही तो जीवन की परिभाषा है। डा० वर्मा का सारा जीवन-दर्शन इसी तथ्य पर आश्रित है—

दीपक के जलते प्राणों की आशा बन कर घूम,
तम के गहरे पथ पर बढ़ कर रुक कर, झुककर, घूम—
कहाँ जा रही नभ की व्यापकता का ले अभिमान ?
क्या जल जाने के ही क्षण से निकला है निर्वाण ?[3]

परन्तु निराला के जीवन-दर्शन में विक्षोभजनित संवेदना का आग्रह कहीं अधिक है और वह भी एक तीखे व्यंग्य के साथ। यथार्थ जीवन के सामाजिक पहलू पर ही नहीं, पर राष्ट्र एवं देश के प्रति भी उनका यही दृष्टिकोण है। दीन-दुखियों के प्रति एक हार्दिक सहानुभूति है जो स्वयं उनका अपना जीवन है। ऐसा लगता है कि उनके प्रतीक समाज के रूप को स्वयं ही बोल देते

१—अनामिका, उक्ति, पृ० १६० ।
२—चित्ररेखा, द्वारा डा० वर्मा, पृ० २३ ।
३—आकाश गंगा, जीवन की परिभाषा, पृ० २५ ।

हैं। 'स्वप्न-स्मृति' कविता में दो छलछलाते हुए नेत्र समस्त दुखी आत्माओं के प्रतीक हैं जो भीतर से दमन तथा यातना से बुरी तरह से पस्त हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि वे अपने जीवन की अंतिम साँस छोड़ रहे हों। कवि का यह स्वप्न एक यथार्थ स्वप्न है—

> आँख लगी थी पल भर, देखा नेत्र छलछलाये दो
> आये आगे किसी अजाने दूर देश से चलकर
> भाव में कहते थे वे नेत्र निमेष विहीन—
> अंतिम श्वास छोड़ते जैसे थोड़े जल में मीन—
> 'हम अब न रहेंगे, यहाँ, आह संसार !
> मृगतृष्णा में व्यर्थ भटकना, केवल हाहाकार,
> तुम्हारा एकमात्र आधार,
> हमें दुख से मुक्त मिलेगी—हम इतने दुर्बल हैं—
> तुम कर दो एक प्रहार।[१]

ऐसी ही दुखी निर्बल आत्माएँ 'वे भिक्षुक' तथा 'वह पथ पर तोड़ती पत्थर' में भी हैं जिनकी ओर निराला ने संकेत किया है। उनकी 'दान' कविता एक ऐसा व्यंग्य है जिसमें सामाजिक विषमता एवं एक 'भिक्षुक' की असहाय दशा का चित्रण है। एक भिक्षुक को भूखा देख कर भी 'ब्राह्मण' स्नान करने के बाद, उसे दाने न देकर बंदरों को दे देता है और 'मानव' की भूख को वह क्षुधा नहीं समझता है। इस कविता में 'ब्राह्मण' पूँजीपतियो का प्रतीक है जो एक शोषित भिक्षुक को दाने भी नहीं देता है। कवि ने अंत में कहा—

> देखा भी नहीं उधर फिर कर
> जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर,
> चिल्लाया किया दूर दानव
> बोला मैं—धन्य श्रेष्ठ मानव।[२]

कवि एक सामाजिक प्राणी होने के नाते यथार्थ से मुँह नहीं मोड़ सकता है। वह यदि मधुरता की ओर उन्मुख होता है तो कलुषता भी उसे आकृष्ट करती है। कीट्स ने एक स्थान पर ठीक ही कहा है—

'मै स्वच्छ ऋतुओं में शोकपूर्ण मुखों को देखने में प्यार करता हूँ और

१—परिमल, स्वप्न स्मृति, पृ० १५६।

२—अनामिका दान, पृ० २५।

गर्जन के मध्य में सुखी हँसी को सुनना चाहता हूँ। मुझे रात्रि और दिवस दोनों को समान रूप से देखने दो और दोनों पर एक साथ लिखने दो।'[1] कीट्स का यह कथन छायावादी प्रतीकों के अध्ययन से पूर्ण मेल खाता है।

देश तथा राष्ट्र प्रतीक

इसी यथार्थ के प्रति एक सचेतन भावना के कारण कवि मानव समाज को एक अनन्त प्राचीर से आबद्ध पाता है। यदि प्राचीन रूढ़ियों का पालन नव-युगीन चेतना के प्रकाश में नहीं होता है तो उनके द्वारा वह समाज या राष्ट्र पंगु हो जाता है। इसे ही व्यक्त करने के लिए निराला ने 'कारा' को अपनाया है जिसे तोड़ने के लिए कवि कहता है। यह 'कारा' प्राचीन रूढ़ियो तथा परम्पराओं, मन पर पडे कुहासे तथा समाज की निद्रा का एक प्रतीक है। परन्तु यह कारा इतनी जटिल हो गयी है कि वह टूटे नहीं टूटती। तभी तो कवि 'पत्थर की कारा' तोडने को कहता है—

> तोड़ो तोड़ो, तोड़ो पत्थर की कारा
> निकले फिर गंगा जल धारा
> गृह गृह की पार्वती
> पुनः सत्य सुन्दर शिव को संवारती।[2]

जब यह कारा टूट जायगी तब ही नव-चेतना की गंगा धारा प्रवाहित हो सकेगी। तब पार्वती अपनी तपस्या से सुन्दर शिव का साक्षात्कार कर सकेगी। इसी 'कारा' के समान बहुधर्म रूढ़ियों का प्रतीक 'ताज' भी है जो अपनी स्थिरता में मानव को कलुषित चित्र बना देता है और शव (रूढ़ियाँ) को

१—I love to mark sad faces in
fair weather
And hear the merry laugh amid
the thunder.
Let me see, and let me write
Of the day and of the night
Both together.
पेयोटिकल वर्क्स आफ जान कीट्स, पृ० ५०२।

२—अनामिका, मुक्ति, पृ० १३७।

मानव का रूप प्रदान करता है। वह कैसा मृत्यु का अपार्थिव पूजन है? पंत ने ताज को माध्यम बनाकर इसी सत्य का प्रतिपादन किया है।[1]

इन अंध परम्पराओं एवं रूढ़ियों से देश या समाज की चेतना एक सघन 'ठूंठ' की तरह हो जाती है जिसमें उसकी सभी विगत कलाएँ, उसका वैभव सिसकी लेता हुआ प्रतीत होता है। जब देश पर इस प्रकार की कालिमा घर कर जाती है तब उस दशा में न वहाँ दो प्राणियों के अश्रु प्रवाहित होते हैं, न वसंत आगमन पर सुख होता है, केवल रह जाती है एक निराशा की विगत कल्पना जिसे कवि ने एक वृद्ध विहग के द्वारा व्यंजित किया है। देश की मृत आत्मा पर ऐसा ही 'विहग' न जाने कब से बैठा हुआ है—

> ठूँठ यह है आज, गई इसकी कला
> गया है सकल साज,
> अब वह वसंत से होता नहीं अधीर
> पल्लवित झुकता नहीं अब वह धनुप सा
> झरते नहीं यहाँ दो प्राणियों के नयन नीर
> केवल वृद्ध विहग एक बैठता कुछ याद कर।[2]

परन्तु क्या सब प्राचीनता त्याज्य है? निराला ने एक प्रतीक के द्वारा इस पर भी संकेत किया है। पुरातन का खंडहर निष्प्राण नहीं हो सकता है, यदि वह नवीन स्वप्नों को लेकर अपना विकास करे। पुरातन की आधारभूमि पर ही तो नवीन संस्कृति का प्रासाद निर्मित होता है। कवि ने खंडहर को ऐसी ही पुरातनता का प्रतीक बनाया है, जिसका वैभव लुप्त हो गया है, उसमें नवीन चेतना को भरना है।[3] इसी प्रकार, निराला की 'महाराज शिवाजी का पत्र' और प्रसाद की 'पेशोला की प्रतिध्वनि' भी देश की दयनीय दशा को समक्ष रखती हैं। आपसी वैमनस्य एवं फूट के कारण ही देश की दुर्दशा हो रही है। इस कारण उसकी मूल 'तरंग' पृष्ठभूमि में चली जा रही है और उसके स्थान पर विदेशी सत्ता की तरंग क्रमशः ऊपर आ रही है। कवि ने इस प्राकृतिक घटना का सहारा लेकर देश की सत्य स्थिति को अत्यन्त सुन्दरता से व्यक्त किया है। शिवाजी, जो हमारी राष्ट्रीय चेतना के आदर्श-प्रतीक हैं,

---

१—युगांत, द्वारा पंत, 'ताज', पृ० ४५।

२—अनामिका, द्वारा निराला, ठूँठ, पृ० १३६।

३—वही, खण्डहर के प्रति, पृ० २६–३०।

कवि चाहता है कि वह 'आदर्श' देश की नस-नस में व्याप्त हो जाय। छत्र-पति के वचन हमारे लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य करें—

कर्षण विकर्ष भाव जारी रहेगा यदि
इसी तरह आपस में—
निश्चय है वेग उन तरंगों का,
और घट जायगा……
क्षुद्र से क्षुद्रतर होकर मिट जायगी
चंचलता शांत होगी।
स्वप्न सा विलीन हो जायगा अस्तित्व सब,
दूसरी ही कोई तरंग फिर फैलेगी।[१]

इन सामाजिक, राष्ट्रीय एवं जनजीवन की दयनीय दशाओं को व्यक्त करने वाले प्रतीकों का ध्येय केवल उस दशा का दर्शनमात्र कराना नहीं है। परन्तु, इस काल के कवियों ने अपने प्रतीको के द्वारा उस 'दशा' से मुक्त होने की भी सुन्दर व्यंजना प्रस्तुत की है। किसी भी गिरी हुई दशा से ऊपर उठने के लिए तथा अपने गंतव्य तक पहुँचने के लिए साहस तथा गंतव्य के प्रति आस्था की आवश्यकता पड़ती है। व्यक्ति, संसार, बुद्धि, साहस, आशा के अन्योन्य सम्बन्ध व्यक्ति को गंगा रूपी संसार से पार ले जाकर उसे अपने गंतव्य तक पहुँचाते हैं। सत्य में, कवि पंत की 'नौका-विहार' कविता जीवन-संग्राम में विजयी होने का एक प्रतीकात्मक संदेश देती है। इसमें कवि का जीवन-दर्शन नितान्त प्रतीकों के द्वारा प्रकट हुआ है। इस लम्बी कविता में कवि ने जिन प्रतीकों की आयोजना की है वे यथार्थ जगत् के पक्ष को मानव जीवन की सापेक्षता में रखते हैं। इस दृष्टि से इस कविता में जिन प्रतीकों का प्रयोग हुआ है वे सब प्रकृति से ही ग्रहण किये गये हैं। गंगा का तन्वंगी रूप संसार के प्रवाह का प्रतीक है। उसकी धारा जगत् के क्रम का पर्याय है जिसमें कवि अपनी नाव (व्यक्ति का प्रतीक) लेकर चलता है। शशि-ज्योत्स्ना का प्रसार आशा का प्रतीक है जिससे नभ के ओर-छोर खिल उठते हैं। शुक्र जीवन में आने वाली निराशा का और कोक कोकी जीवन में दुख तथा वियोग के प्रतीक हैं। इन अनेक बाधाओं के होते हुए भी जब व्यक्ति अपनी बुद्धि तथा साहस की पतवार को घुमाता है तो उसकी जीवन नौका के चारों

१—परिमल, महाराज शिवाजी का पत्र, पृ० २२३।

ओर सहस्र तारागण और चंद्र (आशा) झिलमिला उठते है। उस समय सरिता का तीव्र प्रवाह उथला हो जाता है और लग्गी से (बुद्धि से) सरिता के थाह को लेते हुए एक जीवन-योद्धा क्रमशः उत्साह-सहित घाट (गंतव्य) की ओर अग्रसर होने लगता है। कवि अंत में कहता है कि—

पतवार घुमा, अब प्रतनु भार
नौका घूमी विपरीत धार ।
लहरों की लतिकाओं में खिल,
सौ सौ शशि, सौ सौ उड झिलमिल
फैले फूले जल में फेनिल ।
अब उथला सरिता का प्रवाह,
लग्गी से ले ले सहज थाह
हम बढ़े घाट को सहोत्साह ।[१]

कवि के मतानुसार यह नौका-विहार (जीवन-प्रवाह) एक शाश्वत सत्य है— 'शाश्वत जीवन नौका विहार' जिसमें व्यक्ति तथा समाज का एक घनिष्ठ सम्बन्ध भी ध्वनित होता है।

यह साहस ही किसी देश के भाग्य को बदल सकता है। परन्तु वीरता तथा बलिदान उस समय तक व्यर्थ होते हैं जब तक समाज में एकता नहीं होती है। यह एकता की शक्ति ही राष्ट्र की आत्मा है। इसी शक्ति से विप्लव तथा क्रान्ति भी सफल होती है। इस भावना पर छायावादी काव्य में अनेक सुन्दर प्रतीको की आयोजना प्राप्त होती है।

इस शक्ति को व्यक्त करने के लिए निराला ने शक्ति की उद्भावना एक पौराणिक आख्यान के द्वारा की है। राम रावण पर विजय प्राप्त करने के लिए 'शक्ति' की उद्भावना करते हैं। कवि ने इस कान्त-कल्पना में एक आवश्यक राष्ट्रीय तत्त्व की ओर संकेत किया है। राम रूपी जनता की विजय केवल मात्र एक संघटित 'शक्ति' के आवाहन से हो सकती है जो रावण रूपी विदेशी सत्ता को भस्मीभूत कर सकती है। स्पष्ट ही कवि का मंतव्य, इस प्रसंग के द्वारा, देश के अंदर शक्ति की क्रियात्मकता को जागरूक करना है, क्योंकि कवि के अनुसार 'शक्ति की मौलिक कल्पना' ही विजय का प्राण है—

१—गुंजन, द्वारा पंत, नौका विहार, पृ० १०१–१०४।

शक्ति की करो मौलिक कल्पना,
करो पूजन छोड़ दो समर
जब तक न सिद्धि हो, रघुनंदन।[1]

समर में कूदने के प्रथम अपनी शक्ति को समुचित प्रकार से देख लेना आवश्यक है। तभी तो कवि ने 'करो पूजन, छोड़ दो समर।' के द्वारा शक्ति के सत्य स्वरूप का चित्रांकन किया है। जब राष्ट्र में मौलिक शक्ति का वास हो जायगा, तब जय क्यों न होगी? स्वयं दुर्गा (शक्ति) के शब्दों में—

होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन।
कह महाशक्ति राम के बदन में हुई लीन।[2]

इसी मौलिक शक्ति के उद्भव से एक धारा में भी इतनी शक्ति आ जाती है कि वह कुंजर तथा भूधर को भी विचलित कर दे। इसी शक्ति के कारण चट्टान भी चट्टान है जो अनेक आघातों में भी निर्भीक खड़ी रहती है। यह चट्टान किसी देश अथवा व्यक्ति की वह शक्ति है जो उसे जीवन संघर्ष में तथा वाह्य आघातों में खड़े रहने का संकेत करती है। किसी भी देश के भावी भाग्य के लिए यह चट्टान का रूप उसका सर्वस्व है। डा० रामकुमार की 'चट्टान' कविता इसी तथ्य पर आश्रित है। यह प्रतीक उस स्थिति का भी द्योतक है जब व्यक्ति विपत्तियों के आघात से निश्चल रहता है—

चट्टान खड़ी है आदि सृष्टि
निर्माण देश भीषण स्वतंत्र
वर्षाओं के आघात, बीच में खड़ी हुई निर्भीक भ्रांत।[3]

इसी शक्ति पर तो क्रान्ति के तथा विप्लव के मेघ उमड़ घुमड़ कर अवरोधात्मक शक्तियों को नष्ट भ्रष्ट कर देते हैं। प्राचीन रूढ़ियों, परम्पराओं तथा साम्राज्य-वाद को हिला देने वाली शक्ति का प्रतीक यह विप्लव का मेघ है जिसे निराला की प्रसिद्धतम कविता 'बादल राग' व्यक्त करती है। निराला का 'बादल' जहाँ एक ओर विध्वंसात्मक शक्ति का प्रतीक है, वहीं वह सृजनात्मक शक्ति का भी प्रतीक है। पंत का बादल भी इन दोनों शक्तियों का प्रतीक है, पर साथ ही वह 'मेघदूत की सजल कल्पना' भी है। डा० रामकुमार का बादल

१—अनामिका, पृ० १५६ 'राम की शक्ति पूजा'
२—वही, पृ० १६५।
३—आकाशगंगा, चट्टान, पृ० ७२।

भी इन्हीं शक्तियों का समष्टि रूप है, पर इसके साथ-साथ वह उनके प्रियतम के मधुर बोल का भी सूचक है। परन्तु जहाँ तक राष्ट्रीय तथा मानवीय चेतना का प्रश्न है, उसका 'शक्तिरूप' ही मान्य है। निराला का बादल विप्लव का प्रतीक है जो अटूट पर छूट टूट पड़ने वाला उन्माद है और—

> ओ बिखेर, मुँह फेर, कली के निष्ठुर पीड़न,
> छिन्न भिन्न कर पत्र पुष्प-पादप-वन उपवन,
> वज्र घोष से ए प्रचंड ! आतंक जमानेवाले
> भय के मायामय आँगन में गरजो विप्लव के नव जलधर।[1]

पन्त का विप्लव रूप बादल भी यही व्यक्त करता है—

> कभी अचानक भूतों का सा,
> प्रकटा विकट महा आकार।
> कड़क-कड़क कर जब हँसते हम सब
> थर्रा उठता है संसार।[2]

इन उदाहरणों में बादल, यदि पौराणिक शब्दावली में कहें, तो शिव तथा विष्णु की मिश्रित अभिव्यक्ति है। शेली का 'प्रभंजन' भी संहार तथा स्थिति दोनों का प्रतीक है।[3]

निराला, पन्त, रामकुमार सभी ने बादल को इन दो शक्तियों का प्रतीक बना कर यह घोषित किया है कि क्रान्ति जहाँ एक ओर संहार करती है, वहीं वह अपनी नवचेतना से सृजन तथा समरसता को भी लाती है।

इस प्रकार क्रान्ति की भावना शेली तथा वर्ड्सवर्थ में वही स्थान रखती है जो पन्त तथा निराला में। इस भावना में भी दोनों वर्गों में एक अंतर है। निराला, पंत की क्रान्ति-भावना देश की दासता से उद्भूत है जब कि आंग्ल कवियों में इसका प्रश्न ही नहीं है। इस दृष्टि से दोनों कवियों में भावना

१—परिमल, बादल राग पृ० १७८।

२—पल्लव, बादल, पृ० ७७।

३—Wild spirit, Which art moving
everywhere ;
Destroyer and preserver ,
hear O hear.
पेयोटिकल वर्क्स आफ शेली, पृ० २३६।

तथा संवेदना का एक विशेष अंतर है। अतः डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा का यह कथन कि 'पन्त तथा निराला की क्रान्ति-भावना शेली की तरह है।'[1] केवल एकपक्षीय सत्य है। दोनों में परिस्थितिजन्य, भावजन्य तथा विद्रोहजन्य सूक्ष्म अतर है जो धरातल पर दृष्टिगत नहीं होता है। निराला की क्रान्तिभावना एक अन्य प्रभाव से भी शासित है, वह है स्वामी विवेकानंद का प्रभाव। इस प्रभाव के कारण निराला का विद्रोहात्मक आदर्शवाद एक प्राञ्जल रूप में मुखर हो सका है। यह रूप उनके एक अन्य प्रतीक 'श्यामा' में प्रकट हुआ है, जो धार्मिक सदर्भ में क्रान्ति का प्रतीक है, जिसका साम्य शिव का ताण्डव नृत्य है। श्यामा की भावना उन्हें स्वामी विवेकानन्द से ही मिली थी। कवि इसी क्रान्ति तथा विप्लव के द्वारा भारतीय जनता में जागरण-ज्योति भरना चाहता है। तभी, वह मुक्त कंठ से 'जागो फिर एक बार' की घोषणा करता है और समर में प्राणों के अमर करने की बात कहता है। निराला की यह कविता प्राकृतिक व्यापारों के द्वारा जागरण की व्यंजना प्रस्तुत करती है।[2] वह आवाहन करता है कि शेरों की मॉद में यह कौन विदेशी स्यार घुस आया है—

समर में अमर कर प्राण.........
शेरों की मांद में आया है आज स्यार
जागो फिर एक बार।[3]

कवि का मानस-लोक केवल अपने ही देश तथा राष्ट्र तक सीमित नही होता है। वह तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी पदार्पण करता है। छायावाद में अनेक ऐसे प्रतीकात्मक सँदर्भों की योजना प्राप्त होती है जो मानवतावादी दृष्टिकोण को प्रश्रय देती है। इस दिशा में पन्त का स्थान सर्वोच्च है। निराला तथा डा० रामकुमार में भी इनका विकास मिल जाता है पर वह पन्त की तरह (प्रतीक की दृष्टि से) स्पष्ट नहीं है। पन्त के मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रतीकात्मक विकास युगान्त से स्पष्ट होने लगता है जो स्वर्णधूलि, स्वर्ण-किरण आदि में अपने उच्चतम रूप में प्राप्त होता है। मानवतावादी चेतना को स्फुरित करने के लिए कवि के सामने सबसे प्रथम विगत युगों की रूढ़ि परम्पराओं का, अनेक अंधविश्वासों का 'ह्रास' अत्यन्त आवश्यक है। इसे

१—हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव, पृ० १२५।
२—परिमल, जागो फिर एक बार, पृ० २००-२०१।
३—वही, पृ० २०२-२०३।

व्यंजित करने के लिए उसने 'ताज' को भी प्रतीक बनाया है [1]। वह चाहता है कि सबसे प्रथम जग के जीर्ण पत्रों (रूढ़ियों आदि) का निःपतन हो जिससे नवजीवन की चेतना अपना विकास कर सके। वह कहता है—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,
हे त्रस्त ध्वस्त ! हे शुष्क शीर्ण।
निष्प्राण विगत युग ! मृत विहंग,
जग नीड़ शब्द औ श्वासहीन।
च्युत अस्तव्यस्त पंखों से तुम
झर-झर अनंत में हो विलीन।[2]

ये जीर्ण-पत्र विगत प्राणहीन युग ही हैं जिन्होंने मानवीय चेतना को निष्प्राण कर दिया है। इसी कारण कवि यह आवश्यक समझता है कि जगती में नव मधु का प्रभात (सुख का प्रभात) लाने के लिए विगत रूढ़ियों का ह्रास आवश्यक है। वह विगत युग को 'मैं' के द्वारा व्यक्त करता है—

मैं झरता जीवन डाली से, साह्लाद शिशिर का शीर्ण पात।
फिर से जगती के कानन में, आ जाता नव मधु का प्रभात।[3]

तभी प्रसाद का 'अब जागो जीवन के प्रभात' भी साकार हो सकता है जिससे रजनी (अंधकार अज्ञान) की लाज को समेटा जा सकता है।[4] इसी प्रभात का आवाहन करने के लिए कवि का कोकिल-कंठ भी अपने स्वर में कंपन भर रहा है जिससे पल्लव, तन नव रुधिर से और जग नव्य जीवन से ओतप्रोत हो जाय। एक नवीन सृजनात्मक शक्ति का सर्वत्र उदय हो जाय।[5] निराला का 'पार कर आये हे नूतन' भी नवचेतना का प्रतीक है। यह नूतन का आगमन जगजीवन में वसंत (सुख आनंद) को सौंदर्य के सहित अवतीर्ण कर सकेगा। तभी समस्त जगत् के फाल्गुन का सूनापन भी तिरोहित हो सकेगा। उस समय नवचेतना रूपी वसंत का आगमन सम्भव होगा—

चंचल पग दीप शिखा से घर,
गृह मग बन में आया बसंत।

१—देखो पीछे इसी उपखड में।
२—युगांत, द्वारा पंत, पृ० १-२।
३—युगांत, द्वारा पंत, पृ० ६।
४—लहर, पृ० २२।
५—युगांत, पृ० ४।

सुलगा फाल्गुन का सूनापन,
सौंदर्य शिखाओं में अनंत।[१]

पतझड़ का कृश-तन (दुख) भी अब वसंत की शीतल हरीतिमा की ज्वाला से पुलकित हो रहा है। यह सब क्यों हो रहा है? यह इसलिए कि 'नव चेतना' का मानव जीवन में उदय हो रहा है। कवि पन्त ने इसी से नव-चेतना को, उसकी परम दीप्ति को स्वर्णातप का प्रतीक बनाया है जो भूधरों (जग शिखरों) को स्वर्णमय कर रहा है—

वे डूब गये, सब डूब गये,
दुर्दम उदग्रशिर अद्रि-शिखर।
स्वप्नस्थ हुए स्वर्णातप में,
लो, स्वर्ण स्वर्ण सब भूधर।[२]

इसी नवचेतना को कवि ने 'तारों के नभ'[३] तथा 'नव युग'[४] के द्वारा भी व्यंजित किया है। एक अन्य स्थान पर वह नवचेतना को 'नव हे' भी कहता है जिसे वह जीवन वैभव के रूप में देखता है।[५]

इस नव-चेतना को कवि सौंदर्य तत्त्व से भी समन्वित देखना चाहता है। तभी तो वह नव जीवन की चेतना को अंतरतम का सृजन भी कहता है। उसे यह आंतरिक सौदर्य वाह्य जगत् में प्राप्त न हो सका। चेतना केवल वाह्य रूप में ही अभिव्यक्त नहीं होती है, पर वह अंतर के प्रकाश में भी प्रसारित होती है। अंतर की चेतना भावी मानव को एक नव सृष्टि की ओर उन्मुख कर सकेगी, ऐसा पंत का विश्वास है। वह अन्तर्वाह्य के समन्वित आधारभूमि पर अपनी जग चेतना को सौंदर्यमय रूप में मुखरित देखना चाहते हैं—

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल,
भावी मानव के हित, भीतर।
सौंदर्य स्नेह उल्लास मुझे,
मिल सका नहीं जग में बहार।[६]

१—वही, स्वागत, पृ० ११८।
२—युगांत पृ० १२।
३—वही, पृ० १३।
४—वही, पृ० १८।
५—वही, पृ० २६।
६—वही, पृ० २८।

वह इसी से अपने को जीवन धन की ओर अप्रत्यक्ष रूप से समस्त जग को 'छबि के नव बंधन से बाँधना' चाहते हैं। यह 'छवि' सौदर्य-चेतना की ही प्रतीक है जो कवि का सर्वस्व है। इसी छवि से वह समस्त मानवता को एक सूत्र में अनुस्यूत करना चाहते हैं—

बांधो, बांधोऽ, छबि के नव बंधन बाँधो।
बाँधो जलनिधि लघु जलकण में
महाकाल के कवलित क्षण में
फिर-फिर अपनेपन की मुझमें
चिर जीवन-धन बाँधों।[1]

(झ) जीवन दर्शन तथा निष्कर्ष

उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रतीक योजनाओं के 'विहंगम' विश्लेषण से छायावादी काव्य का जीवन-दर्शन अपने स्वस्थ स्वरूप में लक्षित होता है। कवियों की साधना में जीवन की आराधना ही प्रतिध्वनित होती है, कभी वह भावपरक हो जाती है तो कभी संवेदनापरक। छायावादी प्रतीकों मे जीवन की आराधना अनेक रूपो में अभिव्यक्ति को प्राप्त हुई है। कही वह रहस्यात्मक अन्तर्दृष्टि के आवरण में है, तो कही वह प्रेम भावना की प्राजलता मे है। कही वह रूप की आसक्ति में सौंदर्यपरक हो गई है, तो कही प्रकृति के विशाल प्रांगण से एकीभूत हो गई है। अन्त में, कहीं पर यथार्थ जन-जीवन के दुःखो में घुलमिल गई है, तो कहीं मानवता की विशाल बाहुओं में सिमट कर केंद्रीभूत हो गई है। इन क्षेत्रो के समस्त प्रतीको में कवियों के जीवन-दर्शन का स्पंदन भरा हुआ है। उनकी भावलहरियों ने जिस जगत् का निर्माण किया, वह यथार्थ जीवन से गृहीत आदर्श का एक सुन्दर जगत् ही है। इस जगत् के निर्माण में उन्हें अनेक दिशाओं से स्फूर्ति-तत्त्व प्राप्त हुए जिन्हें भावनानुसार उन्होंने तिल तन्दुल रूप में एकीभूत कर दिया। इन समस्त प्रभावों एवं अपनी चिन्तना के आधार पर ही उनका जीवनदर्शन एक उन्नत रूप में प्राप्त होता है।

कवि का मानस-लोक किसी न किसी रूप में रहस्यात्मक हो उठता है जो उसके जीवन-दर्शन को आन्तरिक स्थिरता देता है। छायावाद में रहस्यभावना तथा आध्यात्मिकता को इसी रूप में ग्रहण किया गया है।

१—वही, पृ० ३२।

जीवन के संघर्ष तथा आघातों से उद्‌भूत जिस अन्तर्दृष्टि का संकेत प्रथम ही किया जा चुका है[१] वह सत्य में, जीवन के प्रति एक आस्था को ही सामने रखता है। रहस्यभावना जीवन की आस्था को परमतत्त्व की अनुभूति की सापेक्षता में रखती है। छायावाद के रहस्य-प्रतीकों में रहस्यात्मक जीवन-दर्शन का यहीं रूप दृष्टिगत होता है। स्वामी विवेकानन्द का रहस्य-दर्शन भी इसी तथ्य पर आश्रित है जिसने निराला की रहस्य-भावना को पूर्णतया नियन्त्रित किया है। प्रसाद की रहस्यभावना में भी जो करुण तथा प्रेम भावों की अन्विति प्राप्त होती है, वह भी इसी तथ्य पर आश्रित है। प्रकृतिगत रहस्य-भावना (पंत में) में जीवन-दर्शन का क्या स्वरूप है, इस पर भी विचार अपेक्षित है। प्रकृति से तादात्म्य की अनुभूति एक ऐसे जीवन की ओर संकेत करती है जिसमें मानव-जीवन और प्रकृति का सामरस्य ध्वनित होता है। प्रकृति के प्रति यह दृष्टिकोण मानव-जीवन में परमसत्ता या क्रियात्मक शक्ति को मधुरिमा से भर देता है। 'कौन' को प्राप्त करने के लिए ही मानव-जीवन निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। मानव-अन्तर के दो पक्ष होते हैं—एक वह जो उसे आन्तरिक लालसा की ओर आकृष्ट करता है और दूसरा वह जो उसे बाह्य प्रकृति की ओर उन्मुख करता है। परन्तु मानव का जीवन-दर्शन इन दोनों क्षेत्रों को एक साथ ले कर चलता है। छायावादी रहस्यप्रतीकों में इन दोनों क्षेत्रों को 'अनुभूति' की 'छाया' में एकरस कर दिया गया है। पंत, रामकुमार तथा निराला का जीवन-दर्शन रहस्यभावना को इसी रूप में स्वीकार करता हुआ अन्त में इसी निष्कर्ष को सामने रखता है कि विश्व की मूल प्रकृति आध्यात्मिक अथवा आदर्शयुक्त है। अंग्रेजी रोमांटिक कवि शेली ने भी विश्व के रहस्य को आध्यात्मिक और आदर्शमय ही माना है। परन्तु उसका यह आदर्श बौद्धिक अधिक है।[२] छायावादी कवियों में यह आदर्श बुद्धि तथा संवेदना की मिश्रित आधारशिला पर प्रतिष्ठित है। इस आध्यात्मिक आदर्शवाद के कारण कवियों के 'ईश्वर' ने इस विश्व में फिर से ईश्वर की प्राप्ति की है। वर्ड्सवर्थ की भाँति छाया-वादी कवियों ने ईश्वर का साक्षात्कार 'ईश्वर' के एक प्रतिरूप के द्वारा इसी विश्व में किया है।[३] वह जीवन का ईश्वर है न कि किसी धर्म या सम्प्रदाय

१—दे० उपखंड "ख" में।

२—द कान्सेप्ट आफ नेचर इन नाइनटीयथ सेन्चुरी इंगलिश पेयोटिरी, पृ० २६६।

३—स्टडीज इन कीट्स, द्वारा जे० एम० म्यूरी, पृ० १३४।

का। यही कारण है कि छायावादी कवियों में विभिन्न धार्मिक मतवादों का प्रभाव होते हुए भी वे उसकी प्राचीरों में आबद्ध न हो सके। उनकी रहस्य-भावना स्वच्छंद है, उसमें पक्षी की तरह एक उन्मुक्त उड़ान है, पर वह उड़ान भी सीमित है, जगत् के अन्दर है।

इस प्रकार उनकी रहस्य-भावना में भी जीवन के प्रति एक प्रेम तथा आस्था के दर्शन होते हैं। छायावादी काव्य का मूल जीवन-दर्शन प्रेम तथा सौंदर्य की मिलित अभिव्यक्ति पर आश्रित है। प्रेम तथा सौंदर्य-प्रतीकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उनका जीवन-दर्शन इन दोनों तत्त्वों से इस तरह अनुप्राणित है कि 'प्रेम' को ही उन्होंने जीवन का 'मधु' माना है। इसी प्रेम पर उन्हें पूर्ण विश्वास है। जीवन को पूर्ण बनाने के लिए उसके अंतर के तारों को इसी प्रेम-भाव के द्वारा झंकृत किया जा सकता है। पंत का तो यही कथन है—

जीवन के अन्तस्तल में निज डूब-डूब रे नाविक।[1]

यह अंतस्तल ही प्रेम तथा आस्था से जाना जा सकता है। प्रसाद का सम्पूर्ण व्यक्तित्व इसी प्रेम को न प्राप्त कर कह उठता है कि मुझे प्यार ही नहीं मिला है। इसी 'प्यार' को पाने के लिए, प्रकृति, मानव तथा जगत्— सब में कवि एक प्रेम-सत्ता का अनुभव करता है। इसे ही हम 'प्लेटानिक प्रेम' कहते हैं। यह प्रेम भौतिक तथा अभौतिक दोनों पक्षों के समन्वय पर आश्रित है। प्रतीक की दृष्टि से उनका प्रेम लौकिक माध्यमों में व्यक्त होते हुए भी उसके 'दिव्य' रूप को ही मुखर करता है। इस प्रकार प्रेम को उन्होंने जीवन-दर्शन के तौर पर ही ग्रहण किया है।[2]

प्रेम तथा सौंदर्य की प्रतीक—उनका समष्टि रूप 'छायावाद' की नारी-भावना है। वैसे तो सौंदर्य-सत्ता का स्पंदन उन्होने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनुभव किया है, और उसी सौंदर्यानुभूति को जीवन का एक सक्रियात्मक तत्त्व माना है। पंत, प्रसाद तथा रामकुमार की नारी-भावना मूलतः इसी तथ्य पर आश्रित है। उनका 'सुन्दर' भी इसी भाव को लेकर विकसित हुआ है। पंत की अप्सरा, देवि, प्राण, सहचरि, माँ तथा दूसरी ओर निराला की नर्गिस, श्यामा और अनेक प्राकृतिक पदार्थ (यथा जुही, शेफालिका) सौंदर्य की

१—सुमित्रानन्दन पंत, द्वारा डा० नगेन्द्र, पृ० ३४।

२—इसका विवेचन पृष्ठभूमि 'क' में हो चुका है।

अभिव्यंजना में ही सहायक होती हैं। यही नहीं, प्रकृति का नारी रूप एक सौदर्यानुभूति का ही सुन्दर विस्तार कहा जा सकता है। इस प्रकार नारी को एक स्वर्गिक सत्ता अथवा अप्सरा का रूप देकर छायावादी कवियों ने उसे वासनापरक तथा लौकिक भावभूमियों से ऊपर उठाकर एक प्रकार से उसका उन्नयन या उदात्तीकरण ही किया है। यही प्रवृति शैली में भी प्राप्त होती है। उसमें नारी एक स्वर्गिक वीनस के रूप में प्रेम तथा सौंदर्य के रूप में और यहाँ तक कि मानवीय 'मन' में इन तत्त्वों की प्रतिरूपता में ही ग्रहीत हुई है।[1] इन सभी नारी रूपों में रवीन्द्र की उर्वशी अपनी सत्ता जमाये हुए है और पाश्चात्य काव्य में होमर के एफ्रोडाइट एवं हरमीज़ का भी वही स्थान है। इस विश्लेषण से सौदर्य-भावना का एक उन्नायक रूप ही छायावादी काव्य में प्राप्त होता है। उसमें भाव-सौंदर्य के साथ-साथ जीवन का सौंदर्य भी निहित है। कवि का ध्येय इसी स्वर्गिक सौंदर्य तथा प्रेम को मानव जीवन में चरितार्थ करना है। तभी तो कवि पंत की अभिलाषा है कि—

सुन्दर से नित सुन्दरतर,
सुन्दरतर से सुन्दरतम।
सुन्दर जीवन का क्रम रे,
सुन्दर सुन्दर जग जीवन।[2]

इसी सुन्दर जीवन को कवि समस्त मानवीय क्रियाओं एवं क्षेत्रों में व्याप्त देखना चाहता है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि सौंदर्य तथा प्रेम भी एक 'मूल्य' है, यदि हम उसे जीवन-सापेक्ष दृष्टि से ग्रहण करें। इसी दृष्टि से हम छाया-वादी प्रेम तथा सौंदर्य को जीवन-दर्शन के सहायक तत्त्वों में समाहित कर सकते हैं।

इस प्रकार जीवन-दर्शन की एक विस्तृत भावभूमि छायावादी काव्य की प्रमुखता है। कवियों ने जीवन को एक 'पूर्ण इकाई' की तरह ग्रहण किया है। जीवन के यथार्थ पक्ष, उसके आदर्श पक्ष तथा उसके सौंदर्य पक्ष की एक साथ अन्विति उन्होंने अपने काव्य-प्रतीकों के द्वारा प्रस्तुत की है। यहाँ तक कि उन्होने जीवन के यथार्थ पक्ष को भी केवल सीमित क्षेत्र में आबद्ध नहीं रखा। उसे समाज, जाति, राष्ट्र और मानवता के क्रमिक आयामों में साकार

१—माइथियालोजी एंड रोमांटिक ट्रेडीशन इन इंगलिश प्योटरी, द्वारा डागलस बुश, पृ० १३६।

२—गुंजन, पृ० २१।

रूप दिया। उनका यथार्थ आदर्श का पोषक था और उन्होंने अपने आदर्श भाव को यथार्थ-जीवन में पूर्ण रूपांतरित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने पाश्चात्य जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के आध्यात्म-प्रकाश को भरकर उसे एक नव-समन्वित रूप में सामने रखा है। पन्त में यह प्रवृत्ति अत्यन्त मुखर है। उन्होंने वैदिक 'वाद' को पाश्चात्य 'जड़वाद' से इस प्रकार समन्वित किया है कि उनके अनेक प्रतीक इस समन्वित भावभूमि को एक सबल रूप में समक्ष रखते हैं। पन्त ने 'बापू के प्रति' कविता में 'बापू' को इस समन्वित भूमि का प्रतीक ही माना है। बापू ने अपने आत्म-बल से जड़वाद में स्फूर्ति को फूँका है—

मथ सूक्ष्म स्थूल जग, बोले—
मानव मानवता का विधान।[1]

जीवन को उन्होंने विपरीत तत्त्वों का रंग-स्थल ही माना है। जहाँ दुख है वहाँ सुख भी, उत्थान है तो पतन भी, प्रेम है तो घृणा भी। जीवन की 'पूर्ण इकाई' में ये सब इकाईयाँ ही हैं जिन पर मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। जीवन के इन विपरीत तत्त्वो में उन्होंने जीवन के 'सत्य' को नहीं खोया है। दुख सुख आदि से परे जीवन का एक अपना 'सत्य' है जो जीवन को निराशा से बचा कर आशा की ओर उन्मुख करता है। इसी दुख तथा विषाद के कारण मानव प्रेम, दया और क्षमा की अपेक्षा रखता है जो उसे जीवन-संघर्ष मे बल देता है। पन्त ने इस तथ्य को अपने काव्य का एक अंग बनाया है। उन्होंने जीवन की एक समस्या का समाधान इस प्रकार किया है—

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार।
दीन दुर्बल है रे संसार,
इसी से दया क्षमा औ' प्यार।[2]

जीवन में संघर्ष एक सत्य है। इस संघर्ष के साथ परिवर्तन भी सत्य है। परिवर्तन के साथ मानव की इच्छा शक्ति भी सत्य है जो उन सब पर विजय प्राप्त कर जीवन को गति प्रदान करती है। इसी आशा की गति को जीवन में साकार करना ही छायावादी कवियों का ध्येय है। सांध्य-गगन, अंधकार,

---

१—युगांत, बापू के प्रति, पृ० ६०।

२—पल्लव, परिवर्तन, पृ० १०८।

रजनी, इंद्रधनुष आदि जो जीवन के निराशापरक तत्त्व हैं (प्रतीक रूप में) उनमें भी आशा, उत्साह की रेखा खींचना ही जीवन का एक गतिवान सत्य है। यही जीवन की परिभाषा है जो उसे यथार्थ में भी 'आदर्श' की भावना देता है। यही मानव का अपना चित्र है जो शशि-सज्जित लहरों में जीवन का चिर संगीत सजाता है—

मैं अपना ही चित्र बनाऊँ।
शशि सज्जित लहरों में जीवन का मैं चिर संगीत सजाऊँ।[1]

जीवन में यह 'संगीत' ही समरसता का प्रतीक है जो जीवन के अंधकार में भी प्रकाश देता है, उसमें माधुर्य भरता है। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि छायावादी काव्य का जीवन-दर्शन दृष्टिगत न होकर अन्तरगत है। समस्त विवेचन का यही निष्कर्ष निकलता है कि उनका सामाजिक दर्शन भी अन्तर से ही अधिक सम्बन्धित है और 'मानस' की गहराई को उन्होंने जीवन के प्रत्येक अग प्रत्यग में अनुसंधान करने का प्रयत्न किया है।

१—आकाश गंगा, दो चित्र, पृ० ३०।

उपसंहार

हिन्दी काव्य में 'प्रतीकवाद' के अनुशीलन से उसके उस स्वरूप का आभास प्राप्त होता है जिसमें दर्शन, धर्म, पुराण और सौंदर्य तत्त्व के विभिन्न आयामों का समाहार न्यूनाधिक रूप में मिलता है। संतकाव्य से लेकर कृष्ण-भक्ति-काव्य तक धर्म तथा पुराण का एक स्वस्थ दार्शनिक स्वरूप दृष्टिगत होता है। रीतिकाल में पौराणिकता का आग्रह तो अवश्य है, पर वह आग्रह लौकिक क्षेत्र में शोभा, सुख तथा आनंद के उदात्त स्वरूप को प्रकट करने में समर्थ है। यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें, तो काव्य में यह लौकिक पक्ष अनेकानेक दिशाओं में रीतिकालोत्तर काव्यों में विकसित प्राप्त होता है। उसकी एक बलवती परम्परा प्रगतिवादी काव्य में दृष्टिगत होती है जिसके 'प्रतीक' मनोविश्लेषण एवं यथार्थ के चतुर्मुखी आयामों को स्पर्श करते हैं। परन्तु प्रतीक-दर्शन की दृष्टि से हिन्दी काव्य का एक अन्य पक्ष 'रहस्यवाद' है जिसमें 'प्रतीकवाद' अपने उच्चतम रूप में सम्मुख आता है। संतकाव्य की भावधारा का हृदयंगम करते हुए छायावादी तथा रहस्यवादी काव्यों में प्रतीक-दर्शन का एक सुंदर विकास प्राप्त होता है। इस काव्य में पाश्चात्य विचारधारा का, सूफी प्रेम साधना का और भारतीय दर्शन का अनुभूतिजन्य तथा भावजन्य समन्वय प्राप्त होता है।

इस उपसंहार के विहंगम रूप से यह दृष्टिगोचर होता है कि हिन्दी काव्य की विशाल भावभूमि में (१६००-१६४०) प्रतीक-दर्शन का विकास क्रमागत रूप में प्राप्त होता है। उसका स्वरूप किसी काल में विकसित, किसी काल में उससे अपेक्षाकृत कम विकसित रूपों में प्राप्त होता है। इस दृष्टि से प्रतीक-योजना के प्रकाश में इस प्रबंध के विभिन्न विभाजित 'कालों' में प्रतीक की स्थिति को निम्न चित्र के द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है जो प्रत्येक काल के 'प्रतीकवाद' के विकास-क्रम को स्पष्ट करने में सहायक होता है—

प्रतीक कोटियाँ—ता० = तात्त्विक, धा० = धार्मिक, न० = नीति; प्रे० = प्रेम, शृ० = शृंगार, य० = यथार्थ; मा० = मानस, रू० = रूप; '२"...एक कोटि
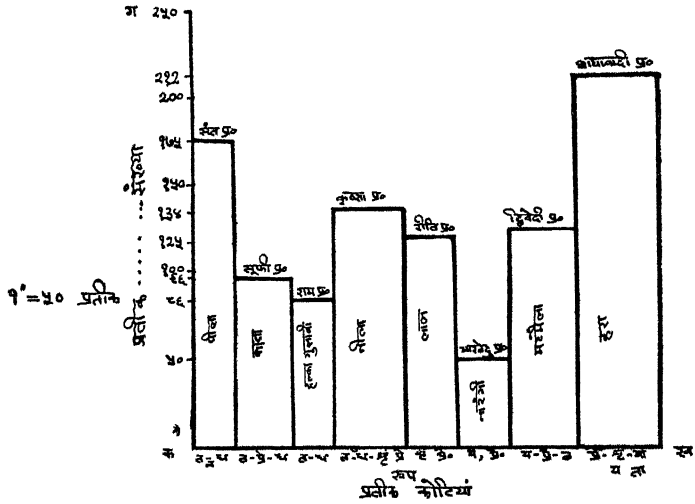
हिंदी काव्य में 'प्रतीकवाद' के अनेक प्रकार प्राप्त होते हैं जिन्हें कवियों ने अपनी भावाभिव्यंजना का माध्यम बनाया है। काव्य के क्षेत्र में इन सभी प्रकारों का न्यूनाधिक प्रयोग होता रहा है। भाषा की व्यंजना-शक्ति, उसकी लाक्षणिकता एवं उसकी भावभंगिमा का स्पष्ट आग्रह काव्य-प्रतीकों में लक्षित होता है। संतकाव्य से लेकर कृष्ण-काव्य तक प्रतीकों का मूलतः तात्त्विक महत्त्व है जिसमें पौराणिकता तथा दार्शनिकता का समन्वित आग्रह है। रीतिकाव्य में मूलतः परम्परा तथा 'नवीन' प्रतीकों का चयन लौकिक भावभूमि में प्राप्त होता है। अतः इस काल के प्रतीकों को रीति-प्रतीक के अन्तर्गत रख सकते हैं। भारतेन्दु तथा स्वच्छंदवादी काव्य में प्रतीकों का स्वरूप मूलतः लाक्षणिक है जिसमें यथार्थ का आग्रह अधिक है। छायावादी काव्य में आते-आते प्रतीकों का व्यंजनात्मक स्वरूप अपनी उच्चतम अभिव्यक्ति में प्राप्त होता है। इन प्रतीक-प्रकारों के अतिरिक्त हिन्दी काव्य में अनेक प्रतीकात्मक संदर्भ भी प्राप्त होते हैं। वे संदर्भ पौराणिक या लौकिक कथाओं के द्वारा किसी प्रतीकार्थ को व्यंजित करते हैं। रामकथा, कृष्णलीलाएँ, सूफ़ी प्रेमाख्यान तथा अनेक लौकिक (ऐतिहासिक भी) तथा धार्मिक प्रसंगों को प्रतीकात्मक संदर्भ में अवतीर्ण किया गया है।

हिन्दी काव्य में प्रतीक-दर्शन मुख्यतः समन्वयात्मक है। संतों से लेकर आधुनिक समय तक इस समन्वय की रूपरेखा अत्यन्त स्पष्ट है। ज्ञान के विविध क्षेत्रों का एक अनुभूति तथा भावजन्य स्वरूप हिंदी प्रतीकों की पृष्ठभूमि में प्राप्त होता है। इसका सबसे सुंदर रूप संतों के शब्द-प्रतीकों की परम्परा में द्रष्टव्य है। निरंजन, सहज, सुरति, मुद्रा, जोगिनी, पद्मिनी, खसम आदि ऐसे ही शब्द-प्रतीक हैं जिनमें प्रत्येक काल के कवियों की समन्वयात्मक एवं सार ग्रहण की प्रवृत्ति दर्शित होती है। दूसरे शब्दो में इन शब्दो का हिन्दी काव्य में अर्थ-विस्तार ही सम्भव हो सका। समन्वय एवं विश्लेषण की इस प्रवृत्ति का सुन्दर रूप आदर्श-चरित्रों के प्रतीकार्थ-विकास में भी देखा जा सकता है। कृष्ण, राम, सीता, राधा तथा अनेक ऐतिहासिक एवं पौराणिक व्यक्तियों के अर्थ में समयानुसार अनेक नव अर्थ-तत्त्वों का समाहार भी होता रहा। यही नहीं, स्वच्छन्दवादी तथा छायावादी काव्यों में इन चरित्रों को राष्ट्रीय तथा सामाजिक भावभूमि का प्रतीकात्मक माध्यम बनाया गया। गुप्त जी के राम तथा शक्ति, हरिऔध के कृष्ण तथा राधा, सियारामशरण गुप्त के चंद्रगुप्त और निराला के शिवाजी आदि ऐसे ही चरित्र है जो संदर्भानुसार प्रतीकवत् प्रयुक्त किये गये। यही प्रवृत्ति मानवीकरण में भी मिलती है। अप्सरा, बेला, आदि के रूपो में सौदर्य तथा नवीन चेतना का आवाहन ही किया गया है।

सम्पूर्ण प्रबंध के प्रतीकों को ध्यान में रख कर एक नवीन दिशा की ओर संकेत करना आवश्यक है। भारतेन्दु काल से काव्य की भावभूमि में यथार्थवादी प्रतीको की जिस परम्परा का सूत्रपात हुआ वह आगे के कालों में भविष्य का दूत ही बन कर अवतीर्ण हुआ। इन प्रतीकों का महत्त्व समाज, राष्ट्र एवं मानवता सापेक्ष ही अधिक है। इन प्रतीकों का चयन अनेक प्राकृतिक व्यापारों, त्योहारों तथा वस्तुओं से किया गया है। इन व्यापारों तथा वस्तुओं को सादृश्य के आधार पर देश की दशा का, उसकी निर्बलता का एवं दयनीय स्थिति का वाहक बनाया गया। भारतेन्दु जी ने 'होरी' को भारतीय समाज में व्याप्त फूट तथा द्वन्द्व का प्रतीक बनाया है। श्रीधर पाठक, प्रेमघन, निराला, पन्त तथा रामकुमार ने इन यथार्थ प्रतीकों के विकास में स्पष्ट योग दिया है। मेरे विचार से निराला तथा पाठक जी में इन यथार्थ-प्रतीको की अन्विति अत्यन्त हृदयग्राही है। निराला का 'बादल राग' मानों देश तथा समाज में क्रान्ति तथा सृजन का प्रतीक ही बन कर अवतीर्ण हुआ है। पंत का 'ताज'

रूढ़ अंधविश्वासों तथा धार्मिक रूढ़ियों का प्रतीक रूप ही है जो 'मृत्यु' का अपार्थिव पूजन है।

हिन्दी काव्य में प्रतीकों का उपर्युक्त विस्तृत क्षेत्र यह ध्वनित करता है कि प्रतीक का भविष्य मानव-मन की इच्छा-शक्ति पर निर्भर करता है। प्रत्येक प्रकार के प्रतीकवाद[1] का भविष्य इसी तथ्य पर आश्रित है कि उनका क्षेत्र किस सीमा तक मानव विश्वास तथा अन्तर्दृष्टि को विकसित कर सका है। धार्मिक प्रतीकवाद के क्षेत्र में इस तत्त्व का प्रमुख स्थान है जो काव्य की भावभूमि को सदैव से स्फुरित करता रहा है। युग के मतानुसार प्रत्येक धार्मिक देवता उस समय मृतप्राय हो जाता है जो मानव के धारणात्मक अभियानों को तृप्त नहीं कर पाता है[2] और समय तथा काल की गति के साथ अपनी 'धारणा' को रूपान्तरित नहीं करता है। सत्य में, प्रतीकों को मानवीय विकास में अवरोध नहीं डालना चाहिए, पर उस विकास में सहायक होना चाहिए। हिन्दी काव्य के अनेकानेक प्रतीक इसी तथ्य को प्रकट करते हैं और जो इस तथ्य का समुचित हृदयङ्गम न कर सके वे प्रकारान्तर में जातीय जीवन से एक प्रकार से लुप्त हो गये। आधुनिक काव्य के अनेक प्रतीकों का भविष्य भी इसी सत्य पर अवलम्बित है। बिम्बग्रहण के साथ साथ उस बिम्ब को 'प्रतीक' तक लाना, और उसके द्वारा एक अन्तर्दृष्टि एवं विश्वास को प्रश्रय देना ही प्रतीकों के जीवन में गहराई को लाना है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि प्रत्येक 'वर्तमान' का महत्त्व एवं उसकी शक्ति इस तथ्य पर आश्रित है कि वह किस सीमा तक 'अतीत' का रूपान्तर 'भविष्य' में कर सका है। यही बात किसी भी प्राचीन-अर्वाचीन प्रतीक के लिए भी सत्य है। आज का कवि एक ऐसे युग में साँस ले रहा है जो नित नवीन ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों, नवीन सभ्यता तथा नवीन मूल्यों से अपने को प्रभावित पाता है। उसका यह युग-विशिष्ट कर्तव्य हो जाता है कि वह 'जीवन' के विभिन्न आयामों से ऐसे प्रतीकों का सृजन करे जो उसकी चेतना को अधिक विस्तार दे सकें। यही कवि की—आज के कवि की प्रतीकोपासना ही नहीं, प्रतीक-साधना भी कही जा सकती है।

१—प्रतीकवाद के प्रकारों के लिए दे० अध्याय दो।

२—रिलीजस सिम्बालिजम, सं० जानसन, में श्री एस० आर० कपूर का लेख 'द फ्यूचर आफ़ रिलिजस सिम्बासिज़्म,' पृ० २३१।

परिशिष्ट

(क) लोक-गीतों में प्रतीक-योजना

प्रवेश

अब तक जिन भी प्रतीक-योजनाओं का विवेचन किया गया है, उनमे साहित्यिक मापदण्डों तथा मान्यताओं का एक कलात्मक सौष्ठव ही अधिक प्राप्त होता है। परन्तु लोकगीतों की भावभूमि में चाहे वह पाण्डित्य एव कलात्मक सौष्ठव न मिले, पर तब भी उनमें मानव हृदय के एक ऐसे आयाम का उद्घाटन होता है जिसमें रस का प्रवाह मंथर तथा उद्दाम गति से चला करता है। लोक-गीतों में एक ऐसी संवेदना है जो बरबस हृदय की तंत्रियों को झंकृत कर देती है। वहाँ पर एक सरल एवं स्वाभाविक, निष्कपट एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति के ही दर्शन होते है। इस अभिव्यक्ति में मानव तथा नारी हृदय के प्रणय भावों यथा अन्य भावों की एक सीधी-साधी व्यंजना ही प्राप्त होती है। इसी सरल अभिव्यंना में 'प्रतीकों' का भी रूप अपने स्वाभाविक रूप में साकार हो उठता है। इन प्रतीकों का स्वरूप साहित्य में प्राप्त अनेक परिपाटियों एवं परम्पराओं के प्रतीको का एक विशाल भण्डार है। अतः कवि-परिपाटियों के प्रेरणा स्रोतों में लोकगीतो का भी एक विशेष हाथ है। यह अन्योन्य प्रभाव—जन परम्परा और साहित्य का—यह स्पष्ट करता है कि साहित्य की विचारधारा में लोक-परम्पराओं का एक सबल क्रियात्मक योग रहता है।

इस प्रकार ग्राम-गीतों में किसी भी देश की संस्कृति तथा सभ्यता के मूल-तत्त्वों का अपरोक्ष दर्शन हो सकता है। उनमें वर्णित अनेक रीतियों, त्योहारो, परम्पराओं तथा अनुष्ठानों के अध्ययन से उस जाति विशेष की प्राचीनतम रूढ़ियों तथा रीतियों की एक झलक प्राप्त की जा सकती है। ये रीतियाँ भी अपने मूलरूप में प्रतीकात्मक ही होती हैं जिनके अन्तराल में मानवीय संवेदना का एक मुखर रूप प्राप्त होता है।[1]

१—दे० अध्याय प्रथम, उपखंड 'ख'।

ग्रामगीतों की उपर्युक्त पृष्ठभूमि के द्वारा उन गीतों में व्याप्त संवेदना तथा भावना का रूप भी मुखर हो जाता है। इन जन-कवियों ने अपनी संवेदना का माध्यम मूलतः प्रकृति को ही बनाया है। उस माध्यम के द्वारा जीवन के एक विशिष्ट पक्ष का सुन्दर उद्घाटन किया है। यह पक्ष है प्रेम तथा प्रणय भाव का। नारी-भावना का, उसके अन्तरतम भाव जगत् का उसके विरह जनित-प्रेम का और उसके हृदय के आलोड़न-विलोड़न का जितना सुन्दर प्रतीकात्मक संकेत इन गीतो में प्राप्त होता है वह नारी हृदय के गहनतम अन्तराल को साकार कर देता है। ग्राम वातावरण के अनेकानेक संकटों, कष्टों एवं दुःखों के मध्य में भी तरल संवेदनात्मक भाव तरंगों का मनमोहक रूप लोकगीतों में दृष्टिगत होता है। काव्य की भाव तरंग दुःख एवं विषाद के थपेड़ों से ही जीवन को मधुमय बना सकती है। रहने को झोपड़ी, खाने को सूखा, बरसात में चूते हुए झोपड़े, जाड़ों में वस्त्रहीन होने से ठिठुरना—ये सब जीवन के दुख होते हुए भी, पता नहीं कैसे, इन व्यक्तियों ने रस की तरल धारा अपने जीवन में बहाई! इसी से रामनरेश त्रिपाठी कहते हैं—यह सब होते हुए भी गाँवों के हृदय में सुख का प्रकाश है। वह सुख आँख से नहीं, कान से दिखाई देता है। यदि यह सुख न होता तो गाँव के लोग अनन्त दुःखों का भार कैसे उठा सकते थे।[१] मैं तो कहूँगा कि वह सुख 'कान' के अतिरिक्त मन तथा हृदय का सुख है जो युगों युगों से 'गाँव' की आत्मा को एक मुखर रूप से रखने में समर्थ है। सत्य में कटु जीवन में ये गीत ही माधुर्य की वर्षा करते हैं। इस दृष्टि से, उनके प्रयुक्त प्रतीक भी उनके दुख तथा कटुतापूर्ण जीवन में सरसता का समावेश करते हैं। कहीं कहीं पर अपनी पीड़ा को व्यक्त करने के लिए उन्होंने जिन प्रतीकों का आश्रय लिया है उनके द्वारा उनके विषाद की व्यंजना हो जाती है।

लोकगीतों की मौखिक परम्परा शताब्दियों से चलती आ रही है। उस परम्परा के प्रतीक अपनी सहजरूपता में आज भी हमारी जातीय चेतना के धरोहर है। उनका एक एक प्रतीक हमारे जन जीवन में, हमारे साहित्य में तथा हमारी संस्कृति में तिल-तंदुल की भाँति मिले हुए हैं। इस विहङ्गम दृष्टि के प्रकाश में लोकगीतों में प्रयुक्त प्रतीकों को हम निम्नवर्गों में विभाजित कर सकते हैं —

१—मानवेतर चेतन प्रकृति (पक्षी-पशु आदि)

१—ग्राम साहित्य, द्वारा रामनरेश त्रिपाठी, पृ० १२।

२—मानवेतर जड़ प्रकृति (फल-फूल आदि)

३—तात्त्विक प्रतीक

४—कुछ अन्य प्रतीक

१—मानवेतर चेतन प्रकृति (पशु-पक्षी आदि)

पक्षी प्रतीक

लोकगीतों की भावभूमि मे प्रेम का सर्वोच्च स्थान है। इसी प्रेम भाव को या प्रेम से उद्भूत विरह को व्यंजित करने के लिए अनेक पक्षियों का आश्रय लिया गया है। अधिकांशतः प्रेम का वही रूप लोकगीतों में अधिक प्राप्त होता है जो प्रणय या दाम्पत्य भावना पर आश्रित है। किसी प्रेमिका के प्रेम तथा विरह का वाहक भी यह पक्षी-जगत् है जो किसी दूर देश में बसे हुए 'प्रेमी' के पास प्रेमिका का संदेश ले जाता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो ये पक्षी स्वयं उस नायिका या प्रेमिका के हृद्गत भावों के प्रतीक हैं जो उसकी प्रेम-भावना को साकार कर देते हैं। कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत गोपियों की प्रेम-भावना का प्रतीक चातक है। सूर की प्रेम भावना का प्रतीक चकई आदि हैं। उसी प्रकार यहाँ पर भी ग्रामीण बालिका के प्रेम-भाव का प्रतीक यह विशिष्ट पक्षी-जगत् है। एक नारी किसी दूर देश में बसे बनजारे के पास श्यामा पक्षी के माध्यम से जो संदेशा भेजने का उपक्रम करती है, वह उसकी भावनाओं का, उस पक्षी में एक सुन्दर केन्द्रीकरण ही है। देखिए—

> **अरे अरे श्यामा चिरइया झारोखवे मति बोलइ**
> **मोरी चिरई! अरी मोरी चिरई! सिरकीं भितरि बनजरवा**
> **जगाइ लाइ आवउ**
> **मनाइ लाइ आवउ।**[1]

यह श्यामा चिरई मानो प्रेमिका के जीवात्मा की ही प्रतीक है जिसका 'मन' अपने बनजरवा के पास लगा हुआ है। इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर एक विरहिणी अपने प्रेमजनित हृदय का प्रतीक चील को बनाती है और उसके द्वारा अपना संदेश अपने प्रिय के पास भेजती है।[2] एक अन्य स्थान पर कोई प्रेमिका अपने सरल तथा भोलेपन के आवरण में 'भँवरा' के हाथ अपने 'पत्र'

१—ग्राम साहित्य, द्वारा पं० रामनरेश त्रिपाठी, पृ० ६८।८ 'सोहर'।

२—कविता कौमुदी (तीसरा भाग), पं० रामनरेश त्रिपाठी, पृ० ५१६।२३, जाँत के गीत।

को भेजती है।[1] इन सब उदाहरणों में एक समान प्रवृत्ति के ही दर्शन होते हैं। ग्राम गीतों की विशाल भावभूमि में इन प्रेम-पक्षियों का वही स्थान है, जो किसी प्रेमिका का अपने प्रिय के प्रति होता है। ये पक्षी ही उनके सुख दुख के साथी हैं जो उनकी पीड़ा, विरह एवं प्रेम को समझते हैं। विरहिणी के विरह एवं विषाद में जब ये पक्षी उसकी अटारी पर बोलने लगते हैं तब 'बलमा' के न उपस्थित होने पर विरहिणी मानों पक्षियों के द्वारा अपनी विरहजनित खिन्नता को ही व्यंजित करती है—

> सुगना बोले रे हमरी अटरिया, हो रामा।
> कागा बोले, कोइली बोले, बोलेला भिंगरजवा।
> हो रामा।
> का तू कागा बोलिया बोले, अरे बालमा, परदेसवा,
> हो रामा।
> सुगना—...............।[2]

ग्रामगीतों में पक्षियों को अन्य संदर्भों का भी प्रतीक बनाया गया है। प्रसंगानुसार एक अन्य स्थान पर 'कायल' को, अप्रत्यक्ष रूप से, उपदेश का भी माध्यम बनाया गया है। एक दुलहिन एक कोयल को बोलते हुए सुनकर कोयल के पास पत्र भेजती है कि उसके परभु (पति—प्रभु) भोजन (जेवन) करने के लिए आने वाले हैं। अतः इस समय वह न बोले। इसका उत्तर कोयल इन शब्दों में देती है—

> चिठिया एक लिखि पठइन
> कोइलरि, दिहौ दुलहिन देइ के हाथ।
> ऐसइ बोलिया तु बोलि के दुलहिन
> दुलहे न लेतिउ बिलमाय।[3]

प्रत्यक्ष ही इस कथन में उन स्त्रियों के प्रति व्यंग्य भी है जो कटुभाषिणी हैं। यह प्रसंग इस तथ्य को प्रकट करता है कि मीठे तथा कोमल प्रेम-पूर्ण शब्दो के द्वारा एक स्त्री अपने पति को पूर्ण रूप से रिझा सकती है। ऐसी मधुरवाणी का प्रतीक ही कोयल है।

१—वही, पृ० ५५६।३५ 'जाँत के गीत'।

२—कविता-कौमुदी (तीसरा भाग), वसंत के गीत, पृ० ६७७।१ ?

३—ग्रामसाहित्य (पहला भाग), पृ० २६०। २०, विवाह के गीत'।

अब ऐसा चित्र लीजिए जिसमें दाम्पत्य प्रेम-भाव का एक अत्यन्त हृदय-ग्राही रूप मिलता है। इस कार्य के लिए सुआ को पति का और कोयल को पत्नी का प्रतीक बतलाया गया है। सुआ रूपी पति पत्नी (कोयल) से आनन्द वन (नैहर) छोड़कर अपने देश (ससुर घर) चलने के लिए कहता है। इस पर कोयल कहती है कि मुझे ले तो चलोगे पर वहाँ मुझे क्या क्या सुख दोगे? इस पर सुआ कहता है कि मेरे देश में आम पकते हैं और महुआ टपकता है। ऐसे स्थान पर हम दोनों डाली पर बैठकर आनन्द-लाभ करेंगे। पंक्तियाँ इह प्रकार हैं—

> माहे सुगहा जे भोरवै कोइलरि देई।
> चलो कोइलरि हमारे देश, आनन्दा बन छाड़ि देव।१।

कोयल कहती है—

> माहे जो मैं चलो सुगहा तोरे देस,
> कवन कवन सुख देबो, आनन्दा बन छाड़ि देव॥२॥

इस प्रकर सुआ उत्तर देता है—

> माहे आम के पाके महुआ जे टपके,
> डरिया बैठि सुख लेव, आनन्द बन छाड़ि देव॥३॥[1]

इस गीत का सौदंर्य भावपरक होने के साथ साथ एक मानसिक द्वन्द्व को भी साकार करता है।

एक युवती जब अपने घर को छोड़ कर किसी नये गृह को जाती है तो उसके भाग्य का निर्णय तराजू के डाँड़ो के समान या घड़ी के पेन्डुलम के समान अनिश्चित रहता है। उस समय उसका अन्तर भावी विधि के हाथों में रहता है। उसके स्वप्न साकार भी हो सकते हैं, यदि पति प्रेमी हुआ और वे स्वप्न टूट भी सकते हैं, यदि उसे पति का प्यार न मिला। इन दुखसुख की भाव-लहरियों पर उसका अनिश्चित मन मानो उपर्युक्त कोयल के भावों का प्रतीक ही है। ऐसे समय में एक नारी ही अपने भावों को रख सकती है जिस पर यह सब बीतती है। इस गीत का एक अन्य सौंदर्य भी है जो सुआ की अन्तिम पंक्ति में साकार हो उठता है। दाम्पत्य जीवन तभी सुखमय हो सकता है जब दम्पति दुख (महुआ) और सुख (आम) में एक दूसरे के समान भागी हों और इस दुख-सुख में भी जीवन रूपी डाली पर बैठकर वे आनन्द से जीवन व्यतीत कर सकते हैं, केवल उनके मध्य एक

१—ग्रामसाहित्य, विवाह के गीत, पृ० २१५। ४०।

निस्वार्थ प्रेम की अपेक्षा होनी चाहिए। प्रेम तो ऐसा होना चाहिए जो हंस के समान शुद्ध हो। उसका प्रेम सरवर के सूख जाने पर भी कम नहीं होता है, अपितु और भी बढ़ता है। एक राजस्थानी लोकगीत में इसी भाव की व्यंजना हंस के द्वारा प्रस्तुत की गयी है—

डीगी पाल तलाब री, हंसौ बैठौ आय।
पीत पुराणी जल नहीं, चुग चुग कंकर खाय।[1]

इस निस्वार्थ प्रेम में विरह का महत्त्व है। उपर्युक्त उदाहरणों में यदा-कदा विरहजनित 'प्रेम' के तत्त्व भी प्राप्त हो जाते हैं। गोपियों का विरह ऐसा ही है जिसमें 'प्रेम की पीर' अपनी पराकाष्ठा में प्राप्त होती है। लोकगीतों में भी गोपियों के इस विरह को व्यंजित करने के लिए चकई-चकवा की परम्परा को ग्रहण किया गया है। एक गोपी उद्धव से अपने विरह-भाव का आरोपण चकई-चकवा पर इस प्रकार करती है--

पूसहि फुहवा परिगे ऊधो,
भीजि गई तन चीर।
चकई चकवा बोलि करतु है,
नहि जमुना के तीर।
कन्हैया नहीं आये,
कन्हैया के ली आई।[2]

कितनी पीड़ा तथा कितना विरह है जो किसी भी दशा में सूर की गोपियों से कम नही है।

पशु आदि प्रतीक

ग्रामगीतों में भावाभिव्यंजना के लिए पशुओं का भी आश्रय लिया गया है। पक्षियों की सापेक्षता में इन प्रतीकों का कम ही प्रयोग प्राप्त होता है। प्रेमाभिव्यंजना के लिए पक्षियों में उन्हें सादृश्य की अवतारणा अधिक रूपों में प्राप्त हो सकी, अपेक्षाकृत पशुओं से। इतना होने पर भी पशुओं के माध्यम से उन्होंने प्रेम भाव की कहीं-कहीं पर सुन्दर व्यंजना प्रस्तुत की है। एक स्थान पर हरिण-दम्पति के एकातम प्रेम के द्वारा दाम्पत्य-प्रेम के बलिदान-परक रूप की सुंदर अवतारणा प्रस्तुत की गयी है। इस गीत में एक हरिन का

१—कविताकौमुदी, राजस्थानी गीत, पृ० ८१७। १७।

२—वही, बारहमासा पृ० ७०१। ७।

राजा दशरथ के बेटे की छठी पर कटवाने की सूचना, एक विदग्ध-हरिणी अपने हरिण को देती है। हरिनी रानी के पास जाकर कहती है—

मचिये बैठी कौसल्ला रानी
हरिनी अरज करइ हो।
रानी मसुआ तो सिझइ रसोइयाँ
खलरिया हमैं देतिउ ॥[1]

माँस आदि तो रसोई के काम आ जायगा, पर खाल ही मुझे मिल जाय तो अहोभाग्य, क्योंकि उस त्वचा को वृक्ष से लटका कर मैं उसी खाल के दर्शन कर यह समझ लूँगी कि मेरा 'हिरना' जीता है। कितनी मार्मिक उक्ति है, स्वयं अज्ञात कवि क शब्दों में—

पेड़वा से टँगबइ खलरिया ता मन समुझाइब हो।
रानी हेरि फेरि देखबइ खलरिया,
जनुक हरना जीतउ हो।

बात यहीं पर समाप्त नहीं होती है। कवि इससे भी अधिक मार्मिक व्यंजना करने का प्रयत्न करता है। रानी उस निरीह हिरनी को त्वचा तक देने को तैयार नहीं है, क्योंकि उसकी खंजड़ी बनेगी जिससे उसका पुत्र खेलेगा। इस पर 'हिरनी' बेबस हो चली जाती है। जब खंजड़ी की ध्वनि उसे सुनाई देती है तब उसकी क्या दशा होती है, इसे स्वयं कवि के शब्दों में सुनिए—

जब जब बाजइ खंजड़िया सबद सुनि अनकइ हो।
हरिनी ठाढ़ि ढकुलिया के नीचे
हरिन का बिसूरइ हो।[2]

केवल उसकी ध्वनि से ही हिरनी हरिन का ध्यान कर 'बिसूर' उठती है। यदि देखा जाय तो कवि की समस्त मानसिक संवेदना 'बिसूरइ' शब्द में अन्तर्निहित हो गई है जो प्रणय भाव के एक निश्चल, पवित्र एवं त्यागपरक रूप को सामने रखती है। इन प्रतीकों द्वारा हृदय की एक प्रणयमूलक मार्मिक संवेदना के दर्शन होते हैं। इस सम्पूर्ण गीत में प्रणय भाव का एक सुंदर रूप प्राप्त होता है जो मानव सापेक्ष है। उसमें आत्मसमर्पण, विरह एवं

१—ग्राम साहित्य (प्रथम भाग) पृ० १२५।२३ 'सोहर'।
२—ग्राम साहित्य, सोहर, पृ० १२६।२६।

एकनिष्ठता के जो दर्शन होते हैं, वह पूरे संदर्भ को एक प्रतीकात्मक रूप में ही रखते हैं। लोकगीतों में इस प्रकार के संवेदनापूर्ण संदर्भ मानवेतर प्रकृति से संबंधित होने पर भी उनका प्रतीकार्थ 'मानव' से ही संबंधित ज्ञात होता है। इसी एकनिष्ठ प्रेम की व्यंजना मीन के द्वारा भी व्यंजित होती है जब कोई प्रेमिका अपने को ही 'मीन' के समान देखती है—

होइतो मैं जल के मछरिया जल ही बीचै रही जइतो, हो राम।
अहो रामा, मोरा हरि आइते, असननवाँ चरन चूम लइती, हो राम।[1]

(२) मानवेतर जड़ प्रकृति

इस वर्ग के अन्तर्गत सामान्यतः प्रणय तथा विरह भावों पर आश्रित प्रतीकों की योजना प्राप्त होती है। इसमें लता, फल और फूल के द्वारा प्रेम भाव को साकार ही नहीं किया गया है पर कहीं-कहीं उनके द्वारा किसी नायिका के मनोभावों को साकार रूप दिया गया है। ऐसी ही मार्मिक हृदय को झंकृत करने वाली व्यंजना एक स्थान पर प्राप्त होती है। एक प्रेमिका अपने को गुलाब तथा केवड़ा का समष्टि प्रतीक बनाती है और उस यौवन रूप में केवल एक वस्तु की कमी पाती है और वह कमी है भँवरे की, जो गुलाब को परखने वाला है। यह भँवरा ही संदर्भानुसार प्रिय का प्रतीक है—

आधी फुलवरिया गुलबवा, आधी मा केवड़ा गमकइ,
तबहूँ न फुलवा सुहावन एक रे भँवर बिन रे॥[2]

यह रुचि का ही विषय है, अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो यह प्रेम-संबंध का ही आग्रह है कि कोई वस्तु किसी विशिष्ट वस्तु की ओर हो आकर्षित होती है। इसी भाव को एक अन्य स्थान पर भौंरे तथा कमल और चम्पा की प्रतीक-योजना के द्वारा प्रस्तुत किया गया है—

कौन फूल फूलेला घरी रे पहरवा,
अरे कौन, फूल फूले आधी रात, त भौंरा लुभाई।
अड़हुल फूल फूलेला घरी रे पहरवा,
अरे चम्पा फूल फूले आधी रात, न भौंरा लुभाई।[3]

१—कविता कौमुदी, जाँत के गीत, पृ० ४७१।६।

२—ग्राम साहित्य, विवाह के गीत, पृ० ३२५।४७।

३—कविता कौमुदी, जाँत के गीत, पृ० ५५६।३५।

इसी प्रकार गोपियाँ ऊधो को सम्बोधित करती हुई टेसू और भौंरे के प्रेम संबंध को व्यंजित करने के साथ-साथ प्रत्यक्षतः अपने ही विरह को प्रकट करती हैं। दूसरी ओर भौंरे को व्यंग्य का भी माध्यम बनाती हैं जो ऊधो तथा कृष्ण दोनों पर घटित होता है।[1]

इन प्रतीकों के अतिरिक्त विरह भावना को तीव्र करने के लिए अन्य प्रतीकों का भी सहारा लिया गया है। इसमें सबसे सुन्दर प्रतीक 'मेंहदी' है जो प्रसंगानुसार किसी विरहिणी के हृद्गत प्रेम भाव तथा संवेदना का मिश्रित रूप है। उस मेंहदी को पल्लवित करने के लिए, प्रिय की अनुपस्थिति में विरहिणी उसे अपने दृग-जल से ही सिंचित करने को प्रस्तुत है। कितनी मार्मिक एवं हृदय को आलोड़ित करने वाली सीधी सादी कथन शैली में 'प्रतीक' का सौंदर्य मानो मुखर हो उठा है, यथा—

अरे सावन मेंहदी बोवायउँ रे,
अरे भादौ माँ दुइ दुइ पात।
सैंया मोरा छाय रे बिदेसवाँ रे
सीचौं मैं नयन निचोर।[2]

इसी प्रकार, विरहिणी के विरह का, उसके अन्तरतम का प्रतीक बादल है जिसे वह दूत बनाकर प्रिय के देश में बरसने को भेजती है—

अरे अरे कारी बदरिया, तुहइ मोरि बादरि।
बादरि ! जाइ बरसहु वहि देस, जहाँ पिय हो छाये।[3]

इसी प्रकार एक अन्य विरहिणी पिया के दूर रहने पर अश्रुधार रूपी वर्षा से आप्लावित हो गई है और यह अश्रु-प्रवाह उसके हृदय में उठे विरह के काले बादलों से ही उद्भूत हैं और शीतल पवन ही उसके निःश्वास हैं।[4] इसी दशा में ही वह विरह-विदग्ध होकर अपने मनमोहन से प्रार्थना करती है कि 'वह' उसकी सूनी एवं खाली पड़ी हुई गगरिया (हृदय) को अपने प्रेम रूपी जल से भर दे—

सब सखियाँ हिंडोले झूल रहीं,
खड़ी भीजूँ पिया तोरे आँगन में।

१—वही, बारहमासा, पृ० ७०६।१०।
२—कविता कौमुदी, हिंडोले के गीत, पृ० ६२८।२५।
३—ग्राम-साहित्य, सोहर, पृ० १०६।१५।
४—कविता कौमुदी, हिंडोले के गीत, ६११।२।

भर दे रे रंगीले मनमोहन,
मेरी खाली पड़ी है गगरिया।[1]

इन सब उदाहरणों में विरहभावना को ही विभिन्न प्रतीकों के द्वारा व्यंजित किया गया है। परन्तु ग्रामगीतों में ऐसी भी नारी हृदय की भावाभिव्यंजना प्राप्त होती है जो विवाह के समय या उसके बाद अपने हृदय की समस्त संवेदना को उड़ेल कर रख देती है। इन उदाहरणों में नारी मनोविज्ञान भी प्रत्यक्ष रूप से साकार हो उठता है। एक मनोमोहक चित्र लीजिए। एक कन्या विवाह के समय अपने पति को 'माली' का और स्वयं अपने को लता का प्रतीक बनाती है। वन में एक लता पूर्ण रूप से फूली है (यौवन से भरी हुई नारी) जिसमें सौंदर्य का पूर्ण निखार हो गया है। ऐसी यौवनपूर्ण लता को (स्वयं को) अपना बनाने के लिए माली (पति) हाथ बढ़ता है परन्तु लता रूपी 'पत्नी' अपने को स्पर्श करने के लिए मना करती है। वह उसी समय माली को आत्मसमर्पण करेगी, जब वह आधी रात्रि के समय पूर्ण रूप से विकसित हो जायगी, तभी वह उसकी हो सकेगी। इसके प्रथम तो वह कुंवारी ही रहेगी—

बन माँ फूली बेइलिया, अतिहि रूप आगरि।
मलिये हाथ पसारा, तौ होवौ हमारि।
जनि छुवौ ये माली जनि छुवौ, अबहीं कुंवारि।
आधी रात फुलबै बेइलिया, तौ होब तुमारि॥[2]

'विवाह का काल' एक नारी के लिए दो छोरों का संधिकाल होता है। एक ओर तो उसे अपने भावी जीवन की अनिश्चितता रहती है तो दूसरी ओर अपने सगे संबंधियों की प्रेमपूर्ण स्मृतियाँ उसके मन को झकझोरने लगती हैं। दुख और सुख की एक अद्भुत रंगस्थली ही उसका मन हो जाता है। विदा के समय उसके सामने घर की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक संबंधी एक 'अद्भुत' संवेदना से उभर कर सामने आते हैं जो उसके हृदय के आलोड़न-विलोड़न को और भी तीव्र कर देते हैं। इसी दशा में वह घर के सामने लगे एक नीम के वृक्ष को, जिसे कदाचित् उसने ही लगाया था, देखकर अपने पिता से निम्न वचन कहती है। इसमें वृक्ष माता का प्रतीक है, पक्षी जिसका वास उस वृक्ष पर है,

१—कविता कौमुदी, हिंडोले के गीत, पृ० ६११।३।
२—ग्राम साहित्य, विवाह के गीत, पृ० २८६।१६।

वह कन्या का प्रतीक है जो वृक्ष को छोड़कर उड़ जाती है, और रह जाता है केवल वृक्ष ही (माता)—

बाबा निबिया के पेड़ जिनि काटेउ
निबिया चिरैया बसेर—बलैया लेउँ बीरन।
बाबा बिटियउ जिनि केउं दुख देइ
बिटिया चिरैया की नाईं—बलैया लेउँ बीरन।
सब रे चिरैया उड़ि जइहैं
रहि जइहैं निबिया अकेल—बलैया लेउँ बीरन।[1]

इस प्रतीक योजना में एक नवीनतम प्रयोग भी है। सामान्यतः पक्षी को क्षण-भंगुरता का प्रतीक माना जाता है, परन्तु यहाँ पर वह एक नितान्त नवीन संदर्भ का प्रतीकीकरण करता है। वह कन्या का प्रतीक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्राम गीतो की सहज स्वाभाविक कविता में कहीं कहीं पर प्रतीकों की जो योजना प्राप्त होती है वह हृदयतंत्रियो को झंकृत करने में समर्थ है। अतः इन गँवार कहे जाने वाले लोगों में—इन नीच जातियों में, हृदय का वह रस है, वह मधु है जो एक सभ्य एवं शिक्षित समाज में अप्राप्य है। वहाँ वह ग्रहण किया हुआ है, न कि ग्रामवासियों की तरह स्वाभाविक है।

(३) तात्त्विक प्रतीक

प्रेम-प्रतीकों के इस विशाल भंडार के अतिरिक्त ग्रामगीतों में कहीं-कहीं पर रहस्य-भावना पर आश्रित प्रतीकों की भी योजना मिलती है। वह अत्यन्त अल्प है। सामान्यतः लोकगीतों की प्रवृत्ति लौकिक धरातल पर ही अधिक थी और तात्त्विक प्रतीक सृजन के लिए जो अनुभूति तथा 'ज्ञान' की आवश्यकता होती है, वह कैसे इन अपढ़ ग्रामीणों में संभव है? परन्तु, इतना होते हुए भी उन्होंने भारतीय दर्शन तथा धर्म की मौखिक परम्पराओं से जो कुछ भी सारतत्व ग्रहण कर पाया, उन्हीं के आधार पर उन्होंने ऐसे प्रतीकों को अपने गीतों में स्थान दिया। प्रणय भाव पर आश्रित रहस्यात्मक प्रतीक का एक सुन्दर उदाहरण लीजिए। एक खण्डिता नारी को जीवात्मा का और बलमा को ईश्वर का प्रतीक बनाया गया है। उस नारी का रंगमहल ही शरीर है जिसमें दस दरवाज़े ही दस इंद्रियाँ हैं। न जाने किस खिड़की से उसका 'पिया' निकल गया। इससे खीज कर वह 'नारी' अपनी पाँच ज्ञानेन्द्रियों (पाँच जनाँ)

१—कविता कौमुदी, हिंडोले के गीत, पृ० ६१५।८।

से पूछती है, जो उसकी निकट की पड़ोसिन भी हैं कि क्या बलमा जाते समय उनसे कुछ नहीं कह गया ? सत्य में, ईश्वरानुभूति इसी 'अज्ञान' के कारण नहीं होती है। इंद्रियों का बाह्य विस्तार मन को विभ्रम में डाल देता है। इसी भाव का यह प्रतीकात्मक गीत है—

मैं न लड़ी थी, बलमा चले गए।
रंग महल में दस दरवाजा,
न जानी कौन खिड़किया खुली थी।
पाँचो जनाँ मोरि रान्ह परोसनि,
तुम से बलम कछु कहिउँ न गए।[1]

कुछ इसी प्रकार का भाव मैथिलीशरण गुप्त तथा रवीन्द्र की कविताओं में भी प्राप्त होता है जिस पर प्रथम ही विचार हो चुका है।[2] वहाँ पर भी अज्ञान रूपी निद्रा से प्रिय आकर भी लौट जाता है और जीवात्मा रूपी नारी सोती ही रहती है। जागने पर उसे अनुभव होता है कि उसका 'प्रिय' आकर भी लौट गया।

यह एक सत्य है कि इस संसार की प्रत्येक वस्तु अस्थिर है, परिवर्तनशील है। यह दशा मनव शरीर की है जिसे जितना भी सजा-धजा कर रखा जाय, परन्तु एक न एक दिन उसमें व्याप्त सुआ (जीव) अवश्य ही उड़ जायगा। अतः इस पिंजरे रूपी शरीर का क्या बनाव शृंगार करना, इस थोड़े से जीवन में भी यदि ईश्वर का नाम न लिया तो जीव इसी पतनोन्मुख दशा का भागी होता है। जीव और शरीर के इसी संबंध का एक प्रतीकात्मक उदाहरण इस प्रकार है—

गोरी धन सुअना पालो जी, गोरी धन में। टेक।
बड़ोई जतन करि पिंजरा बनायो,
तामे घने घने तार लगाए जी।
तुचा के कागद से पिंजरा मढ़ाय दयो,
मेरो पंछी न कहूं उड़ि जाय जी।

परन्तु एक दिन प्यारा सुअना 'कहीं' उड़ जाता है और निरीह गोरी झक मारती रह जाती है—

१—कविता कौमुदी, मैले के गीत, पृ० ७४०।२७।

२—दे० अध्याय दस तथा ग्यारह, रहस्यवादी प्रतीक

प्यारे सुअना को कहूँ पता न पायो,
गोरी बैठी रही झक मारि जी।
यही बिधि तेरो तन की दशा होय,
लेउं जीवन हरि गुन गाय जी।[1]

इसी शरीर, जीव तथा इन्द्रियों को एक अन्य स्थान पर नौ दरवाज़े, हाथी और लशकर के द्वारा भी प्रकट किया है, जिससे जीवन की क्षणभंगुरता की ही व्यंजना होती है—

हाथी छूट गया डार से,
रे लसकर पड़ी पुकार रे।
नौ दरवाजे बंद पड़े रे,
निकल गया उस पार रे।[2]

जीव के इस अस्थिर रूप से तो यही ध्वनित होता है कि इस संसार में व्यक्ति का आना जाना लगा ही रहता है, जिस प्रकार स्टेशन के मुसाफ़िर-खाने (संसार) में यात्रियों का आना-जाना लगा रहता है और प्रतिक्षण कोई न कोई गाड़ी खुलती ही रहती है। इसी भाव को कोई ग्रामीण पत्नी अपने पति से इस प्रकार कहती है—

इसी को कहते इस्टेसन, सुनो मोर बलमू।
हरदम लगा है आना जाना, यहाँ पै बना है मुसाफिरखाना,
गाड़ी खुलती है छन छन।[3]

(४) कुछ अन्य प्रतीक

प्रेम भाव से सम्बन्धित कुछ अन्य प्रतीक भी प्राप्त होते हैं जो उपर्युक्त विभाजित वर्गों में नहीं आते हैं। दूसरी ओर इनकी संख्या भी अत्यन्त अल्प है। प्रेम-भाव में जीवन तथा संसार की सापेक्षता भी होती है, वह केवलमात्र कल्पना तथा भावना का ही विषय नहीं है। पति-पत्नी का 'विवाह-सूत्र' में एक साथ बाँधने का यही अर्थ है कि वे संसार रूपी नदी को अन्योन्याश्रित हो पार करें। इसी भाव से एक नारी नदी (संसार) को सम्बोधित करती हुई कहती है—

१—कविता कौमुदी, कहारों के गीत, पृ० ७६०–७६१।१।

२—वही, चमारों के गीत, पृ० ७६०।३।

३—वही, कजरी, पृ० ६५५।३।

धीरे बहु नदिया ते धीरे बहु,
मेरा पिया उतरइ दे पार।

इस पर नदी पूछती है कि नैया (जीवन) किस वस्तु की है अर्थात् तेरे जीवन में कौन सा प्रेरणास्रोत है जिसके सहारे तू संसार को पार करना चाहती है। स्त्री के अनुसार उसकी नैया 'धर्म' की है जो उसे आत्मिक बल देती है। फिर, नदी पूछती है कि तेरी पतवार क्या है, कौन खेनेवाला है, और कौन स्त्री पार जायगी। इस पर वह पत्नी कहती है—

धरम कइ मोरी नइया रे, सत कइ लगी पतवारि।
सैंया मोरी नइया खेवइया,
हम धन उतरब पारि।[1]

अतः सम्पूर्ण संदर्भ ही प्रतीकात्मक है और इसके प्रतीक जीवन एवं जगत् के प्रति पूर्ण सचेत हैं। मानव जीवन के लिए धर्म,'सत्य' और प्रणय अत्यन्त आवश्यक हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा जीवन में बल का संचार होता है, एक अन्तर्दृष्टि आती है और जीवन का क्षेत्र मधुमय हो उठता है। यदि व्यक्ति केवल भौतिक सुखों के पीछे ही लगा रहेगा तो वह सत्य सुख का भागी न हो सकेगा। सत्य सुख प्राप्त करने के लिए भौतिकता से ऊपर उठना पड़ता है। यही बात प्रणय के लिए भी आवश्यक है, वह केवल मात्र शारीरिक एवं भौतिक सुख नहीं है, पर वह अन्तर का भी एक सुख है। इसी तथ्य की अपरोक्ष प्रतिध्वनि एक गीत में स्पष्ट होती है। इस गीत में चूनरी शरीर का प्रतीक है। इसके भीज जाने के भय से एक नारी, अपने हृदय में प्रेम का आग्रह होने पर भी, अपने प्रिय के पास जाने में असमर्थ है, पर वह स्नेह को भी नहीं छोड़ना चाहती है और साथ ही अपनी चूनरी को भी पानी से भिगोना नहीं चाहती है। देखिए—

बूंदन भीजै मोरी सारी, मैं कैसे जाऊँ बलमा।
आऊँ तो भीजै मोरी सुरंग चुनरिया,
नाहिन छुटत सनेह।[2]

इस पर सास कहती है कि चूनरी भीगने का डर नहीं होना चाहिए, स्नेह छूटने का डर होना समीचीन है। वह इसलिए कि स्नेह तथा प्रेम से यह

१—कविता कौमुदी, हिंडोले के गीत, पृ० ६१३-६१४।५।
२—वही, पृ० ६२६। २२।

भौतिक शरीर आलोकित एवं महान् हो सकता है। परन्तु (शरीर) चूनरी के अत्यधिक आग्रह से प्रेम तथा स्नेह दूषित हो सकता है। इसी भाव की परिणति निम्न पंक्तियों में साकार हो उठी है, यथा—

नाहीं डर बहुअरि भीजै क चुनरिया
डर बहुअरि छूटै का सनेह।
सनेह से चुनरी होइहै बहुअरि
चूनरी से नाहिन सनेह।[1]

अतः इस दृष्टि से देखने पर यह सम्पूर्ण संदर्भ ही प्रतीकात्मक ज्ञात होता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार, संपूर्ण लोकगीतों की प्रतीक-योजनाएँ मूलतः जीवन के उस पक्ष की ओर संकेत करती हैं जिसमें प्रेम तथा प्रणय का समुचित समन्वय हो सके। उनके गीत हृदय तथा अन्तःकरण से निकले हुए उद्‌गार हैं जिनमें प्रतीक उनके भाव जगत् के वे मूलाधार हैं जिनपर उनकी एक अटूट आस्था है। उनके प्रतीक यह घोषित करते हैं कि जीवन के लिए सरल एवं स्वाभाविक प्रेम की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि उसके लिए धन तथा ऐश्वर्य की। इस तरह हम ग्रामगीतो के प्रतीकों के अध्ययन से इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रेम तथा प्रणय ही जीवन-दर्शन का एक प्रमुख अंग है।

इन लोकगीतों में धार्मिक विश्वासों का एक रूप अनेक संस्कारो, व्रतों तथा उत्सवो के द्वारा हृदयंगम किया जा सकता है। ग्राम-साहित्य में इन उत्सवों आदि का महत्त्व एक तरह से प्रतीकात्मक ही है जिसमें अंधविश्वास की परिणति भी हो गयी है। जन्म से लेकर विवाह तक उत्सवों तथा संस्कारों का एक घनिष्ठ सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन में दर्शित होता है। ग्रामगीत व्यक्ति के इस रूप को अनेक माध्यमों के द्वारा व्यंजित करते हैं।

प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से ग्रामगीतों में एक तथ्य और भी है। इन गीतों में सामान्यतः नन्द तथा दशरथ, कौशल्या अथवा यशोदा और राम या कृष्ण का संकेत प्राप्त होता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो ये व्यक्ति विशिष्ट न होकर सामान्य हैं। नन्द या दशरथ, संदर्भानुसार पिता के प्रतिरूप हैं तो यशोदा अथवा कौशल्या माता की प्रतीक है। इसी प्रकार राम अथवा कृष्ण 'पुत्र' के प्रतीक होते हैं।

१—कविता कौमुदी, हिंडोले के गीत, पृ० ६२६। २२।

इसके अतिरिक्त, अन्य प्रकार की प्रतीक-योजनाएँ अपवादस्वरूप हैं। इतना होने पर भी यह कहा जा सकता है कि यदि ग्रामगीतों का अधिक अध्ययन किया जाय तो उनमें अन्य प्रकार के भी प्रतीक मिल सकते हैं। मेरे सीमित अध्ययन में भी अन्य प्रकार के (तात्विक) प्रतीकों का स्थान यदा-कदा प्राप्त हो जाता है, जैसा कि प्रसंगवश संकेत किया जा चुका है।

(ख) पाश्चात्य काव्य में प्रतीक दृष्टि (१८४०-१९४०)

पाश्चात्य तथा हिन्दू प्रतीक दर्शन का रूप

प्रतीक के दार्शनिक विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य तथा भारतीय काव्यों में समानता की अपेक्षा विभिन्नताएँ ही अधिक हैं। इसका प्रमुख कारण दोनों की दार्शनिक धारणाओं तथा काव्य में उनकी परिणति के अंतर में देखा जा सकता है। एक ने यदि जीवन को 'आत्मिक चेतना' के विकास-रूप में देखा है तो पाश्चात्य जगत् ने उसे विकासवादी (डारविन) एवं जड़विज्ञान की दृष्टि से अधिक समझा है। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि समस्त पाश्चात्य विचारधारा भौतिकवादी है और समस्त भारतीय विचारधारा आध्यात्मिक है। परन्तु सामान्य प्रवृत्ति के प्रकाश में ही उपर्युक्त तथ्य को माना जा सकता है।

इस दृष्टि से प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का पाश्चात्य तथा पौर्वात्य काव्यों में समान महत्त्व है। दोनों ने अपने अपने विशिष्ट दृष्टिकोणों से प्रतीक-दर्शन का विकास किया है। सत्य में, धार्मिक काव्य में प्रतीकों का एक बहुत बड़ा स्रोत धार्मिक ग्रन्थ ही माने जा सकते हैं। परन्तु जहाँ तक प्रतीकवाद का प्रश्न है, भारत का प्रतीकवाद अन्य देशों से (धार्मिक दृष्टि से) कहीं अधिक तार्किक एवं महान् है। इसी से ऐ० एस० गीडन् (A. S. Geden) का यह निष्कर्ष है कि संसार के धार्मिक प्रतीकवाद में हिन्दू प्रतीकवाद सबसे अधिक विकसित है।[1] मेरा यहाँ पर मंतव्य केवल यह प्रदर्शित करना है कि हिन्दू प्रतीकों का अपना वैशिष्ट्य है जो पाश्चात्य प्रतीकों में उस सीमा तक अप्राप्य है। इतना होते हुए भी पश्चात्य साहित्य में (प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक) प्रतीक का एक अपना विशिष्ट स्थान रहा है।

मानवीय भावाभिव्यंजना की समान प्रवृत्ति संसार में प्राप्त होती है।

१—इनसाइक्लोपीडिया आफ़ रिलीजन एंड इथिक्स, वाल्यूम १२ हिंदू सिम्बालिज्म, पृ० १३४५।

हमारे यहाँ प्रतीक का महत्त्व सदा से आत्म-साक्षात्कार का माध्यम रहा है और इसके बाद वह अभिव्यंजना का। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि अभिव्यंजना तथा आत्म-साक्षात्कार का एक साथ निर्वाह भारतीय धार्मिक तथा काव्यात्मक प्रतीकों का ध्येय रहा है।[1] परन्तु पाश्चात्य साहित्य में वह अधिकतर अभिव्यंजना का माध्यम माना गया है। यह प्रवृत्ति हमें मध्य-कालीन फ्रांस के प्रतीकवादी आंदोलन में अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्राप्त होती है। दांते, वर्जिल, होमर आदि प्राचीन कवियों ने जीवन, जगत्, एवं ईश्वर की समस्याओं को अपने प्रतीकों के द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया था। वह परम्परा योरुपीय साहित्य में क्रमशः कम ही होती गई और उसके स्थान पर कवियों ने धार्मिक भावना को तिलांजलि देकर, व्यक्तिगत भावना तथा संवेदना को ही अधिक प्रश्रय दिया। यह रूपरेखा योरुपीय साहित्य में पुनरु-त्थान-काल के बाद अत्यन्त स्पष्ट होने लगती है।

प्रतीक की धारणा का रूप

१६ वीं शताब्दी के मध्य तक योरुपीय काव्य में एक सबल क्रांति का श्रीगणेश हुआ। इस क्रांति में दो प्रमुख तत्त्वों का सहयोग प्राप्त होता है। एक तो मानवीय चेतना में मनोवैज्ञानिक रहस्यों का उद्‌घाटन। इसने मन का एक विशिष्ट प्रकार से विश्लेषण प्रस्तुत किया। इस तत्त्व ने योरुपीय कवियों को व्यक्तिगत मानसिक विश्लेषण की दृष्टि प्रदान की। उन्होंने एक प्रकार से व्यक्तिगत रूप में ही अथवा उसकी सापेक्षता में ही समाज तथा संसार की समस्याओं तथा व्यापारों को ग्रहण किया। स्वप्न, तथा यौन प्रतीक, रूपांतर प्रतीक (Transformation) और अप्सराएँ (Angels) इन सबकी पृष्ठभूमि में मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का एक सबल क्रियात्मक योग है। योरुप के प्रतीकवादी आन्दोलनों में उपर्युक्त तत्त्वों का प्रमुख स्थान है, क्योंकि अनेक कवियों (रिल्के, मलार्मे, येट्स आदि) ने उन क्षेत्रों को अपनी भावाभिव्यंजना का माध्यम बनाया है। इस मनोवैज्ञानिक भावभूमि के अतिरिक्त योरुप में प्रतीकवादी आन्दोलन का सूत्रपात फ्रांस से हुआ जिसका क्रियात्मक अथवा प्रतिक्रियात्मक प्रभाव योरुप के अनेक देशों पर भी पड़ा। फ्रांस का यह प्रतीकवादी आंदोलन भी मुख्य रूप से एक प्रति-क्रियात्मक आंदोलन था जो यथार्थ तथा पारनेशियन विचारधाराओं की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था।

१—दे० अध्याय प्रथम, उपखंड 'ख' में 'पौराणिक काव्य'।

प्रतिक्रियात्मक शक्तियाँ

योरुप के प्रतीकवादी आंदोलन के सूत्रपात में अनेक सामाजिक, धार्मिक एवं सोहित्यिक रूढ़ियों के प्रति एक प्रतिक्रियात्मक दृष्टि का निर्देश मिलता है। फ्रांस में प्रतीकवादी आन्दोलन का सूत्रपात इसी तथ्य पर आश्रित है। उस समय (१६ शताब्दि) समाज में मुख्य दो वर्ग थे, पुरोहित-वर्ग (Clericalism) और जनतंत्रवादी वर्ग (Democratic Elements)। योरुप के क़रीब क़रीब सभी देशों में जनतंत्रवादी शक्तियाँ अपना विकास कर रहीं थीं। उस विकास में भी फ्रांस की राज्यक्रान्ति (१७८६-१८१४) का एक विशिष्ट स्थान था जिसने जन-चेतना को आंदोलित किया।[1] इस प्रकार शनैःशनैः राजनीति का पुरोहितवाद और जनतंत्रवाद साहित्यिक रूप में ढलते ढलते प्रकृतवाद (Naturalism) और प्रतीकवाद में रूपांतरित हुए। इन दोनों 'वादों' ने सामाजिक तथा राजनीतिक संघर्ष को भी जन्म दिया। इस गति में योग प्रदान करने वाले कवि थे—मलार्मे तथा ज़ोला। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रतीकवादी आंदोलन में मलार्मे एक छोर पर है तो ज़ोला दूसरी सीमा पर है। मूलतः दोनों कवियों ने प्रतीकवाद का सहारा लेकर अपने अपने दृष्टिकोण से क्रमशः आदर्श तथा यथार्थ को प्रश्रय दिया है जिस पर हम यथास्थान विचार करेंगे। अतः योरुप के प्रतीकवादी आन्दोलन में 'प्रतीक' की धारणा का विकास दो वर्गों की देन है। एक ने आदर्श तथा सूक्ष्म मानसिक जगत् के प्रतीकों को अपनाया (मलार्मे वर्ग) तो दूसरे ने (ज़ोला वर्ग) स्थूल यथार्थ प्रतीकों को लेकर उसे जन-जीवन सापेक्ष बनाया। इस प्रवृत्ति का विकास हमें अभी तक प्राप्त होता है। येट्स में इन दोनों प्रवृत्तियों का समाहार प्राप्त होता है। टी०एस० इलियट, एज़रा पाउंड और राबर्ट फ्रास्ट में यथार्थ प्रतीकों का आग्रह कहीं अधिक है, जिसमें आदि-मानवीय संस्कृति (इलियट का वेस्ट लैंड) को भी रूपान्तरित किया गया है।

इन शक्तियों के साथ मलार्मे स्कूल पर एक अन्य प्रतिक्रियात्मक शक्ति ने कार्य किया। वह शक्ति थी वैज्ञानिक यथार्थवाद (Scientific Realism) की। मालार्मे, बर्लेन, बादलेयर आदि फ्रांस के प्रतीकवादी कवि वैज्ञानिक यथार्थवाद की पद्धति से उदासीन रहते थे। उनका मंतव्य था कि यह वैज्ञानिक पद्धति रहस्यवृत्ति पर कुठाराघात है और उनके आदर्श लोक में ऐंद्रिय जगत् का कोई स्थान नहीं है।[1] एक प्रकार से वे आदर्श सौंदर्य के

१—हैरीटेज आफ़ सिम्बालिज़्म, द्वारा बॉवरा, पृ० ५।

उपासक थे जिस में यथार्थ 'सौंदर्य' का कोई स्थान नहीं था। यहाँ पर हिन्दी प्रतीकवाद से एक स्पष्ट अन्तर प्राप्त होता है। छायावादी प्रतीक-योजना जो मूलतः कल्पना पर आश्रित है, उस कल्पना में भी कवियों ने यथार्थ का अंचल नहीं छोड़ा है अपितु अनेक यथार्थ प्रतीकों का आयोजन भी किया है।[1] इस तरह छायावाद में ही नहीं, संतों में भी इसी प्रवृत्ति का विकास प्राप्त होता है। पाश्चात्य प्रतीकवादी आंदोलन (फ़्रांस का) की सबसे बड़ी कमी यही थी कि उन्होंने आदिभौतिक क्षेत्र के सामने भौतिक क्षेत्र को सर्वथा त्याज्य माना है। सौंदर्य की भावना को उन्होंने एक प्रकार से सीमित ही कर दिया है। इसके विद्रोह में स्वयं फ़्रांस के प्रतीकवादी कवियों ने आगे क़दम उठाया जिसमें पाल वालरी (Paul Velery) प्रमुख हैं। उसने काव्यात्मक क्रिया को व्यक्तिगत न मान कर एक सामाजिक क्रिया ही माना है।[2]

प्रतीकवादी आन्दोलन में एक अन्य तथ्य ने भी सहयोग दिया, वह था टेने का निश्चयात्मकवादी सिद्धान्त (Positivism) और पारशेनिज़्म जिसकी प्रतिक्रिया से 'प्रतीकवाद' का सूत्रपात भी हुआ। सत्य में, ये दोनों विचारधाराएँ यथार्थ को लेकर ही चलती हैं जब कि फ़्रांस तथा अन्य देशों के प्रतीकवाद में उसके प्रति कोई विशेष मोह नहीं रहा है। अतः यह स्वाभाविक था कि प्रतीकवाद ने इनका भी विरोध किया जो साहित्य में एक प्रमुख भाग ले रहे थे। प्रतीकवादी सौंदर्यशास्त्र (Symbolist Aesthetics) का आरम्भिक विंदु यही टेने का निश्चयवादी सिद्धान्त था। प्रत्येक नवीन कला का अभ्युत्थान एक नवीन 'सौंदर्यशास्त्र' की अपेक्षा रखता है। इसी सौंदर्य-शास्त्र के अनुसंधान के हेतु प्रतीकवादी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ जिसने निश्चयात्मक दृष्टिकोण की अवहेलना में ही सौंदर्य की निहिति पायी और रहस्यवृत्ति का सोपान। इन्होंने कला के ध्येय को इतिहास तथा विज्ञान से विलग ही माना, जब कि टेने ने उसे मानव क्रिया का ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक रूप माना।[3] ऐसे प्रतीकवादी कवि मलार्मे, बाद्लायर, बर्नार्ड लाजरे आदि थे। इन कवियों का ध्येय था कला को मानवीय कियाओं में एक नितांत स्वतंत्र क्रिया का रूप देना जो प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से नितांत असम्भव है। मानव की कोई क्रिया नितान्त निरपेक्ष हो ही नहीं सकती

१—दे० अध्याय ग्यारह, यथार्थ प्रतीकों में।

२—हैरीटेज आफ़ सिम्बालिज्म, पृ० २६।

३—द सिम्बालिस्ट एस्थटिक इन फ़्रांस, द्वारा लेहमैन, पृ० ३१।

है, उसकी स्थिति के लिए सापेक्षता एक 'सत्य' है। कला भी एक मानवीय क्रिया है जो 'ज्ञान' के रूप में एक 'महाज्ञान' का अंग ही है।[1]

योरुप की साहित्यिक भावधारा में उस समय पारनेशिनिज़्म (Parnasianism) का भी काफी ज़ोर था जो मूलतः 'यथार्थवाद' को ही प्रश्रय देता था। पारनेशन कवि विषयवस्तु को उसके यथार्थ रूप में ग्रहण करता है और इसी से उसमें रहस्य का अभाव है। इसी से मलार्मे का मत है कि 'कविता का आनन्द तभी मिलता है जब कि हमें संतोष हो कि हम उसकी वस्तु का थोड़ा-थोड़ा कर के अनुभव कर रहे हैं। हमारी मानस चेतना को वही प्रिय है जो संकेत करता हो सचेत करता हो।'[2] यही कारण है कि भारतीय काव्यशास्त्र की व्यंजना शक्ति का एक प्रमुख स्थान सभी प्रतीकात्मक काव्यों के लिए महत्त्व-पूर्ण है। फ्रांस के प्रतीकवादी संकेत करते थे, वे अभिव्यक्ति नहीं करते थे। इस प्रकार पारनेशियन कवि के लिए कविता में हृदय को खोल कर रख देना, एक घातक प्रवृत्ति ही मानी जाती थी। इस प्रवृत्ति ने एक अत्यन्त सीमित दृष्टि को भी जन्म दिया जो काव्यात्मक अभिव्यक्ति को बरबस दमित करना चाहता था।[3] ऐसा ही एक विचारक था ली काटे लिसली (Le Conte Lisle) जिसने पारनेशिनिज़्म की विचारधारा को बल दिया।

इन सब प्रतिक्रियात्मक शक्तियों तथा प्रभावों के फलस्वरूप योरुप में प्रतीकवादी आन्दोलन का सूत्रपात सम्भव हुआ। इस आन्दोलन ने योरुप के कवियों को एक नवीन दृष्टि दी। इसके साथ ही उन्हें एक ऐसे जीवन-दर्शन की ओर भी उन्मुख किया जो मूलतः यथार्थ से अधिक आदर्शवादी था। इस प्रवृत्ति ने प्रतीक को केवल भाव जगत् का वाहक ही बनाया, उसे यथार्थ तथा इतिहास की कठोर भूमि से अलग ही रखा।

इस प्रतीकवादी आन्दोलन का प्रभाव चतुर्मुखी सिद्ध हुआ, क्योंकि इंग्लैंड, जर्मनी, रूस, आइरलैंड आदि देशों पर इसका प्रभाव पड़े बिना न रहा। इस प्रतीकवादी आंदोलन का एक बहुत ही अपरोक्ष प्रभाव हिन्दी पर माना जा सकता है। इस फ्रांसीसी प्रतीकवाद का प्रभाव अँगरेज़ी साहित्य पर भी पड़ा है। येट्स ने उस प्रभाव को अपने काव्य में उतारने का भी प्रयत्न किया। रवींद्रनाथ पर येट्स का प्रभाव स्पष्ट ही पड़ा है।[4] परन्तु इस लम्बी प्रभाव परम्परा में कितना

१—दे० इस प्रसग का पूरा विवेचन, अध्याय दो में।

२—द सिम्बालिस्ट एस्थिटिक इन फ्रांस, पृ० ६४।

३—आउटलाइन आफ़ फ्रेंच लिटरेचर, द्वारा गार्डीनर पृ० ३७७।

४—हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव, द्वारा डा० रवीन्द्रसहाय, पृ० २०६।

सत्य है, कहना कठिन है। येट्स तथा रवीन्द्रनाथ दोनों ही रहस्यवादी कवि थे। परन्तु येट्स का दृष्टिकोण यथार्थवादी कहीं अधिक था। फिर, येट्स की धार्मिक भावना तथा रवीन्द्र की धार्मिक भावना में भी अंतर है। इतना होने पर भी कुछ न कुछ प्रभाव दोनों में अन्योन्य ही मानना उचित होगा। रवीन्द्र का काव्य एक भारतीय तत्व-चिंतन का काव्य है जिसमें पाश्चात्य सौंदर्य भाव की तथा विचार की अन्विति है। फिर यह भी सम्भव है कि अक्सर एक युग के दो या अधिक महान् कवियों में समानता नज़र आ जाती है, जो एक दूसरे के विचारों का अन्योन्य आदान-प्रदान भी हो सकता है। यह सत्य योरुप के प्रतीकवादी आन्दोलन में अत्यन्त स्पष्ट है। फ्रांस के पाल वालरी तथा बादलेयर (वर्लेन भी), जर्मनी के मेरिया रिल्के और स्टीफ़न जार्ज, रूस के एलक्ज़ेन्डर ब्लाक तथा आइरलैंड के येट्स—इन प्रमुख कवियों में एक पूरे युग का प्रतीक-दर्शन (१८५०-१६४०) साकार हो उठा है।

मलार्मे से लेकर येट्स तक का लम्बा काल एक प्रकार से 'प्रतीक' की धारणा का विकास काल है। इस प्रतीक की धारणा अथवा उसके स्वरूप को हृदयंगम करने के लिए कुछ प्रमुख आयामों का विश्लेषण आवश्यक है जिनके द्वारा प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की एक रूपरेखा स्पष्ट हो सकती है। इस अभिव्यक्ति को ध्यान में रखकर प्रतीक का अध्ययन निम्न आयामों के प्रकाश में किया जा सकता है—

रहस्यवृत्ति—प्रतीकवादी रहस्यवृत्ति यथार्थ के प्रति प्रतिक्रिया थी जिसका विवेचन प्रथम ही हो चुका है। मलार्मे तथा अन्य कवियों में यह प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट है। मलार्मे की रहस्यवृत्ति सौंदर्य भावना पर ही मूलतः आश्रित थी। बादलेयर के लिए तथा वालरी के लिए रहस्य-भावना जीवन सापेक्ष ही अधिक थी। उनके लिए यह विश्व प्रतीकों का एक आगार था जो रंग, ध्वनि तथा सुगन्ध से आत्मिक सुख प्रदान करता था।[१] यह प्रतीकवादी परम्परा धार्मिक रहस्यवाद से सर्वथा भिन्न थी। कवियों ने केथलिक मत के प्रतीकों को एक नितान्त व्यक्तिगत रूप में ही प्रयुक्त किया था। उन्होंने अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए नवीन प्रतीकों का ही सहारा लिया, क्योंकि उनके अनुसार कवि को निजी आनन्द के लिए नव-प्रतीकों का सृजन अत्यन्त आवश्यक है।[२] इस प्रकार, प्रतीक ही आनन्द प्रदान करते हैं। यहाँ तक वर्लेन ने ईश्वर को भी सुख, आनन्द तथा शांति का रूप माना है। वह कहता

१—हेरीटेज आफ़ सिम्बालिज्म, पृ० ६।

२—इस प्रसंग का विवेचन अध्याय १, २ में हो चुका है।

है—'तुम शांति, आनन्द तथा सुख के ईश्वर, मेरे समस्त भय तथा अज्ञान, तुम ही मेरे ईश्वर हो। यह तुम जानते हो कि मेरे समान कोई भी ग़रीब नहीं है, यह सब तुम जानते हो।'[1] यहाँ पर रहस्य भावना में दीन भाव तथा एक प्रकार की विक्षोभ भावना के ही अधिक दर्शन होते हैं। तुलसी ने भी अपनी आत्मविनय की वाणी में अपने राम के प्रति इसी दैन्य भाव की अभिव्यंजना की है। इस रहस्यवृत्ति का अभाव वालरी में प्राप्त होता है, क्योंकि वह आदर्श के स्थान पर यथार्थ का पुजारी था। उसने मलार्मे के आदर्श-प्रतीकों को लेकर उन्हें एक तार्किक तथा रहस्यहीन रूप में समक्ष रखा। अतः वालरी का झुकाव जन-जीवन की ओर अधिक था। परन्तु इस जीवन के प्रति झुकाव होने पर भी उसमें दार्शनिक रहस्यवृत्ति के दर्शन हो ही जाते हैं। वालरी के सभी विषय आकाश, समय, गति, स्वप्न, निन्द्रा, नौका बिहार केवल एक प्रश्न की ओर उन्मुख है कि 'मैं कौन हूँ?' अस्तु, उसकी कविताओं के विषय-वस्तु अस्तित्व-दर्शन (Philosophy of Existence) को ही प्रश्रय देते हैं।[2] इसी प्रकार, स्टीफ़न जार्ज में भी ऐन्द्रिय भावना (Sensuality) का रहस्यात्मक स्वरूप मिलता है जो मालार्मे के बाद के सभी कवियों में एक समान तत्त्व है। स्टीफ़न जार्ज की ऐन्द्रिय भावना बुद्धि से शासित है। जार्ज की एक रहस्यवादी कविता 'मिस्टेक' है जो हिन्दी रहस्यवादी प्रवृत्ति के समान दृष्टिगत होती है। इस कविता में एक शिष्य (आत्मा का प्रतीक) अपने स्वामी (ईश्वर का प्रतीक) से मिलने की इच्छा करता है। परन्तु जब स्वामी आता है तब वह उसे पहचान नहीं पाता है। कवि कहता है—आगन्तुक चला गया, शिष्य एक वेदनामय विलाप से नमित हो गया—क्या उसकी अंध निराशा और रोगग्रस्त आशा है? यह स्वामी ही था जो आया और चला गया जिसे उसने प्रथम नहीं देखा।[3] यह भाव विश्वकवि

१—फ़ार्टी प्योम्स, द्वारा वर्लेन, 'माईगॉड', पृ० ७७।

२—द आर्ट आफ़ पाल वालरी, द्वारा फ्रैंसिस स्काफ़, पृ० ६०।

३—The stranger vanished
The disciple knelt,
With anguished cry... ...
For in the holy glow,
That bathed the spot,—
He saw, what is his blind
Despair and sick by hope,—
He had not seen
Before; it was the Lord
Who came and went.

रवीन्द्रनाथ की उन पंक्तियों से भी समानता रखता है (छायावाद तथा स्वच्छन्दवादी काव्य में भी दे० पीछे) जो अज्ञानवश 'उस' आगन्तुक को निद्रा के कारण देख नहीं पाता है और 'वह' लौट जाता है। जब हम येट्स की रहस्यवृत्ति का विश्लेषण करते हैं, तो उसके प्रतीकवाद में रहस्य-भावना का जीवन-सापेक्ष या जगत्-सापेक्ष महत्त्व पाते हैं। येट्स प्रतीकवाद में रहस्य भावना को एक व्यक्तिगत रूप में ही देखता है। परन्तु वह रहस्य भावना में सौंदर्यगत आनन्द, शुद्ध अन्तर्दृष्टि अथवा सृजनात्मक सुख को नहीं ढूँढ़ता है। पर वह एक ऐसी शक्ति के अनुसंधान में प्रयत्नशील है जो दृश्य जगत् के पीछे उसकी पृष्ठभूमि में है जिसकी अनुभूति 'स्वप्न' में होती है।[1] इस प्रकार, रिल्के तथा येट्स ऊर्ध्व क्षेत्र (Transcendence) के कवि हैं। पर दोनों में एक अन्तर भी है। रिल्के के लिए बाह्य वस्तुओं का रूपान्तर अन्तर्गत में होता है, जबकि येट्स में अन्तर्जगत् बाह्य रूपों में रूपान्तरित होता है।[2] इसका सुन्दर उदाहरण येट्स की एक कविता 'टावर' (Tower) में प्राप्त होता है, जहाँ वह मृत अस्तित्वों से स्वप्न को जाग्रत कर एक चन्द्र-लोक से परे स्वर्ग का सृजन करना चाहता है।[3] इन सब उदाहरणों के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि प्रतीकवादी आन्दोलन में रहस्य भावना एन्द्रिय भावना पर आधारित होने पर भी एक अदृश्य तत्त्व की ही व्यंजना करती है। प्रतीकवादी कवियों की रहस्य भावना इसी तथ्य पर आश्रित थी। इसी से येट्स ने एक स्थान पर कहा है कि प्रतीक एक आध्यात्मिक तत्त्व की अभिव्यक्ति है, आध्यात्मिक दीपशिखा के चारों ओर एक पारदर्शक लैम्प है। किसी भी प्रतीक का महत्त्व सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से उसके रहस्यात्मक अनुभव में निहित रहता है।[4]

यथार्थ जीवन-दर्शन—योरुप के प्रतीकवादी आन्दोलन में जीवन-

१—हेरीटेज आफ़ सिम्बालिज़म, द्वारा बावरा, पृ० १६० ।

२—द क्रियेटिव एलीमेंट, द्वारा स्टीफ़न स्पेन्डर, पृ० १०८ ।

३—Aye, sun, moon and star, all
And futher add to that
That, being dead, we rise
Dream and so create
Translunar Paradise.
—टावर, द्वारा येट्स ।

४—द सिम्बालिस्ट एस्थटिक इन फ्रांस, द्वारा लेहमैन, पृ० १७८ से उद्धृत ।

दर्शन भी कहीं कहीं पर रहस्यात्मक आवरण में लिपटा हुआ ज्ञात होता है जिसका संकेत रहस्यवृत्ति के अन्तर्गत किया जा चुका है। मालार्मे तथा फ्रांस के अन्य प्रतीकवादी कवियों ने साधारण जीवन और कविता में जो खाई कर दी थी, उसका परिहार आगे के कवियों ने यथाशक्ति रूप से किया। इसका प्रतिकार वालरी, एलक्ज़ेन्डर ब्लाक और येट्स ने अत्यन्त सुन्दरता से किया। उन्होंने जीवन को एक रहस्य भावना के प्रकाश के साथ साथ, तत्कालीन परिस्थितियों तथा मनोविज्ञान के अनुसार भी देखा और परखा। वालरी का सिद्धान्त था कि वह किसी भी वस्तु को जिस रूप में देखे उसी रूप में रख दे। उसने अपनी आन्तरिक लालसा में न विज्ञान का और न काव्य का तिरस्कार किया, पर दोनों के उचित समन्वय पर ज़ोर दिया। इस दृष्टि से उसके प्रतीक उसकी चेतना के स्तरों का उद्‌घाटन ही करते हैं जिसमें ससार की स्थितियों का एक व्यक्तिगत विवेचन ही मिलता है। उसकी ऐन्द्रिय भावना ही उसके काव्य में उतर कर साकार हुई है। अपनी प्रसिद्धतम कविता 'वर्जिन फ़ेट' (Le Jeune Parque) में उसने जीवन को किसी ऐसे तत्त्व के रूप में नहीं देखा जो एक गद्य के 'फ़ारमूला' में केन्द्रीभूत कर दिया जा सके। परन्तु, उसने जीवन को उसके क्रिया-प्रतिक्रिया और कार्य-कारण के प्रकाश में ही देखा है।[१] कवि ने जीवन के इस रूप को मूलतः व्यक्तिगत भावना के प्रकाश में ही देखा है जो उसके आंतरिक जगत् का प्रतीक है। यहाँ पर उसने अपनी कविता को (वर्जिल का रूप) अपने 'दर्शन' के लिए प्रयुक्त किया है, जिस प्रकार ल्यूनार्डो विन्सी (Leonardo Vinci) ने चित्रकला को अपने दर्शन के लिए ग्रहण किया था। जब हम एलक्ज़ेन्डर ब्लाक की कविताओं का आख्यान करते हैं तो उसमें रूस की दशा से उत्पन्न एक नव चेतना के दर्शन पाते हैं। उसनें प्राचीन रूढ़ियों, सामन्तवादी परम्पराओं में जीवन की नव चेतना को स्पंदित नहीं पाया। इसके विपरीत उसने चिमनी, फ़ैक्टरी और हूटर में जीवन के नव रूपों का सिंहावलोकन किया। यही नहीं, उसने १९१७ की क्रान्ति में संगीत की आत्मा का एक नवीन प्रकाश प्राप्त किया था। उसने अपनी प्रसिद्ध कविता 'ट्वेल्व' (Twelve) में एक गिरते हुए संसार का चित्र खड़ा किया है। इस कविता का आरम्भ कवि ने प्रत्येक शक्ति (राष्ट्र) को संविधान सभा (Constituent Assembly) में जाते हुए चित्रित किया है। यह सभा ऐसे समय में हो रही है जब 'अन्धकार' की व्याप्ति है और उस अन्धकार

१—द आर्ट आफ़ पाल वालरी, द्वारा फ़्रैन्सिस स्कार्फ, पृ० १८०।

में अद्भुत आकार आते तथा जाते हैं। वृद्ध औरत, सामन्त, धर्मगुरु, सेठ और कवि आदि आकर फिर अन्धकार में विलीन हो जाते हैं, केवल उनकी प्रतिध्वनियाँ ही शेष रह जाती हैं। इस सम्पूर्ण चित्र में विलीन होते हुए आकार एक टाइप मात्र हैं जिनका अस्तित्व संदिग्ध है। दूसरी ओर अन्धकार प्राचीन तथा रूढ़ संसार का प्रतीक है जहाँ अज्ञान का साम्राज्य है जिसमें अनेकानेक 'आकार' विलीन हो जाते हैं। इस चित्र का एक अंश इस प्रकार है—

> विकराल वायु आघात करती है,
> पागल तथा प्रफुल्ल है।
> वह स्कर्ट को उड़ा ले जाती है,
> पथिकों को धराशायी कर देती है,
> प्रकम्पित तथा थर्राहट से युक्त कर
> स्वयं निकल जाती है,
> एक बड़ा विज्ञापन समाप्त हो गया—।[१]

यह विकराल पवन उस शक्ति का प्रतीक है जो समस्त आशाओं एवं प्रयत्नों को चकनाचूर कर अपनी विकरालता का तांडव नृत्य कर रही है। इस प्रकार ब्लाक ने राजनीति तथा समाज की दशा का चित्रांकन प्रतीक शैली के द्वारा किया है। इसी प्रकार येट्स ने अपने अन्तिम जीवन काल में राजनीति को अपने काव्य का विषय बनाया है। इसी दिशा की ओर उन्मुख होने से इन कवियों ने प्रतीकों के नव अभियान की ओर भी संकेत किया है। इस विषय पर आश्रित अनेक प्रतीकात्मक रूपों की अवतारणा अब तक योरुपीय काव्यों में होती आ रही है। इलियट, पासटरनैक, फ्रास्ट, एजरा पाउण्ड, अज्ञेय, दिनकर पन्त आदि ने इस नव प्रतीक अभियान में जो योग दिया है, वह अद्वितीय है।

येट्स की काव्य-साधना में इस विषय के प्रतीकों का एक सुन्दर विकास प्राप्त होता है। उसने अपने 'प्रतीकवाद' के द्वारा यह घोषित किया कि राज-

---

१—The wild wind hurts,
Is mad and gay.
It blows the skirts,
Moves the passers by,
Shakes, quakes and makes fly ;
The great placard away—
All powers to the constituent Assembly.
हेरीटेज आफ़ सिम्बालिज्म से उद्धृत, पृ० १५८।

नीति तथा समाज के लिए भी प्रतीक उसी प्रकार सुन्दर व्यजना कर सकते हैं जिस प्रकार प्रेम, रहस्य अथवा स्वप्न के प्रतीक। जिस प्रकार भारतेन्दु तथा द्विवेदीकालीन काव्यों ने समाजगत प्रतीकों का उन्मेष किया था, उसी प्रकार आयरलैण्ड की चेतना तथा विश्व की चेतना को झकझोरने के लिए येट्स ने इस नवीन अभियान को सामने रखा। अपने समय के विप्लवों तथा क्रांतियों के मध्य में भी वह बौद्धिक शान्ति का इच्छुक था, जिससे उसे एक रहस्यात्मक सुख प्राप्त हो सके। इस इच्छा को अपनी प्रसिद्ध कविता 'बैनज़ैनटियम्' (Banzantium) में प्रतीक का रूप दिया है। यह कविता येट्स के सैद्धांतिक विधि की सुन्दर प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।[1] संसार की दारुण एवं करुण दशाओं के प्रति उसकी आध्यात्मिकता सदैव उन्मुख रही, जिस प्रकार रवीन्द्रनाथ की आध्यात्मिकता संसार की यथार्थ भावभूमि को लेकर चली है। एक दयनीय दशा को देखकर कवि उस पर चिन्तन करता है और चिन्तना के प्रकाश में उसे प्रतीकात्मक विधि से रखता है। 'सिविल वार' के प्रति कवि की यही चिन्तन शक्ति उभर कर सामने आई है—

"मैं टावर पर चढ़ गया और नीचे टूटे हुए पत्थरों पर झुका। बर्फ़ से सर्द 'कुहासा' सब पर छाया हुआ था।"[2] स्पष्ट ही कवि का टावर पर चढ़कर नीचे टूटे हुए पाषाणों को देखना उस समय की टूटी हुई स्थिति तथा विच्छ्रृङ्खलित दशा का सुन्दर निर्देश करती है। 'गहरा कुहासा' एक अनिश्चित भविष्य का अन्धकारमय रूप है जो समस्त देश पर छाया हुआ है। इसी कुहासे को प्रकाश से स्पंदित करने के लिए कवि एक आशावादी की तरह 'किसी' दूसरे के आने (Second Coming) की प्रतीक्षा करता है। उस आगमन से मानवीय चेतना का एक नवीन अध्याय आरम्भ हो सके, और प्राचीन रूढ़ियाँ तथा मान्यताएँ अपनी विकरालता का रूप समेट सकें।[3] इस प्रकार संक्षेप में योरुप की कविता में प्रतीकों का यथार्थ रूप आशावादी दृष्टिकोण से परिचालित होने से, निराशाजनक नहीं कहा जा सकता है। परन्तु, यथार्थ

१—द थियेरी आफ लिटरेचर, द्वारा रिनी वेलक तथा वेरन, पृ० २१२।

२—I climb to the tower top,
and lean upon broken stones,
A mist that is like blown snow
is sweeping over all.
—टावर, द्वारा येट्स, पृ० २६।

३—द क्रियेटिव एलीमैंट, द्वारा स्पेन्डर, पृ० ३४।

जगत् की विभीषिकाओं, विविधताओं एवं वैमनस्य-भावों को देखकर कवि का अन्तस्तल विक्षोभ से अवश्य भर उठता है।

स्वप्न, चेतना, मृत्यु, रूपान्तर आदि

प्रतीकवादी कवियों के लिए स्वप्न तथा चेतना के मध्य की दशा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। उनका ऐसा मन्तव्य था कि इस अर्ध-निद्रा की दशा में मन महत्त्वपूर्ण घटनाओं तथा विषयों को देखता है। इस समय प्रत्येक बिम्ब तथा प्रतीक एक नवीन क्षितिज का उद्घाटन करता है जो विश्वजनीन अधिक होते हैं, अपेक्षाकृत व्यक्तिगत। इस दशा में कवि के अन्तर्गत का एक भाव या विचार सम्पूर्ण (Whole) का व्यंजक होता है। यह स्वप्न-दशा एक ऐसी स्थिति मानी गई है जहाँ सत्य अथवा मिथ्या का प्रश्न ही नहीं उठता है। बादलेयर के अनुसार स्वप्नावस्था का यह अर्थ नहीं है कि हम सोने का उपक्रम करें और यह प्रतीक्षा करें कि अब कौन सा 'विजन' अन्तरपट पर आता है। यह दशा प्रतीक अनुसंधान की एक आवश्यक अङ्ग मानी गई है।[1] यही कारण है कि रिम्बो, वर्लेन, मलार्मे, वालरी, येट्स आदि प्रतीकवादी कवियों के लिए स्वप्नदशा कल्पना शक्ति का वह माध्यम है जो नित नवीन प्रतीक-सृजन की ओर व्यक्ति को उन्मुख करती है। रिल्के की अप्सराएँ (Angels) इसी स्वप्नलोक की सुन्दर अभिव्यक्ति हैं जो उसकी काव्यात्मक प्रेरणा की प्रतीक हैं। इस अप्सरा में भौतिकता तथा आध्यात्मिकता एक दूसरे में झाँकते हुए प्रतीत होते हैं।[2] इसी प्रकार गुड़ियाँ (Dolls) जिनके साथ वह खेला करता था, उसके लिए व्यक्ति-अस्तित्व की प्रतीक हो गईं।[3] पन्त की अप्सरा के स्वरूप में सौंदर्य-भावना का एक आध्यात्मिक पक्ष ही मुखर होता है। अतः रिल्के के काव्य में अप्सरा एक ऐसा रूपान्तर (Transformation) है जो यह विश्वास दिलाता है कि संसार में ऐसी भी शक्ति है जो दृश्य जगत् को अदृश्य जगत् से मिलाती है। इसी प्रकार प्रतीकवादी काव्य में जहाँ पर भी नारी का संकेत प्राप्त होता है, वह मूलतः कवि के प्रेरणालोक की ही प्रतीक है।

१—द सिम्बालिस्ट एस्थटिक इन फ्रान्स, पृ० ८७।

२—द क्रियेटिव एलीमेंट, द्वारा स्पेन्डर, पृ० ६१।

३—Angels and dolls, then there's at last a play;
Then we unite what we
continually part by our being there.
—द क्रियेटिव एलीमेंट, पृ० ६१।

इसके साथ वह प्रेम की भी प्रतीक हैं। वर्लेन के एक स्वप्न का यही रूप है, जब वह कहता है—

कभी कभी मुझे यह अद्भुत और तल्लीनतामय स्वप्न आता है—एक अज्ञात, प्रेम की हुई तथा प्रेम करती हुई नारी का, जो प्रत्येक क्षण एक सी नहीं ज्ञात होती है और न अन्य ही ज्ञात होती है।[१]

इसी प्रकार येट्स की परियाँ (Sidhe) भी उसके स्वप्नलोक की प्रेरणाएँ हैं जो उसे जगत् से परे ले जाती है। यही स्थिति ब्लाक की सुन्दरी की भी है।[२] स्वप्न तथा चेतना के इस आन्तरिक लोक का एक अन्य भावात्मक विकास मृत्यु, रूपान्तर और बाह्याकृति (Mask) की धारणाओं में दृष्टिगत होती है। इन धारणाओं के द्वारा उन्होंने प्रतीकीकरण क्रिया को एक नवीन धरातल का वाहक बनाया है। रिल्के तथा येट्स के लिए मृत्यु तथा रूपान्तर तत्त्व उनके काव्यदर्शन के प्रमुख अंग रहे हैं। 'रूपान्तर' की भावना पर पीछे ही संकेत हो चुका है कि कवियों ने बाह्य जगत् का रूपान्तर अन्तर्जगत् में किया है अथवा कहीं कही पर आन्तरिक जगत् को बाह्य में रूपान्तरित किया है। रिल्के के काव्य में रूपान्तर स्थिरता की दशा को व्यक्त करता है। उसके लिए जीवन 'रूपांतर' में ही अन्तर्जगत् का एक रूप है जिसमें बाह्य रूपराशि भी तिरोहित हो जाती है। एक स्थान पर वह इसी भाव को व्यक्त करता है—हे प्रेयसी !संसार कहीं पर भी अस्तित्वमय नहीं हो सकता है, परन्तु जीवन अन्तर्जगत् में रूपांतरित होता है, और जो कुछ भी बाह्य रूपराशि है, वह सदा ही लुप्त होती रहती है।[३]

१—Often have I this strange and
penetrating dream
Of a woman unknown, loved and loving me
And who each time neither quite the same.,
Nor yet another, and loves and understands.
फार्टी प्योम्स, द्वारा वर्लेन, पृ० १५ 'वेल नोन ड्रीम'।

२—हरीटेज आफ़ सिम्बालिज्म, पृ० १५४।

३—वही, पृ० ८५।
Nowhere, beloved, can world exist but
Life passes in transformation within,
And ever diminishing
Vanishes what is outside.

आत्मा बाह्य वस्तुओं को, एक आध्यात्मिक रूप में रूपान्तरित कर, उन्हें एक स्थिरता प्रदान करती है। प्रेम, पक्षी, रात्रि, दिन, मृत्यु—ये सब मानव के अन्तर्जगत् के ही रूपान्तर हैं। यही कारण है कि प्रतीकवादी कवियों ने अपने को रूपांतरकार अधिक माना है, अपेक्षाकृत एक सृजनकार के। सत्य में, यह रूपांतर तत्त्व का आध्यात्मिक रूप हमें छायावादी काव्य में भी प्राप्त होता है। परन्तु वहाँ पर उसका रूप भारतीय दर्शन से ही अधिक प्रभावित है। हिन्दी कवियों ने रूपान्तर को 'माया' का एक अंग माना है जो प्रकृति तथा बाह्य रूपराशि को संचालित करती है। कवि प्रकृति के रूपों को प्रतीक के रूप में अपनी भावाभिव्यंजना के लिए रूपान्तरित करता है। यहाँ पर मेरा मन्तव्य पाश्चात्य प्रतीकवादी आन्दोलन का छायावाद पर प्रभाव दिखाना नहीं है, क्योंकि दोनों ही दृष्टियों में एक विशिष्ट अन्तर है। रूपान्तर का जितना आग्रह प्रूस्ट (Proust) और रिल्के में है, उतना अन्य प्रतीकवादी कवियों में नहीं प्राप्त होता है।[1]

इस रूपान्तर तत्त्व का अन्तिम पर्यवसान 'मृत्यु' की भावना में होता है। रिल्के अपने रूपान्तर-प्रतीकों को एक स्थान पर एकत्र कर उन्हें एक 'मृत' के दृश्य में स्थगित कर देता है। इस प्रकार 'मृत्यु' में ही रूपान्तर पूर्णता को प्राप्त होता है। येट्स 'मृत्यु' को जीवन का एक रूपांतर ही मानता है जो अतिमानव (Superman) के जीवन का एक रूप है। परन्तु रिल्के की विचारधारा में मृत्यु तथा गर्भ (Womb) दो छोर हैं। एक छोर पर 'गर्भ' है जो एक ऐसा संसार है जो निषेधात्मक है। वह कहीं भी नहीं है और 'नहीं' के परे है। जहाँ अस्तित्व है, 'एक' है, वहाँ देना ही लेना है और प्रत्येक वस्तु विपरीत है। दूसरे छोर पर 'मृत्यु' है जो सम्पूर्ण जीवन का सार है। परन्तु मृत्यु के परे रिल्के ने अस्तित्व को 'ईश्वर' की धारणा में अर्पित नहीं किया है। ईश्वर 'उसमें' वास करता है, बिना 'उसके' ईश्वर का अस्तित्व असंदिग्ध है। ईश्वर जीवन और मृत्यु दोनों का मिला हुआ रूप है।[2] उसका यह विचार है कि जीवन को मृत्यु में तिरोहित कर दो, उसमें मिला दो। जब आदमी मर जाता है, तभी वह प्रतीक के समान अवतरित होता है। जीवन और मृत्यु का यह विवेचन एक अन्तर्दृष्टि का विषय है जिसे रिल्के ने एक अत्यन्त सुन्दर रूप में रखा है। उसने जीवन की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए उसकी क्षण-

१—द क्रियेटिव एलीमेंट, स्पेन्डर, पृ० ६७।

२—वही, पृ० ६२।

भंगुरता को और उसके अंतिम गंतव्य को 'मृत्यु' के विशाल गह्वर में माना है। अतः मृत्यु यहाँ पर एक प्रतीक है, क्योंकि वह एक समस्या को सुलझाती है।

रूप तथा शैली

प्रतीकवादी आन्दोलन का अन्तिम प्रमुख तत्त्व उसकी रूपगत विचार धारा है जिसके विवेचन से 'प्रतीक' की स्थिति भी अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। प्रतीकवादी काव्य में रूप के प्रति एक विशेष आग्रह रहा है। रूप के बारे में, प्रतीक की दृष्टि से, प्रथम ही विचार कर चुका हूँ। वहाँ पर मैंने स्थापना की है कि प्रतीक की स्थिरता के लिए तत्त्व तथा रूप का एक समन्वय अपेक्षित है जिसमें तत्त्व के अनुसार ही रूप का आग्रह होना चाहिए।[1] प्रतीकवादी आन्दोलन ने शैली तथा रूप में एक क्रान्ति का समावेश किया, जिस प्रकार छायावाद ने रूपात्मक अभिव्यंजना में क्रान्ति का बीज बोया। वालरी का आधुनिक प्रतीकवाद में इसी से प्रमुख स्थान है कि उसने युगों से मान्य परम्पराओं के स्थान पर नवीन शैली तथा शिल्प का सिहावलोकन किया। प्रतीकवादी आन्दोलन में रूपात्मक महत्त्व का समान ही आग्रह था, जिस पर एक विहंगम दृष्टि अपेक्षित है।

प्रतीकवादी कवियों के अनुसार वहीं कवि सफल हो सकता है जो अपनी रूपात्मक अभिव्यंजना में किसी ध्येय का संगुंफन कर सके और रूप को अपनी कला पर एक मात्र हावी न होने दे। प्रतीक भी एक रूपात्मक धारणा है जिसमें रूप तथा तत्त्व एक ही हैं। प्रतीकवादी काव्य में कला को फ़ार्म ही कहा गया है। दूसरी ओर भाषा को कला के समकक्ष या समान कहा गया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि भाषा तथा कला दोनों ही 'फ़ार्म' हैं।[2] मलार्मे का उपर्युक्त मत 'रूप' के एकछत्र साम्राज्य का सूचक है। यही बात बादलायर में भी है जिसे सार्त्र ने शुद्ध रूपों का सृजनकर्त्ता भी कहा है।[3] रिम्बों ने फ़ार्म तथा तत्त्व दोनों का समान सृजन किया, जो मेरे विचार से 'प्रतीक' के लिए एक तार्किक सम्बन्ध है। उसी से मलार्मे कहता है कि जब फ़ार्म की चर्चा चलती है तो उसका फ़ार्म (भाषा) से अर्थ नहीं होता है, परन्तु उसका अर्थ फ़ार्म के 'अगोचर रूप' एब्सट्रेक्शन से कहीं अधिक होता है।[4] अतः प्रतीकवादी आन्दोलन

१—दे० अध्याय दो, काव्यात्मक प्रतीक दर्शन में।

२—द सिम्बालिस्ट एस्थटिक इन फ्रांस, पृ० १७७।

३—बादलायर, द्वारा जीन पाल सार्त्रे, पृ० १५२।

४—द सिम्बालिस्ट एस्थिटिक इन फ्रांस, पृ० १७७।

को ध्यान में रखकर मैं यह कहूँगा कि काव्य में जो कुछ भी तत्त्व है, उसका महत्त्व भाषा के द्वारा 'रूप' के नित नवीन आयामों का अनुसंधान है।

शैली की दृष्टि से प्रतीकवादी कवियों ने भाषा की व्यंजना-शक्ति[1] काव्य के संगीत तत्त्व[2] और भाषा की रूपात्मक शक्ति पर अत्यन्त ज़ोर दिया है। प्रतीकवादी दृष्टिकोण में तथा भारतीय दृष्टिकोण में, जहाँ तक इन क्षेत्रों का प्रश्न है, कोई विशिष्ट अन्तर नहीं है। इसी से, मैं काव्यात्मक प्रतीक-दर्शन तथा भाषागत प्रतीक-दर्शन के अन्तर्गत भाषा की व्यंजना-शक्ति पर और संगीत-तत्त्व पर प्रथम ही विचार कर चुका हूँ। उसमें फ़्रांस के प्रतीकवादी आन्दोलन का भी आश्रय लिया गया है, क्योंकि भारतीय काव्य-शास्त्र में 'भाषा' के प्रति एक अत्यन्त वैज्ञानिक विश्लेषण प्राप्त होता है।[3] जहाँ तक भाषा की रूपात्मक शक्ति का प्रश्न है, उसका विस्तार भी प्रथम हो चुका।[4] प्रतीक, अलंकार, व्यंजना, लक्षणा, मानवीकरण, भाषा के शब्द, पुराण, कथा-रूपक आदि जितने भी अभिव्यंजना के माध्यम हैं, वे सब मूलतः भाषा की 'रूपीकरण' प्रवृत्ति के सबल उदाहरण हैं। भाषा का महत्त्व केवल योरुप के प्रतीकवादी आन्दोलन के लिए ही नहीं था। उन्होंने ही प्रथम बार भाषा के वैज्ञानिक स्वरूप का उद्‌घाटन नहीं किया। परन्तु भारतीय मनीषियों ने सदियों पूर्व उसी 'सत्य' को अपनी चिन्तन-शक्ति से उद्‌भासित किया था। इसी से, मैंने भाषा के विश्लेषण का विवेचन प्रतीकवादी दर्शन एवं 'पुराण तथा भाषा' के अन्तर्गत प्रथम तथा द्वितीय अध्यायों में किया है।

निष्कर्ष

इस सम्पूर्ण विवेचन से योरुप के प्रतीकवादी आन्दोलन की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। अनेक कमियों के होते हुए भी कवियों ने प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति को तथा उसके दर्शन को मानवीय चेतना का एक अंग ही बनाया है। यह ठीक है कि फ़्रांस में 'प्रतीक' का अर्थ संकुचित था, उसे केवल मात्र ऐंद्रिय भावना पर आश्रित एक रहस्यात्मक भाव ही माना गया था जिसमें विज्ञान तथा इतिहास के प्रति उपेक्षा भाव था, परन्तु सम्पूर्ण योरुपीय काव्य के भाव-पक्ष को ध्यान में रखकर यह मत सत्य प्रतीत नहीं होता है। आगे के कवियों ने प्रतीक-सृजन की क्रिया को जगत्

१—हरीटेज आफ़ सिम्बालिज्म, पृ० ३–५।

२—वही, पृ० ५।

३—दे० अध्याय दो, काव्यात्मक तथा भाषागत प्रतीक दर्शन में।

४—दे० अध्याय एक तथा तीन में क्रमशः उपखंड ख तथा ङ।

जीवन एवं राजनीति के क्षेत्रों का वाहक भी बनाया। इसके अतिरिक्त रहस्य-भावना में इन कवियों ने आध्यात्म जगत् को उभारने का प्रयत्न तो अवश्य किया है; पर उस 'अध्यात्म' में सम्पूर्ण जीवन-दर्शन का सन्निवेश नहीं हो सका है। फिर प्रतीकवादी आन्दोलन की रहस्य भावना का मूलतः यही अर्थ लिया जाता था कि जो भौतिकता से परे हो, जो दूर की कल्पना कर सके, परन्तु रहस्यभावना में कल्पना के स्थान पर अनुभूति तथा संवेदना का आग्रह कहीं अधिक होता है। अतः उन्होंने ज्ञान की विस्तृत भावभूमि को हृदयंगम न कर केवल उसके एक अंश को ही अपने प्रतीकों से संजोया है, परन्तु वह अंश अपने में पूर्ण है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उन्होंने यह अनुभव किया कि कला की मूल प्रकृति भी ज्ञान-सापेक्ष है, परन्तु वे उस ज्ञान के सही स्वरूप पर पूर्णतया पहुँच न सके।[१]

इन न्यूनताओं के होते हुए भी प्रतीकवादी आन्दोलन ने कुछ प्रमुख साहित्यिक मूल्यों का वरदान अवश्य दिया। प्रतीकवाद की यह देन काव्य को एक नव अभियान की ओर ले जा सकी। कवियों ने शैली तथा व्यंजना के नित नवीन प्रयोग कर काव्य को सभी रूढ़िग्रस्त रूपात्मक प्रकारों से एक प्रकार से विमुक्त किया। इसके अतिरिक्त संगीतात्मकता तथा ध्वनि का सुन्दर समन्वय कर उन्होने रूपात्मक अभि व्यंजना को सहज एवं हृदयग्राही रूप से रखा। मूलतः यही काम हमारे यहाँ के छायावादी तथा स्वच्छंदवादी कवियों ने भी किया। परन्तु प्रतीकवादी आन्दोलन ने परम्पराबद्ध छंद 'अलेक्ज़ेन्ड्रीन' (Alexandrine) की निश्चित मात्रा की जगह एक स्वच्छंद छंद की अवतारणा की। छायावादी काव्य में छंदों के नित नवीन प्रयोग तो अवश्य हुए पर उनमें मात्रा तथा ध्वनि का सदैव ध्यान रखा गया। यहाँ तक कि मुक्त छंद में भी ध्वनि तथा 'लय' को एक विशिष्ट स्थान दिया गया। इस प्रकार प्रतीकवादी आन्दोलन ने अतुकांत तथा मुक्त छंद का दान साहित्य को दिया। इसके अलावा इस प्रतीकवाद ने काव्य तथा संगीत में एक अद्भुत सामंजस्य भी किया। काव्य के 'रूप' में उसने जो सबसे बड़ी देन दी, वह थी सौंदर्यवाद की पुनः प्रतिष्ठा। असल में उनका 'रहस्यवाद' इसी सौंदर्यवाद का पूरक है। सौंदर्य की भावना को उन्होने इतना अधिक प्रश्रय दिया कि यथार्थ जगत् के 'सौंदर्य' को हेय समझा। परन्तु वालरी, येट्स ने इस सीमित सौदर्य को ग्रहण नही किया, और अपने प्रतीकों

१—द सिम्बालिस्ट एस्थटिक इन फ्रांस, पृ० १०८।

के द्वारा सौंदर्य के दोनों पक्षों—यथार्थ तथा आदर्श— की समान व्यंजना प्रस्तुत की।

(ग) पंत जी से इण्टरव्यू

(तिथि : नवम्बर, १९५९)

प्रश्न १—आपके विचार से प्रतीक का एक दर्शन है, अथवा वह केवलमात्र एक शैलीगत रूप है ?

उत्तर—मैं काव्य के क्षेत्र में प्रतीक के एक व्यापक अर्थ को ग्रहण करता हूँ जो हमारे सामने सत्य के स्तरों का या चेतना के स्तरों का उद्घाटन कर सके। इस दृष्टि से प्रतीक एक भावात्मक दर्शन है जो काव्य के लिए अपेक्षित है, परन्तु दूसरी ओर जब किसी भाव का एकत्रीकरण (Concentration) किसी भी प्रतीक के रूप में होता है, तब वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी न किसी शैली का आश्रय चाहता है। काव्य के लिए और प्रतीक के औचित्य के लिए भी जहाँ एक ओर भाव, विचार या संवेदना (Feeling) की आवश्यकता है, वहाँ भावादि को अभिव्यजित करने के लिए रूप या शैली की भी आवश्यकता अपेक्षित है। यही बात शब्द और अर्थ के बारे में भी सत्य है जिसके तादात्म्य पर ही प्रतीक की स्थिति स्पष्ट होती है। इस दृष्टि से प्रतीक के द्वारा किसी अनिवर्चनीय भाव की तरलता को एक ठोस एवं स्थायी रूप प्रदान किया जाता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि 'ऊषा सूर्य के रथ लाती है'। यहाँ पर ऊषा प्रेरणा या revelation या intuition की प्रतीक है। यहाँ एक अनिवर्चनीय भाव को स्थिर किया गया है, जो ऊषा 'शब्द' के द्वारा व्यंजित होता है। अस्तु, काव्य के लिए प्रतीक का महत्त्व शैली और दर्शन दोनों ही दृष्टियों से अन्योन्याश्रित है।

प्रश्न २—मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद अचेतन स्तर को मान्यता देता है जिसके कारण स्वप्न तथा यौन प्रतीकों का प्रादुर्भाव होता है जो काव्य एवं कलाओं के प्रेरणास्रोत माने गये हैं। क्या इन अचेतन प्रतीकों का काव्य में कोई स्थान मान्य है ?

उत्तर—प्रतीक-सृजन का जहाँ तक प्रश्न है, वह मूलतः एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जो आध्यात्मिक रूप में परिणत होती है। यह भी सत्य

है कि प्रतीक सभी स्तरों के होते हैं, वे अचेतन मन से भी उद्भूत होते हैं और चेतन मन से भी। अतः प्रतीक किसी भी स्तर के हो सकते हैं। यह कवि के भाव-जगत् एवं चेतना-जगत् पर आधारित है कि वह किस स्तर का सुन्दर उद्घाटन प्रतीक के द्वारा कर सकता है। उपचेतन और अचेतन के द्वारा प्रतीक-सृजन भी सम्भव है, जैसे स्वप्न के प्रतीक, यौन (अनंग) के प्रतीक आदि। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है (जहाँ तक मेरे प्रतीकों का सम्बन्ध है) कि फ्रायड, युंग आदि मनोवैज्ञानिकों के उपचेतन मन की क्रियाओं को मैं 'एक मात्र' काव्य के प्रतीकों का स्रोत नहीं मानता हूँ। मेरे विचार से मन के ये निम्न स्तर ही हैं जिन पर कवि या कलाकार रुकता नहीं है पर उनके ऊपर चेतना के ऊर्ध्व साम्राज्य का उद्घाटन करना चाहता है। काव्य की भावानुभूति में फ्राइडियन मनोविज्ञान का गौण ही स्थान है। मेरी कविता में इस विचारधारा का कम ही स्थान रहा है। मेरे प्रतीकों में क्रमशः मनोवैज्ञानिक उत्थान ही होता गया है जो आध्यात्मिक-सामाजिक रूप धारण करता गया है।

प्रश्न ३—इस दृष्टि से आप के काव्य में प्रतीकों का क्या स्थान है?

उत्तर—प्रतीक का स्थान एवं उसका महत्त्व रूप-जगत् के हेतु होता है, जो किसी तात्विक अथवा 'अरूप' की व्यंजना करता है। इस तरह मैंने जो भी रूपगत प्रतीक लिये हैं (जैसे खग, स्वर्ण, मिट्टी का अंधकार, बीज, कौन?) वे अधिकतर यथार्थ में ढले हुए हैं जिन्हें अंग्रेज़ी शब्दावली मे कहें, तो कह सकते हैं कि वे (Relative pattern) में प्राप्त होते हैं। वे निरपेक्ष नहीं हैं। ये सभी प्रतीक (Relative pattern) में ढले होने के साथ साथ एक उच्च मानसिक स्तर की भी व्यंजना करते हैं जिसे हम 'अतिचेतन' की संज्ञा देते हैं। वेदों में जो वृष, पक्षियों एवं इन्द्र वरुणादि का वर्णन प्राप्त होता है, उसमें वे सभी इस अतिचेतना के स्तर को स्पर्श करते हैं। मेरे प्रतीकों में इस वैदिक भावभूमि का स्पंदन प्राप्त होता है।

प्रश्न ४—रहस्यवादी परम्परा में प्रतीक एक सत्य है। प्रतीक के द्वारा ही रहस्यानुभूति का अभिव्यक्तीकरण होता है। क्या यह रहस्यभावना केवल दाम्पत्य भाव तक ही सीमित मानना उचित है, अथवा उसे अन्य विश्व के क्षेत्रों एवं सत्यों का क्षेत्र भी माना जाय?

उत्तर—मेरे विचार से रहस्यवादी प्रतीक मूलतः प्रेम भाव पर ही आश्रित होता है जिसमें दाम्पत्य भाव केवल एक अंशमात्र है। प्रेम का क्षेत्र विश्व का विशाल प्रांगण भी है और रहस्यवादी प्रतीक इस क्षेत्र को आधुनिक आवश्यकतानुसार कभी भी छोड़ नहीं सकता है। यदि मैं यह कहूँ कि रहस्य-भावना की पूरी साधना प्रेम-भाव पर ही आश्रित है, तो अत्युक्ति न होगी। इस रहस्यवादी प्रतीक-परम्परा में रागात्मक संबंध ऐसा होना चाहिए जिसमें भिन्नता का आभास तो प्राप्त होता हो, पर अभिन्नता एवं एकता की सलिल प्रवाहिनी उसे ढक ले। इसी प्रेम-भाव के अन्तर्गत एक प्रकार की intellectual insight भी आ जाती है, जो शेली तथा कीट्स में भी प्राप्त होती है। मेरे अनेक प्रतीक इसी तथ्य को लेकर चले हैं जिसमें भाव की परिधि में 'Intellect' का स्पंदन है।

प्रश्न ५—प्रतीक और दर्शन में क्या कोई संबंध है? आपके काव्य में दर्शन का क्या स्थान है?

उत्तर—जहाँ तक दर्शन का संबंध है, उसमें कोई भी प्रतीकवाद नहीं है। अतः मैं प्रतीकवादी दर्शन जैसी कोई भी वस्तु नहीं मानता हूँ।[1] केवल कला के क्षेत्र में प्रतीक की स्थिति मानी जा सकती है। यह भी हो सकता है कि कवि अपने अनेक प्रतीकों को किसी दार्शनिक एवं साम्प्रदायिक विचारधारा से ग्रहण करे या उस विचार को अभिव्यक्ति करने के लिए स्वयं प्रतीकों का निर्माण करे। परन्तु, वहाँ पर भी दर्शन की अपेक्षा 'संवेदना' का ही अधिक आग्रह होगा, तभी वह काव्य हो सकता है। मेरे काव्य-प्रतीकों के सृजन में किसी विशिष्ट दार्शनिक विचारधारा का सीधा सम्बन्ध नहीं है। मैंने किसी भी दर्शन को प्रतीक में बाँधने का निष्फल प्रयास नहीं किया है। केवल किसी विशिष्ट संवेदना को ही काव्य का रूप प्रदान कर दिया है और इसी संवेदना की अभिव्यंजना के लिए प्रतीकों का भी सहारा लिया है। अतः मेरे प्रतीकों में metaphysical रूप ढूढ़ना नितान्त अतार्किक होगा। मै न तो 'आत्मा' को ही और न ब्रह्म को ही प्रतीक मानता हूँ, क्योंकि वे किसी रूपगत भाव को सामने

१—मेरे विचार का दूसरा ही आधार है—दे० दार्शनिक प्रतीकों में, अध्याय द्वितीय उपखंड अंतिम।

नहीं रखते हैं, केवल वे abstract ईकाइयाँ ही हैं ।[१] मैं तो प्रतीक को कला तक ही मानता हूँ ।

प्रश्न ६—.फ्रान्स के प्रतीकवादी आन्दोलन का क्या कोई प्रभाव आप पर पड़ा है ? यदि नहीं, तो किन विदेशी कवियों का प्रमुख प्रभाव आप पर पड़ा है और उसका क्या रूप है ?

उत्तर—.फ्रान्स के प्रतीकवादी आन्दोलन का रूप एक नितान्त अन्य भावभूमि को लेकर चला है । उस भावभूमि का मुझ पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है । .फ्रान्स का आन्दोलन यथार्थ से पलायन का था, जब कि मैं यथार्थ के अंचल में अपने प्रतीकों को संजोने का प्रयत्न करता हूँ । मेरे ऊपर तो .फ्रान्स का प्रतीकवादी आन्दोलन उतना प्रभाव नहीं डाल सका जितना शेली, कीट्स तथा थोरो ने डाला है । परन्तु, इन कवियों का भी प्रभाव केवल पच्चीस प्रतिशत ही माना जा सकता है, केवल उनके भावों की आत्मा का हृदयंगम ही मैंने किया है और उस 'आत्मा' को अपनी संवेदनात्मक अनुभूति से प्रकट किया है । फिर, किसी भी कवि पर किसी अन्य कवि का प्रभाव उसके विचारों तथा भावों का नितान्त उसी रूप में ग्रहण नहीं कहा जा सकता है । प्रभाव का अर्थ उसके अन्तरंग 'आत्मतत्त्व' को अपनी दृष्टि से ग्रहण करना ही कहा जा सकता है । कीट्स की कविता और उसके प्रतीक नगीने पर जड़े हीरे के समान केन्द्रीभूत तत्त्व हैं जब कि शेली में एक झंझावात और एक मीटीयोरिक (Meteoric) आवेग का प्रदर्शन कहीं अधिक है । मेरे काव्य में (प्रतीकों में) ये दोनों तत्त्व सन्निहित हैं, पर उनमें मेरा अपना व्यक्तित्व है, शेली या कीट्स का नहीं । अतः मेरे ऊपर इन कवियों का प्रभाव भी direct न होकर indirect ही है ।

प्रश्न ७—प्रतीक-दृष्टि से आप छायावादी कवि हैं या रहस्यवादी ? आपकी कौन सी रचनाएँ छायावाद में और कौन सी रहस्यवाद में रखी जायँ ?

उत्तर—सबसे प्रथम तो मैं 'छाया' शब्द का नामकरण ही उचित नहीं मानता हूँ । छायावाद का जो प्रचलित अर्थ है, उस अर्थ में मुझमें छायावाद

१—मैंने ब्रह्म को प्रतीक माना है—दे० अध्याय प्रथम उपखंड ग में । जो किसी धारणा का प्रतिनिधित्व करे वह भी प्रतीक है ।

नहीं है। सत्य छायावादी युग का कवि बच्चन है। परन्तु, फिर भी, लोग मुझे छायवादी कवि ही मानते आ रहे हैं, इसके बारे में मैं क्या कह सकता हूँ ? जहाँ तक रहस्यवाद का सम्बन्ध है, उस भाव को व्यक्त करने के लिए मैने प्रतीकों का सहारा बहुत ही कम लिया है। मेरे अधिकांश प्रतीक प्रकृति-काव्य के ही अन्तर्गत आते हैं। इस दृष्टि से मेरी 'वीणा' से लेकर 'युगान्त' तक की कविताएँ और उनके प्रतीक प्रकृति-काव्य की भूमिका ही प्रस्तुत करते हैं। इस दृष्टि से मेरी ये सभी रचनाएँ छायावाद में ही आ सकती हैं। जहाँ तक रहस्यवाद का प्रश्न है, ऐसे यदा-कदा जो भी प्रतीक मिलें, उन्हें हीं रहस्यवाद के अन्तर्गत रख सकते हैं।

(घ) डा० रामकुमार वर्मा से इण्टरव्यू

तिथि—जुलाई, १६६०

प्रश्न १—आपके विचार से प्रतीक का महत्त्व काव्य के लिए दार्शनिक है अथवा कलात्मक ?

उत्तर—मेरा विचार है कि प्रतीक-निर्मिति कलापक्ष को लेकर अग्रसर होती है और उस कला में समस्त रात्रि का संकेत एक तारकविन्दु में अथवा समस्त वसंत का संकेत एक पुष्प में परिलक्षित होता है। जब विचार भूमि में अनेक पक्ष अभीष्ट होते हैं तो प्रतीक धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक कोटियाँ भी निर्धारित कर सकते हैं। प्रतीकात्मक दर्शन का जहाँ तक सम्बन्ध है, उसमें प्रतीक एक कला भी है और उसका एक अपना विशिष्ट दर्शन भी है। कलापक्ष उसे सौंदर्ययुक्त रूप में रखता है, जिसमें 'तत्त्व' का अभिव्यक्तीकरण उस विशिष्ट अभिव्यक्ति-प्रकार में होता है। प्रतीक की धारणा में अभिव्यक्ति का रूप भी है और उस रूप में अर्थ का स्पन्दन भी है जो उसे दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों का वाहक बनाता है। बिना इस 'अर्थतत्त्व' के प्रतीक का 'रूप' भी अस्थिर हो सकता है। वस्तुतः यही प्रतीक का काव्यात्मक दर्शन है।

प्रश्न २—आपके मत से मनोविज्ञान का प्रतीक-सृजन में क्या स्थान है और आपके काव्य में उसकी क्या परिणति है ?

उत्तर—मनोविज्ञान एवं प्रतीक-सृजन में एक मुख्य सम्बन्ध है। वास्तव में

मानसिक क्रियाओं में प्रतीक-सृजन एक क्रिया है जिसमें विचार तथा भाव का प्रतिनिधित्व किया जाता है। काव्य की दृष्टि से भाव तथा संवेदना भी मनोवैज्ञानिक क्रियाएँ हैं जिनका अभिव्यक्तीकरण प्रतीकों के द्वारा होता है। इस अभिव्यक्तीकरण में अचेतन तथा चेतन मन—दोनों का एक समन्वित रूप दृष्टिगत होता है। अचेतन तथा उपचेतन स्तरों में प्रतीक सृजन एक बलवती क्रिया है, जो काव्य में संवेदना को भी जन्म देती है। परन्तु, यह अचेतन क्रिया 'फ्राइडियन' नहीं है पर उसका 'कुछ' अंश अवश्य इस क्रिया में सहायक माना जा सकता है। मेरा काव्य इसी अचेतन-चेतन क्षेत्रों का एक साथ वाहक है। स्मृति, आशा, प्रेम, उत्साह, उल्लास तथा संवेदना पर आश्रित अनेक प्रतीकों का सृजन मेरे काव्य में प्राप्त होता है।[1] हृदय की भावनाओं का आलोड़न-विलोड़न ही काव्य में उभर कर आता है और प्रतीक उन भावों को एक रूप देते हैं जो अभिव्यक्तिहीन संदर्भों को लाक्षणिकता से व्यंजित करते हैं। 'चित्ररेखा' तथा 'चंद्रकिरण' के अनेक प्रतीक गूढ़ भावों को ही व्यंजित करते है जो भावात्मक ही अधिक हैं।

प्रश्न ३—आपके प्रतीक-सृजन में संत भावभूमि तथा प्राचीन परम्परा का क्या स्वरूप है?

उत्तर—सन्तों की रहस्यभावना का एक विशिष्ट प्रभाव मुझ पर पड़ा है, पर वह अपने ही रूप से। सन्तों के रहस्यात्मक प्रतीकों से मुझे विशेष मोह रहा है। मैंने उस रहस्यभावना को आधुनिक भावभूमि में पूर्ण रूप से रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया है। 'तुम' और 'मैं' की विभाजन रेखा को तिरोभूत करने का प्रयत्न मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रस्तुत किया गया है कि जिसमें एक असम्प्रज्ञात अनुभूति समस्त जीवन को समेट कर उल्लास के पथ पर अग्रसर हुई है।

यही नहीं, सन्तों के अनेक शब्द-प्रतीकों का भी अपने निजी रूप में मैंने प्रयोग किया है। उन्हें अनेक नव-प्रतीकों के द्वारा व्यंजित किया है। अनाहद नाद का प्रतीक 'नूपुरों का हास' है। इस प्रकार सन्तों की भावात्मक रहस्यभावना को ही मैंने प्रश्रय दिया है। उनके साधनात्मक रूप के यौगिक पक्ष का आश्रय न लेते हुए भी, केवल सहजानुभूति में ही जीवन के परिष्करण की ओर भावनाएँ अग्रसर हुई हैं।

१—दे० अध्याय ११, मानस जगत् के प्रतीकों में और मानवीकरण में।

प्रश्न ४—आपके काव्य में प्रतीकों की योजना से 'जीवन-दर्शन' का क्या स्वरूप स्पष्ट होता है ? उसमें कल्पना एवं भावना की क्या परिणति है ?

उत्तर—प्रतीकात्मक अभिव्यंजना 'जीवन' के 'सत्य' को भी स्पष्ट कर सकती है। प्रतीकों का निर्वाचन प्रकृति तथा जीवन के महत् क्षेत्रों से ही होता है। मेरा विचार है कि कवि अपने प्रतीकों के द्वारा जीवन की स्थिरता, परिवर्तनशीलता, उसमें, व्याप्त सुख दुख, प्रेम-घृणा, आरोह-अवरोह आदि की अभिव्यक्ति करने में समर्थ होता है। जीवन संघर्ष का क्षेत्र है, जिस प्रकार एक पुराना 'पल्लव' वायु के झोकों में भटक कर ही अपने गंतव्य (मृत्यु) को प्राप्त करता है, उसी प्रकार मानव-जीवन इन रूपान्तरिक रूपराशियों के अंतराल से अपने प्रकाश को ही ढूँढता है, यही तो उसका सत्य है। अतः मेरे प्रतीक मूलतः जीवन के इसी आशावान् गंतव्य की ओर प्रयत्नशील हैं। उसमें चट्टान की कठोरता भी है तो मेघों का घना अंधकार एवं विप्लव भी। उसमें दीपक का निर्वाण तथा त्याग भी है, तो हृदय की तरलता एवं सरलता भी। इन्हीं का सङ्गम ही मेरा जीवन-दर्शन है जो प्रतीकों के द्वारा व्यंजित होता है। इस दर्शन में रहस्यभावना नीर-क्षीर की भाँति मिली हुई है। काव्य का दार्शनिक पक्ष रहस्यभावना में ही मुखर होता है। मानव जीवन-दर्शन के सत्य पर ही रहस्य की अवतारणा करता है। यही काव्य का रहस्यवाद है। अतः काव्य के लिए प्रतीकात्मक जीवन-दर्शन में भावना तथा कल्पना का यथार्थ से सम्मिश्रण होता है। तभी यथार्थ काव्य की भावभूमि को संवेदनात्मक रूप में रखता है। इसमें प्रतीकों की स्थापना पूर्वकल्पित न होकर आँखों से ही निस्पंद होती है, और काल्पनिक प्रतीक 'सत्य' का समर्थन उसी भाँति करते हैं जैसे पूर्वार्द्ध की कली उत्तरार्ध का प्रसून बन जाती है।

प्रश्न ५—प्रतीक-दर्शन की दृष्टि से किस पाश्चात्य कवि या कवियों का विशिष्ट प्रभाव आप पर पड़ा है ? उस प्रभाव का प्रतीक-सृजन में क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जहाँ तक कल्पनात्मक प्रतीकों का प्रश्न है, मुझ पर अंग्रेज़ी के विशिष्ट कवियों का प्रभाव पड़ा है। प्रतीकों की भावभूमि में जीवन-दर्शन

का क्षेत्र टेनीसन से प्रभावित हुआ है। दार्शनिक रूप का हल्का सा पुट वर्ड्सवर्थ से तथा सौंदर्य की भावना का हृदयंगम कीट्स से कुछ सीमा तक प्रभावित हुआ है। संस्कृत कवियों में कालिदास तथा आधुनिक कवियों में विश्वकवि रवीन्द्रनाथ से मुझे विशेष प्रेरणा मिली है। परन्तु इन सब प्रभावों का एकमात्र ध्येय है विशिष्टाद्वैत की रसात्मक अभिव्यक्ति, जिसका मैं समर्थक हूँ।

इस दृष्टि से, मैं जीवन में पौरुष को उतना ही स्थान देता हूँ जितना कि कोमलता को, क्योंकि कभी-कभी ऐसा कुतूहल हृदय में उत्पन्न होता है कि यदि असम्भव में सम्भव की स्थिति हो जाती, तो ससार कितना मधुर हो जाता। सम्भव है कि यह दृष्टि नाटकीय तत्त्व ने दी हो। परन्तु जीवन उन परिस्थितियों में अधिक अच्छा लगता है जिनमें कि परिवर्तनशीलता अत्यन्त कलात्मक रूप लेकर मेरे भावजगत् में चित्र खींचती है। यदि आप मेरे काव्य-संग्रहों के नाम देखें तो इस प्रवृत्ति का संकेत आपको दृष्टिगत होगा, यथा रूपराशि, चित्ररेखा, आकाशगंगा। अतीन्द्रिय सुख की कल्पना में संसार का विकास देख मुझे आन्तरिक उल्लास होता है। इसी उल्लास में प्रतीक लहर के मस्तक पर बुदबुद होकर उठते हैं, वे जैसे लघु वृत्त में सौंदर्य समेट लेते हैं। मेरी भावनाओं का प्रतीक है समीर, सुख का सुमन, निराशा का नीहार और आशा का प्रतीक है इन्द्रधनुष। ये प्रतीक अनवरत गति से चलते हैं, जैसे किसी निर्झर का 'कलकल' अनवरत गति से ध्वनित एवं प्रतिध्वनित होता है।

प्रश्न ६—रहस्यवाद एवं छायावाद की भावभूमियों में प्रतीक-दर्शन की दृष्टि से क्या कोई विशेष अन्तर है? जहाँ तक प्रतीकों का सम्बन्ध है, दोनों में क़रीब क़रीब समान ही प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं।

उत्तर—छायावाद में लाक्षणिक प्रतीकों और रहस्यवाद में व्यंजनात्मक प्रतीकों का एक स्वस्थ रूप प्राप्त होता है। स्थूल जगत् से परे सूक्ष्म जगत् में भी प्रत्येक वस्तु की स्थिति है जो कि उस वस्तु के अस्तित्व में निहित रहती है। उदाहरण के लिए वस्तु-जगत् का पर्वत सूक्ष्म जगत् की विशालता तथा अटलता का प्रतीक है। यहाँ छायावाद अभिप्रेत है। प्रसाद ने कामायनी में लिखा 'मैंने देखे वे शैल शृंग' आदि जिसमें

शैल का अर्थ छायावादी प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। अतः छायावादी प्रतीक अन्तर्हित सत्य के पोषक होते हैं। रहस्यवाद में व्यंजना ही कार्य करती है जो बिन्दु से चल कर सिन्धु में लीन हो जाती है। इस भावना-भूमि में प्रतीकों की स्थिति अधिक व्यापक एवं संचरणशील होती है, जैसे फटे से बादलों में अरुणिमा जीवन की विषम परिस्थितियों में किसी की मुसकान तथा हास का प्रतीक बनकर उभर आये। बादलों का छायावादी प्रतीकार्थ होता परिवर्तनशीलता, किन्तु रहस्यात्मक प्रतीकार्थ होता किसी परोक्ष सत्ता की अलोकमयी स्मृति। शायद इसीलिए कबीर ने लिखा 'लाली अपने लाल की जित देखूँ तित लाल।' और प्रसाद ने 'जीवन निशीथ के अन्धकार' के द्वारा रहस्यवादी प्रतीकों की सृष्टि की है। इस भाँति छायावाद तथा रहस्यवाद के प्रतीक चाहे किसी संधिबिन्दु पर मिल जायँ, पर वे अपने वृत्तों में अपनी कक्षाएँ स्वयं निर्धारित कर लेते हैं।

(ङ) प्रबन्ध में प्रयुक्त प्रतीक तथा उनके अर्थ

(१) पौराणिक तथा धार्मिक प्रतीक

अग्नि—पूर्वसृजन का प्रतीक; सृजनात्मक, संहारात्मक एवं शुद्धात्मक शक्तियों का प्रतीक

अर्धनारीश्वर—मिथुन का प्रतीक, सृष्टि तत्त्व पुरुष और नारी का प्रतीक

ओ३म्—(१) ब्रह्म का प्रतीक, (२) वर्ण प्रतीकार्थ

अकार—सृजनात्मक, विकासात्मक तत्त्व (ब्रह्म) (वैश्वानर)

उकार—संतुलन तथा समरसता-तत्त्व (विष्णु) (तैजस)

मकार—संहार तथा लय (रुद्र एवं शिव) (प्राज्ञ)

असुर—(सामी देवता) आदितत्त्व तथा सृजनतत्त्व

'क्रास'—(१) मानव रूप क्राइस्ट का प्रतीक, (२) अनन्त जीवन का प्रतीक

कैलाश—शिव के परमधाम का प्रतीक

खं—आकाश-संज्ञक ब्रह्म

चक्र—नाश

तीन लोक—मनुष्य, पितृ एवं देवलोक; मन के क्रमिक आध्यात्मिक स्तरों का प्रतीक

तैंतीस देवगण—विश्व में व्याप्त शक्तियों, प्राकृतिक घटनाओं तथा पदार्थों के प्रतीक हैं। जिसमें,
(१) **आठवसु**—अग्नि, अंतरिक्ष, आदित्य, चंद्रमा, नक्षत्र, पृथ्वी, वायु द्युलोक,
(२) **ग्यारह रुद्र**—दस इंद्रियाँ (प्राण) तथा एक मन,
(३) **बारह आदित्य**—संवत्सर के अवयवभूत १२ मास,
(४) **इंद्र**—विद्युत् का प्रतीक,
(५) **प्रजापति**—यज्ञ का प्रतीक
दस लोक—अंतरिक्ष, आदित्य, इंद्र, चंद्र, देव, नक्षत्र, प्रजापति, द्युलोक, अग्नि और ब्रह्मलोक (वातावरण के स्तरों का विभाजन)।
नायक—सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक
पुरुष—ब्रह्म या अक्षर तत्त्व का प्रतीक (विश्वरूप)
पद्म—शुभ फल
वैकुंठ—विष्णु के परमधाम का प्रतीक
ब्रह्म—परमादि तत्त्व, निरपेक्ष प्रकाश्य तत्त्व, निरपेक्ष तथा सापेक्ष का समाहित रूप, सृष्टिपरक क्षर रूप—इन सबका समष्टि प्रतीक 'ब्रह्म' है।
लिंग—शिव का प्रतीक
वृक्ष—सृष्टि अथवा प्रजनन क्रिया का प्रतीक (मिथुनपरक अर्थ)
वाहन सिंह (दुर्गा)—दुष्टों के लिए विध्वंसात्मक शक्ति
वृक्ष (अश्वत्थ)—कार्य ब्रह्म का विश्वमय रूप
शङ्ख—प्रणव
शालिग्राम—विष्णु का प्रतीक
सत्यलोक—ब्रह्म के परमधाम का प्रतीक
स्वर्ग—इन्द्र के परमधाम का प्रतीक
सप्तक कल्पना—सात प्राणों का प्रतीक (आत्मिक चेतना के स्तरों का प्रतीक)
हंस—सृष्टि की विवेक बुद्धि का प्रतीक
त्रिमूर्ति—अकार, उकार, मकार
↓ ↓ ↓
ब्रह्मा–विष्णु–(महेश–शिव)
सृजन–स्थित–(प्रलय या लय)
ब्रह्म की तीन शक्तियों का मानवीकरण।

(२) *तात्त्विक प्रतीक (भक्तिकाल)*

(क) *संत प्रतीक*

अमृत—अमृत रस, महारस तथा हरि रस, राम रस आदि का समन्वित रूप
अनाहद—ब्रह्मानुभूति का आनन्द
अनन्त पत्र—वेद-वेदांग
अहेरा—काल
अवधूती—सुषुम्ना
आकाश—ब्रह्मरंध्र
ऊख—राजसिक तत्त्व
उन्मनि—स्थितप्रज्ञता की दशा
कपास—तामसिक रूप
कनक-कलश—शरीर
कलियाँ—जीव

कीड़िये—मनसा
कुंभ—आत्मा, हृदय, जगत्
कुम्हार—ब्रह्म
कुत्ता, कुतिया—अज्ञानी पुरुष, जीवात्मा
कुंकुम—इन्द्रियाँ
केहरि—मन
कोतवाली—इन्साफ़
कोट—त्रिकुटी
खलक—हृदय, जगत्
खसम—राम, जीव, स्वामी, गगनोपम तत्त्व, परमतत्व
खीर—(दूध) ज्ञान की बात
गंगा—इड़ा
गाँठ—अहंकार
गाय—सात्विक बुद्धि
गरुड़—माया
गिद्ध—मन
गुँसाई—परमात्मा
गुरु—शब्द रूप ज्ञान
गुलाम—जीवात्मा
गोनि—स्वरूप-सिद्धि
गौना—परमधाम
गगन—ब्रह्मरंध्र, दसवाँद्वार, त्रिवेणी संगम से परे, शून्य तक पहुँचने का सोपान है।
गूँगा—ईश्वरानुभूति में मौन व्यक्ति
घट—शरीर
घोड़ा—मन
चन्दन—आत्मा, सत्संग
चकवा—मन
चन्द्र—पिंगला, प्रेमिका
चरखा—कर्मचक्र, संसार-चक्र
चक्की—संसार-चक्र, कर्मचक्र
चारफल—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष
चिता—शरीर, जीव, मनसा
चुडिया—पिंगला
चूहा—अज्ञानी पुरुष या शिष्य, मन
चुनरी—शरीर
चेला—जीवात्मा
जनाचारि—अंतःकरण चतुष्टय
जनापाँच—पंच इन्द्रियाँ
जल—अनादि तत्त्व
जंबुक—जीव
जाया—माया
जेठ—असाधु-पुरुष
जेवड़ी—माया
डङ्के की ध्वनि—शब्द-रूप ध्वनि
डाइन—माया
तमासा—इन्द्रजाल, संसार
तापस—ब्रह्म
तीन डाल—ब्रह्मा, विष्णु, शिव
तरुवर—मेरुदण्ड, कार्यब्रह्म, परोपकारी पुरुष
तूर—आनन्दानुभूति, अनाहद
दादुर—अज्ञानी
दाता—परमात्मा
दुलहिन—जीवात्मा
देवर—साधु पुरुष
दो पाट—धरती-आकाश

निरञ्जन—निषेधात्मक तथा निश्चयात्मक, सापेक्ष तथा निरपेक्ष तत्त्वों से समन्वित परमतत्त्व रूप
नैहर—भौतिक संसार
ननद—ज्ञानेन्द्रियाँ
नकटी—माया
नकटा—जीव
नौबत—ऐश्वर्य
नगर—संसार, ब्रह्मांड
नवगृह—नवद्वार
नाद विन्दु—नाद, ध्वनि का सूक्ष्म-तत्त्व तथा विन्दु अपेक्षाकृत स्थूल-तत्व। नाद-विन्दु ब्रह्म के पूरक हैं।
निरति—निरालम्ब स्थिति, जहाँ मन अपनी सत्ता का निलय परमतत्त्व में करता है।
नाम—परमतत्त्व या सहज राम का वाचक शब्द
परचा—अपरोक्षानुभूति
परदा—माया, मोह, आवरण
पंगु—आत्मनिग्रही
पाँचलरिका—पंच इन्द्रियाँ
पाताल—आज्ञा चक्र
पाण्डुर—जीव
पिंड—शरीर, हृदय, जगत्
पनिहारिन—कुण्डलिनी, इन्द्रियाँ
पिता—परमात्मा
पीव, पति—परमात्मा, ब्रह्म
पुर पाहन गली—संसार
पुहुपवास—संसार के विषय-भोग
पुत्र—अज्ञानी जीव
पुत्री—माया
फल-फूल—चक्र तथा सहस्राधार कमल
वसंत (रस फाग, हिंडोलना)—आत्मिक सुख
ब्रह्मांड—सूक्ष्म तत्त्व, अनन्त
बूँद—पिण्ड रूप जीव
बेहद—परमतत्त्व
बेलि—माया
बाजी—माया
बाजीगर—ब्रह्म
बढ़ैया—ब्रह्म
बानी—कांति, दीप्ति
बहना—माया
बिल्ली—वंचक गुरु, माया
बैल बियाना—जड़ ज्ञान का उदय
बन—ससार, शरीर
बगुला—अशुभ प्रवृत्तियाँ, अविवेकी
बंकनालि—सुषुम्ना
बेनु—अनाहद
बैल—पंच-प्राण
बाप—मन
बहरा—वाह्य रूपराशि की ओर ध्यान न देने वाला
बनराई—शरीर की समस्त इन्द्रियाँ तथा चक्र
बासन, बरतन—सत्य
बालक—जीवात्मा
भाप—सत् (सात्विक)

भैंसा—तामसी वृत्तियाँ
भौंरा—जीव, ज्ञानी, साधक, मन
भँवरी—गुरु
मंगल गान—विषयों का सुख
मछरी, मीन—कुण्डलिनी या जीवात्मा
माता—माया
मांस—काम विषयादि
माटी—एक तत्त्व रूप
मालिन—काल
माडो—शरीर
मोती मुक्ताहल—वैभव ऐश्वर्य
मोती—नाम, शुभ्रता
मेरुदण्ड—सुषुम्ना
मूस—मन
मुद्रा—नारीपरक साधना, मन की स्थिति का सूचक। नारी प्रकार—डाइन, जोगिनि
यमुना—पिंगला
याचक—जीवात्मा
रमैया की दुलहिन—माया
राम—परब्रह्म, द्वैताद्वैत-विलक्षण रूप।
ललना—इड़ा
लोहा—जीवात्मा
लीला—परमतत्त्व का सृष्टि विस्तार और फिर उसका निलय
वारुणी—इड़ा
वाण—शब्द (गुरु का)
वज्र—कुलिश कठोर, बोधिसत्व का हल्का सा पुट भी है
वज्रजाप—सहज जाप (राम नाम) अजपाजाप का विकसित रूप, सहज-समाधि, ब्रह्म अग्नि, निरति, ओंकार ये सब तत्त्व अजपाजाप में समाहित हैं।
शून्य—आदितत्त्व शब्द रूप ब्रह्म, परमज्ञान, सहज रूप सृष्टि तत्त्व—सब का समन्वित रूप
षारे बड़े—नर-जीवन, संसार
साईं की नगरी—परम पद
सास—माया
ससुर—गुरु
सखी—कर्मेंद्रियाँ
सासुर—परम पद
समधी—गुरु
समुद्र—परमतत्त्व रूप
सूत कातना—राम नाम
सर्प, सर्पनी—माया, कुण्डलिनी
सुहागिन—माया
सिंह—समर्थ जीवात्मा
सियार—चंचल मन, गुरु
सूर्य—इड़ा, प्रेमी
सिंडिया—इड़ा
संगम—त्रिकुटी
सूर्य को डसना—विषैले तत्त्वों का तिरोभाव
सरग—सहस्रदल
सुनगर—परमपद
सहज—परमतत्त्व, साधना-पद्धति और योगपरक-तत्त्व
सुरति—स्मृति, ध्यान, शुद्ध-चित्त,

वेद, आकार, सौंदर्यनाद
मदलिया धौल, रबाबी बैल, ताल बजाता कौवा, नृत्यशील गदहा, नाचता भैंसा—पच ज्ञानेन्द्रियाँ
पान करतरने वाला सिंह, गिलौरी लगाने वाली धूस, मंगल गाने वाली उदरी, आनंद मनाने वाला कछुवा—अंतःकरण चतुष्टय
हलदी—विषय वासना
हद—हृदय, जगत्, जीव
हाट—संसार
हंस—जीव, विवेकी, शुभ प्रवृत्तियाँ
हीरा—परमतत्त्व, सद्गुण
हाथी—मन, जीव
त्रिकुटी—ब्रह्मरंध्र तक पहुँचने का स्थान, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना का संधि स्थान।

(ख) सूफ़ी प्रतीक

अमृत—प्रेमरस, अमरता
अटारी—परमपद
अगुआ—गुरु
आगमपुर—परमपद
अरविंद—प्रेमी की प्रफुल्लता
अंधकूप—शून्य तत्त्व
आकाश—सूक्ष्म तत्त्व
अलख—परमतत्त्व सृष्टिकर्ता अल्लाह जिसमें निरंजन की भावना है।
अनाहद—अनहलक की भावना का रूप
ऊँचे चढ़ना—सहस्र कमल का प्रतीक
कमल—पद्मावती, प्रेमिका, कर, मुख
करता की फुलवारी—जग, सृष्टि
केश (प्रिया)—माया
कैलाश—परम पद
खंजन—नेत्र
गढ़ छेकना—चक्र भेदन
गढ़—शरीर
गगन गुफा—ब्रह्मरंध्र
गगरी पानी भरी तथा उनमें—सूर्य प्रतिबिंब—ब्रह्म की सर्वव्यापकता, प्रतिबिंबवाद का उदाहरण
घड़ियाल—अनाहद नाद
चाक—सृष्टि क्रम
चार बसेरे—चार अवस्थाएँ
चार निसेनी—चार अवस्थाएँ
चौबीस खंड—शरीर के चौबीस भाग
चाँद—प्रेमिका (पद्मावती) प्रेमपात्र, मुख
चकई—प्रेमिका, विरह का प्रतीक, जीवात्मा
चकोर—नयन
छाया—माया
दँसव द्वार—ब्रह्मरंध्र, गगन
दाख—नागमती
दीपक—प्रेमपात्र
दुइ पाता—चिद् तथा अचिद् रूप
दर्पण (मुकुर)—हृदय, संसार (माया)
धरती—स्थूल तत्त्व
धनुक (धनुष)—भौंहें

घृत—परम ज्ञान
नैहर—भौतिक संसार
नवखंड—कुस, हिरण्यमय, रम्यक, इला, हरि, केतुमाल, सुद्राश्व, किन्नर, भारत
नौ पौरी, नव नाका—नवखंड, नव-द्वार
नदी—जीवात्मा
नागिन—केश (माया)
नागेसर—नागमती
नलिनी—जीवात्मा, प्रेमी
पाँच कोतवार—पंच इंद्रियाँ
पवन तथा बुल्ला—आत्मा और परमात्मा
पतंग—प्रेमी, जीव
पत्ती—यौवन
पारस—रूप सौंदर्य का लोकोत्तर रूप, परमात्मा, गुरु
बूँद—पिण्ड रूप
बजागि—विरहाग्नि
व्याधि—विरह
विरवा (वृक्ष)—सृष्टि रूप
वज्र—वज्र-सत्य या बोधि-सत्व का हलका-सा पुट; कठोरता
भौंरा—प्रेमी, केश
मठ—ब्रह्मरंध्र
मै (शराब)—अमृत, उल्लास,
मालती—प्रेमिका
महुआ—पद्मावती
महाज्योति—परम तत्त्व, अल्लाह
मुद्रा—नारी-प्रकार, योगिनी चक्र, हस्तिनी, चित्रिनी, योगिनी, पद्मिनी, शखिनी
रतन—ब्रह्मानुभूति
वाणी—वेद
शून्य—परम-धाम का रूप, सिद्धावस्था का भी पर्याय। अटारी, सिंघल, आगमपुर, कैलाश का सूचक है।
सासुर—परम पद
समुद्र—परम-तत्त्व रूप
सखी—कर्म इन्द्रियाँ
सूर्य—इड़ा, प्रेमी
सुरंग—कुंडलिनी के प्रवेश द्वार का सूचक
सुमेरु—मेरुदण्ड
सिंहल—परमधाम
सरग (स्वर्ग)—सूक्ष्म-तत्त्व
सात मुक़ामात—उबदियत, इश्क़, ज़ुहुद, मारिफ़त, वज्द, हक़ीक़त, वस्ल
सप्तखंड—सप्त चक्र
सात समुद्र—सात मुक़ामात
सात बन— "
सात प्राण— "
सात चढ़ाव— "
सप्त खंड—शनीचर, वृहस्पति, मंगल अदिति, शुक्र, बुद्ध, सोम
सोम का पाट—दसवें-दुवार या ब्रह्मरंध्र
साकी (प्रेमिका रूप)—परमतत्त्व,

परमात्मा—भारतीय नायिका की भावना लिए हुए।
सहज—स्वाभाविकता, दीठि-समाधि मन-समाधि तथा सुख-समाधि का रूप
सोना—दीप्ति,रूप
सुगंध—आत्मज्ञान
हंस—श्वेत केश।

कथा-रूपक के प्रतीक

अलाउद्दीन—माया
इन्द्रावती—परमात्मा, बुद्धि
कुँवर—आत्मा, मन
चित्तौड़—शरीर
तापस गुरु—गुरु,
नैहर—संसार
नागमती—गोरखधन्धा (संसार) प्राण, विषयवासनादि की प्रतीक
पद्मावती—परमात्मा, बुद्धि
बुद्धसेन—माया
रत्नसेन—आत्मा, मन
राघव चेतन—शैतान
सखी सहेली—इन्द्रियाँ
सिंघल—हृदय, परमपद
सुआ—गुरु, जीवात्मा, प्राणवायु।

(ग) राम काव्य के प्रतीक

अरुण पराग—सेन्दुर
अहि—भुजा
उपबन—बनकन्या (श्लेष)
उड़ुगन—बेंदी
कुरङ्ग—जीव, प्रेमी-भक्त
किंष्किधापर्वत—शिव (श्लेष)
कदली तरु—संसार की निस्सारता
कमल—कर
कालिंदी—राम का रङ्ग
खटोला—कर्मजनित शरीर
खसम—स्वामी
गङ्गा—परमात्मा
गिरा-अरथ—रामसीता
गीध—जटायु
गगन—ब्रह्मरंध्र (कपाल)
चन्द—मुख, नारद (श्लेष)
चातक—प्रेमी, साधक, जीव
चितेरा—ब्रह्म (सृष्टि रूप)
चित्र—सृष्टि
चूहा (बड़ा)—जीव
चारखचाएँ—अर्थ, धर्म, काम मोक्ष
छ:तने—षट्दर्शन
जलचर वृन्द—जीवगण
जनक नगरी—वासकसज्जा नारी (श्लेष)
जाल—माया, संसार
जेवरी के सांप—माया, भ्रम
ज्योति—ज्ञान
तिकोना—स्वप्न. सुषुप्ति, जाग्रत
तीन पाँव—सतोगुण, रजो एवं तमोगुण
दादुर—हृद्गत भावों का प्रतीक
द्रुम डाल—संसार
दो फल—सुख-दुख
धुंआ के धौरहर—संसार की निस्सारता

निरंजन—ब्रह्म रूप राम का निश्चय-परक शब्द, सृष्टिकर्ता रूप
पाँच कहार—पञ्च इन्द्रियाँ
पिंजरा—शरीर
पील—गजेन्द्र
पुराना बाँस—विषय वासनादि
फल फूल—वेद-वेदांग
बगुला—मिथ्यावादी
बेलि—माया
बज्र—कठोरता, अस्त्र
बज्रागि—योगाग्नि, विरहाग्नि
भागीरथी—सीता (श्वेत रंग)
मकर—काल
मंदाकिनी—सीता (रंग)
मृगमरीचिका(रविकरनीर)—माया
मक्खी,मच्छर, चूहा—विषय-वासना
मेघ—राम (श्यामरंग) प्रियपात्र या साध्यतत्त्व ।
मुद्रा—बाह्याकृति-जोगिनी का भयानक रूप जो शङ्कर की गण है, पद्मिनी-आदर्श रूप, यक्षिणी, चित्रिनी का संकेत-मात्र
रातिचर—विभीषण
वर्षा—कालिका (श्लेष)
विटप (वृत्त)—कार्यब्रह्म रूप राम
शिला—अहल्या
सहज—स्वाभाविकता, सरलता तथा सहज-स्वभाव । सिद्ध-समाधि रूप के अर्थ तत्त्व
सरस्वती—लक्ष्मण (लाल)
स्रग में सर्प—मायाजनित भ्रम
सागर—संसार
सुआ—जीवात्मा
सुरति—ध्यान, स्मृति
सौदामिनी—लक्ष्मण (रंग) ।

राम-कथा के प्रतीक

अयोध्या (कोशल)—शब्द ब्रह्म का मूल स्थान जो मन से विजित न हो सके ।
कुंभकर्ण—तामसिक मन का केन्द्री-भूत तत्त्व
कैकेयी—निम्न चेतना
कौशिल्या—सौभाग्य
चौदह वर्ष—चौदह मन्वन्तर
तारा—वृहस्पति
दशरथ—दस इन्द्रियाँ (उच्च भौतिक रूप) । प्रजापति जो दस दिशाओं में व्याप्त है ।
दसग्रीव (रावण)—(१) दस इन्द्रियाँ जो मस्तिष्क में ही केन्द्रित हैं जो तामसिक मन का अहंपूर्ण विस्तार है । राजसिक तथा तामसिक गुणों का मिश्रण । (२) वृत्रासुर (अहि)
नल—विश्वकर्मा
नन्दीग्राम—शब्द-ब्रह्म का स्थान
नील—द्विविद
बालि—काम से उद्भूत वासनाएँ
भरत—मन

मारीच—भ्रम, माया, मायावी राक्षस माया मृग

मेघनाद—तामसिक मन का वेगवान् रूप

राम—चेतनात्मा का प्रतीक। इन्द्र, विष्णु तथा सूर्य के अनेक वैदिक तत्त्वों तथा गुणों का समन्वित रूप।

लक्ष्मण—(सर्प)—परमतत्त्व का विधि-वाक्य (२) पूषा

लङ्का—तामसिक मन का समष्टि रूप

शरभ—पर्जन्य

शत्रुघ्न—(शङ्ख) आकाश तत्त्व अथवा पदार्थ

शूर्पणखा—वासनामय काम

सीता—आत्मकिरण, पृथ्वी की उर्वरा शक्ति, मूल प्रकृति रूप

सुमित्रा—सर्व मित्र रूप

सुग्रीव—ज्ञान या बुद्धि, सूर्य

हनूमान—प्राणवायु तथा पवन। मारुत, अग्नि तथा इन्द्र के गुणों का समन्वित रूप।

(घ) *कृष्ण-काव्य के प्रतीक*

अगम अटारी } —गगन या ब्रह्मरंध्र
अगम देस } के वाचक शब्द

अम्बुज—मुख

अनाहद—बंशी-ध्वनि का रूप

अमृत—महारस, हरिरस, अमर रस का समन्वित रूप

अमृत फल—चिबुक

अर्क—कर्णफूल

आंगन—हृदय

औघट-घाट -साधना पथ की अनेकानेक कठिनाईयाँ

उडुगन—बेंदी

ऊँची अटारी—गगन या ब्रह्मरंध्र

कमल (जलरुह)—कुच, प्रेमी, कर, मुख; नेत्र

कनक-लता—शरीर, कुच

कमठ—नेत्र पलक

कदली—जंघा

कपोत—ग्रीवा

काग—नेत्र

कीर—नासिका

कर्कराशि—शृंगार करना

कुन्दकली—दंत-पंक्ति

कालिंदी—गोपी विरह का मानवीकरण रूप

कुम्भ—कुच

खंजन—नेत्र

खसम—स्वामी

गाय—माया

गिरवर—कुच

गुलाल—अनुराग

गुन-सागर—कृष्ण

गगन—ऊँची अटारी, वाही देश आदि, परम पद वाचक शब्द

घर—शरीर, हृदय

चकई—जीवात्मा

चंपक वन—संसार के विषयादि

चंद्र—भाल

चातक—प्रेमी भक्त
जोगी—आराध्य रूप
झिरमिट—आध्यात्मिक केलि
तड़ाग—जीवात्मा रूप
तरुनी—माया
तीर—प्रेम, गुरु के शब्द
दधि—क्रोध
दधिसुत—जालंधर राक्षस, चंद (नख)
दधि-सुत-पति—कृष्ण
दधिसुत वदनी—चंद्रमुख
द्वै पात—दो कर्ण
द्रुम डाल—संसार
दीपक—प्रेमपात्र
दामिनीं—गोपियाँ
दादुर—हृदयगत भाव का प्रतीक रूप
धरहिं—पृथ्वी, टेक, धारण करना
धनुष—भृकुटी
नटी—माया
नागिन—काली रात (मानवीकरण) केश
निशि—अज्ञान, अविद्या
निरंजन—ब्रह्म रूप कृष्ण का रूप जिसमें लीला तथा अवतार का हल्का सा पुट हो।
पतंग—प्रेमी, जीव, कर्णफूल
पचरंग चोला—पंचतत्त्व निर्मित शरीर
पंचवारिज—दो हाथ तथा दो पैर और एक मुख
पंकज—चरण
पल्लव—ओष्ठ
प्रवाल—मसूढ़े
पिक—वाणी
पुहुप—अधर
फल—कुच
फाग—आनंदानुभूति
बिंबफल—अधर
बज्र—कठोरता, अस्त्र
बजाग्नि—विरहाग्नि के अर्थ में न होकर बलवान रूप में प्रयुक्त
बाग—शरीर
भूप, भोग, भामिन आदि—भोग-वृत्तियाँ आदि
भृंगी—जीवात्मा
मेष (राशि)—अचलता
भौंरा—प्रेमी-भक्त
मधुकर—उद्धव, कृष्ण तथा सगुण विचार धारा के विपरीत विचार-प्रणालियाँ जो अंधविश्वास आदि को प्रश्रय देती हैं।
मधुबन—हृदय रूप (मानवीकरण)
मिथुन (राशि)—मिथुन (रति)
मीन—जीवात्मा, नेत्र
मुद्रा—वाह्याकृति तथा निषेधात्मक रूप, जोगिनी एक आंतरिक-भावना की प्रतीक है। कहीं-कहीं पर भयंकरता का भी अर्थ है।
मीठी—सत्यरूप
मेघ—साध्य तत्त्व, आनंदवर्षा

मृग—लोचन, जीवात्मा
मृगमद—कस्तूरी
मृगराज—कटि
मृणाल—भुजा
मोर—प्राण, जीव, हृद्गत भाव
रस-सागर—गोपियाँ
वसंत—आनंदानुभूति
विधु—मुख
विष का प्याला—संसार की विषय-वासनादि तथा कठिनाईयों का प्रतीक
शुक—नासिका
शंभु—कुच
शशि—मुख
श्रीफल—कुच
सर्प (फनिग)—केश, बाहु
सरवर—नाभि
सहज—स्वाभाविकता, सहज साधना, प्रेममय समाधि ।
सारंग—(श्लेष तथा यमक) घन-श्याम, कृष्ण, आकाश तत्त्व, हाथी, सरोवर, मेघ, चीर या वस्त्र, कमल, मुख, लोचन, केश, वाणी, नायिका, समुद्र, मेघों के समूह, रात्रि का प्रहर, सखी, वीणा, राग सारंग, मृग, चंद्र, सिंह ।
सारंग-रिपु—घूँघट
साँप की पिटारी—साधना मार्ग की दुर्लभताओं का प्रतीक, काल
सरिता—साध्य तत्त्व
सारंग-सुत—दीपक (स्याही)
सारंगपति—कृष्ण
सायक चाप—कटाक्ष
सुत-सारंग (कोयल)—वाणी
सुरति—ध्यान, स्मृति रतिकेलि, विरह भावना तथा कहीं-कही पर योग-परक अर्थ का भी समाहार हुआ है ।
सौरभ (मृग)—आत्मज्योति, ज्ञान
हरि—गति, सूर्य, सिंह, कटि, कामदेव, हाथी, हरण कर
हरिपति—कृष्ण
हंस—गति
हेमतुषार—बेसरहार
होली—आनंदानुभूति ।

कृष्ण-लीलाओं के प्रतीक

अङ्ग दान—भौतिक प्रकृति का समर्पण
इंद्र—वृत्र
कदम्ब वृक्ष—ज्ञान चेतना
कृष्ण—परमाराध्य, साध्य तत्त्व, रक्षक रूप, इन्द्र, मानवीय ऊर्ध्व चेतना, परम-तत्त्व, विष्णु, अग्नि तथा इंद्र के गुणों का समन्वित रूप, रस रूप ब्रह्म, सूर्य, केंद्रक (न्यूक्लियस) सगुण-रूप ब्रह्म
कालिय—अहि वृत्र जो वर्षारंभ के द्वार को रोके रहता है, तामसिक एवं अशिव प्रवृत्तियाँ, समय ।
गोपीगण—जीवात्माएँ, भक्तगण, ग्रह, तारका, सूर्य-रश्मियाँ, नाड़ियाँ, एलकट्रान ।
गोवर्द्धन—मेघ (जल को वर्द्धन करने वाले)

गो—इंद्रियाँ, पशु
चीर—अज्ञान तथा काम-जनित मोह
चंद्रिका—चेतनयुक्त विवेक
दधि—आत्म-समर्पण का प्रतीक
दावानल—दुःखों तथा विपत्तियों का प्रतीक, आसुरी-शक्तियाँ
धेनु—वाक्, इंद्रियाँ
पान करना (दावानल)—अधिकार में करना
भ्रमर—उद्धव, कृष्ण, विपरीत धारणायें तथा मान्यताएँ।
माखन—सुकृतो, सुफलो, इंद्रियों का रस (गोरस)
मुरली (वेणु)—अनादि शब्द तत्त्व, योगमाया, नाद-ब्रह्म, अनाहद नाद
यमुना—संसार, सृष्टि, सृष्टि का अभेद्य रहस्य (नीला रंग)
राक्षस गण—तामसिक-वृत्तियाँ
राधा—कुंडलिनी शक्ति, तेजस या आग्नेय शक्ति, न्यूट्रान, पाजिट्रान, प्रोटान का मिलित रूप। रसात्मक सिद्ध की प्रतीक, मूल प्रकृति शक्ति।
वृंदाबन—महाभूत आकाश, सहस्र-दल कमल।
वृषभ—प्राण
वत्स—मन।

(२) रीति-प्रतीक

अशोक—सुन्दरियो के वाम पदाघात से अथवा स्पर्श से खिल उठने की प्रसिद्धि, हृद्‌गत भावों का व्यंजक भी।
अमरावती—भावती नायिका (श्लेष)
अनमिष—अपलक, तुलनाहीन (यमक)
आग की लपट—बिरहाग्नि
उरबसी—हृदय में बसी, अप्सरा, आभूषण विशेष, राधा (यमक)
उलूक—अज्ञानी एवं नीच-प्रकृति के पुरुष
उपवन—संसार
ऊँख—निर्बल पुरुष
कमल—जलाशयों में प्राप्त होते हैं (कुमुद) नीलोत्पल दिन में नहीं खिलता है, पर पद्म दिन में ही खिलते हैं। मुख, जीवन, जल, प्रेमिका, नेत्र, पद्मिनी नारी, कर, कुच
कमान—कृष्ण (श्लेष)
कपूर—ज्ञानी या गुणी पुरुष
करील—साधनहीन एवं निर्धन व्यक्ति
कली—जीव, व्यक्ति, प्रेमिका
कबूतर—सुखी पुरुष
कलम (हाथी का बच्चा)—निर्बल एवं निरीह व्यक्तियों का समष्टि रूप
कठपुतली—प्रकृति
कृषक—जीव, व्यक्ति
कुंजर—काल
कुरंग—जीवात्मा
कामदेव—अस्त्रों सम्बन्धी प्रसिद्धियाँ (पुष्प, वाण तथा धनुष)

कीर—मंदबुद्धि व्यक्ति, गुणी व्यक्ति, सेवा करने वाला
काग—चाटुकार, दुर्जन व्यक्ति, कुटिल, सहयोगी
कुब्जा—गोपी भाव (श्लेष)
कोकिल—गुणी तथा पारखी व्यक्ति, सहयोगी
खंजन—नेत्र
खगसमूह—स्वार्थी मनुष्य
खारा जल—आँसू
खूंनी—प्रेमी
खेत—जीवन
गढ़—शरीर
ग्वालिन—जीवात्मा
गुड़ियों का खेल—संसार के सुखादि क्षणभंगुरता
गुच्छे—कुच
गुलाब-सुगंध—संसार के विषय वासनादि
गुड़हर का फूल—बाह्यांडम्बरों वाला अहंकारी पुरुष ।
गुलाब—धनी तथा सम्पन्न पुरुष, गुणी, मेधावी
गोधन—जिसके दिन एक से नहीं रहते हैं ।
गोरस—इन्द्रियों का रस, दही, मक्खन (यमक)
ग्रीष्म पक्ष—वर्षा (श्लेष) हिम तथा शीत भी
घनस्याम—कृष्ण (श्लेष)
घन—मूर्ख दानी, लक्ष्मीवान् पुरुष, सज्जन पुरुष, उपदेशक
घट—शरीर
घृत—ब्रह्मज्ञान
घूँघट—माया का आवरण
चकोर—चंद्रिका या अंगारों का पान करता है, रात्रि में बोलने की प्रसिद्धि, असफल प्रेम का प्रतीक, साहसी प्रेमी, नेत्र, समय को नष्ट करने वाला ।
चक्रवाक—प्रसिद्धि है कि रात को विलग हो जाते हैं और सुबह को पुनः मिल जाते हैं, वियोग का प्रतीक
चातक—पींव पींव के रटने तथा स्वाति बूँद को ही प्राप्त करने की लालसा की प्रसिद्धि, प्रेमी, भक्त
चित्रकार (चितेरा) आत्म-संज्ञक ब्रह्म
चित्र—सृष्टि
चोर—खल पुरुष
चंदन—प्रसिद्धि है कि मलय पर्वत पर ही प्राप्त होता है तथा सर्पों से वेष्टित रहता है । रूप-सौंदर्य, सत्पुरुष, संत
चम्पक—रमणियों के मृदुहास से मुकलित होने की प्रसिद्धि, छबि, सद्गुण
चंद्र—मुख
चकई—विरहिणी
चंद्रकांति मणि—प्रसिद्धि है कि चंद्रमा की किरणों के पड़ने से पिघलता है, प्रेम भाव का मान रूप में व्यंजक
जम्बुक (गीदड़)—नीच मनुष्य भयग्रसित पुरुष

जाल—संसार, माया
जुराफा—विहार आदि करते हुए दम्पत्ति बिछुड़ जाते हैं, ऐसी प्रसिद्धि है (अफ्रीकी जन्तु), विरह का प्रतीक
जुदी—जो दी है, विलग (यमक)
डङ्का—मृत्यु
तुरङ्ग—मदान्ध व्यक्ति
तुम्बिका—कुकर्मी, अज्ञानी
दाता—सूम (श्लेष)
दधि—ब्रह्म, ईश्वर-भक्ति
दाड़िम—दंत, शुभ-गंतव्य
धन—ज्ञान, ईश्वर-भक्ति
धूम्रमेघ—भ्रम जनित माया
नवग्रह—नारी-सौंदर्य का प्रतीक (श्लेष)
निम्ब—परोपकारी
नारी—माया, जीवात्मा
निशा की पियूष वर्षा—ऐसा व्यक्ति जो सुन्दर बर्ताव करता है।
पतङ्ग—प्रेमी
पथिक—बली पुरुष, जीवात्मा
पञ्चाविख—पञ्च विषय
पहाड़—कुच
पनिहारिन—जीव, इंद्रियाँ
पावस जल—संसार के विषय वासनादि
पीनस रोग—अज्ञानी या दुर्गुणी
पीतम का देश—परम धाम
पिंजरा—शरीर
बनमाली—वन से घिरे, मेघ, कृष्ण (यमक-गोपी विरह)
बक—दंभी, असाधु व्यक्ति
बहेलिया—काल
बटमार—विषय, मोहादि
बन रूपी नारी—ससार
बबूर—असाधु पुरुष
बिषबल्ली नारी रूप—संसार
बिंब—अधर
बाजी (शतरंज)—जीवन का क्षेत्र
बासा पक्षी—जीव
बाज—बलवान् पुरुष
बास—सुरभि, स्थान (यमक)
बेल—निम्न वस्तु या ध्येय
बेंदी (अबरख की)—गुण युक्त सरल पुरुष,जो वाह्याडंबरों से विहीन हैं
बेसर—नीच व्यक्ति
भंवरा—प्रेमी, चाटुकार, केश, गुणी व्यक्ति, निर्बल
भज्यो—भजन, भागना, नाम लेना, आकृष्ट होना (यमक)
भूतल—क्षमाशील व्यक्ति
भोगी—योगी रूपी नायिका (श्लेष)
मयूर—ऊपर से मधुर भाषी, पर अंदर से कुटिल व्यक्ति, जीव
मदनमोहन (कृष्ण)—निर्मोही नायक (श्लेष)
मतिराम—कवि, कृष्ण, बुद्धि, विस्मृत न होना (यमक)
मरजीवा (गोताखोर)—तत्व-ज्ञानी
मृगमरीचिका—माया-संसार

मणि युक्त पायल—ऐसे पुरुष जो बाह्य प्रदर्शन अधिक करते हैं।
महल—परम पद
माली—काल
मातंग—बलवान
मानसरोवर—अहंकार के सरोवर, मन, चलायमान, अहंकार, साधारण मनुष्य (यमक)
मुकुतन—सत्पुरुष, जीवन्मुक्त पुरुष
मीचु सिचान (चील)—मृत्यु
मीन—नेत्र, प्रेमी, निस्वार्थी, जीव
मोती की माला—गुणी मनुष्य जो अन्य लोगों की शोभा में लगे रहते हैं।
मोती—गोपी प्रेम (श्लेष)
मित्त(सूर्य)—मित्र (श्लेष)
मालती—प्रसिद्धि है कि रात्रि में प्रफुल्लित होती है। प्रेमिका
मंदार—स्त्रियों के नर्म वाक्यों से पुष्पित होना प्रसिद्ध है। मानवती नायिका, निराश्रित व्यक्ति
राम—कृष्ण (श्लेष)
लाल (रत्न)—कृष्ण (श्लेष)
लगान—ज्ञानार्जन, सुकर्म
वसंत—शिव का समाज (श्लेष)
वृक्ष—संसार (कार्य ब्रह्म)
वर्षा—अश्रु प्रवाह
शशक—जीव
शिव – विष्णु (श्लेष-उमाधव)
शिशिर—वर्षा वक्ष (श्लेष)
शूकर—नीच प्रकृति का पुरुष
शतरंज के खिलाड़ी—जीव
समुद्र—संसार
सरोवर—धनवान्
सफेद ध्वजा—श्वेत केश
स्वामी (गढ़ का)—जीव
सजल जलद—मेघ, कृष्ण, नीर (यमक)
संयोग—वियोग (श्लेष)
सारंग—बेणु, मेघ
सिंह—बलवान् व्यक्ति, कटि
सीपी—तत्वज्ञान
सुगंध (मृग)—आत्मज्ञान
सुआ (कीर)—नासिका
सूर्य—प्रतापी पुरुष
सूत्रधार—ब्रह्म, पुरुष (सांख्य)
सोने की लता—नायिका का शरीर
सोहे—शोभित, 'से है' सहित (यमक)
हंस—सरोवर में वर्णन होना तथा राजहंस का केवल मानसरोवर में प्राप्त होना प्रसिद्ध है। नीर-क्षीर विवेक की तथा मुक्ता चुंगने की भी प्रसिद्धि। जीवात्मा, तत्वज्ञानी, सज्जन व्यक्ति, विवेकी
हरिनी—विरहिणी (श्लेष)
हारिल—प्रसिद्ध है कि कभी पृथ्वी पर नहीं उतरता है और यदि उतरता भी है तो एक लकड़ी के टुकड़े के साथ, एकनिष्ठ प्रेम का प्रतीक, टेक

हाकिम—ईश्वर

हेमंत—दुर्जन

(४) लाक्षणिक प्रतीक (भारतेंदु तथा द्विवेदी काव्य)

अंतरिक्ष—हृदय
अमरावती—भारतमाता
अभागा फूल—दयनीय भारत
अग्नि-शक्ति—परमात्म तत्व
अलकापुरी—इंग्लैंड
अगाध सिंधु—रहस्यमय ईश्वर
आँधी—अस्थिरता
आँख-मिचौनी—आत्मा-परमात्मा की आध्यात्मिक क्रीड़ा
आलोक बिन्दु—अश्रुकण
ओस-बिन्दु—साहसी, सत्कर्मी
इंजन—बुद्धि
इंद्रजाल—माया
उडगन—नेत्र के पलक, आशा
कमल—प्रेमिका, हाथ, नेत्र, मुख, आत्मचेतना
कजरी—अज्ञान, कालिमा
कदली के खंभ—जंघा
कली—प्रेमिका
कंबु—ग्रीवा
कंचन का पिंजरा—पराधीनता
कनेर—व्यक्ति जिसमें कुछ कमी हो
काँटे, कटीली डाल—दुखमय संसार
काली चादर—विरह
क्यारी—हृदय का कोना
काली-जंजीरें—केश

काली राख—प्राचीन गौरव
काँटा—निम्नवर्ग, नीच पुरुष, मजदूर या श्रमिक वर्ग
करचोटिया (पक्षी)—काल
काग—अज्ञानी, वंचक, दुर्गुणी
कुमुद का खिलना—आशा, उत्साह नवजागरण
कीचड़ छीलर—दुख सुख
केहरि—लंक
कोयल—दुराग्राही, वंचक, चापलूस, सद्गुणी, ज्ञानी
कोयले का घोल—कटु शब्द या अनुभव
खजूर—धनी या महान् व्यक्ति जो दूसरों के काम न आवे
गज—मृत्यु,
गर्जन—तड़पन, पीड़ा
गाँव (दत्तापुर)—समस्त देश का प्रतीक
गाय—देश की निर्बल एवं दयनीय दशा
गिरि—कुच
गिरगिट—वे व्यक्ति जो सदैव रंग बदलते हैं, स्वार्थी एवं अस्थिर मनोवृत्ति के मनुष्य
ग्रीष्म—विषाद
गुलाब—सुख, प्रेम

गोधूलि—धूमिलता, अवसाद
गौरा—भारतमाता
गुल की रफ़्तार—संसार की गति
घर—शरीर, संसार
घन—विरह, स्वार्थी एवं हानि पहुँचाने वाला व्यक्ति
घड़ी—जीवन की अनियन्त्रित गति
चकोर—प्रेमी या प्रेमिका
चक्रवाक—दाम्पत्य भाव का प्रतीक
चसमा—भ्रम का पर्दा
चमन—संसार
चरखा—राष्ट्रीय एवं स्वदेशी चेतना
चंदन—सत्संग
चम्पा—प्रेमिका
चातक—जीव, प्रेमी
चांद—मुख, प्रेमपात्र
चिराग (दीपक)—प्रेमी
चिनगारी—सुप्त चेतना
चोर—मृत्यु, विषयादि
छायाएँ—विषय प्रलोभनादि
छायानट—परमतत्त्व
छाया—माया, प्रकृति
जव-तंदुल—देश की निर्धनता
जयचंद—देश में कलह एवं स्वार्थी तत्त्वों का प्रतीक
जलबिंदु—आर्त्तवाणी
झंझा—आंतरिक क्षोभ
झोंका—विषयादि, हृदयावेग
डंका—मृत्यु
तम—मोह, अज्ञान
तंत्री के तार—हृदय के भाव
तारा—आशा, निर्बलता
तुम—परम तत्त्व, आध्यात्मिक तत्त्व
तुरुक—अंग्रेज वर्ग
दर्पण—हृदय, माया
दाड़िम बीज—दंत-पंक्ति
दीप—जीवन, प्रेम, प्रेमपात्र
दीप का निर्वाण—बलिदान, आत्मोत्सर्ग
देवगण—भारतीय जनता
ध्वंस शिल्प—प्राचीन वैभव का दलित रूप
धूम्रमेघ—मायाजनित संसार, अस्थिरता
नटखट—परोक्ष तत्त्व; ईश्वर
नमक की डली—जीवात्मा
नटनी—आत्मा
नटवर—परमात्मा
नक्षत्र समाज—स्मृतियाँ, अस्थिर जीवन तथा संसार
ननद—ज्ञानेन्द्रियाँ
नदी—संसार, व्यक्ति
नाविक—प्रियपात्र
नारी—सौंदर्य रूप, श्रद्धा भक्ति
नागिन—केश
निशाचर—विदेशी सत्ता
नीलम की प्याली—नेत्र
नींद—आलस्य, अज्ञानादि
नैहर—संसार
नैया—शरीर या जीवात्मा

नौबत—मृत्यु
परवाना (शलभ)—प्रेमी
परदा—माया
पतझड़—दुख, निराशा, विषाद
पत्ती—जीवन की क्षणभंगुरता
पंजरबद्ध कीर—पराधीनता
प्रभात—आशा, जागृति
पयोधर—कुच
पथिक—व्यक्ति
प्रवाल—ओष्ठ
पृथ्वी—मन, हृदय
परिरम्भ कुंभ—आलिंगित कुच
प्रभाकर—नवचेतना, स्फूर्ति
पत्ती—अस्थिर मानव जीवन
प्रांगण—हृदय; संसार
पिंजरा—शरीर
पिशाच—शोषक वर्ग अंग्रेज
पिक—स्वर
पिचकारी—अश्रुप्रवाह
प्रियतम—आध्यात्मिक सत्ता
पीतपत्र—उर्मिला की दीन दशा
पीलवान—बुद्धि
पुरइन—कर्ण
पूजा के साज—बाह्य अनुष्ठान
फागुन—आनंदानुभूति
फूल—मानव जीवन, बड़े आदमी, जीवजगतादि
फूलों की माला—प्रेम तथा हृदय की भावना
बसंत—सुख, आनंद
बहार—सुख, आनंद
बकरी—भारत की दीन दशा
बल्ली (लता)—प्रेमिका
बड़वाग्नि—विरहाग्नि
बट बीज—कर्मयोगी पुरुष
वृक—अविवेकी, बाह्याडम्बरी
बहेलिया—काल
बाज—काल
बाग—ससार
बिंब—अधर
बिजली—टीस, रूप, आभा
बेड़ा बनाना—शक्ति-संचय
बैल—वृद्धावस्था, निष्क्रिय व्यक्ति
भालू—काल
भूल भुलैया—संसार
भेड़—निर्बल व्यक्ति
भौंरा—प्रेमी, कृष्ण, जीवात्मा, निष्ठुर प्रेमी, पराधीन व्यक्ति
मृग—जीव, नेत्र की चपलता
मणि—प्रेम, ज्ञान
मरु-भूमि—माया
मकड़-जाल—माया का प्रसार
मृग मरीचिका—माया
मदिरा—मादकता
मधु राका का मुस्काना—रूप,सौंदर्य
महिषासुर—विदेशी सत्ता, दुर्प्रवृत्तियाँ
मनूजी—विदेशी
मिट्टी का घड़ा—शरीर
मुसाफ़िर—जीव
मेघ—कृष्ण (श्लेष) केश

मेह बरसना—प्रेम वर्षा
मोती के दाने—दंत पंक्ति
मैं—जीवात्मा
मैख़ाना—संसार
मोटर—कुकर्मी, विषयादि में फँसा जीव
यक्षगण—अंग्रेज़
रजनीगंधा—प्रेमिका
रसाल—कुसमय ग्रस्त पुरुष
रस-कोष (फूल)—विषयवासना
राजहंस—व्यक्ति
रेल—जीवन की क्रियाशीलता
रैन—अज्ञान, स्वार्थी पुरुष, निष्क्रियावस्था
लतिका—शरीर (नारी)
लादी—कर्मों का बोझ
लुटेरा—वृद्धावस्था, विदेशी सत्ता, मृत्यु
वर्षा, शीत, आतप—संकट एवं बाह्य आक्रमण
वृक्ष—संसार
वृकोदर—ब्रिटिश राज्य
विहग—प्राण, आत्मा
विटप—प्रेमी
वीणा—हृदय, सृष्टि
शराब—अमृत, परमानंद
शशि—प्रेमपात्र, मुख
शुक—नासिका
शिरीष कुसुम—सौंदर्य की सुकुमारता
सनम—प्रिय (ईश्वर)
सरायफ़ानी—संसार
सरिता—शरीर, जीवन का प्रवाह
समुद्र—मन, सत्पुरुष, संसार, प्रेमी
सर्प—दुराचारी, दुष्ट प्रकृति
सरवर—संसार
सिंह—भारत राष्ट्र
सीप—व्यक्ति, नेत्र
सुजनसिंह—सज्जन पुरुष
सुखी फुलवारी—हृदय
सूर्यमुखी—प्रेमिका
सूर्य—प्रेमी, परोपकारी
हंस—विवेकी पुरुष, विषयवासना में लिप्त पुरुष।
हवा के झोंके—कष्ट
हरी घास—परोपकारी
हरिण—जीवात्मा
हाथी—अविवेकी
होरी—फूट, कलह, आनंद।

(५) *व्यंजनात्मक प्रतीक (छायावाद)*

अंधकार—अज्ञान
असीम उल्लास—परम व्याप्त सत्ता
अलि—प्रेमी, जीव
अमूल्य मोती—आँसू
अशोक वृक्ष—रूप
अनंत के चंचल शिशु—बादल
अतिथि—प्रेम
अप्सरा—सौंदर्य चेतना

आकाश—हृदय, मन, नेत्रों की गहनता
आधा खुला कपाट—हृदय, मन
आतप—दुख
ओस-बिन्दु—क्षणिकता
उपवन—संसार
उषा—सुख, आह्लाद, ज्ञान, प्रेमपात्र
ऊँचे महल की खिड़की—परमपद
कमल—मुख, कर
कदली—जंघा
कली—मानव जीवन, बाल्यकाल प्रेमिका, हृदय
कड़ी मारें—विपत्तियाँ, दुखादि
कमलिनी—साधिका, प्रेमिका
करुणाकर—परमसत्ता
किरण—आशा, प्रेम
कारा—प्राचीन रूढ़ि परम्पराएँ आदि
कुटिया—हृदय
कुंद—दंत-पंक्ति
कुसुम—कुच, यौवन, मानवजीवन की क्षणभंगुरता, हृदय
कोकिल—प्राण, गान, अन्तर्व्याप्त प्रेरणा
कोक कोकी—दुख, वियोग
खंजन—नेत्र
खग—मन, भाव
खंडहर—पुरातनता
खेत—हृदय
गरल—दुख, विषयादि
गंगा धारा—नवचेतना, संसार

गागर—हृदय
गुलाब का फूल—मानव जीवन अथवा संसार की परिवर्तनशीलता
गौर तन—ज्योत्स्नामय रजनी
घर—हृदय, मन
घन—दुख
घाट—गंतव्य
चम्पा—प्रेमिका, (यौवनपूर्ण)
चंद्रमा—प्रेम-पात्र
चंद्रिका (राका)—चेतना, सौंदर्य, प्रेम, आशा, रुग्ण जीवन की चेतना, स्वर्गिक चेतना
चंद्रकिरण—आशा, चेतना
चट्टान—संघर्ष में अडिग व्यक्ति अथवा देश की शक्ति
चातक—प्रेमी, जीवात्मा, विरह भावना
छवि उपवन—संसार
छवि के नव बंधन—नवीन सौंदर्य की चेतना
छाया—परोक्ष सत्ता, माया, प्रकृति
जग के पार—आध्यात्मिक क्षेत्र
जलबिंदु—जीवात्मा
ज्योति—आध्यात्मिक प्रकाश
जीर्ण पत्र—प्राचीन रूढ़ियाँ, परम्पराएँ आदि
जुही—काल्पनिक चेतना, प्रेमिका
झिल्लियों की झंकार—स्मृतियाँ
झींगुर—स्मृतियाँ
ठूंठ—अंधरूढ़ियाँ तथा परम्पराएँ

तम—अज्ञान, मोह
तट—हृदय का किनारा
तरु—शरीर, प्रेमी
तरंग—जीव का श्वास (चेतना) भाव तरंग
तार (सितार के)—भाव
तारा—आशा, आत्मा
ताजमहल—बद्ध धर्म रूढ़ियाँ आदि
दर्पण—हृदय
दाड़िम—मसूढे
द्वार—हृदय, मन
दिवस—सुख
दीप—आशा, आत्मा, प्राण, त्याग, तप
द्वीप—आह्लाद
दूध—परमात्मा या परोक्ष सत्ता
देव—प्रिय, परमात्मा
देवि—प्रकृति
दो झलझलाते नेत्र—समस्त दुखी आत्माओं का प्रतीक
द्रौपदी का दुकूल—विरह की अनंतता
धारा—सीमा, जीवात्मा, संघटित शक्ति
नयन मूँदना—अंतर्दृष्टि
नभ—हृदय, संसार
नदी—संसार
नयनों के बाल—आँसू
नभ-वेलि—विरह
नक्षत्र—आत्मा, आशा
नर्गिस—पृथ्वी की चेतना (सौंदर्य)
नर्तकी—परिवर्तनशील प्रकृति
नवयुग के खग—नव चेतना के भाव
नारी (मानवीकरण)—काव्य रूप वसत, संध्या, ऊषा, निशा, प्रेम, विरह, छाया, भावलहरियाँ, प्रकृति
नायिका—माया
निशि—दुख
निर्झर या निर्झरिणी—मन का प्रवाह (भाव)
निकुंज—हृदय
नीलिमा—गहनता, सत्य
नूतन—नवचेतना
नुपूरों का ह्रास—सृष्टिपरक नाद (अनाहद)
प्रभात—ज्ञान, नवचेतना, आशा, सुख
पथिक—जीव, व्यक्ति
पत्ते का पतन—मानव जीवन की अस्थिरता
पल्लव (पुराना)—जीवन अथवा जगत् की अस्थिरता, भाव
पतझड़—दुख
प्याली—प्रेमपूर्ण हृदय
प्रपात—मन का प्रवाह
पत्थर—इतर भवनाएँ
प्रकृति का करुण काव्य—विषाद, विरह
पत्थर तोड़ती नारी—श्रमिक वर्ग
पतवार—बुद्धि, साहस

पृथ्वी—माता (भारत), स्थूल तत्व
प्राची—हृदय का कोना
पावस—करुणा, दुख
प्राण—वेदना
प्रातःकाल—सुख
पानी—जीवात्मा
प्रियतम—परमसत्ता, परमात्मा
पिक—स्वर
फल—आध्यात्मिक दृष्टि
फलफूल, पौदे—सृष्टि-प्रसार
फूलवाली—सजीली प्रकृति
फूल—सुख, हृदय
वसन्त—आनन्द सुख, नवचेतना, अस्थिरता
बचपन—सरलता, चंचलता
बाला—कल्पना
ब्राह्मण—शोषक वर्ग, धनपति
बादल—प्रेम पात्र, विरह वेदना, नेत्र की गहनता, क्रान्ति, निर्माण, विप्लव, केश, स्मृतियाँ
बिजली—हृदय की टीस
बीज—ब्रह्म की सृजन शक्ति का निष्क्रिय रूप जो क्रियात्मक रूप धारण करता है।
बुद्बुद्—आत्मा, परमाणु
बूँद—ब्रह्म के पूर्व-सृष्टि का रूप
बेला—काव्य चेतना (मानवीकरण)
भवन—मन, हृदय
भिक्षुक—शोषित वर्ग, निर्धन
भूषण वसन—तारकमालाएँ
भूधर—जग के शिखर
भंवरा—प्रेमी, जीव, मन
मधु—प्रेम, आनन्द, सुख
मकड़ी का जाला—माया प्रसार
मृग—जीव, नेत्र
मृग मरीचिका—माया, भ्रम
मधुशाला—वैभव पूर्ण संसार
मर्म पीडा के हास—उच्छ्वास
मणि-माला—स्मृतियों का क्रम
मधुबन—हृदय
मल्लिका—प्रेमिका, प्रेमभाव
मधुर साँस—जीवन की चेतना
मृणाल—भुजा
मलयानिल—प्रेमी
माली—काल, सबल पुरुष
मा—परम सत्ता, प्रकृति
माधविका—प्रेमिका
मुक्ता-मछली—परमात्मा
मीन—नेत्र
मुरली—प्राण
रजनी—निराशा, दुख, अज्ञान
रवि रश्मि का तीर—आध्यात्मिक ज्योति
रंजित प्रभा—तेज प्रकाश
रजत—धवलता, रूप
रत्न—आत्मा
रावण—विदेशी सत्ता
राम—भारतीय राष्ट्र या जनता
रूपसी—संध्या

लतिका या लता—प्रेमिका, तरुणी युवती

लहर—भाव तरंग

लता—तारुण्य रूप (मानवीकरण)

लग्गी—बुद्धि

वंशी—प्राण

वर्षा—अश्रुप्रवाह

वसंत की परी—सौंदर्य चेतना, कल्पना

वृद्ध विहग—देश की मृतात्मा

विश्व अभिनय के नायक—अनंग, काम

विजन वन—शून्य हृदय

बिहान—हास

विद्युत्—वेदना की तड़प

विमल रजनी—रचनात्मक माया

वीणा—हृदय

वीचियाँ—भाव

शतदल—ब्रह्म, यौवन

शशि—सुख, मुख

शलभ—प्रेमी, जीवन

शक्ति (दुर्गा)—देश की संगठित शक्ति

श्यामा—क्रान्ति

शिशिर—दुख, विषाद

शिला—देश की निष्क्रियावस्था, रूढ़ि आदि

शुक्र—निराशा

शुक—नासिका

शेरों की माँद—भारतीय राष्ट्र या जनशक्ति

शेफालिका—प्रेमिका, नायिका

संध्या—जीवन का अवसान, दुख, विषाद

समीरण—प्रेमी, श्वास

सरोरुह—प्रेमी

सरिता—जीवन

सहचरी—प्रकृति

स्यार—विदेशी सत्ता

स्वर विस्तार का संघात—सृष्टि का केन्द्र

स्वर्ग—सूक्ष्म तत्त्व, परम-तत्त्व

स्वर्ण—दीप्तिमान सौंदर्य सत्ता, दीप्ति, कांति, चेतना

स्वर्णकिरण—चेतना

साँस—सीमा

सागर—मानसिक जगत्, हृदय, संसार

सिकता की रेखाएँ—स्मृतियों की रेखाएँ

सितार—हृदय

सुरा—रूप, प्रेम

सुरभि—प्रेम, विरह, कल्पना

सुधा की ज्योतिधार—आनंदानुभूति

सुमन—साध्य तत्व, मन

सुवास—साधक

हँसना—विकसित होना

हरित वन कुसुमित आदि—माया का प्रसार (संसार)

हास—मनुभूति

हीरक पात्र—हृदय

क्षितिज—हृदय

(च) हिन्दी सहायक पुस्तकें

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय भाग १ तथा २—द्वारा डा० दीन दयालु गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (सं० २००४) ।
२. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१६००-१६२५)—द्वारा कृष्ण लाल, हिन्दी परिषद्, प्र० वि० (१६५२) ।
३. आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत—डा० केसरी नारायण शुक्ल, सरस्वती मंदिर, काशी (सं० २००४) ।
४. उपनिषद् चिंतन—द्वारा श्री देवदत्त शास्त्री, किताबमहल, इलाहाबाद (१६५६) ।
५. उत्तरी भारत की संत-परम्परा—द्वारा श्री परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, इलाहाबाद (सं० २००८) ।
६. काव्य में अभिव्यंजनावाद—द्वारा लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ।
७. कबीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, प्रयाग (सं० २०११) ।
८. कबीर—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई (१६५३) ।
६. कबीर का रहस्यवाद—द्वारा डा० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन लि०, प्रयाग (१६५१) ।
१०. काव्य संप्रदाय—अशोक कुमार सिंह, ओरियण्टल बुकडिपो, दिल्ली (सं० २०१३) ।
११. कवि निराला और उनका काव्य-साहित्य—गिरीश चंद्र तिवारी, साहित्यभवन, इलाहाबाद (सं० २०११) ।
१२. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन—डा० द्वारका प्रसाद, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (१६५८) ।
१३. कामायनी दर्शन—डा० फतेहसिंह, सुमति सदन; कोटा (राजस्थान) (सं० २०१०) ।
१४. छायावाद युग—शंभूनाथ सिंह, सरस्वती मंदिर, बनारस (१६५२) ।
१५. तसव्वुफ़ तथा सूफ़ी मत—द्वारा चंद्रबली पांडेय, सरस्वती मंदिर, बनारस (१६४८ द्वितीय संस्करण) ।
१६. तुलसीदास और उनका युग—द्वारा डा० राजपति दीक्षित, ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस (सं० २००६) ।

१७. देव और बिहारी—कृष्ण बिहारी शुक्ल, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ (सं० १९८२)।

१८. निर्गुण-काव्य-दर्शन—श्री सिद्धनाथ तिवारी, अजन्ता प्रेस, पटना (१९५३)।

१९. पद्मावत का काव्य-सौंदर्य—प्रो० शिवसहाय पाठक, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर प्राइवेट, बम्बई (१९५६)।

२०. प्रकृति और हिन्दी काव्य—डा० रघुवंश, साहित्यभवन, प्रयाग (सं० २००५)।

२१. प्रसाद का काव्य—डा० प्रेमशंकर, भारती भंडार, इलाहाबाद (सं० २०१२)।

२२. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुंशीराम शर्मा, आचार्य शुक्ल साधना सदन, कानपुर (सं० २०१०)।

२३. भागवत संप्रदाय—बलदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, (काशी वि० २०१०)।

२४. भारतीय साहित्य शास्त्र—बलदेव उपाध्याय, प्रसाद परिषद्, काशी (सं० २००५)।

२५. भारतेंदु काल—डा० रामविलास शर्मा, युग मंदिर, उन्नाव (तिथि नहीं)।

२६. भारतेंदु और उनके सहयोगी कवि—किशोरीलाल गुप्त, बनारस (सं० १९५६)।

२७. मध्यकालीन प्रेम साधना—द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य भवन लि०, प्रयाग (१९५२)।

२८. मध्यकालीन धर्म साधना—द्वारा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद (१९५२)।

२९. मलिक मुहम्मद जायसी—डा० कमल कुलश्रेष्ठ, साहित्य भवन लि०, प्रयाग (१९४७)।

३०. महाकवि सूरदास—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली (१९५२)।

३१. मानस की रामकथा—द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, किताबमहल, इलाहाबाद (१९५३)।

३२. राधावल्लभ सम्प्रदाय—'सिद्धान्त और साहित्य' द्वारा डा० विजयेंद्र स्नातक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (सं० २०१४)।

३३. रामकथा—द्वारा डा० रेवरेंड फ़ादर कामिल बुल्के, हिन्दी परिषद्, प्र० वि० (१६५०) ।
३४. रीतिकाव्य की भूमिका—द्वारा डा० नगेंद्र, गौतम बुक डिपो, दिल्ली (१६५३) ।
३५. रस कलस—द्वारा अयोध्यासिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस (सं० २००८) ।
३६. रोमांटिक साहित्य शास्त्र—द्वारा देवराज उपाध्याय, आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली (१६५१) ।
३७. वैष्णव धर्म—द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, विवेक प्रकाशन, इलाहाबाद (१६५३) ।
३८. विदेशों के महाकाव्य (बुक आफ इपिक्स)—अनुवादक गोपी कृष्ण, साहित्य भवन, प्रयाग, (१६४६) ।
३६. श्री राधा का क्रम विकास—शशिभूषण दास गुप्ता, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी (१६५६) ।
४०. संस्कृति और कला—द्वारा वासुदेवशरण अग्रवाल, भारती भवन, इलाहाबाद (१६५२) ।
४१. सिद्ध साहित्य—द्वारा डा० धर्मवीर भारती, किताब महल, इलाहाबाद (१६५५) ।
४२. सूफ़ी मत और हिन्दी साहित्य—द्वारा डा० विमलकुमार जैन, आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली (१६५५) ।
४३. सूर और उनका साहित्य—द्वारा डा० हरिवंशलाल शर्मा, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ (तिथि नहीं) ।
४४. सूरदास—द्वारा डा० ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद, प्रयाग (१६५०) ।
४५. साहित्य शास्त्र—डा० रामकुमार वर्मा
४६. सुमित्रानंदन पंत—द्वारा डा० नगेंद्र, सरस्वती रत्न भंडार, आगरा (सं० २०१२) ।
४७. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—द्वारा पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, अनु० परशुराम चतुर्वेदी, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ (सं० २०००) ।
४८. हिन्दी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह—द्वारा परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद (१६५२) ।

४६. हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य पर पुराणों का प्रभाव—द्वारा डा० शशि अग्रवाल, (थीसिस १६५० प्र० वि०) ।
५०. हिन्दी साहित्य, खंड दो—सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा और डा० ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद्, प्र० वि० (१६५६) ।
५१. हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ—द्वारा त्रिवेणी प्रसाद सिंह, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (१६५५) ।
५२. हिन्दी काव्य-दर्शन—हीरालाल तिवारी, साहित्य रत्नमाला कार्यालय, बनारस (सं० २०१०) ।
५३. हिन्दी साहित्य की भूमिका—द्वारा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई (१६५० चौथा संस्करण) ।
५४. हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण—किरण कुमारी गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (सं० २००६) ।
५५. हिन्दी के दो प्रमुख वाद—डा० प्रेमनारायण टंडन, विद्या मंदिर, लखनऊ (१६५४) ।
५६. हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव—द्वारा डा० रवीन्द्रनाथ सहाय वर्मा, पद्मजा प्रकाशन, कानपुर (१६५४) ।
५७. हिन्दी साहित्य में विविध वाद—डा० प्रेमनारायण शुक्ल, पद्मजा प्रकाशन, कानपुर (वि० २०१०) ।
५८. हिन्दी कविता में युगांतर—सुधीन्द्र, आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली (१६५०) ।

काव्य-ग्रंथ

५६. अन्योक्ति कल्पद्रुम—दीनदयालुगिरि—सं० रामदास गौड़, साहित्य भवन, प्रयाग (१६२५) ।
६०. आँसू—द्वारा प्रसाद, भारती भंडार, इलाहाबाद (सं० २००६ नवम् संस्करण) ।
६१. अनामिका—द्वारा सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', भारती भंडार, इलाहाबाद (सं० २००५) ।
६२. आकाश-गंगा—डा० रामकुमार वर्मा, हरिश्चन्द्र एंड ब्रदर्स, अलीगढ़ (सं० १६७६) ।
६३. अन्योक्ति तरंगिणी—ईश्वरी प्रसाद शर्मा, रामनारायण लाल, इलाहाबाद (१६५०) ।

६४. इंद्रावती (नूरमोहम्मद)—सं० डा० श्यामसुंदर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (१६०५) ।

६५. उपनिषद् भाष्य (सानुवाद) गीता प्रेस, गोरखपुर ।

खंड १—ईश, केन, कठ, प्रश्न और मुण्डकोपनिषद् (सं० २०१४) ।

खंड २—माण्डूक्य, ऐतरेय और तैत्तिरीयोपनिषद् (सं० २०१३) ।

खंड ३—छांदोग्योपनिषद् (सं० २०१३) ।

खंड ४—बृहद उपनिषद् (सं० २०१४) ।

६६. एकांतवासी योगी—श्रीधर पाठक, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद (१६०२) ।

६७. कबीर-ग्रंथावली—सं० डा० श्यामसुंदर दास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (१६२८) ।

६८. केशव कौमुदी भाग १ तथा २ (रामचंद्रिका)—सं० लाला भगवानदीन, रामनारायण लाल प्रेस, इलाहाबाद (१६५०) ।

६६. कविप्रिया (केशवदास)—सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, मातृभाषा मंदिर, प्रयाग (१६५२) ।

७०. कवित्त रत्नाकर (सेनापति कृत)—सं० उमाशंकर शुक्ल, हिन्दी परिषद्, प्रयाग वि० (१६३६) ।

७१. कानन-कुसुम—जयशंकर 'प्रसाद', भारती भंडार, इलाहाबाद (सं० २००७ पाँचवीं बार) ।

७२. कामायनी—द्वारा जयशंकर 'प्रसाद' साहित्य भवन, प्रयाग (१६३६) ।

७३. कविता कौमुदी (तीसरा भाग-लोक गीत)—सं० रामनरेश त्रिपाठी, नवनीत प्रकाशन, बम्बई (१६५५) ।

७४. ग्राम साहित्य—द्वारा रामनरेश त्रिपाठी, हिन्दी मंदिर, प्रयाग (१६५१) ।

७५. गुञ्जन—द्वारा पंत, भारती भंडार, प्रयाग (सं० २००४) ।

७६. चंद्रकिरण—द्वारा डा० रामकुमार वर्मा, गंगा ग्रंथागार, लखनऊ (सं० १६६४) ।

७७. चित्ररेखा—द्वारा डा० वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (२००३ वि०) ।

७८. जायसी ग्रंथावली—सं० रामचंद्र शुक्ल, इंडियन प्रेस, प्रयाग (१६३५) ।

७९. झंकार---द्वारा मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी (२००७ वि०)।

८०. झरना--द्वारा प्रसाद, भारती भंडार प्रयाग (२००८ वि०)।

८१. तुलसी ग्रंथावली, खंड २—सं० रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन आदि नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (सं २००६)।

८२. तृप्यन्ताम—द्वारा प्रतापनारायण मिश्र, खंगविलास प्रेस, बाकीपुर (तिथि नहो)।

८३. परिमल—सूर्यकान्ति त्रिपाठी निराला, दुलारेलाल भार्गव, लखनऊ (तिथि नहीं)।

८४. पल्लव—पंत, भारती भंडार, प्रयाग (सं २००५ पाँचवीं बार)।

८५. पारिजात—द्वारा अयोध्यासिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस (२०१२ सं०)।

८६. प्रियप्रवास—द्वारा अयोध्यासिंह, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस (२०१४ सं०)।

८७. प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (१९९६ वि०)।

८८. बिहारी सतसई,—सं० गिरजादत शुक्ल 'गिरीश' सरस्वती सदन, प्रयाग (१९३४)।

८९. बिहारी सतसई,—सं लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, सरस्वती प्रेस, प्रयाग (१९५०, द्वितीय संस्करण)।

९०. भारत गीत—श्रीधर पाठक, इंडियन प्रेस, प्रयाग।

९१. भारतेंदु ग्रंथावली,—सं० ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (सं २०१० दूसरा संस्करण)

९२. मूलबीजक (कबीर)—सं० पूरन साहब, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई (१९५१)।

९३. मतिराम ग्रंथावली,—सं० कृष्णबिहारी मिश्र, गंगा पुस्तकालय, लखनऊ (सं० १९८३)।

९४. मंगल घट—श्री मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, झाँसी (सं १९९४)

९५. मिलन—द्वारा रामनरेश त्रिपाठी, हिन्दी मंदिर, प्रयाग (१९८५ सं० पाँचवा संस्करण)।

९६. मन की लहर—द्वारा प्रतापनारायण मिश्र, खंगविलास प्रेस, बाँकीपुर (१९१४)।

९७ युगांत—सुमित्रानंदन पंत, अलमोड़ा (तिथि नहीं) ।
९८. रामचरितमानस (तुलसी)—गीता प्रेस, गोरखपुर (सं० २०१२ सप्तम बार) ।
९९. रासपंचाध्यायी और भंवरगीत—द्वारा नंददास, सं० डा० सुधीन्द्र, विनोद पुस्तक भंडार, आगरा (१९३३) ।
१००. लहर—जयशंकर 'प्रसाद', भारती भंडार, प्रयाग (२००४ वि० तृतीय बार)
१०१. विनयपत्रिका—द्वारा तुलसी, सं० वियोगी हरि, साहित्य सेवा सदन, काशी (सं २००५ पाँचवा संस्करण) ।
१०२. वीणा-ग्रंथि—द्वारा पंत जी, भारती भंडार, प्रयाग (२००३ सं०) ।
१०३. शक्ति—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी (सं० १९८४) ।
१०४. श्री दादूदयाल की बानी—सं० सुधाकर द्विवेदी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (१९०६) ।
१०५. संत कबीर—सं० डा० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन, इलाहाबाद (१९४७) ।
१०६. स्वामी दादूदयाल की बानी,—सं० चंडिका प्रसाद त्रिपाठी ।
१०७. सूरसागर भाग १ तथा २—सं० नंददुलारे वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (सं० २००५) ।
१०८. सूरसागर सार—सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा, साहित्य भवन, प्रयाग (सं २०११) ।
१०९. सूर के सौ कूट—चुन्नी लाल 'शेष' ।
११०. स्फुट कविता—बालमुकुंद गुप्त, ३, डेक्स लेन, कलकत्ता (सं० १९७४) ।
१११. साकेत—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, झाँसी (२०१० सं०) ।

पत्र, पत्रिकाएँ तथा जर्नल्स

१. एनल्स आफ़ भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, वाल्यूम २३, २९ तथा २२, (१९४२, १९४८ तथा १९४९) ।
२. कल्याण (मासिक)—(१९३१—१९५१) गीता प्रेस, गोरखपुर ।
३. ब्राह्मण (मासिक)—सं० प्रतापनरायण मिश्र (१८८३-१८८४), खंड १, २, ४, ५ तथा ८ ।

४. भारत (साप्ताहिक)—१७ नवम्बर १९५७ ।
५. सरस्वती—(१९०१-१९२०) इंडियन प्रेस, प्रयाग ।
६. हिन्दुस्तानी (त्रैमासिक)—भाग १८,१९ (१९५८-१९५९), हिन्दुस्तानी एकाडमी, प्रयाग ।
७. हिन्दी अनुशीलन (त्रैमासिक)—वर्ष १०, ११, तथा १२ (१९५८-१९६०) ।
८. हिन्दुस्तान टाइम्स (वीकली)—१९५८ ।

English Reference Books.

1. **A critical Examination of Psycho-analysis** by *A. Wohlgemuth*, George Allen & Unwin, London (1923).
2. **A General Introduction to Psycho-analysis** by *Dr. Sigmund Freud*, Garden City Publishing Co. Inc., New York (1943).
3. **A Study in Aesthetics**—by *L. A. Reids* , George Allen & Unwin, London (1931).
4. **A Critical History of Modern Aesthetics** by *Earl of Listowel*, George Allen & Unwin, London (1933).
5. **Art** by *Clive Bell*, Chatto and Windus, London (1949).
6. **Aesthetic** by *Croce*, Vision Press, London (1922).
7. **A Modern Book of Aesthetics** by *M. M. Rader*, Henry Holt & Co., New York (1951).
8. **Artist and Psychoanalysis** by R. *Fry* (1924).
9. **A History of Indian Philosophy, Vol. IV** by *S. N. Das Gupta*, University Press, Cambridge (1949).
10. **Aesthetic and Language** Edited by *William W. Elton* Basil Blackwell, Oxford (1954).
11. **Baudelaire** by *J. P. Satre*, Horizon, Lond. (1949).
12. **Communication—A Philosophical Study of Language** by *Karl Britton*, Lond. (1938).
13. **Creative Intuition in Art and Poetry** by *J. Maritain*, Harvill Press, London (1954).
14. **Encyclopaedia of Ethics and Religion, Vol XII Edinburgh**. T. & T. Clark, 38 George Street, New York (1921).
15. **Early History of the Vaisnava Faith & Movement in Bengal** by *S. K. De*. Calcutta (1942).
16. **East and West in Religion** by *S. Radhakrishnan*, George Allen & Unwin, Lon. (1933).

17. **Epics, Myths & Legends of India** by *P. Thomas* D. B. Taraporewala Sons & Co. Bombay (N. D.).

18. **Golden Bough—A study in Magic & Religion,** Part I, Vol. II and Part XII, Vol. II, MacMillan & Co., Lond. (1922).

19. **Gita Rahasya** by *Bal Gangadhar Tilak* Vol. I, Poona (1931) First Edition.

20. **Heroic Poetry** by *C. M. Bowra*, Mac. Co. Lond. (1948)

21. **Hindu Manners, Customs and Ceremonies** by *ABBE, J. A. Dubios*, Clarendon Press, Oxford (1906) Third Edition.

22. **Heritage of Symbolism** by *C. M. Bowra*, MacMillan & Co. Lon. (1947).

23. **Hinduism and Buddhism** by *Sir Charles Eliot*, Vol. II London (1921) Repiinted 1954.

24. **Indian Philosophy Part II** by *Sir S. Radhakrishnan*, George Allen & Unwin, Lon. (1941).

25. **Indian Thought and its Development** by *A. Schweitzer*, Lon. (1936).

26. **Introduction to the Mathematical Philosophy** by *Betrand Russel*, Lon. (1924).

27. **Illusion and Reality** by *Christopher Candwell*, Lawrence & Wishart, Lon. (1937).

28. **Language and Reality** by *W. M. Urban*, George Allen & Unwin, Lon. (1939).

29. **Language** by *J. Vendryes*, Routledge and Kegan Paul, Lond. (1952).

30. **Mysticism and Logic** by *Betrand Russel*, George Allen & Unwin, Lon. (1951).

31. **Mythology and Romantic Tradition in English Poetry** by *Douglas Bush*, Cambridge University Press (1937).

32. **Mysticism** by *E. Underhill*, Metheun Co. Lon. (1924) Tenth Edition.

33. **Mysticism—East & West** by *Rodolf Otto*, MacMillan & Co., Lond. (1932).

34. **Outline of French Literature** by *L. J. Gardiner*, University Tutorial Press, Lond. (1927).

35. **Pathway to God in Hidi Literature** by *R. D. Ranade*, Adhyatma Vidya Mandir, Alld. (1941).

36. **Process and Reality** by *A. N. Whitehead*, S. S. Bookstore, New York (1941).

37. **Philosophy in a New Key** by *S. K. Langer*, (Menter-Book) New American Library, Lond. (1949).
38. **Psychology of the Unconscious** by *C. G. Jung*, Tr. by B. M. Hinkle, Kegan Paul Co. Ltd., Lond. (1918).
39. **Religious Symbolism** Edited by *F. E. Johnson*, Harper and Brothers, Lond. New York (1955).
40. **Recovery of Faith** by *S. Radhakrishnan*, George Allen & Unwin, Lond. (1956).
41. **Rousseau and Romanticism** by *Irving Babbitt*, Houghton Mifflin Co., Boston, New York (1919).
42. **Symbols and Values** (An Initial Study) Edited by *Sydney G. Margolin*, L. Bryson Etc., Harper & Bros., Lond. New York (1954).
43. **Studies in Nayaka-Nayika Bheda** by *Chail Behari Lal, Gupta*, (Thesis, Alld. University, 1952).
44. **Studies in Tantras** by *P. C. Bagchi*, University of Calcutta (1939).
45. **Sufism—its Saints and Shrines** by *A. J. Subhan*, Publishing House, Lucknow (1938).
46. **Studies in Tasawwuf** by *Khaja Khan*, Hogârth Press, Madras (N. Date).
47. **Studies in Keats** by *J. M. Murry*, Oxford University Press, Lon. (1939).
48. **The Philosophy of 'as if'** by *Vaihinger*.
49. **The Meaning of Meaning** by *C. K. Ogden* and *J. A. Richards*, Kegan Paul Co., Lond. (1946).
50. **The Alphabet** by *David Diringer*, Hutchinson's Scientific & Technical Publication, Lond. New York etc. (1948).
51. **The Logical Syntax of Language** by *R. Carnap*, Routledge & Kegan Paul, Lon. (1949).
52. **The Poetic Approach to Language** by *V. K. Gokak* Oxford University Press, Lond. (1952).
53. **The House that Freud Built** by *Joseph Jastrov*, Rider & Co. Lon. (1933).
54. **The Analysis of Mind** by *Betrand Russel*, George Allen & Unwin, Lon. (1924).
55. **The essence of Aesthetics** by *B. Croce* Tr. by Douglas Ainstie, London (1921).
56. **The Philosophy of Fine Arts** by *G. W. F. Hegel* Vol. II, G. Bell & Sons, Lond. (1920).

57. **The Meaning of Art** by *Herbert Read*, Faber & Faber Lond. (1951).

58. **The World as Spectacle** by *G. E. Mueller*, Philosophical Library, New York (1944).

59. **Theory of Literature** by *Rene Welleck* and *Austin Warren*, Jonathan Cape, Lond. (1949).

60. **The Philosophy of Fine Arts** by *Herbert Read* Faber & Faber, Lond. (1951).

61. **The Origin of Religion** by *Raphal Karsten*, Kegan Paul tc., Lond. (1935).

62. **The Symbolist Aesthetics in France** by *A. G. Lehmann*. Basil Blackwell, Oxford (1950).

63. **The Art of Paul Valery** by *Francis Scarfe*, William Heine maun, Lond. (1954).

64. **The Poetic Mind** by *F. C. Prascott*, Toronto-MacMillan & Co., New York (1926).

65. **The Creative Element** by *Stephen Spender*, Hamish Hamilton, Lond. (1953).

66. **The Puranas in the light of Modern Science** by *K. N. Aiyer*, Theosophical Society, Madras (1916).

67. **The Mystics of Islam** by *Roynold A. Nicholson*, George Bell & Sons, Lond. (1914).

68. **The First Principles** by *Herbert Spencer*, William & Norgat, Lond. (1820).

69. **The Concept of Nature in Nineteeth Century English Poetry** by *Joseph Warren Beach*, MacMillan & Co., New York (1936).

70. **The Life Divine** by *Sri Aurbindo*, Vol. I & II Arya Publishing House; Calcutta (1943). Second Edition.।

71. **The Philosophy of Vaisnava Religion** by *Girindra N. Mallick*, Vol. I, Moti Lal Banarsi Lal, Lahore (1927).

72. **Thinking & Experience** by *H. H. Price* Hutchinson University Library, Lond. (1953).

73. **Vaisnvism, Saivism & Minor Religious Cults** by *R. G. Bhandarkar*, Karl J. Trubner, Lon. (1931).

Poetical Works.

74. **Collected Poems** (1909-1935) by *T. S. Eliot*, Faber and Faber, Lond. (1941).

75. **Collected Poems and Plays of R. N. Tagore** MacMillan & Co., Lond. (1950).

76. **Forty Poems** by *Paul Velarine*, Tr. By Reland Gant and Claude Apcher, Felcon Press, Lond. (1948).
77. **In Memoriam** by *Tennyson*, MacMillan & Co. Lond. (1896).
78. **Poetical Works of Shelley** Edited by *H. B. Forman.* Vol. II Lond. (1886).
79. **Poetical Works of W. Wordsworth,** Vol. II, Lond. (1884).
80. **Poetical Works of John Keats** Edited by *H. W. Garrod*, Clarendon Press, Oxford, (1939).
81. **Rubaiyat of Omar Khayyam** Tr. by *Edward Fitzgerald*, Avon Pub. New York (No. date).
82. **Selected Poems** by *Robert Frost*, Jonathan Cape, Lond. (1936).
83. **Srimad Bhagwadgita,** Edited by *Tirtha Maharaj Gaudiya Mission*, Calcutta (1948).
84. **Tower** by *Y. B. Yeats*, MacMillan & Co., Lond. (1929).

(छ) प्रबन्ध में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द-सूची (अंग्रेजी से हिन्दी)

Animistic Theory—जडात्मवादी सिद्धान्त
Alphabet—वर्ण
Algebra—बीजगणित
Abstractions—अव्यक्त विचार
Affirmative—सकल्पात्मक
Absolute—निरपेक्ष
Allegory—कथारूपक
Annihilation—विलय, नाश
Aesthetic—सौन्दर्य-शास्त्र
Active Principle of Universe—क्रियात्मक-विश्व-सिद्धान्त
Communication—प्रेषणीयता
Covert Metaphysics—प्रत्यावर्तित तत्त्व-चिन्तन
Centripetal—केन्द्रीभूत
Calculus—कलन
Condensation—सघनन
Contraction—विमोचन
Cosmic Illusion—विश्वभ्रम
Circle—वृत्त
Cosmological Myths—सृष्टिपुराण
Designer—रचनाकार
Decipherment—गूढ़ाक्षरों का स्पष्टीकरण
Descriptive—विवरणात्मक
Emblem—लाक्षणिक चिह्न
Energy—ऊर्जा
Elecrodynamics—गत्यात्मक विद्युत्
Graphic transcriptions प्रतिलेख
Geometry—ज्यामीति
Gesture Language—अंगमुद्रीय-भाषा
Galaxies—नीहारिकाएँ
Heredity—पैतृक संस्कार
Inscriptions—शिलालेख
Intuition—अनुभूति
Image—बिम्ब

Inferiority Complex—हीन-ग्रन्थि
Immanence—जगत्लीनता
Infinite Regress—अनन्त-प्रत्यावर्तन
Inaudible—अश्रुतिकर
Individuals—व्यक्ति का अङ्ग
Inorganic—अजैव
Interjectional Sounds—विस्मयादि बोधक ध्वनियाँ
Idiograph—शब्द-चिह्न
Idiographic Script—विचारवाहक चित्र-लिपि
Logical positivists—तार्किक निश्चयवादी
Logic of Words—शब्द-तर्क
Melody—राग
Metaphysics of Science—वैज्ञानिक तत्त्व-दर्शन
Mammals—स्तनधारी
Magical Force—तान्त्रिक शक्ति
Mood—मनोदशा
Melancholy—अवसाद
Negative—निषेधात्मक
Nerves—नाडी संस्थान
Notches—दाँत
Neurotic—स्नायुपीडित
Nymph—अप्सरा
Ovum—मादा-तत्व
Over-determined—अति निश्चयात्मक
Overt action—प्रत्यावर्तित क्रिया
Organic—जैव
Perceptive—बोधगम्य, प्रत्यक्षानुभव
Pre-established Harmony—पूर्व-स्थापित सामरस्य
Phonogram—ध्वनि चित्र
Proposition—प्रस्थापना
Process—क्रम, विधि
Positive—निश्चयात्मक
Philosophy of Void—शून्यवादी दर्शन
Purgatory—मार्जन प्रदेश
Pilgrim's Progress—यान्त्रिक आरोहण या प्रगति
Phenomena—प्राकृतिक घटना
Personification—मानवीकरण
Relational Theory—संबंधगत सिद्धान्त
Reflective Thinking—चिन्तन
Reciprocal Existentional Philosophy—अन्योन्याश्रित अस्तित्व-सिद्धान्त
Redeemer—मुक्तिदाता
Rituals—अनुष्ठान
Representative Form—प्रतिनिधायी रूप
Superconscious—अतिचेतन
Sublimation—उन्नयन, उदात्तीकरण
Significant Form—महत्त्वपूर्ण रूप
Statement—प्रस्ताव
Subjective—आध्यान्तरिक
Suggestiveness—व्यंजन
Spiritual Psychology—आध्यात्मिक मनोविज्ञान
Syllable—पद
Spermatozoa—नरतत्त्व
Seals—मुद्रा
Theory of Organism—अगीय सिद्धान्त
Trance—सुप्तावस्था
Theory of Relativity—सापेक्षवादी-सिद्धान्त

Totemism—पशु-पूजा
Theology—धर्मशास्त्र
Tranference—स्थान्तरण
Unifying Vision—एकात्मभाव की अन्तर्दृष्टि
Verification—प्रामाणिकता
Value—मूल्य
Variables—रूपान्तर अंक
Vowel—स्वर
Word-Magic—शब्द-तन्त्र
Zoology—जीव-विज्ञान